ALOCHNA

HINDI





विशेषांक

भाग : २

सम्पादक शिवदानसिंह चौहान



आलोचना



स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य

राजकमल प्रकाशन

त्रैमासिक आलोचना

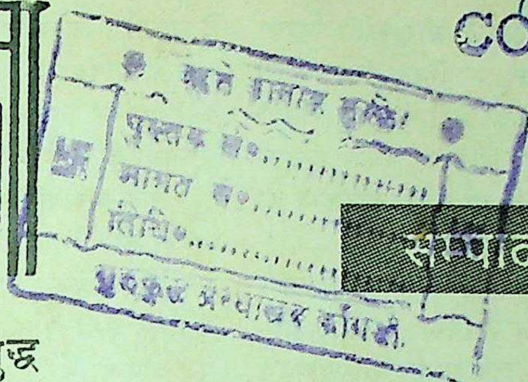
पूर्णांक ३५ नवांक ९ जनवरी, १९६६

वार्षिक मूल्य १२)
इस अंक का ४)

प्रत्येक अंक रजिस्ट्री से पाने के लिए १४)

सूची

आलोचना



सम्पादकीय

लेखक और युद्ध

युद्ध के प्रति लेखक का दृष्टिकोण क्या हो, यह प्रश्न नया नहीं है, लेकिन उतना पुराना भी नहीं है, जितना कुछ लोग कल्पना करते हैं। वाल्मीकि, व्यास, होमर या शेक्सपियर को भी इस प्रश्न पर उन व्यापक सन्दर्भों में विचार करने की ज़रूरत नहीं महसूस हुई थी, जिन व्यापक सन्दर्भों में विचार करने के लिए बीसवीं सदी के लेखकों को बाध्य होना पड़ा है। दरअसल, बीसवीं सदी से पहले जब युद्ध छिड़ते थे तो उनका दुष्प्रभाव केवल उन देशों को ही भोगना पड़ता था, जिनकी धरती पर दोनों पक्षों की सेनाएँ लड़ती थीं। लेकिन बीसवीं सदी में विश्व-साम्राज्यवाद के उदय होने के साथ ही ऐसे महायुद्धों का सूत्रपात हुआ जिनकी लपेट में सारा विश्व खिंच आता है। इस सदी के पूर्वार्ध में जो युद्ध और महायुद्ध लड़े गए, वे साम्राज्य-विस्तार की खातिर ही। पहले महायुद्ध में अगर एक करोड़ व्यक्तियों के क़रीब हताहत हुए तो दूसरे महायुद्ध में लगभग पाँच करोड़ सैनिक और नागरिक मौत के घाट उतरे और इससे कहीं अधिक बेघरबार और बेरोज़गार होकर असह्य यातनाएँ झेलने के लिए विवश हुए।

युद्ध के इन दुष्परिणामों से सभी परिचित हैं। लेखक भी। इसी कारण सदी के आरम्भ से ही जागरूक और मानव-प्रेमी लेखकों ने सामान्य रूप से युद्ध के प्रति अपने दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण करने की कोशिश की है। तॉलस्तॉय ने युद्ध और युद्ध का आयोजन करने वाले सभी साम्राज्यवादी राजनीतिज्ञों, पूंजीपतियों और फौजी जेनरलों की कठोर शब्दों में भर्त्सना की और अपनी मृत्यु से पहले सन् १९१० में अपने एक निबन्ध में घोषणा की कि युद्ध एक बुराई है, इसलिए हर लेखक का कर्तव्य है कि वह विश्व-शान्ति के लिए संघर्ष करे। तॉलस्तॉय ने अपने समय के नीत्शे, माल्थुस और वीजमान-जैसे दार्शनिकों और विचारकों के सिद्धान्तों का भी खण्डन किया जो बढ़ती हुई जन-संख्या को कम करने के लिए दुर्बल और पुरुषार्थहीन, बीमार और असमर्थ व्यक्तियों की तादाद घटाने के लिए और समर्थ और पौरुषवान की विजय के लिए युद्ध को समाज के विकास का एक मंगलकारी प्राकृतिक नियम मानते थे या सिद्ध करते थे कि युद्ध अनिवार्य है क्योंकि मनुष्य स्वभाव से ही हिंस्र, स्वार्थी और पाशविक है। इन विचारकों और दार्शनिकों की मानवद्रोही मान्यताओं पर प्रहार करते हुए तॉलस्तॉय ने सिद्ध किया कि युद्ध अनिवार्यता नहीं है, मनुष्य सहिष्णुता, सहयोग और शान्ति के वाता-

वरण में रह सकता है और रहना चाहता है और युद्धों का आयोजन केवल वे ही करते हैं, जो उनकी भट्टी में गरीब सैनिकों और जनता को झोंककर स्वयं मुनाफ़ा कमाना चाहते हैं या अपने साम्राज्य का विस्तार करना चाहते हैं।

तॉलस्तॉय से पहले किसी महान् लेखक ने आधुनिक युद्ध के विरुद्ध लेखक के दृष्टि-कोण का इतने खुले शब्दों में स्पष्टीकरण नहीं किया था। तब से विश्व-साम्राज्यवाद ने जितनी बार युद्धों और महायुद्धों का आयोजन किया है, उनको उचित और अनिवार्य सिद्ध करने के लिए उसके वकील दार्शनिकों ने जितने भी तर्क दिए हैं (और मूलत: उनके तर्कों में कोई नवीनता नहीं रही, केवल भयों और आशंकाओं का सन्दर्भ बदलता रहा है। पहले राष्ट्रीय गौरव की रक्षा के लिए प्रतिस्पर्धी साम्राज्यवाद के विरुद्ध अभियान होता था, अब साम्यवाद या गुलाम देशों के स्वातन्त्र्य आन्दोलनों से 'फ्री-वर्ल्ड' और 'डिमॉक्रेसी' की रक्षा की ख़ातिर युद्ध छेड़े जाते हैं।) उनके प्रति विश्व के सभी मानववादी लेखकों की सामान्यत: वही प्रतिक्रिया रही है जो तॉलस्तॉय की थी। यानी युद्ध एक बुराई है और लेखक का कर्तव्य है कि वह युद्ध का विरोध करे और शान्ति का समर्थन करे, क्योंकि स्थायी शान्ति ही आज के युग में मानवीय प्रगति की रक्षा कर सकती है और मानवता को सम्पूर्ण विनाश से बचा सकती है। यह बात पहले भी सही थी, लेकिन बीसवीं सदी का कोई भी लेखक जो जीवन से प्रेम करता है और मानवद्रोही नहीं है, अपने लेखन में रक्त और नरसंहार की मध्यकालीन पिपासा को अभिव्यक्ति नहीं दे सकता। संस्कृति से असंस्कृति, मानव-वाद से मानवद्रोह और हिंस्र बर्बरता की ओर मुड़कर जाना लेखक के स्वभाव और रचनात्मक कार्य के विरुद्ध है।

अणु-बम तथा अन्य ताप-नाभिकीय अस्त्रों की ईजाद के बाद से युद्ध अब एक आत्म-विनाशकारी हक़ीक़त बन गया है। यह सभी जानते हैं कि अगला महा-युद्ध ताप-नाभिकीय अस्त्रों से लड़ा जायगा और उसमें न कोई जीतेगा न हारेगा क्योंकि शायद सारी मानव-जाति ही नष्ट हो जायगी, मानवीय सभ्यता और संस्कृति के सभी उपादान बर्बाद हो जायेंगे और जली-झुलसी वीरान धरती पर जो कुछ बचेगा, उसे लेकर फिर कभी सभ्यता का उदय हो सकेगा, यह सन्दिग्ध है। इसी-लिए आज हर विचारशील व्यक्ति (जिनमें लेखक भी है) सोचता है कि आख़िर किस उपलब्धि की ख़ातिर यह इतना विराट् संहार-आयोजन हो रहा है, किस लिए आणुविक और ताप-नाभिकीय अस्त्रों के गोदाम भरे जा रहे हैं? अन्य मनुष्यों की तरह लेखक भी शान्ति चाहते हैं, लेकिन सारी कोशिशों के बावजूद युद्ध का ख़तरा बढ़ता जा रहा है, क्योंकि विश्व-साम्राज्यवाद की रक्षा के आकांक्षी मानव-सभ्यता और संस्कृति के प्रेमी नहीं हैं और अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए मानवता को तीसरे महायुद्ध की आग में धकेल रहे हैं जिसमें सब के साथ वे स्वयं भी नष्ट हो जायेंगे।

एक भयंकर अन्तर्विरोध की स्थिति है यह। परिणामत: कुछ संवेदनशील व्यक्तियों और लेखकों में नितांत सिनि-सिज़्म (अनास्था) का मूड पैदा हो गया है। उनको लगता है कि युद्ध को रोक

सकना सम्भव नहीं है, इसलिए कौन सही है, कौन ग़लत है, क्या सच है, क्या झूठ है, क्या शुभ है, क्या अशुभ है—ये सारे सवाल जिनमें मूल्य-निर्णय निहित रहते हैं, आसन्न ख़तरे के सन्दर्भ में बेमानी और अप्रासंगिक हो गए हैं। वे महसूस करते हैं—और साम्राज्यवादी विचारक इस अहसास को और गहरा करने के लिए इसके पक्ष में लगातार दार्शनिक तर्क पेश करते रहते हैं—कि अन्तिम विनाश से अस्थायी तौर पर ही बचा जा सकता है, परन्तु उसे हमेशा के लिए रोका नहीं जा सकता। इसलिए साम्राज्यवाद और साम्य-वाद, उपनिवेशवादी हस्तक्षेप और राष्ट्रीय आज़ादी के संघर्ष या हमलावर और ग़ैर-हमलावर में भेद करना अनावश्यक है। यह दृष्टिकोण युद्धों का आयोजन करने वाले उस साम्राज्यवाद को मुआफ़ कर देता है, जिसे रोकना ज़रूरी है और रोका जा सकता है, ताकि वह सारी दुनिया को ताप-नाभिकीय हत्याकाण्ड में न डुबो दे।

यह सिनिसिज़्म, यह अनास्था दर-असल यथार्थ ढंग से सोच पाने की सामर्थ्य की कमी के कारण पैदा होती है। युद्ध चाहे छोटे हों या बड़े, उनमें रक्तपात और हिंसा तो होती ही है। और यह सच है कि 'युद्ध में सबसे पहले अगर किसी की हत्या होती है तो सत्य की।' पर साथ ही यह भी सच है कि सिनिसिज़्म और अनास्था से तो युद्ध के बिना ही सत्य की हत्या हो जाती है और सत्य की रक्षा की सभी सम्भावनाएँ भी मिट जाती हैं। सबसे पहले तो इस सत्य की हत्या हो जाती है कि युद्ध अनिवार्य नहीं है। इसलिए राष्ट्रों के जीवन से जब तक युद्ध का पूर्ण निष्कासन नहीं हो जाता, तब तक अन्य लोगों के साथ मिलकर लेखक को भी युद्धों का बहिष्कार करने के लिए अपने शब्दों से या आवश्यकता पड़ने पर उनमें स्वयं भाग लेकर अपना योग देना पड़ेगा—युद्ध को गौरवान्वित करने के लिए नहीं, बल्कि व्यर्थता, कुरूपता, अमान-वीयता का चित्रण करने के लिए ही, ताकि परस्पर सहयोग, भ्रातृत्व और शान्ति के मानवीय मूल्यों की घोषणा की जा सके जिस तरह रामायण, महाभारत, ओडिसी और तॉलस्तॉय के 'युद्ध और शान्ति'-जैसे महाकाव्यों में युद्ध की भर्त्सना की गई है और सहयोग और भाईचारे के मूल्यों को सर्वोच्च मानव-मूल्य घोषित किया गया है—जीवन के व्यापक सत्यों को उद्घाटित किया गया है।

सिनिसिज़्म और अनास्था के मूड में यह सब करना निश्चय ही सम्भव नहीं है। मूल्य-बोध खोकर कोई भी लेखक आज युद्ध और शान्ति के प्रश्नों पर वस्तु-परक दृष्टि से नहीं सोच सकता। यह तभी सम्भव है जब लेखक इस हक़ीक़त के प्रति सचेत हो कि युद्ध दो प्रकार के होते हैं—साम्राज्यवादी युद्ध और देशभक्तिपूर्ण युद्ध—जिनका एक-दूसरे से फ़र्क़ करना ज़रूरी है। यद्यपि लोगों को यातनाएँ दोनों में झेलनी पड़ती हैं और विध्वंस भी दोनों में होता है, फिर भी उनके उद्देश्यों में परस्पर-विरोध होता है और एक या दूसरे की सफलता विरोधी परिणामों की ओर ले जाती है, जैसे उपनिवेशी गुलामी या राष्ट्रीय स्वाधीनता। और ये परिणाम अन्ततः विश्व-शान्ति और जनता की सांस्कृतिक और आर्थिक प्रगति के लिए काम करने वाली उन ताक़तों को जिनका मूल्य मानववादी लेखक की दृष्टि में सबसे

ज़्यादा होता है, या तो ख़तरे में डाल देते हैं या उनको मजबूत करते हैं। इन दोनों प्रकार के युद्धों में सत् और असत् के परस्पर-विरोधी पक्ष होते हैं। साम्राज्यवादी युद्ध में साम्राज्यवाद का पक्ष असत् का पक्ष है और जिस देश की जनता को ग़ुलाम बनाने के लिए यह नरसंहार रचा जाता है, उसका पक्ष सत् का होता है, जैसे वियतनाम के युद्ध में संयुक्तराष्ट्र अमरीका का पक्ष असत् का और दक्षिण वियतनामी जनता का पक्ष सत् का है। इसी तरह मोज़ाम्बीक और अंगोला की जनता का देशभक्तिपूर्ण संघर्ष सत् का पक्ष है और पुर्तगाली साम्राज्यवाद की दमन-कार्रवाइयाँ असत् पक्ष की हैं। संभव है कि युद्ध और संघर्ष की तात्कालिक उत्तेजना या आवश्यकता के कारण सत्-पक्ष में भी अनेक अतिवाद और क्रूरताएँ देखने को मिलें, लेकिन इतिहास-बोध रखने वाला मानववादी लेखक इन दोनों के प्रति न तो समान भर्त्सना का दृष्टिकोण अपना सकता है, न दोनों की हार-जीत के प्रति तटस्थता और सिनिसिज्म का भाव रख सकता है। हमारा आग्रह केवल इतना है कि युद्ध के इन व्यापक प्रकारों का स्पष्ट अन्तर जान लेने से लेखक युद्ध की निरर्थकता और ट्रैजेडी को अभिव्यक्त करने की अपनी स्वाधीनता को बिना खोये हुए, क्षणिक उद्वेगों और युद्धवाद की संकीर्ण भावनाओं से अवश्य ही ऊपर उठ सकते हैं। महान् साहित्यकारों ने सत् और असत्, सही और ग़लत में भेद किया है और उस जनता को अपने हृदय की सम्पूर्ण करुणा दी है जो हमलों और धोखेबाज़ी की शिकार रही है।

यही कारण है कि रूपर्ट ब्रुक पहले महायुद्ध को अपना पूरा समर्थन नहीं दे सका, क्योंकि वह दो प्रतिस्पर्धी साम्राज्यवादों का युद्ध था, जिसमें किसी महान् मानवीय आदर्श को चुनौती नहीं थी। उसने युद्ध की विभीषिका का चित्रण किया और युद्ध के प्रति उत्साह दिखाने वाले लोगों का मज़ाक उड़ाया। और दूसरे महायुद्ध में जब इज़रा पाउण्ड ने फासिज़्म का समर्थन किया और 'शान्ति की दुर्गन्ध' के प्रति अपनी घृणा व्यक्त की तो उसने न केवल सत्य और जीवन के प्रति विश्वासघात किया बल्कि स्वयं अपने कवि की ही हत्या कर डाली।

इसके विपरीत पहले महायुद्ध में जिन लेखकों ने इंग्लैण्ड, जर्मनी, फ्रांस और रूस में अपने-अपने देशों के साम्राज्यवादियों का विरोध किया, जैसे बर्नर्ड शॉ, बारबूज़, रोम्यां रोला, रिमार्क या गोर्की, उन्होंने ही दरअसल सत्य का दामन नहीं छोड़ा और इसी कारण वे उस युद्ध के बारे में ऐसी कृतियों की रचना कर सके जिनके लिए मानवता उनके प्रति चिर-कृतज्ञ बनी रहेगी।

दूसरे महायुद्ध के दौरान विश्व के सभी महान् लेखकों ने फ़ासिज़्म, उसके जातिवाद के सिद्धान्तों और यहूदियों के उत्पीड़न का विरोध किया और मानवता पर होने वाले नाज़ी अत्याचार के विरुद्ध जन-प्रतिरोध का समर्थन किया। इसके अलावा, सोवियत यूनियन के लेखक—शोलोखोव, अलेक्सी तॉलस्तॉय, इलिया एहरनबर्ग, सिमोनोव आदि—नाज़ी आक्रमण के विरुद्ध लिख रहे थे और लाल फ़ौज की अगली कतारों में लड़ रहे थे। वे अपनी रचनाओं में फ़ासिज़्म का अमानवीय और क्रूर चेहरा दिखा रहे

थे। फ़ांस में सार्त्र, लुई अरांगा, आन्द्रे मालरो आदि प्रतिरोधी आन्दोलन में हथियार लेकर नाज़ी आधिपत्य के विरुद्ध संघर्ष कर रहे थे।

जैसा कि युद्ध में होता है, आक्रामक और आततायी भी अपने कृत्य के लिए जनता का समर्थन पाने की ख़ातिर देश-भक्तिपूर्ण नारे लगाता है। लेकिन 'पितृ-भूमि ख़तरे में है' की पुकारों का जर्मनी के किसी महान् लेखक पर प्रभाव नहीं पड़ा। इससे लेखकों और कलाकारों के मन में नफ़रत और ज़्यादा गहरी हो गई। टॉमस मान, अर्न्स्ट टोलर, स्टीफ़न ज़्वाइग, अन्ना सेगर्स जैसे सभी बड़े लेखक जर्मनी छोड़कर, अपनी ही मातृभूमि के साम्राज्य-वादी नाज़ी शासकों के खिलाफ़ संघर्ष करने के लिए दूसरे देशों में चले गये।

'युद्ध के प्रति लेखक का दृष्टिकोण क्या हो ?' जब से यह प्रश्न ज्वलंत बना है, तब से विश्व के महान् लेखकों की यही परम्परा रही है। उन्होंने साम्राज्यवादी युद्धों का विरोध किया है और आज़ादी के युद्धों का समर्थन किया है। इतना ही नहीं, जहाँ कहीं स्वतन्त्रता और शान्ति संकट में पड़ी है, लेखकों ने स्वतन्त्रता-प्रेमी जनता के साथ मिलकर लड़ने के लिए अपना जीवन तक ख़तरे में डाला है। राल्फ़ फ़ाक्स और कॉडवेल ने फ्रेंको फ़ासिज़्म के खिलाफ़ लड़ते हुए मेड्रिड की खन्दकों में अपना जीवनोत्सर्ग कर दिया। एशिया और अफ्रीका के ग़ुलाम देशों में लेखकों की कई पीढ़ियाँ उपनिवेशी पराधीनता के विरुद्ध संघर्ष करती हुई अपने रवीन्द्रनाथ और प्रेमचन्द पैदा करती रही हैं।

साम्राज्यवाद, फ़ासिज़्म, जातिवाद और प्रतिक्रियावाद संसार में कहीं भी किसी भी महान् लेखक का समर्थन प्राप्त करने में सफल नहीं हो सका। काव्य-देवता निरन्तर मृत्यु, शोषण और दासता की ताकतों के युद्ध-रथ से बँधने से इन्कार करता रहा। वह केवल उन पर अपनी वरद मुसकानें बिखेरता रहा जो विपरीत परिस्थितियों में भी स्वतन्त्रता, प्रेम और शान्ति की मानववादी भावनाओं को संजोये रहे।

: २ :

इस व्यापक सन्दर्भ में पाकिस्तान के साथ होने वाले मौजूदा युद्ध के प्रति लेखक का दृष्टिकोण क्या होना चाहिए ? क्या लेखक मूल्यों के प्रश्न को एक तरफ़ हटा-कर, कौन सही है कौन ग़लत है, के निर्णय से निःसंग रहकर भारत और पाकिस्तान के शासकों पर एक साथ ही 'थूके' जिन्होंने हमारी जनता को 'एक-दूसरे की हत्या करने की पाशविकता' में धकेल दिया है (जैसा कि आकाशवाणी से प्रसारित एक कविता में सुझाया गया था) या पूर्ण उदासीनता की मुद्रा बनाकर दावा करे कि लेखक का काम लिखना है जिस तरह सिपाही का काम लड़ना है और इन दोनों कार्यों में कोई उभयनिष्ठता नहीं है (जैसा कि दिल्ली की संज्ञा-गोष्ठी में एक लेखक ने कहा), या इस युद्ध को एक 'स्थिति' मात्र मानकर जिसमें कोई भी मूल्यगत प्रश्न अन्तर्निहित नहीं है, जिससे लेखक उसमें ज़रा भी रुचि रख सके, वह उससे अपने-आपको दूर और अ-सम्बद्ध रखे (जैसा कि संज्ञा-गोष्ठी में एक और लेखक ने सुझाया) ?

इन दृष्टिकोणों को संवेदनशील लेखकों के उन ईमानदार प्रयत्नों का प्रतिनिधि माना जा सकता था जो वे अपनी अभि-

व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए करते हैं और जिनके द्वारा वे अपनी 'प्रतिभा' को प्रचारात्मक लक्ष्यों की सिद्धि के लिए उपलक्ष्य-मात्र बनाये जाने से रोकते हैं, अगर उनकी आधारभूत धारणाएँ सही होतीं और अगर इन दृष्टि-कोणों में वर्तमान युद्ध के वास्तविक स्वरूप और उसमें अन्तर्निहित नैतिक प्रश्नों और भावी ख़तरों के प्रति घोर उदासीनता व्यक्त न होती।

भारत इस युद्ध में साम्राज्यवादी लक्ष्यों को लेकर सम्मिलित नहीं हुआ। भारत ने युद्ध नहीं छेड़ा, युद्ध में उसे घसीटा गया और देश की एकता, स्वतन्त्रता, धर्म-निरपेक्ष प्रजातन्त्र और गुट-निरपेक्षता की रक्षा के लिए ही उसे विवश होकर हथियार उठाने पड़े। इस-लिए युद्ध 'मूल्य-निरपेक्ष' एक 'स्थिति' मात्र नहीं है।

सिनिसिज्म या अनास्था का स्वाँग रचकर लेखक अपनी कला को ही दरिद्र बना सकता है। इसके अलावा इस तरह का दृष्टिकोण ब्रिटिश और अमरीकी साम्राज्यवादियों के छिपे हाथों को और चीनी षड्यन्त्र को भी, जिन्होंने पाकिस्तान के नेताओं को भारत पर यह युद्ध थोपने के लिए प्रोत्साहित किया, नज़रन्दाज़ कर देता है।

दूसरी तरफ़, क्या भारतीय लेखक भी पाकिस्तानी शासकों की तरह युद्धोन्माद को उभारने में मदद करे और देशभक्ति के नाम पर पाकिस्तान के विरुद्ध 'जिहाद' का नारा लगायें जैसा कि इस समय संकीर्ण राष्ट्रवादी और साम्प्रदायिक विचारधारा के अनेक तुक्कड़ कवि-समूह कर रहे हैं? पाकिस्तानी शासक और उनके वैतनिक शायर महमूद ग़ज़नवी-जैसे मुसलमान विजेताओं की विरुदावलियाँ गाकर पाकिस्तान की जनता को उनका वारिस घोषित कर रहे हैं, जिनका लक्ष्य एक बार फिर तलवार के ज़ोर से भारत को ग़ुलाम बनाना और कश्मीर के मुसलमानों को भारत की ग़ुलामी (?) से मुक्ति दिलाना है। हमलावरों के नारों की नक़ल करके भारत के हिन्दू सम्प्रदायवादी तुक्कड़ भी 'पाकिस्तान को क़ब्रिस्तान में बदलने', 'नक्शे से पाकिस्तान का नाम मिटा देने' और 'पाकिस्तान पर अधिकार करके विभाजन के पूर्व के अखण्ड भारत को पुनःस्थापित' करने के लिए ललकार रहे हैं। ये लोग देश-भक्ति, भारत की एकता और गांधी की हत्या का प्रतिशोध लेने के नाम पर ख़ून की नदियाँ बहाने को लालायित हैं। ये लोग अपनी कविताओं में राणा सांगा और रानी दुर्गावती-जैसे सूरमाओं के जीवन-चरितों का आह्वान करते हैं जिन्होंने किसी समय मुसलमान आक्रमणकारियों के विरुद्ध युद्ध किया था और इस प्रकार हिन्द-पाकिस्तान युद्ध की हिन्दू-मुस्लिम युद्ध में परिणति देखना चाहते हैं। इसीलिए वे अपनी कविताओं और नाटकों की भाषा में जिन प्रतीकों और रूपकों को गूँथते हैं, वे मूलतः मध्य-कालीन धर्मान्धता से प्रेरित और हिन्दू-परम्परावादी होते हैं।

संवेदनशील लेखक इस तरह के दृष्टि-कोण को केवल इसलिए गर्हित और ख़तरनाक नहीं समझते कि वह जिस तरह की मानवीय संस्कारहीन, प्रचारात्मक कविता और नाटक लिखे जाने की प्रेरणा देता है, उनमें विकृत, ओछी और पाशविक भावनाओं की ही छिछली अभिव्यक्ति

होती है, बल्कि इसलिए भी यह दृष्टिकोण एक ऐसी अन्ध और क्रूर रक्त-पिपासा को भी प्रतिबिम्बित करता है जो फ़ासिज़्म और उसके द्वारा आयोजित यहूदियों के हत्याकाण्डों का स्मरण दिलाती है। इसके अलावा, यह दृष्टिकोण हमारे जीवन के समस्त मानवीय और प्रजातान्त्रिक मूल्यों, भारत की धर्म-निरपेक्षता की नीति और वर्तमान युद्ध में उन सामरिक लक्ष्यों को भी नकारता है, जो केवल देश की सुरक्षा तक ही सीमित हैं। घृणा और हिंसा को प्रोत्साहन देने वाले ये नाटक और कविताएँ इतिहास में से ऐसे ही व्यक्तियों और प्रसंगों का आह्वान करते हैं जिनको भारत के हिन्दू और मुसलमान संयुक्त रूप से अपनी समन्वित परम्परा का अंग नहीं मानते और पूर्व-इस्लामी पौराणिक हिन्दू-परम्परा या शुद्ध हिन्दूवादी दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करते हैं और इस प्रकार उनका आह्वान आज के सन्दर्भ में घोर सम्प्रदायवाद का प्रतीक बन जाता है, मानो यह संघर्ष दो पड़ोसी राज्यों के बीच न होकर हिन्दू भारत और मुस्लिम पाकिस्तान के बीच हो—यही तर्क पाकिस्तान के जंगबाज हुक्मरानों का भी है। लेकिन यह संकीर्ण हिन्दू राष्ट्रवादी दृष्टिकोण भारतीय इतिहास को झुठलाता है और भारत के छः करोड़ मुसलमानों को जैसे अपनी ही मातृभूमि में विदेशी घोषित करता है। और सबसे पीड़ाजनक बात तो यह है कि इस प्रकार की उन्मादपूर्ण रचनाएँ जो मानव-चेतना और लोगों की प्रजातान्त्रिक भावना पर नापाम बमों-जैसा काम करती हैं, भारतीय रेडियो तथा अन्य सरकारी प्रचार-एजेन्सियों का संरक्षण प्राप्त है।

सारी स्थिति इतनी जटिल है कि सिनिकल उदासीनता की यह ज़रूरत से ज़्यादा सरल दृष्टि और साम्प्रदायिक सुरों से भरी साहित्यिक उत्तेजनावाद की प्रवृत्ति ये दोनों ऊपर से परस्पर-विरोधी दिखायी देने पर भी, दरअसल एक-दूसरे की पूरक साबित हो सकती हैं, यदि लेखक स्थिति की यथार्थता और उसमें निहित गहन मानवीय परिप्रेक्षों को नज़रअन्दाज़ कर देंगे। हिन्द-पाकिस्तान युद्ध के बारे में कोई भी भारतीय लेखक निम्नलिखित तथ्यों के प्रति उदासीन रहकर एक सही दृष्टिकोण निर्धारित नहीं कर सकता :

एक : कि यह युद्ध दो भाई देशों के बीच है जो अभी कल तक एक-दूसरे के अंग थे—यानी दोनों देशों की जनता का इतिहास एक ही रहा है, उनकी संस्कृति और जातीय परम्परा भी एक ही रही है। विभाजन से चाहे ज़मीन बँट गई हो, इतिहास, संस्कृति और परम्परा दोनों की आज भी एक है।

दो : पाकिस्तान की राज्य-व्यवस्था चाहे जैसी हो, वह इस्लामिक राज्य हो या सैनिक डिक्टेटरशिप, जबकि भारत एक प्रजातान्त्रिक और धर्म-निरपेक्ष राज्य है, लेकिन फिर भी हमारा उद्देश्य पाकिस्तान को मिटाना नहीं बल्कि उसके साथ शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व प्राप्त करना है, क्योंकि इसी में दोनों का कल्याण है।

तीन : पाकिस्तान के शासक भारत पर अपने जारिहाना हमले को चाहे एक धर्म-युद्ध, जेहाद का रूप देना चाहते हों, लेकिन हमें पूरी सजगता से उनके जाल में फँसने से रोकना चाहिए, क्योंकि हमारी लड़ाई पाकिस्तानी की जनता से नहीं है, बल्कि उसके शासकों से है, जो साम्राज्यवाद के पिट्ठू हैं। 'जेहाद की गुहार वे

इसलिए लगाते हैं कि इससे पाकिस्तान में भारत-विरोधी युद्धोन्माद पैदा किया जा सके, ताकि इसके जवाब में भारत की जनता में भी हिन्दू साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहन मिले। भारत की धर्म-निरपेक्ष जनतान्त्रिक व्यवस्था अगर कमज़ोर हो जाए तो साम्राज्यवाद पर उसकी पूर्ण निर्भरता एक अनिवार्य हक़ीक़त बन सकती है। पाकिस्तानी शासकों को आशा थी कि इस चाल में भारत के मुसलमान उनके और साम्राज्यवाद के पाँचवें दस्ते का काम करेंगे। लेकिन भारतीय मुसलमानों की देशभक्ति और वर्तमान युद्ध में उनके वीरतापूर्ण कारनामों ने उनकी आशा पर पानी फेर दिया और भारत के हिन्दू सम्प्रदायवादियों को भी पाकिस्तान का खेल खेलने से रोक दिया।

चार : भारत में छः करोड़ मुसलमान रहते हैं। वे यहाँ के वाशिन्दे हैं, नागरिक हैं, विदेशी नहीं हैं, शुद्ध भारतीय हैं। भारतीय संस्कृति के निर्माण में—भारतीय दर्शन, विचारधारा, साहित्य, कला, संगीत, स्थापत्य और दस्तकारी के विकास में उनका योगदान इतना महान् है कि हमारी संस्कृति के ताने-बाने में जो केवल हिन्दू-कालीन धागे हैं उनको ही 'भारतीय संस्कृति' का पर्याय समझना एक बर्बर और असभ्य मनोवृत्ति का परिचायक है।

पाँच : पाकिस्तान के शासकों ने हम पर जो युद्ध लादा है, उससे और धर्मों के अनुयायियों की अपेक्षा मुसलमानों के लिए कहीं ज्यादा ट्रैजिक परिस्थिति पैदा की है क्योंकि भारत के विभाजन ने हिन्दुओं की तरह लाखों-करोड़ों मुसलमानों को अपने परम्परागत निवास-स्थानों से विस्थापित ही नहीं किया, बल्कि लाखों परिवारों को भी बाँट दिया। फिर भी पाकिस्तान में बसे अपने सगे-सम्बन्धियों, बेटे-बेटियों के भाग्य के बारे में सहज चिन्ता के बावजूद, भारत के मुसलमानों ने इससे अपनी मातृभूमि के प्रति अपनी वफ़ादारी पर आँच नहीं आने दी। इन लाखों मुस्लिम हृदयों में एक मौन किन्तु हृदय-विदारक, पीड़ाजनक, ट्रैजिक मानवीय नाटक खेला जा रहा है, और कोई भी संवेदनशील लेखक उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता।

छः : पाकिस्तान के सैनिक तानाशाह वहाँ की जनता के प्रतिनिधि नहीं हैं। पूर्व बंगाल, पख़्तूनिस्तान, पश्चिमी पंजाब और बलोचिस्तान की जनता एक अरसे से जनतान्त्रिक अधिकारों के लिए संघर्ष करती रही है, यह सभी जानते हैं। पाकिस्तान की जनता के इन आन्दोलनों के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करने का तात्पर्य है कि हम पाकिस्तान की जनता को अपना मित्र समझते हैं और हमारा विश्वास है कि दोनों देशों के जनवादी आन्दोलनों का पारस्परिक सहयोग ही अन्ततः दोनों देशों के बीच स्थायी शान्ति की बुनियादी डाल सकता है और सम्भवतः भविष्य में दोनों देशों को पुनः एक होने की प्रेरणा दे सकता है। लेकिन सद्भावना का यह वातावरण तभी पैदा हो सकता है जब हर हिन्दू भारत के मुसलमानों को अपना भाई और सजातीय समझकर उनको सामाजिक व्यवहार और भावना के स्तर पर अपना लेगा। स्मरण रहे कि 'पाकिस्तान' का बीज उस दिन पड़ गया था जब हिन्दुओं ने भारत में आकर बसे मुसलमानों को 'रोटी-बेटी' के सामाजिक

(शेष पृष्ठ १८३ पर)

श्री रामधारीसिंह 'दिनकर'

युद्ध और कविता

युद्ध कविता के लिए कहाँ तक ग्राह्य या अग्राह्य है ? मेरा ख़याल है, कविता के लिए युद्ध को उतना ही ग्राह्य या अग्राह्य होना चाहिए जितनी ग्राह्य या अग्राह्य नैतिकता या अनैतिकता हो सकती है। युद्ध बर्बर कृत्य है और कविता सभ्यता की वाणी है, इस आधार पर कविता को युद्ध से अलग नहीं रखा जा सकता। युद्ध वह जन्तु है जो अपनी सेवा सभ्यता के अग्रणी लोगों से करवाता है। और कविता को भी असभ्यता से परहेज़ नहीं है। वह अनाचार, दुराचार, कदाचार—यहाँ तक कि व्यभिचार में भी रस लेती है और अब वह यह कार्य मनुष्य के सुधार के लिए नहीं करती, बल्कि केवल यह जानने को कि अनाचार कैसा होता है, दुराचार का स्वरूप क्या है और व्यभिचार की प्रेरणा कहाँ से आती है। युद्ध अगर दुराचार है तब भी कविता उसे ज़रूर समझना चाहेगी।

किन्तु यह सत्य है कि युद्ध के प्रसंग में नई कविता पुरानी कविता से भिन्न हो गई है। पुरानी कविता में युद्ध के लिए उत्साह था। नई कविता में उसके लिए व्यथा और विषाद है, द्विधा और द्वन्द्व है, विरक्ति और विलाप है। पुराने ज़माने में युद्ध की अच्छी कविता वह समझी जाती थी जो युद्ध का समर्थन करती थी। अब युद्ध की अच्छी कविता वह है जो युद्धों का विरोध करती है, उनके प्रति वितृष्णा उत्पन्न करती है। पुरानी कविता आवेग-प्रधान थी। नई कविता चिन्तन-प्रधान है। और यह बात प्रत्यक्ष है कि क्रोध बिना सोचे-समझे किया जाता है। सोचने-विचारने से क्रोध की आग मन्द पड़ जाती है। लेकिन युद्ध वह तूफान है जो चिन्तन के चिराग को गुल कर देता है। अतएव, प्रश्न यह बन जाता है कि युद्ध छिड़ जाने पर हम क्या करें ? आया हम तटस्थ हो जाएँ या युद्ध का विरोध करें अथवा बन्दूकें उठाकर मैदान की ओर दौड़ें और कलम उठाकर उन आवेगों को बढ़ावा दें जो अन्धवीरता के आवेग हैं, जिन आवेगों के सामने विजय और विनाश को छोड़कर कोई और विकल्प नहीं है।

पुरानी कविता उस अडिग मनुष्य की कविता थी जो चिन्तन कम, कार्य अधिक करता था। नई कविता उस मनुष्य की कविता है जो ज्ञानाधिक्य से पीड़ित होने के कारण कर्म के विषय में शंकाग्रस्त है। पुरानी कविता के वीरनायक श्रीराम थे जिन्हें शम्बूक-वध के समय भी दुविधा नहीं हुई, श्रीकृष्ण थे, जिन्हें अपनी प्रतिज्ञा तोड़कर भीष्म पितामह पर टूट पड़ने में किसी प्रकार का संकोच नहीं हुआ। नई कविता का नायक हैमलेट है जो आत्मरक्षा का उपाय न खोजकर केवल इस विचिकित्सा में पड़ा

रहता है कि होने और नहीं होने में कौन-सा विकल्प ठीक है, कर्म और अकर्म में कौन सा सही और कौन-सा ग़लत मार्ग है। पुरानी कविता का स्वर था—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्षसे महीम्
तस्मात् उत्तिष्ठ कौन्तेय, युद्धाय कृतनिश्चय :।

किन्तु नई कविता का स्वर है, "आशा करने से बाज आओ, क्योंकि आशा गलत चीज की आशा होगी। प्रेम करने से बाज़ आओ, क्योंकि प्रेम गलत चीज के लिए प्रेम होगा।" इलियट की चेतावनियों में एक चेतावनी यह भी जोड़ी जा सकती है कि "युद्ध करने से बाज़ आओ, क्योंकि युद्ध गलत बातों के लिए युद्ध होगा।" और अन्त में सभी युद्ध, सचमुच ही, गलत बातों के लिए युद्ध सिद्ध होते हैं।

किन्तु, हैमलेटवादी दृष्टिकोण की प्रधानता होते हुए भी युद्ध रुकता नहीं दिखाई देता। उल्टे यह बात दिनोंदिन अधिक प्रत्यक्ष होती जाती है कि हैमलेट जहाँ भी जन्म लेते हैं, बर्बाद होने को जन्म लेते हैं। हैमलेटों की ईमानदारी का आदर केवल कवि करते हैं, दार्शनिक और कलाकार करते हैं। किन्तु कर्मवादी राजनीतिज्ञ, जो संसार के संचालक और सूत्रधार हैं, हैमलेट की पहले भी अवहेलना करते थे और आज भी अवहेलना करते हैं। और युद्ध आदि से अन्त तक राजनीति है। जब राजनीति श्वेत वस्त्रों में होती है, हम उसे शान्ति कहते हैं। जब उसके कपड़े लाल रंग में रँग जाते हैं, तब वही राजनीति युद्ध बन जाती है। प्रश्न यह नहीं है कि युद्ध दुष्कर्म है या नहीं। प्रश्न यह है कि उसके अभिशापों से बचा कैसे जाए ?

केवल ऊँची बातें बोलने से युद्ध नहीं रुकेगा क्योंकि आदमी ऊँची बातों को अमल में लाने से लाचार है। विशेषतः अहिंसा की साधना व्यक्ति के लिए सुकर, समूह के लिए अत्यन्त दुःसाध्य है। और जब भी हम व्यक्ति के धर्म को समाज का धर्म बनाएँगे, नतीजा वही निकलेगा जो भारतवर्ष में दिखाई पड़ा है। भारत का पतन इसलिए नहीं हुआ था कि यह देश पापियों का देश था। पतन उसका इसलिए हुआ कि सभ्यता उसने ज़रूरत से ज्यादा सीख ली थी।

बहुत ऊँचे आदर्श व्यक्ति को तो ऊंचा उठा ले जाते हैं, मगर वे राष्ट्रों का विनाश कर डालते हैं। भारत शान्ति की आराधना करे, इससे किसी का भी विरोध नहीं हो सकता। व्यावहारिक कठिनाई केवल यह है कि अगर ऋषि ने यज्ञवेदी पर काफ़ी बन्दूकें जमा नहीं की हैं तो उसका शान्ति-यज्ञ भी पूरा नहीं होगा।

युद्ध से डरनेवाले लोग शान्ति-स्थापना में हमेशा असमर्थ रहे हैं। शान्ति की रक्षा आज भी वे ही लोग कर रहे हैं और आगे भी वे ही लोग करेंगे जो युद्धों से नहीं डरते, मगर, युद्ध रोकने को तैयार हैं। आदर्श मनुष्य की सबसे समीचीन कल्पना यह है कि उसे शरीर से बर्बर और मन से साधु होना चाहिए। लेकिन शान्ति-स्थापना में जितनी बाधा बर्बरों की बर्बरता से पड़ी है, साधुओं की निर्वीर्यता उससे कम गुनहगार नहीं है।

विशेषतः जिन देशों की जनसंख्या बहुत बड़ी है, उन्हें सामरिक दृष्टि से बलवान् होना चाहिए। नहीं तो उनकी कमज़ोरी ही विश्वयुद्ध का सबसे बड़ा कारण बन

जाएगी। चिड़ियों की लाशों पर केवल कौए ही भीड़ लगाते हैं। बड़े-बड़े गिद्ध तो तभी उतरते हैं जब उन्हें किसी बड़े जानवर की लाश दिखाई देती है।

युद्ध की कविता केवल युद्ध के ही समय नहीं लिखी जाती है। वह तब भी लिखी जाती है और लिखी जानी चाहिए जब युद्ध शुरू नहीं होते हैं और उस समय भी जब युद्ध ख़त्म हो जाते हैं। और जैसे युद्ध में जीत उसकी होती है जो पहले से ही उसके लिए तैयार रहता है, उसी प्रकार संसार में मान के साथ केवल वे जातियाँ जीती हैं, जिनका जीवन-दर्शन युद्ध पर आधारित है, संघर्ष की वास्तविकता से एकाकार है। सर मोहम्मद इक़बाल कविता को व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति मानते थे, किन्तु, व्यक्तित्व से उनका तात्पर्य संघर्ष और तनाव से था। इक़बाल के अनुसार व्यक्तित्व उसका बनता है जो दुरवस्थाओं से संघर्ष कर रहा है, जो तनाव की स्थिति में रहकर अपना विकास खोज रहा है। जो बातें व्यक्तित्व के विकास में सहायता पहुँचाती हैं उन्हें इक़बाल कला के लिए भी उपयोगी समझते थे। और जिन बातों से मनुष्य का व्यक्तित्व शिथिल होता है, उन्हें इक़बाल कला के लिए भी वर्जित बताते थे। हाफ़िज़ की ग़ज़लों की उपमा उन्होंने उन गुलाबों से दी थी, जिनके भीतर साँप छिपे हुए हैं। इक़बाल के उद्‌गारों से यह शिक्षा मज़े में निकाली जा सकती है कि मानवता को ऊँचा उठानेवाली प्रत्येक कविता युद्ध की ही कविता होती है, क्योंकि वह संघर्ष को प्रेरित करती है, तनाव की स्थिति को मज़बूत बनाती है। और इस संघर्ष और तनाव का कहीं भी अन्त नहीं है। मंज़िलों के आगे नयी मंज़िलें मौजूद हैं और आदमी को हमेशा अपने से ऊपर उठने का प्रयास करते ही जाना है।

सितारों से आगे जहां और भी हैं,
अभी इश्क के इम्तिहां और भी हैं।
तू शाहीं है, परवाज़ है काम तेरा,
तेरे सामने आसमां और भी हैं।

संसार अभी भी उन कविताओं के पूरे प्रभाव में है, जिन्हें हम सब युद्ध-काव्य कह सकते हैं। रामायण युद्ध की कविता है। महाभारत युद्ध का काव्य है। होमर युद्ध के कवि हैं। शेक्सपियर युद्ध की प्रेरणाओं से पूर्ण हैं। मनुष्य के मन के भीतर युद्ध को गौरवपूर्ण भाव के रूप में प्रतिष्ठित करने का सारा कार्य कवियों ने किया है और आज इस भाव को गौरवहीन बनाने की दिशा में भी वे ही सबसे अधिक सचेष्ट हैं। किन्तु, युद्ध की गरिमा का चाहे जितना भी हरण किया जाए, युद्ध अचानक फूट पड़ता है और तब बहुत-से ऐसे कवि भी युद्ध की कविता लिखने लगते हैं जो सच्चे मन से युद्धों के विरुद्ध हैं। शान्ति का प्रचार तभी तक सम्भव है जब तक युद्ध नहीं छिड़ा हो। जब युद्ध छिड़ जाता है तब फिर लड़ना छोड़कर कोई और मार्ग शेष नहीं रह जाता।

युद्ध के दर्पपूर्ण आवेगों से मनुष्य का जितना परिचय है उसका उतना ही पुराना परिचय युद्ध की करुणा के भी साथ है। जिन कारणों से हम युद्ध का गौरव-हरण करना चाहते हैं, वे कारण कदाचित् व्यासजी को भी दिखाई पड़े थे। युद्ध के

ठीक पहले अर्जुन की और युद्ध के बाद युधिष्ठिर की जो मनोदशा हुई थी, वह आधुनिक चिन्तकों की मनोदशा से मिलती-जुलती है। किन्तु, व्यास ने अर्जुन का समाधान भगवान् श्रीकृष्ण से तथा युधिष्ठिर का समाधान भीष्म से करवा दिया। अर्थात् अपने इस मत को उन्होंने दो-दो बार रेखांकित किया कि अन्याय के प्रतिकार के लिए अगर खड्ग छोड़कर और कोई विकल्प नहीं हो, तो वैसी अवस्था में खड्ग उठाना धर्म तथा नहीं उठाना अधर्म है।

वास्तविक युद्ध-काव्य और कोरे प्रचार काव्य के बीच हमें भेद करना चाहिए, गरचे यह विभाजन ज़्यादातर गुण नहीं, परिमाण को ही लेकर किया जा सकता है। जैसे शैली की नवीनता और उसका तकनीकी सौन्दर्य अन्य कविताओं की श्रेष्ठता के लक्षण माने जाते हैं, उसी प्रकार युद्ध-काव्य की भी श्रेष्ठता उसकी शैली में परखी जाती है। वास्तविक युद्ध-काव्य वह है जो भाव और शैली, दोनों से लोगों के बीच असंतोष पैदा करता है, उनके भीतर अन्याय के विरोध की भावना जगाता है और उन्हें विपत्तियाँ झेलने को तैयार करता है। किन्तु, युद्ध के समय जो ढेर-की-ढेर अखबारी कविताएँ लिखी जाती हैं वे एक दृष्टि से तो प्रचार-साहित्य हैं, किन्तु, एक दूसरी दृष्टि से वे एक प्रकार की मनोवैज्ञानिक ग्रन्थि से उत्पन्न होती हैं। अँधेरे और सुनसान रास्ते से चलनेवाले मुसाफ़िर को जब भय लगता है, वह जोर-जोर से गाने लगता है। इसी प्रकार जनता जब किसी युद्ध से भय मानती है तब वह गाने और सुनने के लिए उग्र-उन्मादक कविताओं की माँग करती है। यह भी ध्यान देने की बात है कि जिस युद्ध से जितना ही अधिक आतंक फैलता है, उसे लेकर उतनी ही अधिक कविताएँ लिखी जाती हैं। मनोवैज्ञानिक ग्रन्थि का एक स्वरूप यह भी है कि युद्ध के समय हमारे अन्तर्मन में यह ग्लानि समाई रहती है कि हम सुरक्षित इसलिए हैं कि हमारी रक्षा करने को और लोग मोर्चे पर ख़तरे झेल रहे हैं, अपनी जान और जिस्म की कुर्बानी दे रहे हैं। अपने अन्तर्मन की इस अपराध-भावना को छिपाने के लिए भी हम देशभक्ति का बहाना बनाकर युद्ध की कविता रचते अथवा जोर-जोर से उसका पाठ करते हैं। युवकों को मृत्यु के मुख में झोंककर ख़ुद आराम करने में जो एक मनोवैज्ञानिक ग्लानि और दंश है उसे छिपाने अथवा उससे पलायन करने के काम में देशभक्तिपूर्ण कविताएँ जनता को सहायता पहुँचाती हैं। एक यह भी कारण है कि युद्ध के समय युद्ध-प्रचार की कविताएँ जितनी लोकप्रिय रहती हैं, उतनी लोकप्रिय वे युद्ध में बाद नहीं रह पातीं।

किन्तु, युद्ध की सारी कविताएँ केवल लोकप्रिय ही हों, यह कोई आवश्यक बात नहीं है। वे आलोकप्रिय भी हो सकती हैं और जो कविताएँ आलोकप्रिय होती हैं, वे ही दीर्घायु भी होती हैं। युद्ध का जो वक्तव्य सार्वजनिक मंचों से आता है वह उसका असली वक्तव्य नहीं है। युद्ध का असली वक्तव्य वह है जिसे नीरवता में केवल हमारी आत्मा सुना करती है। युद्ध ऐसा विषय नहीं है जिसका बखान केवल ढोल पीटकर कर दिया जाए। उसके साथ अनंत परिवारों की वेदना बँधी है, उसके साथ सभ्यता का भविष्य सम्बद्ध होता है, उसके साथ जीवन-मरण की ऐसी अनेक गुत्थियाँ

लिपटी होती हैं जिन्हें सुलझाने के काम में चिन्तकों, दार्शनिकों और राजनीति के बड़े-बड़े पंडितों को बारबार पराजय स्वीकार करनी पड़ी है। युद्ध राष्ट्रीय भावनाओं का विस्फोट है, मगर वह मानवीय समस्या का भी सबसे ज्वलन्त, सबसे दुःखदायी स्वरूप है। युद्ध में मनुष्यों को क्या-क्या नहीं सहना पड़ता है ? मेरा ख्याल है, कविगण यदि अपने को कम, मनुष्य को कुछ अधिक देखने की कोशिश करें तो वे युद्ध की बहुत अच्छी कविताएँ लिख सकते हैं।

युद्ध-काव्य को मैं एक सामाजिक कर्तव्य मानता हूँ जैसे राष्ट्रीय काव्य सामाजिक कर्तव्य है। किन्तु यहाँ यह भी याद रखने की बात है कि कवि साधारण सैनिक नहीं होता। हम विशेष प्रकार के सिपाही हैं। हम जिससे लड़ते है, अपने हृदय की आधी सहानुभूति उस दुश्मन के लिए भी सुरक्षित रखते हैं। हम जिस पर वार करते हैं, उसके घाव के लिए मरहम तैयार करना भी हमारा ही काम है। युद्ध की श्रेष्ठ कविताएँ वे नहीं हैं जो युद्ध-विशेष के साथ समाप्त हो जाती हैं। कविता राष्ट्रीय होकर भी राष्ट्रीयता का अतिक्रमण करती है, धार्मिक होकर भी साम्प्रदायिकता के पार पहुँचती है। युद्ध की भी श्रेष्ठ कविताएँ वे हैं, जो युद्ध-काव्य होने पर भी युद्ध का अतिक्रमण करती हैं, जो एक देश में जन्म लेकर अनेक देशों का स्पर्श करती हैं, जो एक शताब्दी में पैदा होकर अनेक शताब्दियों की यात्रा करती हैं।

नये कवि करुणा और संवेदना के कवि हैं। वे भावुकता के आवेश में आकर युद्ध को दर्पपूर्ण भाव के रूप में ग्रहण करने को तैयार नहीं हैं। प्रथम विश्व-युद्ध के विख्यात युद्धकवि विलफ्रेड ओवेन ने लिखा था :—

My subject is war and the pity of war.
The poetry is in the pity.

और येट्स का सिपाही मोर्चे पर खड़ा बड़े ही निःसंकोच भाव से कहता है :

Those that I fight, I do not hate.
Those that I guard, I do not love.

द्वितीय विश्वयुद्ध की कविता तो दर्प और भावुकता से बिलकुल ही मुक्त हो गयी। उस युद्ध के एक वर्दीधारी कवि ने लिखा था :

Droll rat, they will shoot you if they knew your
cosmopolitan sympathies.

वेदना और व्यंग्य, ये युद्ध-काव्य की अब रीढ़ बन गए हैं। वेदना उनकी जो देशभक्ति के लिए अथवा विचारधारा के प्रेम में शहीद होते हैं। और व्यंग्य की बात यह कि जिन सपनों के लिए सिपाही अपना बलिदान देता है, वे सपने कभी भी पूरे नहीं होते। व्यंग्य इस बात पर भी कि हमें जो शिक्षा दी जाती है वह शान्ति की शिक्षा है, युद्ध-विरोध की शिक्षा है। किन्तु, यह शिक्षा हमारे किसी काम नहीं आती। हम शान्ति चाहते हैं, किन्तु, हमें युद्ध में उतरना पड़ता है। अपने भीतर हम ग्लानि का अनुभव करते हैं, ऊँचाई से खिसकने पर हमें पश्चात्ताप होता है, किन्तु, लड़ना छोड़कर हम और कुछ नहीं कर सकते, क्योंकि जातियों के लिए राष्ट्रीय पराजय

बढ़कर और कोई पाप नहीं है। कवि कैलास ने इस दर्द को बहुत अच्छी अभिव्यक्ति दी हैं।

यह सब कल के लिए छोड़ दो।
आज तो बस युद्ध को—
नहीं, नहीं, 'आवश्यक बुराई' को,
नीचे से ऊपर तक ओढ़ लो।

यह वक्तव्य ईमानदारी का वक्तव्य है। ओवेन और येट्स के वक्तव्य भी ईमानदारी के ही वक्तव्य हैं। किन्तु, ये सारे वक्तव्य अधूरे दीखते हैं, क्योंकि वे जिस गहराई की थाह लेने की कोशिश करते हैं, वह गहराई अथाह है। युद्ध के बारे में मुख से उद्गीर्ण कोई भी वक्तव्य पूर्ण नहीं हो सकता। भाषा इस विषय की पूरी वेदना और विवशता को नहीं सँभाल सकती, न चिन्तन इस समस्या का सम्यक् समाधान निकाल सकता है। जब तक कर्म की घड़ी नहीं आती, वाणी और चिन्तन अपना काम कर सकते हैं, किन्तु, कर्म का अखाड़ा खुलते ही कर्म ही हमारा प्रधान कर्तव्य हो जाता है। क्योंकि कर्म के अखाड़े में चिन्तन की तलवार का भरोसा करनेवाला मनुष्य मारता नहीं, ख़ुद मारा जाता है।

क्रिया को छोड़ चिंतन में फँसेगा,
उलट कर काल तुझको ही ग्रसेगा।

डॉ० सुरेश अवस्थी

स्वतन्त्रता के पश्चात् हिन्दी नाटक : विकास की भूमिका

हम समसामयिक हिन्दी नाटक और रंगमंच पर दृष्टिपात करते हैं तो आज भी यह बात सहज ही स्पष्ट हो जाती है कि हिन्दी नाट्य-लेखन साहित्य की दूसरी विधाओं की अपेक्षा परिमाण और गुण दोनों ही दृष्टियों से हीन कोटि का है, और रंगमंचीय क्रियाकलाप का इतना बड़ा विस्तार भी किसी संगठित और व्यावसायिक रंगमंच को जन्म नहीं दे सका। यही नहीं, हिन्दी का एकमात्र व्यावसायिक रंगमंच पृथ्वी-थिएटर्स १४-१५ वर्ष समस्त हिन्दी-भाषी क्षेत्रों में नाटकों का प्रदर्शन करके १९६० में सहसा बन्द हो गया। हिन्दी नाट्यालोचना आज भी मुख्य रूप से साहित्यिक आलोचना ही है और वह नाटक को रंगशाला के सन्दर्भ में मूल्यांकित करने में असमर्थ है। वह अपना स्वरूपपूर्ण और प्रयोजनशील बनाकर नाटक के क्षेत्र में रचनात्मक कार्य को कोई निर्देश नहीं दे पा रही। नाट्य-लेखन और प्रदर्शन दोनों ही संकुचित और कल्पना-विहीन यथार्थवादी परम्पराओं और प्रणालियों से जकड़े हुए हैं, और इन दोनों ही क्षेत्रों में कोई नया विचारोत्तेजक और प्रयोगात्मक कार्य नहीं हो रहा है। नाट्य-लेखन के नियमों और व्यवहारों तथा नाट्य-प्रदर्शन की पद्धतियों और शैली मूल्यों का कोई नया रूप विकसित नहीं हो रहा, और वे एक प्रकार के कलात्मक गतिरोध से घिरे हुए हैं।

फिर भी सब मिलाकर रंगमंचीय क्रियाकलाप का विस्तार हुआ है और उसमें विविधता आई है तथा कुछ श्रेष्ठ नाटकों की रचना हुई है जो नई उपलब्धियों का आश्वासन देते हैं। नाटकीय समस्याओं पर गम्भीर साहित्यिक वादविवाद हो रहे हैं, गोष्ठियाँ हो रही हैं; नाटकों और नाट्य-प्रदर्शनों के शिल्प-पक्ष की गम्भीर समीक्षाएं की जा रही हैं, 'नटरंग' नामक उच्च स्तर की त्रैमासिक नाटक पत्रिका का प्रकाशन हुआ है। इस सबके आधार पर यह कहा जा सकता है कि स्वतन्त्रता के पश्चात् का १५-१८ वर्षों का समय हिन्दी नाटक और रंगमंच के जीवन में वास्तव में विकास की एक सुनिश्चित भूमिका का समय है। यह भूमिका धीरे-धीरे भावी विकास की दिशाओं का भी संकेत कर रही है, और इस बात की आशा होने लगी है कि हिन्दी नाटक और रंगमंच हमारी साहित्यिक और सांस्कृतिक गतिविधियों में अपना महत्त्वपूर्ण योग दे सकेगा।

सन् १९३३, जब प्रसाद की अन्तिम नाट्य-कृति 'ध्रुवस्वामिनी' प्रकाशित हुई, और सन् १९४७ के बीच के काल को इस दृष्टि से देखना उपयोगी होगा कि इस

काल-खण्ड में नाटच-लेखन के कौनसे रचना-नियम और व्यवहार प्रचलित थे और रंगमंच की क्या स्थिति थी। इस दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होगा कि एक ओर तो प्रसाद की नाटच-रचना-पद्धतियों और रीतियों का ही अनुसरण किया गया और भारतीय इतिहास के विविध काल-खण्डों और कथानकों को लेकर ऐतिहासिक नाटकों की रचना की गई और दूसरी ओर, पश्चिम के यथार्थवादी नाटच-आन्दोलन के प्रभाव में सामाजिक और यथार्थवादी समस्या-प्रधान नाटकों की एक नई धारा का सूत्रपात हुआ। यह एक आश्चर्यजनक ऐतिहासिक संयोग की बात है कि १९३३ में 'ध्रुव-स्वामिनी' के प्रकाशन के साथ हिन्दी नाटक की एक धारा अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँची, और उसके दूसरे ही वर्ष सन् १९३४ में लक्ष्मी नारायण मिश्र के नाटक 'सिन्दूर की होली' के साथ एक नई धारा का जन्म हुआ।

स्वतन्त्रता के पश्चात् इन दो प्रमुख धाराओं में ही नाटकों की रचना होती रही और सब मिलाकर हमारा नाटक साहित्य का सृजन और उसकी उपलब्धियाँ अत्यन्त सामान्य स्तर की हैं। लेकिन, इस बीच कुछ ऐसी नाटच-कृतियाँ आईं तथा कुछ ऐसे प्रदर्शन हुए, जिनमें नए तत्त्वों और विकास की नई दिशा का आभास मिला। प्रसाद की परम्परा का अनुसरण करने वाली ऐतिहासिक नाटकों की धारा में इस अवधि में सबसे पहला और महत्त्वपूर्ण मोड़ जगदीशचन्द्र माथुर की रचना 'कोणार्क' से आया। यथार्थवादी नाटच-लेखन परम्परा का यह पहला ऐतिहासिक नाटक है, जिसके वस्तु-विधान और चरित्र-विधान में इस परम्परा के सर्वोत्तम तत्त्वों का समावेश हुआ है। प्रयोग की दृष्टि से भी यह कृति महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसमें मध्ययुगीन भाषा-नाटकों की परम्परा में वृन्द-वार्तिक, सूत्रधार और कथावाचकों का समावेश किया गया, और नाटक की दृश्य-अंक-योजना में उपक्रम, उपसंहार और उपकथन की नियोजना करके अन्वितियों का पालन करते हुए भी नाटकीय कथानक के विस्तार की रक्षा की गई। शिल्पगत प्रयोग की दृष्टि से इस नाटक का बहुत बड़ा महत्त्व है, क्योंकि इसकी रचना-पद्धति में परम्परा के सूत्रों को खोजा गया और उनके साथ नया सम्बन्ध स्थापित किया गया। यह नाटक शायद हिन्दी का पहला साहित्यिक धारा का नाटक है, जो रंगमंच पर भी पर्याप्त सफलता के साथ खेला गया और कई पद्धतियों और शैलियों में इसके प्रदर्शन हुए। इसके बाद श्री माथुर ने एक और सफल ऐतिहासिक नाटक 'शारदीया' की रचना की। यह नाटक भी अपने रूपबन्ध में बड़ी सफलता के साथ रंगमंच के अनुशासनों का निर्वाह करता है, और यही कारण है कि रंगशाला में इसका सशक्त प्रदर्शन सम्भव हुआ है।

हिन्दी के ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा में दो अन्य श्रेष्ठ नाटच-कृतियों 'अन्धा युग' और 'आषाढ़ का एक दिन' की भी चर्चा की जा सकती है; यद्यपि ये दोनों ही इस नाटच-धारा से बिलग और सर्वथा भिन्न रचनाएँ हैं। अन्धायुग ऐसे समय की रचना है जब नई कविता समर्थ और प्रौढ़ होकर अधिक नाटकीय होने लगी थी। यही कारण है कि 'अन्धायुग' में श्रेष्ठ काव्य के तत्त्व नाटकीय तत्त्वों के अनुगामी होकर आए हैं और उनके साथ समेकित होकर रचना की नाटच-शक्ति को पुष्ट करते

हैं। इस रचना में महाभारत का अत्यन्त घनीभूत कथा-खण्ड नई वैचारिक और सैद्धान्तिक भंगिमाओं के साथ प्रस्तुत किया गया है; पात्रों की नितान्त मौलिक संकल्पनाएँ की गई हैं, और उनको युग-सापेक्ष सन्दर्भों में प्रस्तुत किया गया है। रूप-विधान की दृष्टि से भी इसमें नए प्रयोग किये गए हैं। नाटकीय-वस्तु-योजना में स्थापना, समापन और अन्तराल रखे गए हैं: अंकों को प्रतीकात्मक शीर्षक दिए गए हैं, और कथा-स्थितियों तथा पात्रों पर टीकाएँ करने के लिए प्रहरी और कथा-गायन का विधान किया गया है। इन शिल्पगत प्रयोगों द्वारा पहली बार हिन्दी नाटक को यथार्थवादी नाट्य-लेखन की जड़ता से मुक्त किया गया और उसमें उन श्रेष्ठ साहित्यिक तत्त्वों का समावेश किया गया, जिनके बिना किसी भी धारा और परम्परा का नाटक श्रेष्ठ नाटक नहीं होता।

इसके दो वर्ष बाद मोहन राकेश के नाटक आषाढ़ का एक दिन का प्रकाशन हुआ, जिसमें स्कन्दगुप्त के बाद पहली बार हिन्दी नाट्य-लेखन में यथार्थवादी आन्दोलन द्वारा निर्वासित काव्य-तत्त्व फिर से प्रतिष्ठित हुआ। यद्यपि इस नाटक में यथार्थवादी नाट्य-रचना-पद्धति ही अपनाई गई और एक दृश्यबन्ध तथा तीन अंकों के रूप-विधान में अन्वितियों का निर्वाह किया गया, फिर भी इसके स्वरूप में एक ऐसी नम्यता है कि वह प्रदर्शन की विविध शैलियों में सहज ही ढल जाता है। इस नाटक के गम्भीर, काव्यपूर्ण और लयबद्ध संवाद तो हिन्दी नाटक के एक शताब्दी के संवाद-लेखन में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। इस प्रकार की साहित्यिक भाषा और उदात्त शैली में लिखे गए पात्रों के लम्बे-लम्बे संवाद, एकालाप और स्वगत-कथन जिस प्रकार से प्रदर्शन में पात्रों की रंगचर्या के साथ एकीभूत हो जाते हैं और उनके व्यापारों और भावों को उद्घाटित और घनीभूत करते हैं, वह अनुभव हिन्दी दर्शक के लिए सर्वथा नवीन है।

इसी अवधि में सन् १९६४ में मोहन राकेश का एक दूसरा नाटक 'लहरों के राजहंस' प्रकाशित हुआ, जो महात्मा बुद्ध के भाई आनन्द और उनकी पत्नी सुन्दरी के उस आख्यान पर आधारित है, जिस पर अश्वघोष ने अपने प्रसिद्ध महाकाव्य 'सौन्दरनन्द' की रचना की है। लहरों के राजहंस में एक ऐसे कथानक का नाटकीय पुनराख्यान है, जिसमें सांसारिक सुखों और आध्यात्मिक शान्ति के पारस्परिक विरोध तथा उनके बीच खड़े हुए व्यक्ति के द्वारा निर्णय लेने का अनिवार्य द्वन्द्व निहित है। चुनाव की यातना ही इस नाटक का कथा-बीज और उसका केन्द्रबिन्दु है। धर्म-भावना से प्रेरित कथानक में उलझे हुए ऐसे ही अनेक प्रश्नों का इस कृति में नये भाव-बोध के परिवेश में परीक्षण किया गया है। इस नाटक में लेखक ने पात्रों की नव-सर्जना की है तथा कथानक को युगीन और नाट्य-गर्भित अभिप्राय दिया है। इसके अत्यन्त कोमल और संवेदनशील संवादों तथा प्रेम और श्रृंगार की कथा-स्थितियों में पाठक को मध्ययुगीन श्रृंगारिक लघु चित्रों को देखने का-जैसा कलात्मक सुख मिलता है।

हिन्दी में ऐतिहासिक नाटक बहुत-कुछ पाठ्य-पुस्तकों की माँग की पूर्ति के लिए

लिखे जाते हैं। यही कारण है कि हिन्दी में ऐतिहासिक तथा पौराणिक नाटक बहुत बड़ी संख्या में हैं, और ऐसे सामाजिक नाटकों का अभाव है जिनमें प्रस्तुत प्रश्नों से जूझने का सशक्त कथानक हो और जिनके पात्र अपने परिवेश और समाज से लड़ते-टूटते हुए दिखाई दें। हिन्दी नाटक साहित्य की यह स्थिति बड़ी विचित्र लगती है कि बहुत बड़ी संख्या में ऐतिहासिक नाटक ही लिखे जाते हैं, और उनमें से अधिकांश हीन कोटि की रचनाएँ हैं; और साथ ही चार-छ: जो श्रेष्ठ नाटक हैं—स्कन्दगुप्त, कोणार्क, अंधा-युग, आषाढ़ का एक दिन और लहरों के राजहंस वे सब ऐतिहासिक हैं। ऐतिहासिक नाटक कभी भी सशक्त और कलात्मक नहीं हो सकते, यदि कथानक को नई, युग-सापेक्ष भंगिमाएँ नहीं दी गईं, और पात्रों का तीव्र चरित्रांकन नहीं किया गया। ऐतिहासिक नाटकों का रचयिता अपने पात्रों को 'अनैतिहासिक' और 'युगीन' बनाकर ही अपनी कृतियों को कलात्मक सार्थकता और शक्ति प्रदान कर सकता है।

हिन्दी नाट्य-रचना की दूसरी धारा सामाजिक समस्या-नाटकों की है। यद्यपि इस धारा में पिछले ३० वर्षों से नाटक-रचना हो रही है, किन्तु सब मिलाकर इसकी उपलब्धियाँ बहुत ही सामान्य हैं। इस धारा के नाट्य-लेखन में यथार्थवादी परम्परा की नाट्य-रचना के व्यवहारों और रूढ़ियों का अनुसरण किया गया है, और इसकी प्रेरणा इब्सन और शॉ से ग्रहण की गई है; तथा इन नाटकों का रूप-विधान आधुनिक प्रदर्शन-व्यवहारों को ध्यान में रखकर किया गया है। लेकिन यह सारा नाटक साहित्य न तो अपने रंगमंचीय तत्त्वों और शिल्प-विधान में ही श्रेष्ठ कोटि का है, और न उसके साहित्यिक गुण ही उच्च-स्तर के हैं। इन नाटकों में सामाजिक कथानकों को तीव्र अन्तर्द्वन्द्व और घात-प्रतिघात की स्थितियों में रखकर अपने परिवेश और परिस्थितियों से लड़ते-जूझते रहते हुए पात्रों को प्रस्तुत करने में नाटककार असफल रहे हैं। यह नाटक साहित्य केवल विश्वविद्यालयों में पाठच-पुस्तकों की माँग पूरी करता रहा और रंगमंच की क्षीण परम्परा को सम्बल देता रहा है। लक्ष्मीनारायण मिश्र और उपेन्द्र-नाथ अश्क ने इस धारा में कई नाटकों की रचना की और उनके नाटक रंगमंच पर भी खेले गए, विशेषकर अश्क के नाटकों को रंगमंच पर अधिक सफलता और ख्याति मिली। स्वतन्त्रता के पश्चात् इधर पिछले कुछ वर्षों में इस धारा में डॉ० लक्ष्मी-नारायण लाल ने कई नाटकों की रचना की है और अब तक उनके अंधाकुँआ, सूखा सरोवर, मादा कैक्टस, सुंदर रस, रक्त कमल, रात रानी और दर्पन आदि नाटक प्रकाशित हो चुके हैं। डॉ० लाल कथानक की नाटकीय अनुभूति और उसकी रंगमंच-सापेक्ष वस्तु-योजना करने में अधिक सफल हैं; और उनके नाटकों से ऐसा लगता है कि वे अपने लिए एक विशिष्ट प्रकार के नाट्य-रूप की खोज कर रहे हैं। इसी धारा में नरेश मेहता के दो नाटकों—सुबह के घण्टे और खण्डित यात्राएँ—की चर्चा भी की जा सकती है। पिछले कुछ वर्षों में दूसरी भाषाओं से अनूदित होकर जो नाटक हिन्दी में प्रकाशित हुए हैं, उनमें पंजाबी से परितोष गार्गी का 'छलावा' और कन्नड़ से आद्य रंगाचार्य का 'सुनो जनमेजय' उल्लेखनीय कृतियाँ हैं।

हिन्दी नाटक लेखन की एक नई प्रवृत्ति यह है कि इस समय हिन्दी में बहुत

बड़ी संख्या में ऐसे नाटक लिखे जा रहे हैं, जिनकी रचना केवल प्रदर्शन के लिए होती है। और जो प्रायः प्रकाशित भी नहीं होते। इस नई धारा के नाटक हिन्दी की साहित्यिक नाटक-धारा से भिन्न हैं। ये नाटक प्रायः ऐसे लोगों के लिखे हुए होते हैं जो नाट्य-संस्थाओं के ही उत्साही कार्यकर्ता और सदस्य होते हैं अथवा जो स्वयं अभिनेता या निर्देशक के रूप में नाट्य-संस्था से सम्बद्ध रहते हैं। उनमें से कुछ नाटक प्रकाशित भी होते है, लेकिन अधिकांश का केवल प्रदर्शन में ही प्रयोग किया जाता है। वैसे तो हमको इस प्रवृत्ति का स्वागत करना चाहिए, क्योंकि नाटककार का रंगशाला से सम्बद्ध रहना बहुत आवश्यक है जिससे कि वह रंगमंच के अनुशासनों और उसकी आवश्यकताओं से अच्छी तरह से परिचित रह सके और अपनी नाटकीय कथा को उन्हीं के अनुसार संगठित करे। किन्तु, इसमें कहीं ऐसा न हो कि जो श्रेष्ठ रचनाकार हों वे रंगमंच से निर्वासित हो जाएँ और हिन्दी रंगमंच उनकी कृतियों से वंचित रह जाए।

प्रदर्शित होने वाले नाटक में कई प्रकार के दोष रहते हैं, जो नाटक को कमज़ोर और कलाहीन बनाते हैं। नाटकों के वस्तु-निर्माण में शिथिलता रहती है, और व्यापार में ऐसा अनर्गल फैलाव होता है कि वह बार-बार नाटक के मुख्य व्यापार से दूर हट जाता है। नाटकीय अन्तर्द्वन्द्व की दृष्टि बहुत ही पुरानी घिसी-पिटी युक्तियों से की जाती है, जैसे कि एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न प्रवृत्ति वाले पात्रों का नाटकीय स्थितियों में एक साथ नियोजन, नाटकीय कथा में आकस्मिक रूप से नया मोड़ देने वाली नितान्त असम्बद्ध और प्रायः अस्वाभाविक घटनाओं का समावेश, प्रगतिमान कथानक में बहुत ही कृत्रिम रूप से नए-नए पात्रों का प्रवेश।

एक प्रवृत्ति यह भी है कि नाटककार अनावश्यक और गौण महत्त्व के कार्य-व्यापार पर काफी देर के लिए ठहर जाता है, और पात्र अनर्गल और निष्प्रयोजन वार्तालाप में लग जाते हैं। प्रायः पात्रों को ऐसी स्थिति में बहुत अधिक संवाद दे दिए जाते हैं, जहाँ कुछ शब्दों का आदान-प्रदान नाटकीय दृष्टि में अधिक प्रभावशाली होता है। नाटकीय पात्रों में समुचित अनुपात में संवादों का वितरण नहीं किया जाता। गौण कथानकों के कुछ विशेष प्रकार के 'टाइप' पात्रों को ही नाटककार अधिक महत्त्व देते हैं, जिससे कि नाटक में हास-परिहास की सृष्टि कर सकें। नाटककार अपने नाटकों में 'टाइप' पात्रों को रखने के प्रलोभन का संवरण नहीं कर पाते, और प्रायः वे अपने नाटकों की सफलता के लिए उन्हीं पर निर्भर रहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि वास्तविक सामान्य पात्रों की अवहेलना होती है और उनका चित्रण कमजोर रह जाता है। नाटकों में एक प्रवृत्ति यह भी देखने में आती है कि नाटककार ऊपरी तौर पर सामाजिक जागरूकता का परिचय देते हैं, और सामाजिक समस्याओं को बड़ी गम्भीरता से उठाते हैं; लेकिन वास्तव में उनके कलात्मक अभिप्राय और प्रणालियाँ प्रायः भावनात्मक होती हैं और उनमें नाटकीय शक्ति का अभाव होता है।

रंगमंच के लिए उपयुक्त और प्रदर्शन के ही लिए लिखे जाने वाले नाटकों में हम पृथ्वी थियेटर्स के नाटकों 'आहुति', 'पैसा' और 'दीवार' आदि को ले सकते हैं।

दिल्ली की एक सक्रिय नाट्य-संस्था 'श्री आर्ट्स क्लब' के अभिनेता और निर्देशक अशोक मेहता ने इसी परम्परा में कई नाटक लिखे हैं, जिनमें 'ढोंग' और 'ज़माना' बहुत लोकप्रिय हैं। विनोद रस्तोगी का इसी धारा का नाटक 'नये हाथ' बहुत ख्याति पा चुका है। गोविन्द वल्लभ पन्त, विमला रैना, वीरेन्द्र नारायण तथा सर्वदानन्द ने इस अवधि में ऐसे नाटक लिखे जिनका सफलता के साथ प्रदर्शन हो सका; साथ ही कुछ नाटक साहित्यिक गुणों से भी सम्पन्न हैं। यह तथ्य अपने-आपमें महत्त्वपूर्ण है कि आज हिन्दी के नाटकों को प्रदर्शन का अवसर मिल जाता है; इससे हिन्दी नाट्य-लेखन रंगमंचीय अनुशासनों और प्रदर्शन-मूल्यों की ओर जागरूक हो रहा है।

नाट्यालोचना

हिन्दी नाटक के विकास की इस भूमिका का एक नया स्वर उसकी नाट्यालोचना है। पिछले छः-सात वर्षों में हिन्दी की नाट्यालोचना का क्षेत्र विस्तारित हुआ है, और वह पहले की अपेक्षा अधिक व्यापक और सर्वांगीण हुई है। शायद पहली बार हिन्दी नाट्यालोचना में नाटक के रूप-विधान और उसके अन्य रचना-पक्षों का विधिवत् शिल्पगत अध्ययन और विश्लेषण प्रस्तुत किया जा रहा है। हिन्दी नाट्य-समीक्षा के इस नए स्वरूप के कारण ही आज यह सम्भव हो सका है कि हिन्दी के नए नाटक रंगमंच के सन्दर्भ में प्रदर्शन की दृष्टि से मूल्यांकित किए जा रहे हैं। नाट्यालोचना के इस रूप के कारण ही पहली बार हिन्दी नाट्यकार को उसके रचनात्मक कार्य में समुचित दिशा-निर्देश मिल रहा है। आज हिन्दी की नाट्य-समीक्षा कथानक और चरित्र-चित्रण के ही संकुचित घेरों में नहीं घिरी हुई है। वह विश्वविद्यालयों से बाहर अधिक वास्तविक और व्यावहारिक भूमि में आ गई है। व्यावहारिक नाट्य-समीक्षा के सिद्धान्त और व्यवहार आज रंगशाला में निर्धारित हो रहे हैं। इस सम्बन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि रंगमंच-सम्बन्धी पारिभाषिक और विशिष्ट शब्दावली तथा विवेचन-शैली का विकास हुआ है। पिछले कुछ वर्षों में प्राचीन नाट्य लक्षण-ग्रन्थों के जो नए व्याख्यात्मक अध्ययन प्रकाशित हुए हैं, उनसे भी नई नाट्य-समीक्षा पुष्ट हुई है; और वह प्राचीन समीक्षा पद्धति और पश्चिमी नाट्यशास्त्र के पारस्परिक समन्वय से समीक्षा का एक नया क्षेत्र विकसित कर रही है।

आज जिस नाट्यालोचना का विकास धीरे-धीरे नाटकों के प्रदर्शनों की समीक्षाओं के साथ हुआ है, और उसका श्रेय विशेषकर हिन्दी की दो साहित्यिक पत्रिकाओं—कल्पना और धर्मयुग—को है। वैसे यह स्थिति आज भी अत्यन्त खेदजनक है कि हिन्दी के दैनिक पत्र इस ओर से उदासीन हैं, और इस बात की आवश्यकता का अनुभव ही नहीं करते कि नाटकों के प्रदर्शनों की समीक्षाएँ नियमित रूप से प्रकाशित हों, और हिन्दी में भी अंग्रेज़ी के समान ही नाट्य प्रदर्शन समीक्षा की परम्परा का विकास हो। इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि नाटक के अध्ययन और अध्यापन को 'रंगमंचपरक' बनाया जाए। इस सम्बन्ध में पटना और दिल्ली विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों का यह प्रयास सराहनीय है। उन्होंने रंग-शिल्प

से सम्बन्धित कुछ पाठ्यक्रम भी रखा है; दिल्ली में तो इस पाठ्यक्रम को एक 'स्पेशल पर्चे' के रूप में रखा गया है। आवश्यकता इस बात की है कि इसी प्रकार सभी विश्वविद्यालय नाटक के अध्ययन-अध्यापन की पद्धति में परिवर्तन करें और उसे रंगमंच तथा प्रदर्शन कक्षाओं में सम्बद्ध करें। इसी दोहरे प्रयत्न से हमारी नई नाट्यालोचना विकसित होगी और रचनात्मक कार्य को समुचित योगदान दे सकेगी।

समसामयिक हिन्दी नाट्यालोचना की इन उपलब्धियों और प्रवृत्तियों की चर्चा के बाद उसके सैद्धान्तिक पक्ष और उसकी मूल प्रवृत्ति का संक्षिप्त विवेचन प्रासंगिक होगा। हिन्दी में नाट्यालोचना की जो पद्धति अपनायी जाती है उसे हम वर्णनात्मक साहित्यिक आलोचना कह सकते हैं। इस आलोचना शैली में नाटकों की कथावस्तु, पात्रों के चरित्र-चित्रण और नाटक के विचार और भाव-पक्ष का तो गम्भीर विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है, किन्तु नाटक के रूप-विधान, उसके रचना-नियमों और व्यवहारों, प्रदर्शन की दृष्टि से उसके गुण-दोषों तथा नाट्य-रूप को प्रभावित करने वाली रंगमंचीय परिस्थितियों और रूढ़ियों का कोई विवेचन नहीं होता। ऐसी स्थिति में हिन्दी नाट्यालोचना नितान्त एकांगी हो गई है, और वह बहुत सीमित विवेचन-क्षेत्र में और सीमित शब्दावली के साथ अपने को बराबर दोहरा रही है। वह अपने इसी स्वरूप के कारण नाट्य-लेखन और रंगमंचीय क्रियाकलाप से असम्बद्ध और विलग है। यही कारण है कि नाटक के क्षेत्र में रचनात्मक और समीक्षात्मक कार्य में बराबर खाई बढ़ती जा रही है, और वे एक-दूसरे को शक्ति नहीं दे पा रहे हैं। यह स्थिति इसलिए और भी घातक है, क्योंकि नाटक एक ऐसी विधा है, जिसमें समीक्षा किसी अन्य साहित्यिक विधा की अपेक्षा कहीं अधिक रचनात्मक कृतित्व को प्रभावित करती है।

हिन्दी नाट्यालोचना में एक बड़ा भारी अन्तर्विरोध आरम्भ से ही यह आ गया कि आधुनिक नाट्य-साहित्य का मूल्यांकन करने में न तो वह अपने को प्राचीन नाट्य-लक्षण ग्रन्थों में उपलब्ध समीक्षा सिद्धान्तों से सम्बद्ध कर सकी और न पश्चिमी-नाट्य-सिद्धान्तों और कला-मूल्यों को ही स्वीकार करके उनके समन्वय से वह किसी स्वतन्त्र और विशिष्ट नाट्य सिद्धान्त-शास्त्र का ही निर्माण कर सकी। यही कारण है कि आज तक हिन्दी की कोई ऐसी एकीकृत और मौलिक नाट्य-समीक्षा-पद्धति का निर्माण नहीं हो सका, जिससे कि हम उसी प्रकार हिन्दी नाट्य-शास्त्र के कुछ नितान्त स्थूल तत्त्वों और सिद्धान्तों की चर्चा कर सकते जिस प्रकार कि हिन्दी के स्वतन्त्र काव्यशास्त्र की चर्चा की जाती है। हमने अपने नाटक साहित्य का मूल्यांकन करने के लिए कभी तो प्राचीन शास्त्रीय सिद्धान्त अपनाये और कभी पश्चिमी नाट्य-सिद्धान्तों और कला-मूल्यों के आधार पर उसका परीक्षण किया। इसी स्थिति के कारण हमारे बहुत बड़े नाटक साहित्य का आज तक ठीक-ठीक मूल्यांकन नहीं हो सका।



रंगमंच और नाट्य प्रदर्शन

नेशनल स्कूल आफ़ ड्रामा द्वारा सन् १९६४ में अलकाज़ी के निर्देशन में प्रस्तुत 'अन्धा युग' और सन् १९६२ में श्यामानन्द जालान के निर्देशन में कलकत्ते की अनामिका संस्था द्वारा प्रस्तुत 'आषाढ़ का एक दिन' का प्रदर्शन हिन्दी रंगमंच की नई उपलब्धियों के वे चरम बिन्दु हैं, जिनके पीछे पिछले १०-१५ वर्षों के रंगमंचीय विस्तार और विकास की एक लम्बी भूमिका है। इस विकास के कई सूत्रों में एक महत्त्वपूर्ण सूत्र यह है कि रंगमंचीय कार्यकलाप में निर्देशक का उदय हुआ है और वह नाट्य-प्रदर्शन कला को अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दे रहा है। अलकाज़ी और श्यामानन्द जालान के अतिरिक्त बम्बई की थियेटर यूनिट संस्था से सम्बद्ध सत्यदेव दुबे तथा प्रयाग रंगमंच के निर्देशक सत्यव्रत सिन्हा के प्रदर्शन भी आज हिन्दी नाट्य-प्रदर्शन को नया स्तर प्रदान कर रहे हैं। नाटककार डा० लक्ष्मीनारायण लाल ने इलाहाबाद में नाट्य-केन्द्र संस्था द्वारा अपने कई नाटकों का इस अवधि में सफल प्रदर्शन किया है। दिल्ली में हबीब तनबीर ने संस्कृत नाटकों के अनुवादों के प्रयोगात्मक प्रदर्शन किये हैं, और पारसी थियेटर की प्रदर्शन-शैली के पुनर्निर्माण का महत्त्वपूर्ण काम किया। इसके अतिरिक्त कानपुर, बनारस, पटना, जयपुर, ग्वालियर आदि अनेक छोटे-छोटे नगरों में उदीयमान निर्देशक सराहनीय कार्य कर रहे हैं। नेशनल स्कूल आफ़ ड्रामा से प्रशिक्षित होकर जो कलाकार अपने नगरों में वापस जा रहे हैं, वे भी रंगमंच के संगठन में और प्रदर्शनकला के विकास में अपना सक्रिय योग दे रहे हैं। रंगमंच की एक जीवित परम्परा और कुशल निर्देशक के अभाव के कारण ही हिन्दी का बड़ा और समर्थ नाटक साहित्य उपेक्षित पड़ा है, और उसकी अभिनेयता के सम्बन्ध में हमारे मन में शंकाएँ बनी हुई हैं। आज पहली बार यह धारणा धीरे-धीरे पुष्ट हो रही है कि नया निर्देशक इस नाटक साहित्य की निहित रंगमंच-शक्ति और प्रदर्शन-क्षमताओं का अन्वेषण करेगा और उसे हिन्दी रंगमंच का अभिन्न अंग बनाएगा।

हिन्दी रंगमंच आज भी मूलतः अव्यावसायिक रंगमंच ही है, यद्यपि उसका पहले से बहुत अधिक विस्तार हुआ है और वह आज पहले से अधिक संगठित भी है। कुछ बड़े नगरों में नाट्य-दल अर्द्ध-व्यावसायिक रूप भी ले रहे हैं। हिन्दी रंगमंच का क्षेत्र आज इतना विस्तृत हो गया है कि धीरे-धीरे वह अखिल भारतीय स्तर पर विकसित हो रहा है। आज हिन्दी भाषी क्षेत्र में ही नहीं अनेक अहिन्दी-भाषी क्षेत्रों में भी हिन्दी-नाटकों के प्रदर्शन हो रहे हैं। अहिन्दी-भाषी क्षेत्रों के प्रमुख नगरों में ऐसी नाट्य-संस्थाएँ हैं जो दो-दो तीन-तीन भाषाओं में नाटकों के प्रदर्शन करती हैं, जिनमें से एक भाषा हिन्दी होती है। लेकिन किसी भी भाषा और देश का रंगमंच तब तक प्रौढ़ और सम्पन्न नहीं हो सकता जब तक कि वह व्यावसायिक रूप में विकसित और संगठित न हो। यह खेद की बात है कि हिन्दी का एकमात्र व्यावसायिक नाट्य-दल 'पृथ्वी थिएटर' सोलह वर्षों तक देश-भर में नाट्य-प्रदर्शन करने के बाद १९६० में बन्द हो गया।

रंगमंच के नवोत्थान और विकास में कई बातें उल्लेखनीय हैं। इस सम्बन्ध में

सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि आज हिन्दी के नये नाटकों को प्रायः प्रदर्शन का सुयोग मिल जाता है, जबकि उसके पहले के महत्त्वपूर्ण नाटक भी प्रदर्शन से वंचित रह गए और इस प्रकार नाटक की पूर्णाभिव्यक्ति के माध्यम रंगशाला की कलाएँ उनके रूप और शिल्प को उजागर करने में अपना योगदान न दे सकीं। नया नाटककार आज रंगशाला के निकट जा रहा है, उसी को अपने रचनात्मक कार्य का क्षेत्र बना रहा है, और उसकी कला-रूढ़ियों से परिचित हो रहा है। विहित गद्य-नाटकों के साथ-साथ हिन्दी रंगमंच में नृत्य-नाटकों का प्रचलन और विकास भी एक महत्त्वपूर्ण घटना है। संस्कृत नाटकों के अनुवादों और रूपान्तरों के प्रदर्शन भी आज हिन्दी रंग-मंच को प्राचीन परम्परा से सम्बद्ध कर रहे हैं।

बम्बई की दो संस्थाएँ—'लिटिल बैले ट्रूप' और 'बैले यूनिट' तथा दिल्ली की—'भारतीय कला केन्द्र' और 'बैले सेण्टर' ऐसी नृत्य-संस्थाएँ हैं, जिनके प्रदर्शन देश-भर में बड़ी सफलता के साथ हुए। 'लिटिल बैले ट्रूप' तो अपने प्रसिद्ध नृत्य-नाटक 'पंचतन्त्र' के प्रदर्शन अनेक पश्चिमी देशों में भी कर चुका है और उसकी अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति है। 'भारतीय कला केन्द्र' की 'रामलीला' और 'बैले सेण्टर' की 'कृष्णलीला' ने नृत्य-नाटक की कला को नया आयाम दिया है। हिन्दी रंगमंच के विकास में इन नृत्य-नाटकों का इस दृष्टि से विशेष महत्त्व है कि इनके द्वारा लोक-नाटक-परम्परा का आधुनिक रंगमंच में पुनर्निर्माण हुआ है। प्रदर्शन के अनेक व्यवहार और रूढ़ियाँ लोक-नाट्य-परम्परा से ली गई हैं। कोरस और कथावाचकों का प्रयोग और दर्शकों के देखते हुए रंग-कर्मियों अथवा स्वयं पात्रों द्वारा दृश्य-सज्जा सामग्री का रखना, उठाना आदि रूढ़ियाँ लोक-नाट्य-परम्परा से ही आई हैं। इसी प्रकार इन नाटकों में पात्रों की वेशभूषा और सज्जा की बहुत-सी सामग्री भी लोक-परम्परा से ली गई है। यह खेद की बात है कि इन नृत्य-नाटकों के अनेक पक्ष बहुत ही सम्पन्न और सबल होने पर भी इनका कथा-अंग, दृश्य-विधान और साहित्य अंश प्रायः कम-ज़ोर रहते हैं। श्रेष्ठ कवियों को अभी तक इनका सहयोग नहीं मिला।

इसी प्रसंग में इस बात का उल्लेख भी किया जा सकता है कि हिन्दी रंगमंच में संगीत और गेय नाटक (ऑपेरा) के विकास के लिए अभी तक कोई प्रयत्न नहीं हुए, जबकि कुछ अन्य भारतीय भाषाओं जैसे मराठी, पंजाबी, तेलुगु आदि में नए गेय नाटक का विकास हो रहा है। यह स्थिति इसलिए और भी शोचनीय लगती है कि हिन्दी क्षेत्र में ऑपेराधर्मी लोक-नाटकों की बड़ी समृद्ध परम्परा है और नए ऑपेरा के निर्माण की असीम सम्भावनाएँ हमारी नाट्य-परम्परा में निहित हैं।

समकालीन हिन्दी रंगमंच की एक और नई प्रवृत्ति यह है कि पिछले कुछ वर्षों में संस्कृत नाटकों के अनुवादों और रूपान्तरों के प्रदर्शन हुए हैं। केवल दिल्ली में ही दो-तीन नाट्य-संस्थाओं ने कई संस्कृत नाटकों के प्रदर्शन किए हैं। इन प्रदर्शनों ने कुछ में तो पारम्परिक यथार्थवादी प्रदर्शन-शैली अपनायी गई है, कुछ में नई और प्रगतिशील। हबीब तनवीर ने मृच्छकटिक का अत्यन्त विवादास्पद और प्रयोगात्मक प्रदर्शन किया है। मोनिका मिश्र द्वारा निर्देशित 'शकुन्तला' संस्कृत नाटकों की प्रदर्शन-

शैली की खोज में एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। संस्कृत नाटकों के कथानकों को लेकर कई नृत्य-नाटकों की भी रचना हुई है। 'रत्नावली' नाटक 'नौटंकी' शैली में लिखा गया और नौटंकी के ही कलाकारों द्वारा प्रस्तुत किया गया। यह नितान्त आवश्यक है कि रंगमंच के इस नवजागरण काल में हम अपनी प्राचीन परम्पराओं से परिचित हों और उसके साथ नये और जीवन्त सम्बन्ध स्थापित करें। अपनी नाट्य-परम्पराओं का पुनर्निर्माण करके ही हम पश्चिमी परम्परा का भी अधिक कलात्मक आत्मसात् कर सकेंगे और तभी भारतीय रंगमंच का वर्तमान गतिरोध भी टूटेगा और वह प्रगति करेगा।

चिरंजीत

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी एकांकी तथा रेडियो-नाटक

हिन्दी के कुछ नाट्यालोचकों एवं समीक्षकों द्वारा रचित पाठ्य-पुस्तकों में हिन्दी एकांकी और रेडियो-नाटक को एक ही विधा माना गया है। कुछ पुस्तकों में तो रेडियो-नाटक को रेडियो—(अथवा ध्वनि) एकांकी की संज्ञा दी गई। विद्वानों के ऐसे आप्त वचनों के कारण ही हिन्दी के सामान्य पाठकों एवं विद्यार्थियों में यह भ्रान्ति फैली हुई है कि रेडियो से प्रसारित होने वाला प्रत्येक नाटक एकांकी होता है। सन् १९४७ के बाद के एकांकी तथा रेडियो-नाटक के स्वतन्त्र विकास के आयामों एवं उपलब्धियों पर दृष्टिपात करने से पहले हम इस भ्रान्ति का निराकरण कर लेना चाहते हैं।

शब्द-प्रधान होने के कारण रेडियो-नाटक पूर्णतया एक स्वतन्त्र साहित्यिक विधा है। इस पर रंगमंचीय नाटक का अंकों वाला गणित लागू नहीं होता। यदि हम अंकों, दृश्यों और दृश्य-बंधों को ही दृष्टि में रखकर बात करें, तो हम कह सकते हैं कि रेडियो-नाटक एकांकी भी होता है और अनेकांकी भी। यह एक दृश्य का भी हो सकता है और अनेक दृश्यों का भी और रेडियो-नाटक के दृश्यों की लम्बाई-चौड़ाई पर भी कोई बन्धन नहीं होता। एक दृश्य एक संवाद का भी हो सकता है और दो सौ संवादों का भी। रेडियो-धर्मी सही नाटक स्थान एवं काल की अन्वितियों के बन्धन से भी मुक्त होता है। यदि उसका एक दृश्य मकान के कमरे में अभिनीत हो रहा है, तो दूसरा दृश्य सड़क के चौराहे पर, तीसरा रेलवे ट्रेन, हवाई जहाज़ या नदी की लहरों पर अभिनीत हो सकता है। रेडियो-नाटक वर्तमान के कक्ष में से अतीत और भविष्यत् की झलक प्रस्तुत कर सकता है। इस दृष्टि से रेडियो-नाटक कहानी और सिनेमा के अधिक निकट है। उसमें पहाड़ी झरने के समान जीवन का नैसर्गिक एवं यथातथ्य अबाध-प्रवाह है। रंगमंचीय नाटक की तरह नपे-तुले चौखटे की सीमित, रूढ़ एवं जड़ मर्यादा नहीं। माध्यम के लचीलेपन के कारण ही आकाशवाणी से जिस सफलता एवं कलात्मकता से रामकुमार वर्मा, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' और जगदीश चन्द्र माथुर के एकांकी नाटक प्रसारित होते हैं, वैसे ही जयशंकर प्रसाद, राधेश्याम कथावाचक,

सेठ गोविन्द दास, लक्ष्मीनारायण मिश्र और हरिकृष्ण प्रेमी के लम्बे-लम्बे नाटक, बच्चन द्वारा किये गए शेक्सपियर के नाटकों के अनुवाद, सुमित्रानन्दन पन्त और उदयशंकर भट्ट के काव्य-रूपक, विष्णु प्रभाकर के मनोविश्लेषणात्मक नाटक एवं मोनोलाग, गिरिजाकुमार माथुर के अन्तरिक्ष-यात्रा सम्बन्धी कल्पना-रूपक, देवकीनन्दन खत्री, प्रेमचन्द, वृन्दावनलाल वर्मा और भगवतीचरण वर्मा के बड़े बड़े उपन्यासों तथा जयशंकर प्रसाद, मैथिलीशरण गुप्त और रामधारीसिंह 'दिनकर' के महाकाव्यों के नाट्य-रूपान्तर और रासलीला सांगीत तथा नौटंकी जैसे लोक-नाटक भी प्रसारित होते हैं।

रेडियो-नाटक के विभिन्न रूपों एवं आकारों सम्बन्धी इस विवरण से यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है कि एकांकी और रेडियो-नाटक शिल्प एवं माध्यम की दृष्टि से हिन्दी साहित्य की दो अलग-अलग स्वतन्त्र विधाएँ हैं। मोटे तौर पर यह भी समझ लेना चाहिए कि स्थान और काल की अन्वितियों से मुक्त सही किस्म का रेडियो-नाटक एक दृश्य-बन्ध (सेट) वाले आधुनिक रंगमंच पर अभिनीत भी नहीं हो सकता है।

परन्तु एकांकी और रेडियो-नाटक में तंत्र एवं रचनागत कुछ ऐसी समानताएँ अवश्य हैं, जिनसे हिन्दी में एकांकी और रेडियो-नाटक को एक ही चीज़ समझने की भ्रान्ति उत्पन्न हुई है। पहली समानता तो यह है कि दोनों की ही अभिनयावधि पूर्णाकार रंगमंचीय नाटक के मुकाबले में बहुत कम होती है। दोनों में ही न तो अनावश्यक विस्तार होता है, न अधिक पात्र-संख्या होती है, और न चरमोत्कर्ष के पश्चात् लम्बा उपसंहार होता है। दोनों की सफलता कलेवर की संक्षिप्तता, शब्दों की मितव्ययता, कथा की एकाग्रता, प्रभाव की एकता और प्रवाह की क्षिप्रता में निहित है। दोनों को ही ढीलढाल, फैलाव और मन्थरता सह्य नहीं। दोनों का ही प्रारम्भ आकर्षक एवं कौतूहल-जनक, विकास द्वन्द्वात्मक, कौतूहल पूर्ण एवं सतत जिज्ञासा-वर्द्धक और अन्त रसानुभूति के आकस्मिक झटके के साथ चरमोत्कर्ष पर होता है। दोनों की ही रचना में शैल्पिक कौशल एक बहुत बड़ी शर्त है।

हिन्दी एकांकी और हिन्दी रेडियो-नाटक के इतिहास में संयोगवश एक ऐसी और समानता मिलती है, जो बंगला और मराठी जैसे प्रादेशिक भाषाओं के नाटक-साहित्यों की इन दोनों विधाओं में शायद नहीं है। और वह समानता यह है कि आधुनिक हिन्दी एकांकी और भारतीय रेडियो नाट्य विधा का उदयकाल लगभग एक ही है। हिन्दी का पहला एकांकी कब किसने लिखा, इसके सम्बन्ध में विद्वानों के अलग-अलग कई मत हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि हिन्दी का पहला एकांकी भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में लिखा था। अन्य विद्वानों में से कोई 'एक घूंट' (१९२९) के रचयिता बाबू जयशंकर प्रसाद को हिन्दी का पहला एकांकी-कार ठहराता है, कोई 'बादल की मृत्यु' (१९३०) के रचयिता डॉ० रामकुमार वर्मा को और कोई 'श्यामा—एक वैवाहिक बिडंबना' (१९३३) के लेखक भुवनेश्वर प्रसाद को। इधर कुछ अन्य वयोवृद्ध एकांकीकारों के जीवन-वृत्त प्रकाशित हुए हैं, जिनमें कइयों ने अपने प्रथम एकांकी का रचनाकाल १९३० के आसपास दे दिया है। खैर,

यह श्रेय-प्रदान तो हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों का काम है। निष्पक्ष भाव से भारतेन्दु-काल से लेकर १९३६ तक का समूचा काल एकांकी कला का प्रयोग-काल माना जा सकता है। इस प्रयोगकाल में पहले संस्कृत नाटकों की प्रणाली पर एकांकी रचे गये, बाद में पश्चिम की विकसित एकांकी-कला की प्रणाली पर। हम समझते हैं कि १९३६ से, पाश्चात्य एकांकी-कला से पूर्णतः प्रभावित हिन्दी एकांकी में शिल्प एवं भावगत मौलिकता उभरने लगी और पूर्णाकार नाटक के मुकाबले में इसकी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित होने लगी, जिसका लेखा-जोखा १९३८ में प्रकाशित 'हँस' के एकांकी-विशेषांक में मिलता है। सन् १९३६ में ही ऑल इंडिया रेडियो का जन्म हुआ, जिसके अन्तर्गत पहले दिल्ली, फिर १९३८ में लखनऊ में रेडियो स्टेशनों की स्थापना हुई। इन रेडियो-स्टेशनों पर पहले तो उर्दू के नाटककारों का ही एकाधिकार था, परन्तु धीरे-धीरे हिन्दी के नाटककारों की कृतियाँ भी यदा-कदा रेडियो से प्रसारित होने लगीं। १९४० के बाद हिन्दी के कुछ मूर्धन्य एकांकीकारों का वस्तुतः रेडियो पर ही उदय हुआ। यह ठीक है कि १९४७ तक रेडियो पर हिन्दी की उपेक्षा ही हुई, परन्तु इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि हिन्दी एकांकी के विकास में रेडियो का शुरू से ही योगदान रहा है।

हिन्दी का अपना कोई रंगमंच न होने के कारण हिन्दी एकांकियों का मंच-प्रदर्शन स्कूलों, कॉलिजों और साहित्यिक संस्थाओं के वार्षिकोत्सवों तक ही सीमित था। परन्तु वे प्रदर्शन जीवंत रंगमंच की ठोस परम्परा न स्थापित कर सके; इसलिये अधिकांश हिन्दी एकांकी, रंगमंच की मात्र मानसिक कल्पना के आधार पर, पत्र-पत्रिकाओं और पाठ्य पुस्तकों में प्रकाशनार्थ विशुद्ध साहित्यक कृतियों के रूप में लिखे गये। प्रकाशित रचनाओं से एकांकीकार को नाम भी मिला और दाम भी। प्रकाशित रचना के लिए आवश्यक है कि वह कहानी अथवा खंडकाव्य की तरह सुपाठ्य और मनोरंजक हो। इसी आवश्यकता के परिणामस्वरूप हिन्दी में ऐसे सुपाठ्य-साहित्यिक एकांकियों की बाढ़ आई, जिनमें से अधिकतर रंगमंच पर अभिनीत ही नहीं हो सकते थे। परन्तु रेडियो के लचीले शब्द-प्रधान माध्यम को यह साहित्यिक एकांकी भी ग्राह्य थे। इस प्रकार रेडियो ने हिन्दी-नाटकों, विशेषकर एकांकियों को रंगमंच प्रदान किया। आज हम देखते हैं कि हिन्दी के सिद्धहस्त एकांकीकारों की समस्त रचनाएँ रेडियो के किसी-न-किसी केन्द्र से कई-कई बार प्रसारित हो चुकी हैं। नाट्य-मर्मज्ञों ने देखा कि जो नाटक एक सप्ताह पहले रेडियो से प्रसारित हुआ था, वही आज किसी पत्र-पत्रिका में रंगमंचीय एकांकी के रूप में रंग-निर्देशों के साथ प्रकाशित हो गया है और उन्होंने यह निष्कर्ष निकाल लिया कि हिन्दी एकांकी और रेडियो-नाटक एक ही चीज़ हैं।

वास्तविकता यह है कि हमारे अधिकांश नाटककारों ने मूलतः रेडियो-नाटक नहीं लिखे। उन्होंने ऐसे एकांकी लिखे, जो पत्र-पत्रिकाओं और पुस्तकों में प्रकाशित होने पर रंग-निर्देशों के साथ रंगमंचीय एकांकी माने जाएँ और साथ ही थोड़े फेर-बदल के बाद रेडियो पर भी प्रसारित हो सकें। अतः इन साहित्यिक एकांकियों को

हम सही मानों में रेडियो-नाटक नहीं कह सकते। हाँ, कुछ फेर-बदल करके उन्हें श्रव्य अवश्य बना लिया जाता है। इसके अलावा रेडियो पर इनके सफल प्रसारण के पीछे एक ऐसा रहस्य है, जो सुपाठ्य साहित्यिक नाटक को प्रेषणीयता की दृष्टि से रेडियो-नाटक के निकट ले आता है। यह सर्वविदित है कि रंगमंचीय-नाटक जनसमुदाय का सामूहिक रूप से मनोरंजन करता है। इसके विपरीत रेडियो-नाटक श्रोता का व्यक्तिगत रूप से एकांतिक मनोरंजन करता है। वह कैसे ? रेडियो-नाटक केवल ध्वनि के माध्यम से ही श्रोता तक पहुँचता है। यह ध्वनि संवादों, ध्वनि प्रभावों और वाद्यसंगीत के अंशों में विभाजित होकर प्रत्येक श्रोता की कल्पना-शक्ति को प्रेरित एवं प्रभावित करती है और श्रोता अपने मन के रंगमंच पर नाटक का दृश्य सजाता है, कल्पित पात्रों को अपनी रुचि तथा बाह्य जगत् के अनुभवों और ज्ञान के अनुसार रंग-रूप एवं हावभाव देता है, और इस तरह वह अपने मन के कल्पना-मंच पर भावबोध के साथ-साथ रूप-बोध की स्वतः स्थिति पैदा करके रेडियो-नाटक को सजीव एवं सप्राण करके देखता है, सुनता है, रसानुभव करता है। बिल्कुल ऐसी ही मानसिक प्रक्रिया उस पाठक की होती है, जो एकान्त में अकेला बैठकर कहानी या उपन्यास की तरह छपा हुआ साहित्यिक नाटक पढ़ता है। इस प्रकार आज से कोई तीन दशक पूर्व रेडियो के वैज्ञानिक आविष्कार ने नाटक जैसी सामाजिक कला को व्यक्ति के एकांतिक मनोरंजन की चीज बनाकर मानवीय मनोरंजन एवं रसानुभूति के क्षेत्र में बहुत बड़ी क्रान्ति का सूत्रपात किया। इसी तरह नाट्य-प्रदर्शन के क्षेत्र में भी रेडियो के कारण क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ। जिस नाटक के मंचाभिनय के लिए कई-कई सप्ताह तक तैयारी करनी पड़ती है, मंच-सज्जा आदि पर काफी खर्च करना पड़ता है, उसे रेडियो तीन-चार दिन में ही श्रोताओं को घर बैठे सुनवा देता है। सारांश यह कि रेडियो ने, विशेषकर स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद के वर्षों में, हिन्दी की एकांकी नाट्यकला को प्रोत्साहित करने और उसे जन-जन तक पहुँचाने में स्मरणीय काम किया है।

: २ :

१९४७ के बाद के हिन्दी एकांकी-साहित्य का मूल्यांकन उससे पहले के एकांकी-साहित्य के सम्यक् परिचय की पृष्ठभूमि पर ही किया जा सकता है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के वर्ष की विभाजन-रेखा अपने-आपमें महत्त्वपूर्ण है, परन्तु इससे पहले के दशक में स्थापित नाट्य-रूढ़ियाँ एवं परम्परायें १९४७ के बाद एकदम समाप्त हो गई हों, ऐसी कल्पना नहीं जा सकती।

सन् १९३६ से १९४६ तक एकांकी हिन्दी साहित्य की एक स्वतन्त्र एवं सशक्त विधा के रूप में मान्य हो चुका था। रंगमंचीय प्रदर्शन की कोई सुव्यवस्थित परम्परा तो न बन पाई, फिर भी एक जनोपयोगी सामाजिक कला के रूप में इसका आकर्षण उत्तरोतर बढ़ता गया। १९३६ में स्थापित प्रगतिशील लेखक संघ ने भी इधर काफ़ी ध्यान दिया। इस नई विधा ने अभिव्यक्ति के नए क्षितिज उद्घाटित किए। सुप्रसिद्ध छायावादी कवि, पूर्णाकार नाटकों के नामी लेखक, यथार्थवादी कहानियों एवं उपन्यासों के यशस्वी रचयिता, यहाँ तक कि राजनीतिक नेता तथा विचारक भी सबके-सब

एकांकीकार बन गए और हिन्दी में एक समय कहानी के महत्त्व को भी नकारती हुई एकांकियों की बाढ़ आई। जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, ये एकांकी मूलतः पत्र-पत्रिकाओं और पाठ्य-पुस्तकों में प्रकाशित होने और पठन-पाठन के लिए ही लिखे जा रहे थे, इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि इनमें अभिनय तत्त्व गौण हो गए और सुपाठ्य साहित्य के शास्त्रीय तत्त्व प्रमुख होते गए। पाठ्य पुस्तकीय समीक्षा में भी एकांकियों के प्रदर्शन-पक्ष की उपेक्षा करके उनके साहित्यिक पक्ष की विवेचना की प्रणाली चल पड़ी। इन साहित्यिक तत्त्वों के बाहुल्य के कारण हिन्दी एकांकी अमर-बेल की तरह हवा में तो खूब लहराया, परन्तु रंगमंच की धरती पर उसकी जड़ें कभी भी न जम पाईं। आज १९६५ में हम देखते हैं कि हिन्दी एकांकी की हालत बहुत ही खस्ता हो गई है। सुपाठ्य साहित्य के क्षेत्र में हिन्दी कहानी ने उसे खदेड़ दिया है। सुपाठ्य साहित्य पर अच्छा पारिश्रमिक देने वाली पत्रिकाओं में शायद ही कभी कोई एकांकी छपता हो। स्कूल-कालिजों और साहित्यिक संस्थाओं के शौकिया मंच पर अधिकांशतः अभिनेय नाटकों और प्रहसनों का दौरदौरा है। पाठ्य-पुस्तकों में अधिकतर १९३५-४० में रचित १५-२० एकांकी ही एकाधिकार जमाए हुए हैं। ले-दे कर केवल रेडियो का ही सहारा रह गया है, परन्तु वहाँ भी अब रेडियो की शैली में लिखे नाटकों की ज्यादा माँग है। एकांकी की इस खस्ताहाली के कारण ही हमारे पुराने एकांकी-कारों में से कुछ तो कहानी और उपन्यास लिखने लगे हैं, कुछ आलोचक बन गए हैं, कुछ अपने पुराने एकांकी-साहित्य की विज्ञापनबाज़ी में लगे हैं, कुछेक ने एकदम सन्यास ले लिया है। एक पुराने एकांकीकार के शब्दों में, "आज के इस अर्थप्रधान युग में साहित्य-सृजन पर भी उत्पादन और खपत तथा माँग और पूर्ति के अर्थशास्त्रीय नियम लागू होते हैं।"

इस अर्थशास्त्रीय मन्तव्य की सत्यता को स्वीकार करते हुए भी हिन्दी एकांकी के ऐतिहासिक एवं साहित्यिक महत्त्व को भुलाया नहीं जा सकता। सन् १९३०-३६ के भारत की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों पर एक नज़र डालिये। गांधीजी के नेतृत्व में सत्याग्रह आन्दोलन बड़े ज़ोर में चला, विफल हुआ और सारे देश में निराशा, तनाव और घुटन का वातावरण फैला। मन के सहारे के लिए दृष्टि भारत के गौरवपूर्ण अतीत की ओर गई। राजनीतिक आन्दोलन ने सामाजिक एवं सांस्कृतिक चेतना की भूमिका तैयार की। जर्जर रूढ़िग्रस्त समाज को पुनरुज्जीवित करने के लिए शल्य-क्रिया होने लगी। इधर भारतीय आदर्शपरक सुधार-वादी आन्दोलन चला, उधर पश्चिम से आई फ़ैबियन बुद्धिवाद, कार्ल मार्क्स के समाज-वाद एवं द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और फ्रायड के मनोवैज्ञानिक सैक्सवाद की नई-नवेली हवाएँ भारतीय मानस को झकझोरने लगीं। कला और संस्कृति के क्षेत्र में बोलते चित्रपट और बाद में रेडियो के आविष्कार ने मृतप्राय नृत्य, संगीत एवं नाट्य-परम्पराओं की पुनःस्थापना की। डी० एल० राय जैसे राष्ट्रीय चेतनाशील हिन्दीतर नाटककारों की कृतियाँ जब हिन्दी में अनूदित होकर बुद्धिजीवी मध्यवर्ग तक पहुँचीं, तो उसकी नैतिकता के नीचे दबी नैसर्गिक नाट्याभिरुचि जागी। चूंकि पूर्णाकार

नाटकों का लेखन एवं प्रदर्शन अधिक श्रम एवं व्ययसाध्य था, इसलिए पश्चिमी ढंग के छोटे-छोटे एकांकियों का सृजन शुरू हुआ। उन एकांकियों ने उस काल के बुद्धिजीवी मध्य वर्ग की नाटचाभिरुचि को ही सन्तुष्ट नहीं किया, बल्कि जनोपयोगी साहित्य के एक सबल माध्यम के रूप में उस काल की समस्त विचार-धाराओं, भावनाओं और कल्पनाओं को भी मूर्त अभिव्यक्ति दी। सामाजिक यथार्थ एवं आदर्श विभिन्न रूपों, प्रतीकों तथा शैलियों द्वारा एकांकियों में ही सर्वाधिक प्रतिपादित हुआ। डॉ० राम कुमार वर्मा, सेठ गोविन्ददास, उदयशंकर भट्ट, हरिकृष्ण प्रेमी, लक्ष्मी नारायण मिश्र, भगवतीचरण वर्मा, जगदीशचन्द्र माथुर और सद्गुरु शरण अवस्थी ने जहाँ आदर्शवादी, ऐतिहासिक, पौराणिक एवं सामाजिक एकांकियों का सृजन किया, वहाँ उपेन्द्र नाथ अश्क, भुवनेश्वर प्रसाद और गणेश प्रसाद द्विवेदी ने यथार्थवादी सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक एकांकियों की रचना की। इन सबका कृतित्व सन् १९४७ के बाद स्वाधीन भारत के परिवेश में और भी मंज-सँवार कर अपनी पूरी परिपक्वता के साथ उभरा।

जैसा कि स्वाभाविक ही था, स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद देश का मनोविज्ञान तो बदला, परन्तु उन्मुक्त उल्लास का अपेक्षित स्वर नहीं फूटा। साम्प्रदायिक रक्तपात, देश-विभाजन, बेघरबार शरणार्थियों का भारी संख्या में आगमन, साम्प्रदायिकता की बलिवेदी पर युगपुरुष गांधी की हत्या, नैतिक आदर्शों और मानवीय मूल्यों का ह्रास, आर्थिक वैषम्य, भ्रष्टाचार तथा कुण्ठाग्रस्त जीवन—ऐसी अनेक विकट समस्याओं, कुसंयोगों और दुर्घटनाओं ने देश की आत्मा को विपन्न और विषाक्त-सा कर दिया। सारे वातावरण पर राजनीति कुछ इस तरह छाई कि सृजनात्मक शक्तियाँ कुण्ठित और अवरुद्ध हो गईं। जन-साधारण का मन विज्ञान एवं भौतिक सुख-सुविधा पर आधारित पाश्चात्य संस्कृति की ओर आकर्षित होने लगा। परन्तु इसके साथ ही देश में लोकतन्त्र की स्थापना हुई, सामन्तवादी परम्पराएँ खत्म हुईं, शिक्षा का प्रचार-प्रसार बढ़ा, समाज में स्त्री और पुरुष की समानता की भूमिका तैयार हुई, व्यक्ति की प्रतिष्ठा बढ़ी, देश के विकास और नव-निर्माण की योजनाएँ बनीं, और भावी समृद्धि की हल्की सी आशा उभरी। उधर उद्योग, व्यापार और नौकरी के पेशे के प्रसार से आडम्बर और निहित स्वार्थों वाले वर्ग ने समाज में अजीब-सी असंगतियाँ और उपहासास्पद परिस्थितियाँ पैदा कीं। देश, समाज और व्यक्ति का यह द्वन्द्व और असंगतिपूर्ण यथार्थ हिन्दी-एकांकी में विविध रूपों में प्रतिबिम्बित हुआ। एकांकीकार कहीं समाज का आलोचक बना, कहीं सामाजिक विकृतियों और वैयक्तिक ग्रन्थियों का उद्घाटक बना, कहीं आदर्शवादी नैतिकता का पोषक बना, कहीं मानवीय मूल्यों का संस्थापक बना, कहीं पाखण्ड और आडम्बर का व्यंग्यकार बना और कहीं सांस्कृतिक चेतना का शिल्पी बना।

डॉ० रामकुमार वर्मा की स्वातन्त्र्योत्तरकालीन एकांकी-कला ने 'कौमुदी महोत्सव', 'दीपदान', 'रजत रश्मि' में कथ्य और शिल्प के निरन्तर नए शिखर छुए। उन्होंने आदर्शवादी परम्परा के अन्तर्गत ऐतिहासिक एवं सामाजिक एकांकी तो लिखे ही, साथ ही शिष्ट हास्यपूर्ण प्रहसन भी लिखे हैं। इस प्रकार उनकी कला जीवन के

यथार्थ से उद्भूत होकर सजीव आदर्श की सृष्टि करने में आज भी अग्रसर है।

यथार्थवादी चित्रण, सामाजिक व्यंग्य और ईमानदाराना अभिव्यक्ति की दृष्टि से उदेन्द्रनाथ 'अश्क' के एकांकी हिन्दी में बेजोड़ हैं। समसामयिक समाज की रूढ़ियों, विद्रूपताओं, संकीर्णताओं और वर्जनाओं पर उन्होंने व्यंग्यात्मक तथा प्रतीकात्मक प्रहार किए हैं। 'कैद', 'उड़ान', 'छठा बेटा', 'भंवर', और 'अंजो दीदी' उनकी एकांकी कला की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं।

उदयशंकर भट्ट ने १९४७ के बाद रेडियो से सम्बद्ध होकर एकांकी के क्षेत्र में वस्तु एवं शैलीगत कई नए प्रयोग किए। उनकी कला राष्ट्रीय, ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक भाव-भूमियों पर विचरती हुई सामाजिक यथार्थ और व्यंग्य के क्षितिजों पर भी पहुँची। इस दृष्टि से 'धूम शिखा', 'पर्दे के पीछे', 'जवानी' आदि नए एकांकी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

सेठ गोविन्द दास के राजनीतिक मस्तिष्क और सांस्कृतिक हृदय ने युग सत्य को आदर्शवादी नैतिक धरातल पर अपने एकांकियों में उतारा। शिल्प की दृष्टि से भी उन्होने सर्वाधिक प्रयोग किए। हिन्दी में एकांकियों की विधा की सर्वप्रथम उन्होंने ही उद्भावना की।

'भोर का तारा' एवं 'रीढ़ की हड्डी' के ख्यातिप्राप्त लेखक जगदीश चन्द्र माथुर ने १९४७ के बाद सामाजिक यथार्थ को हास्य और व्यंग्य-द्वारा अभिव्यक्त किया। इस दृष्टि से उनका एकांकी संग्रह 'ओ मेरे सपने' उल्लेखनीय है। एक पात्रीय लोक नाटकों के समर्थक होने के नाते उन्होंने कठपुतली खेल की शैली में जो साहित्यिक प्रयोग किए हैं, वे भी उल्लेखनीय हैं।

'कारवाँ' से हिन्दी संसार को चमत्कृत करने वाले भुवनेश्वर प्रसाद बाद में प्रतीकों एवं ऐतिहासिक कथानकों की ओर प्रवृत हुए।

इस तरह लगभग सभी एकांकीकारों ने स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद हिन्दी के एकांकी साहित्य को कथ्य और शिल्प की दृष्टि से समृद्ध एवं विविधता-पूर्ण बनाने में पूरा-पूरा योग दिया। इस कार्य में रेडियो का सहयोग विशेषरूप से महत्त्वपूर्ण है। रेडियो ने हिन्दी एकांकी को केवल रंगमंच ही प्रदान नहीं किया, कई नई प्रतिभाओं को कथ्य और शिल्पगत नए प्रयोग करने का मौका भी दिया। १९४७ के बाद रेडियो के माध्यम से प्रकाश में आने वाले एकांकीकारों में उल्लेखनीय हैं विष्णु प्रभाकर, गिरिजा कुमार, भारत भूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, सिद्धनाथ कुमार, नरेश मेहता और चिरंजीत। वैसे तो विष्णु प्रभाकर १९४७ से पूर्व भी एकांकी लिख रहे थे, परन्तु उनकी नाट्य-कला में वास्तविक निखार १९४७ के बाद ही आया। मानव-कल्याण और मनोविज्ञान के धरातल पर आदर्शोन्मुख यथार्थवाद इनके एकांकियों का विशेष गुण है। इनके 'उपचेतना का छल' 'सीमा रेखा' और एकपात्री नाटक हिन्दी के एकांकी साहित्य की विशेष उपलब्धि हैं।

पिछले डेढ़ दशक में स्वतन्त्र रूप से उभरने वाले प्रतिभाशील एकांकीकारों में उल्लेखनीय हैं धर्मवीर भारती, लक्ष्मी नारायण लाल, विनोद रस्तोगी, मानव, सत्येन्द्र

शरत्, वीरेन्द्र नारायण, विमला लूथरा, देवराज दिनेश और जयनाथ नलिन। धर्मवीर भारती के एकांकियों की संख्या बहुत ज़्यादा नहीं, परन्तु कथ्य एवं शिल्प की प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से उनका प्रत्येक एकांकी विशिष्टता लिए हुए है। नए एकांकीकारों में लक्ष्मी नारायण लाल का कृतित्व इधर सर्वाधिक उभर कर सामने आ रहा है। इनके 'नाटक बहुरूपी' एवं 'नाटक-बहुरंगी', में एक ऐसे समर्थ एवं प्रयोगशील एकांकीकार के दर्शन होते हैं, जो रंगमंच के व्यवहारों को ध्यान में रखकर नाटक के साहित्यिक तथा प्रदर्शनात्मक पक्षों को समन्वित करने में लगा है। ऐसे ही रंगमंचीय आग्रह का परिचय विनोद रस्तोगी, वीरेन्द्र नारायण और चिरंजीत की कृतियों में मिलता है। चिरंजीत के दोनों एकांकी संग्रहों 'दादी माँ जागी' और 'रंगारंग' के नाटक जगह-जगह सफलतापूर्वक अभिनीत हो चुके हैं। वीरेन्द्र नारायण तो रंगमंच से पूरी तरह सम्बद्ध हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर-कालीन सांस्कृतिक पुनर्जागरण के परिवेश में हिन्दी भाषी क्षेत्रों में मंचाभिनय का 'शौकिया' स्तर धीरे-धीरे समाप्त हो रहा है। रंगमंच और अभिनय शास्त्र में निष्णात युवावर्ग बड़े-बड़े नगरों में हिन्दी रंगमंच की स्थापना के लिए प्रयत्नशील है। कुछेक सरकारी एवं ग़ैर-सरकारी संस्थानों से इस रंगमंचीय चेतना को निरन्तर प्रोत्साहन मिला है। अब यह धारणा बल पकड़ रही है कि एकांकी को रंगमंच की कसौटी पर कस कर ही सही नाटक माना जा सकता है, मात्र साहित्यिकता ही पर्याप्त नहीं। रंगमंचीय कसौटी की इस मान्यता ने गत तीन दशकों में रचित अधिकांश हिन्दी एकांकियों को अभिनेय साबित कर दिया है। एकांकी रूपी झाड़-झंखाड़ की इस निराई ने जहाँ एक ओर मात्र साहित्यिक एकांकीकारों को विरत एवं निरुत्साहित किया है, वहाँ रंगमंचीय व्यवहार तथा अनुशासन से परिचित स्वदेश कुमार, ज्ञानदेव अग्निहोत्री, राजेन्द्रकुमार शर्मा, कणादऋषि भटनागर आदि अनेक नए एकांकीकारों की कला के पुष्पित-पल्लवित होने के लिए अनुकूल स्थिति भी पैदा की है, जो हर प्रकार से अभिनन्दनीय है। हिन्दी रंगमंच के अभाव का नारा लगाकर हिन्दी के काग़ज़ी नाट्य-क्षेत्र में कोरी साहित्यिकता, बौद्धिकता एवं दार्शनिकता का काफी तमाशा हो चुका। अब हिन्दी के नाट्यालोचकों को भी प्रदर्शन-पक्ष के मानदण्डों की ओर ध्यान देना होगा।

: ३ :

हिन्दी रेडियो नाटक का वास्तविक विकासकाल सन् १९४७ से ही मानना चाहिए। इससे पहले रेडियो पर उर्दू नाटकों का ही प्रभुत्व था। हिन्दी नाटक यदा-कदा प्रसारित होते थे। वैसे स्व० चतुरसेन शास्त्री का लिखा हुआ नाटक 'राधा कृष्ण' सन् १९३७ में प्रसारित हुआ। सम्भवतः वह हिन्दी का पहला रेडियो नाटक था। १९४० में उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने रेडियो के लिए लिखना शुरू किया था। 'अश्क' ने अपने अनेक सुप्रसिद्ध एकांकिकों के 'प्रथम संस्करण' सर्वप्रथम रेडियो-प्रसारण के लिए ही लिखे। १९४१ से कांतिचन्द्र सौनरेक्सा, शिवदानसिंह चौहान, चन्द्र किरण सौनरेक्सा और चिरंजीत की कृतियाँ प्रसारित होने लगी थीं। गिरिजा कुमार माथुर का रेडियो-

लेखन-काल कुछ वर्षों बाद शुरू हो गया था। उस प्रारम्भिक काल में चन्द्र किशोर जैन-रचित 'विष कन्या' नामक रेडियो-नाटक की बड़ी धूम मची थी। तभी लखनऊ में डॉ० रामकुमार वर्मा का पहला रेडियो-नाटक 'आँखों का आकाश' प्रसारित हुआ था, जो आज भी लोकप्रिय है। परन्तु सन् १९४७ तक का यह पूरा दशक माध्यम की नवीनता के कारण हिन्दी रेडियो-नाटक का प्रयोग-काल था। इसका वास्तविक स्वरूप स्वतन्त्रा-प्राप्ति के बाद ही उभरा। गत १७ वर्षों में रेडियो-नाटककार विकास के कितने ही सोपानों को पार करके अपने कृतित्व के अनेक नए क्षितिज उद्घाटित कर चुके हैं, जिनके फलस्वरूप हिन्दी रेडियो-नाटक आज कथ्य तथा शिल्प की दृष्टि से हिन्दी नाटक की एक स्वतन्त्र एवं समृद्ध विधा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका है। क्योंकि रेडिथो नाटक केवल श्रव्य है, इसलिए कथ्य, शिल्प और प्रभाव की दृष्टि से इसका सही मूल्यांकन केवल सुनकर ही किया जा सकता है, पढ़कर नहीं। वैसे पढ़ने का सवाल ही पैदा नहीं होता, क्योंकि हिन्दी प्रकाशकों एवं आलोचकों की उपेक्षा के कारण बहुत कम रेडियो-नाटक अपने मूल रूप में प्रकाशित हुए हैं। यही कारण है कि हिन्दी के एक वयोवृद्ध नाटचालोचक ने अपने एक बहु-प्रचारित नाटच-ग्रन्थ के हाल ही के संस्करण में यह लिखकर अपनी निपट अनभिज्ञता प्रकट की कि 'अभी तक हमारे देश में रेडियो-नाटक शैशवावस्था में हैं। इसके विषय में अभी क्या कहा जाए? जब तक रेडियो की नाटच-कला विकसित नहीं हो जाती, कोई निर्दिष्ट मत कैसे बन सकता है?" अचरज की बात है कि हिन्दी के यह नाटचाचार्य २७ वर्ष की अवस्था को शैशवावस्था मानते हैं। इससे भी बड़ा आश्चर्य यह है कि जो रेडियो-नाटक कुछ फेर-बदल के बाद तथाकथित रंगमंचीय रूप में प्रकाशित हो चुके हैं, उन्हें यही नाट्याचार्य हिन्दी की सुविकसित समृद्ध नाटचकला की उत्कृष्टतम उपलब्धियाँ बताते हैं।

हिन्दी रेडियो-नाटक को स्वतन्त्र विधा के रूप में प्रतिष्ठित करने वालों में प्रमुख हैं—सुमित्रानन्दन पन्त, डॉ० रामकुमार वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क, विष्णु प्रभाकर, नरेन्द्र शर्मा, भगवतीचरण वर्मा, अमृतलाल नागर, उदयशंकर भट्ट, रामवृक्ष वेनीपुरी, लक्ष्मीनारायण मिश्र, प्रभाकर माचवे, राधाकृष्ण, गिरिजाकुमार माथुर, हरिकृष्ण 'प्रेमी, चिरंजीत, भारतभूषण अग्रवाल, नरेश मेहता, प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त', लक्ष्मीनारायण लाल, रेवती सरन शर्मा, विश्वम्भर मानव, राधाकृष्ण प्रसाद, रामेश्वर सिंह, काश्यप, मोहन राकेश, विनोद रस्तोगी, हरिश्चन्द्र खन्ना, सिद्धनाथ कुमार, चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, कान्तिचन्द्र सौनरेक्सा, कमलेश्वर, गंगाधर शुक्ल, मधुकर गंगाधर, गोपाल कृष्ण कौल, मार्कण्डेय, रामचन्द्र तिवारी, सत्येन्द्र शरत्, रमेश बक्षी, ओंकार श्रीवास्तव, दुष्यन्त कुमार, भृंग तुपकरी, विश्वप्रकाश दीक्षित 'बटुक', उर्मिला वर्मा, देवराज दिनेश, जयनाथ नलिन, हंसकुमार तिवारी, प्रशान्त पाण्डे, स्वदेश कुमार, अमीक हनफ़ी, ज्ञानदेव अग्निहोत्री, कुमुद नागर, उग्रसेन नारंग, इत्यादि। इनमें अधिकतर एकांकीकार कवि उपन्यासकार और कहानीकार के रूप में हिन्दी साहित्य के सिरमौर हैं। उनकी प्रतिभा का अमृत पाकर पनपने वाले हिन्दी रेडियो-नाटक को अविकसित कहना भारतीय प्रतिभा का अपमान करना है।

रेडियो-नाटक के ध्वनिगत शिल्प और संकलनत्रय के बन्धनों से मुक्त तन्त्र की चर्चा हम एकांकी के साथ इसकी तुलना के प्रसंग में कर चुके हैं। यदि गहराई से विचार किया जाए, तो रेडियो-नाटक में आदि नाटक के मूलभूत तत्त्व मिलते हैं। नाटक आख़िर कहानी कहने की एक विधा ही तो है। दृश्य नाटक रंगमंचीय सीमाओं और रूढ़ियों के कारण कहनी को पूरी तरह नहीं कह पाता। रेडियो-नाटक कथोपकथन द्वारा ही दृश्य, वातावरण और कार्य-व्यापार का चित्रण करता है, पात्रों के मनोभाव, प्रवेश और प्रस्थान को सूक्ष्म ढंग से सूचित करता है और कथा को विभिन्न घटना-स्थलों पर स्वाभाविक रूप से ले जाता है। रंगमंचीय नाटक पात्र का बाह्य व्यक्तित्व ही प्रस्तुत करता है, जबकि रेडियो-नाटक पात्र के मन की गहराइयों में झाँककर उसके आन्तरिक व्यक्तित्व, उसकी गुत्थियों, स्मृतियों, अदृश्य-अनुभूतियों और द्वन्द्वों से श्रोता-को परिचित कराने की क्षमता रखता है। यही नहीं, रेडियो-नाटक मानवेतर प्राणियों, प्राकृतिक एवं अतिप्राकृतिक शक्तियों, अभिव्यक्तियों तथा व्यापारों और दूसरे लोकों की कहानी भी कहता है। उदाहरणत: पंतजी का नाटक 'ज्योत्सना' जिस स्वाभाविक ढंग से रेडियो पर प्रस्तुत हो सकता है, उस प्रकार रंगमंच पर सम्भव नहीं। गिरिजा-कुमार माथुर के 'अवांतर ग्रह' जैसे अन्तरिक्ष-विज्ञान सम्बन्धी नाटकों के मंचाभिनय की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती। 'चिरंजीत' के मनोवैज्ञानिक नाटक 'दर्पण की पर-छाईं' में एक ऐसे विधुर का चित्रण किया गया है, जो पितृत्व की ज़िम्मेदारी उठाए बिना स्त्री के रूप-यौवन का उपभोग करने का आदी हो चुका है। एक दिन उसके हाथ एक ऐसी अपरिचित लड़की की डायरी लग जाती है, जो किसी लंपट से विवाह का झूठा आश्वासन पाकर गर्भवती हो जाती है और ग्लानिवश आत्म-हत्या कर लेती है। उसकी डायरी की पंक्तियाँ पढ़ते हुए उस विधुर का अपना पापी मन पश्चात्ताप से पीड़ित, मंथित होकर स्मृति-पट पर उसकी वासना का घिनौना चेहरा प्रतिबिम्बित करता है और चित्रित करता है उस अभागिनी लड़की की कहानी से मिलती-जुलती विधुर की अपनी एक रखेल की दुर्भाग्यपूर्ण कहानी। रेडियो पर डायरी के पृष्ठ और उनसे प्रादुर्भूत स्मृति-पट के बिम्ब-प्रतिबिम्ब बड़ी ही स्वाभाविकता और प्रभावोत्पादकता से प्रस्तुत हो सके। क्या यह रंगमंच के बस की बात है? विष्णु प्रभाकर के 'उपचेतना का छल' जैसे अनेक सफल रेडियो-नाटकों में पात्र की उपचेतना, मन और अन्तःकरण बोलते हैं, अभिनय करते हैं। ऐसे नाटकों का प्रस्तुतीकरण रेडियो पर ही सम्भव है। एक और उदाहरण लीजिए। लक्ष्मीनारायण लाल ने अपने रेडियो-नाटक 'जंगल' में वन्य पशुओं और पक्षियों को प्रतीकात्मक पात्र बनाकर आपसी फूट के दुष्परिणामों और एकता की शक्ति की कहानी बड़ी ही सफलता एवं मार्मिकता से कही है। रंगमंच पर यह नाटक बच्चों का प्रहसन बन जाएगा। इस सन्दर्भ में कान्तिचन्द्र सौनरेक्सा का प्रतीकात्मक रेडियो-नाटक 'पूरा कमरा' भी विशेषरूप में उल्लेखनीय है। इसमें टेलीफ़ोन, कुर्सी, फ़ाइल, घड़ी आदि जड़ वस्तुएँ चेतन चरित्रों के साथ पात्र बनती हैं और मान-वीय परम्परा और आधुनिक पूंजीवादी व्यवस्था की मशीनी मूल्यहीनता की तुलना के आधार पर एक सुगठित सोद्देश्य कथानक का सृजन होता है। ऐसे प्रतीकात्मक नाटकों

से ही रेडियो के माध्यम की सूक्ष्म सम्भावनाओं का अनुमान लगाया जा सकता है।

रेडियो-नाटच-तन्त्र में फ्लैश-बैक का प्रयोग आधुनिक कहानियों एवं उपन्यासों के समान बड़ी ही प्रभावोत्पादकता और कलात्मकता से होता है। इधर रंगमंच भी रेडियो के इस तन्त्र को अपनाने में प्रयत्नशील हैं। रामकुमार वर्मा कृत 'समय चक्र', अमृतलाल नागर कृत 'पहला सवाल', भगवती चरण वर्मा कृत 'थके पांव', चिरंजीत कृत 'बर्फ और साया', एवं 'तस्वीर उसकी', विष्णु प्रभाकर कृत 'दरिन्दा', भारत भूषण अग्रवाल कृत 'और खाई बढ़ती गई' एवं 'नींद की घाटियां', विनोद रस्तोगी कृत 'फ़ैसला' आदि अनेक रेडियो-नाटकों में फ्लैश-बैक टैकनीक का बड़ा ही सफल एवं प्रभावोत्पादक निर्वाह हुआ है।

रेडियो ने नाटच-कला की कुछेक ऐसी विधाओं के अभिनय एवं प्रस्तुतीकरण को फिर से सम्भव बनाया है, जो पठन-पाठन तक ही सीमित हो गई थीं। इनमें से दो मुख्य हैं—एकपात्री नाटक और काव्य नाटक। दोनों विधाएँ शब्द एवं भाव-प्रधान हैं। रंगमंच पर शब्द-शक्ति रंगसज्जा, रूपसज्जा, प्रकाश-योजना और आंगिक अभिनय के कारण गौण हो जाती है। इसके विपरीत ध्वनि-प्रधान रेडियो पर शब्द-शक्ति अपनी सूक्ष्मताओं, संवेदनाओं, संकेतों और बिम्बों के साथ उद्भासित होती है। इसी कारण रेडियो-शिल्प के अनुसार रचित एकपात्री नाटक और काव्य-नाटक रेडियो पर अभिनीत होकर सजीव और साकार हो सके। इस सन्दर्भ में कविवर सुमित्रानन्दन पन्त के 'शिल्पी', 'रजत शिखर' आदि, उदय शंकर भट्ट के 'कालिदास', 'विक्रमोर्वशी' आदि, नरेन्द्र शर्मा रचित 'धर्मराज', भगवती चरण वर्मा रचित 'कर्ण', हंसकुमार तिवारी रचित 'कच-देवयानी' आदि इस युग के महान् काव्य-नाटक हिन्दी-साहित्य को रेडियो के माध्यम से ही प्राप्त हुए हैं। इनमें गिरिजा कुमार माथुर, नरेश मेहता, सिद्धनाथ कुमार और हरिकृष्ण प्रेमी की रेडियो धर्मी विशिष्ट कृतियाँ भी शामिल हैं। इस युग की महान् उपलब्धि है कविवर दिनकर का गौरवपूर्ण काव्य-नाटक 'उर्वशी'। उसका रचना-शिल्प भी मूलतः रेडियो माध्यम से ही प्रेरित है। उसका प्रारम्भिक अंश रेडियो से प्रसारित होने के बाद ही प्रकाशित हुआ था। धर्मवीर भारती के 'अन्धा-युग' का सर्वप्रथम सफल प्रस्तुतीकरण रेडियो पर ही हुआ था। रेडियो-माध्यम से प्रेरित हिन्दी का नवीनतम उल्लेखनीय काव्य-नाटक है दुष्यन्त कुमार कृत 'एक कण्ठ विषपायी'।

रेडियो ने पत्रों में धारावाहिक छपने वाले उपन्यासों के ढंग पर धारावाहिक नाटकों की विधा का भी प्रचलन किया, जिससे हिन्दी साहित्य को कई अनमोल रत्न मिल चुके हैं। मोहन राकेश का एकादमी-पुरस्कार-प्राप्त नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' मूलतः रेडियो-नाटक के रूप में ही रचा गया था और धारावाहिक प्रसारित हुआ था। इस विधा की अन्य उल्लेखनीय कृतियाँ हैं—उपेन्द्रनाथ अश्क कृत 'अन्धी गली', रामेश्वर सिंह काश्यप कृत 'लोहा सिंह', चिरंजीत कृत 'नया नगर' और 'मास्टर सिलबिल'। 'नया नगर' आकाशवाणी, दिल्ली से निरन्तर सात वर्ष तक प्रसारित हुआ था। आकाशवाणी, पटना से उद्भूत 'लोहा सिंह' आज भी समस्त बिहार का हृदय-हार बना हुआ है। जैनेन्द्रकुमार के 'व्यतीत' और 'मुक्तिबोध' दोनों उपन्यासों का धारावाहिक सृजन

रेडियो पर ही हुआ।

रेडियो ने हिन्दी के महत्त्वपूर्ण उपन्यासों और कहानियों के नाट्य-रूपान्तर प्रसारित करके न केवल हिन्दी के नाटक साहित्य की श्रीवृद्धि की है, बल्कि हिन्दी के कथा-साहित्य को भारत की बहुसंख्यक निरक्षर जनता तक पहुँचाया है। इस सिलसिले में प्रेमचन्द, जयशंकर प्रसाद, वृन्दावन लाल वर्मा, भगवती चरण वर्मा और यशपाल के उपन्यासों और कहानियों के नाट्य-रूपान्तर विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। जयशंकर प्रसाद के तो अनभिनेय कहे जाने के वाले नाटकों का प्रस्तुतीकरण भी रेडियो पर ही सम्भव हो सका। इस सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि भारतेन्दु से लेकर जयशंकर प्रसाद तक का समूचा पुराना नाटक साहित्य जो १९४७ से पहले या तो पुस्तकालयों में बन्द था, या क्लास-रूम की मात्र पुस्तकीय चर्चा तक सीमित था, रेडियो-रूपान्तरों द्वारा पुनरुज्जीवित हुआ, और जन-साधारण की नाट्य-चेतना का संजीव एवं गौरवशाली अंग बना।

रेडियो ने हिन्दी की प्रहसन-परम्परा को भी पुनरुज्जीवित करने में योग दिया है। रोज़मर्रा जीवन के रंगारंग पहलुओं और समाज की रूढ़ियों एवं असंगतियों के सम्बन्ध में इतने प्रहसन शायद ही पहले कभी रचे गए हों। रेडियो-प्रहसनों ने साहित्यिक शिष्टता एवं शालीनता के भी मापदण्ड स्थापित किये हैं। रेडियो-नाटक का शिल्प की दृष्टि से हिन्दी कहानी और उपन्यास पर भी जो व्यापक प्रभाव पड़ा है, वह शास्त्रीय अध्ययन व शोध का विषय है।

कुल मिलाकर रेडियो नाटक ने १९४७ के बाद से न केवल अपने को हिन्दी-साहित्य की जनोपयोगी स्वतन्त्र, सशक्त एवं विकासशील विधा के रूप में प्रतिष्ठित किया है, बल्कि हिन्दी के नाटक-साहित्य की अन्य-विधाओं को भी, भाव, भाषा एवं शिल्पगत सौष्ठव की दृष्टि से, प्रभावित तथा प्रेरित किया है। रेडियो-नाटक स्वातन्त्र्योत्तर-कालीन हिन्दी साहित्य की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

वीरेन्द्र नारायण •

हिन्दी रंगमंच : राष्ट्रीय रंगमंच का सूत्रपात

हिन्दी का रंगमंच एक अश्वत्थ वृक्ष के आकार-प्रकार का बनता जा रहा है। यह रूप और गुण हिन्दी की अपनी प्रकृति में निहित है जिसकी झलक उसके साहित्य में भी मिलती है। हो सकता है कि यह वृक्ष अभी बिरवा ही हो। लेकिन ऐसी स्थिति में भी किसी तालवृक्ष की लम्बाई, क्रोटन की कमनीयता और फर्न की ज्यामितिक एक-रूपता से इसकी तुलना ग़लत है।

हिन्दी रगमंच का यह सौभाग्य या दुर्भाग्य रहा है कि उसका आधार-स्तम्भ किसी एक शहर या क्षेत्र में नहीं गड़ा है। बंगाल से लेकर पंजाब तक और उत्तर-

प्रदेश से लेकर बम्बई तक हिन्दी के नाटक, पेशेवर रूप में न सही, खेले जाते रहे हैं। इसके विपरीत अन्य भाषाओं का क्षेत्र इतना सीमित रहा है कि एकाध शहर में जो-कुछ होता है वह उस भाषा के पूरे रंगमंच पर हावी हो जाता है, उस भाषा के रंगमंच का प्रतिनिधि रूप पा लेता है।

बंगाल की ही बात देखिये। बंगला रंगमंच की चर्चा करते समय हम जिन प्रदर्शनों की चर्चा करते हैं वे कलकत्ते तक ही सीमित हैं। हो सकता है कि कलकत्ते की ये पेशेवर या ग़ैरपेशेवर कम्पनियाँ छोटे-मोटे शहरों में भी जाती रही हों। लेकिन इनकी जन्म और कर्मभूमि कलकत्ता ही है। इसका प्रभाव साहित्य और रंगमंच, दोनों पर समान रूप से पड़ रहा है। कलकत्ते में जन्म लेनेवाले इन प्रदर्शनों का भावक्षेत्र मध्यमवर्गीय परिवार रहा है और प्रदर्शन की शैली यथार्थवादी। विषयवस्तु की दृष्टि से पिछले दिनों, जिस प्रदर्शन ने इस सीमा का उल्लंघन किया है, जहाँ तक मुझे पता है, उसका नाम है 'तीतास एकटि नदीर ना'! प्रस्तुतकर्ता रहे हैं उत्पल दत्त। कहानी पूर्वी बंगाल के नाविकों के जीवन पर आधारित है! लेकिन इस अपवाद में भी दो बातें उल्लेखनीय हैं। पहली बात तो यह है कि यह रचना पहले उपन्यास के रूप में आई थी। प्रदर्शन के लिए इसका नाटकीकरण किया गया। फलस्वरूप नाटक का कसाव और नाटक की धार का अभाव है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात है इसका प्रदर्शन! नाटक की आत्मा और काया, दोनों ही अयथार्थवादी प्रदर्शन की माँग करती थीं पर इसका प्रदर्शन था घोर यथार्थवादी! इन बातों की चर्चा इसलिए ज़रूरी है कि हिन्दी रंगमंच को अन्य रंगमंचों की पृष्ठभूमि में ही देखना उचित होगा।

अगर बंगला रंगमंच की स्थिति का चित्रण करना हो तो कहना होगा कि कलकत्ते के कुछ पेशेवर और ग़ैर-पेशेवर लोग जो प्रदर्शन कर रहे हैं वही उनका सही चित्र है। बंगाल के छोटे-मोटे शहरों में जो-कुछ होता है वह इनका अन्धानुकरण! कलकत्ते का रंगमंच यानी बंगला का प्रतिनिधि रंगमंच घोर यथार्थवादी है और कथानक की दृष्टि से सिर्फ मध्यमवर्गीय समाज की समस्याओं को टटोलता है। बंगाल में नाटक की एक परम्परा है और पेशेवर रंगमंच की मजबूरियों के कारण प्रदर्शन का इन्द्रज़ाल ही नाटक का चुनाव, प्रदर्शन आदि मामलों में फैसला दिया करता है। यह ध्यान देने की बात है कि इससे एक पीढ़ी पहले जब शिशिर बाबू और अहिन बाबू (शिशिर कुमार भादुड़ी और अहीन्द्र चौधरी) के युग में रंगमंच अभिनेताओं का था वहीं, बीस साल के भीतर बंगला रंगमंच पर न लेखक और न अभिनेता तथा निर्देशक का आधिपत्य है बल्कि प्रकाश व्यवस्थापकों का ही बोलबाला है। बंगाल की जनता और खासकर कलकत्ते की जनता नाटक के नाम पर प्रकाश-व्यवस्था के चमत्कारों की अपेक्षा रखती है। यह तो बंगला भाषा की विशेषता है ही कि नाटक के सम्भाषणों में मेलोड्रामा का पुट रहा करे।

पंजाबी का अपना कोई रंगमंच नहीं। हिन्दी रंगमंच की देखादेखी उसमें भी प्रदर्शन होने लगे हैं। लेकिन पंजाबी भाषा और संस्कृति की वह झलक अभी से दिखाई पड़ने लगी है। यदाकदा के इन प्रदर्शनों में भी जीवन के प्रति गहरी आस्था और

मस्ती तथा बेफिक्री झांका करती है। अभी इसका स्वरूप बन नहीं पाया इसलिए कुछ कहना कठिन है। लेकिन कथानक की दृष्टि से पंजाब का ग्रामीण जीवन ही अभी तक नाटकों पर हावी दिखाई पड़ता है। जहाँ तक प्रदर्शन का सवाल है, वयःसन्धि के पहले आकर्षण-सा यथार्थवाद ही उन्हें अपनी ओर खींच सका है। दिल्ली में कभी-कभी कलकत्ते की मण्डलियों के प्रदर्शन का प्रभाव भी इसका कारण हो सकता है। या यह भी हो सकता है कि पंजाबी जनजीवन में नाटक की कोई अपनी परम्परा नहीं जिसके अभाव में यही सबसे सीधा रास्ता मालूम होता हो।

गुजराती रंगमंच की हालत इन सबसे थोड़ी भिन्न है। गुजरात में रंगमंच प्रदर्शन की परम्परा रही है। और परम्परा रही है इस बात की कि रंगमंच को सफल व्यवसाय कैसे बनाया जा सकता है! पारसी रंगमंच के कर्ता-धर्ता अधिकतर गुजराती ही थे। दुर्लभजी की सूरिविजय कम्पनी से हिन्दी संसार परिचित ही है। दुर्लभजी स्वयं बड़े ही कुशल नट थे और हिन्दी नाटकों का अभिनय किया करते थे। इस व्यावसायिकता ने जहाँ एक ओर बंगला रंगमंच को सोलह आने, प्रकाश-व्यवस्थापकों के सामने घुटने टेकने पर मजबूर किया वहीं गुजराती रंगमंच पर एक प्रकार की शोखी उभरी जो कभी-कभी अश्लीलता की सीमा तक पहुँच जाती है। पारसी और गुजराती रंगमंच की इस प्रवृत्ति को लोकनानाट्य की शैली भवाई ने कुछ हद तक मोड़ा है। फिर भी मूल रूप में यह प्रवृत्ति वर्तमान है ही! गुजराती रंगमंच पर अहमदाबाद में जो भी प्रयोग हो रहे हैं उनकी यदा-कदा झाँकी मिल जाती है। मृणालिनी साराभाई की संस्था की ओर से आधुनिक नाटकों (अंग्रेज़ी के नाटकों के अनुवाद या रूपांतर) का प्रदर्शन होता रहता है। लेकिन जो नाटक बम्बई में खेले जाते हैं उन्हें देखकर यह कहना ही पड़ता है कि गुजराती रंगमंच ने मनोरंजन के लिए जो रास्ता बहुत पहले अपनाया था उससे मूल रूप में अलग नहीं हो सका है।

मराठी रंगमंच की समस्या भारतीय रंगमंच की हर शाखा से निराली है। शायद मराठी रंगमंच पर ही संगीतात्मक नाटकों का समान रूप से बोलबाला रहा है। प्रसिद्ध नाटककार साधारणतः अभिनेता वर्ग से ही आये। इस तरह बंगाल में नाटककार और अभिनेता के बीच होड़ाहोड़ी या सहयोग का जो वातावरण निखरा, महाराष्ट्र में उसका पूर्णतया अभाव था। लेखक और अभिनेता के अलग वर्ग नहीं बने। पेशेवर कम्पनियाँ एक-एक लेखक-अभिनेता के सहारे चला करती थीं। उस परम्परा की झाँकी-स्वरूप आज भी रांगणेकर की कम्पनी है जो अधिकांश उसके ही नाटक खेला करती है तथा पु० ल० देशपांडे स्वयं अपने नाटकों का अभिनय करते हैं।

संगीतात्मक नाटकों की परम्परा और पेशेवर रंगमंच की मजबूरियों ने कुछ ऐसी विशेष विकृति भी उपस्थित कर दी है जिसकी चर्चा आवश्यक लगती है। पेशेवर मराठी रंगमंच पर कुछ नाटक बड़े ही लोकप्रिय हुए हैं। आज स्थिति यह है कि उन नाटकों की प्रमुख भूमिका का विशेषाभिनय करनेवाले पेशेवर अभिनेता उपलब्ध हैं। अमुक नाटक करना है और इतना पैसा लगाया जा सकता है तो क की भूमिका में प और ख की भूमिका में फ को रखा जाएगा। अगर इतना पैसा लगाना है तो क की

भूमिका में च और ख की भूमिका में छ को रख लीजिए ! रिहर्सल आदि की कोई समस्या नहीं। इन लोगों को प्रति रात्रि पैसे देते जाइए और ये अभिनय कर दिया करेंगे। अभिनय के सिद्धान्तों की कोई चिन्ता ही नहीं है। स्पष्ट है कि ऐसे अभिनयों में क्या होता होगा। इसकी हास्यास्पदता तो उस दिन मेरी समझ में आई जब एक लड़की ने एक अंक तक नायिका का काम किया, झगड़ा हो जाने पर रूठकर चली गई, दूसरे अंक से दूसरी लड़की ने उसी पात्र की भूमिका की और नाटक का प्रदर्शन पूरा हुआ। पश्चिमी रंगमंच पर भी, जहाँ लोकप्रिय नाटकों की जीती-जागती परम्परा है, ऐसा नहीं होता। प्रसिद्ध अभिनेता और अभिनेत्रियों की मण्डली भी बाकायदा रिहर्सल करती है। इस तरह की भूमिका वाली ठेकेदारी पहले से बँधी-सधी नहीं होती ! हर प्रदर्शन की अपनी एक दिशा होती है, अपना नया व्यक्तित्व होता है।

दूसरी प्रवृत्ति है संगीतात्मक नाटकों की ! इसमें नाटक सिर्फ एक बहाना होता है। साधारणत: पक्के गानों की भरमार होती है। महाराष्ट्र में ऐसे विशेष अभिनेता हैं जिनका प्रमुख आकर्षण अभिनय के बदले संगीत है ! अपने में यह भी एक प्रकार बनकर नाटक के विकास में योगदान दे सकता था। लेकिन व्यावसायिकता ने इसे भी हास्यास्पद बना दिया है। कुछ वर्ष पहले की बात है। एक नाटक में लगभग दस बजे बड़े गुलाम अली खाँ दरबारी गायक के रूप में मंच पर आये। उनका गायन दो बजे तक होता रहा। फिर गाना समाप्त हुआ और नाटक भी। लोग अपने घरों को वापस गये। शायद इस तरह की घटनाओं का यह भी कारण रहा हो कि नाट्य-प्रदर्शन पर मनोरंजन कर नहीं लागू होते। संगीत के आयोजनों पर मनोरंजन कर लागू होता है। फिर भी इतना तो निर्विवाद है कि संगीतात्मक नाटकों की यह परम्परा अभिनय और नाटक के बदले संगीत द्वारा दर्शकों को सम्मोहित करती है और इसलिए अभिनय की कला में इतनी अविच्छिन्न परम्परा के बावजूद जो निखार आना चाहिए वह नहीं आ पाया।

बीसवीं सदी में महाराष्ट्र के रंगमंच ने एक नया मोड़ लिया है और स्वस्थ सहज नाटक की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ है। जब यह चर्चा मैं करता हूँ तो सिर्फ प्रकाशित नाटकों की सूची देखकर नहीं, बल्कि नाट्य-प्रदर्शनों को ध्यान में रखकर। पु० ल० देशपांडे, मो० ग० रांगणेकर, कानिटकर प्रभृति नाटककारों ने वर्तमान समस्या पर यथार्थवादी रंगमंच के लिए ऐसे नाटक लिखे हैं जो व्यावसायिक रूप से सफल हुए हैं।

अन्तिम विश्लेषण में मराठी रंगमंच का एक अंश ऐसा है जिस पर संगीत और अभिनेता हावी है तथा दूसरा अंश ऐसा है जिस पर लेखक और अभिनेता। और सबके ऊपर हावी हैं व्यावसायिक प्रदर्शन के लिए पैसे खर्च करने वाले ! रंगमंच के तकनीकी विशेषज्ञों का बोलबाला नहीं। प्रकाश-व्यवस्था, सेट आदि पर उतना ज़ोर नहीं। दरअसल मुझे तो यह भी ज्ञात नहीं कि यथार्थवादी प्रदर्शन के अलावा भी और किसी शैली में उल्लेखनीय प्रदर्शन हुए हैं। कुछ मण्डलियों ने यदाकदा संस्कृत नाटकों तथा अंग्रेज़ी नाटकों के अनुवाद के लिए आकारवादी सेट का प्रयोग किया था, लेकिन उनका

स्तर ऐसा रहा कि उसकी चर्चा बस इसीलिए की जा सकती है कि वह एक प्रकार की चेतना का द्योतक है। बंगला और मराठी की तुलना बरबस दिमाग में आ जाती है। बंगला रंगमंच एक प्रकार की सीधी लम्बाई में विकसित हो रहा है। अच्छा अभिनेता और लेखक मिल गया तो यह विकास ऊर्ध्व होता है। लेकिन आधार के फैलाव का, नाटकीय चेतना की परिधि के विकास के चिह्न दिखाई कम पड़ते हैं। यह ध्यान देने की बात है कि बंगाल की लोक-नाटच शैली 'यात्रा' वहाँ के पेशेवर और गैर-पेशेवर रंगमंच को प्रभावित करने के बदले स्वयं अपना आकार और स्वरूप नष्ट करती जा रही है। यह तो सभी जीवित शैलियों का स्वभाव है कि वह आसपास की अन्य विधाओं से प्रभाव ग्रहण करती हैं, लेकिन साथ ही यह भी जरूरी है कि वह अपने पैरों पर खड़ी भी रहे। स्वयं अपना स्वरूप न खो बैठे।

इसके विपरीत मराठी रंगमंच यद्यपि यथार्थवादी प्रदर्शन का ही दामन पकड़े है, फिर भी कथ्य की दृष्टि से उसमें व्यापकता अधिक है और वे अंकुर अभी सुरक्षित हैं जो व्यापक आधार बनाने में सहायक होंगे। आज नहीं तो बीस वर्ष बाद यह एकदम स्पष्ट हो जायगा कि मराठी रंगमंच का आधार बंगला रंगमंच की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है। साथ ही यह भी हम नहीं भुला सकते कि बंगला रंगमंच अभिनय, रंगमंच की तकनीक आदि में ऐसी जगह पहुँच चुका है जहाँ पहुँचने में मराठी रंगमंच को समय लगेगा। दोनों रंगमंचों की वर्तमान अवस्था और मूलभूत प्रवृत्तियों को देखकर यह कहा जा सकता है कि बंगला रंगमंच पर जब तक किसी सशक्त लेखक या अभिनेता का आवर्भाव नहीं होता उसकी वर्तमान स्थिति में मौलिक परिवर्तन नहीं आ सकता। मराठी रंगमंच धीरे-धीरे तकनीकी दृष्टि से उन्नति करता रहेगा, लेकिन मराठी रंगमंच पर ऐसे सशक्त अभिनेता या लेखक के आविर्भाव की अभी कम ही सम्भावना है।

दक्षिण भारत के रंगमंच का मेरा ज्ञान बहुत ही सीमित रहा है। दो-चार प्रदर्शनों से अधिक को देखने का दावा नहीं कर सकता। हाँ, बहुत सारे नाटकों का स्थापत्य और कथावस्तु अनुवाद के माध्यम से देख चुका हूँ। तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम—चारों भाषाओं में अनेकानेक दृश्यों वाले पारसी रंगमंच की छटा अब भी दिखाई पड़ती है। राजमानिक्यम बन्धुओं ने कई वर्ष पहले जब दिल्ली में कई नाटकों का प्रदर्शन किया था तो तमिल बन्धुओं के बीच इसी बात की चर्चा थी कि इतने विलक्षण दृश्य-परिवर्तन इतनी जल्दी वह कैसे प्रस्तुत कर सकता है। लेकिन इसके अलावा गैर-पेशेवर रंगमंच पर अन्य प्रकार के प्रयोग भी हो रहे होंगे इसमें मुझे सन्देह नहीं। यह ध्यान देने की बात है कि तेलुगु की कूचिपुडि जैसी अभिनय प्रधान नृत्य-शैली के बावजूद कोई महत्त्वपूर्ण प्रयोग नहीं हो सके हैं और आज भी सुप्रसिद्ध कलाकार 'उषापरिणयम्' 'भामाकलायम्', 'प्रह्लादचरितम्' का ही प्रदर्शन करते दिखाई पड़ते हैं। इस सम्बन्ध में कन्नड़ रंगमंच के एक नाटक की चर्चा अनिवार्य लगती है। नाटक का नाम है लंचावतार। लंच अर्थात् घूस। नाम से ही स्पष्ट है कि इस नाटक का कथानक सामयिक महत्व का है। इसके प्रमुख अभिनेता और

लेखक हैं श्री नरसिंह राव। कहा जाता है कि पिता की मृत्यु के बाद कम्पनी इनके हाथों से निकल गई और इन्हें दरदर ठोकरें खानी पड़ीं। लेकिन अन्ततः इन्होंने अपने को सम्हाला और मज़दूरों के मुहल्ले में टीन की चादरों का मण्डप खड़ा कर अभिनय शुरू किया। आज सबसे अधिक लोकप्रिय अभिनेता का सहज गौरव इन्हें प्राप्त है। नाटक में प्रमुख आकर्षण है कुछ ऐसे स्थल जहाँ श्री नरसिंह राव समाचार-पत्रों की ताजा घटनाओं का जिक्र करते हैं और उस पर हास्य-व्यंग्यपूर्ण टिप्पणी। बताना नहीं होगा कि यह हिस्सा प्रतिदिन बदलता रहता है और अपना आकर्षण कभी नहीं खोता। आज इस नाटक की लोकप्रियता का यह आलम है कि एक भी सीट खाली नहीं रहती। अंग्रेज़ी 'रेव्यू' की तरह की ऐसी कृतियाँ भारत में पेशेवर रंगमंच के लिए अभूतपूर्व घटना है और शायद 'रेव्यू' की परम्परा का श्रीगणेश भी इसी से हो। यह ध्यान रहे कि हिन्दी नौटंकी, बिदेसिया आदि लोक-नाट्यों में स्थानीय और तत्कालीन घटनाओं और व्यक्तियों की चर्चा करने की ऐसी परम्परा रही है तथा उन पर की गई टिप्पणियाँ लोगों का मनोरंजन भी करती रही हैं।

बंगला रंगमच पर भी किसी ज़माने में छोटी-छोटी घटनाओं को लेकर अर्धेन्दु-शेखर मुस्तफी ऐसे प्रदर्शन किया करते थे जिनका नाम 'मुस्तफी साहब का तमाशा' था। मुस्तफी साहब के समय अंग्रेज़ों का रंगमंच उगते हुए बंगला रंगमंच के प्रति बड़ा ही सशंक था और बंगला रंगमंच पर कीचड़ उछाला करता था। उसी के जवाब में था यह 'मुस्तफी साहब का तमाशा'। लेकिन इन सबके बावजूद किसी भी भारतीय रंगमंच पर यह चीज़ नहीं आई। कन्नड़ रंगमंच की यह विशेषता उस कलाकार की ही देन है, जिसने पेशेवर अभिनेता की तरह जीने के संघर्ष में, किताबों और सैद्धान्तिक वाग्जाल से दूर, अपने लिए व्यावहारिक रास्ता अपनाया और 'रेव्यू' को यह नया रूप दिया। जहाँ 'रेव्यू' में ऐसे ही छोटे-छोटे दृश्य होते हैं और उसका स्वरूप एक गुलदस्ते का होता है वहाँ लंचावतार में जैसे वही लड़की नित नये फूल जूड़े में डालकर आती है।

इस पृष्ठभूमि में कलकत्ते से लेकर दिल्ली तक और लखनऊ से लेकर बम्बई तक फैले हिन्दी रगमंच का लेखा-जोखा लेना होगा। यह तो स्पष्ट है कि इतने बड़े क्षेत्र में वैसी एकरूपता नहीं हो सकती जैसी अन्य भाषाओं के क्षेत्र में रही है। इसमें भी सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं कि हर क्षेत्र के हिन्दी रंगमंच पर पास-पड़ोस के रंगमंच का असर होगा। उदाहरण के लिए कलकत्ते के हिन्दी रंगमंच पर बंगला का प्रभाव स्वाभाविक ही है।

वैसे यह बात अक्सर भुला दी जाती है कि पेशेवर हिन्दी रंगमंच का श्रीगणेश कलकत्ते में ही हुआ था और हाल तक पेशेवर तरीके से हिन्दी नाटकों का अभिनय कलकत्ते में होता रहा। लेकिन पेशेवर रंगमंच का जहाँ तक सम्बन्ध है, कलकत्ते के हिन्दी रंगमंच के विकास की धारा बंगला से मूलतः भिन्न रही। कारण ढूंढने के लिए बहुत दूर जाने की ज़रूरत नहीं। कलकत्ते में पेशेवर हिन्दी रंगमंच को जन्म देने वाले व्यवस्थापक गुजराती और पारसी थे। उसमें काम करने वाले अभिनेता-अभिनेत्रियों नें उत्तर भारत तथा बम्बई तक की सभी भाषाओं के लोग पाये जाते थे। स्त्री पात्रों

के लिए गणिकाओं को रखा जाता था। हिन्दू-मुसलमान की भी समस्या नहीं थी। जिस उदारता से हिन्दी-भाषी जनता ने ऐसे पेशेवर अभिनयों को अपनाया उसी का यह फल है कि हिन्दी लोक रंगमंच का कोई प्रभाव इन प्रदर्शनों पर नहीं पड़ा तथा हिन्दी रंगमंच का वैसा (सीमित आधार वाला ही सही) विकास नहीं हो पाया जो बंगला रंगमंच पर सम्भव हो सका। दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण यह भी था कि बंगला रंगमंच को विकास की अवस्था के बाद बंगाल के सामाजिक जीवन के कर्णधारों ने भी अपना सक्रिय सहयोग दिया। राष्ट्रीयता की भावना ने ज्यों-ज्यों जड़ पकड़ी, साहित्य और रंगमंच, दोनों पर उसका असर दिखाई पड़ने लगा। बंगाल के धनी-मानी रईसों ने जहाँ प्रदर्शन की व्यवस्था कराई वहीं अच्छे नाटकों के लिए पुरस्कार की भी घोषणा की। लेकिन कलकत्ते के हिन्दी रगमंच का गठन ऐसा था, हिन्दी रगमंच जिस तबके के लोगों के लिए प्रदर्शन करता था, दोनों कारणों से हिन्दी रंगमंच का वैसा विकास सम्भव नहीं हो सका। हिन्दी-भाषी सुशिक्षित और सुसंस्कृत लोगों की आवश्यकता बंगला नाटकों से भी पूरी हो जाती थी। कलकत्ते का निम्न मध्यम-वर्गीय हिन्दी भाषी तबका सस्ते मनोरंजन से चिपका हुआ था। न तो कलकत्ते के हिन्दी रंगमंच ने जनता की रुचि परिष्कृत करने की कोशिश की और न कोई ऐसी हस्ती ही आई जो अपने व्यक्तित्व के ज़ोर से कलकत्ते के पेशेवर हिन्दी रंगमंच को इस दलदल से निकाल सके।

साधारणतः कलकत्ते का हिन्दी-भाषी सुसंस्कृत तबका बहुत अर्से तक बंगला नाटकों से ही सन्तोष प्राप्त करता रहा। इसे हम हिन्दी भाषियों की उदारता ही कह सकते हैं। पर फल यह हुआ है कि गैर-पेशेवर स्तर पर भी हिन्दी रंगमंच ने बहुत दिनों बाद अँगड़ाई ली है। अब गैर-पेशेवर रगमंच पर अच्छे प्रदर्शन होने लगे हैं। कुछ संस्थाओं ने इस दिशा में काफी अच्छा प्रयास किया है और 'अनामिका' की चर्चा यहाँ असंगत नहीं लगती। उनका नाटक 'नये हाथ' दिल्ली में देखने का अवसर मिला। नितान्त यथार्थवादी शैली का यह नाटक कथ्य की दृष्टि से अपना महत्व रखता है और यह विश्वास दिलाता है कि हिन्दी-साहित्य की अन्य विधाओं में जो प्रगति दिखाई पड़ती है उसका स्वरूप रगमंच पर भी जल्दी ही दिखाई पड़ेगा। अभिनय या प्रदर्शन दोनों ही दृष्टियों से कलकत्ते के इन हिन्दी प्रदर्शनों की एक खूबी की ओर ध्यान दिलाना अनिवार्य लगता है। जहाँ बंगला रगमंच का प्रभाव स्पष्ट है, वहीं अपना विशिष्ट व्यक्तित्व भी इन प्रदर्शनों की विशेषता रही है। और यह बड़ा ही शुभ संकेत है।

बिहार में गैर-पेशेवर रगमंच की दो धाराएँ हैं जिनका असर काशी तक स्पष्ट है। एक ओर तो वे बंगाली हैं जो पहले बंगला नाटकों का प्रदर्शन किया करते थे, लेकिन समय की रफ्तार को पहचानकर अब हिन्दी नाटकों की ओर मुड़ गए हैं। साधारणतः कलकत्ते के बंगला नाटकों से प्रेरणा लेकर बंगला नाटकों के हिन्दी अनुवाद या उसी आधार पर लिखे गए हिन्दी नाटकों का ये प्रदर्शन करते हैं। भाषा, उच्चारण और अन्य सभी बातों में ये नाटक बंगला रंगमंच की कुरूप छाया से अधिक के अधिकारी नहीं प्रतीत होते। भागलपुर, पटना और गया के कुछ प्रदर्शनों को सामने

रखकर इतना ही महत्व इन्हें दिया जा सकता है कि प्रकाश व्यवस्था के कुछ तकनीकी प्रयोगों को इन प्रदर्शनों ने कलकत्ते से बिहार तक पहुँचाया। इसके विपरीत ऐसे प्रदर्शन भी काफी अधिक संख्या में होने लगे हैं जिनकी मूल प्रेरणा हिन्दी क्षेत्र की ही है। लेकिन इन प्रदर्शनों की प्रमुख समस्या है उपयुक्त नाटक का चुनाव। साधारणत: प्रसिद्ध कहानियों और उपन्यासों के रूपान्तर ही रंगमंच पर दिखाई पड़ते हैं। उदाहरण के लिए तीन कहानियों का उल्लेख किये बिना नहीं रह सकता—'कफन', 'उसने कहा था' और 'आकाशदीप'। तीनों रचनाएँ सुप्रसिद्ध हैं और साहित्य में उनका विशिष्ट स्थान है। शायद यह बात उभरकर स्पष्ट नहीं हो पाई है कि इन रचनाओं की काया कहानी के माध्यम के लिए ही सबसे अधिक उपयुक्त है। मोह में अगर इन कृतियों को परकाया में प्रवेश कराया जाय अर्थात् कहानी से नाटक बनाया जाय तो इनका मूल सौन्दर्य ही नष्ट हो जायगा।

लोक नाट्य की एक विशेष शैली विदेसिया के लिए बिहार पहले से प्रसिद्ध रहा है। कथानक और प्रदर्शन, दोनों ही दृष्टियों से इसकी विशेषता रही है। इन दिनों इसका जोर तो कम हो गया है पर कथ्य और भाषा की दृष्टि से एक ऐसे व्यक्ति का पदार्पण हुआ जिसका उल्लेख करना अनिवार्य है। मेरा मतलब है श्री रामेश्वरसिंह काश्यप और उनके नाटक 'लोहा सिंह' से! यह नाटक पहले रेडियो रूपक के रूप में सामने आया। पर इसकी सफलता ने इसे मंच पर लाया और अब शायद यह चरित्र फिल्म के पर्दे पर भी आने वाला है। इस नाटक के बारे में इसकी भाषा और इसका कथ्य दोनों उल्लेखनीय हैं। 'लोहा सिंह' की भाषा भोजपुरी मिश्रित हिन्दी और अंग्रेजी है जो विलक्षण हास्य-व्यंग्य की सृष्टि करती है! लोहा सिंह का व्यक्तित्व विनोदी है। इस विलक्षण भाषा के कारण व्यंग्य दो स्तरों पर चोट करता है। एक तो वह जो लोहा सिंह का लक्ष्य है और दूसरा वह जो लेखक को अभीष्ट है! कथ्य की दृष्टि से लोहा सिंह के पारिवारिक जीवन पर आधारित ये घटनाएँ एक बड़े नाटक का सूत्रपात कर सकती थीं पर भाषा के चमत्कार ने जो सफलता दिलाई वही बाधक बन गयीं! फिर भी लोहा सिंह ने हिन्दी-नाटकों के लिए एक नये परिच्छेद का सूत्रपात किया है।

साधारणत: उत्तर प्रदेश में प्रदर्शन का स्तर बिहार की ही तरह निम्न रहा है। और तुलनात्मक रूप से हिन्दी-भाषी क्षेत्रों में सामान्य रूप से प्रदर्शन की यही दशा है। नाट्य-लेखन की दृष्टि से जहाँ उपेद्रनाथ अश्क, रामकुमार वर्मा, आदि का नाम गिनाया जा सकता है, गैर-पेशेवर प्रदर्शन की दृष्टि से संस्थाओं और व्यक्तियों का नाम ढूँढ़े नहीं मिलता। डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल ने सुन्दर रस आदि नाटकों के लेखन और प्रदर्शन द्वारा स्थानीय हलचल के रूप में कुछ पाया हो तो हो, नाट्य-लेखन की दृष्टि से उन्हें महत्व नहीं दिया जा सकता! डॉ० रामकुमार वर्मा के शुरू के प्रदर्शन या नाट्य-एकांकियों में एक प्रकार की ताज़गी है। लगता है कि नाटक का कथ्य अब समाप्त हो गया है! साधारणत: साहित्य की कई विधाओं में सृजन करने वालों का जो हाल होता है वही हाल उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का हुआ है! इस सम्बन्ध में एक बात और ध्यान

देने की है। नाटककार का विकास रंगमंच और प्रदर्शन के घात-प्रतिघात द्वारा ही होता है। जिन नाटककारों ने अपने को इससे अलग रखा या अलग हो गये उनकी कृति का अंतिम परिच्छेद स्वयं लिख जाता है! फिर भी कथ्य की दृष्टि से इस क्षेत्र ने हिन्दी-नाटक के आधार को व्यापकता दी है। साधारण मध्यमवर्गीय परिवार की हलचल से लेकर ऐतिहासिक और अन्य समस्यामूलक नाटकों की एक नई फसल सामने आई है। दुर्भाग्यवश इन सभी रचनाओं में रंगमंच के अनुभव का अभाव खटकता है। यह अभाव इसलिए और भी तीखा बन जाता है कि हिन्दी क्षेत्र में हिन्दी भाषियों द्वारा जब इन नाटकों का प्रदर्शन होता है तो प्रदर्शन की भोंडी और भयानक ग़लतियों के कारण नाटक की हत्या होती है! जब अहिन्दी भाषी कलाकार इन नाटकों का प्रदर्शन करता है तो भाषा के संकेतों को नहीं समझने के कारण नाटक और प्रदर्शन की दिशाएँ विरोधी हो जाती हैं। इस तरह फिर नाटक की हत्या होती है! साथ ही एक स्वर से यह आवाज़ लगाई जाती है कि हिन्दी में प्रदर्शन के योग्य नाटक नहीं। दिल्ली और बम्बई के नाट्य प्रदर्शनों की चर्चा करते समय इस समस्या पर विस्तार से विचार किया जायगा।

मध्य प्रदेश का हिन्दी रंगमंच मराठी रंगमंच के बोझ से आक्रांत हैं क्योंकि विधा का निर्वाह वहाँ के नाटकों में उसी तरह होता है जैसा कि मराठी नाटकों में! मध्य प्रदेश की मिट्टी की गंध न तो नाटकों में दिखाई पड़ती है और न नाट्य-प्रदर्शनों में। जो थोड़े से प्रदर्शन देखने को मिले हैं उनमें घिसे-पिटे हथकंडों का ही प्रयोग दिखाई पड़ता है। यथार्थवादी प्रदर्शन के चौखटे के भीतर मराठी रंगमंच पर कभी-कभी ताज़गी दिखाई पड़ती है लेकिन इन सस्ते अनुकरणों में एक-एक तरह की शिथिलता है।

बम्बई में हिन्दी रंगमंच मराठी, गुजराती और अँग्रेजी प्रदर्शनों से थोड़ा प्रभावित रहा है। एक ओर तो पेशेवर गुजराती नाटकों की तरह सस्ते और भोंडे प्रदर्शन भी होते हैं तो दूसरी ओर अँग्रेजी नाटकों की देखा देखी अँग्रेजी नाटकों के अनुवाद भी रंगमंच पर लाये गए हैं। इस सम्बन्ध में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय से निकले हुए छात्र-छात्राओं का भी योगदान रहा है। 'इडीपस रैक्स' आदि नाटकों की चर्चा इस सम्बन्ध में की जा सकती है लेकिन इस तरह के नाटकों का सिर्फ एक ही लाभ हिन्दी रंगमंच को हुआ है और वह है हिन्दी भाषी जनता का रंगमंच की विभिन्न विधाओं से परिचय। इस प्रदर्शन का ऐसा स्तर नहीं जो अपने-आप में उपलब्धि की संज्ञा पा सके। हिन्दी नाटक और हिन्दी रंगमंच के आधार को विस्तृत करने का श्रेय जरूर इन नाटकों को मिलना चाहिए। यह ध्यान देने योग्य बात है कि एक ओर डी० एल० राय या गडकरी जैसे आचार्यों की रचना बंगला और मराठी रंगमंच से आई तथा स्वीकृत हुई उसी तरह जयशंकर प्रसाद, लक्ष्मीनारायण मिश्र आदि की रचनाओं को हिन्दी रंगमंच पर नहीं उतारा गया। एक फैशन-सा बन गया है और फतवे दिये जाते हैं कि इतने दृश्यों के कारण या संस्कृतनिष्ठ भाषा होने के कारण ये नाटक रंगमंच के योग्य नहीं।

दिल्ली आकर यह समस्या और भी मजेदार बन जाती है। हिन्दी प्रकृति से

ही भारत की राष्ट्रभाषा है। इसलिए राजधानी में सभी भाषा-भाषियों का हिन्दी में दिलचस्पी लेना स्वाभाविक ही है। यह भी ठीक है कि हिन्दी नाटक का वह अंग जो साहित्यिक भाषा तक सीमित है, आम-फहम जबान को हिन्दी माननेवालों के लिए दुर्गम है। इसलिए हिन्दी नाटकों का एक अंग तो ऐसे लोगों के लिए अछूता ही रह जाता है। बोलचाल की चालू भाषा में जो नाटक मिलते हैं उसे ही हिन्दी नाटक का एकमात्र रूप समझने की और बाकी नाटकों को नजर-अन्दाज कर देने की एक परिपाटी-सी चल पड़ी है। खासकर ऐसी बातों के फतवे अँग्रेजी के माध्यम से दिये जाते हैं जिनकी ओर हिन्दी के सृजनात्मक कलाकारों का ध्यान ही नहीं जाता। मिला-जुलाकर स्थिति ऐसी हो गई है कि एक ओर हिन्दी नाटकों की ओर लोग ललचाई नजरों से देखते भी हैं और दूसरी ओर यह भी कहते जाते है कि हिन्दी में अभिनय के योग्य नाटक नहीं। आँकड़ों की मेरे पास कमी है और यह लिखना सम्भव नहीं कि पिछले दिनों दिल्ली में किस प्रकार के नाटकों के कितने प्रदर्शन हुए। इतना जरूर लिख सकता हूँ कि दिल्ली की आम जनता को वे ही नाटक पसन्द आये जिनमें पंजाब की मिट्टी की गंध थी।

हिन्दी क्षेत्र में अच्छे निर्देशक के अभाव ने ही यह स्थिति उत्पन्न कर दी है। 'आषाढ का एक दिन' और 'अन्धा युग' जैसे नाटकों के प्रदर्शन भी दिल्ली में हुए हैं। लेकिन उनका उतना ही महत्व है जितना एक साहसिक कार्य का हो सकता है। लीक से अलग इन दोनों प्रदर्शनों ने यह साबित कर दिया है कि ऐसे नाटकों का प्रदर्शन जिस तरह बिदेशों में होता रहा है उसी तरह हिन्दी में भी अच्छी तरह हो सकता है। साथ ही यह भी बुरी तरह उभर कर सामने आया कि इन प्रदर्शनों में नाटकों की आत्मा और काया, दोनों अछूती रह गई। धृतराष्ट्र-गांधारी संवाद में रवीन्द्रनाथ ने साबित किया था कि धृतराष्ट्र सिर्फ आँखों का अन्धा नहीं था बल्कि मोहान्ध था। एक कदम आगे बढ़कर लेखकों ने अन्धा युग में संकेत किया कि वह युग ही अन्धा था। लेकिन प्रदर्शन में ? युग की झाँकी ही सामने नहीं आई।

इसी तरह आषाढ के एक दिन में लेखक ने महाकवि कालिदास के भीतर के साधारण मानव को ही चित्रित किया है। यह बात प्रदर्शन में भी आनी चाहिये थी कि महान से महान व्यक्ति के भीतर भी एक साधारण मानव होता है। इस साधारण मानव के दर्शन नहीं हुए।

अच्छे निर्देशकों के अभाव में उतने हिन्दी नाटक सामने नहीं आ रहे जितने आने चाहिए थे या साहित्य की अन्य विधाओं में जितनी रचनाएं आ रही हैं। तटस्थ होकर देखा जाय तो हिन्दी रंगमंच बँगला या मराठी रंगमंच से पिछड़ा हुआ ही कहा जायगा। लेकिन दूसरी ओर राष्ट्रीय रंगमंच के संदर्भ में राष्ट्रीय रंगमंच अपने-आप में एक विलक्षण बात है और उसका कोई फार्मूला पेश नहीं किया जा सकता। यह ध्यान देने योग्य बात है कि यूरोप के कई छोटे-छोटे देशों में राष्ट्रीय रंगमंग बहुत पहले बन चुका था कि इंगलैंड जैसे देश में जहाँ रंगमंच, लेखक, अभिनेता और निर्देशक की अक्षुण्ण परम्परा रही है, कुछ ही वर्ष पहले राष्ट्रीय रंगमंच की स्थापना हुई। यह नहीं कहा जा सकता कि इसका कारण क्या है। इस पेचीदी प्रक्रिया में बहुत सारी बातें

शामिल हैं। भारत के संदर्भ में अगर हम राष्ट्रीय रंगमंच की समस्या को देखें तो यह निर्विवाद है कि हिन्दी रंगमंच ही इस जगह को भर सकेगा। जब मैं राष्ट्रीय रंगमंच की बात करता हूँ तो मेरा आशय किसी भवन या संस्था से नहीं है बल्कि उस रंगमंच से है जिस पर पूरे राष्ट्र का जीवन प्रतिबिम्बित हो।

हिन्दी साहित्य अन्य भाषा-भाषियों के जीवन को धीरे-धीरे प्रतिबिम्बित करने लगा है, अन्य क्षेत्रों की विशिष्टताओं को धीरे-धीरे आत्मसात करता जा रहा है। ऐसे आंकड़े इकट्ठे किये जाएँ जिनमें अन्य भाषा-भाषियों के जीवन को चित्रित किया गया हो तो मेरे कथन की तुरन्त पुष्टि हो जायगी। मराठी और गुजराती एक-दूसरे के इतने निकट रहे लेकिन मराठी साहित्य में गुजरातियों के जीवन को या गुजराती साहित्य में मराठियों के जीवन को कितना स्थान मिला ? कलकत्ते में हिन्दी भाषियों की संख्या कम नहीं। बंगालियों के जीवन से वे इतने घुलेमिले भी हैं। साधारण बंगाली उन्हें अच्छी तरह जानता-पहचानता भी है। लेकिन क्या बंगला साहित्य में कभी उनका चित्रण हुआ ? (शायद सतीनाथ भादुड़ी इसके अपवाद माने जा सकते हैं।) यही स्थिति असम और उड़ीसा निवासियों की है।

मौलिक रचनाओं की बात छोड़ भी दें तो अन्वनदो की हालत भी उससे समन्न नहीं निकलेगी। आत्मन्येवात्मनः तुष्टः की जहाँ एक हद तक सुविधा रही, वहीं दूसरी ओर उसकी असुविधा भी सामने आने लगी है। अन्य भाषा-भाषियों ने अँग्रेजी को तो स्वीकारा है। उसके आगे गाड़ी नहीं बढ़ी। अन्य किसी भाषा में भगिनि भाषाओं की मौलिक रचनाओं का अनुवाद नहीं के बराबर है। कलकत्ता और बम्बई हमेशा से ऐसे शहर रहे जहाँ सभी भाषाओं के लोग रहते आये। ये ऐसे शहर रहे जहाँ बँगला और मराठी तथा गुजराती साहित्य ने रूप और आकार ग्रहण किया। लेकिन बस इतना ही। पासपड़ोस के साहित्य से इन लोगों ने हमेशा आँखें बन्द रखीं।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि हिन्दी में जिस तरह गर्दे और पराड़कर जाने-माने गये, जिस तरह भूदेव मुखर्जी को स्थान दिया गया वैसा कलकत्ता और बम्बई में क्यों नहीं हो सका। रंगमंच के सम्बन्ध में साहित्य की चर्चा इसलिए करनी पड़ती है कि जब अन्य विधाओं में जहाँ अपेक्षाकृत कम कठिनाइयाँ होती हैं, यह स्थिति है तो नाटक के सम्बन्ध में स्थिति सहज ही स्पष्ट हो जायगी।

वर्तमान स्थिति में हिन्दी रंगमंच ही राष्ट्रीय रंगमंच का सूत्रपात है। हिन्दी का आधार और क्षेत्र व्यापक है। हिन्दी में रूढ़ परम्पराओं का बोलबाला नहीं। सभी भारतीय भाषाओं से इसका सीधा सम्पर्क बनता आ रहा है जो प्रतिक्षण पुष्ट होता जा रहा है। सारे देश की चेतना को व्यक्त करने की इसीमें चेतना है। यह ठीक है कि विभिन्न भारतीय भाषाओं की दृष्टि से हिन्दी रंगमंच को तीसरा या चौथा स्थान देना पड़े, लेकिन उपरोक्त विश्लेषण से यह भी स्पष्ट हो गया होगा कि राष्ट्रीय रंगमंच की जरूरतों को पूरी करने वाली संभावनाएँ हिन्दी रंगमंच में ही हैं।

डॉ० रामखेलावन पाण्डेय

हिन्दी निबन्ध : प्रेरणा, प्रयास और उपलब्धि

'निबन्ध' आधुनिक चेतना की परिणति-सम्भवा विधा और आधुनिकता-बोध की कसौटी है अतः वैदिक साहित्य में इसके आधार का अन्वेषण अयथार्थ परिकल्पना मात्र। आधुनिकता की अवधि, उसकी व्याप्ति और मर्यादा अनिश्चित-सी रही है और इसके विस्तार और संकोच की चेष्टाएँ अद्यावधि सजग हैं। निबन्ध, प्रबन्ध, लेख, आशय, प्रस्ताव और 'एसे' आदि शब्दों के पर्यायमूलक प्रयोग उपलब्ध होते हैं और ऐसे प्रयोगों के ऐतिहासिक क्रम का अन्वेषण अधिक परिश्रम-साध्य नहीं। कतिपय लेखकों का ध्यान इन अभिधानों के अर्थ-वैभिन्य की ओर गया और इसके यत्किञ्चित् निर्देश यत्र-तत्र उपलब्ध हुए। निबन्ध का सामान्य अर्थ हुआ 'विद्वत्तापूर्ण रचना' और प्रबन्ध का हुआ 'ग्रन्थ'; यद्यपि अर्थ-भिन्नता की सुस्पष्ट रेखा सदा निर्दिष्ट नहीं रही। निर्दिष्टता-पूर्ण निर्णयात्मक रचना के अर्थ में 'निबन्ध' शब्द का प्रयोग होता था, ऐसा संकेत जयन्त भट्ट कृत 'न्याय मञ्जरी' के इस कथन से उपलब्ध होता है—"निर्णीता स्व निबन्धे निपुणमिह मया षोडशैते पदार्थाः।" सुबन्धु कृत 'वासवदत्ता' में उल्लेख है—प्रत्यक्ष श्लेषमय प्रबन्ध विन्यास वैदग्ध्यनिधिर्निबन्धम् चक्रे' और 'शिशुपाल वध' में—',अनुज्झितार्थ सम्बन्धः प्रबन्धो दुरूदाहारः।" भाष्यों, टीकाओं और अनुटीकाओं की परम्परा को 'निबन्ध' का प्रेरणा-स्रोत मानना न तो तात्त्विक है और न वास्तविक। परम्परा के प्रति आस्थामूलक आग्रह का यह है प्रतिफलन मात्र। विभिन्न अभिधानों के अर्थ की सीमा निबन्ध सम्बन्धी दृष्टिकोण को स्पष्ट करती है और इसकी मर्यादा निर्दिष्ट करने में सहायक होगी।

यूरोपीय सम्पर्क ने उन सभी विधाओं के अनुक्रम को स्वीकृत करने के लिए बाध्य किया, जिनका उद्भव और विकास यूरोपीय चेतना के विकास-क्रम का परिचायक है। यह धारणा उचित नहीं कि ब्रिटेन ही यूरोप है और वह है यूरोपीय चेतना का संवाहक, केवल इतना ही तथ्य है कि यूरोपीय भाव-धारा इंग्लैण्ड की छलनी में छनकर भारत में आई और इंग्लैण्ड में नई 'लेबुलें' भी अच्छी बनती हैं। मॉनतेन (१५३३-१५९२) और बेकन (१५६१-१६२६) के निबन्धों की पारस्परिक तुलना से स्पष्ट हो जाएगा कि फ्रांसीसी और अंग्रेजी भाव-धाराएँ भिन्न हैं और दोनों जातियों की प्रकृति, अंतः प्रवृत्ति में पर्याप्त अन्तर है। मॉनतेन के निबन्ध निर्बन्ध, वैयक्तिकता-पूर्ण, विषयि प्रधान और व्यक्तित्वपरक हैं और बेकन के निबन्ध, नियंत्रित, विचार-मूलक, विवेचनात्मक-वर्णनात्मक एवं विषय-प्रधान। एक में फ्रांस की रोमांचक वृत्ति

है तो दूसरे का साँचा है 'क्लासिकल'; एक में उन्मुक्त वैयक्तिक वैयक्तिकता है तो दूसरे में मर्यादित वैयक्तिककता; प्रथम में चेतना की स्वतन्त्र भंगिमा है तो द्वितीय में अनुल्लंघनीय संयम। मॉनतेन द्वारा प्रवर्त्तित रूप प्रयत्न को साध्य के रूप में स्वीकृत करता है क्योंकि फ्रेंच 'एसेइ' का अर्थ रहा—प्रयत्न करना। बेकन का 'एसे' लातीनी 'एक्ज़ीअम' से व्युत्पन्न है, अत: अर्थ हुआ—मूल्यांकन, सिद्धान्तीकरण जिसकी परिणति सारगर्भित, निर्दिष्ट और ठोस विचारों के निर्दिष्टीकरण में हुई। अन्य विचारक इन दोनों की सीमाओं के मध्य अपना स्थान निर्धारित करते रहे, और उनके लक्षणों में लक्षण-निर्धारण का जो उपक्रम है, वह है वस्तुत: आत्म-सम्बन्ध-बोध का निदर्शन मात्र।

समस्त लक्षण अपूर्ण और अपर्याप्त होते हैं; और वे हैं मात्र दिशा-संकेतक, तथा वस्तु-निर्देश में प्राय: अक्षम। ऐसा प्रतीत होता है कि निबन्ध के लक्षण दिशा-निर्देशन के लिए भी पर्याप्त नहीं। मॉनतेन की धारणा का तात्पर्य है कि निबन्धों का वह स्वयं विषय है, क्योंकि वही चित्रकार है और चित्रपट भी। ऐसी स्थिति में निबन्ध गीति-काव्य से भी अधिक गीति-काव्यात्मक होगा। 'विश्रृंखल भाव-तरंग' भी विधा-निर्धारण न कर लेखक की मनोदशा सूचित करती है। चिन्तन की निर्दिष्टता को प्रतिफलित करनेवाली बेकन की प्रणाली शास्त्र-निर्धारण को मान्यता देती है। 'निबन्ध में भाव-धारा तरल और मिश्र होती है, उसका प्रवाह कभी उपदेशात्मकता की ओर झुकता है और कभी वैयक्तिक आत्माभिव्यञ्जन की ओर', ऐसी मान्यता में स्पष्ट निर्दिष्टता का अभाव है, इसी प्रकार 'एसे' 'संलापमयी रचना के साथ वैसी रचना-विधि है जिसमें साहित्यिकता के साथ आनन्दमयता की अनिवार्य स्थिति हैं," ऐसा मानने का उपक्रम प्रवृत्ति का संकेतक मात्र है। निबन्ध-रचना की एक पद्धति यदि मॉनतेन, काउले और चार्ल्स लैम्ब में विकसित हुई तो दूसरी परम्परा ने जॉनसन, कार्लाइल, अर्नल्ड, रस्किन, मेकॉले और इमर्सन में प्रौढ़ता पाई। शुक्ल के अनुसार, निबन्ध गद्य की कसौटी है और भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबन्धों में ही सबसे अधिक सम्भव होता है। लेख यदि सामान्य रचना-विधि का सूचक हैं, तो प्रस्ताव और आशय बौद्धिक चेतना की परिणति। निबन्ध को कुछ 'ऐसे-ही' मानने का आग्रह इसकी एक विकास-दिशा का ही सूचक होगा।

हिन्दी के निबन्ध-साहित्य का इतिहास समाचार-पत्रों के इतिहास की अनुक्रमणिका है और आधुनिक काल की प्रारम्भिक स्थिति का दृष्टिकोण था—

विविध कला शिक्षा अमित, ज्ञान अनेक प्रकार।
सब भावन सो लै करहु, भाषा माँहि प्रचार॥

(हिन्दी लेक्चर, भारतेन्दु)

'उदन्त मार्त्तण्ड' (सन् १८३६ ई०) का घोषित उद्देश्य था—देश-विदेश के समाचारों को पछाँही जनता तक सम्प्रेषित करना, अत: लेख सूचना-मूलक रहे। पाठ्य पुस्तकों की निर्माण-पद्धति से भी इसका प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों सम्बन्ध रहा। दोनों के उद्देश्य समान थे अर्थात् सामान्य चेतना-सम्पन्न और प्रबुद्धता की प्रक्रिया में संलग्न

व्यक्तियों को विविध विषयों से परिचित करना। खड़ी बोली का गद्य-साहित्य निर्माण की प्रारम्भिक स्थिति में था, और था पाठकों का चेतना-स्तर भी सामान्य, अत: उस काल का निबन्ध-साहित्य भी रहा परिचयमूलक विवरणात्मक एवं वर्णन-प्रधान। भारतेन्दु कालीन निबन्धों की स्थिति इससे स्पष्ट होती है। राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द (१८२३-१८९५ ई०), राजा लक्ष्मणसिंह (सन् १८२६-१८९६ ई०) समाचार पत्र और पाठ्य पुस्तक-निर्माण-प्रक्रिया से सम्बद्ध रहे, यद्यपि दोनों की रचना-शैली में महत्त्वपूर्ण अन्तर है। स्वामी दयानन्द सरस्वती (सन् १८२४-१८८३ ई०) ने आर्य-समाजी धारणाओं को प्रचारित-प्रसारित करने के लिए साधु खड़ी बोली का उपयोग किया एवं उनके द्वारा संस्थापित आर्य समाज ने धार्मिक एवं कुछ अंशों में राजनीतिक चेतना जागरित करने के लिए निबन्ध-साहित्य की विधा का उपयोग किया। यह निबन्ध-साहित्य उपयोगितामूलक, पुन: संस्कारवादी और उपदेश-प्रधान ही बन सका। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा संस्थापित और सम्पादित 'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन' (जो बाद में चलकर 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' हो गई) ने साहित्यिक विषयों को अपनी सीमा की परिधि में संश्लिष्ट किया और इस नव्य प्रवर्त्तन को अविस्मरणीय घटना के रूप में स्वीकृत कराने के लिए १८७३ ई० में हिन्दी को नए साँचे में ढलना माना। साहित्य-शास्त्रीय मान्यताओं और धारणाओं को विवेच्य मानने का यह उपक्रम महावीरप्रसाद द्विवेदी में प्रतिफलित हुआ, जिसका शास्त्रीय और सुगठित संस्कार शुक्ल ने विकसित किया। समाचार-पत्र नव्य-चेतना के संवाहक बने और इनमें से अनेक को राजकीय संरक्षण और प्रोत्साहन तथा शिक्षा विभागीय समर्थन प्राप्त था। खण्डन-मण्डन, सिद्धांत निरूपण एवं विषय-प्रतिपादन की प्रणाली को अत: स्पष्ट निर्दिष्टता मिली। इन रूपों के साथ निबन्ध-साहित्य की उस विधा का भी सूत्रपात हुआ जिसकी व्याप्ति का निर्धारण मॉनतेन ने किया था। इस परम्परा में बालकृष्ण भट्ट (१८४४-१८९४), प्रतापनारायण मिश्र (-१८५६-१८९४) अम्बिकादत्त व्यास (१८५८--१९००) और बालमुकुन्द गुप्त (१८६५-१९०७ ई०) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं जिनकी रचनाओं में निश्छल परिहास से लेकर कटूक्तिपूर्ण व्यंग्य, उल्लासपूर्ण उद्वेग से लेकर चिन्ताजन्य आग्रह प्रतिफलित है। उस काल का सामाजिक व्यक्तित्व व्यापक ममत्व-पूर्ण निजत्व से संवलित था, उत्साह उसका आधार था और विनोद मापदण्ड।

गद्य को कवियों की कसौटी माननेवाले आलोचक ने इस पर ध्यान नहीं दिया था कि अपनी समस्त व्याप्ति और सीमा के साथ जीवन ही गद्य की कसौटी है। जीवन, मात्र कला नहीं, जब साहित्य का मापदण्ड होगा, तब गद्य ही साहित्य का अनुमापक होगा। गद्य को काव्यात्मक गरिमा से मण्डित करने और उसके धरातल पर प्रतिष्ठित करने का आग्रह, तथा काव्य को गद्यात्मक समवर्त्तता देने का मोह समभूत होकर भी भिन्न रहते हैं, और कला-चेतना, इस स्थिति में, सोद्देश्यता के समक्ष प्रणिपात करती है। लेखक समसामयिकता बोध की औरस सन्तान है, मात्र दत्तक पुत्र नहीं। समसामयिकता बोध जीवन के अभावों की मात्र आकांक्षामूलक विवृत्ति नहीं, वासनामूलक आकांक्षा का भव्य प्रदर्शन मात्र नहीं, बल्कि जिज्ञासा और संशय, निष्ठा

और वितर्क, संकल्प और विकल्प की तात्त्विक अभिव्यक्ति है। गद्य के समानान्तर ही अन्तर्भूत अनास्थामूलक निष्ठा और निष्ठाहीन आस्था की द्वन्द्वात्मक स्थिति है। जिस काल में छन्द अभिव्यक्ति और सम्प्रेषण का माध्यम होगा, उस समय जीवन की छन्दात्मक-लयात्मकता से अधिक विशेषाधिकरण और जीवन-विधि की एकांगिता के दर्शन होंगे, चाहे उसमें विविधता के विस्तार का विराट् संयोजन ही क्यों न हुआ हो ! शास्त्राचार्य और नीतिकार, चिकित्सक और ज्योतिषी, कवि तथा कलाकार, एवं दार्शनिक तथा पण्डित जिस समय राज्याश्रित होंगे, उस समय कला-संस्कार सचेत रहेगा, एवं मिलेगा भव्यता, रोचकता, चमत्कार और वैदुष्य को निर्दिष्टता एवं सहज बोध से अधिक महत्त्व। जीवन को ही जीवन का मानदण्ड मानने का आग्रह आत्म-बोध को चरम परिणति के रूप में स्वीकार करेगा और साहित्य की कसौटी उसकी पारदर्शिता होगी, न कि उसका चमत्कारपूर्ण अवबोध।

'निबन्ध' का वर्गीकरण विभिन्न आधारों पर किया जा सकता है और प्रत्येक आधार नव्य वर्गों का निर्धारक होगा। प्रक्रिया की दृष्टि से वर्णनात्मक, आख्यात्मक, व्याख्यात्मक एवं विचारात्मक कोटियाँ हैं तो विषय की दृष्टि से सामाजिक, राजनीतिक, वैज्ञानिक, धार्मिक, ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक। साहित्यिक निबन्ध समीक्षात्मक, विवेचनात्मक होते हैं और इनकी सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक कोटियाँ स्वीकृत हैं। उपलब्धि को यदि आधार मानें, तो कोटियाँ होंगी—विचारोत्तेजक, भावोत्तेजक एवं प्रचारात्मक। विषय और विषयी की चिन्ता के आधार पर विषय-मूलक एवं विषयिप्रधान रचनाएँ उपलब्ध होंगी, इस प्रकार आत्मपरक, आत्माभिव्यञ्जन प्रधान, संश्लेषणात्मक और व्यंग्य-विनोद-मूलक निबन्ध-कोटियाँ निर्धारित होंगी। व्यक्तित्वाभिव्यञ्जक रचनाओं में काव्यत्व का मोह परिस्फुटित रहता है और उसका प्रवेश काव्य की परिधि में होगा। गीति-काव्य की गद्यात्मक परिणति गद्य-काव्य की सीमा है, यद्यपि दोनों में अपने निजत्व के दर्शन किये गए हैं। भाव-प्रधान कल्पनाभिचित्रित रचनाएँ इस कला की संगति हैं। यथार्थवादिता के आग्रह के कारण अनुभवको विशेष महत्त्व दिया जाने लगा और अनुभूति को, संवेग को अनुभव की शिला से टकराने का श्रेय मिला। रेखाचित्र, पोर्ट्रेट, सबीह आदि इस भंगिमा के नूतन अभियान हैं; चित्र-कला से उधार लिया गया यह शब्द, उस विधा को संकेतित करता है जिसकी सांकेतिकता ही मूल है। कथा-साहित्य की यह निबन्धात्मक परिणति है, जिसके आधार-स्वरूप व्यक्ति और व्यक्तित्व की आत्म-क्षेपक विवृत्ति रहती है। यह चित्रात्मक से अधिक सांकेतिक है, विश्लेषणात्मक से अधिक संश्लेषणात्मक और कालपात्राश्रित से अधिक प्रभावान्वित है। संस्मरणात्मक रेखाचित्र के चित्र यथार्थवादी रूपान्तरों ने 'स्केच' का रूप धारण किया एवं सूचनात्मक विवरणों के स्थान में वह विधा आई जिसे उपयुक्त अभिधान के स्थान में सूचनिका कहने की प्रथा चल पड़ी और जो फ्रांसीसी 'रिपोर्ताज़' का हिन्दी रूपान्तर है। 'आकाशवाणी' ने इस विधा को अधिक सबल और सतेज किया। कथात्मक अथवा आख्यात्मक निबन्धों की एक कोटि है जिसमें कलाकार कथ्य को कथा के 'नील माठ' में डुबोकर प्रकट करता है और इस

विधि ने संलापात्मक कोटि को रूपायित किया। पत्रात्मक निबन्ध किसी भी प्रणाली को ग्रहण करने में स्वतन्त्र हैं। औपचारिकता हीन, निर्बन्ध विधा में मनोरंजन एवं विनोद की चासनी मिलाकर जो निबन्ध रचे जाते हैं उनमें उन्मुक्त मन की उड़ान और 'भटकन' मिलती हैं, अनियन्त्रित नियंत्रणपूर्ण मानसिक उद्वेग इसकी आधार-शिला है। जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण, वस्तु के साथ आत्म-सम्बन्ध निर्धारण और व्यक्तित्व निर्मिति के कारण निबन्ध-साहित्य में वैविध्य आया और समाचार-पत्रों के साथ आकाशवाणी ने इनके विकास को गति दी। स्वर-संयोजन की अनिवार्यता ने एक नव्य-लयात्मक संस्कार दिया और निबन्धों में नाद-व्यञ्जना की अभिनव प्रतिष्ठा हुई।

निबन्ध-साहित्य की स्वातंत्र्योत्तरोपलब्धि की विवेचना के लिए जिस व्यापक सन्दर्भ का आकलन अपेक्षित है, उसे एक निबन्ध की सीमा में समेटना किसी कुशल नट की कला की अपेक्षा रखता है और ऐसे दुस्साहस का आग्रह मैं नहीं पालता। कुछ निर्देशक चिह्न ही मैं स्थिर करना चाहूँगा; निबन्ध-लेखकों की निराशा ही मेरा अनुवेदन है।

समीक्षा का क्षेत्र शुक्लाक्रान्त है[१] और उस खेवे के आलोचक शुक्ल को अमान्य करने के लिए भी शुक्ल की दुहाई देते हैं। हजारीप्रसाद द्विवेदी, नगेन्द्र और नन्ददुलारे वाजपेयी ने साहित्यिक अर्थात् समीक्षात्मक निबन्ध लिखे। द्विवेदी शुक्ल के पूरक हैं, प्रतिद्वंद्वी नहीं; शुक्ल जहाँ त्रस्त करते हैं, वहाँ द्विवेदी आश्वस्त। शुक्ल मर्मभेदी हैं और द्विवेदी परम्परा-निष्ठ संदर्भमूलक; शुक्ल भावान्वेषी रहे और द्विवेदी हैं भावतरल, रस-विह्वल। नगेन्द्र में ऐतिहासिक विवृत्ति का अनुसन्धानात्मक उन्मेष है और वाजपेयी में आन्दोलन-क्षम परिक्रमा। वाजपेयी की संवेदना, यदि इसका प्रयोग किया जा सकता हो, छायावादी अतः अनिर्दिष्ट है। काव्य-साहित्य वादात्मक आन्दोलनों में जिस समय संकुचित होता है, उस समय समीक्षा-साहित्य प्रतिपादक अथवा प्रतिगामी। यथार्थवादी संश्लेष ने जहाँ शिवदानसिंह चौहान, नामवरसिंह, रामविलास शर्मा, अमृतराय प्रभृति को प्रगति दी वहाँ उनकी व्याप्ति को मर्यादित भी किया। प्रगतिशीलता और प्रगतिमूलकता का संदर्भ इन्हें वर्गीकृत करने में समर्थ न हो सका। 'हंस' के प्रकाशन का स्थगन इस आन्दोलन एवं तत्प्रभावित निबन्ध-साहित्य के निर्माण में बाधक हुआ, यद्यपि ये लेखक प्रायः सजग और सक्रिय रहे। इस आन्दोलन ने प्राचीन की नव्य मान्यतामूलक व्याख्या की और नव्य रचनाओं के लिए सिद्धान्तों का निरूपक हुआ। इस दिशा में 'संकेत' के प्रकाशन को अनिवार्य स्तम्भ मानना होगा। राजनीति और साहित्य की एकरसता सिद्धि के प्रयाससिद्ध साफल्य की कामना जहाँ भगवतशरण उपाध्याय के 'प्रगति का ऐरावत' में है वहाँ जातीय एकता को कायम रखने की चिन्ता और कामना रामविलास शर्मा की 'संस्कृति और जातीयता' में है। नामवर की दृष्टि

---

१. हिन्दी साहित्य के जो इतिहास इधर प्रकाशित हुए हैं, उनमें भी निबन्धात्मकता की प्रक्रिया ही परिलक्षित होती है। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा द्वारा सम्पादित 'हिन्दी साहित्य' ऐतिहासिक पद्धति पर लिखे गए विभिन्न साहित्य-विषयक निबन्धों का विशाल संकलन है। पद्धति ऐतिहासिक है किन्तु रचना निबन्धात्मक।

में अनुभूति की गहराई की मापक है उसकी व्यापकता अर्थात् गहराई और व्यापकता समानधर्मा पर्याय हैं। साहित्यिक मान-मूल्यों की चिन्ता शिवदानसिंह चौहान को इस दल से कुछ भिन्न कर देती है। सावधि के बोध के साथ कलात्मक संयोजन की अनिवार्यता का प्रश्न प्रगतिशील साहित्य का अनुमापक हुआ। हंस (साहित्य संकलन; अक्तूबर, १९५७) में 'साहित्यकार की आस्था' के अन्तर्गत संकलित चौहान, शर्मा, नामवर, अमृतराय, बालकृष्ण राव, महादेवी, पंत, हजारीप्रसाद द्विवेदी और राहुल सांकृत्यायन के लघु निबन्ध सिद्धान्त-निरूपक से अधिक आत्म-सम्बन्ध-विवृत्तियाँ हैं।

'तार सप्तक' का प्रकाशन जिस प्रकार ऐतिहासिक महत्त्व रखता है, उसी प्रकार 'प्रतीक' का प्रकाशन भी क्योंकि इससे न केवल प्रयोगवाद के साहित्यिक आन्दोलन का प्रवर्त्तन ही हुआ बल्कि हुआ एक नए वाद-विवाद का सूत्रपात। इस आन्दोलन में भाग लेनेवाली पत्रिकाएँ हुईं—कृति, कल्पना, नई कविता, निकष, आधार, ज्ञानोदय, राष्ट्रवाणी, आलोचना, काव्य-धारा, समवेत और धर्मयुग। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि प्रयोगवाद प्रयोगशील होकर 'नई कविता' में रूपान्तरित होता गया। 'आत्मने पद' में अज्ञेय ने इस अभिधान के प्रयोग का साभिमान उल्लेख किया है। साधारणीकरण के प्रश्न को लेकर एक मनोरंजक विवाद खड़ा किया नन्ददुलारे वाजपेयी ने और इसी विवाद में भाग लेनेवालों ने शास्त्र की अशास्त्रीय व्याख्या में संकोच नहीं किया। 'तार सप्तक' के वक्तव्य आत्म-सिद्धान्त-निरूपक स्थिति के संयोजक हैं। इस आन्दोलन को कुछ वैसा ही विरोध सहन करना पड़ा, जिसके दर्शन छायावाद के प्रवर्त्तन-काल में हुए थे और समर्थन में नई कविता के कवियों ने अपने परशु का आस्फालन आवश्यक समझा। रामस्वरूप चतुर्वेदी, लक्ष्मीकान्त वर्मा, जगदीश गुप्त, धर्मवीर भारती, रघुवंश, श्रीकान्त वर्मा, शिवकुमार मिश्र आदि इसमें उल्लेख्य माने गए हैं। अनेक निबन्धकारों में आत्म-सम्बोधन की स्थिति है और नव यन्त्र-युग की यान्त्रिकता से मुक्त होने का प्रयास भी किन्तु, आत्मसात् करने की वह विपुल क्षमता नहीं जो शुक्ल अथवा अज्ञेय में है। संश्लेषण का अभाव नई शैली की सीमा बन गया।

राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं के सम्बन्ध में जो निबन्ध अथवा लेख प्रकाशित हो रहे हैं उनमें अधिकांश दैनिक और साप्ताहिक-पत्रों की सामग्री है। परिणामस्वरूप जो गाम्भीर्य, विवेचनात्मक दृढ़ता और निर्दिष्टता अपेक्षित है उसका प्रायः अभाव ही मिलता है। दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक निबन्धों की स्थिति भी समान है। अर्थशास्त्र, समाज-शास्त्र, नृ-तत्त्व-विज्ञान-सम्बन्धी निबन्धों की संख्या ही कम नहीं, बल्कि उनके धरातल भी सामान्य हैं। इन विषयों के विद्वानों का मोह हिन्दी के माध्यम से कार्य करने का बाधक है, क्योंकि अंग्रेज़ी को ख्याति का आधार मानने का आग्रह स्वीकृत है। काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका ने पुरातत्त्व, इतिहास, समाज-शास्त्र आदि को हिन्दी के माध्यम से प्रस्तुत करने का जो स्तुत्य प्रयास प्रारम्भ में किया था, उसका निर्वाह सम्प्रति नहीं हो रहा है। मान्य धरातल की पत्रिकाओं के अभाव में विद्वानों को माध्यम नहीं मिल पाता और विकास की यह दिशा कुण्ठित-सी

रही । वैज्ञानिक साहित्य के निबन्धों का अभाव तो संकोच में डालनेवाला है । वैज्ञानिक चेतना के व्यापक प्रभाव-सम्बन्धी निबन्ध मेरे देखने में प्रायः नहीं आए । 'ज्ञानोदय', 'कल्पना' और इन्हीं के प्रकार की पत्रिकाओं में यदा-कदा एक-आध निबन्ध प्रकाशित हो जाते हैं । क्या यह सम्भव नहीं कि हिन्दी के माध्यम से लिखने की क्षमता रखने वाले वैज्ञानिक हिन्दी की समृद्धि में योग देने की सामर्थ्य प्रकट करें ? हिन्दी की संस्थाओं की राजनीति यदि आत्म-मोह त्यागकर ऐसी पत्रिकाओं के प्रकाशन का प्रारम्भ करे, जिनके माध्यम से शास्त्रीय विषयों की विवेचना सम्भव हो सके तो हिन्दी निबन्ध-साहित्य का कल्याण हो । मनोविज्ञान का जो उपयोग निबन्धों में होता है उसमें लेखकों का अपरिपक्व ज्ञान ही परिलक्षित होता है ।[1]

सांस्कृतिक सन्दर्भ-गूढ़ता, ऐतिहासिक अनुबन्धता और अतीत के गुरु गह्वर को आलोकित करने की सजग कल्पना भगवतशरण उपाध्याय के निबन्धों में उपलब्ध है । 'उर्वशी' (दिनकर कृत) की आलोचना में उपाध्याय ने इस ऐतिहासिक चेतना का उपयोग किया और संस्कृत साहित्य के परिचय की संदर्भता का परिचय दिया । ऐसे तो, उपाध्याय ने स्केच और रिपोर्ताज भी लिखे, जिनमें आत्मीयता और परि-कल्पनात्मक-चेतना की अभिव्यक्ति है । सांस्कृतिक चेतना की काव्यात्मक परिणति हजारीप्रसाद द्विवेदी के वैयक्तिक निबन्धों में उपलब्ध है । इनके निबन्धों की कोटियों और वर्गों का निर्धारण सम्भव तो है किन्तु, सरल नहीं क्योंकि सभी पद्धतियों का संश्लेष इनमें मिलेगा । एक साथ ही इनके निबन्ध विचारात्मक, आलोचनात्मक, भावात्मक, वर्णनात्मक, विवरणात्मक और व्यक्तित्वाभिव्यञ्जक भी हैं । द्विवेदी का उन्मुक्त व्यक्तित्व, सहज आत्म-बोध और सचेत कलाकार विशिष्ट प्रकार का संश्लेषण उपस्थित करता है । सांस्कृतिक-बोध के अन्य लेखक हैं—वासुदेव शरण अग्रवाल । आधुनिक समस्याओं के ऐतिहासिक आधारान्वेषण की जो प्रक्रिया प्रसाद ने प्रवर्त्तित की उसका ही सामान्य और धरातलीय संस्पर्श अग्रवाल में है । अग्रवाल व्याख्याता हैं, विवरण को विवेचनात्मक आवरण देने के आग्रही । महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के ऐतिहासिक-पुरातत्त्व-सम्बन्धी परिचयात्मक-विवरणात्मक निबन्धों में अन्वेषण के सूत्र थे । उनका जैन-रूपान्तर मुनि कान्तिसागर की 'खोज की पगडंडियाँ' में है, जिन्होंने इतिहास के जैन-सूत्रों को अनावृत करने का प्रयास किया । समसामयिक इतिहास लेखकों के लिए चिन्तनीय रहा जिसमें राजनीतिक आग्रह प्रकट है ।[2] सम्पूर्णानन्द

१. उत्तर प्रदेश सरकार की हिन्दी समिति ने विभिन्न ज्ञान-विज्ञान-सम्बन्धी कई महत्त्वपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित की हैं । यद्यपि उन्हें निबन्ध की कोटि में परिगणित नहीं किया जा सकता किन्तु, उनकी रचना निबन्धात्मक ही है । 'खाद और उर्वरक' (फूलदेव सहाय वर्मा), 'तारों की दुनिया' (निहाल करण सेठी), 'जीव जगत' (सुरेश सिंह) आदि ग्रन्थ निबन्धात्मक ही माने जाएँगे ।

२. भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में इधर अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं । 'संस्कृति के चार अध्याय' (दिनकर) की रचना-पद्धति निबन्धात्मक है और दिनकर के स्वतन्त्र रूप में लिखे गए निबन्ध संकलित-से हो गए हैं । 'रवीन्द्र' और 'इकबाल' सम्बन्धी विवेचन इस ग्रन्थ की निबन्धात्मक परिणति की सूचना देते हैं । मंगलदेव शास्त्री कृत 'भारतीय संस्कृति' (वैदिक धारा) तो निबन्धों का संकलन है ही ।

कांग्रेसी और समाजवादी हैं और उनके 'भारत और समाजवाद' (ज्ञानोदय) में भारतीय समाजवाद एवं समाजवाद की भारतीय व्याख्या का व्याख्यान है। साहित्य और कला के चिन्तत-क्षेत्र में विभिन्न मान्यताओं की सन्दर्भता ने कुछ निबन्ध दिए, जिसमें उल्लेख्य हैं श्यामसुंदर मिश्र लिखित 'अज्ञेय के काव्य में अस्तित्ववाद' तथा प्रभाकर माचवे लिखित 'साहित्य, सेक्स और स्पष्टवादिता'। कला की मूल प्रेरणा के रूप में 'काम नहीं सुरक्षा' के महत्त्व को प्रतिष्ठित करने वाले रामचन्द्र शुक्ल ने फ्रायडोत्तर मनोविज्ञान के सन्दर्भ में काव्य-प्रेरणा का व्याख्यान किया है। साहित्य की वैयक्तिक निबन्धों की पद्धति में विवेचना की विवेकी राय ने 'शौर्य की मर्माहत घाटियाँ और कवि' में तथा विद्यानिवास मिश्र ने 'भ्रमरानन्द का आंचलिक वक्तव्य' में।

संस्मरणात्मक रेखा-चित्र में व्यक्ति-विशेष को अपने व्यक्तित्व के 'प्रिज़्म' के माध्यम से देखने की चेष्टा है : संस्मरणीय व्यक्तियों के महत्त्व आकलन से अधिक जब पूजन का भाव जग जाता है तो लेखक ही संस्मरणीय हो उठेगा। विविध रंग-चित्रों में जीवन के क्षणों को तूलित करने की चेष्टा बनारसीदास चतुर्वेदी कृत 'रेखा चित्रों' में उपलब्ध है। माखनलाल चतुर्वेदी ने भी 'समय के पाँव' पर माथा टेका और व्यक्ति-विशेष के प्रति अर्पित आत्म-बोध को शिल्पमयीवाणी में अभिचित्रित किया। इन संस्मरणात्मक वृत्तों में कुछ उद्वेलित उत्साह, आन्तरिक संभ्रम, सहमा संकोच और लोक-धारणा की स्वीकृति की आतुरता है। 'मेरी कौन सुनेगा' में महावीर त्यागी के कैमरे को समय-असमय का ध्यान नहीं रहा और उसने अनजाने क्षणों को बाँध रखा है। आत्मीय विनोद, उन्मुक्त आत्म-लघुता-बोध, विनोद का उत्साहमूलक आग्रह, आस्था की बाध्यता इनके निबन्धों में हैं, काश ! राजनीतिक नेताओं में ऐसी साहित्यिक रुचि होती; इनके संस्मरण अधिक आत्मीय और निकटवर्ती हैं, अपने-आपको अनुबन्धित करने के अनावश्यक मोह से मुक्त त्यागी के संस्मरण अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। 'दिनकर' के नेहरू-सम्बन्धी संस्मरण संस्मरणात्मक से अधिक विवृत्तिमूलक हो गए और दिनकर के स्व-सम्मोहन को अभिव्यक्ति मिल गई। जगदीशचन्द्र माथुर की 'दस तसवीरें' की रेखाएँ स्पष्टतया उभरी हुई हैं और चित्रण में गहरी बारीकी है। माथुर ने लघु-चित्रण-शैली को भित्ति-चित्रात्मक व्यापकता देने में सफलता प्राप्त की है। नाटकीयता के परिज्ञान ने इन संस्मरणात्मक निबन्धों को अधिक नाटकीय अतः प्रभावोत्पादक बना दिया है। गद्य और पद्य इन दोनों भाई-बहनों (?) में से किसी एक को बड़ा अथवा किसी दूसरे को छोटा न कर पानेवाले माखनलाल चतुर्वेदी के 'अमीर इरादे, ग़रीब इरादे' में आत्मीयता-बोध के साथ काव्यात्मक भावुकता के संश्लेष मिलते हैं। इनकी शैली भाषणात्मक, कहीं-कहीं स्वगत-कथन सदृश है। काव्यात्मक आग्रह ने संलापात्मकता को किन्तु, परिबद्ध ही किया है। लयात्मक गद्य की तरंगमयता चतुर्वेदी के गद्य-साहित्य का मापदण्ड है, और इसकी सजग ध्वनि नव्य गद्यात्मक नाद का सृजन करती है।

सामान्य को विशेषीकृत कर संस्मरणात्मक रेखा-चित्र अंकित करने की जो क्षमता बेनीपुरी की 'माटी की मूरतें' में प्रकट हुई थी, उसके दर्शन इस कोटि के

निबन्धों में नहीं होते। ऐसे निबन्धों में सहज-बोध की सहजता उपलब्ध नहीं होती, जो बेनीपुरी की क्षमता है। महादेवी के ऐसे संस्मरणात्मक रेखा-चित्रों में संवेदनशीलता की करुणार्द्रता है, उसकी अनुकृति सम्भव नहीं हुई। ऐसे निबन्धों में जहाँ सैद्धान्तिक मोह जगेगा, वहाँ रेखा-चित्र ठूँठ का चित्र हो जाएगा।

'मैं'-त्व का विस्फोट यदि नई कविता है, तो वैयक्तिक कहा जानेवाला निबन्ध-प्रकार उसका गद्य-काव्य। रोमांटिसिज्म का यह नव्य अभियान कहा जा सकता है क्योंकि लघुता को मोहक आवरण देने एवं सामान्य को अति विशिष्ट बनाने का आग्रह इस विधा में उपलब्ध है। यथार्थ को भावुकता-भावात्मकता नहीं, एवं अवबोध को रागात्मक आवेश की चासनी में डुबोकर परोसने का उपक्रम इस कोटि के निबन्धों में होता है। 'क्षण बोले, कण मुसकाये' इस विधा की सूक्ति मानी जा सकती है और इसका सैद्धान्तिक निरूपण है—'अनुभव की सूक्ष्म बारीकी (?) को कल्पना की रंगीनी में आवृत कर शैली में द्रुतशीलता (?) भरने की आकांक्षा। कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' ने भावुकता और यथार्थ में वैवाहिक विधि सम्पन्न करनी चाही है और इस प्रकार माटी हो गई सोना की यथार्थता सिद्ध की जा सकती है। 'प्रभाकर' ने ललित रमणीय निबन्ध, रोचक संस्मरण, व्यञ्जक रेखा-चित्र आदि की रचना की। ऐसा प्रतीत होता है कि यथार्थ की भावुकतामूलक परिणति यथार्थ को कल्पित एवं कल्पित को यथार्थ बनाने के लिए आतुर है। इसी प्रकार 'छितवन की छाँह' में 'कदम्ब की फूली डार' ले 'तुम चन्दन हम पानी' की टेर लगानेवाले विद्यानिवास मिश्र का बनजारा मन आँगन का पंछी हो गया है। इनके निबन्धों में आरोपित रोचकता के साथ रोचक आरोप, कथात्मक चित्रों में विपुल बिम्बता, एवं विवेचन का तथ्यात्मक आग्रह मिलेगा। शब्द-क्रीड़ा को अभिनव सम्मोहन देने की चिन्ता नवीन अर्थ-बोध देने की चेष्टा करेगी जिसकी परिणति हुई सन्दर्भात्मक अनुबन्धता के रूप में।

कथात्मक संदर्भ के आग्रह से संवलित रमणीय निबन्धों के संग्रह 'शिखरों के सेतु' में शिवप्रसादसिंह ने क्वचित् वैचारिक पद्धति से यथार्थ की वाध्यता को सह-भुक्ति की कामना से मण्डित कर, अभाव की कसमसाहट को निर्बन्ध चिन्तन से सजग कर अभिव्यक्त किया है। क्षणों को रूपायित करने के उपक्रम में क्षण अपनी क्षणिकता खो बैठे और उनमें एक विशेष प्रकार की गतिमूलक अगति आ गई।

त्रिशंकु की चिन्ता से ग्रस्त सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन ने कुट्टिचातन का छद्मवेश धारण कर 'सब रंग' के निबन्ध लिखे। 'नदी के द्वीप' की-सी स्थिति कुट्टि-चातन की है, अर्थात् वह प्रवाह-निर्मित होकर भी प्रवाहित नहीं; मिट्टी का होकर भी पृथ्वी से सम्पृक्त नहीं। इन अन्तरंग निबन्धों में अतः आन्तरिक एकालाप, अचेतन चेतनाप्रवाह की अन्तरंगता, व्यञ्जक तथा वक्रतापूर्ण रोचक शैली उपलब्ध होती है। अज्ञेय की चेतना बौद्धिक, आग्रह भावात्मक एवं भावुकता कल्पनामूलक है। तथ्य को सत्य में परिणत करने और यथार्थ को अनुभूतिजन्य संदर्भ देने की विलक्षण प्रतिभा अज्ञेय में है। अनुप्रास की नादात्मक व्यञ्जना को ध्वन्यात्मक बिम्बता देने का आग्रह अज्ञेय में मिलेगा। अज्ञेय में एकाकीपन, आत्म-चिन्ता (जो यदा-कदा आत्म-रति की

सीमा में सहज ही प्रवेश पा जाती है), स्मृति पुनरावर्तन और सांकेतिक चित्रण का प्राचुर्य है, आत्म-मोह-ग्रस्त वैयक्तिकता वास्तविकता से अधिक औपचारिक हो जाती हैं जिसकी व्यक्तिनिष्ठता में तटस्थता का अभाव-सा मिलेगा। दूसरों से अपनी भिन्नता की सिद्धि के लिए अकेलापन आवश्यक साधन है और इसके उपयोग में अज्ञेय हुए कुशल। आत्म-मोह की पीड़ा से सम्पृक्त विश्वनाथ मुखर्जी के 'बना रहे बनारस' में कुछ निकट से लिये गए आत्मीय चित्र हैं, जो केवल व्यक्तिगत उपयोग के लिए ही नहीं रहे।

संस्मरण, रेखा-चित्र, सबीह, कथात्मक निबन्ध, वार्तामूलक संलाप-संभव वैयक्तिक निबन्ध, आन्तरिक एकालाप, स्वगत-भाषण आदि विधियों और रूपों का एकनिष्ठ और निर्दिष्ट उपयोग उपलब्ध नहीं, इनके मिश्रण की विविध शैलियाँ और भंगिमाएँ अवश्य उपलब्ध हैं। भगवतशरण उपाध्याय के 'ठूठा आम' में सूनेपन की चिन्ता और शंका का मोहक आवरण है। इसी प्रकार उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के 'रेखाएँ और चित्र' में संस्मरण, रिपोर्ताज, निबन्ध आदि हैं जिनमें विविधता की रंगीनी और भाषा का चुलबुलापन है।

स्वस्थ परिहास जीवन की सप्राणता का प्रमाण है और आत्म-परिहास की सामर्थ्य स्वस्थ मानसिक विकास का प्रतिफलन। 'मेरी असफलताएँ' में गुलाब राय इस दृष्टि से पूर्ण सफल हो सके हैं। आख्यानगर्भ सन्दर्भ के माध्यम से संकेतात्मक परिहास व्यक्तित्व का व्यञ्जक हो उठता है। अपनी गम्भीरता से संत्रस्त लेखक का यह विनोदात्मक आत्माभिव्यञ्जन उसकी उस चेतना की परिणति है जिसके कारण अपनी गम्भीर मुद्रा स्वयं खलने लगती है और वह 'आफ़त का मारा दार्शनिक' अपनी 'मधुमेही आत्म-कथा' में 'कुछ उथले कुछ गहरे' लिख जाता है।

गम्भीरता के विक्षेप को नाटकीय भंगिमा, संलाप की गति और कथात्मक रोचकता एवं सरसता देने की अभिनव विधा 'एक आलोचक की डायरी' में है। शरद् देवड़ा ने 'धर्म युग' में ऐसी आलोचनाओं, पुस्तकों की परिचयात्मक आलोचनाओं का क्रम चलाया। आलोचक की गम्भीर मुद्रा से संत्रस्त पाठक की दृष्टि में ऐसा प्रयोग व्यञ्जक सिद्ध हुआ। वस्तुतः समाचार पत्रों में प्रकाशित आलोचनाएँ पाठकों से अधिक लेखकों और उनके मित्रों तक ही सीमित रह जाती थीं। देवड़ा ने आलोचना को गरिष्ठ के स्थान में सुपाच्य बनाने का उपक्रम किया। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसके प्रारम्भिक रूप का आभास दिया था किन्तु इस पद्धति को कथा के धरातल पर प्रतिष्ठित करने की आकांक्षा आत्म-प्रक्षेपण की कला का नव्य विन्यास है। कहानी, नयी और पुरानी : एक संस्मरणात्मक पर्यवेक्षण में इलाचन्द्र जोशी ने व्यक्तिव्यंजकत्व के माध्यम से मान्यताओं का स्पष्टीकरण किया।

सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक व्यवस्था पर गहरे आघात की उत्कण्ठा 'बकलम खुद' में बोलती है जिसमें नामवरसिंह ने वैयक्तिकता को निर्वैयक्तिकता के साँचे में ढालने की चेष्ट की है। इनके निबन्धों में सचेष्ट लापरवाही, गपशप में सुकराती संयोजन, गुदगुदी में तिलमिलाहट की मिलावट मिलेगी। यूँ तो, 'बकलम खुद'

की संज्ञा यह सूचित करती है कि यह मुहर है और हजारीप्रसाद द्विवेदी की पद्धति में नए विषयों और अपनी विचार-धारा के अनुरूप निरूपण का प्रवेश। साधारणतया बेकाम की बात से प्रारम्भ कर गुरु-गम्भीर विषय को कंठ के नीचे उतरने योग्य बनाने की कला ही वैयक्तिक निबन्धों की प्राण है, इस कला के आचार्य हैं द्विवेदी। द्विवेदी के उन्मुक्त हास्य की मुद्रा को लापरवाही, रोचक और रमणीय संलाप की क्षमता को सुकराती भंगिमा देकर लेखक 'बकलम खुद' में उतरता है। राम विलास शर्मा के 'विराम चिह्न' और प्रभाकर माचवे की 'खरगोश की सींग' से भिन्न कृष्णदेव प्रसाद बेढब का 'हुक्का-पानी' है जिसके चलने की चलनमें सामाजिकता का मूल्य बोध है। बेढ़वजी के व्यंग्य कभी-कभी रीतिकाल के कवियों के स्मरण दिलाते हैं जिनमें हास्य की अपेक्षा हँसोड़पन है, व्यंग्य के स्थान में चोट है और परिहास के स्थान में कचोट है; रुचि-संस्कार की भिन्नता के कारण सम्भावनाओं की सम्भावित दिशा परिर्वातत हो गई।

यात्राओं के रोचक संस्मरणों में 'यादें यूरप की' का सहज स्मरण हो जाता है जिनमें धर्मवीर भारती ने आत्मीयता का परिचय और परिचयात्मक आत्मीयता का संयोजन किया। इस विद्या को लोक-प्रिय करने का श्रेय 'ज्ञानोदय' एवं 'भारतीय ज्ञानपीठ को मिलना चाहिए। सृजनात्मक गद्य के त्रैमासिक प्रकाशन 'विधा' ने भी 'विधा-विविधा' के अन्तर्गत 'डायरी', 'पत्र', संस्मरण, रिपोर्ताज, ललित और रमणीय निबन्ध की विविध विधाओं को स्फूर्ति और प्रेरणा दी। 'रेणु' और इलाचन्द्र जोशी की कुछ बहुर्चाचत रचनाएँ इसके माध्यम से प्रकाश में आई। 'आधार', 'कृति', 'वातायन' को विस्मृत करना भूल है। वालकृष्ण 'राव' सम्पादित 'माध्यम' निबन्ध-विधा की कल्पित-अकल्पित विधाओं के प्रकाशन में योग दे रहा है, और साहित्य की नव्य चेतना इन माध्यमों से आ रही है। कुछ ऐसा प्रतीत होने लगा है कि छायावाद के आन्दोलन के पश्चात् नव सौंदर्यनाद ने अपने मूल्यों और मान्यताओं के लिए माध्यम उपलब्ध कर लिया है।

स्वातंत्र्योत्तर साहित्य के अन्तरंग में भारतीय स्वतंत्रता की उपलब्धियाँ और विफलताएँ हैं। स्वतंत्रता ने उन आकांक्षाओं, आशाओं और स्वप्नों को रूपायित करने में अपनी अक्षमता प्रकट की जिनकी सजग कल्पना ने उल्लास और सप्राण चेतना दी थी। भारतीय आत्मा उद्वेलित हुई और साहित्यकार की आस्था विचलित होने लगी; आशा का उन्माद श्लथ-शिथिल हुआ। मूल्य-चेतना की व्यापक परिणति दैन्य के आक्रोश में हुई। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् प्रशासकीय नियंत्रण ने परोक्ष सत्तात्मक रूप ग्रहण किया। आकाशवाणी ने जहाँ प्रचार और प्रसार को व्यापकता दी, वहाँ उसकी सीमाओं ने व्याप्ति मर्यादित की। साहित्यकारों का संरक्षण नव्य चारण-युग की आशंका उत्पन्न करने लगा। आधुनिककाल के प्रारम्भ में जो स्वच्छन्द उल्लास, जो मादक उन्मुक्तता और निश्छल उन्मुक्तता थी, उनका चिन्तासंकुल अभाव स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् दीख पड़ने लगा। अतीत का मोहक वातावरण वर्तमान के अभावात्मक परिवेश में विच्छिन्न हो उठा। यन्त्र-युग का वैज्ञानिक संस्कार हमें बौद्धिक चेतना देने में असमर्थ और पंगु रहा, मात्र-यांत्रिकता के पाश में हम आबद्ध होते गए। वर्तमान

की आशंका, अनिश्चितता और यांत्रिकता के कारण भविष्य की आशा हमें आस्थावान् न कर सकी। भविष्य की छायाभास आशा वर्तमान को गिरवी न रख सकी और जड़-यांत्रिकता में हमारी प्रगति-कामना योजना-बद्ध अतः शिथिल-सी हो गई। समाजानुबन्धित व्यक्ति में वैयक्तिकता का सहज बोध सचेत न हो सका। स्वतन्त्रता नव्यता का उन्मेष न होकर विगत का विस्तार मात्र सिद्ध हुई। साहित्यकार स्वतन्त्र-चेता न होकर मसिजीवी रह गया। व्यक्तिगत रूप से मैं इस स्थिति से हताश नहीं। किन्तु, सम्भावनाओं के पूर्ण प्रतिफलन की आशा-किरण से उद्दीप्त भी नहीं। द्विधा-ग्रस्त भारतीय आत्मा का अभिषेक निष्ठा के मंगल-घट से नहीं हो सका और हो उठा हमारा समसामयिकता-बोध हमारी कुँठा का प्राणायाम। आन्दोलनों में स्पंदित होनेवाला जीवन-दर्शन आंदोलित न हो सका और समस्याएँ समाधान की चिन्ता-से विच्छिन्न समस्याएँ रह गईं; अभाव चेतना को सजग करने के स्थान में अभावात्मक मात्र रह गए। उल्लास आरोपित है, सजगता प्रक्षेपित है, वैयक्तिकता संकुचित और वैयक्तिकताहीन है, व्यक्तित्व सहमा हुआ है, आत्म-बोध मर्यादित है, उन्मुक्त नहीं और चेतना हो गई है आवर्त्त-बद्ध। साहित्यिक प्रगति का अवरोध भारतीय जीवन के गतिरोध का आकुल प्रतीक है।

हिन्दी का एक दुर्भाग्यपूर्ण दुर्योग आधुनिक काल के प्रारम्भ में ही घटित हो गया। साहित्यिक कण्ठ फूटने के पूर्व ही इसका राजनीति के साथ विनियोग हो गया और इस नियोग ने तेजस्वी सन्तान नहीं दी। बोध-ग्रस्त पश्चिम की चकाचौंध ने हमें चमत्कृत किया और हमारी चेतना अनुकृति-लक्ष्य हो उठी। आध्यात्मिकता के भारतीय उन्मादी जीवन के कर्कश धरातल पर खड़े न रह सके। दर्शन दर्शनीकरण का व्यामोह बन गया; गतिमूलक जीवन का प्राणवंत जीवन-दर्शन न हो सका। और आए जैनेन्द्र के वे निबन्ध जिनमें दार्शनिकों की वह वट वक्र शैली आई जिसकी झोली निराला-चित्रित भिक्षुक की झोली से भी अधिक फटी हुई थी। गांधीवाद हमारा 'लेबुल' हुआ, हमारी समन्वय साधना का 'साफल्य' न हो सका। 'श्रेय और प्रेय' की चिन्ता चेतना को सप्राण करने में असफल रही। 'समय और मैं' का बोध समसामयिकता बोध का परिहास हो गया। साहित्य संस्कार न होकर शीलाभास रह गया। हिन्दी क्षेत्रों के दुर्भाग्य से किसी प्रौढ़ चिन्तक और निश्छल विचारक ने हिन्दी के माध्यम से वैसा कुछ नहीं दिया जिसे दार्शनिक अनुबन्ध में स्वीकार किया जा सके। आज का दर्शन विज्ञान की अन्तःसलिला चेतना से समन्वित और समृद्ध होगा किन्तु, भारत में विज्ञान के अध्यापक और छात्र हैं, वैज्ञानिक नहीं, उनमें वैज्ञानिक संचरण के युग-संस्कार नहीं। विश्वविद्यालय फैक्टरियाँ हैं, प्रयोगशाला तक नहीं। अन्ततोगत्वा जीवन-दर्शन का अन्वेषण उपाधिकामी परीक्षार्थियों और शोध-कर्त्ताओं के लिए लोकप्रिय विषय बन गया। गांधी दर्शन को आत्मसात् कर प्रौढ़ चिन्ता-धारा के रूप में अभिव्यक्त करने की क्षमता रखनेवाले जैनेन्द्र गुत्थियों के सुलझाने में उलझे रहे और माखनलाल चतुर्वेदी जीवन की लयात्मकता के अन्वेषण में संलग्न न हो, गद्य को लयात्मक, काव्याभास बनाने में प्रयत्नशील, अतः गद्यात्मक काव्य रचने के मोह में आबद्ध। राजनीतिक

प्रभाव ने नेताओं और इस चेतना से सम्बद्ध व्यक्तियों के रेखा-चित्र, संस्मरणात्मक विकृतियाँ दीं किन्तु, इनमें भी लेखकों का विचलित अहं स्खलित हुआ। संस्मरण-लेखक गीतिकार की भाँति क्षणों को बाँधने का प्रयास करता है, उन्हें अनुबन्धता देने की कामना पालता है, किन्तु उसका लयात्मक बोध विराट् के स्पन्दन का योग-क्षेम नहीं। ऐसी रचनाएँ मूर्त्ति-पूजा की शब्द-भित्ति हैं, और उनमें आत्म-हीनता का अवबोध व्यापक फलक प्राप्त कर लेता है। महत् में निजत्व के संयोजन का व्यापार इसके लेखक की पूंजी है। शब्द-चित्रों में व्यक्तित्व को आँकने, रूपायित करने के स्थान में स्व-संदर्भता का मोहक राग बिखर जाता हैं, महत् की महनीयता में स्व-योग का आत्म-मोह प्रासंगिक संदर्भ खो बैठता है। और, हम रहे हैं मूर्त्ति-पूजक; पत्थर के अनगढ़ टुकड़ों को प्रतिमा का मान देनेवाले पुजारी। मूर्त्ति-पूजा आत्म-पूजा का जब सुयोग घटित कर दे तो, अहं की तुष्टि को एक दिशा मिल जाती है।

निबन्ध-साहित्य की समग्रता के दर्शन की अखण्ड समग्रता का व्यामोह मुझ में नहीं और न तो इसके मूल्यांकन का अतर्क्य आग्रह ही। आकांक्षा और आपूर्त्ति का अन्तराल अभाव-बोध का अनुमापक है। 'हम संक्रान्ति काल के प्राणी बदा नहीं सुख भोग' की चिन्ता से आकुल द्विधा-ग्रस्त भारतीय जीवन चिन्तन-प्रधान न हो चिन्ता-शील हो उठा है, अतः वैयक्तिकता द्विधा-ग्रस्त है, चिन्तन चिन्ता-प्रधान है, पाण्डित्य विमोहित और चेतना कुंठित है। भौतिक जीवन में पश्चिम का अनुकरण और अनुग-मन नव्य अनुकृतिवाद का संयोजक हो गया; राजनीतिक स्वतन्त्रता मानसिक मुक्ति की प्रतीक बनने में असमर्थ रही; आध्यात्मिकता आरोपित जिज्ञासा ही बनी रही। प्रौढ़ जीवन-दर्शन के अभाव में दर्शन दार्शनिक अनुबन्धन एवं वक्रोक्ति-भंगिमा बन गया किन्तु, इसमें नैराश्य का आकुल क्रन्दन नहीं, मानवता के हर्षोल्लास की आलोक-मय प्रतीकात्मकता भी है। प्रतीकात्मक बिम्बता के स्थान में बिम्बात्मक प्रतीका-त्मकता का संयोजन उस नव्य संचरण का संदेशवाहक है जिसमें स्थूल सुख-बोध से ऊपर उठकर सूक्ष्म भाव-बोध की अन्तरंगता से सप्राण आनन्दवाद की प्रतिष्ठा होगी। हम विषपायी होकर शंकर को शिवत्व की साधना में अनुप्राणित करेंगे। निबन्ध-साहित्य का भावी विकास हिन्दी साहित्य की उपलब्धियों का अनुमापक मापदण्ड और मानदण्ड भी होगा।

—मन्मथनाथ गुप्त

स्वतन्त्रता के बाद का हिन्दी बाल-साहित्य

वर्तमान युग के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि इसमें एक ओर बूढ़ों की कद्र पर बट्टा लगता जा रहा है और दूसरी ओर बच्चों की कद्र दिन-दूनी रात चौगुनी बढ़ती जा रही है। बच्चों की कद्र बढ़ती जा रही है, उसी का एक परिणाम यह है कि अब चिन्तक बाल-साहित्य के फलने-फूलने के सम्बन्ध में चिन्तन करने लगे हैं। यह चिन्तन और भी जरूरी इसलिए हो गया है कि पहले माँ-बाप नहीं तो दादा-दादी बच्चों के लिए समय निकालते थे और उन्हें सोते समय पास खींचकर लोरियाँ और कहानियाँ सुनाते थे, पर अब किसी को समय नहीं मिलता। नतीजा यह है कि बच्चों को अपनी मदद आप करनी पड़ती है यानी पुस्तकों से कहानियाँ और लोरियाँ पढ़नी पड़ती हैं या रेडियो को नानी या दादी का आसन देना पड़ता है। अफसोस है कि कम-से-कम हमारे देश में दादी और नानी का स्थान अच्छी तरह कोई नहीं ले सका है; नतीजा यह है कि अगली पुश्त, जो भी खुराक उसे मिल जाए, उसी पर पल रही है।

पहले के युगों में बाल-साहित्य का कोई अलग अस्तित्व नहीं था। भले ही कोई साहित्य परिस्थितिवश बाल-साहित्य बन गया हो, पर बाल साहित्य करके कोई स्वीकृत विधा नहीं थी। अस्तित्व हो भी नहीं सकता था, क्योंकि जब पढ़े लिखों की संख्या कम थी तो साहित्य के जरिए बच्चों के मनोरंजन का कोई प्रश्न नहीं उठता था। भारत में ले-देकर केवल पंचतन्त्र या हितोपदेश को ही प्राचीन बाल-साहित्य कहा जा सकता है। यह प्राचीन तथा एकमात्र बाल-साहित्य है, पर इसलिए यह घटिया हो, ऐसी बात नहीं। सच तो यह है कि पंचतन्त्र और हितोपदेश के मुकाबले का बाल-साहित्य उसके बाद केवल भारत में ही नहीं, कहीं भी लिखा नहीं गया। मजे की बात यह है कि अब विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि राजा के बेटों को नीति की शिक्षा देने के लिए विष्णु शर्मा ने जिन कहानियों का ताना-बाना सैकड़ों वर्ष पहले फैलाया था, अब उनमें बाल-साहित्य के सब नहीं तो अधिकांश अच्छे-से-अच्छे उपादान प्राप्त हो सकते हैं। विष्णु शर्मा को इस रहस्य का पता था कि बोलते हुए जानवर बाल-मन के लिए एक रोमांटिक अपील रखते हैं, इसके अलावा वह जानते थे कि बच्चे नीति से भी नहीं घबराते, बशर्ते कि वह नीति मनोरंजन के स्वर्णपात्र में उँडेल कर परोसी जाए। असली बात है मनोरंजन।

बाल-साहित्य के सम्बन्ध में उद्देश्यपरकता का झगड़ा उठाया जा सकता है और उठाया गया है कि बाल-साहित्य का क्या उद्देश्य है, उद्देश्य होना भी चाहिए या

कुछ नहीं ? लोगों का कहना है कि बाल-साहित्य का उद्देश्य केवल बालक या बालिका के ध्यान को अपनी तरफ आकृष्ट किए रहना है, बाकी उसका कोई उद्देश्य नहीं है। इस मत का अतिरेक हम कामिक टाइप के साहित्य में देख सकते हैं जिसमें भयानक किस्म की कहानियाँ कही जाती हैं जिन्हें पढ़कर रोंगटे खड़े हो जाते हैं या पाठक को परियों के देश में ले जाया जाता है, जहाँ न तो मनोविज्ञान बाधक है और न कार्य-कारण की कड़ी की कोई आवश्यकता है। पात्र बात की बात में चाँद की सैर को पहुँच जाता है और जो गुत्थियाँ पैदा होती हैं वे यों चुटकी बजा कर सुलझा दी जाती हैं। कहीं उड़नखटोले का बोलबाला रहता है, तो कहीं अलादीन का चिराग है, कल्पना बिल्कुल बेलगाम होती है।

इस प्रकार के कल्पना-प्रधान साहित्य में बच्चे का मन आसानी से बहल जाता है, इस मेल के प्राचीन या मध्ययुगीन साहित्य में और कामिक साहित्य में फर्क यह है कि पहले का साहित्य बहुत कुछ निर्दोष कल्पना-विलास मात्र होता था, जब कि कामिक साहित्य में पाठक को वास्तविकता के बहुत पास रख कर उसके मन में सीधे-सीधे या घुमाव के साथ ऐसे सुझाव पहुँचाए जाते हैं या पहुँचते रहते हैं जिन्हें वह अपने रोजमर्रे के जीवन में व्यावहारिक रूप से देखना या करना चाहता है। शिक्षक या अभिभावक से नहीं बनती, तो सोते में उनके सिर पर हथौड़ा मार दो, इस प्रकार के सुझाव कई बार खतरनाक स्थिति उत्पन्न कर चुके हैं। कई बार अदालतों में यह प्रमाणित हो चुका है कि इस प्रकार के साहित्य पढ़ने से ही लड़का अपराधी बन गया। अलादीन के चिराग में असम्भवता है, पर जब तक वह चिराग मिल नहीं जाता तब तक पाठक केवल अलादीन से ईर्ष्या ही कर सकता है, उससे उसके सामने कोई बना-बनाया समाधान नहीं आता जिससे वह शिक्षिक या अभिभावक के विरुद्ध अपनी कुण्ठा या क्रोध कार्य-रूप में परिणत करे।

इस प्रकार पंचतन्त्र और हितोपदेश के संदर्भ में यह प्रश्न स्वतः उठ खड़ा होता है और विष्णु शर्मा के मन में यह प्रश्न रहा होगा कि कैसी कहानियाँ राजा के बेटों को परोसी जाएँ, बल्कि विष्णु शर्मा से पहले राजा के मन में यह प्रश्न उठा होगा, तभी उसने विष्णु शर्मा को एक कमीशन या मिशन देकर नियुक्त किया। वह कमीशन या मिशन क्या था ? वह यह था कि राजा के बेटे इस प्रकार से तैयार हो जाएँ कि वे अच्छे राजा और नागरिक बन सकें। इस तरह हम देखते हैं कि पंचतन्त्र और हितोपदेश के जमाने में ही बाल-साहित्य का क्या उद्देश्य हो, इस सम्बन्ध में बिना दन्त-कटाकटी के ही एक उपसंहार पर अभिभावक और शिक्षक पहुँच चुके थे। वह उपसंहार यह था, जैसा कि उनकी कहानियों से ज्ञात होता है, कि बच्चों को नीति की शिक्षा देनी चाहिए, पर साथ ही उन्हें व्यवहारिक जगत की तरफ से सावधान भी कर देना चाहिए।

राजा शुद्धोदन ने अपने बेटे सिद्धार्थ को शिक्षा देते समय उसकी आँखों के सामने से जीवन की वास्तविकताओं को सर्वथा हटा देना चाहा था, क्योंकि उन्हें डर था कि लड़के को यदि पूरी वास्तविकता ज्ञात हो जाएगी तो वह सांसारिक बातों से

टूट जाएगा। इसलिए उन्होंने लड़के के सामने रोग, बुढ़ापा, मृत्यु आदि अत्यन्त साधारण वास्तविकताओं को भी आने नहीं दिया। पर उसका नतीजा क्या हुआ? उसका नतीजा यह हुआ कि बालक का मन अत्यन्त अनुभूतिशील हो गया। जिन दृश्यों को देखकर साधारण बालक या नवयुवक बिल्कुल विचलित नहीं होता, यहाँ तक कि वे दृश्य शायद उसके मन पर कोई रेखा या छाया भी नहीं डाल पाते, उन्हीं दृश्यों से उत्तेजित होकर सिद्धार्थ ने गृहस्थी छोड़ने का इरादा कर लिया।

पर विष्णु शर्मा ने यह गलती नहीं की थी। उनकी कहानियों में वास्तविकता पर राख डाल कर उसके फन या फुफकार को छिपाने का कोई प्रयास नहीं है, वास्तविकताएँ कई बार भ्रान्तिभंगकारी ढंग से सामने आती हैं, फिर भी नीति की शिक्षा अंततोगत्वा दी ही जाती हैं।

अब यहाँ हम एक बहुत बड़े मौलिक प्रश्न की चट्टान से आकर टकराते हैं, वह यह कि नीति या सदाचार क्या है? हर राज्य पद्धति और समाज का अपना ठप्पावाला एक सदाचार होता है। शिक्षा पद्धति के द्वारा उसी सदाचार को छात्रों और छात्राओं के मन में उतारा जाता है, कभी आहिस्तगी से और कभी बड़े ज़ोर-शोर के साथ। बाल-साहित्य साहित्य होने के कारण इस झमेले से अपने को बचा नहीं सकता, उदाहरणस्वरूप विष्णु शर्मा ऐसी नीति का पाठ नहीं दे सकते थे, जिसमें राजा का अस्तित्व ही अस्वीकार कर दिया गया हो, इसी कारण उनकी कहानियों में पशुओं में भी बराबर राजा-प्रजा का भेद बना रहता है। यह मान लिया गया है कि राजा का अस्तित्व एक ऐसा नींव का पत्थर है, जिसे हिलाने का अर्थ यह होगा कि सारा समाज हिल गया।

इस सम्बन्ध में ब्यौरे में जाने की जरूरत नहीं है, पर पंचतन्त्र और हितोपदेश के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि वे नीति का प्रतिपादन करते हैं, पर ऐसी नीति जो शासक समुदाय को मंजूर हो। यहाँ हम इस पचड़े में नहीं पड़ेंगे कि यह नीति कैसी है, इसके विरुद्ध नीति हो सकती है या नहीं, हम केवल इतना ही दिखाकर आगे बढ़ जाएँगे कि पंचतन्त्र और हितोपदेश जिसे हम आसानी से प्रथम बाल-साहित्य कह सकते हैं, कम-से-कम भारत का, वह विचारधारा के झगड़े से मुक्त नहीं है।

पंचतन्त्र के हिन्दी में बहुत से संस्करण निकले हैं। प्रकाशन विभाग ने पूरे पंचतन्त्र को अलग-अलग और दो खण्डों में विष्णु प्रभाकर द्वारा प्रस्तुत कराकर 'सरल पंचतन्त्र' प्रकाशित किया है। पंचतन्त्र सम्बन्धी प्रकाशन बहुत सफल रहे हैं यह इसी से प्रमाणित है कि थोड़े ही दिनों में कई संस्करण हो चुके हैं। इन पुस्तकों की विशेषता यह है कि इनमें मूल का अनुसरण किया गया है। राजकमल प्रकाशन ने 'पंचतन्त्र की कहानियाँ' नाम से इसे तीन भागों में प्रकाशित किया है। यह बहुत छोटे बच्चों के लिए रचित है। इसी तरह 'बाल पंचतन्त्र' नाम से भी एक अलग पुस्तक प्रकाशित की गई है। इन चारों की संकलनकर्त्री शकुन्तला देवी हैं। धर्मपाल शास्त्री ने भी 'सरल हितोपदेश' नाम से पंचतन्त्र की आठ कहानियाँ छोटे बच्चों के लिए प्रस्तुत की हैं। सावित्री देवी वर्मा ने भी 'कथा कहानी' नाम से पंचतन्त्र की कुछ कथाएँ अपने

ढंग से लिखी हैं।

सारा पौराणिक साहित्य, जिसमें रामायण-महाभारत और जातक कथाओं को लिया जा सकता है, बाल-साहित्य का बहुत सुन्दर सोता है। आधुनिक भारतीय भाषाओं के बाल-साहित्य में पौराणिक साहित्य के गद्य में लिखे हुए छोटे-बड़े सचित्र और चित्रमय संस्करणों का होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। महाभारण, रामायण तथा जातक आदि में बाल-साहित्य के सारे उपादान मौजूद हैं। बालक लड़ाई-भिड़ाई का वर्णन बहुत पसन्द करते हैं और पुराण लड़ाइयों से भरे पड़े हैं। इन लड़ाइयों को चूँकि एक नैतिक आधार दिया गया है, इसलिए वे बहुत ही दिलचस्प हो गई हैं और उनसे कोई उकताता नहीं।

लड़ाइयों के अतिरिक्त पुराणों में एक आकर्षण यह भी है कि नायक का साबका तरह-तरह की लौकिक और अलौकिक विपत्तियों से पड़ता है। बन्दर, राक्षस, दैत्य, गंधर्व, किन्नर जाने किन-किन से मुठभेड़ होती है। इसके अलावा स्त्रियों का हरण आदि उपादान के साथ-साथ दमयन्ती, सीता, सावित्री ऐसी स्त्रियाँ भी आती हैं जो आदर्श माँ तथा बड़े बच्चों के लिए धुँधली प्रेमिका की भूख को तृप्त करती हैं। पुराणों के रूप में हमारे पास ऐसा जखीरा है जो कभी चुक नहीं सकता और हर पुश्त के लेखक नए सिरे से उनका संस्करण प्रस्तुत कर सकते हैं। इसी प्रकार चित्रकारों के लिए भी यह एक ऐसा संसार है, जिसमें से वे चाहे जो कुछ निकाल कर अपना जौहर दिखाकर अपनी कला में चार चाँद लगा सकते हैं।

यों तो हिन्दू व्यवहार में काफ़ी कट्टर हैं, पर मुसलमानों के मुकाबले में बहुत उदार हैं। यहाँ यह डर नहीं है कि राम का चित्र बना दिया तो गोली खाने की नौबत आ जाए जैसा कि बंगाल के एक प्रकाशक को हुआ था, यद्यपि उस बेचारे ने हालैण्ड में प्राप्त मुहम्मद का एक पुराना चित्र छापा था। राम-रावण, पाण्डव-कौरव के चाहे आप जितने और जैसे भी भौंडे चित्र बनाएँ, कोई आपकी कूँची या कलम पकड़ने वाला नहीं है और न इस पर कोई बोलने वाला है कि आप प्राचीन कथा से हटकर राम से रावण को और पाण्डवों से कौरवों को क्यों अधिक महत्व दे रहे हैं। यह परिस्थिति पौराणिक आधारयुक्त बाल-साहित्य के सृजन के लिए बहुत ही उपयुक्त है, क्योंकि लेखक को बनी बनाई परखी हुई, व्यक्ति-व्यक्ति के अवचेतन में बसी और जड़ जमाई हुई कहानी का सहारा मिल जाता है, जिसका अर्थ यह होता है कि आधा किला तो यों ही फतह हो गया, आगे लेखक की भाषा-शैली और चित्रकार की कला जो कुछ भी जादू पैदा कर ले।

चित्रकार की अहमियत

यहाँ यह बता दिया जाए कि बाल-साहित्य में चित्रकारी न केवल सहायक विधा है, बल्कि यह अपरिहार्य है। इस तथ्य को हमारे प्रकाशक जितना जल्दी समझ लें, उतना ही भला है। चित्रकला के साथ-साथ फोटोग्राफ़ी भी उपयोगी है, विशेषकर जहाँ कहानियों से हटकर विज्ञान और तकनीकी से सम्बन्धित पुस्तकों का सम्बन्ध है।

बाल-साहित्य में चित्रकार का स्थान पाठक के वयवर्ग के अनुसार होता है। अभी-अभी जिन बच्चों ने पढ़ना सीखा हैं यानी चार से सात साल के बच्चों के लिए जो साहित्य होगा, उसमें निश्चित रूप से चित्र का पलड़ा भारी होना चाहिए और लेखन का पलड़ा अपेक्षाकृत हलका होगा। इसका अर्थ हिन्दी के कुछ लोगों ने यह लिया है कि चाहे जैसी स्क्रिप्ट चल सकती है, पर यह उनकी बहुत बड़ी भूल है। अभी-अभी बच्चे की रुचि विकसित हो रही है, इसलिए उसे भोजन देने में जितनी सावधानी बरती जाती है या बरती जानी चाहिए, उससे कहीं अधिक सावधानी उसे मानसिक भोजन देने में बरतना चाहिए। चित्र अच्छे-से-अच्छे होने चाहिएँ, एक कलाकार ही एक प्रकाशन की सारी पुस्तकों के चित्र बनाए, यह भी नहीं होना चाहिए, क्योंकि औसत कलाकार की एक सीमा होती है, जिसके बाहर वह जा नहीं सकता। स्क्रिप्ट के सम्बन्ध में भी उतनी ही सावधानी जरूरी है, क्योंकि ध्वनियों और भाषा के प्रतीकों का ऐसा असर पड़ना चाहिए कि बच्चे को उसमें अधिक-से-अधिक रस आए।

यहाँ इस दिशा में कुछ बहुत ही प्रासंगिक बातें बता दी जाएँ जो शायद कुछ हद तक अप्रासंगिक लगें। हिन्दी का क्षेत्र यानी खड़ी बोली का क्षेत्र बहुत फैला हुआ है, इससे बाल-साहित्यकार के सामने एक प्रश्न फन उठाकर खड़ा हो जाता है। वह इसलिए कि सारे हिन्दी क्षेत्र में एक ही लोरियाँ तथा एक ही तरह की भाषा में बताई हुई कहानियों का एक ही सेट चालू नहीं है। यहाँ तक कि हम भारतीयों में जो सबसे बड़ा अखिल क्षेत्रीय एका है यानी धार्मिक अनुष्ठानों आदि का एका, उसका भी रूप, ओवरटोन, अण्डरटोन सब अलग-अलग हैं। धार्मिक त्योहारों का महत्व भी हिन्दी क्षेत्र में एक-सा नहीं है। दुर्गापूजा को ही लीजिए, बिहार में मूर्तियाँ बनाकर दुर्गापूजा होती है, इस मामले में बिहारी बच्चे की अनुभूतियाँ बंगाली, आसामी, उड़िया आदि से ज्यादा मिलती हैं और उत्तर प्रदेश, राजस्थान आदि से कम। स्वाभाविक रूप से इस फर्क के कारण जिन आधारों पर बाल-साहित्य की इमारत खड़ी हो सकती है या जिन सोतों से बाल-साहित्य की जड़ों में खुराक पहुँच सकती है, उनके भिन्न होने के कारण बाल-साहित्य का निर्माण भी भिन्न होना चाहिए। कुछ हद तक तो भिन्न होगा ही।

पौराणिक साहित्य

पुराण तथा पौराणिक साहित्य बाल-साहित्य का बहुत अच्छा कभी न सूखने वाला सोता है। यह समझने की जरूरत नहीं है कि चूँकि किसी ने पहले रामायण या महाभारत के उपाख्यानों को हिन्दी में लिखा है, इसलिए उस ओर प्रयास करने की जरूरत नहीं है। परिस्थिति तो यह है कि इन उपाख्यानों का कोई ऐसा बाल-संस्करण हिन्दी में नहीं प्रकाशित हो सका जिसके सम्बन्ध में यह कहा जा सके कि यह एक मानकीकृत संस्करण है और इस दिशा में और प्रयास करने की जरूरत नहीं है। स्वतन्त्रता के पहले और उसके बाद पुराणों पर आधारित जो बाल-साहित्य निकला है, उसे देखते हुए अभी बहुत से लेखकों तथा चित्रकारों को इस ओर प्रयास करने की गुंजाइश है।

आत्माराम ने कुछ पौराणिक कहानियों का चित्रमय संस्करण प्रकाशित किया है और ये सारी पुस्तकें स्वतन्त्रता के बाद प्रकाशित हुई हैं, पर न तो इनके चित्र खास अच्छे हैं और न इनकी स्क्रिप्ट।

यह आश्चर्य की बात है कि हमारी सबसे बहुमूल्य थाती और बाल-साहित्य के आकार महाभारत और रामायण के कोई सुन्दर बालोचित संस्करण प्रकाशित नहीं हुए। प्राणनाथ वानप्रस्थी का 'सरल महाभारत' और सत्यकाम विद्यालंकार की 'सरल रामायण' इस शून्यता की पूर्ति नहीं करते। मजे में कम-से-कम दो से लेकर ढाई सौ पृष्ठों के संस्करण प्रकाशित हो सकते थे।

पुराणों की जनप्रियता देखते हुए जगन्नाथप्रसाद मिश्र ने पौराणिक व्यक्तियों की अलग-अलग जीवनी लिखने का जो क्रम चलाया है, उसका हम स्वागत करते हैं। इस माला में व्यास, विश्वामित्र, अगस्त्य और दुर्वासा की जीवनियाँ प्रकाशित हुई हैं। चित्र और शैली, दोनों दृष्टियों से पुस्तकें सराहनीय हैं।

पौराणिक व्यक्तियों को लेकर अन्य कई पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं जैसे प्राणनाथ वानप्रस्थी का 'श्रीकृष्ण', 'भारत के महान ऋषि', और 'वीर हनुमान'। उन्हीं की अन्य कृतियाँ 'आदर्श बालक' और 'आदर्श देवियाँ', जिनमें पुराणों के वीरों और देवियों का वर्णन है, पर शायद जगह भरने के लिए पुराणों के वीरों में हकीकतराय और देवियों में मीरा को स्थान दिया गया है जो भ्रामक है। 'भारत के महान ऋषियों' पुस्तक में भी इसी प्रकार पौराणिक और ऐतिहासिक व्यक्तियों को मिलाया गया है।

लोक कथाओं का दोहन

स्वाभाविक रूप से बच्चों की कहानी सम्बन्धी भूख को परितृप्त करने के लिए हमारे प्रकाशकों ने लोककथाओं का खूब दोहन किया है, पर यह दोहन अक्सर भोंडा हुआ है। लोककथाओं को परोसने का एक तरीका तो वह है कि जैसे वे गाँव में दादा-दादी, नाना-नानी के मुँह से सुनी जाती हैं, वैसे हूबहू उनका रेकार्ड प्रस्तुत करना।

योरप में लोक-कथाओं को बहुत अधिक महत्व दिया गया है। प्रथम लोक-कथाएँ ग्रिम-बन्धु, ऐसब्योरनसेन और मोए (Moe)के द्वारा संग्रहीत हुए। इन लोगों ने सीधे-सीधे सोते से लोक-कथाओं का संग्रह किया। उनकी दृष्टि केवल कहानी पर नहीं थी बल्कि जिस प्रकार से कथा कही जाती थी, हूबहू उसी प्रकार से उसे लिपिबद्ध कर लिया जाता था। इस क्षेत्र में जोसेफ जैकोब्स ने भी अच्छा काम किया, फिर बाद को अन्य और बहुत से लोगों ने लोक-कथाओं के क्षेत्र में काम किया जैसे डबल डे ने अफ्रीकी कहानियों, ई० एम० अलमेडिंगेन ने रूसी लोक-कथाओं, लेसली बोनेट ने चीनी लोक-कथाओं, मोरेस और पामेला माइकेल ने जर्मन लोक-कथाओं, रोला गा ने फ्रेंच लोक-कथाओं के क्षेत्र में काम किया। भारत में भी अंग्रेज़ी भाषा में भारतीय लोक-कथाओं पर कई लोगों ने अच्छे काम किए बल्कि भारतीय भाषाओं में उतना अच्छा काम होना अब भी बाकी है। बंगला क्षेत्र के विषय में मैं जानता हूँ, वहाँ की लोक-कथाओं को हूबहू लिपिबद्ध करके कई पुस्तकें प्रस्तुत की गईं, जिसका कुछ स्वाद मैंने

हिन्दी में 'बंगाल की लोक-कथाओं' को पेश करने का प्रयत्न किया है। नन्दलाल चत्ता ने कश्मीरी लोक-कथाओं पर हिन्दी में अच्छा काम किया है पर बाकी बालकों के लिए जो अधिकांश लोक-कथाएँ प्रकाशित हुई हैं, उनकी विशेष प्रशंसा नहीं की जा सकती। इस सम्बन्ध में भारत सरकार को टेप रिकार्डर तथा अन्य जरियों से काम करना चाहिए। दुर्भाग्य से हिन्दी क्षेत्र में यह कार्य इस रूप में किए जाने पर कहाँ तक ग्रहणीय होगा, इसमें संदेह है क्योंकि खड़ी बोली कहीं की भाषा न होने के कारण कथाएँ अपनी-अपनी बोली में कही और सुनी जाती हैं। अवश्य इससे बचने के लिए उनका जहाँ तक ज़रूरी है, हिन्दीकरण हो सकता है, पर इस संबन्ध में भी बड़ी ज़िम्मेदारी की ज़रूरत है। लोककथा के अन्दर यदि लेखक ने अपना एक भी वाक्य रख दिया तो वह लोककथा नहीं रह गई, बल्कि लोककथा के ढाँचे पर लेखक द्वारा प्रस्तुत की हुई नई इमारत बन गई। ऐसा करने में कोई बुराई नहीं पर पाठक को इसका पता हो जाना चाहिए और यदि पाठक इस बारीकी को नहीं समझ सकता तो भूमिका में इसका आभास तो दे ही देना चाहिए।

अफ़सोस है कि हिन्दी में तो सभी लोक-कथाएँ अजीब रूप में सामने आ रही हैं और ऐसे आ रही हैं कि अत्यन्त अनधिकारी लेखकों से लोक-कथाएँ लिखाई और छापी गईं। फिर भी कुछ लेखकों ने ज़िम्मेदारी से काम लिया है और लोक-कथाओं के ज़रिए बाल-साहित्य को कुछ अच्छी रचनाएँ प्राप्त हुई हैं। ऐसी रचनाओं में कुछ हद तक उल्लेखनीय हैं—'पश्चिम भारत की लोककथाएँ', 'सुन्दर लोक-कथाएँ', 'भारतीय लोककथाएँ', 'निहालदे', 'देपाल दे', 'घनुआ राजा', । द्रोणवीर कोहली की 'लोककथाएँ', और 'मोर के पैर' पुस्तकों में पंजाब की लोककथाएँ लिपिबद्ध हैं। संतराम द्वारा प्रस्तुत 'पहाड़ी प्रदेशों की कहानियाँ' कहानियों के रूप में अच्छी हैं, पर इससे यह पता नहीं लगता कि संतरामजी ने ये कहानियाँ किसी पुस्तक से ली हैं या फील्ड पर उनका संग्रह किया है।

लोककथाओं का महत्व अब हम कुछ-कुछ हृदयंगम कर रहे हैं। एक तो लोक-कथाओं से सामान्य भारतीय संस्कृति ही नहीं विश्व-संस्कृति का बोध होता है, दूसरे इधर जो सबसे बड़ी बात हुई है वह यह है कि अति आधुनिक कहानियों में लोक-कथा तत्व अपनाए जा रहे हैं।

लोककथाओं पर सोचते हुए फिर एक बार यह विचार बड़े ज़ोर से सामने आता है कि प्रकाशकों के मन में, इसमें शायद ही कोई प्रकाशक अछूता हो, यह धारणा बैठी हुई है कि लोक-कथा कोई भी प्रस्तुत कर सकता है और उनकी पुस्तकों तथा साहित्य का चित्रण कोई भी चित्रकार कर सकता है। यह जितना जल्दी उनके दिमाग से निकल जाए, उतना ही अच्छा है, पर इसके साथ ही यह भी धारणा ग़लत है कि कोई लेखक ख्यातिप्राप्त है और बड़ों के लिए अच्छे उपन्यास-कहानियाँ आदि लिखता है, इस कारण वह बच्चों का भी अच्छा साहित्यकार होगा। प्रश्न यह है कि क्या ऐसा लेखक बच्चों का साहित्य लिखते समय बिलकुल अन्य ही गीयर पर काम कर सकता है ? जैसे यह ज़रूरी नहीं है कि कोई क्रिकेट का खिलाड़ी है तो वह फुटबाल आदि

अन्य खेलों में भी पारंगत होगा, उसी तरह लिखने के क्षेत्र में भी अलग-अलग बिधा के अलग-अलग लेखक हैं, उसकी अलग-अलग साधना और अलग-अलग प्रशिक्षण हैं।

अंग्रेज़ी बाल-साहित्य की तरफ़ जब हम दृष्टि दौड़ाते हैं तो उसमें हम यह देखते हैं कि बाल-साहित्य के लेखक बिल्कुल दूसरे ही हैं जिनके नाम उस विधा के पाठकों तक ही सीमित रहते हैं। साधारण साहित्य का लेखक कई बार बाल-साहित्य का अच्छा लेखक हो सकता है, जैसे वाल्टर स्काट, किपलिंग, रवीन्द्रनाथ इत्यादि, पर यह ज़रूरी नहीं है कि हर नामी लेखक बाल-साहित्य का अच्छा लेखक हो, इसलिए अभी-अभी कहानी आदि के प्रख्यात लेखकों को अपने लेखक करके दिखाने और अपना विज्ञापन करने का जो प्रयास किया गया है, उसके चक्कर में कोई विशेषज्ञ नहीं आएगा। बात यह है कि बाल-साहित्य भाषा, शैली, कल्पना के क्षेत्र में कुछ ऐसे प्रयोग और नवीनता की अपेक्षा रखता हैं कि हर लेखक के लिए उनके तकाजों को पूरा करना सम्भव नहीं है। यह दुर्भाग्य है कि हिन्दी में बाल लेखकों का कोई अलग स्पष्ट वर्ग अभी तक नहीं बन पाया पर इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी बाल-साहित्य की उन्नति के साथ-साथ बाल-साहित्य के लेखकों की एक अलग श्रेणी का विकास होगा। पर ऐसा अभी तक क्यों नहीं हुआ, उसके कारणों पर भी कुछ विचार कर लेना आवश्यक है।

वयवर्ग देखकर लेखन

बाल-साहित्य के रचियता के लिए बाल-मनोविज्ञान के अतिरिक्त यह समझना जरूरी है कि वह किस वय-वर्ग के लिए लिख रहा है। बहुत दिनों तक हिन्दी के बाल-साहित्य के लेखक और प्रकाशक वयवर्ग के अस्तित्व से ही अपरिचित रहे और बाल-साहित्य में इसका कोई खयाल नहीं रखा जाता था, पर अब हिन्दी के प्रमुख बाल-साहित्य प्रकाशक—राजकमल, राजपाल, आत्माराम, किताब महल आदि वय-वर्ग पर ध्यान देने लगे हैं और अपने लेखकों से वयवर्ग के अनुसार लिखने का तकाज़ा करने लगे हैं। आशा है कि इसका नतीजा आगामी दस वर्षों में बहुत अच्छा होगा, पर जैसा कि हमने बताया, बाल-साहित्य के विशेष लेखक वर्ग का तभी उदय होगा, जब प्रकाशक इस सम्बन्ध में सचेत हो जाएँ। जब बाल-साहित्य की रचना में पारिश्रमिक ठीक से मिलने लगेगा और प्रकाशक एक मुश्त दाम देकर पुस्तक के सारे अधिकार खरीद लेने का मोह छोड़ देंगे, तभी इस क्षेत्र में उन्नति होगी।

यों तो जैसा कि हम बता चुके हैं, हमारे यहाँ केवल बाल-साहित्य के रूप में ले-देकर पंचतन्त्र या हितोपदेश ही हैं। हम यह भी बता चुके कि रामायण, महाभारत, तथा अन्य पुराण-कथाओं से बाल-साहित्य का बहुत बड़ा खजाना तैयार हो सकता है। पर केवल बाल-साहित्य के रूप में लिखने की प्रथम प्रेरणा बिल्कुल आधुनिक समय में ही आई। इस सम्बन्ध में यह बहुत ध्यान योग्य है कि पाश्चात्य में बाल-साहित्य की रचना कई सदी पहले से शुरू हुई। हम इस पर इतना ही बता कर आगे बढ़ जाएँगे कि बाल-साहित्य की अमर कृति 'राबिन्सन क्रूसो' १७१९ और 'गुलिवर की कहानियाँ' की रचना १७२६ में हुई। 'अलिफलैला' जो बाल कहानियों का एक बहुत बड़ा

खजाना है, उसकी भी रचना बहुत पहले हुई, यहाँ तक कि वह फ्रेंच तथा अंग्रेज़ पाठकों के हाथ में लगभग १७०० ईस्वी तक पहुँच गई थी।

गुलिवर की यात्राएँ उस समय के इंग्लैंड तथा उसके राजदरबार के विरुद्ध एक व्यंग-रचना के रूप में प्रस्तुत की गई थीं। इसका प्रकाशन भी बड़े अद्भुत ढंग से हुआ कि लेखक ने प्रकाशक का सामना नहीं किया और पाण्डुलिपि एक घोड़ागाड़ी से प्रकाशक के घर के सामने डाल दी गई। कुछ भी हो, जब हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में बाल-साहित्य के लिए माँग पैदा हुई तो लेखकों और अनुवादकों ने पाश्चात्य साहित्य और 'अलिफ लैला' आदि की इन अमर कृतियों की ओर हाथ बढ़ाया और उसके फलस्वरूप 'राबिन्सन क्रूसो', 'गुलिवर की यात्राएँ', 'अलादीन', 'सिन्दबाद' आदि जाने कितनी रचनाएँ प्रस्तुत हुईं। 'राबिन्सन क्रूसो' एक समुद्र यात्री जाति में ही लिखा जा सकता था और 'गुलिवर की यात्राएँ' भी ऐसी जाति में लिखी जा सकती थीं जो टटोल कर लोकतन्त्र की ओर चल रही हो। दुःख है कि यों तो हर प्रकाशक ने इन पुस्तकों के संस्करण निकाले हैं पर कोई ऐसा संस्करण नहीं है जिसके सम्बन्ध में कहा जा सके कि यह अंग्रेज़ी की तरह सुन्दर संस्करण है। इसके लिए किसे दोष दिया जाए, लेखकों या प्रकाशकों को ?

बाल-पत्रिकाएँ

बाल-साहित्य के क्षेत्र में मैं बाल-पत्रिकाओं को इस साहित्य के प्राथमिक सोपान में बहुत महत्त्व देता हूँ, इसलिए पहले उन्हीं का सर्वेक्षण किया जाए। स्वतन्त्रता प्राप्त करते समय हिन्दी में सबसे प्रमुख बाल-पत्रिका प्रयाग के इण्डियन प्रेस द्वारा प्रकाशित 'बाल-सखा' नामक पत्रिका थी, पर इस पत्रिका में कोई भी विशेषता नहीं थी और यह कहा जा सकता है कि यह क्षेत्र हिन्दी में बिल्कुल सूना था, जबकि एक-दूसरी भाषा जिसे मैं अच्छी तरह जानता हूँ, यानी बंगला में बाल-पत्रिकाओं में कई अच्छे नाम थे और उनके ग्राहकों की संख्या बीस-बीस हज़ार तक पहुँची हुई थी।

हिन्दी-क्षेत्र की यह कमी इतनी खटकने वाली थी कि भारत सरकार के प्रकाशन विभाग का जब स्वतन्त्रता के बाद पुनर्गठन हुआ तो यह निश्चय किया गया कि 'बाल-भारती' नाम से एक पत्रिका निकाली जाए, जिसमें मनोरंजन के साथ-साथ बालक-बालिकाओं के मानसिक उन्नयन का लक्ष्य भी रखा गया। यों तो इस लेख में पहले भी मैं इस प्रश्न को छू चुका हूँ पर यहाँ भी यह स्पष्ट कर दिया जाए कि बड़ों के लिए प्रस्तुत किए जाने वाले साहित्य के सम्बन्ध में भले ही यह वाद-विवाद कभी समाप्त न हो कि साहित्य का कोई साहित्येतर उद्देश्य होना चाहिए या नहीं, पर बाल-साहित्य के सम्बन्ध में सभी, सिवा उन लोगों के जो कामिक टाइप का भोंड़ा साहित्य लिख-बेच-प्रकाशित कर कालाबाजारी करना चाहते हैं, इससे सहमत होंगे कि बाल-साहित्य का उद्देश्य अच्छे नागरिकों का निर्माण है। इसलिए यदि भारत सरकार ने बाल-भारती' के प्रकाशन में कुछ उद्देश्य रखा तो वह गलत नहीं कहा जा सकता। अवश्य जब सरकार कोई काम करती है तो उसमें प्रचलित सरकार को सर्वश्रेष्ठ और

एकमात्र सत्य साबित करने की प्रवृत्ति हो सकती है, पर 'बाल भारती' पत्रिका इससे कई कारणों से बची रही और 'बाल-भारती' ने बाल-पत्रिकाओं में अपना एक स्थान बनाया। पर सरकारी प्रकाशन होते हुए भी क्या यह लेखकों का ऐसा वर्ग उत्पन्न कर सका जो बाल-साहित्य के ही लेखक हैं ? मैं समझता हूँ कि यह ऐसा नहीं कर सका, उस हद तक यह पत्रिका भी अपने पहले की पत्रिकाओं की तरह असफल ही कही जाएगी।

लेखक तो किसी क्षेत्र में तभी पैदा हो सकते हैं, जब उस क्षेत्र में रह कर उनकी गुजर-बसर हो सके, पर 'बाल-सखा', 'बाल-भारती', 'बालक', 'शेर बच्चा', 'राजा भैया', 'पराग', 'नन्दन' में छपकर और दस या बीस रुपये पारिश्रमिक पाकर किसी का निर्वाह नहीं हो सकता था। दुःख है कि यह परिस्थिति तब से नहीं बदली है और बाल-साहित्य राहचलतू लोगों के ऐडवेन्चर का शिकार बनता रहा है।

हिन्दी बाल-पत्रिकाओं में 'चन्दा मामा' का उल्लेख बहुत आवश्यक है क्योंकि इसकी इकरस छपाई और चित्र तथा गलत भाषा के बावजूद यह कहानियों के कारण बच्चों की बहुत प्रिय रही है। 'चन्दा मामा' के प्रकाशकों की इसलिए प्रशंसा करनी पड़ेगी कि वे बाल-पत्रिका के व्यवसाय को लाभजनक बनाने के लिए उसे एक साथ कई भाषाओं में प्रकाशित करते हैं। पहले शायद नौ भाषाओं में प्रकाशित होता था, अब छः भाषाओं में प्रकाशित होता है। इससे ब्लाक तथा डिजाइन आदि का खर्च बच जाता है और अनुवाद के ही पैसे लगते हैं। असल में तो प्रकाशन विभाग को यह प्रयोग करना चाहिए था। मैं यह मानता हूँ कि केन्द्र से न केवल बच्चों के लिए बल्कि बड़ों के लिए मासिक, साप्ताहिक आदि का प्रकाशन और किसी कारण से नहीं तो केवल इस कारण से अवश्य होना चाहिए कि राज्यों से जो पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होती हैं, उनमें प्रान्तीयता का खोल बहुत जबर्दस्त रहता है और अखिल भारतीय ढंग से किसी भी प्रश्न पर सोचने का माद्दा पैदा न होकर हर पत्रिका को केवल अपनी भाषा और अपने दायरे में सोचने का प्रोत्साहन मिलता है।

अन्य बाल-पत्रिकाओं में 'पराग' एक अच्छी पत्रिका है, पर इसे भी देखने पर यही धारणा दृढ़ होती है कि हिन्दी में बाल-साहित्य के लेखकों का कोई वर्ग नहीं बन पाया। इस पत्रिका की प्रकाशक कम्पनी भी एक साथ कई भाषाओं में बाल-पत्रिकाएँ प्रकाशित करने का प्रयोग कर सकती है। जैसा कि मैंने इंगित किया, व्यावसायिक दृष्टिकोण से ही नहीं, पत्रिकाओं का खर्च घटाकर सस्ती करने के लिए और अखिल भारतीय दृष्टिकोण को निरन्तर ताज़ा रक्त पहुँचा कर बल देने के लिए इस प्रकार के प्रकाशनों की आवश्यकता है।

अभी हाल में बाल-पत्रिकाओं के क्षेत्र में 'नन्दन' प्रकाशित कर 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के प्रकाशकों ने इस क्षेत्र में क़दम रखा है। यह प्रकाशक भी कई भाषाओं में प्रकाशन की बात सोचने में समर्थ हैं।

जीवनिया

जीवनियाँ भी बाल-साहित्य का प्रधान अंग हैं। जब बच्चा ज़रा बुद्धिमान हो जाता है और केवल आश्चर्य की भावना की जगह पर वह अपने को भी कुछ समझने लगता है यानी यह समझता है कि मुझे भी कुछ करना है तो वह जीवनियों की ओर आकृष्ट होता है। देश-आविष्कार, ऐडवेन्चर के सच्चे वीर कोलम्बस आदि की तरफ़ उसका ध्यान जाता है और वह यह समझने की कोशिश करता है कि जो लोग संसार में बड़े हुए या कहलाए, वे कैसे बड़े हुए।

इस क्षेत्र में बहुत अच्छा कार्य हुआ, यह नहीं कहा जा सकता। 'आदर्श विद्यार्थी बापू' महात्मा गांधी के जीवन के एक हिस्से पर रोशनी डालता है। राजकमल की ओर से प्रकाशित आदर्श जीवनमाला में इन्द्रनाथ मदान द्वारा लिखित पुस्तकें 'हमारे बापू', 'भगवान बुद्ध', 'हमारे गुरुदेव', 'अब्राहम लिंकन', 'मुंशी प्रेमचन्द', 'लेनिन', 'हमारे नेहरू'—ये सात पुस्तकें प्रकाशित भी हुई हैं और वे सफल भी हैं, पर इसमें दो बातों में कुछ सुधार हो सकता था, एक तो एक ही लेखक से सारी जीवनियाँ लिखाना अनुचित रहा और दूसरे सब पुस्तकों का आवरण चित्र एक-सा है यह भी उचित नहीं रहा। या तो ऐसा आवरण चित्र बनाया जाता जो गांधी, लेनिन, अब्राहम लिंकन सब पर घटता और नहीं तो हरएक का अलग आवरण चित्र बनाना चाहिए था। जो आवरण चित्र प्रस्तुत है, वह गांधी और बुद्ध और अधिक-से-अधिक नेहरू पर ठीक बैठ सकता है, बाकी, यहाँ तक कि प्रेमचन्द और रवीन्द्रनाथ के लिए भी यह अच्छा नहीं लगता। सत्यकाम विद्यालंकार ने 'महात्मा गांधी', 'सरदार पटेल', 'शिवाजी' की जीवनियाँ प्रस्तुत की हैं। इसके अतिरिक्त 'हमारे राष्ट्र निर्माता' नाम से उनकी एक पुस्तक है, जिसमें दादाभाई नौरोजी से लेकर सुभाषचन्द्र बोस की जीवनियाँ दी गई हैं। क्षितीश राय का 'गुरुदेव रवीन्द्रनाथ' (अनुवादिका—माया गुप्त) रवीन्द्र की सबसे सुन्दर, सस्ती और सचित्र जीवनी है। विश्वनाथ की भी 'महाराणा प्रताप' और 'महापुरुषों के संस्मरण' नाम से दो अच्छी पुस्तकें हैं। विनोद ने जवाहरलाल नेहरू, लाजपतराय, लोकमान्य तिलक, स्वामी रामतीर्थ, विवेकानन्द, राजेन्द्रप्रसाद पर पुस्तकें लिखी हैं। प्राणनाथ वानप्रस्थी के नाम पर लगभग एक दर्जन जीवनियाँ हैं, जिनमें बुद्ध, चाणक्य, अशोक से लेकर सरदार भगतसिंह और चन्द्रशेखर आजाद की जीवनियाँ आ गई हैं। रामेश्वरदयाल दुबे की कविता में 'माँ यह कौन?' नाम से भारत के प्रमुख महापुरुषों के व्यौरे प्रस्तुत किये गए हैं। इसी प्रकार आचार्य चतुरसेन ने 'महापुरुषों की झाँकियाँ' नाम से कुछ आधुनिक नेताओं की और राष्ट्रबन्धु ने भी 'ये महान कैसे बने' नाम से भारतीय तथा अभारतीय कुछ महापुरुषों की जीवनी प्रस्तुत की है। मनोहर जुनेजा का 'डॉ० विश्वेश्वरैया' और चमूपति का 'हमारे स्वामी', धर्मदेव विद्यावाचस्पति का 'स्वामी श्रद्धानन्द' ही इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं। प्रकाशन विभाग की ओर से 'भारत के गौरव' नाम से एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण पुस्तक माला प्रकाशित हो रही है। यद्यपि इन पुस्तकों का स्तर साधारण से ऊँचा है, पर भारत सरकार के प्रकाशनों का जो स्तर होना चाहिए (विशेषकर जबकि राज्यीय

भाषाओं में इसका अनुवाद हो रहा है), वह नहीं है। सावित्रीदेवी वर्मा की 'भारत की महान नारियाँ' और प्राणनाथ वानप्रस्थी की 'वीर पुत्रियाँ' कुछ महान स्त्रियों की जीवनियाँ प्रस्तुत करती हैं। यह आश्चर्य है कि महान स्त्रियों की जीवनियाँ कम लिखी गई हैं। माया गुप्त का भारत के प्रकाश स्तम्भ 'रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द' और जगदीश गोयल की पुस्तक 'मोतीलाल नेहरू' उच्च स्तर की जीवनियाँ हैं।

वैज्ञानिक पुस्तकें

यह बहुत ही गलत धारणा है कि बच्चों को केवल कहानी चाहिए या ऊल-जलूल एडवेन्चर के किस्से चाहिएँ। बच्चे हर समय संसार को टटोलकर जानने के फिराक में रहते हैं और वे उसे समझना चाहते हैं। यही कारण है कि बहुत से बच्चों में, बल्कि सभी बुद्धिमान बच्चों में किसी भी वस्तु को तोड़-खोलकर उसके अन्दर क्या है, जानने की प्रवृत्ति पाई जाती है। वे हर समय कार्य-कारण के सिलसिले का अनुसरण करना चाहते हैं। यह प्रवृत्ति बहुत सराहनीय है और अभिभावकों तथा शिक्षकों को इसे प्रोत्साहन देना चाहिए। इस सम्बन्ध में पचास वर्ष पहले के बच्चों में और आज-कल के बच्चों में विशेषज्ञों ने कुछ फर्क पाया है। सौभाग्य से वह फर्क युग के अनुसार है और उसमें वृद्धि होनी चाहिए। आजकल के लड़के अच्छी लिखी हुई विज्ञान-सम्बन्धी पुस्तक पहले के बच्चों से अधिक पसन्द करते हैं, ऐसा पश्चिम के पुस्तकालयाध्यक्षों ने अपनी रिपोर्ट में कहा है। मुझे ऐसा लगता है कि बच्चों में शायद उतना फर्क नहीं हुआ जितना कि लेखकों में हुआ यानी अब लेखक विषय का प्रतिपादन बच्चों की दिलचस्पी को देखते हुए सरल भाषा और शैली नें करते हैं और जैसा कि हम पहले ही बता चुके हैं, उनके इस प्रयास को अच्छे चित्रकारों का सहयोग प्राप्त है।

इसीलिए हम देख रहे हैं कि प्रकाशक भी इस सम्बन्ध में अच्छी-से-अच्छी पुस्तक प्रकाशित करने की चेष्टा कर रहे हैं।

ऐसी पुस्तकों में आकाश और ग्रहनक्षत्रों पर बहुत-सी पुस्तकें हैं, जैसे, बी० डी० अवस्थी की 'ग्रह और नक्षत्र', जे० भारतदास की 'आकाश में देखे', बी० डी० अवस्थी की 'सूर्य और चन्द्रग्रहण', विनोदकुमार की 'आविष्कारों की कहानियाँ', केशव सागर की 'आवाज़', 'हवा की बातें', 'पानी', 'आग की कहानी', रमेश वर्मा की 'हमारा पड़ोसी चाँद' उल्लेखनीय हैं। विज्ञान की साधारण पुस्तकों में उल्लेखनीय हैं—जे० भारतदास की 'समुद्र का खजाना', उन्हीं की 'भारत के जानवर', तथा इरा फ्रीमैन की 'विज्ञान का अद्भुत संसार', फ्रेंक एच० फारेस्टर की 'वायु महासागर की खोज', जान लैवलैन की 'परमाणु की जादू भरी ताकत' (इन सबके अनुवादक हैं नरेश वेदी), मन्मथनाथ गुप्त की 'आदमी का जन्म', श्रीराम शर्मा की 'जंगली जीव', राजेश्वरप्रसाद नारायणसिंह की 'हमारे जल पक्षी' और 'हमारे वृक्ष'। रुद्रदत्त मिश्र और चित्रकार नरेन्द्र ने मिलकर कविता और चित्रों में 'हमारे पक्षी' नामक जिस पुस्तक की रचना की है हम उसका भी स्वागत करते हैं।

सब कुछ कह-सुन लेने पर और पुस्तकालयाध्यक्षों के बयानों का अध्ययन करने

के बाद यह नतीजा निकलता है कि बाल-साहित्य में सबसे प्रमुख स्थान कहानियों को ही प्राप्त है। इसलिए यह आश्चर्य की बात नहीं है कि इस क्षेत्र में बहुत काफी साहित्य प्रकाशित हो चुका है। अनुवाद भी काफी हुआ है। बल्कि कहना पड़ता है कि जो कुछ अच्छा साहित्य है, वह अनुवाद ही है। संस्कृत साहित्य का अनुवाद हुआ है, पर पाश्चात्य साहित्य से ही अधिक पुस्तकें आई हैं। कुछ नाम इस प्रकार हैं—सरवांते के 'डान क्विकजाट' का 'तीसमारखाँ', 'ऐलिस इन वन्डरलैण्ड' का 'जादू नगरी', टैलिसमैन का 'चमत्कारी तावीज', कोरल आइलैण्ड का 'मूँगे का द्वीप', काउण्ट आफ मान्टीक्रिस्टो का 'कैदी की करामात', ऐन्डरसन की कहानी का 'बर्फ की रानी', ईसप साहित्य का 'ईसप की कहानियाँ', 'डेविड कापर फील्ड' का उसी नाम से, 'ट्रेज़र आइलैण्ड' का 'खज़ाने की खोज में', 'पिनोकियो' का 'कठपुतली', 'थ्री मस्केटियर्स' का 'तीन तिलंगे', स्टीवेन्सन के 'किडनैप्ट' का 'चाँदी का बटन', 'आइवान हो' का 'वीर सिपाही', 'टामस सायर' का 'बहादुर टाम', शेक्सपियर साहित्य 'शेक्सपियर की कहानियाँ', सिन्दबाद की कहानी 'सिन्दबाद की सात यात्राएँ', अलीबाबा की कहानी का 'अलीबाबा और चालीस चोर', मनरो लीफ की छोटे बच्चों की कृति 'बोबक बकरा', नाम से प्रकाशित हुई हैं।

मौलिक कहानी-कविता के क्षेत्र में बहुत कम उल्लेखनीय काम अभी तक हुआ है, फिर भी कुछ काम तो हुआ ही है। बाल उपन्यास के क्षेत्र में मनहर चौहान का 'जय भवानी', उमाशंकर का 'चित्तौड़गढ़ की रानी', हरिकृष्णदास गुप्त का 'बदला', सत्यप्रकाश अग्रवाल का 'एक डर पाँच निडर' (पहले पराग में प्रकाशित), कहानी क्षेत्र में मनमोहन सरल का 'नई बानी कथा पुरानी', रामनारायण उपाध्याय की 'चतुर चिड़िया', भगतसिंह के 'सुनहरे सपने', 'बूझो' और 'चूँ-चूँ', शारदा मिश्र की 'नीलम और मसहरी की देवी', श्यामसुन्दर व्यास का 'मुहावरों का मेला' (मुहावरों की कथा) सावित्रीदेवी वर्मा की 'जंगल ज्योति' और 'कथा भारतीय', नाटक के क्षेत्र में योगेन्द्र-कुमार लल्ला सम्पादित 'प्रतिनिधि बाल एकांकी' (जिसमें आनन्दप्रकाश जैन, मंगल सक्सेना, विमला लूथरा, वेद राही आदि की नाटिकाएँ संग्रहीत हैं), डॉ० महेन्द्र भटनागर के 'बच्चों के रूपक', भानु मेहता का 'वे सपनों के देश से लौट आए', सिद्धनाथ कुमार का 'आओ नाटक खेलें', आदि उल्लेखनीय हैं।

इसके अलावा जो नाम उभरकर सामने आये हैं, वे हैं जहूर बख्श, सोहनलाल द्विवेदी, राजेन्द्र अवस्थी, निरंकारदेव सेवक (विशेषकर कविता और कविता में अनुवाद), हरिकृष्ण देवसरे, सरस्वतीकुमार दीपक, शैलेश मटियानी, रॉबिनशा पुष्प आदि। कुछ सम्पादक, लेखक और कवि ऐसे हैं जो बाल-साहित्य की रचना करने या करवाने में लगे हुए हैं। कुछ सम्पादक तथा प्रकाशक यह जो प्रयास कर रहे हैं कि अन्य क्षेत्रों के नामी लेखक बाल-साहित्य के लेखक भी बन जाएँ यह बहुत स्तुत्य होते हुए भी शायद अधिक लाभांश न दे। बाल-साहित्य की रचना के लिए जिस प्रकार की मनोदशा या वृत्ति होने की आवश्यकता है, वह शायद सब लेखकों के वश की नहीं है। बच्चों के लिए लिखने में जैसा कि जार्ज नार्थक्राफ्ट ने लिखा है, लेखक को कुछ हद तक बच्चा बनना पड़ता है। कम-से-कम उसे अपने बचपन की अच्छी तरह

याद आनी चाहिए कि मुझे अमुक उम्र में अमुक बात अमुक तरह से अच्छी लगती थी। इसके अलावा क्रमशः हमारे बच्चे भी जटिल होते जा रहे हैं और उसी के अनुसार लेखक को भी शिल्प पर अच्छी तरह दखल पैदा करना पड़ेगा।

मैं अपने तजुर्बे से कह सकता हूँ कि बहुत सालों तक बाल-साहित्य से संयुक्त रहने पर भी बाल-साहित्य रचना की मनोदशा कभी-कभी ही बन पाती है। अवश्य उन लोगों की बात और होगी जो केवल बाल-साहित्य की रचना करते हैं। मैंने बीच में कई बाल-साहित्य रचना नहीं की, पर बाद को 'महानगरी का राजा' नाम से एक पुस्तक लिखी जो वर्तमान समाज और राजनीति पर व्यंग्य है।

इस तरह औरों का भी तजुर्बा है। सारे बाल-साहित्य का सर्वेक्षण करने के बाद यह नतीजा निकलता है कि काम तो थोड़ा-बहुत हुआ है, पर व्यवस्थित ढंग से नहीं हुआ और यह आशा करना गलत होगा कि एकाएक कोई जादू हो जाएगा, इसलिए बाल-साहित्य के भविष्य के सम्बन्ध में प्रकाशकों के सामने यही योजना होनी चाहिए कि वे मौलिक प्रतिभा को प्रोत्साहन तो दें ही, पर विश्व-साहित्य और भारतीय साहित्य से अच्छी पुस्तकों का अच्छा अनुवाद करवाएँ।

ले० मधुकर गंगाधर

हिन्दी में आँचलिक उपन्यास

प्रत्येक उपन्यास, स्थान, काल, संस्कृति या संस्कार विशेष के लोगों को लेकर लिखा जाता है। इस अर्थ में कोई भी उपन्यास गैर-आँचलिक नहीं कहा जा सकता है। सर्जन-तत्व की प्रधानता के जरिये उपन्यास के प्रकृति-निर्णय का सिद्धान्त बनाया जाय, तो 'आँचलिकता' एक विशिष्ट औपन्यासिक दृष्टिकोण है।

आँचलिक उपन्यास तथा अन्य सभी उपन्यासों में एक सही अन्तर यह है कि जहाँ अन्य उपन्यासों में देश, काल एवं खास किस्म के संस्कार वाले पात्रों के जरिये घटनाओं के उत्कर्ष तथा चरित्रों के मनोविश्लेषण द्वारा जीवन के किसी सर्वमान्य सत्य का उद्घाटन या समर्थन होता है, वहाँ, आँचलिक उपन्यास एक ही प्रकार के परिवेश में, जीवन के सर्वमान्य सत्य-उद्घाटन के बदले, क्षेत्र-विशेष का सत्य उद्घाटित करता है, चारित्रिक विकास के लिये पात्रों की बजाय क्षेत्र की सम्पूर्ण जन-सख्या को चुनता है। अन्य उपन्यासों के पात्र अपने 'किस्म-विशेष' के प्रतिनिधि होते हैं, आँचलिक उपन्यास के पात्र क्षेत्र-विशेष की जीवन-प्रथा के विभिन्न स्तरों, विभिन्न प्रकारों एवं विभिन्न दलों का प्रतिनिधित्व करते हैं। अतः आंचलिक उपन्यास का आदर्श व्यक्तित्व का निरूपण एवं जीवन के सर्वमान्य सत्य की अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि भौगोलिक या सांस्कृतिक सीमा-बद्ध खास क्षेत्र के सामान्य जीवन के सत्यों का अन्तर या एकरूपता निर्दशन है। देश, काल, जाति, धर्म, भौगोलिक स्थिति, आर्थिक-सामाजिक प्रणाली, रीति-नीतियों के मनोवैज्ञानिक रहस्य के बीच स्थापित क्षेत्रीय-जीवन में सम्पूर्ण विश्व-जीवन से या विश्व-जीवन के अन्य क्षेत्रों से जो विशिष्ट अन्तर आ जाता है, वही आँचलिक उपन्यासों का दृष्टिकोण है।

हमारी मानव-सभ्यता खण्ड-गत है। धरती के अलग-अलग भू-खण्डों में प्रकृति के साधन भिन्नतर होते गये, तदनुरूप मानव-जीवन की साधना भी रूपायित होती गई। इसलिये, हम अन्ततः खण्डगत या क्षेत्रीय संस्कृति के सामाजिक प्राणी बन सके। साहित्य मूलतः संस्कृति का उद्गायन है। अतः जहाँ सामान्य उपन्यासों में पात्रों के क्षेत्रीय जीवन का आँचलिक वातावरण दिये बगैर या गौणरूप से इसका प्रयोग कर हम चरित्र-विकास में विश्व-जीवन के सर्वमान्य सत्य का संघटक खोजने का प्रयास करते हैं, वहाँ आँचलिक उपन्यासों में विशिष्ट आँचलिक वातावरण में दिन-प्रतिदिन की सामान्य घटनाओं तथा वर्ग विशेष के प्रतिनिधि पात्रों की जीवन प्रक्रिया के माध्यम से एक खास भौगोलिक संस्कृति का उद्घाटन वांछनीय स्वीकारते हैं। ऐसे उपन्यासों में

घटनाएँ इतिहास परम्परा से अविच्छिन्न नहीं रहतीं, न पात्र अपने वर्ग की आदतों से मुक्त। घटना का हर क्रम एवं पात्रों की हर प्रक्रिया भौगोलिक सीमान्त का संकेत होता है। ऐसे उपन्यासों की कोई भी इकाई, इकाई न होकर संघ होता है। आँचलिक उपन्यासों का लक्ष्य, संतुलन या संक्रमण—किसी भी काल में, किसी क्षेत्र की सम्पूर्ण भौगोलिक संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है। इस तरह, यह धारणा कि किसी देश या देश-खण्ड की प्राकृतिक बनावट, वहाँ के लोगों की सामाजिक—आदतें, रीति-रिवाज, तथा स्थानीय भाषा के प्रयोगों द्वारा, एकदम नपुंसक ढंग से, किसी उपन्यास की पृष्ठ-भूमि तैयार कर लेना या किसी क्षेत्र विशेष के लिए संवेगात्मक पक्षाकर्षण की भाषा द्वारा रिपोर्ताजों के कुछ असम्बद्ध चित्र प्रस्तुत कर देना, उपन्यास को आँचलिक बना देता है—भ्रामक है।

आँचलिक उपन्यासों का आदर्श केवल किसी क्षेत्र की चित्रगत वास्तविकता प्रस्तुत करना नहीं, बल्कि सम्पूर्ण जीवन-प्रणाली की ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक धारणा प्रस्तुत करना है। प्राकृतिक एवं स्थूल सामाजिक वास्तविकताओं का चित्रगत प्रस्तुतन तो मात्र एक ढाँचा है। आँचलिकता वादियों का मत है कि जैसे लोग अपने क्षेत्र की विशिष्ट भौगोलिकता में अपने को ढालकर सामंजस्यपूर्ण बनाने का प्रयास करते हैं तथा संस्कृति व सामाजिकता की एक खास प्रथा गढ़ते हैं, वैसे ही आँचलिक उपन्यासों की एक रस-सिद्ध विलक्षण मगर सामंजस्यपूर्ण सिद्धि होनी चाहिये।

विशुद्ध आँचलिक उपन्यास एक कठिन धारणा है। वस्तुतः आज के अधिक उपन्यासों में, जिन्हें आँचलिक उपन्यासों की श्रेणी में रखा जाता है, आँचलिकता का आभास मात्र रहता है। यह विपथ-वृति "सामाजिक-उपन्यास" की संज्ञा से विभूषित उपन्यासों में देखने को आती है। हर सामाजिक उपन्यास में खास-क्षेत्र की जीवन-प्रणाली का चित्रण रहता है तथा लेखक की कोई सुधारवादी मनोवृति साथ लगी चलती है। ऐसे उपन्यास भी, यद्यपि निम्नतम अर्थों में, आँचलिकता का आभास रखते हैं। श्रेणी-निर्णय की समस्या को सामने रखकर, सिद्धान्त रूप में इन उपन्यासों को अंशगत आँचलिक भी नहीं कहा जा सकता है। ऐसे उपन्यास, निस्सन्देह एक क्षेत्र-विशेष के सामाजिक जीवन की प्रणालियों को सामने लाते हैं, किन्तु यह उस क्षेत्र की सम्पूर्ण सांस्कृतिक-प्रणाली का एक अंग ही होता है। उस आँचल की सांस्कृतिक परम्परा से संबद्ध-असंबद्ध हर प्रकार के बौद्धिक तर्कों द्वारा सुधारवादी उद्देश्य को पूरा किया जाता है, उस क्षेत्र की सांस्कृतिक-प्रणाली में बनी विचारधाराओं द्वारा संस्कृति की ऐतिहासिक प्रगतिशीलता को मुखरित करने का प्रयास नहीं किया जाता है। ऐसे उपन्यास यथार्थवादी धारा की विश्व-सम्मत दार्शनिक-परम्परा को ग्रहण करते हैं। इनके पात्र एवं इनकी घटनाएँ उसी रूप में उद्देश्यपरक होती हैं। पात्रों के चुनाव एवं उनके चरित्र-विकास में सांस्कृतिक परम्परा को ध्यान में नहीं रक्खा जाता है, बल्कि उपन्यासकार का अपना सुधारवादी आदर्श ही कार्यरत् रहता है। अंचल की सामाजिकता को उसी रूप में एवं उतना ही लिया जाता है, जितने से उपन्यासकार की पृष्ठ-भूमि तैयार हो जाती है। ऐसे उपन्यासों में घटनाओं का सृजन भी इसी में होता है।

आँचलिक उपन्यास में घटनाएँ स्वभाव-कल्पित दैनिक होती हैं। अंचल की भौगोलिक-संस्कृति के वातावरण में होने वाले मानवीय कार्य-कलापों का यथाचित्र घटना के रूप में लिया जाता है—और इन घटनाओं को सभ्यता के ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक विकास की कसौटी पर रखकर एक सांस्कृतिक दृष्टिकोण बनाया जाता है। आँचलिक उपन्यासकार का दायित्व इतना ही है। इस तरह हम देखते हैं कि अगर अंचल-विशेष के सामान्य जीवन को उपन्यास की पृष्ठ-भूमि बनाया जाय, तो भी, सामाजिक उपन्यासकार की प्रक्रिया से आँचलिक उपन्यासकार की प्रक्रिया भिन्न होती है।

१६वीं सदी के अंग्रेजी, रूसी एवं फ्रांसीसी उपन्यासकारों के अधिकांश महान उपन्यास देश-काल के यथार्थ वातावरण में यथार्थ-चित्रण के साथ लिखे गये। किन्तु उनमें से केवल कुछ ही कृतियाँ आँचलिक कही जायेंगी और कुछ अंशगत आंचलिक। कारण स्पष्ट है। इन सभी उपन्यासों में उपन्यासकार ने अपने आदर्शों की पुष्टि के लिए अंचल के खंडगत जीवन को प्रश्रय दिया है। इनकी आँचलिक पृष्ठ-भूमि 'पेसिव' है—ठंडा नमूना। आँचलिक उपन्यासों में यह जाग्रत रहा करती है तथा आँचलिक सभ्यता को विभिन्न पहलुओं में अभिव्यक्ति देती है। महान कलाकार प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में उत्तर प्रदेश के गाँवों के अगणित चित्र प्रस्तुत किये, किन्तु उनके उपन्यास आँचलिक नहीं हैं। कारण, हर उपन्यास में उपन्यास के ऊपर उनका अन्याय-विरोधी आदर्शवाद हावी रहा है। सारी घटनाएँ एवं चरित्र-विकास उनके आदर्शवाद की भित्ति की तैयारी या पृष्ठ-पोषण के लिये हैं। ऐसे उपन्यासों में अक्सर पात्र ऐसा कुछ कर बैठता है, जो उस भौगोलिक परिवेश में सम्भव एवं स्वाभाविक नहीं होता। घटनाएँ भी अक्सर इस रूप में घटती दिखलाई जाती हैं, जो अप्रत्याशित एवं असाधारण लगती हैं। ऐसा संयोजन औपन्यासिक भूल नहीं, उद्देश्यमूलक प्रयास है। लेखक अपने आदर्श की सिद्धि के लिये नियत किये गये रास्ते से परिस्थितियों एवं विकास को आगे बढ़ाता है। आँचलिक उपन्यासों में ऐसा नहीं होता है। वहाँ की घटनाएँ, चरित्र-विकास, परिस्थितियों का मार्ग सभ्यता की ऐतिहासिक प्रगति में पहले से बनी बनाई रहती है। बनी लीक पर चलते हुए क्षेत्रीय जीवन से छेड़-छाड़ किये वगैर, उसकी वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करना ही आँचलिक उपन्यासकारों का दायित्व है। इस प्रस्तुतन में सन्तुलन या संक्रमण की सारी स्थितियाँ स्वयमेव समाहित हो जाती हैं। क्षेत्र से बाहर होने वाले सामाजिक, सांस्कृतिक आन्दोलनों को भी वह अपने वृत्त में लेता है। किन्तु उसी सीमा तक, जहाँ तक क्षेत्रीय जीवन में इन बाहरी आन्दोलनों से परिवर्तन आता है। आँचलिक उपन्यास ऐसे ऊँचे धरातल पर उस प्रक्रिया को आत्मसात करता है, जिसके द्वारा आँचलिक-संस्कृति का सत्य, समस्त विश्व-संस्कृति के सत्य में अपनी सत्ता मिलाकर अपने क्षेत्र को अधिक-से-अधिक प्रसारित कर लेता है। यहाँ यथार्थ की सिद्धि से अधिक उसकी प्रक्रिया महत्वपूर्ण होती है।

हार्डी, डिकेन्स, शरतचन्द्र एवं प्रेमचन्द्र जैसे महान लेखकों में आँचलिकता का सशक्त विभ्रम है। वैसे ये उपन्यासकार अपने में महान हैं और अपने "स्थान" के

समाज का कोना-कोना झाँक आये हैं। इस तरह के लेखकों की कृतियों में आँचलिकता का ऐसा आभास है कि अक्सर लोग भ्रम में पड़ जाते हैं। प्रेमचन्द ने उत्तर-प्रदेश के अनेक गाँवों को कथा-भूमि बनाकर भी उनकी स्थानीयता को ग्रहण नहीं किया। उनकी समस्या सम्पूर्ण उत्तर-भारत के 'किसान-वर्ग' की समस्या है।

चार्ल्स डिकेन्स ने इंगलैंड के सामाजिक जीवन पर उभरी औद्योगिक क्रांति की विषम प्रतिक्रियाओं की महानतम वास्तविकताओं को सफलता के साथ उतारा है। लेकिन इन प्रतिक्रियाओं में इंगलैंड का कोई सम्बद्ध ऐतिहासिक-संस्कृति का पक्ष उद्घाटित नहीं होता है। प्रेमचन्द की तरह उनकी समस्या भी औद्योगिक क्रान्ति से पीड़ित यूरोपीय जनता की सर्वनिष्ठ समस्या है। हार्डी ने 'वेसेक्स नॉवेल्स' के नाम पर जितने उपन्यासों का सृजन किया, उनमें आँचलिक वातावरण का प्रयोग तो ठीक हुआ, किन्तु किसी आँचलिक संस्कृति के उद्घाटन के बदले भाग्यवाद जैसे मानव-जीवन के सामान्य सत्य का उद्घाटन मात्र हो पाया। घटनाओं का काल्पनिक सृजन तथाकथित वेसेक्स प्रदेश की संस्कृति को ध्वनित नहीं करता, बल्कि भाग्यवाद की परिणति को सिद्ध करने के लिए संयोगात्मक कथा-सूत्र का ताना-बाना तैयार करता है। हार्डी ने स्थानीय वातावरण को कुछ हद तक संभाला है। किन्तु इन उपन्यासकरों की तुलना में शरत्चन्द्र आँचलिकता के अधिक निकट पड़ते हैं। उन्होंने 'पल्ली समाज' के जरिए बंगाल के गाँवों की सामाजिकता के सम्बद्ध चित्र प्रस्तुत किये हैं। किन्तु इनकी कृतियों में आँचलिक संस्कृति की परिणति न होकर, क्रांति-मुखी आदर्शवाद की ही परिणति हुई। 'पल्ली समाज' प्रेमचन्द्र एवं डिकेन्स की सामाजिकता एवं हार्डी की स्थानीयता के सन्धि-स्थल पर खड़ा है। इसलिए आँचलिकता का बड़ा धोखा यहीं उपस्थित हो सकता है। ऐसी तमाम रचनाएँ विश्ववादी हैं।

(२)

उपन्यास में आँचलिकता का आन्दोलन वस्तुतः अमरीकी साहित्य से प्रारम्भ होता है। सामान्यतः आँचलिक शब्द केथर, फॉकनर, स्टेनबेक की रचनाओं, जो यथार्थवादी क्षेत्र केन्द्रित हैं, के लिए लागू किया गया। इनका दावा है कि "इस नये औपन्यासिक दृष्टिकोण का आधार संयुक्त-राज्य अमेरिका के किसी खास क्षेत्र की भौगोलिक तथा आर्थिक-सांस्कृतिक खासियत है। व्यक्त करने के लिए वैज्ञानिक माध्यम अपनाया गया। ऐसे क्षेत्र-केन्द्रित औपन्यासिक दृष्टिकोण के लिए जाति और संस्कृति के विद्वत्तापूर्ण, शास्त्रीय एवं विज्ञान-सम्मत अनुसन्धान आवश्यक हैं। यह चित्रगत थोथे यथार्थवाद से संस्कृति की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की व्याख्या की ओर ले जाता है।" अट्ठारहवी शताब्दी के उत्तरार्ध में बिटहार्ट के उपन्यासों के जरिये स्थानीयता को वातावरण के रूप में ग्रहण करने की नई प्रथा अमरीकी उपन्यासों में चली। वस्तुतः हार्ट ने ही आधुनिक आँचलिकतावाद को जन्म दिया, यद्यपि इसके वैज्ञानिक परिणाम से वह दूर रहा। उसने अपने उपन्यासों में मानवीय संस्कृति के ऊपर भौगोलिक स्थिति एवं जलवायु के प्रभावों का अध्ययन किया। सन् १८८८ ई० में प्रकाशित उनके उपन्यास 'एफिलिस ऑफ साराज' में संस्कृति के दो भिन्न प्रकारों को दिखाया

गया है तथा एक हद तक एन्थ्रोपोलोजिकल अध्ययन भी प्रस्तुत किया। अपने दूसरे उपन्यास 'दी एनसेस्टर्स ऑफ पीटर आथरली' में भी उसी तरह मिश्रित अंग्रेजी वंश-परम्परा की संस्कृतियों का उद्गायन है। इन उपन्यासों ने आँचलिकता को धर्म की तरह स्वीकारा।

समकालीन हैरेट बीयर स्टो ने अपनी कृति 'मिनिस्टर्स वूचिंग' के जरिये हार्ट की साझेदारी में आँचलिकता के महत्व को पूरी तरह साबित करने की कोशिश की। स्टो के उपन्यासों में कथा एवं घटना सूत्र की मनोरंजकता पर अधिक खयाल किया गया है। हार्ट के उपन्यासों में अगर इन बातों पर ध्यान दिया जाता, तो वे, निश्चय ही, आँचलिक उपन्यासों में श्रेष्ठ गिने जाते। स्टो का 'ओल्डटाउन ऑक' ग्रामीण उपन्यास है, जिसमें आँचलिक होने का माद्दा है। इस उपन्यास में एक देहाती अंचल की संस्कृति, वहाँ के लोगों का सामाजिक तथा आर्थिक जीवन, जनता के मनोविज्ञान, रीति-रिवाजों आदि का चित्रण करते हुए स्पष्टतः स्वीकारा गया है कि 'मेरे लिए यह मात्र कथा-लेखन से बड़ा काम है।'' स्टो का प्रयास सचमुच वैज्ञानिक रहा, यद्यपि इस कार्य की दुर्गम कठियाइयों की दृष्टि से उसकी रचना-शक्ति सदा ही सीमित रही एवं औपन्यासिक संगठन की शिथिलता, जाति-वाद के पक्षपात एवं संवेगात्मक भाषा-प्रयोगों की कमजोरी से बच नहीं सकी।

स्टो की परम्परा में दूसरा नाम सारा जिवेट का है। इनका उपन्यास 'द कन्ट्री ऑफ द प्वाइन्टेड पार्स' को उन्नीसवीं सदी के अमरीकी आँचलिक उपन्यासों में श्रेष्ठ माना जाता है। इस उपन्यास में, अबतक के सभी आँचलिक उपन्यासों में पाई जानेवाली शिल्पगत शिथिलता, दूर हो गई है। अन्य उपन्यासों की तरह स्थानीयता की सतह की अतिशय निर्भरता भी इस उपन्यास में नहीं है। इसके चरित्र, वातावरण घटनाएँ यथार्थ व गतिशील हैं। मिलाजुलाकर प्रस्तुत उपन्यास उच्चकोटि का आँचलिक उपन्यास है। जिवेट ने आँचलिकता की अच्छी समाजशास्त्रीय परम्परा पाई थी। चरित्र पर जलवायु के असर की बात अक्सर सुनी जाती है। स्थान का भी अपने पर जबर्दस्त प्रभाव पड़ता है तथा वे तमाम चीजें, जो हमें घर के अन्दर या बाहर घेरे रहती हैं, हमारे जीवन में, हमारे आचार-व्यवहारों में अपनी प्रकृति को मनवाती रहती हैं। प्रस्तुत उपन्यास में इस उक्ति का संतुलित पाक हुआ है। "अन्तर्दृष्टि की तूलिका से अंकित, सम्वेदना की प्रतिभा से रंजित, स्मृति की जीवन्त चेतना से पुनर्स्पर्शित तथा सागर आकाश की पृष्ठभूमि—जो जिवेट की अपनी खास बात है—से सुसज्जित इस उपन्यास के चरित्र कथा-शिल्प के क्रांतिकारी प्रयोग हैं।'' प्रस्तुत उपन्यास में कथा-प्रवाह एवं परिच्छेदों का संयोजन ऐसा सन्तुलित हुआ है कि परिच्छेदों के जोड़ तक महसूस नहीं होते।

इस सदी के अन्य अमेरिकन आँचलिक उपन्यासकारों में खडवार्ड इगल्सटन, वाशिंगटन केब्ल, चान्डलर हेरिस तथा सिडनीपोर्टर आदि के नाम विख्यात हुए हैं। ये उपन्यासकार आँशिक रूप से ही आंचलिक हैं, क्योंकि आँचलिकता का इनका सारा प्रयास, 'लोकल कलर' तक ही रह जाता है। इगल्सटन ने स्कूल मास्टर, सरकिट

राइडर, रौक्सी आदि कृतियों के जरिये ख्याति पाई, किन्तु सबसे अधिक बिखरा रूप ग्रेयसन्स में उपस्थित किया है। आँचलिकता की दृष्टि से सरकिट राइडर अधिक ख्याति पा सका। प्रस्तुत उपन्यास में उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध के पश्चिम-मध्य अमेरिका के सामाजिक जीवन का चित्रण है। वाशिंगटन केब्ल को ऐसी सफलता नहीं मिली। "केब्ल, न्यू आर्किचन्स का साहित्यिक अनुसन्धानकर्ता 'रेकार्डर' होने का दावा रखता है।" उसने आँचलिकता की परम्परा को मात्र निबाह दिया। हेरिस इनसे भिन्न वातावरण लेकर उपस्थित हुआ। वह निग्रो-जीवन का अकेला कलाकार है। अक्ल रेमस सीरिज की इनकी रचनाएँ ख्याति-लब्ध हुईं। अमरीकी इतिहास की दृष्टि से हेरिस की रचनाएँ उत्तर तथा दक्षिण भागों के सांस्कृतिक संयोजन के लिए महत्व-पूर्ण हैं। थियोडोर रूजवेल्ट ने इन्हें आँचलिक विरोधाभासों का सफल विश्लेषक माना है। विलियम सिडनी पोर्टर, जो साहित्य में 'अमरीकी मोपांसा' के विशेषण के साथ साथ उतरा, ओ० हेनरी के नाम से लिखने लगा। इनकी रचनाओं में आँचलिकता निम्नतम रूप में है, इतना निम्नतम कि इन्हें आँचलिक कथाकार के रूप में हिचक के साथ ही रखा जाता है। सिर्फ 'द फोरमिलियन' में इन्होंने न्यूयार्क के आँचलिक वाता-वरण में वहाँ के सामाजिक प्रश्नों को मात्र स्पर्श किया है। अमरीकी साहित्य में यथार्थवाद तथा स्वाभाविकतावाद की परम्परा ने भी आँचलिक उपन्यासों को अच्छी भूमि दी। लेकिन जिन महान उपन्यासों, उपन्यासकारों के नाम से यथार्थवाद एवं स्वाभाविकतावाद की परम्परा अमरीकी साहित्य में विख्यास रही, उन्हें आँचलिक उपन्यासकारों की श्रेणी में लाते वही दिक्कत उपस्थित होती है, जो डिकेन्स और हार्डी के साथ है। ऐसे उपन्यासकारों में प्रमुख मोरिस एवं वाटसन हैं।

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद के अमरीकी उपन्यासों में आँचलिकता की लहर पुनः वही। इस काल में बड़े आँचलिक उपन्यासकारों में विला कैथर, फॉकनर एवं स्टेनवेक मुख्य माने जाते हैं। यह युग आँचलिक उपन्यासों की परम्परा में आधुनिकता लाने वाला माना जा सकता है। इस युग की मुख्य विशेषता यह रही कि उपन्यासकारों ने आँचलिक संस्कृति का मानव-शास्त्रीय सर्वे प्रस्तुत करते हुए भी आधुनिक सभ्यता के सर्व-समन्वयवाद को धर्म की तरह ग्रहण किया। प्रभाव की दो धाराएँ स्पष्ट हैं। आँचलिकता का प्रभाव सारा जिवेट का है एवं अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रभाव प्रख्यात अमरीकी उपन्यासकार हेनरी जेम्स का।

विला कैथर को पश्चिमी प्रदेशों का विशेषज्ञ माना जाता है। लेकिन वे कभी किसी खास अंचल से बँधी नहीं रहीं। वस्तुतः उनके उपन्यास अन्तःआँचलिकता को चित्र-वर्णन के रूप में पाते हैं। मिसीसिपी के उत्तरी प्रदेशों की पट-भूमि पर लिखे गए इनके उपन्यास बड़े ही यथार्थ एवं गतिमान वर्णन प्रस्तुत करते हैं। लेकिन इस प्रवाह में आँचलिकता की प्रकृति खो-सी जाती है स्टाइनबेक उस युग के उपन्यासकार हैं, जब अमेरिका महादेश से ऊपर उठकर स्वतंत्र विश्व की संज्ञा पाने का अधिकारी हो लेता है।

स्टाइनबेक स्वभाव से ही संस्कृति की अमरता एवं अनन्त विस्तार का विश्वासी

है। उनके उपन्यासों में "फोरगॉट्न विलेज" एक ऐसा दर्पण है, जिसमें मेक्सिको के एक गाँव का अंग-प्रत्यंग झलक उठता है।

आँचलिक उपन्यासों की सही परम्परा हमें अमरीकी साहित्य में ही मिलती है। अंग्रेजी-फ्रेंच आदि उपन्यासों में इसका अभाव है, जिसका एक अनुमानगत कारण यह हो सकता है कि इन देशों की अपनी सामाजिक-सांस्कृतिक अभिव्यक्ति हमेशा अन्य देशों के उलट-पुलट से संबद्ध रही। जाति एवं सामाजिक जीवन की परम्पराएँ यूरोपीय देशों में इतने प्राचीन काल में ही स्थायी हो गई, जब साहित्य में जाति व समाज की केन्द्रीयता की चेतना उदित नहीं हो पाई थी। यूरोपीय साहित्य में सर्व-सामान्य दार्शनिकता का उत्तरोत्तर उदय होता गया। रूस के साथ भी कुछ ऐसी ही बातें रहीं। एक महान औपन्यासिक परम्परा का विशाल देश रूस ने, अपनी आजादी के पूर्व, दर्शन एवं मानवतावादी सामान्य सत्यों की ओर अपने साहित्यकारों को उन्मुख रखा, आजादी के बाद, आँचलिकता के सफल उन्नयन का अवसर आया तो वहाँ के साहित्यकारों के समक्ष दर्शन का एक व्यावहारिक 'मिशन' उपस्थित हो गया। फलस्वरूप उनकी चेतना निश्छल आंचलिकता से परे हटकर, बौद्धिक व्यवहारवाद की मशीनी-रचना से उलझती गई। अमरीकी साहित्य के साथ ऐसी कोई बात नहीं हुई। स्वतन्त्रता-संग्राम के बाद अमरीकी साहित्यकारों में जाति एवं राष्ट्र-चेतना का अलौकिक अभ्युदय हुआ, जिस पर किसी दर्शन या राजनीति का 'मिशनगत' दबाव नहीं रहा। अमेरिका की उज्ज्वल से उज्ज्वलतर तस्वीरें तैयार करना, वहां के साहित्यकारों की धुन बन गई। विश्व के अन्य देश, अपने उपन्यासों पर आँचलिकता का लेबुल लगाने के लिये अमेरिका के ऋणी हैं।

(३)

भारतीय उपन्यासों पर पाश्चात्य औपन्यासिक-प्रणाली की अमिट छाप प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से अंकित है। हिन्दी उपन्यासों का विकास "मनोरंजन" की स्थिति से होता है। सर्वप्रथम प्रेमचन्द ने उपन्यासों को 'मनोरंजक कथाकारिता' की स्वाभाविक अस्वाभाविक कलाबाजी से अलग उच्च सामाजिक स्तर पर ले जाने का प्रयास किया। इसमें सन्देह नहीं कि प्रेचमन्द के उपन्यास हार्डी के उपन्यास से एक स्तर ऊपर हैं और डिकेन्स की तरह सामाजिक विरोधाभासों को सफलरूप में चित्रित नहीं कर सकने पर भी हिन्दी-बंगला के सभी उपन्यासकारों को पीछे छोड़ जाते हैं। उनके उपन्यास गाँव के कथांचल पर आधारित होकर अंचल विशेष का एन्थ्रोपोलोजिकल सर्वे प्रस्तुत करने में अक्षम हैं, फिर भी गाँव-घरों के साधारण चित्र, रहन-सहन आदि प्रस्तुत कर जो उपन्यासकार अपनी आँचलिकता सिद्ध किया करते हैं, प्रेमचन्द के वे अनुगामी हैं। इस समय श्री शिवपूजन सहाय की 'देहाती दुनिया' एक ऐसी कृति उपस्थित हुई, जिसमें अगर संयमित दृष्टि विस्तार एवं उच्चतर की कथाकारिता रहती, तो निश्चित रूप से हिन्दी को एक अच्छा आँचलिक उपन्यास मिल गया होता। भारतीय उपन्यासों में आँचलिकता का स्रोत बंगला उपन्यासों में फूटता है। इस अर्थ में शरत्‌चन्द्र को स्मरण किया जा सकता है, किन्तु शरत्‌चन्द्र में आँचलिकता उतनी ही और उसी रूप में थी,

जैसी प्रेमचन्द में। लेकिन शरत्‌चन्द्र ने अपने साहित्यकारों को इतना प्रभावित किया कि उनकी आँचलिकता के वंशधर श्री ताराशंकर, विभूतिभूषण, मानिक वन्द्योपाध्याय, सतीनाथ भादुड़ी आदि हुए। इन उपन्यासकारों ने आँचलिकता की नई और सबल धारा प्रवाहित की। शरत्‌चन्द्र ने अपने 'पल्ली समाज' में गाँव के सामाजिक संगठन का जो सीधा चित्र खींचा है, वह सचमुच अन्यत्र दुर्लभ है, फिर भी आगे आनेवाले इन नये कथाकारों ने एक प्रगति अवश्य की और वह प्रगति है अंचल के चित्रों के जरिये वहाँ के मानवशास्त्रीय अध्ययन का प्रस्तुतन। ताराशंकर के जन-पद, आरोग्य-निकेतन, एवं विभूति बाबू के आरण्यक आदि उपन्यासों में गाँव की संस्कृति अर्द्ध-नगर व नगर-संस्कृति से अपनी भिन्नता स्वयं खोलती है तथा गाँव एवं नगर के अन्तर्सांस्कृतिक प्रसंगों की विशद सामाजिक आर्थिक चेतना प्रस्तुत करती है। इस प्रसंग में वस्तुतः ताराशंकर एवं सतीनाथ भादुड़ी सर्वाधिक प्रयत्नशील रहे हैं। श्री भादुड़ी ने 'ढोढाय चरितमानस' में पूर्णियाँ की पिछड़ी जातियों के चन्द आँचलिक परिवेद के जरिये वहाँ की जिन्दगी को अच्छी तरह प्रस्तुत किया है। लेकिन बंगला के ये ख्याति-लब्ध उपन्यास भी आँचलिक उपन्यास की परिभाषा से कुछ दूर रह जाते हैं। ये उपन्यास, सही तौर पर, आँचलिकता की ओर उन्मुख हैं। सामान्य सामाजिक उपन्यासों की पुरानी आदतों को छोड़ सकने में इन्हें सफलता नहीं मिल सकी है। आँचलिक संस्कृति के मानव-शास्त्रीय प्रस्तुतन के बदले, या कम-से-कम जैसा पर्ल बक ने किया, आँचलिक जीवन के आधार में छिपे-पले किसी एन्थ्रोपोलोजिकल रहस्य को उद्‌घाटित करने के बदले, इन उपन्यासकारों ने अपने ग्रामाँचलों में अपने नये क्रान्तिकारी, सामाजिक, राजनैतिक विचार-धाराओं को ही प्रतिपादित किया है, जिनका आँचलिक संस्कृति के रहस्योद्‌घाटन से कम ही नाता-रिश्ता है।

इतनी मंजिल तय करने के बाद केवल एक उपन्यास नजर आता है, जिसे सर्वांग सफल आँचलिक उपन्यास की संज्ञा दी जा सकती है।

वह उपन्यास है उड़िया भाषा के लब्धप्रतिष्ठ लेखक गोपीनाथ महान्ती की महान कृति 'अमृत सन्तान'। इस उपन्यास में विश्व के सभी उपन्यासों के बीच प्रथम श्रेणी में रखे जाने की योग्यता है। उड़ीसा के आदिवासियों (दक्षिणी जंगल) के जीवन पर यह उपन्यास लिखा गया है। आँचलिक उपन्यास की परिभाषा के अनुसार इस उपन्यास में सारा अंचल ही पात्र बन गया है। दिन-प्रतिदिन की घटनाएँ, पर्व-त्यौहारों की विधि, सामाजिक कार्यों को सम्पादित करनेवाले संगठन, उनकी प्रतिक्रियाएँ आदि को एक साधारण अन्तंगामिनी कथा-सूत्र में गूँथकर यह उपन्यास उस अंचल के आदि-वासी जीवन का बहुत ही उत्तम मानवशास्त्रीय सर्वे प्रस्तुत करता है। यहाँ उस अंचल में प्रचलित रीति-रिवाजों, धारणाओं, कड़ियों एवं आगे आनेवाली क्रान्तिकारी सम्भावनाओं की विशद पृष्ठ-भूमि में बड़ी ही पूर्णता के साथ संयोजित किया जा सकता है। यदा-कदा पुनरुक्ति दोष नहीं होने से इसका कथा-प्रवाह भी अपने ढंग का अकेला माना जाता। भारतीय कथा-साहित्य में आँचलिकता के ख्याल से इस उपन्यास को आदर्श माना जा सकता है।

(४)

हिन्दी में आंचलिकता का विकास किसी जादुई ढंग से न होकर, वर्षों की साधना के ज़रिये हुआ है। हिन्दी गद्य की और विधाओं में जिस प्रकार विकास आया और नया स्वरूप उभरा, उपन्यास भी जन-जीवन के परिवर्तनों के साथ विकसित होता गया। यह सही है कि हिन्दी में आंचलिक उपन्यास का श्रीगणेश सन् '३० के आस-पास शुरू हो गया होता, अगर हिन्दी क्षेत्र मात्र गांधी की उदार नीति से प्रभावित नहीं होता। राष्ट्रीयता के जिस तीक्ष्ण स्वार्थ से आंचलिकता का जन्म होता है, उसका आभास शिवपूजन सहाय की 'देहाती दुनिया', निराला की 'चतुरी चमार', बेनीपुरी की 'माटी की मूरतें' आदि पुस्तकों से मिलता है। किन्तु इन लोगों के साथ राष्ट्रीयता के उदार दृष्टिकोण का आदर्श हमेशा चिपका रहा, फलस्वरूप सीमाबद्ध आंचलिकता, जिसके सृजन में कला के यथार्थ का संजीवन होता है, न पनप सकी।

उत्तरार्द्ध बीसवीं सदी के प्रवेश के साथ हिन्दी में आंचलिकता का अभ्युदय हुआ, जब आज़ादी के बाद, राष्ट्रीय चेतना ने विश्व-मंच पर अपने 'अहम्' को प्रतिष्ठित करने की बातें सोचीं। अपने स्वरूप को आप देखने की इच्छा जगी। यह शुभारम्भ श्री नागार्जुन के साथ होता है। वैसे इनसे पहले श्री अमृतलाल नागर एवं शिव प्रसाद मिश्र रुद्र ने ऐसी रचनाएँ की थीं, जिन्हें आंचलिकता के निकट सम्बन्धी होने का श्रेय दिया जा सकता है। 'सेठ बाँकेमल' या 'बहती गंगा' में अंशगत आंचलिकता है। श्री नागर ने अपने व्यंग्य के लिए सेठ को चुनकर, सेठ की आंचलिकता को प्रधानता नहीं दी, बल्कि व्यंग्य के लिए यत्र-तत्र आंचलिकता का आभास प्रस्तुत किया। श्री रुद्र का प्रयोग निश्चित रूप से आंचलिकता के इतिहास में स्मरणीय होता, अगर 'बहती गंगा' के किनारों के साथ उसकी धारा की गहराई व गति भी प्रस्तुत की जाती। 'बहती गंगा' भी वस्तुतः 'लोकल कलर' जैसी हल्की परतों पर आधारित मानव-जीवन के चिरन्तन राग-द्वेष को उद्घाटित करने का प्रयास है।

इस तरह हिन्दी का पहला आंचलिक उपन्यास 'बलचनमा' को कहा जा सकता हैं। 'बलचनमा' की रचना-भूमि प्रेमचन्द की वसीयत है। प्रेमचन्द एवं उनके आसपास के लेखक मुख्य रूप से राष्ट्रीय आन्दोलन एवं उससे उत्पन्न समस्याओं को साधने में लगे रहे। प्रेमचन्द ने लोकाश्रय के लिए अंचल-विशेष को चुना, किन्तु प्रेमचन्द के साहित्य का मूल-धर्म लोकोदय था, जिसके विकास का श्रीगणेश दर्शन के उदारवादी दृष्टिकोण से हुआ। फलस्वरूप प्रेमचन्द अंचल-विशेष के न होकर, लोकमात्र के हो रहे। 'बलचनमा' की रचना के पीछे वे तमाम कारण आ जुटे, जिनके जरिये, किसी भी साहित्य में, आंचलिकता का अभ्युदय सम्भव हो सकता है।

जिस प्रकार अमेरिकन साहित्य में आज़ादी की भूख ने मातृ-भूमि की मिट्टी के प्रति प्रेमाधिक्य का सृजन किया, 'औपनिवेशिक प्रभुओं के लोक इंगलैण्ड के समतूल अपने को प्रतिष्ठित करने के लिए देश के कोने-कोने की कला को अँगुलियों से छूने को विवश किया, भारत के साथ भी ऐसी ही बात हुई। छायावाद या उसके समकालीन गद्य का यह रूप हम आज भी गौरव से देखते हैं। प्रेमचन्द एवं उसके आसपास का

आलेखन इस स्थिति तक पहुँच गया था।

नागार्जुन के अभ्युदय के साथ हमारी राष्ट्रीयता ने मार्क्सवादी एवं विकासवादी दृष्टिकोणों से काफ़ी परिचय कर लिया था। साहित्य के लिए आवश्यक हो गया था कि वह देश के खंड-खंड को महागाथाओं के ज़रिये उद्घोषित कर वर्गवादी संघर्ष की दलित आत्माओं का उद्बोधन करता।

प्रेमचन्द ने वर्ग-संघर्ष की कथा को 'गोदान' में जिस रूप में प्रस्तुत किया था, उसके बाद लेखन-चेतना के लिए यह आवश्यक था कि वह वर्ग-संघर्ष के उस सर्वदर्शी रूप की ऐतिहासिक व्याख्या पूरी गहनता से करे। गाँव या नगर की ऐसी स्थितियों के ज़रिये कथाकारिता का प्रारम्भ होना विकास का सरल, स्वाभाविक एवं अटल नियम-सा था। एक मुख्य बात यथार्थवादी आन्दोलन का प्रभाव भी है। आदमी को यथातथ्य रँगने के सिलसिले में 'गोदान' मील का पत्थर बनकर अवतरित हो चुका था। आदमी के बनाने-बिगाड़ने वाले वातावरण एवं आर्थिक हालतों को विश्लेषित करने के लिए 'इतिहास की आर्थिक व्याख्या' का प्रचार-प्रसार हिन्दी में हो चुका था। एक बात खासतौर से ध्यान देने योग्य यह है कि आंचलिकता का यह प्रस्फुटन हिन्दी में ग्रामांचल को आधार बनाकर हुआ। इसका सर्वप्रमुख कारण यह है कि गांधी ने हमारे उदित होते राष्ट्र-प्रेम को गाँव की ओर मोड़ दिया, यह बात दूसरी है कि गांधी के इस राजनीतिक दर्शन के पीछे तालस्ताय या अन्य फ्रांसीसी विचारकों ने बुनियाद रखी हो। किन्तु इतना तो अवश्य हुआ कि प्रेमचन्द के समय के ही कवियों ने 'चलो कवि वनफूलों की ओर' एवं 'भारत माता ग्रामवासिनी' कहकर जन-जीवन के नये यथार्थवादी रोमान्स को जन्म दे दिया। यही कारण है कि 'बूँद और समुद्र' जैसा सबल प्रयास भी आंचलिकता को नगर-उन्मुख नहीं कर सका।

हिन्दी के लिए ऐसी स्थिति उत्पन्न हो चुकी थी, जब अंचल पर आधारित 'बलचनमा' जैसी यथार्थ कथा का सृजन हो। इसलिए यह कहना अत्युक्ति नहीं कि 'बलचनमा' हिन्दी कथा-साहित्य की स्वाभाविक एवं अनिवार्य उपज है।

आत्मकथ्य शैली का यह उपन्यास मिथिला की विराट् संस्कृति की नींव की ईंट जैसे एक नौजवान के जीवन का इतिवृत्त है, जिसके ज़रिये सम्पूर्ण मिथिला के सामाजिक, ऐतिहासिक, आर्थिक एवं अन्य जीवन-आयामों को अभिव्यक्ति दी जाती है। अंग्रेज़ों की लादी गई जमींदारी-प्रथा से पैदा होनेवाली श्रम की ग़ुलामी की सीमान्त व्याख्या, उसके शोषक विलास के साथ, यहाँ उपस्थित की गई है। अनादि काल से आती हुई मनु-याज्ञवल्क्य अनुमोदित हिन्दू वर्ण-व्यवस्था के अवशेष समाज की प्रस्तुत कथा मिथिला के समाज का दर्पण है, जहाँ ब्याह-श्राद्ध, उत्सव-शोक, झगड़े-गीत—जीवन का प्रत्येक व्यापार अपनी ऐतिहासिक व्याख्या के साथ उपस्थित किया गया है। समाज के परिवर्तन की मुख्य धाराओं—शिक्षा व राजनीति का यथार्थ अध्ययन इसे आंचलिकता की पूर्णता की ओर ले जाता है। हाँ, बलचनमा की क्षेपक-कथा (पटना-पुराण) निश्चय ही टाँकी गई चिप्पी-जैसी लगती है और अनायास ही 'गोदान' की भाग-दौड़ वाली कथा-पद्धति की याद दिलाती है।

नागार्जुन की यह कथा-दृष्टि आगे चलकर परिपक्व हो सकी और 'बाबा बटेसरनाथ', 'वरुण के बेटे' आदि उपन्यासों में उनका आंचलिक कथाकार अधिक उज्ज्वल रूप में सामने आ सका।

आंचलिकता की इस सफलता ने हिन्दी साहित्य को गहरे रूप में प्रभावित किया और हिन्दी में आंचलिकता का तूफ़ान-सा खड़ा हो गया। नागार्जुन की तरह हिन्दी के स्वाभाविक विकास और कथा-परम्परा को आधार बनाकर आंचलिक उपन्यास-लेखकों में देवेन्द्र सत्यार्थी का नाम महत्त्व का है, जिन्होंने 'ब्रह्मपुत्र', 'दूधगाछ' आदि के ज़रिये उपन्यास के इस आयाम को समृद्ध किया। किन्तु देवेन्द्र सत्यार्थी ने लोक-जीवन से अधिक महत्त्व लोक-गीतों एवं किस्सागोई को दिया, जिसके चलते उनके उपन्यास, उपन्यास लेखकों के मसाला बनकर रह गये। आगे चलकर उदयशंकर भट्ट ने 'सागर लहरें और मनुष्य', भैरव प्रसाद ने 'सती मैया का चौरा' एवं राजेन्द्र अवस्थी तृषित ने 'जंगल के फूल'-जैसी अच्छी कृतियाँ दी हैं। भट्ट के उपन्यास में वे ही त्रुटियाँ आ गई हैं, जो 'वरुण के बेटे' में। यह त्रुटि है नाटकीयता। भट्ट ने कथा में चमत्कार के लिए मछुआ की लड़की को बम्बई की छँटी हुई नागरिका बना दिया और नागार्जुन ने मछुआ की बेटी को कम्यूनिस्ट पार्टी का माउथपीस। मछुआ जीवन पर लिखे गए इन दो उपन्यासों के मछुए बंगला के ख्यातिलब्ध लेखक मानिक वन्द्योपाध्याय के पद्मा के माँझियों के वंशज हैं या नहीं, यह कहना कठिन है, किन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि हिन्दी के ये मछुए कागजी अधिक हो गए हैं। 'सती मैया का चौरा' एवं 'जंगल के फूल' आंचलिक उपन्यासों के अधुनातन प्रयोग हैं, जो अपने अंचलों को विशेष रूप से उद्घाटित कर सके हैं। 'सती मैया का चौरा' अगर अनावश्यक विस्तार से बचाया जाता तो निश्चित रूप से और श्रेष्ठ कृति होती।

हिन्दी में आंचलिकता की चर्चा आयात उपन्यास 'मैला आँचल' से प्रारम्भ हुई। बंगला के शिल्प-निर्माता सतीनाथ भादुड़ी की कथा-भूमि पूर्णिया के जीवन पर लिखा गया यह उपन्यास जब हिन्दी में अवतरित हुआ, तो बंगला से अजाने किसी मूर्धन्य हिन्दी आलोचक ने प्रेमचन्द से गोत्र स्थापित कराते हुए इसे 'गोदान' से श्रेष्ठ उद्घोषित किया और इस नये फतवे की वजह से चर्चा का बाज़ार गर्म हो गया। 'मैला आँचल' हिन्दी का आयात उपन्यास इसलिए है कि लेखक श्री रेणु ने बड़े ही कौशल से भादुड़ी के 'ढोड़ाय चरित मानस' के नीचे कार्बन रखकर इसका आलेखन किया है। ताराशंकर की कथाकारिता को भी रेणु ने आदर्श के रूप में स्वीकारा है, किन्तु यह आदर्श मात्र मानसिक आदर्श रह गया है। 'मैला आँचल' की भाषा, टोन, स्थापत्य, निष्कर्ष—कुछ भी हिन्दी से मेल नहीं खाता। श्री भादुड़ी ने पूर्णिया के ततमा, धांडर, बाबू आदि की कथा जिस अन्दाज, शक्ति, आदर्श एव कलाकारिता से कही है, अगर पात्रों के नाम, घटनाओं की तिथि एवं उपशीर्षकों को अलग कर दिया जाए तो 'मैला आँचल' के लिखने का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता है। यह सत्य है कि रेणु ने अपने गुरु (बकौल रेणु) भादुड़ी के चरण-चिह्नों का अनुसरण बड़े ही ईमानदार ढंग पर किया है, किन्तु मात्र यह ईमानदारी 'मैला आँचल' की आंचलिकता को कहाँ

तक पूर्णता देती है, यह जाँचने की बात है।

उद्भव और उत्स की बातें छोड़ देने पर रेणु की कृतियाँ 'मैला आँचल' एवं 'परती परिकथा' आंचलिक उपन्यास का ईमानदार प्रयास मानी जा सकती हैं। 'मैला आँचल' पूर्णिया के एक गाँव के स्थानीय वातावरण की पृष्ठ-भूमि पर लिखा गया है। सन् '४२ के बाद सन् '४८ तक उस गाँव की स्थिति, संगठन, बोलचाल, रहन-सहन, व्यक्ति के मनोविकार, भारतव्यापी सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक आन्दोलनों को ग्रहण करने की उस अंचल की प्रक्रियाओं के संकलित शब्दचित्रों का नाम 'मैला आँचल' है। लेखक की ईमानदारी इस बात में है कि उसने गाँव के जन-जीवन की प्रतिक्रियाओं को भादुड़ी की सम्पूर्ण ईमानदारी के साथ उतारने की कोशिश की है, किन्तु इस भोली ईमानदारी मात्र से कोई उपन्यास आंचलिकता की शर्तें पूरी नहीं कर देता। सर्वप्रथम, 'मैला आँचल' एक गाँव को लेकर लिखा गया है, जिसके नाम पर संस्कृति के किसी खास लेबल का प्रचलन असम्भव है। दूसरी बात, भादुड़ी-ताराशंकर का अनुगमन कर भी लेखक उनके जनपदीय उपन्यासों की संबद्धता व संगठनशीलता ग्रहण नहीं कर पाया। सांस्कृतिक परिवर्तन के ऐतिहासिक सत्य की व्याख्या पूर्ण रूप से प्रस्तुत नहीं हो पाई है। 'मैला आँचल' किसी भी संस्कृति का कोई भी एन्थ्रोपोलॉजिकल सर्वे प्रस्तुत नहीं करता है। उसकी सफलता, स्थानीय बोलियों के प्रयोग में है।

'मैला आँचल' के अभावों की पूर्ति 'परती परिकथा' में करने की चेष्टा है। यहाँ लेखक सांस्कृतिक परिवेश तैयार करने के लिए कोशी का इतिहास लिखकर कोशी-संस्कृति का बिल्ला अपने उपन्यास पर साँटता है। संस्कृति-उद्घाटन के लिए शिविन्दर मिसिर की कथा-किम्वदन्तियों का क्षेपक-प्रयोग किया है तथा खानदानी काग़ज़-पत्रों के बीच से कोशी-अंचल की भूमि की प्रकृति को निर्देशित करनेवाले सांकेतिक चक्रों की मायावी-जासूसी उपलब्धि कराता है। इतने प्रयासों को स्वीकार लेने के बाद भी कहना पड़ता है कि ये सभी प्रयास सूनेपन को व्यर्थता से भर देने को हैं। मिसर-घराने का क्षेपक उपाख्यान एक ऐसे परिवार की नानी की कहानी बन गई है, जिसे गाँव के जीवन से ऊपरी लगाव-भर है। 'मैला आँचल' से एक प्रगति इसमें अवश्य है कि गाँव में होनेवाली दैनिक हलचलों की प्रतिक्रियाएँ यहाँ अधिक स्पष्ट हैं, किन्तु भावुकता के अतिरेक, चरित्रों की अस्वाभाविकता एवं आदर्श के घटियापन के कारण 'मैला आँचल' से अधिक असफल हो गया है। आंचलिक उपन्यास की मूल-भावना, लोकोदय का रहस्य एवं लोक-जीवन के दर्द को सहानुभूति के बदले व्यंग्य एवं परवर्स्ड रिफलेक्शन में देखा गया।

आंचलिकता की कसौटी पर इतने दुर्गुणों को धारण करने वाले रेणु के ये उपन्यास, औपन्यासिक दृष्टि से श्रेष्ठ हैं। इनकी त्रुटियों का एक बड़ा मूल कारण है कि 'अमृत सन्तान' के कथांचल की तरह यहाँ कोई विशिष्ट कथांचल नहीं है। जिस गाँव के अंचल में इन उपन्यासों की सृष्टि होती है, वहाँ संस्कृति-उद्घाटन के लिए भाषा की विभिन्नता एवं कुछ साधारण रीति-रिवाजों की पद्धति-भिन्नता के अलावा क्या विशिष्टता हो सकती है? वैसे, पूर्णिया के गाँवों का बड़ा अंचल कथा-भूमि के लिए चुनकर और

गहनतापूर्वक अध्ययन कर आंचलिकता के नाम पर कुछ बहुत ही महीन तन्तुओं को ढूंढा जा सकता है, क्योंकि नील-युग के अंग्रेज़ों, नेपालियों, पूर्वी पाकिस्तान के मुसलमानों से इसका गहरा सम्बन्ध रहा है। लेकिन रेणु ने अपना क्षेत्र इतना सीमित रखा है और उपन्यास के लिए जिस रिपोर्ताज-शैली को चुना है कि उसे मात्र छिछला रिपोर्टर बनकर रह जाना पड़ा है। उसके वर्णित गाँवों में सामाजिक जीवन की कोई विशिष्ट धारणा तो है नहीं, बिहार के गाँवों की सर्वसामान्य धारणाओं से अलग लोक-भाषा के चन्द बने-बिगड़े शब्द और भौगोलिक दाय के नाम पर चन्द खान-पान की चीजें उपलब्ध हैं। लेखक ने इसी साधारण भिन्नता को तरह-तरह से अतिरंजित कर असाधारण एवं विशिष्ट बनाने का कसरती प्रयास किया है। यह आंचलिक कला का परवर्सन है। सत्य को प्रकट करने के लिए कला के तोड़-मरोड़ के बदले कलाकारिता को सिद्ध करने के लिए सत्य को विकृत कर दिया गया है। आंचलिकता-प्रेमियों के लिए यह एक दुखद बात है कि रेणु जैसे प्रतिभासम्पन्न कथाकार ने भादुड़ी, ताराशंकर से बाहर झाँकने की कोशिश नहीं की, वर्ना वह बहुत ही श्रेष्ठ कृतियाँ दे पाता। श्री महान्ती या पर्लबक से कुछ सीखे बग़ैर रेणु ने आंचलिकता को अपने आलेखन का आधार बनाकर साहित्य की मौसमी खेती भर की। जिस प्रकार महान्ती ने अपने आदिवासी कथांचल की संस्कृति में भारत की आर्य एवं अनार्य संस्कृति की भिन्नता—सम्मेलन, प्रवाह एवं प्रभाव -- दिखलाई, अथवा पर्लबक ने सम्पूर्ण चीन के कथांचल में वहाँ की सामाजिक एवं आर्थिक धारणाओं का अन्वेषण कर भूमि-सम्पत्ति के मोह को उजागर किया, वैसा कुछ रेणु नहीं कर सका।

इस सामान्य विश्लेषण से इतना स्पष्ट हो गया कि आंचलिक उपन्यास के विकास के लिए परिस्थिति-विशेष की ख़ास आवश्यकता है। उपन्यास साहित्य का विकास स्वयं युग-चेतना की विशद पृष्ठभूमि में हुआ करता है। आंचलिक उपन्यास युग-चेतना के उस निर्माण-काल की अभिव्यक्ति है, जहाँ सामाजिक जीवन में अपनी जाति, अपने धर्म, अपने राष्ट्र की कट्टरता भरी रहती है। यह ठीक है कि आंचलिक उपन्यासों में दृष्टिकोण या विरोधाभास भी काफ़ी रहता है। उपन्यासकार में आंचलिक संस्कृति की विशुद्धता एवं विशिष्टता के लिए विशेष पक्षपात रहा करता है।

आंचलिक उपन्यास विकास के बीच की सीढ़ी है। आंचलिकता के स्तर पर साहित्य का विकास रुकता नहीं है। संस्कृतियों के सम्मिश्रण से ज्यों-ज्यों जीवन का दृष्टिकोण विश्व-सम्मत होता जाता है, साहित्य भी जीवन के बृहत्तर मौलिक तथा सर्वसामान्य सत्यों के लिए अपने को प्रस्तुत कर लेता है। साहित्यकारों के लिए युग-चेतना का यह दायित्व सदा से वहन करने योग्य रहा है।

साहित्य की उपयोगिता तथा औचित्य की दृष्टि से आंचलिक उपन्यास न तो औपन्यासिक दृष्टिकोण के विकास का चरम उत्कर्ष है और न ऐसे उपन्यास को अन्यतम सफलता के साथ लिखकर लेखक अपने दायित्व को हल्का कर लेने योग्य हो जाता है। यह तो विकास की प्रक्रिया मात्र है। इन उपन्यासों के औचित्य एवं उपयोगिता को जब हम मानव-संस्कृति के विश्व-विकासोन्मुखता की कसौटी पर रखते हैं, तो वस्तुतः

आंचलिक सीमाबद्धता के रूप में कितने ही संकीर्ण विरोधों के प्रश्न सामने आ जाते हैं।

सर्वप्रथम, क्या आंचलिक उपन्यासों में संस्कृति के अन्तर-आंचलिक प्रभावों को स्थान दिया जाए ? अगर उपन्यासकार इस बात को स्वीकार करता है तो आंचलिकता की कोई सीमा-रेखा खींचना कठिन हो जाता है। अगर अस्वीकार किया जाता है तो युग-चेतना की गत्यात्मकता में स्थायी वास्तविकता का विरोध खड़ा हो जाता है। चार्ल्स डिकेन्स, प्रेमचन्द एवं बीसवीं सदी के अमेरिकन आंचलिक उपन्यासकारों की कृतियों के आंचलिकता-निर्धारण में यही कठिनाई है। निःसन्देह, जिवेट, पर्लबक, महान्ती, इन तीन सफल उपन्यासकारों के नमूने हैं, जिन्होंने अन्तर-आंचलिक प्रभावों को आँचलिक सीमा के भीतर इस तरह घुला-मिला दिया है, जैसे विभिन्न पदार्थों से बना शरीर का रक्त। यह पाक-प्रक्रिया आंचलिक उपन्यासों की खास समस्या है।

अस्तु, आंचलिक उपन्यासों की पहली दशा यह है कि इनके कथांचल की अपनी विशिष्ट संस्कृति हो। दूसरी, इस संस्कृति का उद्‌घाटन दो सम्मिलित प्रणालियों द्वारा हो। अध्ययन की प्रणाली के रूप में आंचलिक उपन्यास संस्कृति-अनुसन्धान की प्रक्रियाएँ पूरी करता है और औपन्यासिक प्रणाली के रूप में आंचलिक आवरण के भीतर जीवन के चित्र खींचता है। ऐसे उपन्यासों में मनोविश्लेषण की कोई व्यक्तिपरक प्रणाली नहीं होती है। यह प्रणाली जाति-परक और वर्ग-परक होती है। पात्र अपना प्रतिनिधि नहीं होता, बल्कि जाति या वर्ग का और उसी परिभाषा में व्यक्ति का मनोविज्ञान उसकी अपनी प्रकृति नहीं होती, बल्कि उसकी जाति-संस्कार अथवा वर्ग-संस्कारगत विकास की प्रक्रिया होती है। इस तरह आंचलिक उपन्यास में उद्देश्य की दृष्टि से पात्रों का चुनाव दूसरी बड़ी समस्या है। यहाँ पात्रों की अपनी निश्चित क्रिया होती है और वे एक निश्चित दायित्व को वहन करते हैं। जन-जीवन के विभिन्न पक्षों का प्रतिनिधित्व करते हुए ये पात्र उपन्यास के अनुसन्धानिक माध्यम होते हैं। आंचलिक उपन्यासों में ऐसे पात्रों का महत्त्व नहीं होता, जो अपनी किस्म के आप प्रतिनिधि हों। 'परती-परिकथा' के भिम्मल मामा जैसे हीट्रोजीनियस पात्र अंचल को उभार तो ज़रूर देते हैं, किन्तु संस्कृति के अनुसंधान में ऐसे पात्र बाधक होते हैं।

इतनी सारी बातों के बाद, यद्यपि हिन्दी में अभी तक सर्वांग सफल आंचलिक उपन्यास लिखा नहीं गया है, किन्तु इस ओर प्रयास में कमी नहीं है। आज के दिन, हिन्दी उपन्यास की एक मुख्य धारा के रूप में आंचलिकता उभर आई है, जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि निकट भविष्य में, निश्चय ही हिन्दी में जिवेट, पर्लबक, महान्ती जैसा व्यक्तित्व आने को है।

डॉ० बेचन

स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य और चरित्र-विकास

प्रेमचन्द ने एक स्थान पर लिखा है कि भविष्य में उपन्यास में कल्पना कम सत्य अधिक होगा, हमारे चरित्र कल्पित न होंगे, बल्कि व्यक्तियों के जीवन पर आधारित होंगे। भावी उपन्यास जीवन-चरित्र होगा, चाहे किसी बड़े आदमी या छोटे आदमी का। उसकी छुटाई-बड़ाई का फ़ैसला उन कठिनाइयों से किया जाएगा, जिन पर उसने विजय पाई है। अभी हमें मूल आधार दिखाना होगा। किसी किसान का चरित्र हो या किसी देशभक्त का या किसी बड़े आदमी का, पर उसका आधार यथार्थ पर होगा। तब यह काम उससे कठिन होगा जितना अब है, क्योंकि ऐसे बहुत कम लोग हैं, जिन्हें बहुत-से मनुष्यों को भीतर से जानने का गौरव प्राप्त हो।[1] आज के रूसी उपन्यास प्रेमचन्द के इस कथन को चरितार्थ करते हैं। पेस्टरनक का उपन्यास 'डॉक्टर जिवागो', निकोलाई ओत्रोवोस्की का उपन्यास 'अग्निदीक्षा' इसका सुन्दर उदाहरण है। 'अग्नि-दीक्षा' दरअसल प्रारम्भ से अन्त तक लेखक की आत्मकथा है। इस युग की कथा के लिए चरित्र-विकास ही प्रधान हो गया। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-कहानी में भी यही प्रवृत्ति पाई जाती है। घटना की बाँहों से छूटकर हिन्दी-कहानी 'चरित्र' के ही आलिंगन में आ बँधे, यह हिन्दी कथा-सृष्टि के लिए शुभ संयोग है। चरित्र ऐसे, जिनके प्राण का आविर्भाव कल्पना के आकाश से न होकर कथाकार की आत्मानुभूति के धरातल से हो, ऐसी योजना नई लेखनी द्वारा ही संयोजित हुई है।[2]

आज के उपन्यास-शिल्प का मेरुदण्ड है चरित्र।[3] श्री श्रीपतराय का मत है कि आज का उपन्यास वैचित्र्यिकृत आत्मकथा का रूप लेता जा रहा है।[4] सच बात तो यह है कि बिना महान् चरित्र के कोई भी उपन्यास महान् नहीं बन सकता है। इसीलिए वाल्टर एलन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में लिखा है—

"देयर इज़ नो ग्रेट नावेल विदाउट ग्रेट केरेक्टर।"[5]

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद हिन्दी-कथा-साहित्य में नये विचारों एवं नई उत्क्रान्ति ने अभिव्यक्ति पाई। सन् १९५० तक उस उदय-उत्क्रान्ति ने एक सुस्थिर दिशा पा ली, जो निस्सन्देह हिन्दी-कथा-साहित्य के लिए शुभ प्रतीत हुई। इस तिथि के आसपास हिन्दी-साहित्य में गत्यवरोध, गतिरोध और कुंठा का नारा खूब लगाया गया। गतिरोध के इस प्रचार-प्रसार से प्रभावित होकर दिनकर जैसे समाजवादी साहित्यकार भी कहने लगे कि आज गांधीवाद और मार्क्सवाद की सीमा पर खड़ा भारत सोच रहा है कि वह किधर जाए। इसमें कोई सन्देह की बात नहीं कि ऐसा केवल इसलिए हो

१. कुछ विचार, पृ० ५६।
२. आज, साहित्य विशेषांक, १९६१, पृ० १८।
३. आलोचना (उपन्यास विशेषांक), पृ० १५८।
४. उपन्यास का रूप-विधान, साहित्यकार सम्मेलन, इलाहाबाद में पठित निबन्ध, १९५७ ई०।
५. दी इंगलिश नावेल, पृ० १५।

रहा था कि ये कलाकार स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद साहित्य के लिए कोई व्याख्येय विचार-दर्शन नहीं खोज पा रहे थे। परिणामस्वरूप कुछ दिनों के लिए हिन्दी में अराजकता जैसी स्थिति परिलक्षित होने लगी। इस अराजकता और कुंठा की स्थिति को कांग्रेस के समाजवादी समाज (Socialistic Pattern of Society) के नारे ने बहुत-कुछ कम कर दिया और साहित्य के प्रति बहुत सारे रचनाकारों का दृष्टिकोण साफ़ हो गया—विशेषकर ऐसे साहित्यकारों का, जो मार्क्सवाद से छूत की बीमारी की तरह परहेज़ करते थे और साहित्य का पानी कला की छन्नी से छानकर पीते थे। हालाँकि पूर्णतः ऐसा कहना भी शायद असत्य होगा कि समाजवादी दृष्टिकोण ने ही गत्यवरोध और कुंठा के स्थान पर नये, ताज़े और निर्माणोन्मुखी कथा-साहित्य को जन्म दिया। गत्यवरोध समाप्त करने में नये साहित्यकारों ने बहुत बड़ा सहयोग दिया, जिनकी दृष्टि नये होने के कारण स्वाभाविक रूप से व्यापक थी, क्योंकि वे स्वतंत्रता की हवा में साँस ले रहे थे, लेकिन यहाँ मैं यह नहीं कहना चाहता हूँ कि वे नये साहित्यकार कांग्रेस द्वारा प्राप्त स्वतंत्रता में पूर्ण आस्था रखते थे। कई लोगों का बड़ा गहरा मतभेद इसमें था, किन्तु वे नये थे अर्थात् उनका पूर्ण विकास इस युग में हो रहा था, अतएव इनकी रचनाएँ परम्परागत कथा-परम्परा को छोड़ रही थीं। किन्तु उस समय के परम्परागत कथाकार, जो प्रेमचन्दोत्तर कथा-धारा के सबल स्तम्भ माने जाते थे, पुरानी विचारधारा और अपने सीमाबद्ध क्षेत्र में रहकर रचनाओं का सृजन कर रहे थे, जिससे गत्यवरोध और घुटन तो बढ़ ही रही थी, नये कथाकारों को उससे सन्तोष भी नहीं हो पा रहा था। इस युग में प्रकाशित जैनेन्द्र, अज्ञेय और अश्क आदि की रचनाएँ इसका उदाहरण पेश करती हैं। भुवन (नदी के द्वीप, १९५१) शेखर का ही दूसरा रूप है, गरमराख (१९५२) का नायक चेतन का प्रतिरूप है और सुखदा एवं विवर्त (१९५३) सुनीता का। इस पुनरावृत्ति की परम्परा को तोड़ने में उस समय निम्नलिखित बाह्य और आन्तरिक शक्तियों ने योगदान दिया—कथाकारों की सामाजिक यथार्थवाद पर नई आस्था, जीवन को समग्रता में देखने का प्रयास अर्थात् नगर और ग्राम-जीवन को एकाकार कर एक ही कृति द्वारा प्रभाव उत्पन्न करने का महाकाव्योचित प्रयास, नवीन भाषा-संस्कार अर्थात् आंचलिक भाषा-शैली का अधिकाधिक प्रयोग और जनवादी भावनाओं का पृष्ठपोषण अर्थात् 'जिनमें जीवन के प्रति अनुराग एवं मानव-प्रेम है, जो स्थायी विश्व-शान्ति, आज़ादी और जनवाद के समर्थक हैं।'[1]

उपर्युक्त प्रवृत्तियाँ स्वातन्त्र्योत्तर अधिकांश कृतियों में आसानी से देखी जा सकती हैं, जिसका सबल सूत्रपात नागार्जुन ने अपने 'बलचनमा' के द्वारा किया। नागार्जुन का औपन्यासिक विकास स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद होता है। उनकी पहली औपन्यासिक कृति का प्रकाशन १९४८ ई० में हुआ। यही बात रेणु के साथ भी है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद ही कतिपय महत्त्वपूर्ण कथाकारों का विकास होता, जिनमें रांगेय राघव, अमृतलाल नागर, हजारीप्रसाद द्विवेदी, बलवन्तसिंह, भारती, देवराज,

१. शिवदानसिंह चौहान।

राजेन्द्र यादव, रेणु, नरेश मेहता, कमलेश्वर, राकेश, मार्कण्डेय, मन्नू भंडारी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इस युग की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ निम्नलिखित हैं—'बलचनमा', 'दुखमोचन' (नागार्जुन), 'गंगा मैया', 'जंजीरें और नया आदमी' (भैरवप्रसाद गुप्त), 'मैला आँचल', 'परती परिकथा' (रेणु), 'अमरबेल' (वृन्दावनलाल वर्मा), 'जयवर्धन' (जैनेन्द्रकुमार), 'गरमराख' (अश्क), 'झूठा-सच' (यशपाल), 'सागर, 'लहरें और मनुष्य' (उदयशंकर भट्ट), 'कब तक पुकारूँ', 'गदल' (रांगेय राघव), 'नदी के द्वीप' (अज्ञेय), 'उखड़े हुए लोग' (राजेन्द्र यादव), 'डूबते मस्तूल' (नरेश मेहता), 'पथ की खोज' (डॉ० देवराज), 'गुनाहों का देवता', 'सूरज का सातवाँ घोड़ा', 'गुलकी बन्नो' (भारती), 'बूँद और समुद्र', (अमृतलाल नागर), 'चारुचन्द्रलेख' (हजारीप्रसाद द्विवेदी), 'जहाज का पंछी' (इलाचन्द्र जोशी), 'बीज' (अमृतराय), 'पूरब और पश्चिम' (राधिकारमणसिंह), 'भूले बिसरे चित्र' (भगवतीचरण वर्मा), 'अंधेरे बन्द कमरे' (मोहन राकेश), 'इन्दुमती' (सेठगोविन्ददास), 'भूदानी सोनिया' (उदयराजसिंह), 'निर्देशक' (पहाड़ी), 'बोरीबली से बोरी बन्दर तक' (शैलेश मटियानी), 'बोगस', 'फुटपाथ', 'रामलीला' (राधाकृष्ण), 'चाँदनी के खण्डहर' (गिरधर गोपाल), 'लोहे के पंख' (हिमांशु श्रीवास्तव), 'बया का घोंसला और साँप' (लक्ष्मीनारायणलाल), 'दूधगाछ' (देवेन्द्र सत्यार्थी), 'सोया हुआ जल' (सर्वेश्वरदयालसक्सेना), 'परन्तु' (माचवे), 'उद्भ्रान्त' (जैनकुमार जैन), 'भँवर के बीच' (श्यामलकिशोर झा), 'अनामन्त्रित मेहमान' (माधवन) आदि।

स्वतन्त्रता-पूर्व की कथाकृतियों में अर्थात् प्रेमचन्दोत्तर कथाकारों ने औपन्यासिक महाकाव्यात्मक व्यक्तित्व के अभाव में खण्डित व्यक्तित्व का चित्रण किया। फलतः अधिकांश कथा-चरित्र रेखाचित्र मात्र हैं। लेकिन उस युग के आलोचक यह दावा करते रहे कि आज के जीवन को विभिन्न खण्डित आयामों एवं इकाइयों में ही देखा जा सकता है। 'क्राइसिस' के इस युग में संभव नहीं कि 'गोदान' जैसी महाकाव्यात्मक रचना का सृजन हो। हालाँकि पृष्ठों की तुलना में इस बीच 'गोदान' से अधिक पृष्ठ वाले उपन्यास भी प्रकाशित हुए, पर उनमें 'गोदान' का-सा व्यापक जीवन-चित्रण नहीं है। किन्तु स्वातन्त्र्योत्तर युग में 'गोदान' की परम्परा को विकसित करते हुए युग की समकालीन यथार्थ परिस्थितियों का चित्रण प्रेमचन्द एवं अन्यान्य समष्टिवाही कथाकारों की-सी संवेदना का ऐसा ही चित्रण 'बलचनमा' और 'परती परिकथा' में किया गया। सम्पूर्ण परती धरती की कथा जित्तन, लुत्तो, ताजमनी, सुवंशराय आदि के माध्यम से उभरती है, अर्थात् यदि शेक्सपीयर से विचार उधार लिये जायँ तो कहा जा सकता है कि 'परती' एक रंगमंच है और उपन्यास के विभिन्न पात्र उस पर अभिनय करने वाले अभिनेता हैं। इसीलिए 'परती परिकथा' के पात्र व्यक्ति-चरित्र नहीं हैं, क्योंकि उनकी कथा प्रमुख नहीं, बल्कि वे समष्टि-चरित्र हैं, मात्र जाति चरित्र से भी अधिक। इसलिए यहाँ व्यक्तियों के साथ-साथ परती धरती भी अपनी चारित्रिक विशेषताओं को स्पष्ट करती है और समूह के इस चरित्र-विश्लेषण की व्यापकता को लेकर श्री फणीश्वरनाथ 'रेणु' ने अपने उपन्यासों की सृष्टि की है। प्रकृति का एक खण्ड, दुलारी राय की धूल-भरी परती धरती तथा मिथिला का 'मैला आंचल'

उसकी कथा का विषय है। उपन्यास का नायकत्व किसी एक व्यक्ति को प्रदान नहीं किया गया है, क्योंकि केवल व्यक्ति का महत्त्व वहाँ नहीं है। कथा व्यक्ति के पीछे नहीं चलती। इस प्रसंग में विश्व-कथा-साहित्य की अन्यतम रचना 'मदर' का भी उदाहरण अपेक्षित है। गोर्की के 'मदर' या 'माँ' उपन्यास से पावेल का चरित्र निकाल दिया जाए तो उपन्यास में वर्णित विद्रोह, रूस के मजदूरों का जीवन-संघर्ष अपनी वेष-भूषा (गेसचर-पोसचर) के द्वारा भी उपन्यास के प्रभाव को जीवित रखते हैं। इलिया इहरेनबुर्ग की 'आँधी', ओत्रोवस्की की 'अग्निदीक्षा', हेमिंग्वे के उपन्यासों, विशेष रूप से 'सागर और बूढ़ा आदमी' (दी ओल्डमैन एंड दी सी) जैसे लघु उपन्यासों से भी यदि प्रमुख चरित्र को हटा लें, तो उपन्यास का प्रभाव सुरक्षित रह जाता है, जो मानव के श्रम-संघर्ष अथवा सागर और पौरुष का परिचायक है। सन् १९५०-६० के बीच सम्पूर्ण विश्व-उपन्यास की यह स्थिति थी। वहाँ व्यक्ति और समाज का पारस्परिक सम्बन्ध बड़ा घना दिखाया गया है, किन्तु इन क्रुद्ध पीढ़ी के लेखकों की नज़रों में समाज बड़ा विकृत है। ये अपनी इकाई को स्वतन्त्र मानते हैं। किन्तु केवल आत्म-कथात्मक चरित्रांकन इनका ध्येय नहीं है। विलियम गोलिंडग, आइरिश मुरडोक्स, जेन आस्टीन, मान, स्नो, आदि इस युग के प्रतिभाशाली उदाहरण हैं जिनका उद्देश्य आज जीवन की महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्ति करना ही है।

"But the most important fact about the novel at present is that it is vigorously worked field producing some rich results. It should develop, finding new scope and strength, whether as what it is at the moment a moral drama or as a more direct portrayal of life. This is good and also important since this literary form seems to be the most fit to be our civilization's ehief instrument of awareness and self-expression."

इस युग के कथा-साहित्य में प्राचीन काल के धीरोदात्त क्षत्रिय का, देववंशोद्भव नायकों का सर्वथा अभाव हो गया है और उनके स्थान पर साधारण मज़दूर-किसानों की बात छोड़िए, असाधारण अविकसित मानव तथा अपराधी मनोवृत्ति वाले चोर, जुआ-बाज़ और व्यसनी मनुष्यों का साधिकार प्रवेश होने लगा है। नवीन ज्ञान-विज्ञान की उन्नति के कारण कथा-साहित्य में रेल, तार, इंजन, एटमबम, राकेट की बातों का भी संरक्षण मिलने लगा। साथ ही समुद्र, क्षेत्रीय विशेषताएँ, टेस्टट्यूब बेबीज, यौन-परिवर्तन इत्यादि की बातें भी कथा-साहित्य में प्रवेश करने लगी हैं। राष्ट्रीय नव-निर्माण एवं क्रेनों, ट्रेक्टरों और बुलडोज़रों की नई गड़गड़ाहट के बीच से नया मानव निर्मित होकर कथा-साहित्य में स्थान पाने लगा है। इस व्यापक परिवेश के परिणामस्वरूप कथा-चरित्रों में दो धाराओं का विकास हुआ। आलोचकों ने उनका नामकरण 'शहरी एवं ग्रामीण' कथा के रूप में किया है। शहरी कथाओं में अधिकतर मध्यवर्गीय चरित्रों का एवं ग्रामीण कथाओं में अंचल-विशेष के पात्रों का चित्रण हुआ है। श्री राजेन्द्र यादव ने उपर्युक्त दोनों धाराओं का विश्लेषण करते हुए बताया है कि साहित्य

में छाये हुए छिछलेपन और झूठे अनजांचे मूल्यों के घपले के कारण ही नवोदित कथाकारों का एक दल ग्रामीण जीवन एवं आंचलिक इकाइयों की ओर तथा दूसरा विदेशी साहित्य की ओर मुड़ा। 'पराजित पीढ़ी के दर्दाभ्यासी' हठयोगियों ने 'दृष्टिहीनता' के दर्शन का बड़ा बखान किया था। किन्तु इनके दिलों में तो देवदास और बाइरन बैठे थे। इन्होंने अपने साहित्य में 'बार' या सोसाइटी में चहकने वाली लड़कियों को 'सभ्यता का शिकार' बनाकर पेश किया। इन लड़कियों को वैसा ही नायक मिलता था, जिसकी दोनों जेबों में पैसे भरे होते थे और वह उन्हें खुलकर लूटना भी जानता था। इन नोटों को लूटने वाले कभी टैक्सी वाले होते हैं, कभी 'बार' की लड़कियाँ, कभी 'बैरे' आदि। नये कथाकारों में ऐसे पात्र राजकमल चौधरी, राजेन्द्र यादव-निर्मल वर्मा, प्रेमकुमार, रामकुमार, मोहन राकेश आदि ने रचे हैं। यही नायक शराब भरे गिलासों को झुला-झुलाकर चुस्कियाँ लेता हुआ, निहायत ही एक्टराना ढंग से 'बेचारी नाचने वालियों' की ज़िन्दगी का अध्ययन शुरू कर देता है। इनमें गरीबी भी अपना महत्त्वपूर्ण पार्ट अदा करती है और यह 'प्रिंस' किस्म का नायक ठीक उनके बीचोबीच पहुँच जाता है। यदि इससे भी मौलिक साहित्य की रचना करनी हो तो बाप-बेटी या भाई-बहन का शरीर सम्बन्ध दिखा दिया गया।[1]

ग्रामीण चित्रण के अन्तर्गत किसी एक इलाका, जनपद या अंचल का चित्रण होता है। उस विशेष अंचल की पटभूमि पर लेखक वहाँ के सामाजिक जीवन का चित्रण स्थानीय किसानों, बुद्धिवादियों तथा अन्य वर्गों के पात्रों द्वारा करता है। ऐसी रचनाओं में नवीन सामाजिक पृष्ठभूमि में उभरते नये मानव, आर्थिक-सामाजिक संघर्ष और चरित्रों की सृष्टि, नागार्जुन, रेणु आदि कथाकारों ने अधिक की है। इन रचनाओं में कथाकारों ने समृद्ध चरित्रों के चित्रण किए हैं। जित्तन, ताजमनी, बलचनमा, सुखराम, कजरी और प्यारी, बामनदास आदि इस युग के अजर-अमर पात्र हैं, जिन्हें दूर से ही पहचाना जा सकता है। विशिष्ट चरित्रों पर आधारित कुछ कहानियाँ बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं, जिनमें 'शाखामृग' (शिव प्रसादसिंह), 'एक्टर' (राजेन्द्र यादव) तथा 'नींद' उल्लेख्य हैं।

इस युग के चरित्रों में 'एबनार्मलिटी' बहुत-कुछ समाप्त हो गई है। हालाँकि आज के कुछ पात्रों का मन कुण्ठित और भ्रान्तियों, अविश्वासों, विशृंखलताओं आदि से ग्रस्त है।[2] किन्तु अधिकांश पात्रों में आस्था और नये जागरण के प्रति चेतना है। अमृतराय के 'बीज' में सत्यवान अपनी पत्नी से दृढ़ होकर कहता है—"इस घाव में हमारे नये जीवन के विराट अश्वत्थ का बीज छिपा है, हमारे नये सुख का बीज, नये प्रभात का बीज। इस स्वयंवर-वेला में हम उस प्रभात को प्रणाम करें।" यह एक ऐसी दृढ़ आस्था थी, जिसने समस्त स्वातन्त्र्योत्तर औपन्यासिकों को प्रभावित किया। शहरी मध्यवर्गीय औपन्यासिक पात्रों के चित्रण में इससे एक त्वरा आई। यशपाल का 'झूठा सच' उनके अब तक के प्रकाशित उपन्यासों में सर्वश्रेष्ठ है। 'झूठासच' के अधिकांश पात्र मध्यम वर्ग के हैं। शायद स्वतन्त्रता के बाद के भारतीय जीवन और पात्रों

१. विनोद (विशेषांक), अगस्त १९६०, पृ० १३७।
२. आलोचना (७), पृ० ३५।

को इतने व्यापक ढंग से देखने का प्रयास पहली बार किया गया है। इसके सभी पात्र सजीव और प्राणवान हैं, जिनकी संख्या भी चालीस के करीब है। यह लेखक की असाधारण सफलता है, हालाँकि इसमें 'होरी' या सूरदास (रंगभूमि) या 'बलचनमा' या ताई (बूँद और समुद्र) की तरह पाठक को अभिभूत करने वाला कोई चरित्र नहीं आ सका है। फिर भी इस उपन्यास के सभी पात्र मिलकर विभाजित हिन्दुस्तान का एक जीता-जागता चरित्र पैदा करते हैं। सन् '५० के बाद अनेक नये दक्षिण भारतीय कथाकारों ने भी हिन्दी भाषा में श्रेष्ठ उपन्यासों की रचना की। नये चरित्र इन उपन्यासों में दिखाई पड़े। ऐसे सारे कथाकारों में आनन्द शंकर माधवन के 'अनामंत्रित मेहमान' का अपना अलग स्थान है। 'गोदान', 'भूले बिसरे चित्र', 'झूठा सच', 'पथ की खोज', 'बूँद और समुद्र' की पंक्ति में इस उपन्यास का स्थान सुरक्षित है। उपन्यास के सारे पात्रों को विकास-क्रम की दृष्टि से स्थान मिल चुका है, भले ही इसकी चर्चा (प्रोपेगेंडा) ज़्यादा नहीं हुई हो। होरी, शेखर, बलचनमा, जितेन्द्रनाथ आदि ऐसे अमर पात्रों की परम्परा में माधवनजी ने दत्तात्रेय और यशवंत आदि पात्रों को लाकर खड़ा कर दिया है। इन पात्रों ने दक्षिण भारत पर अपनी छाप लगा दी है। उपन्यासकार ने आशा प्रकट की है कि यशवन्त का जीवन फूले-फलेगा।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद अर्थात् १९५० के बाद अर्थात् गणतंत्र्योत्तर हिन्दी कथा-साहित्य में शिशुओं को भी पर्याप्त स्थान मिलने लगा है। ऐसे कथाकारों ने शिशुओं का चित्रण करना इसलिए अनिवार्य समझा कि उनकी यह मान्यता है कि चरित्र की मूल रेखाएँ जीवन की प्रारम्भिक अवस्थाओं में ही निश्चित हो जाती हैं। इसी अवस्था में व्यक्तित्व की नीचाई और ऊँचाई का बिकास हो चुकता है। इस बीच प्रकाशित सेठ गोविन्ददास के बृहद् उपन्यास 'इन्दुमती' और 'रेणु' के उपन्यास 'परती परिकथा' में इसका थोड़ा चित्रण हुआ है। 'इन्दुमती' में एक सेठ का भी टिपिकल चरित्र आया है। स० ही० वात्स्यायन[1] का विचार है कि ऐसे सफल पात्र हिन्दी में अन्यत्र मिलना सम्भव नहीं। मारवाड़ी सेठ की प्रकृति की सफल तस्वीर उतारी गई है। सेठजी की अन्यान्य रचनाओं में भी इस प्रकार के पात्र आये हैं।' सेठजी ने जिस वर्ग-विशेष में जन्म लिया और जिस परिपार्श्व में उनका गठन हुआ है, उसी परिप्रेक्ष्य से उभरने वाले ये चरित्र हैं। किन्तु ऐसा चरित्र-विकास गणतंत्र्योत्तर चरित्रों का विकास नहीं माना जाएगा। स्वतन्त्रता-पूर्व के पात्रों की-सी प्रतिध्वनि इन पात्रों में सुनाई पड़ती है। इस युग के चरित्रों और समस्याओं को लेकर नागार्जुन का 'बलचनमा' और 'दुखमोचन' एवं रेणु का 'मैला आंचल' और 'परती परिकथा' की सृष्टि होती है। इसीलिए ये उपन्यास अधिक सफल जान पड़ते हैं। प्रेमचन्द-परम्परा की चारित्रिक विशेषताओं का सफल अंकन इन कृतियों में हुआ है।[2] 'गोदान' का होरी इसका प्रतिमान है, जो समस्त भारतीय कथा-साहित्य में अप्रतिम है। होरी की परम्परा में नागार्जुन का 'बलचनमा' और नागर का 'सेठ बाँकेमल' उल्लेख्य हैं। ये पात्र अपने युग की समस्त सामाजिक

१. आजकल, मार्च १९५३, पृ० १३।
२. आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और चरित्र-विकास, पृ० २६६।

और सांस्कृतिक विशेषताओं की जीती-जागती तस्वीर पेश करते हैं। यदि ज़मींदारी प्रथा के उन्मूलन के साथ होरी की कहानी समाप्त होती है, तो 'बाँकेमल' और 'बलचनमा' अपने परम्परागत संस्कारों के कारण नई सभ्यता का समन्वय प्रस्तुत करते हैं। 'बलचनमा' के रूप में नागार्जुन ने प्रेमचन्द की परम्परा को आगे बढ़ाया है और होरी की वंशावली अर्थात् गोबर को चित्रित किया है। 'बलचनमा' को गोबर का विकसित रूप कहा जा सकता है।[1]

'परती परिकथा' के पूर्व और 'गोदान' के बाद के कथा-साहित्य की प्रगति मूलतः व्यक्ति-चरित्र-प्रधान साहित्य-रचना का उदाहरण है। यह परम्परा 'बलचनमा' तक चलती रही, हालाँकि 'बलचनमा' में व्यक्ति का सामाजीकरण किया गया है। इस युग में रचे गए पिछली पीढ़ी के कथाकारों के अधिकांश पात्रों को चारित्रिक विश्लेषण में हिन्दी के पूर्ववर्ती एवं बंगला के कथा-चरित्रों से तुलना करने पर कोई विशेष मौलिकता परिलक्षित नहीं होती है। जैनेन्द्र, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी और अश्क आदि लेखकों के अधिकांश चरित्र प्रेमचन्द एवं शरत् के पात्रों से आगे नहीं बढ़ पाए। इस युग में चित्रित उनके पात्र उन्हीं की कृतियों की पुनरावृत्ति करने लगे। शरत् के पात्रों की असीम करुणा, विशेष रूप से नारी पात्रों की, हिन्दी कथाकारों पर अब भी हावी है। 'परती परिकथा' के नारी पात्र ताजमनी और इरावती में इसी करुणा की छाया स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। देवराज और भारती के पात्रों पर जैनेन्द्र तथा अज्ञेय का स्पष्ट प्रभाव तो देखा ही जा सकता है।[2] 'बलचनमा' को पढ़ते हुए हठात् गोबर की याद आ ही जाती है। 'बलचनमा' के प्रणयन के बाद हमने आशा प्रकट की थी कि सम्भवतः शीघ्र ही प्रेमचन्द की परम्परा में नये हस्ताक्षर होंगे और इसका नेतृत्व बिहार करेगा।[3] सचमुच ऐसा हुआ भी, पर नागार्जुन 'बलचनमा' के बाद पुनः बलचनमा की ऊँचाई तक भी नहीं पहुँच पाए। किन्तु 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' के प्रकाशन के बाद रेणु ने वह स्थान प्राप्त कर लिया।

नागार्जुन प्रेमचन्द की अपेक्षा श्रेष्ठ चेतन, संघर्षशील वर्ग-चरित्र निर्मित करते हुए भी व्यक्ति तक ही सीमित रह जाते हैं, जिसकी पुष्टि उनके अधिकांश उपन्यासों के नामों से भी हो जाती है, जैसे 'रतिनाथ की चाची', 'बलचनमा' और 'दुखमोचन'। केवल कुछेक कृतियों में वैयक्तिकता से निकलकर वे जन-चेतना को पात्र बनाने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु रेणु का प्रयत्न व्यापक भूखंड को मुखरित करने का रहा है, इसीलिए उन्होंने नागार्जुन की तरह केवल प्रकार-विशेष के पात्रों का ही निर्माण नहीं किया बल्कि सामूहिक चरित्र का भी निर्माण किया। विश्वविख्यात उपन्यासकारों ने इस दृष्टि का परिचय अपनी रचनाओं में दिया है। 'धीरे बहो दोन रे,' 'वरजिन सायल अपटर्न', 'वार एण्ड पीस' आदि उसके उल्लेख्य उदाहरण हैं। 'गोदान' और 'झूठा सच' के पूर्व के प्रेमचन्द और यशपाल में इस दृष्टि का अभाव था। इसीलिए रेणु और नागार्जुन

१. आधुनिक कथा-साहित्य और चरित्र-विकास।
२. आलोचना (१४), पृ० ४२।
३. अजन्ता, अप्रैल, १९५८, पृ० २२।

विश्वविख्यात कथाकारों की पंक्ति में श्रेष्ठ स्थान के अधिकारी हैं। किन्तु नागार्जुन 'दुखमोचन', 'वरुण के बेटे', 'उग्रतारा' और 'कुम्भीपाक' आदि का सृजन कर और रेणु 'दीर्घतपा' एवं 'जुलूस' की रचना कर विश्वकथाकार की पंक्ति में खड़े होने तक के अधिकारी नहीं हैं। किन्तु इन दोनों ने 'बलचनमा', 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' लिखकर और कुछ न लिखा होता तो विश्व के कथाकारों की पंक्ति में आ ही जाते। पर खेद की बात है कि अपने औपन्यासिक 'रुचि परिवर्तन'[1] के दौरान इन दोनों कथाकारों ने अन्यान्य उपन्यासकारों की तरह एक पर एक निर्जीव और बेजान पात्रों की सृष्टि की है। हालाँकि कथा-शिल्प और जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति की दृष्टि से ये दोनों कथाकार गोर्की, इलिया इहरेनबुर्ग, एलेक्सी टालसटाय के निकट पहुँच जाते हैं और कहीं-कहीं उनसे भी महत्त्वपूर्ण बातें कह जाते हैं। कहीं हमने नागार्जुन के उपन्यास 'बलचनमा' को हिन्दी का महाकाव्य कहा है। किन्तु 'बलचनमा' यदि चरित्र-प्रधान महाकाव्य है तो 'परती परिकथा' व्यापक धरती का महाकाव्य है जिसे शिवदान-सिंह चौहान जैसे आलोचक इस युग का महाकाव्य मानते हैं :

"कुदरत को आईना दिखाते हुए प्रेमचन्द ने बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध के व्यापक समूह को गोदान का पात्र और विषय बनाया था, उसी प्रकार 'परती : परिकथा' में बीसवीं सदी के उत्तरार्ध के व्यापक जन-समूह को पात्र और विषय बनाया गया है। इसलिए "हर व्यक्ति, समाज का हर वर्ग, राजनीति का हर दल उसमें अपने आचरण और अपनी वर्तमान भूमिका का सही चित्र देख सकता है।[2]" साथ ही यह 'गंगा मैया' और 'कोशी मैया' की गाथा है, जिसकी ज़मीन को मटरू और जित्तन उपजाने का प्रयत्न करते हैं। जित्तन गुलाब की खेती करना चाहता है, मटरू जुआर उपजाएगा।

अतः ऐसा कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द की परम्परा में नागार्जुन और रेणु द्वारा महत्त्वपूर्ण चरित्रों के निर्माण हुए हैं और रेणु ने चरित्र-विकास के नये प्रतिमान स्थापित किए हैं।

१. यह कथन नागार्जुन का ही है।
२. आलोचना के मान, पृ० १४।

डॉ० प्रभाकर माचवे

विदेशों में हिन्दी-साहित्य

प्रास्ताविक

'आलोचना' पत्रिका ने एक मास पूर्व जब यह लेख लिखने के लिए आमन्त्रित किया, मैंने पच्चीस से अधिक पत्र देश-विदेश में राजदूतावासों, विभिन्न विश्वविद्यालयों और मित्रों को भेजे। दस-बारह पत्रों के उत्तर मिले। शायद और उत्तर अभी आते हों; यदि और देशों से कुछ सामग्री प्राप्त होगी तो वह अगले अंक में परिशिष्ट-रूप में मैं भेजूँगा। यह जो जानकारी मैं दे रहा हूँ, इसमें मेरी सन् १९५९ से १९६१ के बीच संयुक्त राष्ट्र अमेरिका तथा यूरोप और मध्यपूर्व के पन्द्रह देशों की यात्रा के आधार पर कुछ संस्मरणात्मक जानकारी है; कुछ पत्रों से और पुस्तकों से प्राप्त और कुछ पत्र-व्यवहार से प्राप्त है। मेरा दावा नहीं है कि यह जानकारी सम्पूर्ण है, या यह सब त्रुटिहीन है। जितना सम्भव था, वह मैंने यह जानकारी जमा करने के लिए किया। और जानकारी और लोग देंगे, ऐसी आशा है।

इस जानकारी को मैं अकारादि क्रम से निम्न बारह देश-नामों से प्रस्तुत कर रहा हूँ : अमेरिका, इटली, चैकोस्लोवाकिया, जर्मनी (पश्चिमी, पूर्वी), जापान, पोलैंड, फ्रांस, बर्मा, ब्रिटेन, सिंहल, सोवियत रूस।

अमेरिका (संयुक्त राष्ट्र)

मैं स्वयम् विसकान्सिन विश्वविद्यालय के मैडिसन कैम्पस पर और कैलिफोर्निया के बर्कले कैम्पस पर हिन्दी पढ़ा चुका हूँ। मेरे अलावा कई हिन्दी के विद्वान, भाषा-वैज्ञानिक, लेखक, कवि, अध्यापक अमेरिका में हिन्दी-अध्यापन में निरत रहे हैं; जिनमें से कुछ नाम ये है : डॉ० उदयनारायण तिवारी, 'अज्ञेय', डॉ० विद्यानिवास मिश्र, डॉ० नरेन्द्र सेठी, डॉ० अमरबहादुर सिंह. सोमा वीरा, उषा प्रियंवदा, दीनबन्धु गुप्त, विश्व-प्रकाश 'बटुक', इंदुप्रकाश पांडेय, द्वारिकाप्रसाद 'द्वारिकेश', बालगोविन्द मिश्र, चन्दोला, सी० एम० नईम, शालिग्राम शुक्ल आदि-आदि।

२६ नवम्बर, '६४ को कार्नेल यूनिवर्सिटी, इथाका से प्राप्त श्री शालिग्राम शुक्ल के पत्र के कुछ अंश उद्धृत करता हूँ :

"यहाँ हिन्दी की पढ़ाई पिछले १० वर्षों से हो रही है। लेकिन विधिवत् पढ़ाई का सिलसिला १९६० से शुरू हुआ। श्री फेअर बैंक्स तथा श्री बालगोविन्द मिश्र ने मिलकर एक २५ पाठों की पाठ्य-पुस्तक तैयार की है, जिसका प्रयोग प्रारम्भिक

कक्षा में हम करते हैं। टेक्स्ट-बुक छप रही है, सम्भवतः जनवरी '६५ तक आ जाए। आपके पास एक प्रति भेजूँगा। विद्यार्थियों की संख्या पिछले साल १५ थी, इस साल १२ है। ५ प्रथम वर्ष में, ५, दूसरे वर्ष में तथा २ तीसरे वर्ष में। दूसरे वर्ष में ज्यादातर 'बातचीत' तथा 'कम्पोज़ीशन' पर ग़ौर दिया जाता है। तीसरे वर्ष में प्रेमचन्द, सुदर्शन, अज्ञेय तथा कुछ नये कहानीकारों की कृतियाँ पढ़ाई जाती हैं। कविता की शुरुआत भी यहीं होती है, मैथिलीशरण गुप्त तथा निराला के सहज गीतों को पाठ्यक्रम में रखा गया है।

"उच्चारण की कठिनाई के अलावा, विद्यार्थियों के लिए 'लिंग' तथा 'विभक्तियों' के उचित प्रयोग की कठिनाई होती है। वे अंग्रेज़ी के 'पैटर्न' पर हिन्दी लिखते तथा बोलते हैं जो एक अलग ढंग की कठिनाई उत्पन्न करते हैं; क्योंकि यह समस्या उनकी अपनी भाषा से उत्पन्न होती है। हमारे यहाँ तीन अध्यापक हैं जो अध्ययन भी कर रहे हैं। एक हैं श्री र० वे० मिराण्डा, जो पहले गोवा में हिन्दी पढ़ाते थे, यहाँ भाषा-विज्ञान में पी-एच० डी० के हेतु आये हैं। दूसरे हैं श्री प्रेमसिंहजी, जो चण्डीगढ़ में पंजाबी विभाग में अध्यापक थे। ये भी भाषा-विज्ञान में पी-एच० डी० कर रहे हैं। तीसरा व्यक्ति मैं हूँ।

"यहाँ हिन्दी अध्यापन की योग्यता के लिए संस्कृत या उर्दू ज्ञान की आवश्यकता बिलकुल नहीं है। सर्वाधिक महत्त्व 'नेटिव स्पीकर' होने का है।

"हिन्दी-लेखकों का कोई अनुवाद इस देश में छपा है या नहीं, इसकी कोई जानकारी मुझे नहीं—सम्भवतः नहीं। 'अज्ञेय' के 'अपने-अपने अजनबी' का अनुवाद सुना है बर्कले से छपेगा। कब ? यह नहीं जानता।

"इस देश में हिन्दी पढ़नेवाले दो तरह के लोग हैं—(१) एन्थ्रोपौलोजिस्ट, जो भारत में 'फ़ील्ड-वर्क' के लिए जाना चाहते हैं तथा (२) भाषा-वैज्ञानिक, जिनका उद्देश्य भाषा जानना है। इसके अलावा वे विद्यार्थी हैं जो एशिया में रुचि रखते हैं। दिन-ब-दिन हिन्दी का प्रचार बढ़ता जा रहा है। भारतीय भाषाओं में हिन्दी को ही प्रधानता मिल रही है। हमारे यहाँ वैसे तेलुगु की भी पढ़ाई होती है। डॉ० केली उसके इन्चार्ज हैं।"

सन् '६१ में जब मैंने अमरीका छोड़ा, तब से स्थिति में, जहाँ तक हिन्दी-अध्यायन, पठन-पाठन का प्रश्न है, विशेष अन्तर श्री शुक्ल की जानकारी से मुझे नहीं जान पड़ा। हाँ, प्रो० डॉ० कृष्ण बलदेव वैद के 'उसका बचपन' (हिन्दी उपन्यास) का स्वयंकृत अंग्रेज़ी अनुवाद 'स्टेप्स इन् डार्कनेस' एशिया सोसायटी ने छाप दिया है। एक और ताज़ा रिपोर्ट 'अमेरिका में हिन्दी' के बारे में डॉ० अमर बहादुरसिंह से मुझे मिली है, जो ढाई वर्ष बर्कले में 'अज्ञेय' और डॉ० विद्यानिवास मिश्र के साथ और पीस-कोअर, आबाना में भी काम कर चुके हैं। वह उन्हीं के शब्दों में यों है :

डॉ० अमर बहादुरसिंह के शब्दों में :

"संयुक्त राज्य अमेरिका में लगभग एक दर्जन विश्वविद्यालयों में हिन्दी के

अध्ययन-अध्यापन का कार्य हो रहा है। कुछ विश्वविद्यालयों में हिन्दी का अध्यापन भाषाशास्त्र-विभाग के अन्तर्गत किया जाता है, पर अधिकांश में 'साउथ एशिया सेण्टर' अथवा 'साउथ एशिया लैंग्वेज एण्ड एरिया स्टडीज़' विभाग के अन्तर्गत यह कार्य सम्पन्न किया जा रहा है। कुछ विश्वविद्यालयों में हिन्दी को 'नियर ईस्टर्न लैंग्वेजेज़' विभाग के अन्तर्गत भी रखा गया है। सामान्यतया इन सभी विश्वविद्यालयों में कम-से-कम दो वर्ष की शिक्षा—प्रारम्भिक (बेसिक) तथा उच्च (ऐडवान्स्ड) स्तर की—दी जाती है, पर लगभग आधे दर्जन विश्वविद्यालयों में तृतीय वर्ष के अध्यापन की भी व्यवस्था की गई है। लगभग पाँच विश्वविद्यालयों में हिन्दी साहित्य की भी शिक्षा का प्रबन्ध विभिन्न रूपों में किया गया है।

भाषा के अध्यापन के लिए प्रारम्भिक कक्षा में एक अमेरिकन अध्यापक के निदेशन में भारतीय सहायकों की मदद से अध्यापन किया जाता है। उच्च स्तर पर प्रायः भारतीय सहायक अथवा अध्यापक ही अध्यापन करते हैं। प्रारम्भिक स्तर पर अमेरिकन अध्यापक, जो प्रायः भाषाशास्त्रीय होता है, वह सैद्धान्तिक पक्ष, भाषा की रचना तथा व्याकरण का अंग पढ़ाता है जबकि भारतीय सहायक शेष कार्य करता हैं। प्रथम वर्ष में अथवा प्रारम्भिक स्तर पर बोलचाल की भाषा पढ़ाई जाती है तथा प्रायः आधे वर्ष तक देवनागरी-लिपि का प्रारम्भ न करके दृश्य-श्रव्य प्रणाली अथवा श्रव्य प्रणाली के अनुसार अध्यापन-कार्य किया जाता है तथा सामग्री रोमन लिपि में तैयार करके विद्यार्थियों को दी जाती है। सैद्धान्तिक रूप में इस प्रणाली की विशेषता और उपादेयता काफ़ी महत्त्वपूर्ण है, पर प्रायः भारतीय सहायक, जिसे हिन्दी बोलने वाला कहकर रखा जाता है, हिन्दी बोलने वाला नहीं होता अथवा वैसी हिन्दी नहीं बोलता जैसी हिन्दी क्षेत्र का बोलने वाला बोलता है। यहाँ हिन्दी-उर्दू की एकरूपता की भ्रान्तिमय धारणा के कारण प्रायः उर्दू बोलने वाले हिन्दी के सहायक नियुक्त किए जाते हैं जिससे विद्यार्थियों को उर्दू-उन्मुख हिन्दी का ज्ञान होता है। एकाध बार अहिन्दी प्रदेश के हिन्दी जानने वालों को भी हिन्दी अध्यापक के रूप में रखा गया है और परिणाम विशेषकर उच्चारण के क्षेत्र में—भयंकर-सा रहा है। मातृभाषा बोलने वाले की नियुक्ति केवल इस दृष्टि से की जाती है कि वह विद्यार्थियों को सही उच्चारण दे सके, पर यह मुख्य उद्देश्य ही लगभग असफल-सा हो जाता है जब हम किसी विद्यार्थी को 'नेहर' 'बेहन' 'बीत' आदि शब्दों का उच्चारण करते हुए पाते हैं। खैर, यहाँ इसके विस्तार में न जाकर हम संक्षेप में अन्य पहलुओं पर प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे।

पाठ्य-ग्रन्थों की कमी को ध्यान में रखते हुए लगभग आधे दर्जन विश्वविद्यालयों ने अपनी पाठ्य-सामग्री तैयार की है। यों तो इस क्षेत्र में डॉ० होइंग्स्वाल्ड की **'स्पोकेन हिन्दुस्तानी'** पुस्तक का प्रयोग प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में प्रारम्भ में होता रहा है, पर उक्त पुस्तक में बहुत-सी कमियाँ हैं जिनके कारण कुछ नई पुस्तकों का प्रणयन किया गया। 'स्पोकेन हिन्दुस्तानी' की रचना द्वितीय महायुद्ध के समय की गई थी तथा इसका उद्देश्य अमरीकी सिपाहियों को 'कामचलाऊ हिन्दुस्तानी' का ज्ञान

कराना था। अब इस पुस्तक का प्रयोग प्रायः न के बराबर होता है, परन्तु प्रत्येक अध्यापक सन्दर्भ-ग्रन्थ के रूप में यदाकदा इसका प्रयोग अवश्य करता है। डॉ० गार्डन फेयरबैंक्स तथा डॉ० जान गम्पर्ज़ और चौधरी ने भी एक पुस्तक तैयार की थी, जिसका भी प्रचलन अब प्रायः न के बराबर ही है। फ़ोरन सर्विसेज़ रिसर्च इन्स्टीट्यूट ने जोसेफ़ हर्टर, बुधराज आदि के सहयोग से एक **'बेसिक कोर्स इन हिन्दी'** पुस्तक १९६० में निकाली थी, पर यह पुस्तक सामान्य विद्यार्थी के लिए ज़्यादा उपयोगी नहीं है, क्योंकि अधिकांश पाठ 'अमेरिकी दूतावास', 'सोडा ह्विस्की' आदि तक ही सीमित हैं। १९६२-६३ में डॉ० जॉन गम्पर्ज, कु० जून रमरी, डॉ० अमर बहादुरसिंह तथा श्री चौधरी मुहम्मद नईम के सम्मिलित प्रयास के फलस्वरूप **'कन्वर्सेशनल हिन्दी-उर्दू'** नाम की पुस्तक दो खण्डों में प्रकाशित हुई। इसका प्रकाशन ए० एस० यू० सी० स्टोर्स बर्कले, कैलीफोर्निया ने किया है। प्रथम खण्ड के दो भाग हैं तथा द्वितीय खण्ड में कोई भाग नहीं है। सम्प्रति इसी पुस्तक का सर्वाधिक प्रयोग हो रहा है। इसमें पाठों की रचना वास्तविक भारतीय स्थितियों के सन्दर्भ में की गई तथा समस्त पुस्तक के साथ भारत में ली गई तस्वीरों का प्रयोग विषय की सुबोधता के लिए कक्षा में किया जाता है। तस्वीरों को प्रोजेक्टर के सहारे पर्दे पर दिखाया जाता है तथा तत्सम्बद्ध वाक्य का उच्चारण किया जाता है। यह पुस्तक अभ्यास, व्याकरण तथा बातचीत की दृष्टि से अब तक की प्रकाशित पुस्तकों में सर्वोत्कृष्ट है। प्रत्येक पाठ का कक्षा में विधिवत् प्रयोग करके तथा उसकी वास्तविक कठिनाइयों को दृष्टि में रखकर अन्तिम रूप निर्द्धारित किया गया है। इन सामग्रियों के अतिरिक्त विस्कान्सिन में अपनी सामग्री का ही प्रयोग किया जाता है। अधिकांश विश्वविद्यालय इन्हीं का प्रयोग कुछ अपनी कमोबेश विशिष्टता के साथ करते हैं।

उच्चारण पर अधिकार प्राप्त करने के लिए प्रत्येक विद्यार्थी को काफ़ी समय लैंग्वेज लैबोरेटरी में देना पड़ता है, जहाँ वह पाठों को टेप पर सुनता है, उन्हें दुहराता है, रेकार्ड करता है तथा भूलें सुधारता है। इससे विद्यार्थी को भाषा के उच्चारण में काफ़ी सहजता का अनुभव होता है। इस पद्धति का प्रयोग प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में किया जाता है।

द्वितीय वर्ष अथवा एडवान्स्ड कक्षा के लिए प्रत्येक विश्वविद्यालय ने अपना पाठ्य-क्रम बना रखा है, जिसमें प्रायः कुछ कहानियाँ तथा निबन्ध रखे गए हैं। तृतीय वर्ष के विद्यार्थियों को उनके मुख्य विषय और रुचि के अनुसार अलग-अलग सामग्री दी जाती है। तृतीय वर्ष के अध्यापन तथा पाठ्य-क्रम की प्रणाली में एकरूपता नहीं है। प्रत्येक विश्वविद्यालय, उपलब्ध अध्यापक की क्षमता तथा योजना के अनुरूप पाठ्य-क्रम निर्धारित करता है।

नीचे हम प्रत्येक विश्वविद्यालय, के विषय में संक्षिप्त परिचयात्मक टिप्पणी प्रस्तुत करेंगे—

यूनिवर्सिटी ऑफ़ कैलीफोर्निया बर्कले, कैलीफ़ोर्निया : नीयर ईस्टर्न लैंग्वेजज के अन्तर्गत हिन्दी का अध्यापन होता है। डॉ० जान गम्पर्ज इसके इन्चार्ज

हैं। भारतीय सहायकों के अतिरिक्त यहाँ विज़िटिंग अध्यापकों के रूप में डॉ० प्रभाकर माचवे (ग्रीष्म १९६०), श्री (डॉ०) विद्यानिवास मिश्र (१९६०-६१ दिसम्बर तक), श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन (१९६१—१९६३-६४ वसन्त), डॉ० अमर बहादुरसिंह (१९६१ मई से १९६३ ग्रीष्म) रहे हैं। यहाँ तीन वर्षों के अध्यापन का कार्यक्रम है। १९६२ के शरदकालीन सत्र में यहाँ सभी स्तरों के हिन्दी विद्यार्थियों की संख्या ४४ थी। एक विद्यार्थी ने एम० ए० में 'मेजर सब्जेक्ट' के रूप में हिन्दी ली थी तथा दूसरा विद्यार्थी हिन्दी में पी-एच० डी० कर रहा है। डॉ० विद्यानिवास मिश्र के सम्पादकत्व में 'आधुनिक हिन्दी कविता' का एक अनुवाद मुद्रणाधीन है, जो उन्होंने अपने बर्कले प्रवास-काल में अंग्रेज़ी के विभिन्न तरुण कवियों के सहयोग से किया था। अज्ञेय के उपन्यास 'अपने-अपने अजनबी' का अंग्रेज़ी अनुवाद भी एक विद्यार्थी ने अपनी एम० ए० परीक्षा के लिए किया था। यहाँ भारतीय साहित्य और संस्कृति के अन्तर्गत हिन्दी साहित्य का भी अध्यापन किया जाता है।

शिकागो विश्वविद्यालय, शिकागो, इलीनॉय : भाषाशास्त्र विभाग के अन्तर्गत अध्यापन होता है। डॉ० नार्मन ज़ाइड इसके इन्चार्ज हैं। दो वर्ष के स्तर तक भाषा का अध्यापन किया जाता है। डॉ० श्याममनोहर पाण्डेय (वसन्त १९६२ से) भारतीय भक्ति-काव्य पढ़ा रहे हैं। हिन्दी सहायकों में द्वारिकेश (सम्भवतः १९५९ शरद् से) सबसे पुराने हैं। हिन्दी के कुछ भक्त कवियों—सूर और मीरा विशेषतया के कुछ पदों का अंग्रेज़ी अनुवाद तैयार किया जा रहा है। श्री कालीचरन बहल हिन्दी व्याकरण पर कुछ कार्य कर रहे हैं।

विस्कान्सिन विश्वविद्यालय, मैडिसन विस्कान्सिन : साउथ एशिया लैंग्वेज एण्ड एरिया सेण्टर के अन्तर्गत अध्यापन होता है। सम्भवतः दो वर्ष के कोर्स दिए जाते हैं। विज़िटिंग अध्यापक के रूप में डॉ० प्रभाकर माचवे (१९५९-६१) यहाँ थे।

कार्नेल विश्वविद्यालय, इथाका, न्यूयार्क : भाषाशास्त्र विभाग के अन्तर्गत अध्यापन किया जाता है। डॉ० गार्डन फेयरबैंक्स इंचार्ज हैं। श्री बालगोविन्द मिश्र (१९६९ शरद् से) यहाँ सहायक हैं। सम्भवतः दो वर्ष का पाठ्यक्रम रखा गया है।

कोलम्बिया विश्वविद्यालय, न्यूयार्क : नीयर ईस्टर्न लैंग्वेजेज़ विभाग में हिन्दी पढ़ाई जाती है। यहाँ दो वर्ष का पाठ्यक्रम है। यहाँ कार्यक्रम को विस्तृत करने की योजना चल रही है।

यूनिवर्सिटी ऑफ़ टेक्सास, ऑस्टिन, टेक्सास : साउथ एशिया सेन्टर में डॉ० एडगर पालोमे के निदेशन में हिन्दी पढ़ाई जाती है। यहाँ तृतीय वर्ष के पाठ्यक्रम का प्रबन्ध भी शायद आगामी सत्र से हो जाए। श्री एच० एस० अनन्तनारायण (१९५९-६२) तथा श्री रामप्रकाश दीक्षित (१९६० से) हिन्दी पढ़ाते रहे हैं।

सिराक्यूज़ विश्वविद्यालय, रॉचेस्टर, न्यूयार्क में श्री अगेहानन्द भारती के निदेशन में १९६३ से (सम्भवतः) हिन्दी का अध्यापन प्रारम्भ किया गया है।

इसके अतिरिक्त पेन्सिलवानिया विश्वविद्यालय फिलाडेल्फिया में, मिचिगन

विश्वविद्यालय ऐनअर्बर, अरीज़ोना विश्वविद्यालय तथा ड्यूक विश्वविद्यालय और हार्टफोर्ड सेमिनरी फाउन्डेशन में भी हिन्दी की पढ़ाई किन्हीं-न-किन्हीं रूपों में और स्तरों पर की जाती है।

संयुक्त राज्य में हिन्दी पढ़ने वाले प्रायः वे विद्यार्थी होते हैं जिन्हें भारतीय भाषाओं अथवा क्षेत्रीय अध्ययन (एरिया स्टडी) में रुचि होती है। इस प्रकार भाषा-शास्त्र, नृशास्त्र, समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र तथा भारतीय इतिहास विषयों के विद्यार्थी सामान्यतया हिन्दी का अध्ययन करते हैं। कुछ विश्वविद्यालयों में क्षेत्रीय अध्ययन करने के लिए देश-विशेष की भाषा का ज्ञान आवश्यक माना जाता है। अधिकांश विद्यार्थियों को हिन्दी अध्ययन के लिए 'नेशनल डिफ़ेन्स फ़ेलोशिप' भी मिलती है।

हवाई विश्वविद्यालय, होनोलुलू, में 'डिपार्टमेण्ट ऑफ़ एशियन ऐण्ड पैसिफ़िक लैंग्वेजेज़' में हिन्दी अध्यापन की व्यवस्था १९६३ से होने वाली थी। इस सम्बन्ध में इससे अधिक नहीं ज्ञात है।

इटली

इटली में जब मैं रोम में 'इस्मिओ', प्रो० तुच्ची की संस्था में गया था, तब अन्तामारिया से हिन्दी सुनकर बहुत प्रभावित हुआ था। उन्होंने हिन्दी में एक दस मिनट का रोम-वर्णन मुझसे टेप-रेकार्ड भी करा लिया था। डॉ० रामसिंह तोमर और प्रो० मोहनलाल वाजपेयी, जो वहाँ बहुत वर्षों तक हिन्दी-प्रेम-प्रसार का कार्य कर रहे थे, भारत में शान्तिनिकेतन लौट आए थे; और कोई भारतीय स्टाफ़ पर नहीं थे। अब जो दो पत्र मुझे इटैलियन राजदूतावास, दिल्ली की कृपा से प्राप्त हुए हैं, उनका अविकल अनुवाद नीचे उद्धृत कर रहा हूँ :

'इन्स्टीट्यूटो इटैलिआनो—पेर इल मीडिओ एड एस्त्रीमो ओरिएण्टे, रोमा' से २१ नवम्बर को प्रो० आन्तोनियो गार्गानो लिखते हैं : "(१) विश्वविद्यालयों, स्कूलों/कॉलेजों में हिन्दी पढ़ाने की व्यवस्था : (अ) यूनीवर्सिटी ऑफ़ रोम, फ़ैकल्टी ऑफ़ लैटर्स; इन्स्टिट्यूटो दि स्टुडि ओरिएन्ताली; (ब) 'इस्मिओ' की रोम में शालाएं। तीन वर्ष का हिन्दी भाषा और संस्कृति में पाठ्यक्रम—दो वर्ष हिन्दी का उच्चतर अध्ययन; (स) मिलान और तूरिन में 'इस्मिओ' द्वारा चालित शाखाओं में शालाएँ—तूरिन की शाखा इस वर्ष बन्द हो रही है; (द) नेपल्स में 'इन्स्टिट्यूटो युनिवर्सिटैरिओ ओरिएण्टेल'।

(२) विद्यार्थियों तथा अध्यापकों की संख्या : ५ से ६ अध्यापक कुल हैं। इनमें से कुछ भारतीय हैं, जोकि विश्वविद्यालय में पढ़ानेवाले लेक्चरर हैं और 'इस्मिओ' में अध्यापक हैं। इनके अलावा स्थानीय शिक्षकों को भी हम लेते हैं। 'इस्मिओ' की सब शालाओं में मिलाकर ५० विद्यार्थी कुल हैं। विश्वविद्यालयों में इस पाठ्यक्रम को सीखनेवालों की संख्या निर्धारित नहीं की जा सकती, चूंकि वहाँ उप-स्थिति ऐच्छिक है। उनकी संख्या अदलती-बदलती रहती है।

(३) पाठ्य-पुस्तकें, इत्यादि : पढ़ाई 'इस्मिओ' के अध्यापक स्वयं जो

पाठादि तैयार करके बाँटते हैं, उसी के आधार पर होती है। इसमें व्याकरण, साहित्यिक खंड, संकलन आदि होते हैं। कुछ अध्यापक केलाग के 'हिन्दी ग्रामर' का उपयोग करते हैं।

(४) हिन्दी साहित्यिक कृतियों का इटली में अनुवाद : कुछ अनुवाद उपलब्ध हैं, प्राचीन लेखकों की कृतियों के अंश, और कुछ आधुनिक कथा-साहित्य भी। अब प्रेमचंद की चुनी हुई कहानियों का एक संग्रह प्रेस में है। समकालीन हिन्दी-कवियों का एक संग्रह तयार हो रहा है। प्रो० ग्युसेप्पे तुच्ची के निर्देशन में हमारी संस्था से 'सिविल्ला देल्ला ओरिएनाँ' के दूसरे खण्ड में भारतीय साहित्य का एक सर्वेक्षण प्रकाशित हुआ है। प्रकाशन-संस्था है गेहरार्डे कासिनी, रोम, १९५७। पुस्तक का नाम है :

'स्टोरिआ देल्ला लित्रात्युरा मेदिवाली इ मादर्ने देल सुबकांतिनेन्ते इन्दिआनो', लेखक सुनीतिकुमार चैटर्जी (इस ग्रन्थ में भारतीय प्रायद्वीप के मध्ययुगीन और आधुनिक साहित्य का इतिहास दिया गया है)।

(५) एक आधुनिक इटालियन-हिन्दी और हिन्दी-इटालियन कोश तैयार किया जा रहा है। सम्पादक : प्रो० एल० पी० मिश्र। वे भारत के आधुनिक साहित्य का एक इतिहास तैयार कर रहे हैं।"

दूसरा पत्र इटली से नेपल्स से प्रो० ए० बौसानी, फ़ारसी के प्रोफ़ेसर से दिसम्बर ४ का लिखा हुआ प्राप्त हुआ है जिसका सारांश यों है :

"दो इटैलियन यूनिवर्सिटियों में हिन्दी के 'लेटोरैटी' (विभाग) हैं। रोम में डॉ० मिश्रा और नेपल्स में डॉ० इक़तिदा हसन 'लेटोरे' (प्राध्यापक) हैं। 'लेटोरे' ब्रिटिश पद्धति की शिक्षा में नहीं होते। वे विदेशी अध्यापक होते हैं, जो भाषा विभाग से संलग्न रहते हैं और उनका कार्य है भाषा का व्यावहारिक रूप सिखाना, जिससे कि विद्यार्थी वह भाषा शुद्ध रूप से बोल और लिख सकें। आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं के विभाग में ही हिन्दी पढ़ाई जाती है। नेपल्स में इसे 'हिन्दी-उर्दू' विभाग कहते हैं। वस्तुत: नेपल्स के 'लेटोरैटो' (विद्यार्थी) सम्प्रति उर्दू में अधिक रुचि रखते हैं। दोनों ही 'लेटोरैटी' वर्षों में व्यक्तियों के अन्तराल और भेद को छोड़ दें तो द्वितीय महायुद्ध के बाद शुरू हुए। नेपल्स में 'हिन्दुस्तानी' विभाग (यही उसका पहले नाम था) काफ़ी पुराना है : गत शताब्दी के अन्त में तागिलयाब्यू नामक एक भूतपूर्व मिशनरी द्वारा शुरू किया गया था। वह भारत में बहुत समय तक रहा था। हिन्दुस्तानी से मतलब उर्दू और हिन्दी दोनों से था।

"इन दो यूनिवर्सिटियों के अलावा हिन्दी इस्मियो में हिन्दी एक दूसरे स्तर पर पढ़ाई जाती है, रोम और नेपल्स में, प्रो० तुच्ची के निर्देशन में। तीन वर्ष का कोर्स होता है जिसके बाद डिप्लोमा दिया जाता है। इस पदवी का महत्त्व दूतावासों की और अन्य वाणिज्य-सम्बन्धी सेवाओं से होता है। यह यूनिवर्सिटी डिग्री नहीं है। द्वितीय महायुद्ध से पहले रोम में हिन्दी अध्यापन शुरू हो गया था, मिलान शाखा में बाद में।

"अध्यापक साधारणतया भारतीय होते हैं; श्रीमती दि एँजेलिए का अपवाद

छोड़कर, जो रोम के 'इस्मिओ' में हिन्दी पढ़ाती हैं। दोनों उपरिलिखित यूनिवर्सिटी प्रोफ़ेसर पदों पर इटैलियन व्यक्ति हैं (प्रो० गार्गानो रोम में, नेपल्स में मैं हिन्दी के बजाय उर्दू में अधिक दिलचस्पी रखता हूँ)।

"पाठ्य-पुस्तकों में बड़ी कठिनाइयाँ हैं। इतालवी भाषा में कोई अच्छे हिन्दी व्याकरण नहीं। सामान्यत:, विभिन्न अध्यापक अपने साइक्लोस्टाइल किये हुए व्याकरण चलाते हैं। पाठों के लिए, भारत की प्राथमिक शालाओं की पाठ्य-पुस्तकें चलाई जाती हैं (साथ ही समाचारपत्र या साहित्यिक पत्र-पत्रिकाएँ हिन्दी में चलाते हैं, उच्चतर कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए)। विद्यार्थियों की संख्या कुछ विरल ही है (यह बात प्राय: सभी पूर्वी भाषाओं के बारे में, हमारे देश में, कही जा सकती है)। रोम और नेपल्स यूनिवर्सिटियों में दो-तीन व्यक्तियों से अधिक हिन्दी-उर्दू नहीं पढ़ते। यह मुख्यत: इस प्राचीन विद्यालयीन पूर्वाग्रह का परिणाम है कि शास्त्रीय अध्ययन के योग्य यदि कोई भाषा है तो केवल पवित्र संस्कृत वाणी ही है। इस्मिओ में विद्यार्थी बड़ी संख्या में हैं, (किसी-किसी वर्ष तो २०-३० से अधिक), परन्तु अधिकांश उनमें ऐसे होते हैं, जो तीसरे वर्ष तक नहीं टिकते।

'सीधे हिन्दी से इतालवी में अनुवादित ग्रन्थ बहुत थोड़े हैं : डॉ० मिश्रा द्वारा तैयार किये गए इतालवी अनुवाद के रूप में प्रेमचन्द की कहानियों का एक संग्रह शीघ्र ही प्रकाशित होगा। एशियाई साहित्यों के विविध सामान्य इतिहासों में हिन्दी साहित्य के कई अंश अनुवादित किये जा चुके हैं (मेरे 'पाकिस्तान के साहित्यों के इतिहास' में प्रेमचन्द की 'कफ़न' का अनुवाद छपा है, पर वह उर्दू में है, हिन्दी में नहीं), साथ ही 'पूर्व की संस्कृति' (ल सिविल्ता देल्लोयेन्ते' में जो चार खण्डों में रोम में छपा है, इस्मिओ के निर्देशन में, प्रकाशक कासिनी ने १९५६ से १९६० में छापा है—उसमें हिन्दी के प्राचीन साहित्य से कई अंश दिये गए हैं हिन्दी विभाग में।

"जैसे कि आप देखेंगे, यह विशेष नहीं है। यदि मैं कुछ विवरण भूल रहा हूँ तो कृपया प्रो० ए० गार्गानो को भी लिखें।"

(प्रो० गार्गानो का पत्र आरम्भ में दिया गया है।)

चेकोस्लोवाकिया

डॉ० ओदोलेन स्मेकल, (विनोहरादस्का २१, प्राग २, चेकोस्लोवाकिया) ने 'फिलोसोफ़िका फैकुल्टा यूनिवर्सिटी कार्लोवी-कैतेद्रा वेद ओजेमिच एसीई ए अफ्रीकी' के लेटर-पैड पर शुद्ध हिन्दी में १५ नवम्बर को मुझे जो पत्र भेजा है, उसके अंश इस प्रकार से हैं :

"पहले तो मेरे एक लेख का उल्लेख करने दें—वह 'राष्ट्रभारती' (जून, १९६४, २९६-२९८) में प्रकाशित हुआ है। उसे अवश्य देखिए। आपके प्रश्नों के उत्तर—

"(१) हिन्दी शिक्षा :

(अ) प्राग विश्वविद्यालय में इस वर्ष कुल मिलाकर ३ छात्र और ८

छात्राएँ हैं। प्राग विदेशी भाषाओं के विद्यालय में १३ छात्र और १७ छात्राएँ हैं।

(ब) विश्वविद्यालय में १९४८ से हिन्दी पढ़ाई जा रही है, विद्यालय में १९२५ से। विश्वविद्यालय में भाषा और साहित्य दोनों की पढ़ाई हो रही है, विद्यालय में केवल भाषा। विश्वविद्यालय में हिन्दी के पाठ्यक्रम में उर्दू और संस्कृत भी सम्मिलित हैं, पर केवल एक वर्ष तक।

(स) पाठ्य-क्रम पाँच वर्ष का है। ब्यौरेवार सूचना उपरोक्त लेख में। पाठ्य-क्रम के अन्तर्गत हिन्दी का व्याकरण, ऐतिहासिक व्याकरण, पुराना साहित्य, नया साहित्य, एक और भारतीय भाषा। एक वर्ष तक, प्रायः बंगला या मराठी होती है। भारत का इतिहास, आधुनिक सांस्कृतिक और धार्मिक जीवन के लक्षण, ऐतिहासिक यादगार, भारत का भूगोल और मुख्य भारतीय लेखकों से परिचय।

(द) पढ़ाने वालों में अब तक चेक ही रहे थे। कभी-न-कभी भारतीय विद्यार्थी लोग, जो चेकोस्लोविया में एक-दो वर्ष के लिए तकनीकी शिक्षा प्राप्त करने आया करते हैं, बोलचाल की हिन्दी सिखाते हैं। इन दोनों अरविन्दकुमार, श्री ओमप्रकाश (राजकमल प्रकाशन) के सुपुत्र हमारे विभाग में हिन्दी पढ़ाते हैं। विदेशी शिक्षक हमारे यहाँ नहीं हैं।

(२) मैं हिन्दी भाषा १९५४ से पढ़ाता हूँ। डॉ० वि० पोरीज़्का १९४५ से और प्राध्यापक पेर्तोल्द १९२५ से हिन्दी पढ़ाते हैं। विश्वविद्यालय के भारतीय विभाग में १९४८ से हिन्दी पढ़ाते हैं। इससे पहले हिन्दी उच्च व्यापार महाविद्यालय में या विशिष्ट स्कूलों में पढ़ाई जाती थी।

ग्रन्थालय में हिन्दी की शायद १५०० पुस्तकें होंगी। हो सके इसमें २००० के लगभग होंगी। मुझे ठीक मालूम नहीं। जो पुस्तकें मुझे भारत में दी गई थीं उन्हें मैंने भी विभाग में दे दिया था। पुस्तकों में से बहुत-सी उच्चकोटि की नहीं हैं। 'प्रसाद' की कामायनी आदि आधार मूलग्रन्थ हमारे पास नहीं हैं। कुछ हिन्दी पुस्तकें 'ओरिएण्टल इन्स्टिट्यूट' के पुस्तकालय में हैं, पर बहुत संख्या में नहीं।

(३) **हिन्दी साहित्य के अनुवाद :** (अ) प्रेमचन्द : गोदान, अनुवादक स्मेकल १९५७; अमृतराय : तिरंगे कफन; हर्षनाथ : शैतान नहीं आदमी, १९५३, अनु-स्मेकल; चन्द्रकिरण सोनरिक्सा : गृहस्थी का सुख, १९६१; पत्रिकाओं में मेरे अनेक अनुवाद : लेखक : बच्चन, 'अज्ञेय', गिरिजाकुमार माथुर, महेन्द्र भटनागर, दिनकर आदि। प्रेमचन्द : निर्मला, अनुवादिका पुत्सकोवा, १९६३; अयोध्याप्रसाद उपाध्याय : देवबाला, अनुवादक वेलेस्नी, १९११।

आगे का कार्यक्रम : जायसी : पदुमावती, हिन्दी कहानियों का संकलन, हिन्दी भाषा का व्याकरण चेक में है : वि० पोरीज्का, हिन्दी व्याकरण, १९५२; प्राइमर व पाठ्य-पुस्तकें (दो) : प्रो० पेर्तोल्द, १९३९, १९४७, वि० पोरीज्का, हिन्दी लेंग्वेज-कोर्स १९६३ स्मेकल हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास लिख रहे हैं।"

डॉ० स्मेकल द्वारा उल्लिखित लेख के अंश इस प्रकार हैं :

"अपनी अनुभूति से मुझे पता चला है और भारत में रहते समय मुझे पग-

पग पर इस बात का प्रमाण मिलता रहा था कि अधिकतर भारतवासी विदेशियों के सम्पर्क में अंग्रेज़ी में बातें करना मिथ्या गौरव समझते हैं। अतः संसार-भर में प्रचलित मत यह हो गया है कि भारतवासियों के सम्पर्क में किसी भारतीय भाषा की जानकारी विशेष आवश्यक नहीं है, क्योंकि स्वयं भारतीय अपनी भाषा का विदेशियों के सम्पर्क में प्रयोग नहीं करते हैं और अपनी भाषा बोलते समय संस्कृत में और उच्च विचारों के लिए अपने शब्दों का प्रयोग न करके अंग्रेज़ी शब्दों का प्रयोग करते हैं। सच्ची और एकदम स्वाभाविकता से सारे संसार में स्वीकृत मत है कि अपनी भाषा का आदर तथा गौरव सब भाषाओं की तुलना में अधिक होना चाहिये। भारतवासियों को विदेशी लोगों को इस बात का विश्वास दिलाना होगा कि वे भारतीय भाषाओं की जानकारी राष्ट्र की कार्रवाई के लिए उपयुक्त, लाभकारी और परम आवश्यक समझें।

प्राग विश्वविद्यालय के पूर्वी विभाग में कई उपविभाग हैं। एक विभाग में अरबी, फारसी, तुर्की आदि भाषाएँ सिखाई जा रही हैं, दूसरा भारत का विभाग है। अगले उपविभाग में चीनी, जापानी आदि भाषाओं का शिक्षण-प्रबन्ध है। चौथा विभाग अर्मेनी-ग्रुजीनी भाषाओं का है और इसके अतिरिक्त हिन्देशियायी, अफ्रीकी भाषाओं तथा प्राचीन लिपियों के अध्ययन के लिए भी अलग विभाग है। चेकवासियों को प्राच्य भाषाएँ सीखने में अभिरुचि बहुत कम है। जहाँ तक भारतीय भाषाओं का प्रश्न है, यह अभिरुचि अधिक उत्कट प्रतीत होती है। यह कहना उचित है कि हमारे छात्रों का अनुराग विशेष रूप से आधुनिक भाषाओं के प्रति प्रवृत्त हो गया है। नवीन पूर्वी भाषाओं के प्रति झुकाव—आधुनिक चेक प्राच्यविद्या का प्रधान लक्षण है। हम इसे एक आमूल परिवर्तन कह सकते हैं, क्योंकि पहले अध्ययन का ध्यान प्रायः प्राचीन भाषाओं और विद्याओं तक ही सीमित था। नवीन भाषाओं और साहित्यों की शिक्षा पिछले समय तक अवहेलित रही। यह परिस्थिति आज तक कई यूरोपीय देशों में विद्यमान है। यूरोप के प्रधान विश्वविद्यालयों में पुरानी भाषाओं का अच्छा गवेषणा-कार्य हो रहा है और पुस्तकालय अनेक दुर्लभ ग्रन्थों से सुसज्जित हैं, पर नवीन प्राच्य भाषाओं के केवल व्यावहारिक भाषा के पाठ्यक्रम हैं। हमें इस बात पर गौरव है कि चेकोस्लोवाकिया में हम प्राचीन प्राच्य भाषाओं के साथ ही आधुनिक पूर्वी भाषाएँ तथा साहित्यों का खोजपूर्ण अध्ययन करने लगे हैं और उनके विस्तारपूर्ण अध्यापन-कार्य पर विशेष ध्यान दे रहे हैं।

इस समय विश्वविद्यालय के भारतीय विभाग में हिन्दी और उर्दू के अतिरिक्त संस्कृत, बंगला और तमिल भाषाओं की शिक्षा दी जा रही है। हिन्दी का पाठ्यक्रम पाँच वर्ष का है। उसमें इस प्रकार के पाठ, भाषण और पाठ्यक्रम हैं: (१) व्यावहारिक हिन्दी अथवा बोलचाल का अभ्यास, (२) सरल हिन्दी व्याकरण, (३) हिन्दी व्याकरण का गहरा अध्ययन, (४) हिन्दी में अनुवाद करने का अभ्यास, (५) हिन्दी और उर्दू शैली, (६) संस्कृत भाषा और साहित्य, (७) अन्य भारतीय भाषा से परिचय (वैकल्पिक भाषा), (८) अन्य भारतीय साहित्यों से परिचय, (९) भारत का इतिहास, (१०) भारत के धर्म और दर्शनशास्त्र, और (११) आधुनिक भारतीय

जीवन के प्रधान लक्षण। विद्यार्थी को प्रत्येक विषय की परीक्षा देनी पड़ती है। पाँचवें शिक्षण वर्ग के अन्त में इन सब विषयों की फिर से एक संयुक्त परीक्षा देनी होती है। अन्तिम दो वर्षों में विद्यार्थी अपना उपाधि-निबन्ध तैयार करता है। अपना शोध-कार्य पेश करके उसे इस बात का प्रमाण देना आवश्यक होता है कि वह अपने विषय में पर्याप्त प्रवीण तथा हिन्दी में गवेषणा-कार्य करने योग्य है। इस समय तक हमारे विभाग में ११ विद्यार्थियों ने हिन्दी की शिक्षा समाप्त करके इसमें उपाधि प्राप्त की है। हिन्दी की शिक्षा चेकोस्लोवाकिया में विश्वविद्यालयीन स्तर पर सन् १९४८ में पहली बार दी जाने लगी।

प्राग विश्वविद्यालय के अतिरिक्त हमारे देश में प्राग में एक और विद्यालय है, जहाँ हिन्दी भाषा की पढ़ाई हो रही है। वह विदेशी भाषाओं का विद्यालय है। उसका उद्देश्य विश्वविद्यालय की तुलना में कुछ दूसरा है। विश्वविद्यालयीन शिक्षा का लक्ष्य, जैसे हम पहले देख चुके हैं, विद्यार्थियों को अधिक-से-अधिक गहरी बहुमुखी और व्यापक हिन्दी की जानकारी प्रदान करता है। विदेशी भाषाओं का विद्यालय ऐसी संस्था है जहाँ अपनी इच्छानुसार छोटे या बड़े सभी, जिनको प्राच्य भाषाओं में रुचि है, उपयुक्त जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। इसके छात्र, कर्मचारी, वाणिज्य अधिकारी, श्रमिक, इंजीनियर लोग, युवक और युवतियाँ जो शिक्षा ज्ञानवर्धन और विनोद दोनों के लिए सप्ताह में दो बार शाम को हिन्दी भाषा दो घण्टों के पाठ्यकाल में सीख लेते हैं। पूरा पाठ्यक्रम ६ वर्ष तक होता है। सारी शिक्षा विशेषकर व्यावहारिक अथवा बोलचाल की हिन्दी पर केन्द्रित है। आजकल हिन्दी की तीन कक्षाएँ हैं। पढ़ने वालों की संख्या मिलाकर पन्द्रह है। प्रचलित वर्ष तक ६ शिक्षार्थियों ने हिन्दी का पूरा पाठ्यक्रम समाप्त किया है।

इन हिन्दी के चेक प्राध्यापकों में से, जो साथ ही हिन्दी पाठ्य-पुस्तकें तैयार करते हैं, तीन हैं: प्राध्यापक ओताकार पेर्तोल्द, जिनको हमारे देश में हिन्दी के प्रचार के लिए अधिक श्रेय प्राप्त है। उनके प्रयत्नों से चेकोस्लोवाकिया में हिन्दी सबसे पहले आई। डॉ० पेर्तोल्द ने सन् १९२५ में उच्च वाणिज्य महाविद्यालय में हिन्दी की शिक्षा देनी आरम्भ की। उन्होंने चेकोस्लोवाकिया में हिन्दी की पहली पाठ्य-पुस्तक सन् १९३० में प्रकाशित की थी। इस पुस्तक के अनुसार दो दशकों तक हिन्दी पढ़ाई गई। दूसरे प्राध्यापक का नाम डॉ० वि० पोरीज्का है। वे विशेषकर हिन्दी व्याकरण तथा ऐतिहासिक व्याकरण में खोज-कार्य कर रहे हैं। अब तक उन्होंने 'हिन्दी का व्याकरण' और पिछले वर्ष 'हिन्दी' नामक एक शोधपूर्ण पाठ्य-पुस्तक लिखकर प्रकाशित कर दी थी। तीसरा हिन्दी का एक प्राध्यापक प्रस्तुत लेख का लेखक है। दस वर्ष पूर्व मैंने हिन्दी-प्रेमियों के लिए पाठ्य-पुस्तक तैयार की थी। वह तो मेरा केवल प्राथमिक प्रयास था। इसके अनुसार हम अब भी पढ़ा रहे हैं। दस-वर्षीय हिन्दी अध्यापन-कार्य से अनुभव प्राप्त करके इससे अब पूर्णतया संतुष्ट नहीं हूँ और दूसरी एकदम नई पाठ्य-पुस्तक के कार्य में संलग्न हूँ।

पिछले सात वर्षों के प्रयत्न से मैंने हिन्दी के अध्ययन के विकास के लिए

'हिन्दी वार्तालाप' नामक पाठ्य-पुस्तक को प्रकाशनार्थ तैयार किया है। वह मेरे विचार में न केवल चेक हिन्दी-प्रेमियों के लिए बल्कि सारे यूरोपवासी हिन्दी-हितैषियों के लिए सहायक होगी। यह इसलिए कि उसमें हिन्दी और चेक वाक्यों के साथ-साथ अंग्रेज़ी के भी वाक्य दिये गए हैं। भारत में रहते समय मैंने इस पुस्तक के लिए सामग्री का संचय किया था। ऊपर उल्लिखित पुस्तक में दैनिक जीवन के प्रत्येक आवश्यक विषय की चर्चा है। उसमें न केवल प्रचलित सुगम बातचीत के वाक्य, अधिक प्रयोग में होने वाले शब्द, बोलचाल के ढंग पर सामाजिक जीवन के सम्पर्क में प्रयुक्त होने वाले शिष्ट वाक्य और प्राविधिक तथा औद्योगिक क्षेत्र के लिए विशिष्ट वाक्यों की सामग्री भी मिलती है। ऐसी पाठ्य-पुस्तक की मेरे विचार में हमारे शिक्षार्थियों को प्रोत्साहन तथा हिन्दी बोलने में सिद्धहस्तता प्राप्त करने के लिए आवश्यकता है। पुस्तक अगले वर्ष के प्रारम्भ में ही प्रकाशित होने वाली है।"

(राष्ट्रभारती, जून, १९६४)

जर्मनी (पश्चिमी)

कुमारी मादालिन डकविज़, जो भारत के जर्मन दूतावास में उप-सांस्कृतिक सलाहकार हैं, आठ वर्ष पूर्व हमसे हिन्दी सीखती थीं। आपने सूचना दी है अपने अक्टूबर ३०, १९६४ के पत्र में: "जब मैं यूनीवर्सिटी में हिन्दी पढ़ती थी, १०-१५ वर्षों पहले, स्पाइस-बैनर्ट की 'हिन्दुस्तानी ग्रामर' प्रयोग में लाई जाती थी। शोलबेर्ग की हिन्दुस्तानी व्याकरण का भी काफ़ी व्यापक प्रयोग होता था। अब शायद भारत में प्रकाशित और उच्चतर प्रकाशन प्रयोग में लाये जाते होंगे, इसका मुझे विश्वास है। नवीनतम हिन्दी व्याकरण, जो जर्मनी में प्रकाशित हुआ है वह है, डॉ० एच० जे० वेरमीर तथा डॉ० आर्येन्द्र शर्मा द्वारा रचित 'आइन फ्युहरुंग इन डाइ ग्रामाटिक डेर मॉडर्नेन हिन्दी' (आधुनिक हिन्दी के व्याकरण की प्रवेशिका)। यह एक अत्यन्त सुन्दर व्याकरण है, परन्तु यह अधिक शास्त्रीय है; विद्वान भाषावैज्ञानिकों के ही काम की अधिक है। सर्वसाधारण भाषा के विद्यार्थियों के सरल उपयोग के लिए यह उतनी काम की नहीं। मैं आपको इस पुस्तक की एक प्रति, सन्दर्भ के लिए, भेज रही हूँ।

"जहाँ तक हिन्दी पुस्तकों के जर्मन अनुवाद का प्रश्न है, दुर्भाग्य से, सम्प्रति, मेरे पास कोई पुस्तक नहीं। आप मैक्समुल्लर भवन नामक जर्मन सांस्कृतिक केन्द्र के पुस्तकालय से पता लगाएँ (कर्जन रोड, नई दिल्ली में)। वहाँ के ग्रन्थालयाध्यक्ष आपकी सहायता करेंगे। ३, कर्ज़न रोड, नई दिल्ली-१ में डॉ० पी० एल० अनेजा जर्मन भाषा के लेक्चरर हैं, जो हमारे विश्वविद्यालयों में हिन्दी अध्यापन के सम्बन्ध में अधिक जानकारी रखते हैं।"

मेरे और पता लगाने पर यह सूचना मिली कि निम्न भारतीय सम्प्रति पश्चिम जर्मनी में हिन्दी के अध्यापक हैं; नाम और पते दे रहा हूँ:

१. ज़ेड० ए० हनफ़ी, ओरिएण्टलिशेन सेमिनार डेर यूनीवर्सिटैट राडम, फ्राइबेर्ग।

२. प्रो० ताराचंद राय, इंडोलौजिशेस सेमिनार डेर यूनीवर्सिटैट बोन, बोन।
३. डॉ० एस० बिश्वास, इंडोजर्मनिशेस सेमिनार, बर्लिन-डाइलेम।
४. डॉ० सी० त्रिपाठी, इंडोलौजिशेस सेमिनार, गोईटिंगेन।
५. श्री एस० ए० श्रीनिवासन, सेमिनार फ़ूर कुल्टूर उण्ड गैशिश्टे इण्डियेन्स, यूनीवर्सिटैट हैम्बुर्ग
६. प्रो० डॉ० डब्ल्यू० राऊ और मि० शर्मा, इण्डिश-ओस्टाशियाटियाशेस सेमिनार, यूनीवर्सिटैट, मारबुर्ग।
७. श्री योगेश यादव, सेमिनार फ़ूर वेरग्लाइशेण्डे स्प्राख विस्सेन्सशाफ्ट डेर यूनीवर्सिटैट, वूर्ज़बेर्ग।

जर्मनी संस्कृत अध्ययन की पुरानी भूमि रहा है। बीस जर्मन प्रोफ़ेसरों के नाम-पते कुमारी डकवित्स ने भेजे हैं, जिससे पता चलता है कि १५ यूनिवर्सिटियों में संस्कृत पढ़ाने की व्यवस्था है। १९६१ में जब मैं 'डॉइशलैण्ड एकेडेमी' के अतिथि के नाते जर्मनी में गया था, तब फ्रांकफुर्ट में गोइटे यूनिवर्सिटी में 'कुमारसम्भव' की भाषा पर शोधकार्य करनेवाले विद्यार्थी मिले थे; हैम्बुर्ग और म्युनिखेन में भी कई संस्कृत-प्रेमियों से भेंट हुई थी।

हाइडेलबेर्ग यूनिवर्सिटी के साउथ एशिया इंस्टिट्यूट का १९६४ का बुलेटिन मुझे मिला है। सुमुद्रित पुस्तिका के आरम्भ में विजया लक्ष्मी पंडित के साथ डॉ० फ़िट्ज़ अर्नेस्ट का चित्र है। 'डिपार्टमेण्ट ऑफ़ माडर्न लैंग्वेजेज़' में लिखा है : "प्राध्यापक : डॉ० एज० जे० वेरमीर, मि० इंदुप्रकाश पांडेय एम० ए०, श्रीमती हमीदा तैयब अली बी० ए०; विज़िटिंग प्रोफ़ेसर : डॉ० आर्येन्द्र शर्मा। इस विभाग में हिन्दी और उर्दू इस कार्यक्रम के आरम्भ में पढ़ाये जाते हैं, गुजराती और तमिल बाद में पढ़ाये जाएँगे—१९६४-६५ में। यहाँ से हिन्दी व्याकरण प्रकाशित हुआ है। हिन्दुस्तानी ध्वनिशास्त्र पर और जर्मन-हिन्दी, हिन्दी-जर्मन कोशों पर कार्य चल रहा है।

"डॉ० आर्येन्द्र शर्मा, उस्मानिया यूनिवर्सिटी हैदराबाद से १९६३-६४ में यहाँ आए। मि० इंदुप्रकाश पांडेय १९६३ के ग्रीष्म में थे। श्रीमती हमीदा तैयब अली १९६२-६३ के शिशिर से उर्दू और ध्वनिशास्त्र की अध्यापिका हैं। वे १९६४-६५ में गुजराती भी पढ़ाएँगी और मि० जेसिया तमिल के लेक्चरर बनकर १९६४-६५ में आएँगे।"

श्रीमती हमीदा तैयबजी के परिचय में पृ० २० पर लिखा है : 'भारत और पाकिस्तान की उर्दू साहित्य संस्था अंजुमन तरक्क़ी-ए-उर्दू की उपाध्यक्षा, बम्बई में फॉरेन लैंग्वेज इंस्टीट्यूट में लेक्चरर थीं।

मेरी एक अन्य जर्मन विद्यार्थिनी (जो अमरीका में मेरी छात्रा थीं; बाद में भारत में सुभाषचन्द्र बोस पर शोधकार्य करने गत वर्ष आई थीं, और मेरे घर पर एक सप्ताह ठहरीं) इनीस ब्यूर्न के एक-दो वर्ष पूर्व के पत्र के अनुसार—"हमारे कुछ अध्यापक कहते हैं : हिन्दी में कोई साहित्य विकसित नहीं है। क्या यह सच है ?"

जर्मन में जहाँ तक मेरी जानकारी है, आधुनिक हिन्दी साहित्य से बहुत कम

रचनाओं का अनुवाद हुआ है। डॉ० शार्लोत क्राडज़े ने लाइप्सिग से लल्लूलालजी के 'प्रेमसागर' का अनुवाद प्रकाशित किया था; हाल में बिहारीलाल की 'सतसई' के कुछ दोहों का पद्यानुवाद जर्मन दूतावास के एक अधिकारी ने किया। पर आधुनिक हिन्दी से जैनेन्द्रकुमार के 'त्यागपत्र' और प्रेमचंद की कुछ कहानियों के अनुवाद के सिवा और किसी रचना की बात नहीं सुनी। कुछ नये कवियों की रचनाओं के अनुवाद कराने की योजना मैक्समुल्लर भवन ने बनाई थी। पर एक पुस्तिका से अधिक कुछ देखने में नहीं आया।

जर्मनी (पूर्व)

भारत में दो वर्ष रहकर हिन्दी व्याकरण पर अनुसन्धान करनेवाली कुमारी मार्गोत हेलसिग ने इस सम्बन्ध में लिखा है :

"जर्मन जनवादी गणतन्त्र में भारत-सम्बन्धी अनुसन्धान में हिन्दी का विशेष स्थान है। हिन्दी भारत की वह भाषा है जिसे सबसे अधिक लोग बोलते और समझते हैं। इसलिए हमारे देश में हिन्दी के अध्ययन-अध्यापन पर विशेष ध्यान दिया जाना स्वाभाविक ही है। हिन्दी की वैज्ञानिक शिक्षा प्रदान करने के मुख्य केन्द्र बर्लिन में हुम्बोल्द विश्वविद्यालय और लाइप्सिग के कार्ल मार्क्स विश्वविद्यालय हैं। हाले के मार्तिनलूथर विश्वविद्यालय के भाषावैज्ञानिक संस्थान में भी हिन्दी पढ़ाई जाती है। बर्लिन के हुम्बोल्द विश्वविद्यालय में कई वर्षों से भारतीय विद्वान डॉ० अनसारी अपनी चेक पत्नी दगमार अनसारी के साथ हिन्दी पढ़ाते हैं। इसी संस्थान में एक साल से कुमारी बारबारा वेस्तफ़ाल हिन्दी व्याकरण पढ़ाती हैं। मैं भी वहीं पढ़ाती हूँ।

"बोलचाल की हिन्दी जर्मनी आने वाले भारतीय छात्रों से सीखी जाती है। लाइप्सिग में उन जर्मन छात्रों को हिन्दी सिखाते हैं, जो हिन्दी के साथ-साथ अंग्रेज़ी भी सीखकर दुभाषिये का काम कर सकते हैं। लाइप्सिग के कार्ल मार्क्स विश्वविद्यालय में पंडित शास्त्री नामक भारतीय कई वर्षों तक पढ़ाते थे। वे ब्रज भाषा के विद्वान थे। उनकी एक शिष्या कुमारी एरिका मेकल हाले में हिन्दी पढ़ाती हैं। दूसरी छात्रा कुमारी इरेनेबित्रिग मास्को में हिन्दी साहित्य के इतिहास का विशेष अध्ययन कर रही है।

"पिछले दो वर्षों से जर्मन जनवादी गणतन्त्र और भारतीय गणराज्य के बीच विद्यार्थियों और विद्वानों का आदान-प्रदान बढ़ गया है। परन्तु हमारे सामने हिन्दी पढ़ने के कार्य में कई कठिनाइयाँ हैं : शिक्षकों की कमी और जर्मन भाषा में हिन्दी पाठ्य-सामग्री की न्यूनता है। अतः रूसी और अंग्रेज़ी पाठ्य-सामग्री को ही काम में लाया जाता है। कुमारी एरिका मेकल हिन्दी-जर्मन शब्दकोश तैयार करने का काम कर रही हैं। अनसारी दम्पति पाठ्य-पुस्तकें और व्याकरण तैयार कर रहा है। नेस्पितल व्याकरणांश लिख रहे हैं।

"भारतीय लेखकों की श्रेष्ठ कृतियों का जर्मन में अनुवाद एक कठिन किन्तु आवश्यक कार्य है। हाल ही में एक जर्मन अनुवाद 'पंजाब का देश' नाम से छपा है।

इसमें प्रेमचन्द, यशपाल और दूसरे हिन्दी लेखकों की कहानियाँ संकलित हैं। दूसरे अनुवादित संकलन में, जिसका नाम 'ठाकुर का कुआँ' है, प्रेमचन्द, यशपाल, अज्ञेय और कमला चौधरी की कहानियाँ छपी हैं। 'गोदान' का जर्मन अनुवाद छप रहा है। जर्मन जनवादी गणतन्त्र में बराबर कई हिन्दी अखबार और पुस्तकें मँगाई जाती हैं। फिर भी यह सारा काम अभी अपने प्राथमिक चरण में ही है। यह बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य, हमें आशा है कि हमारी सरकार की सहायता से और आगे बढ़ेगा और हम अपने अभीष्ट ध्येय तक जल्दी ही पहुँच सकेंगे।"

जर्मन गणवादी जनतन्त्र में वाल्टर रूबेन आदि संस्कृतज्ञ भी बहुत-सा शोध-कार्य कर रहे हैं। उनकी कालिदास पर पुस्तक प्रसिद्ध है।

जापान

काका साहब कालेलकर के यहाँ ठहरे हुए हिन्दी छात्र श्री कोकिनागा को मैंने दो पत्र भेजे, पर कोई उत्तर नहीं मिला। पता चला है कि तोकियो यूनिवर्सिटी में इलाहाबाद विश्वविद्यालय में पढ़े हुए के० दोई सम्प्रति हिन्दी पढ़ाते हैं। किसी भारतीय अध्यापक को वहाँ भेजे जाने की भी योजना इण्डियन काउन्सिल फार कल्चरल रिलेशन्स (आज़ाद भवन) के सामने है। वैसे वहाँ कई वर्षों तक रहकर अच्छी जापानी जानने वाली एक भारतीय महिला ने मुझे बताया है कि हिन्दी और जापानी में बड़ा व्याकरण-साम्य है—वाक्य-रचना में, क्रिया के स्थान आदि में। जापानीमें रवीन्द्रनाथ, गांधी, नेहरू की पुस्तकें अनुवादित हैं। प्रेमचन्द का 'गोदान' और कुछ कहानियाँ जापानी में हैं। बौद्ध-धर्म-सम्बन्धी साहित्य अनुवादित हुआ है। राहुलजी की जापान-यात्रा और भदन्त आनन्द कौसल्यायन के 'जापान' से भी कुछ जानकारी मिलती है।

पोलैंड

आग्नेश्का कोवालस्का-सोनी से हमें पता लगा कि पोलैंड में बहुत वर्षों से संस्कृत की भाँति हिन्दी अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था है। आग्नेश्का भारत में आधुनिक हिन्दी कविता पर शोध करने आई थीं, और शांतिनिकेतन और इलाहाबाद में उन्होंने यह कार्य किया। कई आधुनिक हिन्दी कवियों से वे मिलीं। स्वर्गीय गजानन माधव मुक्तिबोध से मिलने के लिए वह राजनांदगाँव गईं। उनकी मृत्यु के बाद उनसे प्राप्त सन्देश के अनुसार वह मुक्तिबोधजी की कविताओं के अनुवाद पोलिश भाषा में कर रही हैं।

पोलैंड या अन्य देशों के विषय में हमारी जानकारी बहुत सीमित है। यूगोस्लाविया की सर्वो-क्रीटन भाषा में जैनेन्द्रकुमार के 'त्यागपत्र' का अनुवाद हुआ है, ऐसी सूचना मिली है।

फ्रांस

मैं दिल्ली के फ्रेंच दूतावास का आभारी हूँ कि सांस्कृतिक सलाहकार बेर्नार्ड

क्लेजेरी ने मुझे पैरिस के दो पते दिये और जिलेस फिलिबेर्त नामक आधुनिक भारतीय भाषाओं के प्राध्यापक का नवम्बर २५ का एक पत्र मुझे मिला। उसके अनुसार :

"'इकोल नातिसयोनाल द्यु लांगे ओरिएन्ताल विवैन्ते' में दो अध्यापक हिन्दी के हैं; एक फ्रेंच और दूसरे भारतीय। पहले वर्ष में हम व्याकरण के प्रारम्भिक तत्त्व पढ़ाते हैं और फिर आसान पाठ पढ़ते हैं; दूसरे और तीसरे वर्षों में हम उच्चतर पाठ्य-पुस्तकें पढ़ते हैं, और अनुवाद का अभ्यास कराते हैं। अनुवाद हिन्दी से फ्रेंच में और फ्रेंच से हिन्दी में सिखाया जाता है। भारतीय अध्यापक हिन्दी में विद्यार्थियों के साथ एक घंटा सम्भाषण भी करते हैं।

"इस वर्ष निम्न पाठ्य-पुस्तकें हम काम में ला रहे हैं (या लायेंगे) :

"पहले वर्ष के लिए, भारती रीडर नं० ३, हिन्दी प्रचार सोसायटी, मद्रास की।

"दूसरे वर्ष के लिए, कहानियाँ मनोरंजक कथाएँ (आनन्द कुमार) आरम्भ में और बहुत जल्दी 'तोता मैना' (पाकेट बुक संस्करण) से कहानियाँ।

"तीसरे वर्ष के लिए यशपाल की गीता।

"इसके अतिरिक्त, भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता के प्रोफ़ेसर मस्यू शांबार, सप्ताह में एक घंटा हिन्दी अखबारों को समझाने में बिताते हैं (यह उनके पाठ्यक्रम का अंश है)।

"जहाँ तक प्राइमरें, व्याकरण-पुस्तकें, कोश आदि का प्रश्न है, हमारे यहाँ फ्रेंच में कुछ भी नहीं है (एक पुरानी प्राइमर के सिवा जो अब हम काम में नहीं ला सकते) और इसलिए अन्य भाषाओं में पुस्तकों पर हमें अवलम्बित होना पड़ता है (अधिकतर अंग्रेज़ी में हैं, अर्थात्, और उच्चतर विद्यार्थियों के लिए हिन्दी में पुस्तकें चलती हैं)।

"आपके पत्र के तीसरे प्रश्न के उत्तर में निवेदन है कि फ्रेंच में हिन्दी से अनुवादित बहुत थोड़ी पुस्तकें हैं। जहाँ तक मैं जानता हूँ, अब तक एक ही प्रकाशित हुई है : कबीर की कविताओं का एक संकलन (कई किताबों से) माद्योज़ेल वादविल द्वारा अनुवादित और गैलियार द्वारा १९५९ में प्रकाशित। दो और पुस्तकें तैयार हो रही हैं : 'गोदान', स्वर्गीय पियरे मेल द्वारा अनुवादित; और युनेस्को की सीरीज़ में 'कामायनी'। इनमें से प्रथम, अगले साल प्रकाशित हो जाएगी। प्रो० मेल ने 'कर्म-भूमि' (प्रेमचंद) का भी अंश अनुवादित किया था, पर वह अब तक अप्रकाशित है।"

बर्मा

चिकित्सक डॉ० ओम्प्रकाश बर्मा हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्राण हैं। उनके द्वारा दी गई जानकारी इस प्रकार है : "सन् १८८५ में बिहार के आरा ज़िले से करीब २००० परिवार जियावाडी और चौतगा ग्राण्ट के ज़मींदारों द्वारा लाये गए। उन्होंने वहाँ जंगल काटकर खेती शुरू की। उनके वंशज अब ४० हज़ार की संख्या में वहाँ बसे हुए हैं। सन् १९०९ में पं० हरिवदनजी शर्मा बर्मा में गये। बर्मा में हिन्दी-प्रचार का इतिहास शर्माजी का इतिहास है। १९२३ में हिन्दी प्रचार को सुगठित रूप

देने के लिए बर्मा हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना की गई। १६२५ ई० में बर्मा सरकार द्वारा हिन्दी को मान्यता मिली और हाई स्कूल फ़ाइनल परीक्षा में द्वितीय भाषा का उसे स्थान मिला। तब देश में ३६० छोटे-बड़े ऐसे विद्यालय स्थापित हुए, जिनमें हिन्दी पढ़ाई जाती थी। जियावाडी में वर्तमान गांधी हिन्दी महाविद्यालय की स्थापना १६२१ में हुई। डी० ए० वी० स्कूल रंगून में एक ट्रेनिंग क्लास सन् १६३८ में प्रारम्भ किया गया। प्रतिवर्ष २० अध्यापक इसमें प्रशिक्षित किए गये। इसके प्राध्यापक गोपालदासजी बी० ए० 'विशारद' थे।

"सन् १६२५ से युद्धारम्भ तक १५ वर्षों में हिन्दी प्रसार ने विशेष प्रगति की। सन् १६४१ से '४६ तक महायुद्ध के कारण हिन्दी में प्रचार-प्रसार एवं शिक्षा-दीक्षा का कार्य अवरुद्ध-सा हो गया, फिर भी जियावाडी और रंगून में विश्वभारती एकेडेमी में यह कार्य चलता रहा। सन् १६४८ में बर्मा हिन्दी साहित्य सम्मेलन का पुनर्गठन हुआ। रंगून और जियावाडी के दोनों केन्द्रों से प्रयाग के हिन्दी साहित्य सम्मेलन की परीक्षाओं में ५०-६० के लगभग परीक्षार्थी प्रतिवर्ष परीक्षा में बैठने लगे। बर्मा में जाकर भारतीय हिन्दी और अहिन्दी-भाषी का भेद भूल जाते हैं और वहां अहिन्दी-भाषी भी खूब हिन्दी सीखते हैं।

"प्रतिवर्ष बर्मा हिन्दी साहित्य सम्मेलन का महाधिवेशन होता है, जिसमें गण्यमाण्य भारतीय नेता और साहित्यकार आ चुके हैं : भिक्खु जगदीश कस्सप, आर० आर० दिवाकर, जयप्रकाश नारायण, लोहियाजी, 'राहुल' जी, दिनकर, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, सेठ गोविन्ददास, विष्णु प्रभाकर, यशपाल जैन और श्यामनारायण पांडेय आ चुके हैं।

"रंगून में २२-५-१६३४ से दैनिक हिन्दी 'प्राची-प्रकाश' प्रकाशित होता आ रहा है। 'प्रवासी' भी दो वर्ष चला। 'ब्रह्म-भूमि' मासिक पत्रिका ४ वर्ष से चल रही है। पत्र-पत्रिकाओं की तरह से साहित्य-प्रकाशन भी कुछ हिन्दी में हुआ है। पं० हरिवदन शर्मा ने 'हिन्दी-बर्मी बोध', 'बर्मा का भूगोल' आदि छपाया। मास्टर पल्टू-सिंह ने वीर सावरकर की पुस्तक 'हिन्दू-पद-पादशाही' का सुन्दर हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया। श्री श्यामचरण मिश्र का 'बर्मा—कल और आज' छपा है। श्री रामप्रदेश यादव साहित्यरत्न ने 'गांधी-दर्शन' खंड-काव्य १६६१ में एवं 'क्रांति' उपन्यास सन् १६६३ में प्रकाशित किया। कुछ लेखकों ने हिन्दी पुस्तकों के बर्मी में अनुवाद किए : ऊ० पारमू और स्वर्गीय धर्मदूत ने राहुलजी के 'सिंह सेनापति' का बर्मी अनुवाद प्रकाशित किया। आर्य-समाज द्वारा 'सत्यार्थ-प्रकाश' का बर्मी अनुवाद सन् १६६० में प्रकाशित किया गया और वाल्मीकीय रामायण का भी एक अनुवाद हुआ है। श्री चन्द्रप्रकाश 'प्रभाकर' ने 'गोदान' का बर्मी अनुवाद किया है जो धारावाहिक रूप से 'ब्रह्म-भूमि' में छपा।

"सम्प्रति सरकारी स्कूलों में हिन्दी को कोई स्थान नहीं है। अगस्त, १६६३ से रंगून यूनिवर्सिटी में बी० ए० और बी० ए० (ऑनर्स) में हिन्दी को स्थान दिया गया है। प्रोफ़ेसर हैं ऊ थॉम्या। अब जबकि अनेक भारतीय व्यापारी बर्मा छोड़कर

भारत वापस आ रहे हैं, हिन्दी का भविष्य वहाँ अन्धकारमय नहीं तो बहुत उज्ज्वल भी नहीं है।

ब्रिटेन

ब्रिटेन में बी० बी० सी० के हिन्दी-उर्दू प्रोग्राम के माध्यम से गत महायुद्ध-काल से हिन्दी काफ़ी प्रचलित हुई। बलराज साहनी, आले हसन, हरिश्चन्द्र खन्ना, लुम्बा आदि कई व्यक्तियों ने वहाँ कार्य किया। हिन्दी नाटक ('अश्क' का छठा बेटा आदि) भी वहाँ स्टेज पर खेले गए। मुझे भी दो बार वहाँ बोलने का अवसर मिला।

दूसरा महत्त्वपूर्ण स्थान, जहाँ हिन्दी पठन-पाठन का कार्य अधिक शास्त्रीय ढंग से होता है, वह है लन्दन स्कूल ऑफ़ ओरिएण्टल एण्ड अफ्रिकन स्टडीज़ (एस-ओ० ए-एस०)। वहाँ प्रो० जान बर्टन पेज (जो नेपाल में रह चुके हैं, उर्दू बड़ी अच्छी जानते हैं, और हिन्दी खूब बोल लेते हैं) की अध्यक्षता में एक हिन्दी विभाग कार्य करता है। उसमें प्रो० मैक्ग्रैगर, श्रीमती यमुना केसकर आदि हिन्दी पढ़ाते हैं और भाषा-सम्बन्धी शोध-कार्य भी करते हैं। वहीं अर्धमागधी-प्राकृत का विभाग है, जिसके अध्यक्ष हैं प्रो० पद्मनाभ जैनी। भारत-इतिहास विभाग के प्रो० बैरल बहुत अच्छी संस्कृत और हिन्दी जानते हैं। मिस लैम्बर्ट ने 'मराठी व्याकरण' पुस्तक लिखी है। कई भारतीय विद्यार्थी वहाँ पढ़ते और शोध करते हैं। अभी प्रो० ईश्वर बंसल, जो नेपाली विभाग के अध्यक्ष हैं, सप्रू हाउस की 'इंटरनैशनल स्टडीज़ इन्स्टिट्यूट' में, वे, उसी संस्था में दो वर्ष रहकर लौटे हैं। और प्रो० हरनामसिंह 'शान' वहाँ पंजाबी में कार्य कर रहे हैं। इस संस्था की शोध-पत्रिका में हिन्दी भाषा विज्ञान-विषयक बहुमूल्य सामग्री प्रकाशित हुई है।

यद्यपि ब्रिटेनवासियों का हिन्दी के प्रति रुख कोई बहुत प्रेम या सम्मान का नहीं है, फिर भी हिन्दी-उर्दू के तुलनात्मक अध्ययन को उस संस्था में बहुत बढ़ावा दिया गया है और लन्दन के काउण्टी स्कूल में भी अब हिन्दी एक ऐच्छिक विषय के रूप में पढ़ाई जा रही है, ऐसी जानकारी ब्रिटिश काउन्सिल के के० सिंग देते हैं।

सिंहल

गत वर्ष १९६३ में सिंहल की चार यूनिवर्सिटियों में 'आधुनिक भारतीय साहित्य' पर व्याख्यान देने के लिए मुझे आमंत्रित किया गया था। वहाँ केलानामा में विद्यालंकार यूनिवर्सिटी में भदन्त आनन्द कौसल्यायन हिन्दी पढ़ाते हैं। विद्योदय यूनिवर्सिटी में भी उज्जैन के एक मेरे विद्यार्थी मिले, जिन्होंने बनारस में बौद्ध दर्शन में विशेष कार्य किया था और वे भी हिन्दी पढ़ा रहे थे।

भदन्तजी ने बताया कि सिंहली विद्यार्थियों को हिन्दी में काफ़ी रुचि है। संस्कृत, पालि के साथ-साथ वे आधुनिक हिन्दी से भी परिचित होना चाहते हैं। पर वहाँ भी उपयुक्त पाठ्य-सामग्री की कमी, जैसे और देशों में पाई जाती है। हिन्दी के प्रसार-प्रचार के लिए जैसे उत्तम स्वयंसेवक, मिशनरी उत्साह से हिन्दी पढ़ाने और

उसमें रुचि पैदा करने वाले अनेक अध्यापकों की आवश्यकता है, वैसे ही निम्न भौतिक साधनों की बहुत आवश्यकता है :

१. पाठ्य-पुस्तकें : प्राइमर और क्रमशः बढ़ते हुए उच्चतर संकलनादि।

२. सामान्य वाचन के लिए सरल पुस्तकें, जो कि साहित्य में रुचि पैदा कर सकें।

३. पत्र-पत्रिकाएँ।

४. ध्वनि सीखने के लिए रेकार्ड (ध्वनि-मुद्रिकाएँ)।

५. रेडियो से हिन्दी पाठ तत्तत्भाषा में प्रसारण की सुविधा।

६. अच्छी हिन्दी फ़िल्में।

७. अच्छे वक्ता, गायक कवि आदि विद्वानों, साहित्यिकों, मनीषियों का परस्पर आदान-प्रदान।

इन सब दिशाओं में हिन्दी संस्थाओं, प्रकाशकों, सम्पादकों, अध्यापकों, भाषा-शास्त्रियों, विद्वान् समीक्षकों तथा सृजनशील लेखकों आदि को बढ़ना होगा। सरकार के सहयोग की तो अपेक्षा है ही।

सोवियत रूस

लेनिनग्राद में स्वर्गीय राहुल सांकृत्यायन ने दो वर्ष सन् ४६-४७ में हिन्दी पढ़ाई। श्री प्यौत्र बारान्निकोव अकादेमीशियन अलेक्सान्द्र बारान्निकोव के पुत्र हैं। भारत में सोवियत दूतावास के सांस्कृतिक सचिव के नाते जब वे कार्य करते थे तब उनसे और उनकी पत्नी रोमा से काफ़ी परिचय हुआ था। वे सम्प्रति लेनिनग्राद में हिन्दी के अध्यापक हैं। उनसे प्राप्त जानकारी इस प्रकार है :

"लेनिनग्राद में विज्ञान अकादेमी की एशिया जनता अनुसन्धान संस्था की शाखा में कई हिन्दी-प्रेमी काम करते हैं। इसी संस्था में मेरे पूज्य पिताजी ने तुलसी-कृत 'रामायण' का रूसी पद्यानुवाद किया। इसी संस्था ने सोवियत संघ में प्रथम हिन्दी-रूसी शब्दकोश तैयार किया। हिन्दी-रूसी विशाल शब्दसागर की यहाँ तैयारी हो रही है। प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों का अनुशीलन, आधुनिक हिन्दी साहित्य का वर्णन, भारत की भाषा-विषयक समस्याएँ आदि विषयों पर इस संस्था में खोज हो रही है।

"लेनिनग्राद विश्वविद्यालय की ओरिएण्टल फ़ैकल्टी में अनेक वर्षों से हिन्दी की शिक्षा दी जाती है। वहाँ से पढ़े हुए स्नातक मास्को और ताशकन्द में हिन्दी का प्रचार-कार्य कर रहे हैं। लेनिनग्राद विश्वविद्यालय के छात्र-छात्राओं की आयु अठारह-बीस वर्ष की होती है; पर लेनिनग्राद में ऐसे भी हिन्दी के शिक्षा-केन्द्र हैं जहाँ हिन्दी अध्यापन सात साल से शुरू होता है। इनमें बोर्डिंग स्कूल नंबर चार है, जिसमें तीन सौ लड़के और लड़कियाँ हिन्दी पढ़ते हैं। छोटे बच्चे हिन्दी में न केवल बोलना और लिखना सीखते हैं, बल्कि हिन्दी के गीत गाना भी पसन्द करते हैं। इन गीतों में 'हम पंछी एक डाल के' शामिल है। इस स्कूल का एक लड़का कोल्य निकनोव है, जो जानीवाकर के अनेक गाने सफलता से प्रस्तुत करता है।

"बालकों के लिए एक और हिन्दी शिक्षा-केन्द्र नगर के 'पायोनियर प्रासाद' के अन्तर्गत है। भिन्न-भिन्न स्कूलों के छात्र यहाँ पर शाम के वक्त आ जाते हैं और हिन्दी पढ़ते हैं। लेनिनग्राद में सोवियत-भारत सांस्कृतिक संस्था की एक शाखा में हिन्दी के कई लेखक अतिथि बनकर पधारे। इनमें सर्वश्री सुमित्रानन्दन पन्त, दिनकर, जैनेन्द्रकुमार, बनारसीदास चतुर्वेदी, शंकर शैलेन्द्र, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि हैं। इस संस्था के अन्तर्गत हिन्दी-लेखकों की जयन्तियाँ मनाई जाती हैं, यथा प्रेमचन्द-जयन्ती, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' जयन्ती, बनारसीदास चतुर्वेदी जयन्ती आदि। लेनिनग्राद के हिन्दी-प्रेमी आधुनिक हिन्दी-लेखकों की रचनाओं का रूसी अनुवाद करते जाते हैं। अनूदित कृतियों में यशपाल-कृत 'दिव्या' और 'झूठा सच', उपेन्द्रनाथ 'अश्क' कृत 'गिरती दीवारें', विष्णु प्रभाकर की कहानियाँ, बच्चन की कविताएँ आदि हैं।

"लेनिनग्राद में अनेक ऐसे पुस्तकालय हैं, जिनमें हिन्दी-पुस्तकें (हिन्दी भाषा में) संग्रहीत हैं। इनमें मुख्य हैं लेनिनग्राद पब्लिक लाइब्रेरी, विज्ञान अकादेमी का पुस्तकालय, एशियाई जनता के अनुसन्धान केन्द्र का पुस्तकालय और विश्वविद्यालय की ओरिएण्टल फ़ैकल्टी की लाइब्रेरी। इन सभी पुस्तकालयों में हज़ारों की संख्या में अनेक हिन्दी-पुस्तकें सम्मिलित हैं; 'पृथ्वीराजरासो' से 'मैला आँचल' तक। बहुत-सी पुस्तकें 'राजपाल एण्ड सन्स' और 'हिन्दी प्रचारक' से आ जाती हैं। जो लोग हिन्दी भाषा नहीं समझते, वे हिन्दी साहित्य के रूसी अनुवादों को पढ़ते हैं। लेनिनग्राद नगर में हज़ारों पुस्तकालय हैं, लाखों नागरिक इनसे लाभ उठाते हैं।

"हिन्दी व्याकरण, हिन्दी-रूसी शब्दकोश, रूसी-हिन्दी शब्दकोश, 'हिन्दी-रूसी बातचीत', हिन्दी साहित्य के रूसी अनुवाद, रूसी साहित्य के हिन्दी अनुवादों की किताबें दुकानों पर उपलब्ध हैं।"

मैंने कई लोगों को पत्र भेजे थे। श्री चेलिशेव और कुमारी स्वेत्लाना से हमारा परिचय था, पर उनसे पत्रोत्तर अभी तक नहीं मिले। भारत में सोवियत दूतावास के एल० ज्यूएनकोव ने लिखा है ११ नवम्बर के पत्र में कि—

"हिन्दी मास्को, लेनिनग्राद, कीव, ताशकन्द और थिलिस विश्वविद्यालयों में पढ़ाई जाती है। मास्को और लेनिनग्राद के कई बोर्डिंग स्कूलों में हिन्दी पढ़ाई जाती हैं।

"इस समय करीब ५०० विद्यार्थी हिन्दी पढ़ रहे हैं। अध्यापकों में भारतीय और रूसी दोनों ही हैं। पाठ्य-पुस्तकें सोवियत शिक्षाशास्त्रज्ञ तैयार कराते हैं।"

डॉ० भोलानाथ तिवारी ताशकन्द में हिन्दी पढ़ाने के लिए एक-दो वर्ष के लिए रहे। उनके २७ नवंबर के पत्र से यह जानकारी मिली—

"सोवियत संघ में हिन्दी का अध्यापन अकादेमीशियन श्री बारान्निकोव के समय में आज से प्रायः २५ वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ। आजकल हिन्दी पढ़ाई का प्रबन्ध मास्को, लेनिनग्राद एवं ताशकंद में है। अब हिन्दी केवल विश्वविद्यालय स्तर पर ही नहीं पढ़ाई जाती, अपितु स्कूलों में भी है। ताशकन्द के एक स्कूल में ही, जहाँ मैं गया था, लगभग १५०० विद्यार्थी हिन्दी पढ़ रहे हैं। पूरे सोवियत संघ में स्कूलों में

चार-पाँच हज़ार विद्यार्थी हिन्दी पढ़ रहे हैं। विश्वविद्यालयों में ३०० के लगभग होंगे। वहाँ हिन्दी के अच्छे अध्यापकों में बारान्निकोफ़, दीमशिन, चेलिशोफ, रहमान बोर्दी, आउलवा आदि प्रसिद्ध हैं। प्रारम्भिक पाठ्य-पुस्तकें तो वहीं की बनी हैं। ताशकन्द में, ताशकन्द के ही रहमान बोर्दी तथा कुछ और लोगों के सहयोग से तैयार पाठ्य-पुस्तक आरम्भिक कक्षाओं में पढ़ाई जाती है। उच्च कक्षाओं के लिए पाठ्य-पुस्तकें नहीं हैं। समाचारपत्रों एवं पत्रिकाओं के अतिरिक्त कहानी, उपन्यास, निबन्ध एवं कुछ आधुनिक कविता विभिन्न पुस्तकों से पढ़ाई जाती है। कोश, वहीं के बने हिन्दी-रूसी और रूसी-हिन्दी चलते हैं। व्याकरण बारान्निकोफ़ का चलता है। यों ताशकन्द में आउलवा नामक महिला ने एक व्याकरण लिखा है, उससे पढ़ाते हैं। कामताप्रसाद गुरु के व्याकरण का रूसी अनुवाद भी छप गया है, उससे भी लोग सहायता लते हैं। उनके पढ़ाने में सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि विदेशी लोगों को ध्यान में रखकर हिन्दी का कोई अच्छा व्याकरण लिखा नहीं गया है, जो व्यावहारिक दृष्टि से उसकी समस्याओं का समाधान कर सके। तुलसीदास, प्रेमचन्द, कामताप्रसाद गुरु, सुमित्रानंदन पंत, कृष्णचन्द्र, शिवदानसिंह चौहान, हंसराज रहबर, विष्णु प्रभाकर, अश्कजी आदि की पुस्तकें अनूदित हो चुकी हैं। इस समय कोई भी भारतीय वहाँ हिन्दी पढ़ाने के लिए नहीं है।''

डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय

भोजपुरी लोक-साहित्य

भोजपुरी भाषा उत्तर प्रदेश के पूर्वी ज़िलों तथा बिहार के पश्चिमी ज़िलों के अतिरिक्त राँची, पलामू, सरगुजा और बस्तर आदि ज़िलों में भी बोली जाती है। कलकत्ता और बम्बई की मिलों में काम करने वाले लाखों आदमी इसे मातृभाषा के रूप में व्यवहृत करते हैं। सब मिलाकर भोजपुरी भाषाभाषियों की संख्या तीन करोड़ से भी अधिक है। भोजपुरी प्रदेश भारतीय संघ का राजनीतिक भाग नहीं है बल्कि यह एक सांस्कृतिक इकाई है। इस प्रदेश के रहने वाले 'भोजपुरिया' कहे जाते हैं, जो अपनी वीरता और स्पष्टवादिता के लिए विख्यात हैं।

भोजपुरी साहित्य प्रधानतया तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है: (१) सन्त-साहित्य, (२) लोक-साहित्य तथा (३) आधुनिक साहित्य। भोजपुरी प्रदेश में निवास करने वाले अनेक सन्त कवियों ने अपने हृदय की धार्मिक भावनाओं को अभिव्यक्त करने के लिए इसी भाषा के माध्यम को ग्रहण किया है। महात्मा कबीर, धरमदास, शिवनारायण, धरनीदास और लक्ष्मी सखी आदि अनेक सन्तों ने इस भाषा में मधुर तथा सरस पदों की रचना की है।[1] इनके अतिरिक्त बिहार के चम्पारन ज़िले के सरभंग सम्प्रदाय के सन्तों की तो भोजपुरी काव्य की भाषा ही रही है, जिसमें उन्होंने हठयोग तथा अध्यात्मवाद के अनेक गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन किया है।

भोजपुरी का लोक-साहित्य बड़ा समृद्ध है। इसमें लोग-गीतों, लोक-गाथाओं तथा लोग-कथाओं का अनन्त भण्डार भरा पड़ा है। इस विशाल राशि को संकलित करने के लिए अनेक लोक-साहित्य-सेवियों की आवश्यकता है। विषय के प्रतिपादन की सुविधा के लिए भोजपुरी के क्षेत्र में किये गए कार्य को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) संग्रह-कार्य और (२) शोध-कार्य।

भोजपुरी लोकगीतों के सर्वप्रथम संग्रह करने का श्रेय अंग्रेज सिविलियनों को प्राप्त है, जिनमें डॉ० ग्रियर्सन का नाम सर्वश्रेष्ठ है। गत शताब्दी के उत्तरार्ध में डॉ० ग्रियर्सन ने भोजपुरी के गीतों का संग्रह करना प्रारम्भ किया। इस सम्बन्ध में इनका एक लेख 'सम बिहारी फ़ोक सांग्स' शीर्षक से प्रकाशित हुआ, जिसमें उन्होंने भोजपुरी के ही गीतों को प्रधान स्थान दिया।[2] इसके अनन्तर उन्होंने 'सम भोजपुरी

१. डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय, भोजपुरी लोक-साहित्य का अध्ययन, पृ० ४८-५८।
२. जरनल ऑफ़ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी, लन्दन, भाग १६ (१८८४), पृ० १९६।

फ़ोक सांग्स' शीर्षक एक बहुत बड़ा लेख लिखा, जो अनेक दृष्टियों से बहुत महत्त्वपूर्ण है।[1] इस लेख में जँतसार, सोहर, कजरी आदि अनेक प्रकार के गीत संकलित किये गए हैं, परन्तु अहीरों के राष्ट्रीय गान 'विरहा' की इसमें प्रधानता है। मूल गीतों के अतिरिक्त इनके अंग्रेज़ी अनुवाद के साथ ही भाषा-शास्त्र-सम्बन्धी अनेक बहुमूल्य टिप्पणियाँ दी गई हैं। गोपीचन्द की सुप्रसिद्ध लोक-गाथा के भोजपुरी तथा मगही में उपलब्ध पाठों की तुलनात्मक विवेचना भी आपने प्रस्तुत की है।[2] इसी प्रकार विजयमल नामक वीर की गाथा के उद्धार करने का श्रेय इन्हें प्राप्त है।[3] बुन्देलखण्ड के सुप्रसिद्ध वीर आल्हा और ऊदल की गाथा उत्तर भारत में बहुत प्रसिद्ध है। डॉ० ग्रियर्सन ने आल्हा के विवाह-सम्बन्धी गीतों का संग्रह किया है।[4] इसके अतिरिक्त इन्होंने 'दि ले ऑफ़ आल्हा' नामक ग्रन्थ का सम्पादन बड़ी योग्यता से कर लोक-साहित्य के प्रेमियों का बड़ा उपकार किया है।[5] 'विहार पीज़ेण्ट लाइफ़' में कृषक जीवन से सम्बन्धित पारिभाषिक पदावली का विशाल संग्रह प्रस्तुत है। इस ग्रन्थ में भोजपुरी की अनेक लोकोक्तियाँ और ऋतु-सम्बन्धी कहावतें संकलित की गई हैं।[6] ह्यू ज फ्रेज़र के द्वारा गोरखपुर ज़िले के पूर्वी भाग से कुछ लोक-गीतों का संग्रह किया गया था, जिसका सम्पादन डॉ० ग्रियर्सन ने किया है।[7] जे० वीम्स भोजपुरी भाषा के प्रकाण्ड विद्वान् थे। इन्होंने इस भाषा के सम्बन्ध में बहुमूल्य टिप्पणियाँ लिखी हैं, जिनमें उदाहरण के रूप में कुछ गीत भी उद्धृत हैं।[8] ए० जी० शिरेफ ने भोजपुरी के कुछ गीतों का मूल के साथ अंग्रेज़ी में अनुवाद प्रस्तुत किया है।[9]

डॉ० उदयनारायण तिवारी, अध्यक्ष हिन्दी विभाग, जबलपुर विश्वविद्यालय ने भोजपुरी भाषा और साहित्य के शोध-कार्य में बड़ा योगदान दिया है। इन्होंने 'भोजपुरी भाषा की उत्पत्ति तथा विकास' नामक अपने अंग्रेज़ी के शोध-प्रबन्ध में इस भाषा के व्याकरण का वैज्ञानिक पद्धति से सांगोपांग विवेचन किया है।[10] इनका दूसरा ग्रन्थ 'भोजपुरी भाषा और साहित्य' है, जिसमें भाषा के साथ ही इसके साहित्य का भी परिचय प्राप्त होता है।[11] डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय नेभोजपुरी लोक-साहित्य के संकलन तथा इसके आलोचनात्मक विवेचन को बड़े परिश्रम के साथ प्रस्तुत किया है।

१. जे० आर० ए० एस०, भाग १८ (१८८६), पृ० २०७।
२. जे० ए० एस० बी०, भाग ५४ (१८८५), पार्ट १, पृ० ३५।
३. दि साँग ऑफ़ विजयमल (जे० ए० एस० बी०, भाग ५३ (१८८४) पार्ट ३, पृ० ९४)।
४. दि साँग ऑफ़ आल्हाज़ मैरिज, (इण्डियन एन्टीक्वेरी, भाग १४ (१८८५), पृ० २०९)।
५. ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन।
६. विहार सरकार द्वारा प्रकाशित, द्वितीय संस्करण, सन् १९२६।
७. फ़ोकलोर फ्राम ईस्टर्न गोरखपुर (जे० ए० एस० बी०, भाग ५२ (१८८३), पृ० १-३२।
८. नोट्स ऑन दि भोजपुरी डाइलेक्ट ऑफ़ हिन्दी (जे० ए० एस० बी०, भाग ३, एन० एस० (१८६८)।
९. हिन्दी मन्दिर, इलाहाबाद, पृ० ४८३।
१०. एशियाटिक सोसाइटी ऑफ़ बंगाल, कलकत्ता।
११. राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना (विहार)।

स्थानाभाव के कारण इनके ग्रन्थों के सम्बन्ध में विशेष विवरण न लिखकर केवल सूची-मात्र दी जाती है—

(१) भोजपुरी लोक-गीत[1], भाग १
(२) भोजपुरी ग्राम-गीत[2], भाग २
(३) भोजपुरी और उसका[3] साहित्य
(४) भोजपुरी लोक-साहित्य का अध्ययन[4]
(५) भोजपुरी लोक-संगीत[5]
(६) हिन्दी-साहित्य का वृहत् इतिहास[6]

भाग १६ (हिन्दी का लोक साहित्य) में 'भोजपुरी लोक-साहित्य'-सम्बन्धी लेख।

श्री दुर्गाशंकर प्रसाद सिंह ने 'भोजपुरी लोकगीतों में करुण रस' नामक पुस्तक में करुण रस-सम्बन्धी लोकगीतों का बड़ा ही सुन्दर संग्रह प्रस्तुत किया है।[7] इन्होंने 'भोजपुरी के कवि और काव्य' में ऐसे अनेक कवियों की कृतियों को प्रकाशित किया है जो अतीत की गोद में सोये हुए थे।[8] इधर श्रीसिंह का भोजपुरी लोक-कथाओं का विशाल संकलन तैयार है जो अभी प्रेस में है। श्री डब्ल्यू० जी० आर्चर के द्वारा श्री संकटाप्रसाद की सहायता से बिहार के आरा जिले से किये गए 'भोजपुरी ग्राम्य-गीतों' के संग्रह में संस्कार-सम्बन्धी गीतों की ही प्रधानता है।[9] भोजपुरी लोक-कथाओं का कोई वैज्ञानिक संग्रह अभी प्रकाश में नहीं आया है। हाँ, हाल ही में 'खरवा पीपर कबहू ना डोले' नामक एक छोटा-सा संकलन वाराणसी से छपा है।[10] भोजपुरी की लोकोक्तियों, पहेलियों और मुहावरों का संग्रह डॉ० उदयनारायण तिवारी ने बहुत पहले किया था।[11]

भोजपुरी भाषा और इसके लोक-साहित्य के सम्बन्ध में जितना शोध-कार्य हुआ है, उतना हिन्दी की अन्य किसी बोली में नहीं पाया जाता। भोजपुरी भाषा का सांगोपांग वैज्ञानिक विवेचन डॉ० उदयनारायण तिवारी ने किया है, जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। डॉ० सत्यव्रत सिन्हा ने अपने पी-एच० डी० के शोध-प्रबन्ध में

---

१. हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद, १९४३।
२. वही, १९४८।
३. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, १९५७।
४. हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, १९६१।
५. शर्मा एण्ड कम्पनी (प्रा०), इलाहाबाद।
६. नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, १९६०।
७. हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद, १९४४।
८. राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना (बिहार)।
९. पुस्तक भण्डार, लहेरियासराय, दरभंगा।
१०. भोजपुरी संसद, वाराणसी, १९६४।
११. हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद की 'हिन्दुस्तानी' पत्रिका में सन् १९३९, ४०, ४१ और ४२ के विभिन्न अंकों में प्रकाशित।

'भोजपुरी लोकगाथाओं' की विशद मीमांसा की है।[1]

डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय की थीसिस 'भोजपुरी लोक-साहित्य का अध्ययन' में लोक-साहित्य के विभिन्न अंगों—लोक-गीत, लोक-गाथा और लोक-कथा आदि—का वैज्ञानिक विवेचन उपलब्ध होता है।[2] इन्होंने भोजपुरी जनता के जीवन, धर्म तथा संस्कृति पर भी प्रकाश डाला है। डॉ० सत्यदेव ओझा (जमदेशपुर, बिहार) के शोध-प्रबन्ध का विषय 'भोजपुरी लोकोक्तियाँ' हैं, जिसमें विद्वान् लेखक के द्वारा इन कहावतों में निहित भोजपुरी समाज की सांस्कृतिक अवस्था का चित्रण बड़ी सुन्दर भाषा में प्रस्तुत है। डॉ० श्रीधर मिश्र (खालसा कालेज, बम्बई) ने भोजपुरी लोकगीतों में चित्रित भोजपुरी जन-जीवन तथा लोक-संस्कृति का विशद विवेचन पाठकों के सामने रखा है। अभी तक भोजपुरी की लोक-कथाओं को किसी अधिकारी विद्वान ने अपने शोध-प्रबन्ध का विषय नहीं बनाया है।

आधुनिक काल में अनेक कवियों ने भोजपुरी में काव्य-रचना की है, जिनमें पं० दूधनाथ उपाध्याय, बिसराम, तेग अली, बाबू रामकृष्ण वर्मा, बाबू अम्बिका शरण आदि के नाम प्रसिद्ध हैं। उपाध्यायजी ने सन् १९१४ ई० में 'भरती के गीत' नामक पुस्तक में बड़े ही जोरदार शब्दों में प्रथम महायुद्ध में भरती होने के लिए अपने देशवासियों से अपील की है। 'बिसराम' के बिरहों में विरही हृदय की कसक पाई जाती है जो बड़ी ही सरस तथा हृदयद्रावक है। तेग अली के 'बदमाश दर्पण' में बनारसी बोली का उदाहरण देते हुए बनारसी जीवन की बाँकी झाँकी प्रस्तुत की गई है।

रामकृष्ण वर्मा ने 'बिरहा नायिका भेद' नामक ग्रन्थ लिखा है, जिसमें नायिकाओं के विभिन्न भेदों का वर्णन भोजपुरी की सरस पदावली में पाया जाता है। अम्बिकाशरणजी के 'बटोहिया' गीत भोजपुरी प्रदेश में अत्यन्त प्रचलित हैं, जिनमें अखण्ड-भारत का चित्रण मिलता है।

इन स्वर्गीय कवियों के अतिरिक्त अनेक जनकवि अपनी मधुर रचनाओं के द्वारा भोजपुरी के भण्डार को भर रहे हैं। इन वर्तमान कवियों में कुछ प्रसिद्ध व्यक्तियों के नाम निम्नांकित हैं: (१) पं० रामविचार पाण्डेय, (२) प्रिन्सिपल मनोरंजन प्रसाद सिन्हा, (३) पं० महेन्द्र शास्त्री, (४) श्री रामनाथ पाठक 'प्रणयी', (५) श्री प्रसिद्ध नारायण सिंह, (६) श्री मोती बी० ए०, (७) प्रो० रामेश्वरप्रसाद काश्यप, (८) चतुरी चाचा, (९) भिखारी ठाकुर, (१०) पं० चन्द्रशेखर मिश्र, (११) दुर्गाशंकर प्रसाद सिंह आदि। पं० रामविचार पाण्डेय की कविता के अनेक संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें 'बिनिया बिछिया' प्रसिद्ध है। पं० महेन्द्र शास्त्री के 'चोखा' नामक संकलन में व्यंग्य, हास्य और विनोद का पुट पाया जाता है। पं० रामनाथ पाठक 'प्रणयी' ने प्रणय के गीत गाए हैं, परन्तु ग्रामीण प्रकृति का चित्रण इनकी कविता में विशेष सुन्दर बन पड़ा है। इनकी कविता के अनेक संग्रह 'सितार', 'कोइलिया' आदि

१. हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद।
२. इस पुस्तक का नवीन संस्करण 'तेग अली और काशिका' के नाम से रुद्रकाशिकेय के सम्पादकत्व में भोजपुरी संसद, वाराणसी से सन् १९६४ में प्रकाशित हुआ है।

के नाम से प्रकाश में आ चुके हैं। श्री प्रसिद्ध नारायणसिंह वीर रस की कविता लिखने में प्रसिद्ध हैं। 'बलिदानी बलिया' आपकी सुन्दर रचना है। श्री मोती बी० ए० की कविता सरस और पदशय्या चुनी हुई होती है। 'महुआ बारी' आपकी कविताओं का सुन्दर संकलन है। 'काश्यप' जी ने 'लोहासिंह' नाटक लिखने के अतिरिक्त वीररस की कविता भी लिखी है। भिखारी ठाकुर का विदेसिया नाटक प्रसिद्ध है, जिसमें विदेसिया नामक कविता हृदय-स्पर्शिनी है। चन्द्रशेखर मिश्र ने 'कुँवरसिंह' नामक वीर-रसपूर्ण महाकाव्य की रचना की है। दुर्गाशंकर प्रसाद सिंह ने 'साहित्य रामायण' लिखकर रामकथा को भोजपुरी में निबद्ध करने का सफल प्रयास किया है।

प्रो० कृष्णनारायण प्रसाद मागध

मगही का स्वातंत्र्योत्तर साहित्य

भाषा-विज्ञान की दृष्टि से मागधी समुदाय की तीनों भाषाओं (बोलियों ?)—मगही, मैथिली और भोजपुरी का क्षेत्र मूलतः बिहार ही है। साहित्य (मुद्रित और अमुद्रित) की दृष्टि से इनमें मैथिली सबमें जेठी पड़ती है। भोजपुरी और मगही में 'को बड़ छोट कहत अपराधू' की स्थिति ही है। हाँ, इतना तो सत्य है कि भोजपुरी में साहित्य-सृजन की चेतना (केन्द्रीय हिन्दी से पृथक्करण की प्रवृत्ति ?) मगही से पहले ही लक्षित हुई थी।

मगही में प्राचीन साहित्य का सृजन विपुल रूप में हुआ था। यह इतिहास-सिद्ध है कि मगही कभी राजभाषा और साहित्य-सृजन की केन्द्रीय भाषा रही है। इसी से इसे 'सा मागधी मूलभाषा…' (कच्चान) और 'सब्बेसं मूलभासायं मागधाय निरुत्तिया' (चूलवंश) से गौरवान्वित किया गया था। सरहपा को आदिकवि स्वीकारने वाली हिन्दी मगही से उऋण नहीं हो सकती। नालन्दा, ओदन्तपुरी, विक्रमशिला आदि के संग्रहालयों के नष्ट हो जाने से मगही का प्राचीन साहित्य तो नष्ट हुआ ही, राजनीतिक क्रियाशीलता को मगध से मिथिला, लखनावती, कान्यकुब्ज आदि में स्थानान्तरित हो जाने से मगही के कवियों को राजकीय संरक्षण का भी अभाव हो गया। मुस्लिम और अंग्रेज़ी शासनकाल में भी इसे पोषण न मिला। लोक-कंठ में यह साहित्य जो पलता रहा, उसके वास्तविक रूप को खोज निकालना आज दुष्कर-सा है। इससे इसका अखण्डित क्रम अप्राप्य है।

अद्यतन समय में मगही अपने विभिन्न क्षेत्रीय रूपों में मूलतः पटना, गया, हजारीबाग के अधिकांश हिस्से, पश्चिम-दक्षिणी मुंगेर, राँची की तलहटी, सिंहभूम और मानभूम ज़िले में बोली जाती है। इसका परिनिष्ठित रूप राजगृह के चारों ओर से लेकर गया तक के क्षेत्र में ही प्रचलित है। इस युग में साहित्य-सृजन का कार्य पूर्वा-

पेक्षया अधिक हुआ है। सन् १९४३ ई० का वर्ष मगही भाषा और साहित्य के लिए बड़े महत्त्व का माना जाना चाहिए, चूँकि इसी वर्ष पटना विश्वविद्यालय ने मैट्रिकुलेशन परीक्षा पाठ्य-पुस्तक 'पद्य-संग्रह' में प्रथम बार 'जगउनी' और 'चाँद' (श्रीकृष्णदेव प्रसाद-लिखित) शीर्षक कविताओं को स्थान देकर मगही को स्वतंत्र रूप से साहित्यिक मान्यता दी थी।

स्वातंत्र्योत्तर-युग में मगही का जो साहित्य सामने आया है, उसे दो वर्गों में रखा जाएगा—लोक-साहित्य और उच्चतर साहित्य। लोक-साहित्य के सम्बन्ध में दो प्रकार के प्रयत्न किये गए हैं—मगही-मानस में प्रचलित लोक-गीतों, लोक-गाथाओं, लोक-कथाओं आदि का संकलन और उनका सर्वथा नवीन रूप में सृजन। संकलन-कार्य में जहाँ एक ओर कतिपय उत्साही जन स्वेच्छा से प्रेरित हो मुड़े हैं, वहाँ राजकीय स्तर पर बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् की ओर से भी काम कराए गए हैं। 'मगही लोकगीत' (सं० डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी और आनन्द), 'मगही संस्कार गीत' (सं० डॉ० विश्वनाथ प्रसाद), 'मगही लोकगीत' (सं० श्रीकान्त शास्त्री और प्रो० रामानन्दन), 'मगही कहानी सेंगरन' (सं० श्रीकांत शास्त्री और प्रो० रामनन्दन) आदि इसी उत्साह के परिणाम हैं। परिषद् द्वारा भी गीतों, गाथाओं आदि का एक अच्छा-खासा संग्रह तैयार कराया गया है। सर्वथा नवीन रूप में लोक-साहित्य के सृजन की ओर भी अनेक कलाकार दत्त-चित्त हैं, जिनमें सर्वाधिक चर्चित और प्रशंसित नाम है श्रीधर पाठक का। इन्होंने 'गिरिजा-गिरीश-चरित', 'उमा-शंकर-विवाह-कीर्तन', 'गांधी-विरह-लहरी', 'लंकादहन', 'राम-वन-गमन' आदि बीसियों पुस्तिकाओं की रचना की है। मगही मानस में इनके गीत आज सर्वाधिक लोकप्रिय हैं। भोजपुरी लोक-साहित्य में भिखारी ठाकुर द्वारा किये गए प्रयत्नों से इनके कार्यों की तुलना की जा सकती है।

मुद्रण, प्रकाशन आदि की दृष्टि से उच्चतर साहित्य मूलतः दो खातों में खतियाए जाएँगे—हिन्दी के माध्यम से प्रकाशित साहित्य और मूल मगही के माध्यम से प्रकाशित साहित्य। हिन्दी के माध्यम से प्रकाशित महत्त्वपूर्ण कृतियों में 'मगही भाषा और साहित्य' (श्री कृष्णदेव प्रसाद), 'मगही' (श्री रमाशंकर शास्त्री) और 'हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास' (ना० प्र० सभा) के लोक-साहित्यवाले खंड में मगही का अंश विशेष महत्त्व का है। ज्ञात तथ्यों से विदित है कि इसी मास में 'मगही लोक-साहित्य' (डॉ० सम्पत्ति आर्याणी) नामक ग्रन्थ भी प्रकाशित हो जाएगा। इसी क्रम में कतिपय महत्त्वपूर्ण अप्रकाशित शोध-ग्रन्थ की चर्चा भी अनिवार्य है। मगही भाषा और साहित्य पर सर्वप्रथम वैज्ञानिक रीति से अनुसंधान करनेवालों में श्री युगेश्वर पाण्डेय का नाम आता है, जिन्होंने सन् १९६१ ई० में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में एम० ए० परीक्षा के दो पत्रों के स्थान पर 'मगही भाषा और साहित्य' नामक शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किया था। पटना विश्वविद्यालय में भी अब तक तीन शोध-प्रबन्ध आचुके हैं—'मगही भाषा और साहित्य' (सम्पत्ति आर्याणी, डी० लिट्० की उपाधि हेतु, १९६४ ई०), 'मगही लोकगीतों का शास्त्रीय अध्ययन' (कल्याणेश्वरी

वर्मा, पी-एच० डी० उपाधि हेतु, १९६५ ई०) और 'पटना और गया ज़िल में बोली जानेवाली मगही का ऐतिहासिक और विकासात्मक अध्ययन' (श्रीकांत शास्त्री, पी-एच० डी० उपाधि हेतु, १९६५ ई०)। निश्चय ही ये शोध-प्रबन्ध मगही भाषा और साहित्य के अध्ययन की दिशा में महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं। वहीं से मगही ध्वनि-विज्ञान, मगही कहावत और मगही लोकगाथा पर भी कार्य कराए जा रहे हैं।

अब विचारणीय है मगही का मूल साहित्य। मगही साहित्य की विकास-यात्रा मगही की पत्र-पत्रिकाओं के साथ जुड़ी हुई है। पत्र-पत्रिकाओं के संचालन और सम्पादन में श्रीकांत शास्त्री (अब डॉ० श्रीकांत शास्त्री) का नाम अग्रगण्य है। उनके सम्पादकत्व में 'मगही' कभी बढ़ती, कभी रुकती हुई सन् १९५८ ई० तक चलती रही है। श्री रामवृक्षसिंह 'दिव्य', ठाकुर रामबालकसिंह, शिवाराम योगी आदि ने भी सह-सम्पादकत्व द्वारा उसका काफ़ी साज-सँवार किया था। 'मगही' का ऐतिहासिक और साहित्यिक महत्त्व सदा बना रहेगा। 'महान् मगध' नामक दूसरी मासिक पत्रिका का प्रकाशन श्री गोपाल मिश्र केशरी के सम्पादन में औरंगाबाद (गया) से सन् १९५५-५६ ई० में हुआ था। इसके कुछ ही अंक निकल सके थे। बिहार मगही मंडल की ओर से सन् १९५८ ई० में श्रीकांत शास्त्री और प्रो० रामनन्दन के सम्पादकत्व में 'बिहान' नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। यह पत्रिका जनवरी '६४ ई० के पश्चात् बन्द हो गई थी, पर इस मास से उसका पुनर्प्रकाशन प्रारम्भ हो गया है। जनवरी '६४ ई० से 'मगही सनेस' नामक एक और मासिक पत्रिका का प्रकाशन नालन्दा से हो रहा है। यह साहित्यिक रचनाओं की अपेक्षा धार्मिक रचनाओं के प्रकाशन में ही योग देता है। मूल रूप में यह आनन्दमार्गी लोगों की पत्रिका है, जिसका उद्देश्य है धर्म-प्रचार। सब ले-देकर 'बिहान' ही एकमात्र ऐसी पत्रिका है, जिसकी ओर साहित्यिकों की आँखें लगी रहती हैं। उपर्युक्त पत्रिकाओं के माध्यम से ही मगही ने अपने साहित्य का शाखामयी विस्तार किया है।

अद्यतन मगही साहित्य का विस्तार-प्रस्तार पद्य और गद्य दोनों रूपों में हुआ है। कविता के क्षेत्र में सर्वप्रथम श्रीकृष्णदेव प्रसादजी का नाम लिया जाएगा। मगही की आधुनिक कविता को लोक-मंच से साहित्यिक मंच पर सर्वथा शास्त्रीय रूप में उतारने का सफल प्रयास इन्होंने ही किया था। इनकी अधिकांश रचनाएँ आज भी अप्रकाशित ही हैं। प्रकृति के प्राकृत रूप को निखारने में ये काफ़ी सफल हुए हैं। 'फागुन के अवइआ' से यहाँ वसंत का यह रूप दर्शनीय है—

आइ गेल मास फगुनवाँ, निरमल स्वच्छ अकास।
सिमर के लाल-लाल लुल्हुआ सोहावन, महुआ के पसरे सुवास ॥

श्री रामप्रसाद 'पुंडरीक' जी पुराने खेवे के कवियों में हैं। इनकी कविता लोक-साहित्य और उच्चतर साहित्य की सम्मिलित रेखा पर खड़ी है। हाँ, लोक-रुचि की पहचान इन्हें सर्वाधिक है। सोहर, झूमर, चैता, कजरी आदि लोक-धुनों को इन्होंने मगही कविता के लिए चुन लिया है। 'पुण्डरीक रत्नावली' और 'पुण्डरीक रत्नमालिका' में

इनकी रचनाएँ संकलित भी हुई हैं।

नवीन काव्य-सर्जकों में कुछ ऐसे भी हैं जो मगही में हिन्दी से आए हैं। कुछ लोग निरन्तर रूप से मगही में ही लिखते रहे हैं। मगही कविता अभी तक मूलत: गीतात्मक ही है। कथात्मक काव्य नहीं के बराबर ही लिखे गए हैं। श्री जागेशदत्त पाठकजी का 'जरासंध' नामक खंडकाव्य भाव, भाषा, शिल्प आदि सभी दृष्टियों से उत्तम बन पड़ा है। प्रयोग की नवीनता, कल्पना की मार्मिकता, जड़ता में मानवी आरोप आदि की दृष्टि से श्री गोवर्द्धन प्रसाद सदय, श्री रामनरेश पाठक, श्री जगदीश नारायण चौबे, श्री रामगोपाल 'रुद्र', श्री सत्यदेव शांतिप्रिय की रचनाएँ उत्तम होती हैं। आनेवाले प्रकाश की तस्वीर दिखाने की पद्धति श्री सदयजी की अपनी है—

कोनो साथ न संगी साथी, बुझल हाथ के अपने बाती।
ई रतिया पर भी दिनवां के, छूट चुकल है तीर देखइओ॥
आवउ कुछ तस्वीर देखइओ॥

प्रकाश की इसी तस्वीर को श्री चौबेजी 'गाँव किरिंग के' में छायावादी कल्पना द्वारा इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

मिल-मिल जोत लहर पर बिछुलल,
अगुआनी में आज कमलदल,
झाँक रहल घूँघा उघार के,
हौले-हौले परे लगल अब, सगरो पाँव किरिंग के।

श्री सत्यदेव शांतिप्रियजी मुक्त छन्दों में सदा नवीन उपमान की टोह ही लगाते दिखते हैं—

गरम हवा,
रंगीन हो रहल—
जइसे,
प्रोषित पतिका के अँचरा,
हरा मेल हे,
मिलन घड़ी में।

शिल्प, तथ्य, विद्या, प्रवृत्ति आदि की दृष्टि से सर्वथा नवीन प्रयोगों को लेकर आगे बढ़ रहे हैं श्रीकांत शास्त्री। 'बरबरिका', 'जतकट्टी', 'जेठ के दुपहरिया' आदि उनकी उत्तम रचनाएँ हैं।

लोक-गीतों की धुन पर भी आज खूब लिखे जा रहे हैं। हरिश्चन्द्र प्रियदर्शी, श्री रामचन्द्र शर्मा 'किशोर', श्री सुरेश दुबे 'सरस' आदि की कविताएँ इसी कोटि की हैं। मगही मानस ही मानो इनकी कविता में कूक उठी है। प्रकृति-वर्णन के समय लता-वृक्षों, खेत-खलिहानों, पशु-पक्षियों आदि के साथ 'मानव को भी प्राकृतिक लैण्ड-स्केप का एक आवश्यक अंग' मानकर ही इन लोगों ने कविताएँ लिखी हैं। तभी तो श्री रामनरेश पाठकजी 'अगहन के भोर' में 'अमवाँ महुइआ के डहुँगी से कमलकइ चिरई चुगुन्नी अनोर' गाते-गाते गा उठते हैं—

'सिसकइ उ डोली में बइठल कनइआ, आगे चलल जाइ कहार।
छुटलइ लड़कइयाँ के सखिया सहेलर, छुटलइ जे बाबा दुआर।
रूपवा में गुनवाँ में गइआ लोभयलइ, कइलकइ बिदइआ इ मोर।
हो मइया, उतरलइ अगहन के मोर ।।

श्री किशोरजी के गीतों में प्रेमी-प्रेमिकाओं की मनोदशाओं का सादा किन्तु सशक्त रूप व्यंजित मिलता है। इनके गीतों पर सिनेमा के गीतों की धुनों का पर्याप्त प्रभाव दिखता है। श्री राजेन्द्र यौधेय पर लगता है मानो छायावादी भावना हावी हो गई है। कुमारी राधा, धर्मशीला देवी आदि के गीत भी इसी प्रकार के हैं। लाल धुआँ की कविताओं में शोषण की करुण और उससे उत्पन्न घुमड़न अधिक पाई जाती है। श्री श्याम-नन्दन शास्त्री के गीतों में यत्र-तत्र रहस्यात्मक संकेत पाए जाते हैं। प्रो० रामनन्दन और योगेश्वर प्रसाद 'योगेश' जी के गीतों में सामाजिक, राजनीतिक आदि अतिचारों पर हास्य-व्यंग्य उभरकर सामने आया दिखता है। हास्य-व्यंग्य की दृष्टि से श्री योगेशजी का व्यक्तित्व अधिक गत्त्वर है। 'अप्पन कि कहेऊँ कहानी हम' से ये पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

हम डगरा के बैंगन भेलूँ, पढ़-लिख के बुद्धू बन गेलूँ।
वहतोनी देकरके भी तो, हाँकलूँ कोल्हू के घानी हम ।।
अप्पन कि कहेऊँ कहानी हम ।।

यहाँ समाज की बेकारी और सम-सामयिक शिक्षा-पद्धति पर करारा व्यंग्य किया गया है। इन्होंने पैरोडियाँ भी लिखी हैं। प्रसादजी के प्रसिद्ध गीत की पैरोडी यहाँ देखी जा सकती है—

बीती विभावरी जाग री।
अँगना में कउआ बोल रहल,
कनमा कम बनिया तऊल रहल,
तू अब का सूतल हुँउ पगली,
अइसन पसार ले टाँग री।
बीती विभावरी जाग री ।।

वस्तुतः चाहे गोष्ठी या सभा-सम्मेलन, श्री योगेशजी लोगों को हँसा-हँसाकर मारते ही नहीं, उनमें जान भी फूँकते हैं।

शाखामयी विस्तार की दृष्टि से गद्य-साहित्य अधिक विकासोन्मुख है। कथा-साहित्य को रवीन्द्र कुमार, पं० तारकेश्वर भारती, सुरेश प्रसाद सिन्हा, लक्ष्मण प्रसाद 'दीन', शिवेश्वर प्रसाद अंवष्ट, जयेन्द्र, रामानन्दसिंह, श्री शालिग्रामसिंह, सूर्य नारायण शर्मा, प्रो० रामनन्दन, प्रो० रामनरेश मिश्र, राधाकांत आदि बना-बिगाड़ रहे हैं। 'दुरवा', 'मन के पंछी' (रवीन्द्र कुमार), 'मैना काजर' (तारकेश्वर भारती), 'तीज के त्योहार' (सुरेश प्र० सिन्हा), 'ठार-कनकन' (रामनरेश पाठक), 'भद्दा या भला', 'उपसर्प मातरं भूमि' (प्रो० रामनरेश मिश्र) आदि उत्तम उपलब्धियाँ हैं। लक्ष्मण प्रसाद 'दीन' कहानीकार की अपेक्षा सुन्दर शब्द-चित्रकार हैं। 'वित्तन दादा' इनकी अकेले

प्रकार की रचना है। इस अवधि में उपन्यास न के बराबर देखने को मिले हैं। सूर्यनारायण शर्माजी का 'हलवाहा' मज़दूर वर्ग का चित्रण करने में काफ़ी सशक्त है। कई दृष्टियों से उत्तम रचना है। इन्हीं का 'सिद्धार्थ' अपेक्षाकृत कमजोर रचना है। प्रो० रामनन्दनजी का 'अदमी ओ देउता' का नाम भी सुनने को मिला है, पर अभी तक वह अप्रकाशित ही पड़ा है। हास्य-व्यंग्य के लेखकों की अपेक्षाकृत कमी है। श्री रामनरेश पाठक और प्रो० रामनन्दन इस दिशा में प्रयत्नशील दिखते हैं। 'लुट गेलियो' (प्रो० रामनन्दन) सुन्दर बन पड़ा है।

नाटकों में 'नया गाँव' (श्रीकांत शास्त्री), 'कौमुदी महोत्सव' (प्रो० रामनन्दन), 'मँगरू महतो' (प्रो० रामनरेश मिश्र) विशेष महत्त्व के हैं। प्रथम में ग्राम्य-जीवन को नवीन युगबोध के परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयत्न है, और द्वितीय संस्कृत नाटक के आधार पर लिखा गया है। तीसरा नाटक भोजपुरी के 'लोहा सिंह' के समान ही सीरीज़ रूप में लिखा गया है, जिसके कई सीरीज़ (मँगरू महतो ने पढ़ना सीखा,···कोऑपरेटिव कायम किया,···मुखियागिरी किया) अभिनीत हो चुके हैं। अभिनय की मुख्य भूमिका स्वयं मिश्रजी ने ही निबाही है। 'थारी परसाल हइ' (श्री विप्लव) और 'सेनुरादान' जैसे एकांकियों में दहेज प्रथा का मुँहफट रूप में विरोध किया गया है। मगध जनपद की अनेक समस्याओं को झकझोरकर उपस्थित करनेवाले एकांकियों में 'खइनी' और 'तिलक के कराह' (प्रो० रामनन्दन) अधिक सुन्दर हैं। इनका प्रसारण आकाशवाणी के पटना केन्द्र से भी हो चुका है। इनका 'अतिथि' भी उत्तम है। इसी प्रकार 'गुरुदक्षिणा' (प्रो० शत्रुघ्न शर्मा), 'कुबेर के भंडार', 'ओकील के परवाना' (मुन्नी प्रसाद), 'चलनी दुसलक बढ़नी के' (शंभुनाथ जायसवाल) आदि प्रहसन भी उल्लेखनीय हैं।

इसी क्रम में मगही फ़िल्म 'भैया' की चर्चा भी अपेक्षित है। हिट की दृष्टि से यह फ़िल्म भले ही विफल हो, पर मगही साहित्य की उत्तरोत्तर विकसित स्थिति का यह ऐतिहासिक माप अवश्य बनेगा।

मगही साहित्य में निबन्ध, आलोचना आदि के क्षेत्र में अपेक्षाकृत कम प्रगति दीखती है। वैयक्तिक निबन्धकारों में डॉ० शिवनन्दन और प्रो० रामनन्दन के नाम ही लिये जा सकते हैं। आलोचनात्मक और गवेषणात्मक निबन्धों में 'मगही के पुरान कवि', 'पुरबी मगही', 'विचार के किरन' (राजेन्द्र यौधेय), 'बौध धरम के सामाजिक महातम' (ठाकुर धरमदेव सिंह), 'मगही ककहरा' (प्रो० रामनन्दन), 'भारती काव्य में वसंत बरनन' (श्री अमरनाथ), 'मगध के मूर्तिकला' (डॉ० एस० ए० मजीद), 'मगही हिन्दी के विरोधी न' (श्री वियोगी) आदि उत्तम हैं। 'विहान' के जून '५६ वाले अंक में प्रकाशित 'मगही महोत्सव' पर रिपोर्ताज का सिसमोग्राफ से कम महत्त्व तनिक भी नहीं कहा जाएगा। श्री प्रेमेन्द्रजी ने इस लेख से मगही में एक नई विधा को जन्म दिया है। मगही व्याकरण की इधर दो महत्त्वपूर्ण पुस्तकें सामने आई हैं—'मगही के वेआकरण' (राजेन्द्र यौधेय) और 'मगही व्याकरण कोश' (डॉ० सम्पत्ति आर्याणी)। दूसरा ग्रन्थ 'मगही की कौन कहें' समस्त रूप में हिन्दी के लिए विशेष महत्त्व का है।

मौलिक साहित्य-सर्जन के साथ-साथ अनुवाद-कार्य भी आगे बढ़ रहा है। अनुवादकों में श्री पुण्डरीक और श्रीकांत शास्त्री के नाम अधिक उल्लेखनीय हैं। श्री पुण्डरीकजी ने 'गीता' और 'मेघदूत' का बड़े सरस और सटीक रूप में अनुवाद प्रस्तुत किया है।

इस चर्चा को यहीं समाप्त करते हुए यह कहना आवश्यक है कि इस अवधि में इसकी जितनी प्रगति अपेक्षित थी, उतनी नहीं हो सकी है। इसके कारण तो अनेक हैं, पर सर्वाधिक अखरनेवाली बात है संगठित प्रयास और प्रकाशकों का अभाव। बिहार का मगही मंडल भी इसके निमित्त कोई ठोस कदम उठाता नहीं दीखता है। यदि लेखकों और पाठकों के प्रयास से कोई सहयोगी प्रकाशन-जैसी संस्था कायम हो सके, तो शायद कुछ अधिक आशाप्रद परिणाम मिल सकते हैं। फिर भी सब मिलकर प्रयास उत्तम ही कहा जाएगा।

डॉ० सावित्री शुक्ल

सन् सैंतालीस के बाद का छत्तीसगढ़ी साहित्य

छत्तीसगढ़ी प्रदेश अन्य हिन्दीभाषी प्रांतों या प्रदेशों की तुलना में अपेक्षाकृत पिछड़ा है। पिछड़ेपन का जो प्रभाव जन-जीवन और संस्कृति पर पड़ा वही प्रभाव भाषा पर भी। छत्तीसगढ़ी बोली या भाषा का स्वरूप आज भी उतना समुन्नत नहीं है, जितना अवधी या व्रज भाषा का है। परन्तु छत्तीसगढ़ी विकासशील, प्रगतिशील और उन्नतिशील बोली है। जहाँ छत्तीसगढ़ी का अतीत अन्य बोलियों की तुलना में शून्यवत् है, वहीं छत्तीसगढ़ी का वर्तमान रूप बहुत-सी बोलियों की तुलना में अधिक श्रेयस्कर और प्रगतिशील है। सन् १९४७ ई० के अनन्तर छत्तीसगढ़ी ने जो उन्नति की है, वह अवधी, व्रज, मैथिली, राजस्थानी आदि की तुलना में महत्त्वपूर्ण और स्पृहणीय है। विगत १५-१७ वर्षों में छत्तीसगढ़ी ने समर्थ कवियों, कुशल गद्यकारों एवं सफल नाटककारों को जन्म दिया। इधर के साहित्यकारों में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं : द्वारिकाप्रसाद तिवारी, प्यारेलाल गुप्त, नारायणलाल परमार, हरि ठाकुर, श्यामलाल चतुर्वेदी, बच्चू जाज गीरी, विमलकुमार पाठक, सरयूप्रसाद त्रिपाठी, चन्द्र किशोर दीवान, शशी तिवारी आदि। ये सभी प्रतिभासम्पन्न कवि हैं, जो काव्य-साधना में सतत संलग्न हैं। नारायणलाल परमार-जैसे लेखक किसी भाषा या बोली के गौरव को सम्बन्धित करने में समर्थ हो सकते हैं। काव्य, नाटक, कहानी, सभी क्षेत्रों में प्रतिभा विकसित करने में संलग्न हैं।

यह प्रसन्नता का विषय है कि छत्तीसगढ़ी के लेखक और कवि साहित्य-जगत में प्राचीन एवं नवीन दोनों ही विषयों का सर्जन कर रहे हैं। जहाँ एक ओर वे शांत रस, प्रकृति-वर्णन जैसे विषयों पर काव्य लिख रहे हैं; वहीं कृषक, दीन, ग्रामीण

बालक, सामाजिक कुरीतियाँ तथा राष्ट्रीयता-सम्बन्धी कविता की रचना भी छत्तीसगढ़ी में हो रही है। इतना ही नहीं, छत्तीसगढ़ी के कवि जागरूक और सचेत साहित्यकार हैं। वे समय की प्रवृत्तियों एवं परिस्थितियों से अछूते नहीं हैं। उनका ध्यान राजनीतिक वादों, चुनाव की घिसी-पिटी प्रथाओं, नेहरू, गांधी, सुभाष बोष, जैसे विषयों तथा महापुरुषों की ओर भी जाता है। देश की महत्त्वपूर्ण समस्याओं—-अधिक अन्न उपजाओ योजना, साक्षरता-वृद्धि आदि विषयों में भी इनकी लेखनी सक्रिय और जागृत बनी रहती है। तात्पर्य यह है कि छत्तीसगढ़ी प्रदेश का कवि या लेखक किसी से पिछड़ा और हीन नहीं है। छत्तीसगढ़ी प्रदेश में 'सुवा गीत' बहुत लोकप्रिय और जनप्रिय है। पारिवारिक और सामाजिक त्यौहारों पर यह गीत बड़े चाव से गाया जाता है। 'सुवा गीत' में राष्ट्रीय भाव गूँथे गए हैं।

चला दी दी देखे जाओ झंडा तिरंगा ला
सुवा भोर पाए है देस सुराज। सुवा भोर
अब तो सुतंत्र भये तें सुवा भोर—
    तोरेच है अब राज।
सुवा भोर पाये हैं देस सुराज। सुवा भोर०
पिंजरा के बाहिर बईठ के गावा रे सुवा भोर गांधी के जै जै कार।
पर वश ले तोला जऊन छोड़ा इस सुवा भोर—तारे करिस उद्धार।
सुवा मोर पाये हैं देस सुराज
आज सुतंत्र भये तंय सुवा भोर, पांखीला अपन पसार।
कतेक जबर अब हैं तोर पिंजरा रेसुवा भोर देख ले ओखो उधार।
पर के भरोसा मा का तय जाने रे सुवा तोर पिंजरा हिस संसार
गांधी बबा तोला बाहिर लानिस सुवा भोर तेकरेच कर परचार।
    सुवा भोर···
उत्तीसे बड़तो गांहू खुसहूँ रे सुवा भोर चारों डदर तोर राज
उड़ि जारे सुवना तय दिल्ली द्वारी मां सुवा भोर छत्र धरे तोर ताज
    सुवा भोर···

इन पंक्तियों में स्वराज्य-प्राप्ति के अनन्तर स्त्रियों में राष्ट्रीय ध्वज के प्रति श्रद्धा एवं प्रेरणा-भाव व्यक्त किया गया है। पाँचवीं पंक्ति विशेष ध्यान देने योग्य है। इसमें कहा गया है कि पिंजरे से उन्मुक्त होकर सुवा गांधीजी की जय-जयकार कर रहा है। गांधी वृद्ध मानव-समाज को परवसता से छुड़ाने वाले हैं। इन पंक्तियों में तिरंगे झंडे के प्रति सम्मान की भावना व्यक्त हुई है। यह सुवा-गीत द्वारिकाप्रसाद तिवारी विप्र द्वारा लिखा गया है।

आज देश के सम्मुख अनेक समस्याएँ हैं जिनमें बेकारी की बहुत बड़ी समस्या है। इसी कारण नेता-वर्ग 'ग्राम वापस जाओ' का नारा लगा रहे हैं। छत्तीसगढ़ी कवि भी जागरूक हैं। वह अपने देश के कृषक वर्ग को ऊपर उठाना चाहता है। वह समझाने की चेष्टा करता है कि खेती करना, नौकरी की अपेक्षा अधिक कल्याण-

कारी है। प्रतिभासम्पन्न, उदीयमान, उदय होता हुआ कवि गा उठता है :

रे भैया, अब हम खेती करबो।
हारगयेन नौकरी सरेखत
कहाँ-कहाँ अब मरबो
अब ये दिन है खेती करके
खेत ला सुधर कमाबो
देस ला पोढ करे खातिर हम
सबै अन्न, उपजाओ
गांव अउ खेत तरत तारन अंच
ये मा हम सब तरबो
रे भैया अब हम खेती करबो।

—श्री विमलकुमार

प्रस्तुत पंक्तियों में कवि जीवन की यथार्थता की ओर संकेत करता हुआ पथ-प्रदर्शन करता है कि जन-कल्याण व देश-कल्याण के लिए खेती ही श्रेयस्कर है। साथ ही उत्साहित भी करता है कि देस ला पोढ करें खातिर हम।

छत्तीसगढ़ी कविता को वर्तमान रूप में ढालने का श्रेय स्वर्गीय कुन्जबिहारी चौबेजी को है। ग्रामीण समस्याओं को लेकर आपने कुछ कविताओं का सर्जन किया है जिनमें कृषक व कृषक स्त्री का चित्रण सजीव हो उठा है। कृषक की आत्मानुभूति का वास्तविक एवं सजीव चित्रण देखिए :

पहिरे बर दू बीता केपागी जी
पिये ला चोंगी धरे लाआगी जी
खाये ला बासी पीये ला पेज पसिया
करे बर दिन रात खेत मां तपसिया
साधू जो गीले बढ़के दरजा हमार ॥

प्रस्तुत उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि कृषक का पद साधु व योगी से बढ़कर है। वह एक तपस्वी है, साधक है, जो दूसरे के लिए स्वयं बासी खाकर तपस्या में लीन रहता है।

छत्तीसगढ़ी साहित्य में माननीय कृषक स्त्री का चित्रण भी चौबे की सशक्त भाषा में हुआ है। कृषक-पत्नी अपने पति से प्रेम-कलह करती है और स्वयं रूठकर अपना शृंगार उतारकर फेंक देती है। पति स्वयं रूठी पत्नी को मनाने नहीं जाता है वरन् एक सहेली भेजता है उसे मनाने के लिए। ग्रामीण स्त्री सहेली से कहती है :

चल ओ उठ ओ चरिहा घर के,
हम गोबर बीने ला जातिन ओ,
बिन लेतन गोबर पातेन तो
और साँझ के घर चलि आतेन ओ।
तैं हर बोलत काबर नाहि ओ बहिनी

तैं हर काबर आज रिसाये हवस
चुटकी मुंदरी सब के दिहे
अँगना माँ परे खिसियाये हवस ।

भारत स्वतन्त्र हुआ पर निर्धन वर्ग की समस्याएँ कम नहीं हुईं । रोटी, मकान व वस्त्र की चिन्ता उन्हें सदैव घेरे रहती है । खाने के लिए अन्न नहीं, पहनने के लिए वस्त्र नहीं और रहने के लिए स्थान नहीं । श्री रामविलास साहू ने बनिहार कविता में मज़दूरों की दुर्दशा का मर्मस्पर्शी चित्र व्यक्त किया है ।

एक डहर से हाथ पसारे मनखे बने भिखारी
एक डहर तो रहसरचावन मगन महल और अटारी हवय
चियुरा कथरी फरिया ला ओढ़े कंगाली हाँ गोहार करय
कहूँ करा दसरहा देवारी निहर-निहर के जोहार करय
कहूँ पेट के आगी में जर के तजत है पल-छिन में परान
अरे टांक-मसि बता, लिखन सकबे का बैसने सुघर तान ?

प्रस्तुत पंक्तियों में यथार्थ का सजीव चित्रण है जिनमें कोई आवरण नहीं है । सत्य, सत्य है चाहे वह कितना कुरूप हो । अनुभूति एक-एक पंक्ति में दृष्टिगत होती है ।

छत्तीसगढ़ी कवि को वहाँ के गाँव, कृषक व पुष्पों से भी अत्यधिक प्रेम है । वह ग्रामीण वातावरण से प्रभावित है । एक ओर समाज की समस्याएँ उसे व्यथित करती हैं तो दूसरी ओर सरस, सरल, सुन्दर वातावरण उसे मुग्ध कर लेता है ।

गांव माँ फूलधलो गोढ़ियायें
जब सब किसान सो जाएँ ।
झाँई झूँई लाल गुलाली
देख चाँद मुस्काये
खो खमां खिल-खिल हासे लगायें
कमल फूल सकुचायें ।

छत्तीसगढ़ी कवि जागरूक है कि उस पर नवीन भारत के निर्माण का भार है । प्रस्तुत पंक्तियों में ग्राम का सजीव यथार्थ चित्रण हुआ है ।

हमर कतका सुन्दर गाँव
जइस लक्ष्मीजी के पाँव
घर उज्जर लीपे-पोते
जेला देख हवेली रोये
सुघ्घर चिकनाई मुइया
चाहे भात परस ला गुंइया
अँगना में तुलसी धरुवाँ
कोठा माँ बैली गरुवा
लक्ठा में कोला बारी
जहाँ बोथन साग तरकारी

चेहर अनपूरनाक ठाँव
हमर कतका सुन्दर गाँव

प्रस्तुत उद्धरण में अपने गाँव का सुन्दर चित्रण कवि ने किया है। साथ-ही-साथ कवि ने यह चेष्टा भी की है कि छत्तीसगढ़ी परिष्कृत व परिमार्जित हो। उसने ठेठ छत्तीसगढ़ी शब्दों का प्रयोग न करके सरल, स्वाभाविक व मधुर शब्दों का प्रयोग किया है।

छत्तीसगढ़ी कवियों में श्रृंगार रस के भी दर्शन होते हैं। परन्तु इतना अवश्य है कि शब्द-सौष्ठव व अभिव्यक्तियों में वे नये मार्ग पर चलने वाले हैं। श्री नारायण लाल परमार के शब्दों में विरही नायक का चित्रण देखिये—

तुहिंच ला जानेब मैं
मति अपन मानेव मैं
जरे अस लागे भोला चन्दा के अंजोर
रहि-रहि के तोर सुरता भोला गुदगुदावे
हरर पावन चलै दुहूँ ला देखावै
आँसू ला बिलमावँ मैं
उहर चलत गासेव मैं

छत्तीसगढ़ी के गीतों में भी श्रृंगार रस विद्यमान है। विरहणी नायिका का चित्रण देखिए—

आधी रात चदैंनी मन जब
खेलत रहिन होरी
तैं हर अपन हाथ लमा के
भोर माँग लगाथे रोरी।

ध्रुवराम जी

ग्राम-बन्धुओं के सौन्दर्य व श्रृंगार के साथ-ही-साथ प्राकृतिक सौन्दर्य भी छत्तीसगढ़ी कविता में कम नहीं है। छत्तीसगढ़ी कवि ने प्राकृतिक वर्णन में नवीन मान्यताओं एवं नवीन कल्पनाओं का प्रयोग किया है।

(१) भरगै ताल तरैया, भैया भरगै ताल तरैया
झिमिर झिमिर जस पानी बरसै
महकै खेत रवार के माटी
धुडुर धुडुर जस बाहर गरजै
डोलै नदिया परबत घाटी

हरी ठाकुर

(२) सुरुज के खिलती माँ सोना बरस थे
चन्दा हर चांदी लुटा थे गा।
आमा के डारा मा मौउर के पास माँ
करिया कोइलफाग गाथे गा॥

खाले में हावेससान जिहाँ जाके
जिनगी के जिवरा जरे है ।

हनुमंतराव 'राजदीप'

(३) चन्दा झाँकै संग चनैनी
लरजत लरजत रात माँ
धान के हरियर लगरा पहिरय
धरती हर चौमास माँ

विमलकुमार पाठक

छत्तीसगढ़ी कविता में हास्य-व्यंग्य-लेखक श्री ऊधोराम जो तथा ध्रुवराम जी की गणना हास्य-व्यंग्य के कवियों में आदर के साथ की जाती है ।

उदाहरणार्थ—

(१) छइयाँ मारे न मरै, मरै न बाँधे धार
तिरिया मन के मजन बिना पुरुष होत नईं पार
पुरुष होत नईं पार, बिना सुग्घर तिरिया के
रख लो डउकी चार नियै दिन आवे जाके
कहै कवि झकमार बात मानो गौकी
कइसनो करके यार फटाफट लानो डौकी ।

ऊधोराम 'झखमार'

(२) बाह्मन अउ बैरागी बंदव, दुनो हाथ ला जोरे,
अपन मेहरिया पुनि पुनि बंदव, बत्तीस दाँत निपोरे
नरक सरग के देवता बंदव माई-बाप के छोड़े
ससुर सास अउ सारी बंदव, सुग्घर नाता जोड़े

ध्रुवराम जी

व्यंग्यात्मक काव्य-रचयिताओं में द्वारकाप्रसाद तिवारी अत्यधिक प्रसिद्ध हैं । नवा बहरिया कविता में एक कर्कशा नववधू का बहुत ही विनोदपूर्ण चित्रण हुआ है ।

श्रृंगार एवं हास्य के अतिरिक्त शान्त रस भी छत्तीसगढ़ी काव्य में विद्यमान है । उदाहरणार्थ कतिपय पंक्तियाँ देखिए—

चला भजन करी भगवान के,
ये संसार मलगे बजरिया, डेरा बने दूँ दिन के
उठगे बजरिया टूट गये डेरा, पंछी उडिस जस बन के
बाग लगे हैं बगीचा लगे हैं, फूले हैं फूल सुधर के,
उजर गे बगिया, सुखगे फुलवा, भौंरा उड़िस भन भन के
चला भजन करी भगवान के ।

आज का छत्तीसगढ़ी भाषा का साहित्यकार सजग है । वह कविता की भाँति ही गद्य में, एकांकी लेखन, संवाद, कहानी आदि की भी रचना कर रहा है ।

इधर छत्तीसगढ़ी के साहित्यकारों ने सुन्दर रचनाओं द्वारा साहित्य में नवीन

रचनाओं का सर्जन किया है जिनमें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—श्री राधाकृष्ण विहार, श्री रामकेवट संवाद, श्री माता सेवा, श्री शिवरी अउ राम संवाद, श्री मृगी सत गाथा, श्री सुदामा अउ किसन चरित्र, श्री त्रिनाथ मेला माहात्म, सुखरा चिरई के बिहाव, छत्तीसगढ़ी दहरिया अउ करगा गीत, प्रहलाद चरित्र, छत्तीसगढ़ी दान-लीला, भरत अउ राम के मिलाप, रामायन धुन आरती विसर्जन सहिता गीता सार, राजा भरथरी गीत, तढ़वा सुजान के गीत, लक्ष्मी पुराण, अंगद-रावण संवाद, भक्त ध्रुव, परीक्षित मोक्ष, श्याम सन्देश आरती माला, शंकर पारवती विवाह, तुलसी के बिरवा लगाये, पंडवानी गीत आदि ।

इस प्रकार हम यह विश्वास के साथ कह सकते हैं कि छत्तीसगढ़ी का कवि और छत्तीसगढ़ी का साहित्य बड़ा उन्नतिशील है । वह दिन दूर नहीं है कि जब छत्तीसगढ़ी में महाकाव्यों और उपन्यासों की रचना होने लगेगी, वह समय दूर नहीं है जब छत्तीसगढ़ी का कवि पूर्ण तन्मयता के साथ देश की ग़रीबी, बीमारी, अशिक्षा को दूर करने के लिए और जनता-जनार्दन को प्रबुद्ध करने के लिए अधिक शक्ति के साथ लेखन-कार्य में प्रवृत्त होगा ।

नवारुण

हिन्दी में असमिया साहित्य

असमिया भाषा सच्चे अर्थ में भारतवर्ष के पूर्वांचल की समन्वय-सूत्रधारिणी है। समाज-शास्त्रीय तथा भाषा-शास्त्रीय दृष्टिकोण से भी यह अंचल बहुविचित्र और परम महत्व का है। इस भाषा-भाषी भू-खंड की सीमा एक ओर बंगाल को छूती है, जहाँ तीन ओर से उन भाषायी अंचलों से परिवेष्टित है जिनका उद्गम तिब्बती-बर्मी या चीनी-तिब्बती भाषा-गोष्ठियों से हुआ है। इसीलिए मूल उद्गम आर्य भाषा-परिवार का होने पर भी इस भाषा में पूर्वी एशिया के मंगोल-भाषा गोष्ठी के शब्द, शैली आदि का पर्याप्त समन्वय हुआ है। कोच, कछारी आहोम, भोट आदि जातियाँ पूर्वीय पार्वत्य-मार्गों से यहाँ आईं, जिनकी अपनी विशिष्ट बोलियाँ, संस्कृति आदि थीं। धीरे-धीरे असमिया भाषा की शक्ति से वे उसमें विलीन हो गईं और आम आदान-प्रदान की भाषा के रूप में इसी भाषा को सबने अपना लिया परन्तु उनके अवशेषों से असमिया भाषा आज भी मण्डित है। इसके अतिरिक्त असम-घाटी से होकर ही बौद्ध-धर्म भारत से एशिया के पूर्वीय देशों में पहुँचा था यानी यह भूमि प्राचीन काल से ही चीन, बर्मा, तिब्बत आदि देशों के साथ भारतीय संस्कृति की सम्पर्क-साधिका रही। आज भी पूर्वीय देशों का प्रभाव इस अंचल तथा भाषा पर भी पड़े बिना नहीं रहा है।

गारो, भोट, खासी, मिरी, मिसमीं, नागा, मिजो आदि भाषाओं के एक ऐसे जाल से यह समूचा अंचल घिरा हुआ है जिनका शेष भारत की आर्य-भाषाओं से कोई सम्पर्क नहीं है। और तो और इन भाषाओं में भी आपसी समानता नही के बराबर है। असमिया भाषा इनके बीच भी सम्पर्क-सूत्र का काम करती आई है।

इन सभी दृष्टियों से विचार करने पर असमिया-भाषा-साहित्य का महत्व स्वयं स्पष्ट हो उठता है तथा राष्ट्र-भाषा हिन्दी में इसके उच्च साहित्य का न होना एक ऐसा अभाव है जिसकी शीघ्र पूर्ति के लिए व्यापक कार्यक्रम अपनाने की अनिवार्य आवश्यकता है।

असमिया साहित्य पुराना है। प्राचीन असमिया साहित्य इतना समृद्ध है कि कई क्षेत्रों में इसकी समानता भारत की अन्य आधुनिक भाषाओं का प्राचीन साहित्य नहीं कर सकता। उसी काल में जब बंगला आदि आधुनिक समृद्ध भाषाएँ भी पिछड़ी हुई, अविकसित अवस्था में थीं असमिया में कोचवंशी और कछारी राजाओं के पृष्ठ-पोषण से रामायण, महाभारत, भागवत आदि ग्रन्थों का निर्माण हो चुका था। ये

प्राचीन ग्रन्थ यद्यपि संस्कृत ग्रन्थों के मूल-आधार पर ही रचित हैं तथापि इनमें असमिया जीवन की अपनी विशिष्टताएँ उभर उठी हैं तथा कवियों ने अपनी मौलिक उद्भावनाओं द्वारा नई-नई घटनाओं व चरित्रों का सर्जन किया है। राष्ट्रभाषा हिन्दी में कम-से-कम संक्षिप्त रूप से भी हो, इन ग्रन्थों का होना आवश्यक है।

असम के धार्मिक क्रान्ति-दूत श्री शंकरदेव ने तो प्राचीन असमिया साहित्य को वह वैभव प्रदान किया है जिसका सानी नहीं। शंकरदेव के बरगीत, कीर्तनघोषा आदि के पद सूर, तुलसी और कबीरदास के पदों के साथ एक ही पंक्ति में रखे जा सकते हैं। भाव, भाषा तथा आध्यात्मिकता की सामान्य भावभूमि पर भारतीय संतों की कितनी एकता थी, इनसे यही प्रमाणित होता है। शंकरदेव के अंकिया (एकांकी) नाटक तो आज भी विद्वानों को मुग्ध कर देते हैं। हाल ही में अध्यापक डॉ० लालजी शुक्ल ने शंकरदेव के अंकिया नाटकों पर एक शोध-प्रबन्ध लिखा है परन्तु अब तक उसका प्रकाशन नहीं हो पाया है। श्री शंकरदेव तथा उनके शिष्य माधवदेव के ग्रन्थों की भाषा हिन्दी से इतनी समानता रखती है कि केवल लिप्यन्तर से ही हिन्दी-पाठकों को उन्हें समझने में कोई दिक्कत नहीं होती। डॉ० दशरथ ओझा ने अपने शोध-प्रबन्ध 'हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास' में अंकिया नाटकों के कुछ उद्धरण भर दिए हैं। हिन्दी में अंकिया नाटकों को प्रकाशित न करने से वस्तुत: उनकी छटा से राष्ट्रभाषा वंचित ही रहेगी।

इधर असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति ने माधवदेव का बहुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'नाम-घोषा' का हिन्दी में लिप्यन्तरण-सहित अनुवाद प्रकाशित किया है। विनोबाजी ने अपनी असम पद-यात्रा में भी इस ग्रन्थ की आध्यात्मिकता से मुग्ध होकर प्रवचनों में इसके विभिन्न पदों पर भाष्य किया तथा एक संक्षिप्त 'नाम-घोषा-सार' का सम्पादन भी किया। परन्तु असम के इन दोनों धर्म-प्रतिष्ठापकों का विशाल ग्रन्थ-भण्डार अभी हिन्दी के लिये अछूता ही है।

यह बहुत कम लोगों को ज्ञात है कि असमिया में ही सर्वप्रथम गद्य का नमूना भट्टदेव की 'कथा-गीता' में मिलता है। यह ग्रन्थ गीता पर गद्यात्मक भाष्य होने पर भी वर्णन-शैली और दृष्टान्तों की दृष्टि से अनुपम है। हिन्दी में इस ग्रन्थ का भी रूपान्तर वांछनीय है।

प्राचीन असमिया साहित्य को छोड़ भी दिया जाय तो आधुनिक साहित्य में भी यह पर्याप्त समृद्ध है। असमिया साहित्य के कुछ विद्वान् शोधकों ने विदेशों में भी प्रसिद्धि अर्जित की है। स्व० डॉ० वाणीकांत काकति के भाषा-तत्व-सम्बन्धी शोध ने पूर्वांचल की भाषा-विषयक नवीन पृष्ठभूमि तैयार कर दी। आपका 'असमिया भाषा : उद्भव और विकास' एक बहुचर्चित कृति है। डॉ० सूर्यकुमार भूयां ने विस्मृत असम इतिहास पर बहुत अधिक काम किया है, आपका 'असम बुरंजी' असम इतिहास-सम्बन्धी मनन से भरपूर है। स्व० डॉ० विरिंची कुमार बरुवा भी एक बड़े गवेषक थे। आपकी 'असम लोक-संस्कृति' असम की जनकला और प्रगतिशील संस्कृति का प्रांजल विश्लेषण करने वाला ग्रन्थ है। इसे अकादेमी पुरस्कार भी प्राप्त हो चुका है।

हिन्दी में इन विद्वानों के ग्रन्थों का शीघ्र रूपान्तर आवश्यक है। स्व० बरुवा का उपन्यास 'जीवतर बाटत' असमिया उपन्यासों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है जिसमें असमिया ग्रामीण तथा नगर-जीवन को उभारा गया है।

जन-जातीय लोगों के सम्बन्ध में रचित साहित्य असमिया आधुनिक साहित्य का वैभव है। जन-जातीय जीवन की प्रांजल अभिव्यक्ति काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी आदि सभी साहित्य-विधाओं में हुई है। आजकल असमिया-भाषी साहित्यकारों के अलावा जन-जातीय साहित्यकार भी अपनी कृतियाँ असमिया में प्रकट करने लगे हैं, यह भी असमिया-साहित्य के लिए कम गौरव का विषय नहीं है।

असमिया साहित्य के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार स्व० रजनीकांत बरदलै ने सबसे पहले जन-जातीय जीवन को लेकर 'मिरि जीयरी' उपन्यास की रचना की थी। इसका हिन्दी-रूपान्तर युगजीत नवलपुरी ने किया है। स्व० बरदलै के अन्य उपन्यास बर्मी-आक्रमण की पृष्ठभूमि पर रचित हैं। आपके 'मनोमती' उपन्यास का हिन्दी-अनुवाद लोकनाथ भराली और 'निर्मल-भक्त' का अनुवाद श्रीचित्र महंत ने किया है।

श्री वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य ने नागा जीवन और समस्याओं के बारे में कई कहानियाँ और उपन्यास लिखे हैं। आपके 'इया-रुइंगम' उपन्यास को अकादेमी पुरस्कार प्राप्त है। इसका हिन्दी-रूपान्तर भी श्रीचित्र महंत ने किया है परन्तु वह प्रकाशित नहीं हो पाया है। श्री भट्टाचार्य का दूसरा उपन्यास 'माँ' का हिन्दी-रूपान्तर लोकनाथ भराली ने किया है जो हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय द्वारा प्रकाशित हुआ है।

श्री योगेश दास ने भी कई उत्तम उपन्यासों की रचना की है। दूसरे महायुद्ध पर आधारित 'डावर आरु नाइ' का अनुवाद भारतीय ज्ञानपीठ की ओर से करवाने की चर्चा सुनने में आई है।

हाल में ऐसे कई महत्वपूर्ण उपन्यास असमिया में निकले हैं जो यहाँ की अनेक-विध समस्याओं के यथार्थ रूप को उभारते हैं। इनमें तीन खण्डों में प्रकाशित हितेश डेका का 'एयेतो जीवन', रवीन काकति का वृहद् उपन्यास 'दिशहारा' युगान्तकारी कृतियाँ हैं। चाय बागान के जीवन को रास्ता बरुवा के 'सेउजी पातर काहिनी' उपन्यास' में बड़े ही मार्मिक ढंग से चित्रित किया गया है।

जन-जातीय लेखक श्री लुम्मेर दाइ ने अपनी रचनाओं में जन-जातीय परंपराओं का विवर्तन प्रस्तुत किया है। आपकी कला-कृति 'पृथिवीर हाँहि' असमिया साहित्य में नवीन दिशा की सूचक है, उत्तर-पूर्वी सीमान्त अंचल के जन-जातीय आबर समाज को इसमें उभारा गया है। इन सभी ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद करने का प्रयत्न होना चाहिए।

हिन्दी में असमिया के कुछ प्रख्यात कवियों की काव्य-कृतियाँ आई हैं। श्री परेशचन्द्र देव शर्मा ने 'कविश्री माला' के अन्तर्गत नलिनी बाला देवी और रघुनाथ चौधरी की कविताओं का संकलन (हिन्दी-रूपान्तर सहित) किया है। साहित्य अकादेमी द्वारा प्रकाशित भारतीय कविता में भी कुछ असमिया कविताओं के रूपान्तर निकले हैं। प्रस्तुत निबन्ध के लेखक ने आकाशवाणी के लिये भी अनेक असमिया-कविताओं का हिन्दी-रूपान्तर किया है। श्री नवकान्त बरुवा की प्रतीक-मूलक काव्य-

कृति 'धृतराष्ट्र' का हिन्दी-रूपान्तर शीघ्र ही प्रकाशित होने वाला है। श्री चन्द्रभूषण शर्मा 'भूषण' ने नलिनी बाला देवी के कविता-संग्रह 'युग देवता' का हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत किया है।

हिन्दी में असम पर आधारित कुछ मौलिक ग्रन्थ भी इस बीच प्रकाशित हुए हैं, प्रस्तुत लेखक का 'लाचित बरफुकन' असम पर मुगल-आक्रमण की पृष्ठभूमि पर रचित खण्ड-काव्य है। श्री हरिहर प्रसाद द्विवेदी ने इसी पृष्ठभूमि पर 'शराई घाटी' काव्य की रचना की है। असम की सतीनारी 'जयमती' पर आधारित प्रस्तुत निबन्ध के लेखक का एक वृहद् काव्य प्रकाशन की प्रतीक्षा में है। इसी लेखक का 'युग देवता शंकर देव' काव्य भी अप्रकाशित है। श्री देवेन्द्र सत्यार्थी ने असम के नदी-द्वीप माझुली पर 'ब्रह्मपुत्र' नामक उपन्यास की रचना की है। श्री रजनीकान्त चक्रवर्ती ने शंकरदेव की जीवनी-मूलक एक पुस्तक की रचना की है। श्री शंकरलाल शर्मा ने 'जयमती' पर एक नाटक 'हुतातमा जयमती' भी बहुत दिन पहले प्रकाशित किया था।

श्री सीता देवी ने असम के ख्यात उपन्यासकार प्रेमनारायण दत्त के बाल-उपन्यास 'पोहरर बाटत' का हिन्दी-रूपान्तर 'रोशनी की राह में' नाम से किया है। वाग्मी कवि नीलमणि फुकन की मौलिक रचनाओं का संग्रह श्री सुमति तालुकदार द्वारा अनूदित होकर प्रकाशित हुआ है। श्री दीननाथ शर्मा रचित उपन्यास 'नदाइ' का हिन्दी-रूपान्तर शीघ्र ही प्रकाशित होने को है।

असमिया साहित्य का विशाल भण्डार देखते हुए यह कहने को बाध्य होना पड़ता है कि इसका बहुत कम अंश अभी हिन्दी में आ पाया है। हालाँकि कुछ पत्र-पत्रिकाओं में कहानियों, निबन्धों और कविताओं के अनुवाद प्रकाशित होते हैं और असम का एकमात्र हिन्दी मासिक 'राष्ट्र सेवक' भी इसमें कुछ-कुछ हाथ बँटा रहा है फिर भी यह काम बहुत बड़ा है। हिन्दी के विद्वानों और प्रकाशकों को इस ओर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है।

असम में अच्छे अनुवादकों की बड़ी ही कमी है। साहित्यिक रुचि वाले निष्ठावान अनुवादक यहाँ इने-गिने हैं और उन्हें भी प्रकाशकों की ओर से कोई खास प्रोत्साहन नहीं मिलता। यहाँ ऐसी संस्था की भी कमी है जो असमिया साहित्य के अनुवाद-प्रकाशन को अपना ध्येय मानकर इस काम में हाथ बँटावें। सरकार की ओर से भी इस ओर कोई ख़ास दिलचस्पी नहीं दिखाई जा रही है। इसीका नतीजा है कि असम तथा उसका साहित्य आज भी नज़रों से ओझल और उपेक्षित है।

असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति एक सीमित परिधि में कुछ काम कर रही है। समिति की रजत-जयन्ती के अवसर पर प्रकाशित 'स्मृति ग्रन्थ' में असम की कला, संस्कृति और साहित्य-विषयक अनेक मननीय लेख छपे हैं। कई दृष्टियों से यह स्मृति-ग्रन्थ उपादेय तथा संग्रहणीय है। हाल ही में शंकरदेव व माधवदेव के 'बर-गीतों' का एक लघु संग्रह भी समिति ने प्रकाशित किया है।

सभी ओर से विचार करने पर यही प्रतीत होता है कि हिन्दी में असमिया साहित्य का और अधिक तेज़ी से प्रकाशन आवश्यक है।

परिचर्चा

डॉ० महावीर सरन जैन

भाषा का प्रश्न और भारत की एकता : कुछ प्रश्न एवं दिशाबोध

इस लेख के माध्यम से, मैं देश के प्रबुद्ध विद्वानों एवं चिन्तकों का ध्यान दिल्ली से प्रकाशित 'आलोचना' (जुलाई, १९६५) के सम्पादकीय की ओर दिलाना चाहता हूँ। इसके सम्पादक ने अपने इस सम्पादकीय में हिन्दी भाषा से सम्बन्धित जो विचार प्रस्तुत किए हैं, उनमें से कुछ विचार अनेक भ्रामक धारणाओं को जन्म दे सकते हैं। एक स्थान पर सम्पादक ने लिखा है :

"हिन्दी को मातृभाषा बताना चूँकि देशभक्ति का पर्याय बताया जाता है, इसलिए हमारे यहाँ हिन्दी से जीविका कमाने वाले या 'हिन्दी भक्त' के नाम से वोट माँगने वाले और बदले में हिन्दी को अपनी मातृभाषा घोषित करने वाले ऐसे देश-भक्तों की संख्या नित्य बढ़ती जाती है, यद्यपि उनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं है— पंजाबी, राजस्थानी, मैथिली, भोजपुरी, अवधी, ब्रज, छत्तीसगढी, हरियाणी, कुमायूँनी डोगरी, गढ़वाली आदि, और चाहे कोई हो, पर हिन्दी (खड़ी बोली) नहीं है।"

अपने इस वक्तव्य द्वारा सम्पादक ने हिन्दी को खड़ी बोली की सीमाओं में आबद्ध कर, हिन्दी की अन्य समस्त बोलियों को हिन्दी भाषा से पृथक् करने का अद्भुत प्रयास किया है।

यदि ब्रज, अवधी, छत्तीसगढ़ी इत्यादि विभिन्न बोली-रूपों को कोई हिन्दी से अलग करके देखता है, तो वह न केवल हिन्दी के प्रति अन्याय करता है, प्रत्युत भाषा-विज्ञान के बारे में अपने अज्ञान का स्वयं ही सहज परिचय भी दे देता है। अगर ब्रज एवं अवधी 'हिन्दी' नहीं है, तो इसका यह अर्थ होगा कि इंगलैंड एवं अमेरिका में अंग्रेज़ी के जितने बहुसंख्यक-रूप बोले जाते हैं, वे समस्त रूप अंग्रेज़ी नहीं हैं तथा केवल लन्दन के राजवंश के सदस्यों द्वारा जो कुछ बोला जाता है, केवल एकमात्र वही रूप अंग्रेज़ी है। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रज, अवधी, इत्यादि को हिन्दी न मानने का जो भ्रम है, वह भाषा और बोलियों के सम्बन्ध को न समझने के कारण उद्भूत है। यह सत्य है कि एक भाषा के रूप थोड़ी दूर पर निश्चय ही बदल जाते हैं। जैसे-जैसे सीमा की दूरी बढ़ती जाती है, वैसे-ही-वैसे एक क्षेत्र एवं दूसरे क्षेत्र की बोलियों का अन्तर भी अधिकाधिक बढ़ता जाता है। "चार कोस पर बदले पानी, आठ कोस पर बानी" कहावत प्रसिद्ध है, जो भाषा की क्षेत्रीय विभिन्नताओं की ओर संकेत करती है। केवल सीमागत दूरी के आधार पर ही बोलियाँ विकसित नहीं होतीं, अपितु एक

निश्चित क्षत्रगत सीमा में (यहाँ तक कि एक नगर में भी) सामाजिक स्तर की विभिन्नताओं के कारण भाषा-वैभिन्न्य होते हैं, जिन्हें वर्गगत बोलियों के नाम से पुकारा जाता है।

यदि इससे ज़रा और बारीक दृष्टि से देखें तो व्यक्तिगत बोली (Idiolect) के स्तर पर इस संसार में एक व्यक्ति जिस प्रकार बोलता है, ठीक उसी प्रकार संसार का कोई दूसरा व्यक्ति नहीं बोलता। प्रत्येक दो व्यक्तियों की व्यक्तिगत बोलियों (Idiolects) में कुछ-न-कुछ अन्तर होते हैं। यदि भिन्नताओं को ही देखने की बात है, तब तो स्वनिक (Phonic) स्तर पर यह भी कहा जा सकता है कि कोई भी व्यक्ति एक ध्वनि को ठीक उसी प्रकार दोबारा उच्चारित नहीं कर सकता। यदि एक व्यक्ति 'प्' ध्वनि को सौ बार उच्चारित करता है, तो वे 'प्' ध्वनि के सौ बार उच्चारण, १०० स्वन (Phones) हैं, जिनमें परस्पर यत्किंचित् भिन्नताएँ विद्यमान हैं। (यह बात दूसरी है कि हमारे कान इन समस्त भिन्नताओं का पता नहीं लगा पाते, किन्तु भौतिक ध्वनिविज्ञान (Acoustic Phonetics) के अन्तर्गत जब मशीनों पर कार्य किया जाता है तो इन सूक्ष्म अन्तरों को पहचाना जा सकता है)। इस प्रकार स्वनिक स्तर पर एक ध्वनि का प्रत्येक उच्चार एक अलग स्वन (Phone) है। प्रश्न यह है कि कोई व्यक्ति किस धरातल से बातें करता है ? बोलियों के स्तर पर बाँगरू, कन्नौजी खड़ी बोली, ब्रज, बुन्देलखण्डी, अवधी, भोजपुरी, छत्तीसगढ़ी इत्यादि सब अलग-अलग बोलियाँ हैं, किन्तु भाषा के स्तर पर ये समस्त बोलियाँ हिन्दी भाषा की क्षेत्रीय भिन्नताएँ हैं।

भाषा और बोली का सम्बन्ध बोली विज्ञान (Dialectology) का विषय है, तथा इसे वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अध्ययन करने पर ही समझा जा सकता है। संसार की किसी भी भाषा में अनेक बोलियाँ होती हैं। इन सब में परस्पर बहुत-सी बातों में भिन्नता हो सकती है। यह भिन्नता शब्दावली, पदरूपों एवं ध्वनिप्रक्रियात्मक पद्धति में देखी जा सकती है। मेरा विचार है कि शायद ऐसी ही भिन्नताओं के कारण, सम्पादक महोदय ने हिन्दी की बोलियों को अलग-अलग भाषा मान लिया है।

एक भाषा के अन्दर जो विभिन्न बोलियाँ रखी जाती हैं, उनका कारण यह होता है कि उन समस्त बोलियों में विविध विभिन्नताओं के होते हुए भी गठन का एक समान ढाँचा (Common Core of Structure) होता है, इसके कारण 'भाषा' की एक बोली का बोलने वाला व्यक्ति उसी भाषा की किसी दूसरी बोली के बोलने वाले से परस्पर किसी-न-किसी मात्रा में (पूर्णतया तो प्रायः सम्भव ही नहीं है) विचारों का आदान-प्रदान करने में समर्थ हो जाता है। यह अवबोधन-शक्ति सापेक्षिक होती है, जो बोलियों की सीमाओं की दूरी एवं निकटता के आधार पर घटती-बढ़ती रहती है।

इसी आधार पर ब्रज, अवधी, बुन्देली, छत्तीसगढ़ी इत्यादि समस्त रूप 'हिन्दी भाषा' की बोलियाँ हैं।

इस तथ्य को इस दृष्टि से समझा जा सकता है कि जब तमिल-भाषी कोई

व्यक्ति हिन्दी-भाषी ऐसे व्यक्ति से जिसे तमिल का ज्ञान नहीं है, तमिल में बातें करता है, तो हिन्दी-भाषी तमिल भाषा को किसी भी मात्रा में नहीं समझ पाता (संकेतों के माध्यम से भले ही समझ जाए, भाषा के माध्यम से नहीं समझ पाता) इसके विपरीत यदि 'ब्रज' बोलने वाला व्यक्ति 'अवधी' बोलने वाले से बातें करता है, तो दोनों को परस्पर विचारों के आदान-प्रदान करने में कठिनाइयाँ चाहे कितनी ही हों, किन्तु वे दोनों किसी-न-किसी मात्रा में परस्पर विचारों का ग्रादान-प्रदान करने में अवश्य समर्थ हो जाते हैं।

सम्पादक ने संविधान में हिन्दी के खड़ी बोली के संस्कृतनिष्ठ साहित्यिक रूप को (दे० पृ० ३) ही, केवल हिन्दी मान लिया है। इसका कारण यह लगता है कि सम्पादक ने 'भाषा' तथा भाषा के परिनिष्ठित या मानक रूप (Prestige or standard form of language) के अन्तर को स्पष्टतया समझने का प्रयास नहीं किया है। संविधान में हिन्दी का जो रूप स्वीकृत है, केवल वही 'हिन्दी भाषा' नहीं है, अपितु 'हिन्दी भाषा' का वह परिनिष्ठित रूप है जिसे अन्तःप्रान्तीय या सार्वदेशीय व्यवहार के लिए उपयुक्त समझा गया है।

'हिन्दी भाषा' का अर्थ तो सम्पूर्ण हिन्दी प्रदेश में बोले जाने वाले प्रत्येक भाषायी रूप से है, जो उत्तर प्रदेश, राजस्थान, बिहार, मध्यप्रदेश, पंजाब के हरियाणा भाग, दिल्ली इत्यादि भागों में व्यवहृत होता है। इस तथ्य को केवल हिन्दी-भाषी क्षेत्रों के ही भाषा-वैज्ञानिकों ने स्वीकार नहीं किया है, देश तथा विदेश के प्रत्येक भाषा-शास्त्री ने (जिसने वैज्ञानिक दृष्टि से तत्सम्बन्धित कार्य किया है) एक स्वर से यह स्वीकार किया है। उदाहरणार्थ, इस दृष्टि से हिन्दी-भाषी विद्वानों में डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा के 'हिन्दी भाषा का इतिहास' एवं डाक्टर उदयनारायण तिवारी के 'हिन्दी भाषा : उद्गम और विकास' ग्रन्थों की ओर संकेत किया जा सकता है। अहिन्दी-भाषी विद्वानों में, विश्वप्रख्यात डाक्टर सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या रचित 'भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी' ग्रन्थ को देखा जा सकता है। यदि अंग्रेज़ी ग्रन्थों के प्रति किसी का अधिक मोह हो, तथा किसी की मान्यता यह हो कि जो बात अंग्रेज़ी के माध्यम से कही जाती है वही चरम सत्य है, तो अभी हाल में प्रकाशित अमेरिका के जान गम्पर्ज एवं जून रूमरी कृत 'Conversational Hindi-Urdu' ग्रन्थ को पढ़ा जा सकता है, जिसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

"It is spoken in the greater part of North India, in the states of Delhi, Uttar Pradesh, Rajasthan, Madhya Pradesh, Bihar and parts of East Punjab, as well as in large North and Central Indian cities."

अगर किसी व्यक्ति को भाषा-वैज्ञानिकों के मतों से चिढ़ हो, तो वह आलोचक डॉ० रामविलास शर्मा की 'भाषा और समाज' के पृ० २०७ को पढ़ सकता है। इससे कम-से-कम भाषा और बोली का अन्तर तो स्पष्ट हो ही जाएगा।

जैसा पहले कहा जा चुका है प्रत्येक भाषा का एक परिनिष्ठित स्वरूप होता

है। (यह परिनिष्ठित रूप अंग्रेज़ी, रूसी, जर्मन, फ्रेंच, आदि प्रत्येक भाषा का है तथा प्रत्येक भाषा में इस परिनिष्ठित भाषा-रूप के अतिरिक्त अनेक क्षेत्रीय एवं वर्गगत बोलियाँ भी हैं) संस्कृत के भी अनेक रूप थे, पाणिनी ने संस्कृत के मानक रूप का ही विश्लेषण किया था। भाषा के परिनिष्ठित या मानक-रूप का व्यवयार प्रायः उस भाषा के गण्यमान्य एवं शिक्षित व्यक्ति करते हैं। भाषा का यह रूप कलात्मक, सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त समझा जाता है। इसी अर्थ में हिन्दी का एक परिनिष्ठित रूप है (यह सत्य है कि सामान्य व्यक्ति रूढि के कारण इस परिनिष्ठित-हिन्दी-रूप को केवल 'हिन्दी' के नाम से पुकारते हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं हो जाता कि परिनिष्ठित हिन्दी ही 'केवल हिन्दी' है)। यह परिनिष्ठित हिन्दी आधुनिक साहित्यिक हिन्दी का आधार है तथा इस परिनिष्ठित हिन्दी का आधार हिन्दी की खड़ीबोली है। शब्दों पर ज़रा ध्यान देने की आवश्यकता है। खड़ीबोली परिनिष्ठित हिन्दी का आधार है, खड़ीबोली ही परिनिष्ठित हिन्दी नहीं है। इसी प्रकार परिनिष्ठित हिन्दी साहित्यिक हिन्दी का आधार है, परिनिष्ठित हिन्दी ही साहित्यिक हिन्दी नहीं है।

प्रत्येक बहुभाषी राज्य में अन्तःप्रान्तीय व्यवहार के रूप में किसी एक सार्वदेशीय या 'सम्पर्क भाषा' की आवश्यकता होती है। 'सम्पर्क भाषा' प्रायः एक ही होती है, अनेक नहीं होतीं। इसका कारण यह है कि अनेकों में ऐक्य की शृंखला जोड़ने के लिए ही 'सम्पर्क' भाषा की आवश्यकता होती है। यह स्थिति प्रत्येक बहुभाषी एवं बड़े राष्ट्र में होती है। सम्पादकीय में रूस से कई उदाहरण प्रस्तुत किये गए हैं तथा वहाँ के प्रति अतिशय मोह प्रदर्शित किया गया है। मैं, सम्पादक की मनोवैज्ञानिक सन्तुष्टि के लिए अपने मन्तव्य को रूस का उदाहरण देकर स्पष्ट कर रहा हूँ। रूस में लगभग ६० राष्ट्रीय भाषाएँ व्यवहृत होती हैं। १९५५-५६ में प्रकाशित रूसी सरकार के आँकड़ों के अनुसार, वहाँ उस समय दो-तिहाई प्राथमिक एवं माध्यमिक पाठशालाओं में छात्रों को सभी विषयों की शिक्षा केवल रूसी भाषा के माध्यम से दी जाती थी। केवल एक-तिहाई पाठशालाओं में शिक्षा का आरम्भ रूसी भाषा से इतर वहाँ की अन्य प्रमुख भाषाओं द्वारा कराया जाता था। इन पाठशालाओं में भी दूसरी अथवा तीसरी कक्षा से ही रूसी भाषा पढ़ाई जाने लगती थी। रूस में सदैव विशेष सम्मेलन एवं गोष्ठियाँ होती रही हैं जिनमें विवेच्य विषय यह रहा है कि जिन क्षेत्रों की भाषा रूसी नहीं है, उनमें रूसी भाषा का प्रशिक्षण द्रुत एवं प्रभावशाली ढंग से किस प्रकार कराया जाए? इसी उद्देश्य को पूरा करने के अनेक प्रयासों में एक प्रयास 'Russkig jazyak V ne-russkog vkole' पत्रिका का प्रकाशन भी है।

इस दृष्टि से हिन्दी-भाषी क्षेत्र के स्कूलों एवं विश्वविद्यालयों में छात्रों को यदि परिनिष्ठित हिन्दी के माध्यम से शिक्षा दी जाती है, तो यह तो अत्यन्त स्वाभाविक एवं करणीय है, (कोई अपराध नहीं है, न यह मातृघात है) हमारा प्रयास तो यह होना चाहिए कि अहिन्दी-भाषी क्षेत्रों में हिन्दी-भाषा का प्रशिक्षण कम-से-कम समय

में अधिकाधिक प्रभावशाली एवं वैज्ञानिक ढंग से किस प्रकार सम्पन्न कराया जा सकता है।

अपने इसी सम्पादकीय में सम्पादक का बल इस बात पर रहा है कि हिन्दी एवं उर्दू अलग-अलग भाषाएँ हैं तथा हिन्दी जन-जीवन से दूर तथा उर्दू जन-जीवन के अधिक निकट है।

हिन्दी एवं उर्दू को भिन्न भाषाएँ मानना भी ऊपरी सतह से ही संगत लग सकता है। पूर्वाग्रहों एवं 'अमूर्त मिथिक परिकल्पना' को दूर करने पर यह सहज ही बोधगम्य हो सकता है कि उर्दू हिन्दी भाषा की एक बोली मात्र है। उर्दू एवं हिन्दी में जो भिन्नता दिखाई देती है, वह अत्यन्त ऊपरी सतह पर है और इस दृष्टि से देखने पर निश्चय ही उर्दू हिन्दी से भिन्न भाषा प्रतीत होगी। इसका कारण लिपिगत अन्तर एवं शब्दावली के प्रयोग की भिन्नता में निहित है। किन्तु प्रश्न यह है कि लिपि एवं शब्दावली का भाषा की दृष्टि से क्या महत्त्व है ?

जहाँ तक लिपि का प्रश्न है, सभी विद्वान् एकमत हैं कि लिपि एवं भाषा का कोई तार्किक एवं गहरा सम्बन्ध नहीं है। इसका सबसे प्रमुख कारण यह है कि लिखना भाषा नहीं है, अपितु भाषा को दृश्य वर्णों के माध्यम से लेखबद्ध करने का एक प्रयत्न-मात्र है। जिस प्रकार एक मनुष्य के अनेक प्रकार के चित्र लेने पर भी 'मनुष्य' वही रहता है, उसी तरह एक भाषा को अनेक लिपियों में लेखबद्ध करने पर भी 'भाषा' वही रहेगी। अत्यन्त ऊपरी एवं बाहरी सतह से ही देखने पर लगेगा कि ये विविध भाषाएँ हैं, जबकि 'भाषा' वही होगी, उसको लेखबद्ध करने वाली लिपियों में अन्तर होगा। उदाहरण के रूप में जापान में लिखने की तीन प्रणालियाँ हैं तथा वहाँ चौथी का विकास हो रहा है। एक ही भाषा को चारों लिपियों में लिखा जाता है, अन्तर भाषा में नहीं आता, लिपियों के स्तर पर होता है।

इसी प्रकार शब्दावली का भी किसी भाषा में उतना महत्त्व नहीं होता, जितना उसके गठन का होता है। उसका सबसे अधिक स्थिर एवं प्राण-तत्त्व उसका व्याकरणात्मक गठन होता है। किसी भाषा में नई शब्दावली बड़ी सरलता से प्रविष्ट होती रहती है और भाषा से वह लुप्त भी होती रहती है। किसी भाषा के गठन में दूसरी भाषा के शब्दों के प्रयोग से, वह उच्चार या वाक्य दूसरी भाषा का नहीं हो जाता है। यथा—"मैं मार्कीट जाऊँगा" वाक्य हिन्दी का ही कहलाएगा, यद्यपि इसमें 'मार्कीट' शब्द अंग्रेजी का है। इस प्रकार शब्दावली भाषा के मूल संघटकों में सबसे कम महत्त्वपूर्ण तथा सबसे कम स्थायी होती है। (हालाँकि जनसाधारण को भाषा के नाम पर उसका सबसे महत्त्वपूर्ण अंग उसकी शब्दावली ही लगती है।)

इस प्रकार अत्यन्त बाह्य दृष्टि से देखने पर उर्दू हिन्दी से भले ही भिन्न प्रतीत होती हो, किन्तु संघटना एवं गठन की समानता होने के कारण भाषा के धरातल पर उर्दू हिन्दी की एक बोली है तथा साहित्यिक दृष्टि से यह हिन्दी की विशिष्ट शैली है। सम्पादकीय में 'शैली' के आगे आश्चर्यबोधक चिह्न (!) का प्रयोग किया गया है (दे० पृ० ३)। इस प्रकार के आश्चर्य को, भाषा और शैली के अन्तर को बोधगम्य

करके दूर किया जा सकता है।

हिन्दी-क्षेत्र के मूर्द्धन्य भाषा-शास्त्रियों ने आज से कई वर्ष पहले यह वैज्ञानिक मत प्रतिपादित कर दिया था कि उर्दू हिन्दी से भिन्न भाषा नहीं है, वह एक बोली मात्र है।

यदि किसी को हिन्दी-भाषी क्षेत्र के भाषा-वैज्ञानिकों के मतों में संकीर्ण राष्ट्रवादी (Chauvinist) दृष्टिकोण के दर्शन होते हों, तो उसके लिए बंगाली-भाषी डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का यह मत द्रष्टव्य है—

"····'हिन्दुस्थानी' एक बहुत पीछे का बना हुआ तथा क्लिष्ट शब्द है। एक विशुद्ध फ़ारसी शब्द के रूप में उसका मतलब धीरे-धीरे हिन्दी के मुसलमानी रूप उर्दू के सदृश ऐसी भाषा में लिया जाने लगा, जो फ़ारसी-अरबी शब्दावली से लदी हो तथा जिसमें हिन्दी एवं संस्कृत उपादानों को स्थान यथासम्भव नहीं दिया गया।"

यदि भाषा-वैज्ञानिकों के मतों की अपेक्षा किसी को प्रगतिशील आलोचक की बात ही भाती हो, तो वह डॉ० रामविलास शर्मा की 'भाषा और समाज' के पृ० ३०४ को पढ़ सकता है।

अन्त में हिन्दी के लेखक और आन्दोलनकारी नेताओं के अन्तःमन में क्या है, यह तो बताने का मैं दावा नहीं कर करता (हो सकता है कि मेरी अपेक्षा सम्पादक का उनसे अधिक घनिष्ठ परिचय एवं सम्पर्क हो); किन्तु इस सम्पादकीय के लेखक से यह अवश्य चाहूँगा कि वे अपने अन्तःमन को टटोलकर अवश्य देख लें। मैं ऐसा परामर्श, सम्पादकीय में अभिव्यक्त कई आपत्तिजनक अंशों को पढ़ने के बाद दे रहा हूँ। उनमें से उदाहरणार्थ एक अंश को यहाँ उद्धृत किया जा सकता है—

"देश के औद्योगीकरण के साथ-साथ विभिन्न प्रदेशों की अल्पसंख्यक जातियाँ शनैः-शनैः अपने राष्ट्रीय अस्तित्व के प्रति जागरूक होती जायँगी······'जिसका राज उसकी भाषा' में विश्वास रखने वाले प्रभुतासम्पन्न हिन्दीवादी उन्हें दबाएंगे और हर बार सड़कों पर खून बहेगा···" (पृ० ५)

डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

"शतरंज के मोहरे" : "बूँद और समुद्र"

'शतरंज के मोहरे' और 'बूंद और समुद्र' श्री अमृतलाल नागर की कला के उत्तमांश को प्रस्तुत करते हैं अतः उनके पुनः मूल्यांकन का कार्य महत्त्वपूर्ण है। पिछले दशक की औपन्यासिक रचनाओं में 'बूंद और समुद्र' चर्चा और प्रशंसा का विषय रहा है, एशिया के एक प्रमुख देश के एक प्रतिनिधि ने उसे पुरस्कृत भी किया है।

१. शतरंज के मोहरे—श्री अमृतलाल नागर, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५९ ई०।
२. बूंद और समुद्र— " " किताब महल, इलाहाबाद, १९५६ ई०।

प्रथम उपन्यास में १८२० ई० के कुछ पूर्व-काल से १८३७ ई० तक का लखनऊ का नक्शा खींचा गया है और लखनऊ के नवाबी-युग के चित्रण के माध्यम से अट्ठारह सौ सत्तावन की राजक्रान्ति के पूर्व के भारतवर्ष का एक प्रतिनिधि चित्र भी प्रस्तुत किया गया है। द्वितीय उपन्यास में लखनऊ के समसामयिक सामाजिक जीवन की झाँकी सजाई गई है। इस रचना में भारतवर्ष के वास्तविक स्वरूप के उद्घाटन की प्रवृत्ति प्रमुख है अर्थात् यहाँ भी लखनऊ का यथावत् चित्रण होने पर भी वह माध्यम ही है अतः आंचलिकता के पूर्ण स्पर्श के होने पर भी लेखक के सम्मुख स्पष्टतः व्यापक प्रयोजनों और समस्याओं का समूह है, यही कारण है कि इन उपन्यासों की एकप्रदेशीयता दृष्टि को संकुचित न कर, उसे इस देश की ओर इसलिए एक सीमा तक सर्वदेशों की अनेक मूलभूत उलझनों और समाधानों से आविष्ट कर देती है।

नागरजी हिन्दी के एक प्रमुख उपन्यासकार हैं, उनका अपना एक विशिष्ट स्थान है, वह हिन्दी की प्रेमचन्दीय परम्परा को अग्रसर करके उसे बहुआयामी और समृद्ध करने वाले कलाकार हैं। साधारण जनता के विभिन्न वर्गों से प्रतिनिधि चरित्र चुनकर उनकी चेष्टाओं, हावभावों, बोल-चाल, मानसिक संघर्षों, उल्लासों और विशिष्टताओं को यथावत् प्रस्तुत करने में वे अद्वितीय कथाकार हैं। यह उपलब्धि ही वस्तुतः उन्हें दूसरे कलाकारों से अलग करती है, यही तत्त्व भेदक-तत्त्व है, जिससे पाठक अन्य रचनाकारों में उन्हें सरलता के साथ पहचान लेता है।

नागरजी की यह विशिष्टता उनके उक्त दोनों उपन्यासों में सर्वाधिक रूप से व्यक्त हुई है, विशेषकर 'बूंद और समुद्र' में। 'शतरंज के मोहरे' में नव्बू, रुस्तम और घसीटे की बातचीत; शिवबरन महाराज और फतेह अली की अम्मा का रोचक संवाद और चेष्टाएँ, मुनियाँ की अदाएँ और उसका दूतीत्व; सुलखिया और बादशाह गाज़ीउद्दीन के वार्त्तालाप; भूरे खाँ, टुण्डे; बेनीकवि; ठाकुर दिग्विजय; कुलसुम, नईमखाँ, नत्थू खाँ, शिवनन्दन सिंह, धनियाँ, गफ़ूरिन, दुलारी, डी-रसेट, राजा ग़ालिब जंग और बादशाह नसीरुद्दीन के क्रियाकलाप और संलाप उन्नीसवीं शताब्दी के नवाबी ज़माने का एक ऐसा सवाक् चित्र प्रस्तुत करते हैं, कि उस युग के आचार-विचार, भाषा के लहज़े, आशा, आकांक्षाएँ संघर्ष-सहयोग, उन्नति-पतन—गरज कि तात्कालिक सारा जीवन हमारी आँखों के सम्मुख एक पूरा रंगमंच ही उपस्थित कर देता है।

इसी प्रकार 'बूंद और समुद्र' में आज के नेता-वर्ग के सालिगराम, जानकीशरण, राजा साहब, परम्पराग्रस्त समाज के रूपदर्शन के लिए ताई, नन्दो, हिन्दू समाज में गुप्त व्यभिचार के पर्दाफ़ाश करने के लिए 'बड़ी' और 'बोरेश' कवि; जगदम्बा और उनकी 'बहू'; प्रगतिशील नवयुवकों के चित्रण के लिए सज्जन; कर्नल (नगीन चन्द्र जैन); और वनकन्या; बुद्धिवादियों के अन्तर्विरोध दिखाने के लिए महिपाल और सज्जन; भारतीय सन्तों की 'पहुँच' और सेवाभाव प्रस्तुत करने के लिए बाबा रामजीदास; पुजारियों के प्रतिनिधि 'भितरिया जी'; 'सेठ-नेताओं' के प्रतिनिधि रूपरतन; गृहिणी-वर्ग की प्रतिनिधि कल्याणी, और लखनऊ के आज के लेखकों में यशपाल,

भगवतीचरण वर्मा और स्वयं नागरजी भी अंकित किये गए हैं। लखनऊ के प्रभावशाली बनते-बिगड़ते उच्च वर्ग और सामान्य जनता के अनेक व्यवसायों से 'टिपीकल' चरित्रों को चुनकर उनकी बोली-वाणी और चेष्टाओं का पूरा महासागर ही सामने लाकर लेखक ने व्यक्ति—बूंदों के सपनों और यथार्थ का; उनके परस्पर सम्बन्ध और विरोध का एक—विराट् चलचित्र ही निर्मित किया है, जिसका एक महत् उद्देश्य यह भी है कि हम अपने समाज और देश की वास्तविक छवि और कुत्सा देख लें और उससे सबक लें।

नागरजी की दूसरी उपलब्धि है; आकर्षक चरित्रों की सृष्टि। नागरजी प्रेमचन्द जी की तरह ज़िन्दगी की गहरी छानबीन करते हैं और बनावटी पात्रों की सृष्टि से बचते हैं। किसी पूर्वधारणा या विचार को वह पात्ररचना का मूलाधार नहीं बनाते जैसा कि अस्तित्ववादी लेखकों में प्रायः पाया जाता है। ज्याँ पॉल सार्त्र के पात्र अजीबोग़रीब पात्र हैं, उनका 'एज आफ रीजन' का 'मैथ्यू' लेखक की विचारधारा को मूर्त रूप देने के लिए निर्मित किया गया है, 'इंटीमेसी' की नायिका का भी यही हाल है। किसी दर्शन का यह पात्रीकरण नागरजी को नहीं रुचता। वस्तुतः यह प्रवृत्ति हिन्दी में भी अपने ढंग से प्रचलित है; अज्ञेय, जैनेन्द्र, इलाचन्द जोशी के मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक उपन्यासों (नदी के द्वीप, अपने-अपने अजनबी, संन्यासी, सुनीता आदि) में विचार प्रमुख है, जीवन्त और वास्तविक पात्र-रचना गौण; इधर की कहानियों और उपन्यासों ('खाली कुर्सी की आत्मा') में भी यही प्रवृत्ति है किन्तु नागरजी क्लासीकल यथार्थवादी परम्परा के लेखक हैं, उनके लिए जीवन प्रमुख है, परिस्थितियाँ प्रधान हैं और उनमें जन्म लेने और विकसित होने वाले पात्र अपनी अपनी परिधि के अनुकूल अपने विचारों, भावों और कल्पनाओं का विकास करते हैं, अतः नागरजी के उपन्यासों में समाजशास्त्र का उपन्यासीकरण मिलता है जबकि 'नवीन' कहे जाने वाले उपन्यासों में उपन्यास का दार्शनिकीकरण ही प्रमुख होता जा रहा है।

पात्र के आन्तरिक जीवन में उतरकर उसकी चेतनधारा के तमाम चढ़ाव-उतारों का अंकन प्रेमचन्द और प्रसाद-युग से ही प्रारम्भ हो गया था, नागरजी में इस प्रवृत्ति का एक विशिष्ट रूप मिलता है। नागरजी पात्रों की संकटकालीन स्थितियों के कुशल चित्रकार हैं। ऐसी स्थितियों में एक वह स्थिति होती है, जब पात्र अपनी और ज़माने की उलझनों में ऐसा ग्रस्त हो जाता है, कि उससे बाहर निकलने का कोई उपाय ही नज़र नहीं आता। ऐसी स्थिति में पात्रों की टूटन, घुटन, और छटपटाहट को लेखक बड़ी सावधानी और अंतर्दृष्टि के साथ चित्रित करता है। 'शतरंज के मोहरे' में ग़ाज़ीउद्दीन हैदर और सुलखिया की बातचीत के प्रसंग में पराजित और भीतर से टूटे हुए बादशाह हैदर की अवसादग्रस्त स्थिति बड़ी पहुँची हुई नज़र से देखी गई है :—

"सुलखिया की सहज दर्द में डूबी हुई मिठास-भरी सुरीली आवाज़ में ग़ाज़ीउद्दीन के प्राणों में सिहरन और गूंज भर गई। बाज़ के पीछा करने पर असीम आकाश को अपने नन्हें परों से नापते हुए एक छोटा पंछी जब घायल और चूर-चूर होकर हर

तरह से लाचार ओर बेसहारा हो गया और तब मानो अचानक उसे किसी के दामन की छाँव मिल गई···सहारा अजब चीज़ है···गहरे पाताल तक गहरे खड्ड में नुकीली चट्टानों से टकराता इनसान का मन जब बेपनाह गिरता ही चला जाता है, तब कभी-कभी, उसे यह सोचकर भी चैन मिल जाता है कि "अरे अभी पाताल मुझसे बहुत नीचे है···मैं हवा में ठहरा हूँ, सूनेपन ने मुझे थाम लिया है" (पृष्ठ ६८)।

यह टूटन और अवसाद दर्शनजन्य नहीं है, परिस्थितिजन्य है अतः लेखक विचार को पात्र पर आरोपित नहीं करता, किस दशा में मन में किस तरह के विचार और भाव पैदा होते हैं, इस बिन्दु पर उसका ध्यान रहता है। अंग्रेज़ों के छलकपट-भरे राजनीतिक पाश के क्रमशः कड़े पड़ते जाने वाले युग में नवाबों की इस 'टूटन' को गाज़ीउद्दीन और नसीरुद्दीन की टूटन के माध्यम से दिखाकर लेखक उस युग की स्थिति को पाठक के मन में उतारने में सफल हो जाता है।

विषम परिस्थिति में पड़ने पर मन के अन्तर्द्वन्द्वों की यह अंकनविधि नागरजी ने 'बूंद और समुद्र' में भी प्रयुक्त की है। सज्जन और महिपाल के अन्तर्दाहात्मक प्रसंग इस उपन्यास में अनेक हैं और यहाँ नागरजी की अन्तरवलोकन सामर्थ्य प्रमाणित होती है किन्तु सर्वाधिक गहराई वहीं है, जहाँ वातावरण वैषम्य के कारण कोई मानसिक संकट है, नैतिक-अनैतिक, कर्तव्य-अकर्तव्य आदि की टकराहट है। ऐसी 'क्राइसिस' के समय ही नागरजी मानवीय मूल्यों का शोधन करते हैं। 'शतरंज के मोहरे' में तो एक असफल युग के पात्र हैं अतः वहाँ एकाकीपन और घुटन के क्षणों से नायक निकल नहीं पाते किन्तु 'बूँद और समुद्र' में 'सज्जन' जैसे पात्र अपनी 'क्राइसिस' से बड़ी ही सावधानी और सहज गति से बचा लिए गए हैं, 'महिपाल' की आत्महत्या के बावजूद वह अपने अन्तिम पत्र में अपराध-स्वीकृति के नैतिक साहस द्वारा अपने युगसंकट को परिभाषित करता हुआ मरता है :—

'जो समाज-व्यवस्था मेरे-जैसे जागरूक व्यक्ति को अभावग्रस्त बनाकर यों जीते-जी मार सकती है, वह अधिकतर अचेतावस्था में, जड़ संस्कारों में पलने वाले समाज को क्यों न पतन के उस गर्त में गिरा दे, जिसकी भयानकता से भरे विविध समाचार आप अपने पत्रों में छापते हैं।"

इस यथार्थ को सामने लाने के लिए ही महिपाल के चरित्र की सृष्टि की गई है, तभी यह उक्त वक्तव्य आरोपित नहीं लगता न प्रचारात्मक लगता है, लगता है कि उक्त निर्णय के लिए लेखक ने धीरज के साथ परिस्थिति और मन के विविध आयामों को, विविध उत्थान-पतनों को परखा है और तब एक वैज्ञानिक की तरह अंत में उक्त निष्कर्ष को प्राप्त किया है। अतः पात्रों का अन्तःसंघर्ष भी बनावटी नहीं लगता।

नागरजी इस 'क्राइसिस' के ही सफल द्रष्टा नहीं हैं, वह साथ ही ऐसे कर्मठ पात्रों के भी स्रष्टा हैं जो उलझनों में न पड़कर स्वभाव से ही कर्मवादी हैं; ऐसे पात्रों में कोई मानसिक व्याधि नहीं दिखाई जाती, वे सर्वदा शुभ पक्ष के लिए संघर्ष करते हैं। मनोवैज्ञानिक शब्दों में हम इन्हें अपेक्षाकृत अधिक 'नार्मल' पात्र कह सकते हैं,

जैसे 'शतरंज के मोहरे' में दिग्विजयसिंह और 'बूँद और समुद्र' में कर्नल। इनमें प्रथम में प्रश्नाकुलता है साधकों-जैसी पर वह शीघ्र निर्णय में बाधक नहीं बनती और कर्नल तो इस प्रश्नाकुलता से भी मुक्त हैं, वह जैसे बुद्धिवादियों के अनिर्णय और 'मूडी' स्वभाव के विपरीत एक स्वस्थ नागरिकों का प्रतिनिधि पात्र है और विशेषता यह है कि कर्नल के सहारे ही सज्जन, कन्या, महिपाल आदि अपने को और समाज को पहचान पाते हैं। अपने को पहचानने की यह विधि नागरजी ने सफलता के साथ अंकित की है और बल इस बात पर है कि प्रत्यभिज्ञा के लिए कर्म अनिवार्य है, तभी बाबा रामजीदास सभी पर छाए लगते हैं। इस प्रकार आदर्शवाद (अध्यात्मवाद) और यथार्थवाद दोनों का श्रेष्ठांश निचोड़कर बाबा रामजीदास और कन्या-जैसे पात्र रचने में लेखक को सफलता मिली है।

तीसरी कोटि में सामान्य पात्रों को कभी सौन्दर्यबोधात्मक दृष्टि से देखकर और कभी समाजशास्त्रीय दृष्टि से देखकर चित्रित किया गया है, गली-कूचों के पात्र, हलवाई, बजाज, नौकर-चाकर, दलाल, बनियाँ-बक्काल, पुरोहित-पण्डित, आदि पात्र इसी कोटि में आते हैं। ऐसे स्थलों में दो बातों पर बल दिया गया है; प्रथम यह कि यह जनता इस प्रकार की इसलिए है कि वह परिस्थितियों की उपज है और परिस्थितियाँ बदलने के लिए ऐतिहासिक शक्तियों की पहचान आवश्यक है। दूसरी बात यह है कि सामान्य जनता में कुछ बातें ऐसी हैं जो बुद्धिजीवियों में नहीं मिलतीं—अगोपनीय व्यवहार; एक विशेष प्रकार का भोलापन, सहज उल्लास और ग्रन्थिहीनता। प्रमुख पात्रों की क्रियाओं के प्रति प्रतिक्रिया व्यक्त करने के लिए साधारण पात्रों की बोलचाल का उपयोग किया गया है, साथ ही स्थानीय रंग भरने का अवसर भी लेखक ने हाथ से नहीं जाने दिया और यह प्रसिद्ध तथ्य है कि साधारण व्यक्तियों को उनके स्थानीय सन्दर्भ में अंकित करने का गुण नागरजी में सबसे अधिक है।

नागरजी अपने पात्रों तक इतिहास के सहारे से भी पहुँचते हैं, 'शतरंज के मोहरे' को तो ऐतिहासिक उपन्यास भी कहा जा सकता है किन्तु 'बूंद और समुद्र' में भी प्रत्येक पग पर उनकी इतिहास और समाज-चेतना व्यक्त हुई है, यह दो प्रकार से सम्भव हुआ है। नागरजी के मन में भारतीय इतिहास को प्रगतिवादी इतिहास-दर्शन के आलोक में समझने की प्रबल आकांक्षा है अतः उनके सम्मुख सामन्तवादी भारत (शतरंज के मोहरे) और महाजनी जनतन्त्र (बूँद और समुद्र) को रूपायित करने का कार्य अति महत्त्वपूर्ण रहा हैं। अतः 'वर्ग दर्शन' के आधार पर उन्होंने पात्र रचे हैं, तभी पात्र विचारों के पुतले न बनकर विभिन्न समूहों के प्रतिनिधि बन गए हैं। दूसरे वह पात्रों के अध्ययन के माध्यम से इस देश के स्वरूप को समझना-समझाना चाहते हैं तभी महिपाल का प्रायः प्रत्येक चिन्तन मोहनजोदड़ो-हड़प्पा से प्रारम्भ होकर आज के युग तक समाप्त होता है। महिपाल की चिन्तनविधि में नागरजी की चिन्तनविधि को स्पष्ट देखा जा सकता है, यद्यपि अन्त में बुद्धिजीवियों के अन्तर्विरोध का प्रतिनिधि बनाने के लिए उसे वह दु.खद अन्त की ओर ले गए हैं यों महिपाल बिना चोरी किए हुए भी रूपरतन के साथ अवसरवादी समझौता करके 'शकुन्तला' (भांजी) के

विवाह में अपनी शान दिखा सकता था। भारतवर्ष के अन्तर्विरोधग्रस्त रूप को खोलने के लिए 'ताई' को 'भारत माता' और महिपाल को 'भारतवर्ष' कहा गया है और ज्ञान-अज्ञान, दया-निर्दयता, हिंसा-अहिंसा आदि द्वन्द्वों से ग्रस्त भारतीय चेतना का रूप 'ताई' और 'महिपाल' के माध्यम से प्रस्तुत करने में लेखक को प्रशंसनीय सफलता मिली है। 'ताई' यदि भारतीय परम्परा की पहेलीनुमा महिला है तो महिपाल आज के बुद्धिजीवी की उलझी चेतना का संघर्षकारी और सक्रिय प्रतिबिम्ब है।

कुछ चरित्र सार्वभौमिक और अत्यधिक संवेदनशीलता से ओतप्रोत हैं, जैसे शतरंज के मोहरे की कुदसिया बेगम जो वफ़ापरस्ती की अवतार-सी लगती है। चारों ओर फैले हुए दलदल में पड़े, निकलने के प्रयत्न में डूबते, उतराते, छटपटाते युग में कुदसिया बेगम-जैसे पात्र केवल अपनी मानवीय संवेदना के बल पर ही त्याग और दोस्ती की अमर भूमिका अदा करते हैं, वस्तुतः हज़रत कौड़ीशाह और बाबा रामजीदास इसी मानवीय सहानुभूति पर ही दिव्यदृष्टि पाने के अधिकारी बनाए गए हैं। अत्यधिक 'संकुल' चरित्रों के बीच सहज दृष्टि से जीवन के तत्व को पा जाने वाले ये पात्र विविधता के साथ हमें संकुलता के भार से मुक्ति दिलाते चलते हैं।

नागरजी के 'बादशाह' (दोनों), दुलारी, ठाकुर दिग्विजय कुल्सुम; शीला, महिपाल, ताई, बोरेश, सज्जन और कन्या ही नहीं, साधारण पात्र भी पाठक के चित्त में अपनी जगह बना लेते हैं, महिपाल और ताई—विशेषकर ताई तो पिछले दशक का एक बहुत ही आकर्षक चरित्र है, अविस्मरणीय और अनुपम।

नागरजी जनबोली के उस्ताद हैं किन्तु यह स्मरणीय है कि उक्त दोनों उपन्यासों में—विशेषकर 'बूँद और समुद्र' में लेखक इस तरह लिखता है कि जैसे वह अपनी गम्भीर चिन्तना को साधारण और सहज भाषा में व्यक्त करने का प्रयत्न कर रहा हो। पात्रों के संवादों को पढ़ते हुए 'एकपात्री अभिनय' जैसा वातावरण बनता है किन्तु विचार करते ही लेखक का यह गूढ प्रयोजन भी व्यंजित होता चलता है कि संवाद किसी विशेष सामाजिक मनोदशा के वाचक हैं और यह भी कि उस मनोदशा के क्या कारण हैं, उसमें परिवर्तन के क्या उपाय हैं और उसकी प्रयत्नविधि क्या है। 'बूँद और समुद्र' की आयोजना चूँकि विराट् है अतः उसमें लेखक कभी पात्रों की चिन्तन-विधि के रूप में और कभी स्वयं अपनी ओर से स्थिति की सीधी व्याख्या भी करने लगता है किन्तु यदि वह ऐसी व्याख्या नहीं भी करता (और वस्तुतः उपन्यासकला की दृष्टि से ऐसे प्रसंग ऊपर से लादे गए प्रतीत होते हैं, यों वे शिक्षाप्रद हैं) तो भी यह उपन्यास अपना मन्तव्य जागरूक पाठक पर प्रकट कर देता है। वस्तुतः नागरजी जैसा सामूहिक जनमानस का कुशल शिल्पी जब गली-महल्लों की बोली के लहजे में बात करता है तब वह सर्वदा सोद्देश्य होता है, इसे न समझने के कारण ही प्रायः नागरजी के परिहासों को केवल मजाक समझ लेने का भ्रम हो जाता है, बहुतों को हुआ है।

उक्त दोनों उपन्यासों को पढ़ते समय मुझे यह महसूस हुआ है कि नागरजी प्रेमप्रसंगों का गहराई के साथ वर्णन नहीं करना चाहते अथवा यह कि वह कर नहीं पाते। त्यागमय प्रेम के प्रसंग में कुदसिया बेगम की तसवीर सफल है पर उसमें

शीघ्रता है। 'बूंद और समुद्र' में सज्जन और कन्या के संयोगवर्णन में जल्द-जल्द बहस का प्रसंग आ जाता है; यद्यपि वनकन्या एक असाधारण साम्यवादी तेज से ओजमयी युवती है परन्तु फिर भी सज्जन से प्रथम दर्शन के प्रसंग में सतही घटनाओं के सन्दर्भ में सतह से नीचे उतरकर अधिक कोमलता के साथ प्रेम-प्रसंग चित्रित होना चाहिए था — इसी प्रकार महिपाल और शीला के परकीया-परकीय प्रेम के चित्रण में तभी स्वाभाविकता आती जब उनकी मृदुल भावनाओं को अधिक महत्व मिलता। कन्या और सज्जन के प्रेम में ऊँचाई तब भी है, किन्तु महिपाल और शीला के प्रेम को पढ़कर तो ऐसा लगता है, कि किसी 'नाजायज़ ताल्लुक' का विवरणमात्र है, यह शायद लेखक के अत्यधिक नैतिक आग्रह के कारण है।

उपन्यास के उपकरणविन्यास की दृष्टि से देखने पर 'शतरंज के मोहरे' में अधिक गठनशीलता है 'बूंद और समुद्र' में वह गठाव नहीं है, बिखराव है किन्तु लेखक के सम्मुख पूरे भारतीय समाज के समुद्र को चित्रित करने का महा आयोजन है, इसलिए बिखराव से बचना यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। इसके सिवा इधर के उपन्यासों में बिखराव को गुण माना जाने लगा है। टामस मन के 'मैजिक माउन्टेन' को पढ़कर लगता है जैसे अस्पताल की रिपोर्ट हो लेकिन फिर भी सारे अनावश्यक-से लगने वाले विवरण साभिप्राय हैं, क्योंकि आधुनिक सभ्यता विशेषकर पश्चिमी योरोप की पतनशील महाजनी सभ्यता क्या एक अस्पताल-जैसी ही नहीं है? दो-दो युद्धों के रोग से विकृत यूरोपीय चेतना के लिए अस्पताल का प्रतीक सचमुच सार्थक है। 'बूंद और समुद्र' में ऐसी प्रतीकात्मकता नहीं है किन्तु इस कृति के पात्र क्या सचमुच भारतीय जीवन की कुण्ठा, कुत्सा, दरिद्रता और अज्ञान के प्रतीक नहीं हैं? यदि हैं तो बिखराव के बिना इतने अधिक पात्रों, आन्दोलनों, पार्टियों, आपाधापियों और सवाल-जवाबों को कैसे चित्रित किया जा सकता था? विराट् और व्यापक रचनाओं में बिखराव से बचना वस्तुतः एक समस्या है इसका उचित समाधान नहीं मिल पाता। दास्तावस्की के 'ब्रदर्स कारमाजोव' में, ज्यॉपाल सार्त्र की 'त्रयी' (एज आफ रीजन, रिप्रीव आदि), में ही नहीं, प्राचीन महाकाव्यों तक में बिखराव से बचना कठिन हो गया है। वाल्मीकि रामायण अधिक सुगठित रचना है किन्तु महाभारत अधिक महान् रचना है और महाभारत के बिखराव के लिए प्रसिद्ध है। फिर भी आदरणीय नागरजी से यह शिकायत की जा सकती है कि वह चाहते तो अनेक वक्तव्यों से बच सकते थे और उन्हें इस तरह खपा सकते थे कि वह लेखक की घोषणाएँ जैसी न लग पातीं (उपन्यास के अन्त तक में एक भाषण प्रस्तुत कर दिया गया है और अन्त में कहा गया है कि दोनों पति पत्नी (सज्जन : कन्या) अपनी 'आस्था' पर डटे रहेंगे)।

नागरजी स्वयं अपने शब्दों में इतिहास के 'फुटकल सौदागर' हैं, 'होलसेल विक्रेता' नहीं, पर मुझे लगता है कि उनकी तीव्र निरीक्षण-शक्ति ने भारतीय जनमानस के अध्ययन में अनेक तत्व ऐसे जोड़े हैं कि 'बूंद और समुद्र' का उपन्यास ही नहीं, भारतीय समाजशास्त्र और इतिहास की दृष्टि से भी बड़ा महत्व है। इतिहासकारों को यह उपन्यासकार नूतन दृष्टि दे सकता है, यह इस उपन्यास से प्रमाणित है; जैसे लेखक

का यह निरीक्षण कि भारतवर्ष में विकास के प्रत्येक स्तर की अच्छी-बुरी रीति-रिवाजों, मान्यताओं आदि को छोड़ा नहीं गया, इसलिए सतह पर जहाँ हवाई जहाज़ और बैल-गाड़ी एक साथ मिलते हैं, उसी तरह यहाँ उच्चतम कोटि का दर्शन और निम्नतम कोटि का अंधविश्वास एक साथ मिलता है। नागरिक संस्कृति की निर्माण-विधि पर भी 'बूंद और समुद्र' नवीन आलोक बिखेरता है, और साथ ही हलुआ अरबी भोजन है और यह कि हनुमान आर्य पूर्व-सभ्यता का पूजा-प्रतीक है—इस प्रकार के निरीक्षण भी इस उपन्यास में भरे पड़े हैं, लोक संस्कृति की अनूठी व्याख्या भी यहाँ है, वृद्ध-भारतवर्ष में जो भी ग्रहणीय है, वह भी यहाँ है, और वह भी जो त्याज्य है। इस तरह उच्चतम नैतिक बोध की दृष्टि से भी यह उपन्यास पठनीय है। कुछ दार्शनिक सवाल भी उठाये गए हैं, नागरजी ईश्वर, देवता और भारतीय आचारों की बुद्धिसंगत व्याख्या के लिए सर्वत्र प्रस्तुत दिखाई पड़ते हैं, इनसे प्रेरणा किस प्रकार ली जा सकती है, यह भी बताया गया है। एक भी ऐसा पात्र नहीं है जो आत्मविश्वास और अन्तः-प्रेरणा के लिए इन रहस्यमय शक्तियों के बिना उच्चकोटि की नैतिकता का विकास कर सका हो किन्तु वनकन्या अवश्य दिव्य सत्ताओं के बिना ही अपनी निष्ठा पर डटी रहती है, अतः नागरजी इस तथ्य से भी परिचित हैं कि रहस्यमय तत्व सामाजिक चेतना को यथार्थता की भूमि पर नहीं रहने देते[1] अतः उनके बिना यदि मनुष्य महान् बन सके तो अच्छा है अन्यथा मानव-विकास बुद्धि का पथ छोड़कर स्वयं प्रकाश्यज्ञान पर अधिकाधिक निर्भर होता जाएगा। कभी-कभी लगता है कि नागरजी इस प्रकार की चर्चाओं के द्वारा बोल-बोलकर सोच रहे हैं और अभी किसी निर्णय पर नहीं पहुँचे हैं, ऐसे सवालों के जवाब बहुत सीधे और सफल हो भी नहीं सकते।

यदि नागरजी अट्ठारह सौ सत्तावन की राजक्रान्ति के सिलसिले में 'शतरंज के मोहरे'-जैसे उपन्यास लिखकर आधुनिक युग की पृष्ठभूमि प्रस्तुत न करते तो वह भारतीय जनता की प्रगतिशील चेतना को उभारकर सम्मुख न रख पाते, उदाहरणतः ठाकुर दिग्विजयसिंह जैसे पात्र ही 'सज्जन' और 'कर्नल' का रूप धारण करते हैं और कौड़ी-शाह बाबा रामजीदास बना दिए जाते हैं। कौड़ीशाह में मानवीय चेतना है, सामाजिक चेतना कम है जब कि बाबा रामजीदास सामाजिक चेतना के माध्यम से ही अपने को पहचानते और सूक्ष्म शक्तियों (टैलीपैथी) को प्राप्त करते हैं। ठाकुर दिग्विजयसिंह कोरे कर्मवादी हैं जब कि सज्जन, कन्या, कर्नल-जैसे पात्र अधिक जागरूक हैं और आज के युग की नाड़ी को समझते हैं। इस प्रकार नागरजी के उक्त दोनों उपन्यासों में सामन्तवाद से लेकर महाजनी जनतन्त्र तक की विकास-भूमि स्पष्ट होकर सम्मुख आ जाती है। महाजनी जनतन्त्र की असंगतियों को सम्मुख लाकर नागरजी एक ऐसी

१. "पाप और पुण्य शब्दों के साथ सोचने वाला व्यक्ति अपनी विचार-शक्ति को सदा के लिए मोथरा बना देता है—इन दोनों ही शब्दों के अर्थ जनसाधारण में कुछ बड़े आउट आफ डेट चित्रों के साथ रूढ़ हो चुके हैं—पुण्य करनेवाला यानी एवज़ में आसमानी शक्ति से कुछ पाने के लिए सौदा करने वाला कभी भी सही स्प्रिट में परोपकार नहीं कर सकता—यह बड़ा संकीर्ण व्यक्तिवादी दृष्टिकोण है"—(पृष्ठ ५७२)।

सामाजिक व्यवस्था की रचना सम्भव मानते हैं जिसे हम 'स्वदेशी—समाजवाद' कह सकते हैं, जिसमें महिपाल के शब्दों में 'साम्यवाद और गांधीवाद' का समन्वय हो, इस पर मतभेद हो सकता है परन्तु लेखक ने आज की फैली हुई निराशा और दम-घोंट किंकर्त्तव्यविमूढ़ता के वातावरण में एक रास्ता सुझाया है; उसे संशोधित कर उस पर चलना तो पाठकों का काम है; तभी 'बूँद' इस विराट 'समुद्र' में अपने अस्तित्व को सार्थक कर सकती है और 'समुद्र' 'बूँद' की पूर्णता से महापूर्ण बनकर 'समूह' से 'समाज' की संज्ञा पा सकता है !!

लक्ष्मीकान्त शर्मा

'सागर, लहरें और मनुष्य' : एक पुनर्मूल्यांकन

समसामयिक कथा-साहित्य में दो प्रवृत्तियाँ स्पष्टत: परिलक्षित हो रही हैं : एक ओर तो व्यक्तिमूलक मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास लिखे जा रहे हैं, तो दूसरी ओर आँचलिक उपन्यासों की भी बाढ़ आ रही है। इसका तात्पर्य यही है कि समसामयिक कथाकार सत्य के दोनों पहलुओं को स्पर्श करके चलना चाहता है। वह मनोविज्ञान से प्रेरित होकर मानव-जीवन की गुत्थियों को सुलझाता है, तो दूसरी ओर लोक-जीवन का भी इस प्रकार का चित्रण करता है कि किसी अंचल-विशेष का जीवन पूर्णत: मुखरित हो सके। आँचलिक उपन्यासों में कुछ नाम, विशेष रूप से लोकप्रिय हुए हैं, 'रेणु' से लगाकर बलभद्र ठाकुर तक यह धारा नये-नये कूलों को स्पर्श करती हुई आगे बढ़ी है। अंग्रेज़ी साहित्य में जिस प्रकार बैसेक्स के उपन्यासों के रूप में टॉमस हार्डी का नाम प्रख्यात है, उसी प्रकार बिहार के कुछ ज़िलों के बड़े सजीव चित्र हमें नागार्जुन, फणीश्वरनाथ 'रेणु' और बलभद्र ठाकुर में मिलते हैं। 'सागर, लहरें और मनुष्य' लिखकर श्री उदयशंकर भट्ट ने भी आँचलिक उपन्यास की धारा को समृद्ध किया है।

भट्टजी बहुमुखी प्रतिभा के साहित्यकार हैं; नाटक, कविता और उपन्यास इन दिशाओं में भट्टजी ने विशेष ख्याति अर्जित की है। 'वह जो मैंने देखा', 'नये मोड़', 'शेष-अशेष', 'सागर, लहरें और मनुष्य' उनकी औपन्यासिक-यात्रा के विशिष्ट स्मारक हैं। प्रस्तुत उपन्यास में उन्होंने बम्बई के मछीमारों के गाँव 'बरसोवा' के जीवन को विशेष रूप से चित्रित किया है। बरसोवा के आँचलिक जीवन की झाँकी उस रूप में तो नहीं मिलती, जिस रूप में 'रेणु' के 'मैला आँचल' में या नागार्जुन के 'वलचनमा' में किन्तु इस कृति में हम आंचलिक प्रवृत्ति की पृष्ठभूमि में व्यक्तिमूलक जीवन-दर्शन के चित्रण की प्रवृत्ति भी पाते हैं। वस्तुत: 'सागर, लहरें और मनुष्य' की कहानी रत्ना, माणिक, यशवन्त और पांडुरंग की कहानी है।

कथा-शिल्प की दृष्टि से भट्टजी ने इस उपन्यास को कुछ प्रयोगात्मक रूप भी देने की चेष्टा की है। पहले वे रत्ना के जीवन का दिग्दर्शन कराते हैं, उसके बाद

माणिक के जीवन का। इससे यही सिद्ध होता है कि वे विभिन्न पात्रों के जीवन पर अनेक कोणों से प्रकाश डालना चाहते हैं। रत्ना के प्रकरण में आया हुआ माणिक कुछ और है और उससे असंपृक्त रहकर अपने स्वतन्त्र जीवन का ताना-बाना बुनता हुआ माणिक कुछ और है। कथा-सौष्ठव की दृष्टि से परम्परागत उपन्यासों की जो प्रवृत्तियाँ होती हैं, उससे यह उपन्यास कुछ भिन्न है। इसे वर्तमान प्रयोगशील प्रवृत्ति का प्रतिबिम्ब हम कह सकते हैं। कथावस्तु पर्याप्त रोचक एवं वैविध्यपूर्ण है। जीवन के अनेक तटों को स्पर्श करती हुई यह कथा अपनी अंतिम परिणति में पाठक को विस्मय-विमुग्ध कर लेती है। बरसोवा में मच्छीमारों का जीवन अनेक प्रकार की विचित्रताएँ लेकर उभरता है। वंशी और विट्ठल के परिवार में एक ऐसी लड़की उत्पन्न हुई है, जिसे आधुनिक शिक्षा प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। वह एफ़० ए० तक शिक्षा प्राप्त करते हुए पहुँच जाती है, पर बी० ए० करने का उसका स्वप्न, स्वप्न ही बना रहता है, क्योंकि बम्बई के जीवन की चमक-दमक, ऊपरी ठाठ-बाट और विलक्षणतापूर्ण जीवन, रत्ना को इस बुरी तरह अपनी ओर खींच लेते हैं कि वह माणिक को पति-रूप में स्वीकार करने के लिये विवश होती है, क्योंकि इसी सेतु के माध्यम से वह अपने जीवन के आकांक्ष्य को प्राप्त कर सकेगी। यशवन्त, जो कि एक मच्छीमार युवक है, और शारीरिक दृष्टि से हृष्ट-पुष्ट है, वह रत्ना के आकर्षण का केन्द्र-बिन्दु नहीं बन पाता। माणिक के द्वारा ठगी जाने पर रत्ना का विद्रोही व्यक्तित्व विक्षोभ से आप्लावित होता है और वह उसका परित्याग करके नई दिशाओं की ओर उन्मुख होती है। अपनी सखी सारिका के यहाँ उसे एक ऐसे व्यक्ति की झलक मिलती है, जो सम्भवतः रत्ना को उसके स्वप्न के संसार में पहुँचा सके। यह व्यक्ति है घीरूवाला, किन्तु यह भी रत्ना के साथ छल करता है और अन्त में प्रताड़िता एवं घर्षिता रत्ना को डाक्टर पांडुरंग के कर्त्तव्य-परायण एवं मानवीय व्यक्तित्व में अन्तिम आश्रय मिलता है, जैसे एक विक्षिप्त एवं उन्मादग्रस्त सरिता, अन्त में महासमुद्र को पा गई हो और तब हम देखते हैं कि 'मोहग्रस्त रत्ना डाक्टर के उड़ते हुए बालों से अपने सपने बुनने लगती है।'

आँचलिक उपन्यास होते हुए भी 'सागर, लहरें और मनुष्य' मूलतः रत्ना के संघर्षों एवं आपदाओं की कहानी है। यह ठीक है कि प्रस्तुत उपन्यास में यत्र-तत्र-सर्वत्र आँचलिक जीवन भी झाँकता है, पर उसके आकर्षण का शीर्ष-आलोक है रत्ना का व्यक्तित्व। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक ने अपने युग की दो विरोधी औपन्यासिक प्रवृत्तियों में जैसे सामंजस्य ढूँढ़ने की चेष्टा की है और किसी हद तक वह अपने प्रयत्न में सफल भी हुआ है। किन्तु उभयमुखी प्रवृत्ति होने के कारण वह न तो बरसोवा के आँचलिक जीवन के प्रति ही न्याय कर पाया है और न रत्ना के मन में लरजते हुए तूफ़ानी जीवन को ही पूर्णतः व्यक्त कर पाया है। लेखक की औपन्यासिक कला की यही इयत्ता है। उपन्यास का आरम्भ सामुद्रिक वातावरण की गहनता से परिपूर्ण है। तूफ़ान का बड़ा मार्मिक वर्णन लेखक ने प्रस्तुत किया है। गरजता हुआ समुद्र और उसके किनारे लाशों से पटे होना, बरसोवा में मछलियों का सुखाया जाना, इकट्ठा

किया जाना और फिर उन्हें बेचने के लिए जाना—यही प्रधान व्यवसाय है बरसोवा के निवासियों का। इन लोगों के लिए समुद्र कोई भयानक वस्तु नहीं है, जैसे कोई स्वाभाविक रूप में पृथ्वी पर विचरण करता है, वैसे ही ये लोग भी समुद्र में आते-जाते हैं। रत्ना जब समुद्री-जीवन की विचित्रताओं को अपनी सखी सारिका पर प्रकट करती है, तो वह यही कहती है, 'बड़ा जोखिम का काम है! क्या तू भी कभी समुद्र में गई है?' वास्तव में इसी प्रकार की जिज्ञासा और कौतूहल का निर्वाह उपन्यास के अन्त तक बना रहता है। माणिक के प्रकरण में हम दुर्गा नाम की एक ऐसी नारी से परिचित होते हैं, जो भारतीय पातिव्रत्य का उज्जवल उदाहरण कही जा सकती है। उसकी पीड़ा, आत्मबलिदान पाठक के मन को काफ़ी हद तक प्रभावित करते हैं और जब हम दुर्गा के मुख पर यौवन, गम्भीरता, आत्म-निर्भरता और विश्वास से परिपूर्ण एक नवीन कान्ति, नई आभा देखते हैं, तो सहज ही रत्ना से उसकी तुलना करने को जी चाहता है। रत्ना यदि बरसोवा के विद्रोही जीवन का प्रतिनिधित्व करती है, तो दुर्गा आत्मबलिदान-पूर्ण जीवन की आभा से अनुरंजित है। रत्ना, दुर्गा और सारिका—यह एक ऐसी त्रिवेणी है, जिससे हम नारी-जीवन के विभिन्न पहलुओं को समझ सकते हैं। बंशी और इट्ठा का जीवन-चित्रण भी कम कौतूहल-पूर्ण नहीं है। इसी प्रकार बिट्ठल, जागला और यशवन्त भी बरसोवा के मच्छीमार पुरुषों का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं। इनके चित्रण को देखकर ऐसा लगता है जैसे वे वैयक्तिक पात्र न हों, बल्कि बरसोवा के आँचलिक जीवन के 'टाईप' हों। 'रेणु' के आँचलिक उपन्यासों की तरह इसमें व्यक्तियों की भीड़ तो नहीं, पर आँचलिक उपन्यास होने के कारण पात्रों की संख्या पर्याप्त है और वे विभिन्न जीवन-रूपों का प्रतिनिधित्व करते हैं। यथार्थ के पुतलों के साथ-साथ हम आदर्श के पुतलों को भी अपनी दृष्टि में समाविष्ट करते हैं। उपन्यास के अन्त में डाक्टर पांडुरंग अपने मोहक व्यक्तित्व से हमारा ध्यान रत्ना की ही तरह खींच लेते हैं और इससे पूर्व कि उनके व्यक्तित्व की विभिन्न पर्तें खुलें, उपन्यास समाप्त हो जाता है। पाठक के मन में कुछ इस प्रकार की प्रतिक्रिया होती है कि पांडुरंग और रत्ना को लेकर कुछ और लिखा जाना चाहिए था, पर पाठक की इसी अतृप्ति में ही उपन्यास का कलात्मक लाघव निहित है, क्योंकि इससे पाठक की कल्पना को पर्याप्त उत्तेजना मिलती है।

आँचलिक उपन्यास होने के कारण भट्टजी ने विभिन्न पात्रों से बम्बइया हिन्दी में ही बात करवाई है, जो कि बड़ी मार्मिक और पुरअसर है। इस प्रकार के सम्वादों में वक्ता का मानसिक व्यक्तित्व पूर्ण रूप से झलकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वे बरसोवा के निवासियों के निकट सम्पर्क में रहे हैं और उन्होंने उनकी बात-चीत के ढंग को बड़ी बारीकी से सुना है। अनेक स्थानों पर उपन्यास के पात्र ऐसी शब्दावली का प्रयोग करते हैं, जो कि बरसोवा के स्थानीय रंग की दृष्टि से बड़ी उपयुक्त है। उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि के लिए निम्नलिखित उदाहरण पर्याप्त होंगे :—

१. "हम तेरा क्या किया दुर्गा? घर का सारा काम छोडकर तेरी सेवा करता

है। ऊपर से तू नाराज होताय। मत बोल, हम नई आयेगा।" थोड़ी देर बाद फिर बोली, "समजा, जैसे हमने इसका मालिक कू हर लियाय। आखा दिन काम करता-करता कमर टूट जाताय तो रात कूं खिलाता-पिलाता जरा नींद आ गया तो इसने समजा हम बदमाश हो गयाय। दुनियाँ कितना खराब है? हमारा छोकरी ई हमरा ऊपर शक करता है।" इतना कहकर गूगी फफक-फफक कर रोने लगी। (पृष्ठ-१५९)

२. पुलिस का नाम सुनकर इट्टा डर से काँपने लगी। उसने निहोरा करते हुए कहा, "तुमने मुझ कू रोग से भूखा मरने कू क्यों बचाया वंशी बाय। क्या करेंगा, मग काम नईं मिलताय।"

"काय जागला हे न!"

"हा, जागला एक रात कू दो रुपया दे गया था। पर उससे कितीक दिवस चलने का? आज तीन दिवस से माँ-बेटी दोनों बूकाय।" (पृष्ठ-९०)

इनसे भिन्न उन पात्रों के सम्वाद हैं, जो मध्यवर्गीय हैं और जिनकी नैतिकता की भावना एक आदर्श सोपान पर चढ़ी हुई है। ऐसे उदाहरणों में सारिका का निम्न कथन द्रष्टव्य है :—

सारिका पास आकर कहने लगी, "बुरा मत मानना, रत्ना! जैसे नदी की मर्यादा उसके दोनों किनारे होते हैं, उसी तरह जो औरत अपने समाज की मर्यादाओं से एक बार निकल जाती है, उसका अन्त नदी की बाढ़ की तरह होता है।"

"पर तू क्या समझती है, बाढ़ से कोई फ़ायदा नहीं होता? इनमें एक भी अच्छा आदमी नहीं हैं, एक भी अच्छी औरत नहीं है?

"सौ में शायद कोई एक! शायद वह भी नहीं! फिर प्रयोग के लिए तो रास्ता खुला है।" (पृष्ठ-२९१)

उपर्युक्त उद्धरणों से यह बात स्पष्ट है कि लेखक का संवाद-कौशल यथार्थ-मूलक है। बम्बइया हिन्दी के प्रयोग में लेखक उतना ही पटु है, जितना कि 'रेणु' या नागार्जुन बिहारी के। उपर्युक्त संवाद पात्र की मानसिक स्थिति के शुचि दर्पण हैं।

'सागर, लहरें और मनुष्य' को हम वातावरण-प्रधान उपन्यास कह सकते हैं। प्रारम्भ में ही लेखक ने समुद्र के ज्वार-भाटे का सजीव वर्णन प्रस्तुत किया है। माणिक के सामुद्रिक अभियान-विवरण में भी काफ़ी रोमांच, कौतूहल-निर्वाह और रोचकता है। इसे पढ़कर हमें अर्नेस्ट हेमिंग्वे के 'सागर और मनुष्य' के नायक की याद हो आई, पर माणिक और उसमें ज़मीन-आसमान का अन्तर है। बूढ़े का जीवट और माणिक का छल-छद्ममय व्यक्तित्व एक पासंग पर नहीं बैठ सकते। सामुद्रिक-वर्णन की दृष्टि से भट्टजी ने एक नये क्षितिज का ही उद्घाटन किया है।

"हवा आँधी बन गई थी आँधी झंझा। आकाश के एक किनारे से दूसरे किनारे तक गड़गड़ाहट के साथ बिजली कौंध जाती, उससे लगता था जैसे समुद्र और आसमान एक हो गए हैं।" (पृष्ठ—१०-११)

"समुद्र में खलबली-सी मच गई। जैसे सारे समुद्र को आँधी की विशाल मथानी से कोई मथे डाल रहा हो। आकाश को घने बादलों ने ढक लिया लगता था, जैसे

हमारे ऊपर एक नया सागर उमड़ रहा हो। लहरें उछल-उछलकर 'मचवे' की पट्टियों से टकरातीं अपने क्रोधी मुख से झाग फेंकने लगीं। लहरों को देखकर मालूम होता था जैसे पहाड़ दूर से उड़कर चले आ रहे हों। उस समय हवा की रफ़्तार कम-से-कम डेढ़ सौ मील प्रति घण्टा होगी।" (पृष्ठ—४६)

इस प्रकार के वर्णनों से उपन्यास भरा पड़ा है। जब मच्छीमारों के जीवन को अभिव्यक्ति देनी थी, तो यह स्वाभाविक ही था कि समुद्र अपने दोनों रूपों में—सौम्य और रौद्र—प्रकट हो और पाठक के कौतूहल को एक नये चित्रफलक का आधार दे। इसी दृष्टि से 'कथा के तत्व' के एक निबन्ध में डॉ० देवराज उपाध्याय आलोच्य उपन्यास की प्रथम उपलब्धि मानते हैं : (१) हिन्दी कथा-साहित्य की सामुद्रिक यात्रा, जो आगे चलकर अनेक यात्राओं, हवाई यात्रा इत्यादि का मार्ग प्रशस्त कर सकती है।" (कथा के तत्व : पृष्ठ २०६)

मच्छीमारो की बस्ती बरसोवा के भी अनेक सचित्र-सटीक वर्णन उपन्यास में बिखरे पड़े हैं। मछलियों का वर्गीकरण, उनका सुखाया जाना, उनके काँटे निकालना आदि कितनी ही बातें हैं, जो स्थानीय रंग (लोकल कलर) की दृष्टि से बड़ी मार्के की सिद्ध हुई हैं। इसके अतिरिक्त क्वारंटीन, जहाँ दुर्गा को इलाज के लिये भर्ती किया गया था, का भी बड़ा सजीव वर्णन प्रस्तुत उपनयास में मिलता है। मृत्यु की विभीषिका, शवों का सफ़ेद कपड़ों में लिपटा होना, सम्बन्धियों की आतुरता-भरी प्रतीक्षा के संश्लिष्ट चित्र निश्चय ही बड़े प्रभावकारी हैं। अन्त में डॉ० पांडुरंग के नेत्र-क्लीनिक का भी, जहाँ उपन्यास की नायिका रत्ना, अन्तिम आश्रय पाती है, बड़ा सजीव एवं हृदयस्पर्शी वर्णन है। क्रिया-रत (मैन-इन-एक्शन) मानवों एवं नारियों के आधिक्य के कारण अनुचिन्तन-रत (मैन-इन-कन्टैम्पलेशन) व्यक्तियों के दर्शन प्रस्तुत उपन्यास में दुर्लभ हैं, फिर भी रत्ना, दुर्गा, बंशी और सारिका, जो कि नारी-जीवन के विभिन्न पक्षों का प्रतिनिधित्व करती हैं, अधिक विचारशील रूप में चित्रित की गई हैं। इनमें नारी-मनोविज्ञान का नितान्त अभाव भी नहीं कहा जा सकता, जैसा कि डॉ० देवराज उपाध्याय प्रस्तुत उपन्यास के सन्दर्भ में सोचते हैं। मेरे विचार में इस प्रकार के उपन्यासों से हमें इस प्रकार की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

आलोच्य उपन्यास की भाषा-शैली के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि आँचलिकता की आड़ में स्थानीय बोली खुलकर खेली है। यही कारण है कि अनेक बार लेखक को अपनी बात स्पष्ट करने के लिए कोष्ठकों में हिन्दी पर्याय देने पड़े हैं। इन कोष्ठक-पर्यायों से जहाँ कुछ स्थलों पर पाठक को उद्‌बुद्ध संकेत मिलते हैं, वहाँ कई स्थानों पर इस प्रकार के शब्द-बाहुल्य से वह थोड़ा उकता भी सकता है। कहीं-कहीं इससे कथा की प्रशान्त धारा में अवरोध की सृष्टि हुई है। मुहावरों के जीवन्त प्रयोग ने भट्टजी की लेखन-शैली में चार चाँद लगा दिये हैं। जहाँ लेखक अपनी ओर से कुछ कहता है, वहाँ साहित्यिकता और कहीं-कहीं सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के भी दर्शन होते हैं। अपने कथन की पुष्टि में, मैं निम्न उदाहरण देना चाहूँगा :—

१—उसे लगा उसने दुर्गा के साथ अब तक बड़ा अन्याय किया है। क्या

इतना सुख और कहीं होटल में उसे मिल सकता है ? इस खाने के साथ कितना स्नेह, प्रेम मिला है ! कितनी हमदर्दी छिपी है। माणिक की ज्ञान और विवेचना की जितनी आँखें खुलती जा रही थीं, वैसे ही भीतर की तृप्ति से बाहर की आँखें बन्द हो रही थीं। (पृष्ठ १४४)

२—माणिक मानता था दुर्गा की मौत में उसका ज़रा भी हाथ नहीं था, फिर भी गूगी ने यह सब उसके सिर थोपा तो वह चुप रहा। लेकिन अब भी यह चुड़ैल डंक मारने से बाज़ नहीं आई।......उसके भोले मन में दुर्गा के प्रति जो स्नेह का बीज था, वह सब अब रत्ना के ऊपर उँडेल देने को उसका मन उत्सुक हो उठा। (पृष्ठ १७८)

आलोच्य उपन्यास का उद्देश्य संघर्षशील रत्ना के जीवन का चित्रण करना है और अवान्तर प्रसंग के रूप में मच्छीमारों के जीवन-वैविध्य और समस्याओं को भी लेखक ने सफलतापूर्वक स्पर्श किया है। रत्ना की महत्वाकांक्षाएँ, जिन पर उसकी शिक्षा ने परवान चढ़ा दिया है, उसके संघर्ष को मुखरित करती हैं। वह असन्तुष्ट युवती का प्रतीक भी कही जा सकती है। बरसोवा का राजकुमार यशवन्त उसकी आँखों में नहीं चढ़ता, माणिक और धीरूवाला से वह छली जाती है, अन्ततः डॉ० पांडुरंग के सान्निध्य में उसकी महत्वाकांक्षाओं की परिपूर्ति होती है, जो कि उसके 'कलुष' को आच्छन्न कर पत्नीत्व का गौरव प्रदान करता है। अन्तिम चित्र के रूप में निम्न-लिखित पंक्ति बड़ी मार्मिक एवं व्यंजनाशील बन पड़ी है :

"मोहग्रस्त रत्ना डॉक्टर के उड़ते हुए बालों से अपने सपने बुनने लगी।"
(पृष्ठ—३१६)

डॉक्टर का उसके प्रति औदार्य विस्मयकारी है, सम्भवतः वह स्वयं भुक्तभोगी होने के कारण रत्ना की पीड़ा को पहचान सका है। घर्षिता, अपमानिता एवं अदम्य आत्मविश्वास से छलकती हुई रत्ना डॉक्टर के स्नेहांचल में अपना 'चिरकाम्य' पाती है। जहाँ लेखक ने रत्ना के घनीभूत संघर्षों को मुखर वाणी प्रदान की है, वहीं उसके शिक्षा-जीवन की ओर केवल अस्फुट संकेत किये हैं। यह प्रकरण केवल सूच्य ही रहा है, इसे लेखक पुनर्निर्मित नहीं कर सका। रत्ना के द्वैत के माध्यम से लेखक निम्न-मध्यवर्गीय नारी के अन्तःसंघर्ष को अभिव्यक्त करने में जहाँ सफल हुआ है, वहीं वह धीरूवाला जैसे मगरमच्छों, सेठ और सेठानी-जैसे निहित स्वार्थों को भी हल्के हाथ से स्पर्श कर सका है। ये प्रकरण कुछ अधिक विस्तार की अपेक्षा रखते थे, पर लेखक ने इन्हें चलताऊ रूप में ही छुआ है। उपन्यास के विस्तृत चित्रफलक में इनका विद्रूप आनुपातिक रूप से उभर नहीं सका है, भट्टजी की औपन्यासिक प्रतिभा की यही इयत्ता है। फिर भी स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यासों में आलोच्य कृति का एक विशिष्ट स्थान है, यह निर्विवाद रूप में कहा जा सकता है।

डॉ० मक्खनलाल शर्मा

शहर में घूमता आईना

आज उपन्यासलेखक की दृष्टि पाठक को सामने रखकर चलती है। 'अश्क' पर भी यह मान्यता लागू है। उन्होंने उपन्यास के समर्पण में इसे स्वीकार किया है—

"जो लोग सब-कुछ लेकर पैदा हुए हैं, अथवा कुछ भी नहीं ले सकते, उनके लिए इस उपन्यास में बहुत-कुछ नहीं है। यह केवल बीच के लोगों के लिए है, (जिनमें कि लेखक अपने-आपको भी मानता है।) और उसने पाया है कि अधिकांश पाठक उसी कोटि में आते हैं।"

इन पंक्तियों से दो बातें सामने आती हैं। पहली बात तो यह कि मध्यवर्गीय लेखक ने अपने वर्ग की अनुभूतियों का वर्णन अपने ही वर्ग के पाठकों के लिए किया है और दूसरी यह कि यथार्थवादी होने के साथ-ही-साथ यह सोद्देश्य रचना है। किन्तु यह दूसरी विशेषता ही इस उपन्यास की कमज़ोरी भी बन गई है। लेखक ने दावा तो यह किया है कि अच्छी कलाकृति सीधे-सीधे नहीं सिखाती (अर्थात् यह अच्छी कला-कृति है, इसमें सीख परोक्ष है और कथा ही प्रमुख है।) जो ठीक भी है, किन्तु यह बात इस उपन्यास के प्रसंग में अधिक संगत नहीं है। उद्देश्य परोक्ष न रहकर प्रत्यक्ष आ-आकर पाठकों के सामने अड़ता रहा है। उसने अनेक बार काशी की तंग गलियों में अड़े साँड़ों के समान नवलकथा का प्रवाह अवरुद्ध किया है। संभवतः उपन्यासकार को विश्वास नहीं है अपने पाठकों पर; इसीलिए बार-बार उसे अपनी बात खुलकर कहने को मजबूर होना पड़ा है। संभवतः इसके मूल में एक अन्तर्विरोध आर्थिक-सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक स्थितियों का संघर्ष है। लेखक दिखाना तो यह चाहता रहा है कि समाज के भीतर और बाहर चलने वाले अर्थ-सम्बन्धाधारित चेतना-प्रवाहों को विभिन्न स्थितियों तथा पात्रों की सीमाओं में इस उपन्यास द्वारा देखा जा सकता है, किन्तु उन्हें सजीवता प्रदान करने के लिए जिस व्यक्ति-निष्ठा तथा वैयक्तिक विशेषताओं की गहरी सूझ की आवश्यकता होती है, उसका काम यौन-कुण्ठाओं, विकृत अहं, हीन ग्रन्थियों तथा असाधारण मनोदशाओं वाले पात्रों के चित्रण से लिया गया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि आर्थिक-सामाजिक तत्त्व निष्क्रिय और आरोपित बन गए हैं तथा व्यक्ति-चेतना उनसे असम्बन्धित बनकर मनोवैज्ञानिक ग्रन्थियों का परिणाम सिद्ध हो गई है। सम्भवतः उपन्यासकार को स्वयं भी बीच-बीच में इसका अहसास होता रहा है और वह अपने घोषित उद्देश्य का औचित्य सिद्ध करने के लिए ही प्रयत्नपूर्वक बार-बार सामने आकर जो चेष्टाएँ करता है, उन्होंने इस उपन्यास की शक्ति और कम की है।

परिवेश को सामाजिकता की पृष्ठभूमि तो दी गई है, किन्तु यह विशेषता केवल आरोपित है, वर्णित है, सप्रयास है और वायवी है। पात्रों की रूप-रचना में इसका जो योग होना चाहिए, नहीं है। 'चेतन' वह आईना है जिसके द्वारा हमें

जालन्धर का प्रतिबिम्ब दिखाया गया है। यह प्रतिबिम्ब ही उपन्यास का मुख्य धरातल है, किन्तु धरातल का महत्त्व आईने की सापेक्षता में है। आईना 'चेतन' की मनोदशा के रंग में रँगा हुआ तथा घूमनेवाला है। जो दृश्य सामने आते गए हैं, वे चाहे यथार्थवादी हों, अर्थ-सम्बन्धों की विषमता और वर्ग-संघर्ष के परिणाम हों, सामाजिक विकृतियों के उभार पर टिके हों, अथवा शुद्ध फोटोग्राफ़िक प्रतीत होते हैं; किन्तु, उन सबको देखने से पहले यह ध्यान रखना अनिवार्य है कि आईना हीनता तथा काम-ग्रन्थियों से ग्रथित एक ऐसा पात्र है, जो इन दृश्यों को एक असाधारण मनोदशा के क्षणों में ग्रहण करता जा रहा है। जो कुछ उसे ग्रहणशील तथा संवेदनीय लगता है, वह वहीं टिकता है, अन्यत्र नहीं। परिणाम वही होता है जो पहले कहा गया, कि परिवेश की प्रधानता न रहकर आईने की मनोवैज्ञानिकता ही प्रमुख बन जाती है। चित्र की वस्तुनिष्ठता का महत्त्व न होकर, यहाँ तो आईने की विशेषता ही मुख्य है। यह भी कोई बुराई न होती, यदि आईने की मनोवैज्ञानिकता नैष्ठिक अनुभूति से युक्त रही होती। चेतन की वेदना (नीला के प्रसंग में) और हीनताग्रन्थि (कैरियर निर्माण में अमीचन्द आदि की तुलना में) दोनों ही उसे पलायनवादी बनाती हैं। वह आज का 'मध्यवर्गीय शुतुरमुर्ग़' होकर जीता है, जबकि पाठक की आकांक्षा उसे कम-से-कम 'जटायु' के रूप में देखने की होती है, जिसका आश्वासन उपन्यास तथा उपन्यासकार दोनों ने दिया है।

चेतन, जो इस आईने का प्रतीक है, दोहरा प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करता है। दोनों बिम्ब एक-दूसरे से घुल-मिलकर एक रूप धारण करने लगते हैं, किन्तु उनकी व्यंजना गहरी न होने के कारण अभीष्ट-सिद्धि में समर्थ नहीं बन पाती। इतना होने पर भी स्थान-स्थान पर कुछ चित्र अत्यन्त सारवान तथा अपनी सम्पूर्ण मार्मिकता में उभरे हैं। 'बद्दा' के रूप में हमें चेतन की असफलता और असफलता को छिपाकर अपने को सन्तुष्ट कर लेने की वृत्ति ही नहीं दिखाई देती है वरन् समाज का एक वृहद् अंश 'बद्दे' में अपना प्रतिनिधित्व पा जाने के कारण उसके चरित्र पर हँसता हुआ भी उससे सहानुभूति रखनें को मजबूर होता है। आज सभी कहीं-न-कहीं 'बद्दे' हैं। यदि 'बद्दा'-जैसे चरित्रों को समझें तो कहना पड़ता है कि आज के युग को इन्हीं पात्रों के माध्यम से उसकी सापेक्षिक समग्रता में प्रस्तुत किया जा सकता है। यह चित्र यद्यपि यथार्थवादी है तथा विशेष परिस्थितियों वाले विशेष पात्र को समुपस्थित करता है, किन्तु, चित्र एकांगिता की सीमा पर स्थित है। चित्र का बाह्य रूप ही सामने आता है, उसका आन्तरिक ऊहापोह अदृश्य रहता है।

इस उपन्यास में कोई भी Positive पात्र नहीं है। 'अनन्त' की प्रशंसा डॉ० बच्चनसिंह ने इसलिए की है कि वह व्यंग्य कर सकता है, तथा समाज के पाखंड की पोल खोल देता है, किन्तु वह भी निषेधात्मक दृष्टिकोण की सीमा में आबद्ध है। उसमें भी हमें यथार्थ को जीते समय किसी उच्च आदर्श की आकांक्षा से उत्पन्न प्रतिक्रिया के दर्शन नहीं होते हैं। यथार्थवाद में केवल वर्तमान का अंकन नहीं होता। वर्तमान क्षण अपने भूतक्षण की अगली कड़ी है जो उसकी स्थिति को निर्धारित करता

है तथा वर्तमान के गर्भ में ही भविष्य के क्षण का बीज निहित है, जो आगे चलकर पल्लवित होगा। अतः वर्तमान का अंकन कभी भी केवल वर्तमान न होकर भूत और भविष्य भी होता है। उपन्यासकार को इसका ध्यान रखकर चलना होता है। खेद है इस उपन्यास के पात्रों का अंकन यह आभास नहीं दे पाता है। यथार्थ का व्यंग्यात्मक अंकन इस उपन्यास की विशेषता मानी जा सकती है। 'अनन्त' ही व्यंग्यात्मक शैली-प्रयोग द्वारा पात्र और स्थितियों की असंगतियों को दिग्दर्शित नहीं कराता, वरन् उपन्यासकार भी जब पाठकों के सामने आकर महल्लों, गलियों, घरों और उनके निवासियों का चित्र देता है तो समाज-व्यवस्था पर व्यंग्य करता चलता है। निम्न पंक्तियाँ इसे सिद्ध कर सकती हैं:—

"गली खोसलियाँ के बाद बाईं ओर को एक मकान था, जिसमें दो परिवार रहते थे। एक विधवा थी, जिसके पाँच लड़के थे। चूँकि विधवा बड़ी लड़ाकी थी, इसलिए महल्ले वाले उसे 'गीदड़ी' और उसके बच्चों को 'गीदड़ी के बच्चे' कहते थे। दूसरी विधवा सधवा थी। बहुत बड़े घर की थी, पुनर्विवाह के बाद इस महल्ले में आ गई थी; पढ़ी-लिखी थी; गला बड़ा सुरीला पाया था; काला रंग था, इसलिए 'कोयल' कहलाती थी।"

इस भूगोल को फोटोग्राफिक मात्र नहीं कहा जा सकता। इसमें समाजदशा, व्यक्तियों की मान्यताएँ एवं प्रतिक्रियाएँ तथा कल के बनने वाले समाज के तत्त्वों की ओर स्पष्ट इंगित है, किन्तु व्यंजना उतनी तीव्र तथा मार्मिक नहीं है जो इस चित्रण को गोर्की की 'माँ' की कोटि को पहुँचा दे।

१९६३ का भारतवर्ष (इसी साल यह उपन्यास प्रकाशित हुआ है।) अपने निकट अतीत से बहुत बदल गया है और समकालीन विश्व के बहुत निकट आया है। अपने निकट अतीत (स्वातंत्र्य-आन्दोलन-काल) के गौरव को ही उसने खोया होता, उस काल का त्याग, बलिदान, उत्साह, देशभक्ति, चरित्रनिष्ठा तथा समाजसेवा आदि की भावनाएँ ही त्यागी होतीं, तो विशेष हानि नहीं थी, किन्तु आज की सर्वाधिक हानि यह है कि हमने पाश्चात्य (विशेषतः अमेरिकी) जीवन की हीनताओं तथा त्याज्य दुर्बलताओं का अन्धानुकरण प्रारम्भ कर दिया है। इससे जो दुर्बलता आई है उससे न केवल इतना कि हमारे हाथों से बदबू आने लगी है, वरन् हमें बदबू का अहसास होना बन्द हो गया है। हम जिस विपन्नता में फँसे हैं, वह कोई बहुत निराशाजनक नहीं है। (उससे यदि हम सही प्रेरणा लें तो उसको कल्याणकारी तत्त्व के रूप में भी ग्रहण कर सकते हैं।) निराशाजनक तो यह है कि हमें अपनी यह स्थिति अश्रेयस्कर नहीं प्रतीत होती है। आज की नयी कविता, नयी कहानी तथा उपन्यास और उनकी पिछलग्गू समीक्षा (उसे वे नयी समीक्षा कहते हैं।) इस दृष्टिकोण की गरिमा का स्तुतिगान भर है। इस मनोदशा को हम 'बद्दे' के चरित्र में रूपायित होते देखते हैं। 'बद्दे' की कमज़ोरी यह है कि जब चेतन उसे बधाई देता है, तो वह उसमें छिपे व्यंग्य को पहचानना नहीं चाहता। वह अपने में ही जीवित है और निरन्तर प्रयासशील है कि दूसरे भी उसी 'खोल' में समाते चले जायँ। 'बद्दा' के समान 'चेतन'

भी मिथ्या प्रतिष्ठा को ओढ़े हुए है, इसीलिए 'अनन्त' के समान उसका पर्दाफ़ाश करने का साहस उसमें नहीं है। 'वद्दे' के समान 'चेतन' भी प्रतिद्वन्द्वितापूर्ण समाज के ताने-बाने में उलझा हुआ है। वह किसी भी प्रकार प्रतिद्वन्द्विता में टिका रहकर सफल होने के प्रयास में मिथ्या पद्धतियाँ अपनाता चला जाता है।

विशिष्ट मध्यवर्गीय शिक्षित के समान चेतन संवेदनशील बनना जानता है और कुछ समीक्षकों को ऐसा होने का धोखा भी दे देता है; किन्तु, वह केवल लेना जानता है, देने के नाम पर दर्शन देने में भी उसे संकोच है। नीला के शगुन देने से भी कतराता है। 'शेखर' के समान वह क्लीव तो है, किन्तु बौद्धिक नहीं। समाज की परम्पराओं को तोड़ने की बात उसके मस्तिष्क में आती है—अथवा बौद्धिक बनने के लिए उसका चेतन मस्तिष्क उसे ऐसा सोचने को मजबूर करता है, किन्तु कायरता उसे निष्क्रिय बनाती है। सामाजिक प्रतिष्ठा का मोह ही उसे संचालित रखता है। पत्नी के प्रति, नीला के प्रति, परिवार के साथ सभी जगह उसकी सक्रियता (जो अत्यन्त सीमित है) इसी मोह का परिणाम कही जा सकती है।

चेतन, मध्यवर्ग, जालन्धर, पंजाब, भारत तथा एक विचित्र स्थिति वाले आज के विश्व का आईना है, जो देख और दिखा रहा है; क्योंकि इसके बिना वह रह नहीं सकता है। यदि उसके सामने यह मजबूरी न होती, तो वह निश्चित ही औंधा मुँह करके अपने में सिमटा पड़ा रहता। 'रामदित्ता' के साथ मिलाकर देखें तो प्रश्न अधिक सुलझे रूप में हमारे सामने आ जाता है। 'वद्दे' के साथ-साथ 'रामदित्ता' भी अतृप्त यौन-कुण्ठाओं तथा बौद्धिक दृष्टि से अपने को श्रेष्ठ सिद्ध करने की प्रतियोगात्मक भावनाओं का प्रतीक है। इनके माध्यम से हम 'चेतन' के इन रूपों का दर्शन पाते हैं। आज का 'चेतन' इस 'चेतन' के समान यौन और अर्थ की विकृतियों का शिकार है। उसकी मुख्य समस्या अपने से संघर्ष करने की है। एक ओर उसका अहं है और दूसरी ओर उसकी प्राकृतिक माँगें हैं। प्राकृतिक माँगों को वह झुठलाने का प्रयास करता चला जाता है, किन्तु उसका वैयक्तिक अहं इतना विस्तृत नहीं है कि वह इस विष को पचा सके; और इसका कारण यह है कि उसे अपने अहं को सामाजिक अहं के साथ जोड़ने में सफलता नहीं मिल रही है। उसकी वृत्ति समस्याओं के वाह्य-रूप से परिचित होकर रह जाने की है। वह अपने मित्र के रूप में उन पर हँस सकता है (यद्यपि यह भी है उसके लिए बहुत कठिन), किन्तु, उनके भीतर के सत्य तक पहुँचने की जिज्ञासा उसमें नहीं है।

पागलों और विपन्नों की अनेक कथाएँ एक-दूसरे से जोड़कर प्रस्तुत करने का जो प्रयास इस उपन्यास में हुआ है, वह सिद्ध करता है कि उपन्यासकार मनोवैज्ञानिक यथार्थ को समाजवादी यथार्थ से अधिक महत्त्वपूर्ण ही नहीं मानता है, वरन् इलाचन्द्र जोशी के समान सामाजिकता का आधार भी अतृप्त यौन-भावना को स्वीकार करता है। इस प्रसंग में उपन्यासकार की एक टिप्पणी प्रस्तुत करना अनुचित न होगा:—

"इस अभावग्रस्त महल्ले में जहाँ अशिक्षा, संस्कृति, भूख और प्यास का राज्य था; जहाँ कई घरों में उमर-भर के भूखे पियासे कुँवारे भरे पड़े थे; अनाचारी, जुआरी,

व्यभिचारी और पागल न हों तो और क्या हों ? क्यों बीमारियाँ पीढ़ी-दर-पीढ़ी यहाँ घर न करें और नसलों को खोखली न बनाती चली जायँ ? कई बार जब कोई कुँवारा काफ़ी उमर गुज़र जाने पर शादी करता था तो वह पहले ही यौन-व्याधियों का शिकार हो चुका होता और कई बार जब किसी युवा रँडुवे की दोबारा शादी न होती तो वह बाद में उन रोगोंका ग्रास बन जाता या विक्षिप्त होकर गली-गली मारा-मारा फिरता।"[१]

जगह-जगह उपन्यासकार ने यह उभारने का प्रयास किया है कि मध्यवर्गीय व्यक्तित्व यौन-तृप्ति तथा महत्त्वपूर्ण बनने की आकांक्षा से परिचालित रहता है। उसकी समग्र क्रियाओं की संचालिका शक्ति उसके अन्तर्मन की यही वृत्तियाँ हैं, फलस्वरूप पात्र-योजना एवं घटना-संयोजन इसी बात के सामने रखकर हुए हैं। आगे बढ़ने वाले व्यक्ति चाहे असफल हकीम दीनानाथ हों, अथवा सदैव 'फ़ेल' हो जाने वाला 'बद्दा', सबकी असफलता का दायित्व उनके अपने भीतर ही दिखाया गया है, जैसे समाज में अथ से इति तक न्याय, समान अवसर आदि का ही बोलबाला है और शोषण तथा सामाजिक विसंगतियाँ उन्हें उद्देश्य-भ्रष्ट नहीं करती हैं—ऐसा सिद्ध किया गया लगता है।

आज़ादी से पहले महात्मा गांधी की धारणा थी कि बिना राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त किए हम सच्चे अर्थ में स्वराज्य की स्थापना नहीं कर सकते हैं, इसलिए राजनीतिक संघर्ष ही हमारे सामने प्रमुख प्रश्न है। उसी प्रकार आज का समाजशास्त्री यदि आँख खोलकर सामाजिक दशा का अध्ययन करे और सोचे कि समाज-परिवर्तन की दशा में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथा मूल प्रश्न क्या है ? तो वह इसी निर्णय पर पहुँचेगा कि जब तक देश में आर्थिक शोषण और सामाजिक अन्याय है, तब तक हम उस लोकतांत्रिक समाजवाद के घोषित उद्देश्य में सफल नहीं हो सकते हैं जो हमारे देश के सर्वोत्तम विचारकों तक का आकर्षण-केन्द्र बना हुआ है। इस सामाजिक अन्याय और शोषण को ही हम व्यक्ति और समाज की समस्त बुराइयों तथा कठिनाइयों के मूल स्रोत के रूप में देखते हैं।

'अश्कजी' सम्भवत: उपर्युक्त बातों से तो असहमत नहीं हैं, किन्तु, अपने उपन्यास की रूप-रचना में इस दृष्टिकोण को रखकर नहीं चल पाए हैं। उनका 'चेतन' अपनी सांली को खोकर एक विशेष मनोदशा में सारी घटनाओं को देखता है—यह विचार ही मूलत: व्यक्तिवादी है—सामाजिक समस्याओं को व्यक्तिवाद के भीतर से देखने का प्रयास है।

इस उपन्यास के सारे पात्रों की रूप-रचना में दो बातें समान रूप से देखी जा सकती हैं—प्रथम तो यह है कि सभी पात्रों की संचालिका शक्ति उनके अपने भीतर है, वे अपने को समझने के लिए ही प्रयत्नशील हैं। दूसरी यह है कि उनके समक्ष कोई सामाजिक प्रश्न अपनी सम्पूर्ण भयंकरता में नहीं उभरता है। जो छुटपुट सामाजिक समस्याएँ उभरी भी हैं तो वे व्यक्तित्व की असंगतियाँ दिखाने भर को; न कि सामाजिक असंगतियों को उनके सम्पूर्ण परिवेशात्मक यथार्थ में प्रस्तुत करने के लिए। फलस्वरूप

१. शहर में घूमता आईना : पृष्ठ ७३।

किसी सामाजिक आदर्श की कल्पना तथा उसके लिए पात्रों का संघर्ष आदि बातें भी उपस्थित नहीं होती हैं।

इस उपन्यास की व्यंग्यात्मक शैली अत्यन्त प्रभावशाली कही जा सकती है। भाषा, पात्र-योजना (यथेष्ट सीमा तक), विवरण, स्थिति-विश्लेषण, कथोपकथन, वातावरण-अंकन, घटना-संयोजन आदि तत्त्वों में इस व्यंग्य-शक्ति को खोजा जा सकता है। इन व्यंग्य-चित्रों में से कतिपय उदाहरण निम्न अवतरणों में हैं —

"चेतन ने देखा, चिराग रंगरेज और मोवड़ फटफेरा खेल रहे थे—यानी उस समय खेलते हुए झगड़ रहे थे—और शेष उनके गिर्द दायरा बनाए बैठे अथवा खड़े थे। इन्हीं में उसने ज्योतिषी दौलतराम को अपनी लम्बी चोटी में गाँठ दिए, नंगे शरीर पर रामनामी ओढ़े और पैरों में खड़ाऊँ पहने बैठे देखा·····चन्दा की बड़ी-बड़ी आँखें मुँदी थीं; रूखे बाल मस्तक पर बिखरे थे, होंठों पर सूखी पपड़ियाँ जमी थीं; गोल-गोल गोथने गाल बन्नों से मुरझाए थे और होंठों के बाएँ कोने पर हलकी-सी लार जमी थी···उसकी आँखों में आँगन की नाली पर अपनी पतली गोरी बाँह बढ़ाए हुए नीला आ जाती है, जिसकी कलाई पर लगी हुई जोंकों ने उसका रक्त चूस लिया है—पहले से दुबली-पतली किंचित् पीली···कुएँ के पास ही चौधरियों का दीसा (जगदीश) बड़ी मूर्खता से मुँह चयारे आते मिल गया···चेतन के सामने शिमले के स्कैण्डलप्वांइट पर अमीचन्द से भेंट का दृश्य घूम गया, जब उसके व्यवहार से लगा था कि रिज़ल्ट निकलने से पहले ही वह डिप्टी हो गया है···रंडी का पूत सौदागर का घोड़ा, खाएगा बहुत चलेगा थोड़ा···इन आठ वर्षों में उसके (हकीम दीनानाथ के) पाँच बच्चे हो चुके थे और न केवल उसका पहलवानों का-सा शरीर दुबला हो गया था, बल्कि उसकी बड़ी-बड़ी मूँछें भी छँटते-छँटते मक्खी-जैसी रह गई थीं। अनन्त कहा करता था कि उसके घर एक बच्चा और हुआ तो उसकी मूँछें सफाचट हो जाएँगी और फिर तो कटाने के लिए सिर्फ कान ही रह जाएँगे···दीनानाथ के पिता ठल्लूराम और चाचा दालचन्द बाकायदा अखाड़े जाते थे। उनके नामों से जिस ढीले-ढालेपन का आभास मिलता था, उसे कम-से-कम शारीरिक रूप से उन्होंने दूर कर दिया था। मँझोला कद, गोरा-गठा बदन, बड़ी-बड़ी आँखें और नीबू टिकाऊ मूँछें—हाँ, मस्तिष्क की बात दूसरी है, पर सुनारों से बुद्धिजीवियों के मस्तिष्क की अपेक्षा भी तो नहीं की जा सकती। दीनानाथ भी कसरत करता था, लेकिन बुद्धि उसने पिता अथवा चाचा की अपेक्षा कुशाग्र पाई थी।···अब वह चाहता है फ्रॉड से पैसा कमाना। अनन्त बोला, फ्रॉड से प्रेक्टिस तो क्या चलेगी? एक दिन जेल में चला जाय तो बड़ी बात नहीं।······"[1] इस प्रकार की शैली ही इस उपन्यास का आधार है।

दीनानाथ के माध्यम से अश्क ने यह दिखाने की चेष्टा की है कि मिथ्या प्रतिष्ठा के पीछे दीनानाथ दौड़ता रहा और उसे उसमें अन्त तक सफलता न मिली। समाज में प्रत्येक व्यक्ति जब तक शारीरिक परिश्रम से बचकर केवल बौद्धिक प्रयास की ओर अग्रसर रहेगा, तब तक वह ईमानदारी, शोषण-मुक्ति और समान अवसर

१. वही; पृष्ठ १३७-३८।

वाली बराबरी की ओर नहीं बढ़ पाएगा। चेतन हो या दीनानाथ, यदि वह सामाजिक मूल्यों को बदलने के लिए आगे आता तो उसका चरित्र इससे बिलकुल भिन्न होता। जिस समाज का यहाँ चित्र दिया है, वह यौन-भुक्खड़ी, दंभियों, बौनों, कायरों, मिथ्याभिमानियों, पलायनवादियों, शोषकों, अनुत्तरदायियों, जनखों, पागलों, दिमागी ऐयाशों, धोखेबाज़ों, जादूगरों तथा अवसरवादियों आदि का है। उनमें कोई भी तो ऐसी नहीं है जो परिस्थिति को उसकी यथार्थ स्थिति में स्वीकार करके आगे बढ़े और संघर्ष का जोखिम उठाए। यदि इसे समाज का एकांगी चित्र कहें तो आशा है, अनुचित न होगा। यदि हम गोर्की के पात्रों से इन पात्रों की तुलना करें तो इनकी ह्रासशीलता आसानी से सिद्ध हो जाती है।

सारे उपन्यास की घटनाएँ जिस धुरी पर घूमती हैं वह निम्न पंक्तियों से स्पष्ट है—

"वह (चेतन) तो चाहता था कहीं ऐसी जगह जाए, जहाँ उसका मन नीला के विरह, अपनी पीड़ा, अमीचन्द की डिप्टी-कलक्टरी और उसके सन्दर्भ में अपनी हीनता के अहसास को एकदम भूल जाय।"

उपन्यासकार अथ से इति तक इसी धुरी पर घटनाचक्र तथा पात्रों को घुमाता रहा है। इस अंकन को सजीव बनाने तथा 'मिथ्या का भ्रम' उत्पन्न करने के लिए आवश्यक था कि परिवेश का यथार्थवादी चित्र दिया जाता। कुछ पात्र जो इस उद्देश्य से प्रेरित होकर अपना क्षणिक परिचय देकर अदृश्य हो जाते हैं, अधिक विश्वसनीय तथा व्यावहारिक हैं। वे जीवन को अधिक व्यावहारिक रूप में ग्रहण करके सन्तुलित दृष्टिकोण अपनाते-से लगते हैं। उनसे यह सम्भावना हो सकती है कि यदि उन्हें अधिक अवसर मिलता तो वे सत्य को उसकी अधिकाधिक समग्रता में पकड़ सकते थे।

यदि इसे दुःसाहस न माना जाए तो एक बार यशपाल के 'झूठा सच' को सामने रखकर इस उपन्यास पर विचार करना आवश्यक लगता है। नारी के सम्बन्ध में अश्क की धारणा है—

"जाने नियति ने उसके भाल पर नीला का भाग्य लिखा है, या चन्दा का? …क्योंकि इससे अलग भाग्य निम्न-मध्यवर्ग की लड़कियों का नहीं है। जाने कब होगा? शायद तब, जब वे सचमुच आज़ाद होंगी और भेड़-बकरियों की अपेक्षा उनकी स्थिति भिन्न होगी। एक झटका—एक पुरज़ोर झटका और निम्न-मध्यवर्ग को इस तंग घेरे में बाँध रखनेवाली दीवारें ढह जायँगी।"[१]

नारी पात्र-रचना में अश्क का दृष्टिकोण इस सीमा के भीतर घूमता रहा है, अतः उनके समस्त नारी पात्र इस सीमा के उदाहरण बनकर पीछे हट जाते हैं। प्रत्येक नारी उपन्यासकार द्वारा उसके चारों ओर खींची हुई लक्ष्मण-रेखा से घिरी रहने के कारण परवश होकर जीती है। उसकी यह सीमारेखा एक हद तक स्वीकार भी की जा सकती है, किन्तु उसे कोई भी पाठक नहीं हजम कर पाता कि उसके मन में इस स्थिति से कोई असन्तोष उत्पन्न नहीं होता है। वह परिस्थितियों से जूझने की बात भी नहीं सोच पाती है। यह आश्चर्यजनक है कि इस समस्त परिवेश में एक भी नारी तो ऐसी नहीं है, जो खुलकर सामने आने का साहस दिखा सके (और यदि कोई ऐसी

१. वही, पृष्ठ १२४।

रही होती तो उपन्यासकार का ध्यान उसकी ओर अवश्य गया होता)। असाधारण मनोवृत्ति वाली नारियाँ कुछ भिन्न दिखाई देती हैं, जिन्हें देखकर और निराशा होती है।

यशपाल के 'झूठा-सच' की नारी इससे भिन्न है। वह चरित्रहीन पति से संघर्ष करती है। चली आती हुई मान्यताओं से जब उसे कार्य चलता दिखाई नहीं देता तो वह बदलते हुए समाज के नए कानूनों की सहायता लेती है। विभाजन की मारी मर नहीं जाती, जूझती हुई अपना भाग्य बनाती है। साहस के साथ आगे बढ़ती हुई वीभत्स वर्तमान को बदलने में समर्थ सिद्ध होती है। यह महत्त्वपूर्ण नहीं है कि वह भविष्य को अपने अनुकूल बना लेती है; महत्त्वपूर्ण तो यह है कि वह आस्थावान है और आस्था रखकर संघर्षरत होती है। क्या ही अच्छा होता, अश्क ने ऐसे एक भी पात्र का दर्शन जालंधर के सारे समाज में किया होता। यह हो नहीं सकता कि वहाँ कोई उचित साधनों का उपयोग करके संघर्ष न कर रहा हो।

यह सब न दिखा पाने का कारण है चेतन के माध्यम से उपन्यासकार का यह सोचना कि "लोग अपने गम से सन्तुष्ट हैं। दुःख को अनिवार्य जान, हथियार डालकर वे अपनी नियति को निर्विकार रूप से स्वीकार कर लेना ही श्रेयष्कर समझते हैं।...."[1]

अन्त में, शैली-शिल्प के सम्बन्ध में एक बात कहनी है। कुछ समीक्षकों ने इसे उपन्यास नहीं माना है, कहानियों का संकलन मात्र कहा है। उनका आरोप है कि इसमें उस प्रभावान्विति का अभाव है जो किसी कृति को उपन्यास की संज्ञा दिलाती है। इस सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि प्रत्येक श्रेष्ठ उपन्यास परम्परा से जुड़ा रहकर भी उससे भिन्न होता है। यह भिन्नता सामान्य समीक्षक को चौंकाती है। सम्भवतः यही भिन्नता उसकी श्रेष्ठता का प्रतिपादन है। विवेच्य उपन्यास की शैली नवीन है और यही उसकी विशेषता तथा शक्तिमत्ता है। अनेक पात्र, अनेक स्थितियाँ, अनेक घटनाएँ, अनेक गलियाँ तथा मुहल्ले, अतीत और वर्तमान इसी शिल्प से जुड़ सकते थे और जुड़े हुए हैं। उपन्यास के क्षेत्र में इसे एक नवीन प्रयोग—सफल प्रयोग कहा जाना चाहिए। यदि उपन्यास मानव-जीवन का चित्र देता है तो उस शिल्प की खोज को, जो उसे उसकी अधिकाधिक पूर्णता तथा वैविध्य में प्रस्तुत करने का प्रयास करे स्तुत्य ही कहा जायगा। इतने अल्पकाल में इतना देखना और दिखाना इस 'आईने' की सफलता है। इसमें ऐतिहासिक, आत्मकथात्मक, विवरणात्मक आदि परम्परा-प्राप्त पद्धतियों का ही नहीं, वरन् रिपोर्ताज, संस्मरण, रेखाचित्र, डॉकुमेण्ट्री, दिवास्वप्न, पूर्वस्मृति, फ्लैश बैक, प्रतीकात्मक आदि अनेक नव्यतम शैलियों का भी आवश्यकतानुसार प्रयोग है। इससे उपन्यास का क्षितिज तो विकसित हुआ है और सम्भावनाएँ बढ़ी हैं, किन्तु पाठक को सत्यशोधन की दिशा में अधिक प्रेरणा नहीं मिलती है। सब मिलाकर उपन्यासकार को बधाई देना उचित होगा।

१. वही, पृष्ठ १२१।

गोविंद रजनीश

'कब तक पुकारूँ'

'मुर्दों का टीला' के उपरान्त रांगेय राघव का सर्वाधिक चर्चित और लोकप्रिय उपन्यास 'कब तक पुकारूँ' है। रांगेय राघव के समूचे कृतित्व के खौफनाक हादसे ने इस कृति पर सत्यापेक्षित समीक्षा-मुलम्मा चढ़ने से कुण्ठित कर दिया। आज यह अपेक्षित है कि नये आयामों में इस कृति का पुनर्मूल्यांकन किया जाए।

: १ :

'कब तक पुकारूँ' की आंचलिकता पर हास्यास्पद निष्कर्ष, विभिन्न शोध-ग्रन्थों एवं इतर समीक्षात्मक निबन्धों में दिये गए हैं। आंचलिकता, जिसकी संज्ञा किसी एक अंचल अथवा क्षेत्र, उसके भाग या किसी गाँव के प्रतिपाद्य या विवेच्य सामग्री से दी जा सकती है, उस प्रदेश या अंचल के रीति-रिवाजों, लोकाचारों, परिवेश-सज्जा, प्राकृतिक परिपार्श्व, नैतिक-सामाजिक मान्यताएँ आदि तत्त्वों से समन्वित होती है।

राजस्थान और ब्रज प्रदेश के सीमान्त पर बसा हुआ वैर नामक ग्राम और उसके परिवेश में खानाबदोश जीवनयापन करने वाले जरायमपेशा नट ही 'कब तक पुकारूँ' की कथा के उपजीव्य रहे हैं। आज झील भी वहीं है, अधूरा किला भी, करनटों के डेरे भी। यहाँ तक कि आज से चार वर्ष पूर्व कथानायक सुखराम भी जीवित था। इन करनटों के लोक-जीवन, लोकगीतों, आचार-विचार, जनपदीय संस्कृति, उनके मध्यकालीन अन्धविश्वास, भाषा, सामाजिक भीरुता और शोषण, अनैतिकता आदि का वर्णन आंचलिकता का अंश है। इन जरायमपेशा करनटों में यौन स्वच्छन्दता है। उनकी स्त्रियाँ परायों के साथ रात काटती हैं। 'सेक्स' के आधार पर उनके यहाँ कोई बुराई नहीं। पुलिस और उच्चवर्ग द्वारा भोग्या होने पर उनका कथन होता है 'औरत का काम तो औरत को ही करना पड़ता है।' इन्हीं करनटों के समाज का प्रतिबिम्ब 'कब तक पुकारूँ' में है।

रांगेय राघव की आंचलिकता बिछलती है, जबकि नृतत्व-शास्त्र का ज्ञान उस पर हावी हो जाता है। सुखराम ने उस कथा को 'भय्याजी' (रांगेय राघव) को जड़ी-बूटी के साथ ही नहीं पिलाया, अपितु रांगेय राघव ने न जाने कितनी शामें उनके रीति-रिवाज, व्यवहार और संस्कृति के अध्ययनार्थ फुलवाड़ी में पड़े उनके तम्बुओं के पास व्यतीत की थीं। यही कारण है कि 'कब तक पुकारूँ' का वह सशक्त माहौल प्रत्यक्षानुभूति की गहरी पर्तों पर उतरता चला गया है।

भाषा, उस आंचलिकता की सबल अभिव्यक्ति रही है। उस भाषा में जहाँ एक ओर प्रेमचन्द की भाषा की तरह स्वाभाविकता है, दूसरी ओर करनटों की समीपी भाषा का गहन-बोध। लेखक के स्वयं के उद्बोदन को छोड़कर, शेष भाषा खड़ी बोली की ओर किंचित् कोण बनाती हुई विकृत ब्रज भाषा है, जिसमें ब्रज की ओकारान्त संज्ञाएँ भी हैं। ण के स्थान न और ष तथा श के स्थान पर स का प्रयोग भी, जिसमें

जुआरा, ढांढौनों, गचक, जापा, छेंड, सिलिया, पारसा, दारी, धुकाए, लुगाई, बैय्यर, दौच, मुड्ड, दासा, किच्चा, कण्टान, गाँस, मलूक, मट्ठ, साँसत जैसे देशज हैं तो परजा, सुपना, जोबन कोसिस, आसिक, नैक, दगरा, बामन, सौंक, मसामूंद, परार्थना, मनी, जगार, सूका, न्याब, चामड़, औतार, डौर, डांगर, बनैनी, ढुबाई, सरग जैसे विकृत और तद्भव शब्द हैं। विदेशी शब्दों में अंग्रेज़ी और उर्दू के प्रचलित एवं ग्राह्य शब्दों का प्रयोग हुआ है। अपशब्दों में दारी, चमको, चौदिस, साला, भंगी, परमेसुरी, रंडी, नासपीटे, दईमारी, कढ़ीखाया, चुड़ैल, छिनाल, उल्लू का पट्ठा आदि ऐसे शब्द हैं जो ब्रज प्रदेश में प्रचलित हैं। इस भाषा में स्थानीय कहावत और मुहावरों का इतना अधिक प्रयोग हुआ है कि एक कोश तैयार किया जा सकता है।

नाद-व्यंजना के साथ-साथ भाषा में सहज-प्रवाह और एकान्विति का अपूर्व सामंजस्य है। इस भाषा में 'मैला आँचल' की भाँति अनगढ़, नुकीली टौरियों की चुभन नहीं है, यही कारण है कि विवेच्य उपन्यास में भाषा-सम्बन्धी सम्प्रेषणीयता और आंचलिकता अधिक है, यहाँ तक कि इसके प्रतीक और दृष्टान्त भी आंचलिक हैं—"मेरा मन घुमड़ आया था। आज बहुत दिन में वह फिर मेरे पास आ गई थी। आज हम दोनों खेतों के बीच की डौर ढह गई थी और खेतों में ढाने से ढेर-ढेर पानी बहकर इकट्ठा हो रहा था। आज मेरा और उसका प्यार उस गेहूँ की तरह से निकल आया था, जो बैलों के खुरों से दाँय में चिर-चिरकर ऊपर की जाली फाड़कर निकल आता है। अभी तक मैं बाँस पर नाच रहा था और जान के खतरे में झूल रहा था, पर अब मैं उसके पास धरती पर उतर आया था, जहाँ कोई सांसत और जोखम नहीं दिखाई देती थी। आज के बूकरा के बरसाने पर तूरा अलग गेहूँ अलग हो गया था।"

रांगेय राघव शिल्पगत प्रयोगों में अपनी विशिष्टता रखते थे। 'काका' को स्थानीय वातावरण (local colour) में रंगकर, उन्होंने नये प्रयोग को 'कब तक पुकारूँ' में रूपायित किया। अतः यह समझना निर्मूल है कि 'कब तक पुकारूँ' 'मैला आँचल' की लोकप्रियता से अभिभूत होकर लिखा गया था। सम्भवतया ऐसा कहने वालों को यह ज्ञात नहीं है कि 'कब तक पुकारूँ', 'मैला आँचल' से पूर्व लिखा गया था, छपा बाद में था।

इन दोनों उपन्यासों की आंचलिकता में बहुत बड़ा अन्तर कथा-तत्त्व का है। 'मैला आंचल' में जहाँ खण्ड-चित्रों से प्रभाव-ऐक्य और पात्रीय संवेदना उरेहती नहीं है, वहाँ 'कब तक पुकारूँ' की एकान्विति और पात्रीय संवेदना अधिक उजागर है। यह बात दूसरी है कि रांगेय राघव का कथा-गुम्फन उस अहसास को एक झटका देकर विघटित कर देता है।

विवेच्य उपन्यास की आंचलिकता इतिहास, पुरातत्त्व और नृतत्वशास्त्र के ज्ञान से परिपुष्ट तथा कल्पना, अनुभूति और चिन्तन से समन्वित है। एक ओर जहाँ लेखक ने 'कब तक पुकारूँ' में स्वतन्त्रता-पूर्व के सामाजिक, आर्थिक, नैतिक और राजनीतिक परिवेश में नट-जीवन का चित्रण किया है, दूसरी ओर स्वातन्त्र्योत्तर भारत के बदलते मूल्यों में उनके जीवन को आँकने का भी प्रयास किया है।

: २ :

'कब तक पुकारूँ' को किसी भी आयाम में परखने से पूर्व लेखक के स्वयं के परिवेश और उसकी स्थापनाओं को ध्यान में रखना आवश्यक है। इस उपन्यास पर 'गोरखनाथ' के परिप्रेक्ष्य में किये गए मध्यकालीन चिन्तन का प्रभाव है। इसी कारण मध्यकालीन अन्धविश्वास और मान्यताएँ बीच-बीच में मुखर हुई हैं। वह समस्त माहौल पितृसत्तात्मक परिवार का है, जहाँ चन्दन भंगी पाँच बीवियाँ रखता है। वह दिन-भर बैठा रहता है। औरतें मैला साफ़ करती हैं। काम न करने पर वह उन्हें अपशब्द भी कहता है। जहाँ सुखराम दरोगा से बदला लेने के लिए हाँडी चलवाता है। मरघट जगाने के लिए गुह्य साधना, मद्यपान, बलि आदि प्रकरणों को जुटाने का उपक्रम करता है। जहाँ यह विश्वास किया जाता है कि चुड़ैल नंगी होकर अमावस की रात को अंधियारी में जरख पर बैठकर मरघट जाया करती है। जहाँ करनटी अकाल पड़ने पर अपने पति और बच्चे के लिए गाँव में जाकर परायों के संग रातें काटकर कमाकर लाती थी। जहाँ प्यारी कहती है कि कइयों के साथ सोने पर मेरा क्या बिगड़ गया है। जहाँ नट राजा को बाप और भगवान् का 'औतार' मानते हैं। जहाँ माली मन्त्रों से सर्प के विष को थाली पर उतार देता है। ठकुरानी के पुनर्जन्म की कल्पना भी उस मध्यकालीन अन्धविश्वास का ही एक रूप है। ये समस्त विश्वास मध्यकालीन आर्थिक व्यवस्था से नियन्त्रित हैं, जिन पर मध्यकालीन सामन्ती प्रभाव भी है। उस माहौल में चमार, करनट को अपने घर घुसने नहीं देते, परन्तु करनट मेहतर का हुक्का नहीं पीते हैं। मेहतर भी करनटों की पत्तल नहीं उठाते हैं। लेकिन ठाकुर करनटनियों के साथ एक ही प्याले में शराब पीते हैं। उनका उत्तर होता है—हम उनमें लीन हो जाते हैं। भला-बुरा काम करते हैं। लेकिन यौन-परिकल्पनाएँ निस्सन्देह आदिम समाज की हैं।

रांगेय राघव पर दूसरा प्रभाव बाबू देवकीनन्दन खत्री के तिलिस्मी उपन्यासों और 'ऐयाश मुर्दे' में संकलित रहस्य और रोमांच से परिपूर्ण उन कहानियों का जो रांगेय राघव द्वारा अनूदित हुई हैं। अधूरे किले के परिवेश की भयानकता में उपन्यास का प्रारम्भ भय, रोमांच और वीभत्स के साथ होता है। जैसा कि तिलिस्मी उपन्यासों में औत्सुक्यता का तत्त्व पाया जाता है, वह 'कब तक पुकारूँ' के प्रारम्भ में है। झील के माध्यम से जो राह अधूरे किले तक बताई और चित्रित की गई है, वह निश्चित ही 'भूतनाथ' और 'चन्द्रकान्ता' के किसी भी तिलिस्मी मार्ग से कम नहीं है।[1] फिर हड्डियों की ठठरी 'ऐयाश मुर्दे' की कहानियों में वर्णित मुर्दों की ठठरी से भिन्न नहीं है। औत्सुक्यता के प्रशंसक रांगेय राघव अपने उपन्यास में भी उसे अनिवार्य तत्त्व समझ बैठे हैं।

---

१. वस्तुतः इस प्रकार के मार्ग का अस्तित्व उस झील और बावड़ी में होकर कहीं नहीं है। रांगेय राघव का अवचेतन मन बाबू देवकीनन्दन खत्री से अवश्य ही अभिभूत रहा होगा, क्योंकि डॉ० रांगेय राघव लेखन की थकान इन्हीं उपन्यासों को पढ़कर मिटाते थे। उनका कथन था कि कल्पना-वैभव में खत्री से बढ़कर कोई उपन्यासकार नहीं है। 'कब तक पुकारूँ' के पृ० ३१९ पर भूतनाथ' उपन्यास का उल्लेख इस कथन का साक्षी है।

प्रगतिशील विचारधारा का प्रच्छन्न रूप भी कथानक पर छाया हुआ है। एक ओर सामंती व्यवस्था का भूत पुकार रहा है। लहू से जिसकी नींवें तक रंगी हुई हैं। दूसरी ओर करनटों का खानाबदोश समाज है, जो घोर उत्पीड़ित है, जिनकी स्त्रियों को पुलिस की वासना का शिकार होना पड़ता है, जिन्हें अकारण ही बन्दी बना लिया जाता है। बड़ी जाति के लोग जिनसे नाजायज ताल्लुक रखते हैं।

वर्ग-संघर्ष का केवल आर्थिक पहलू प्रस्तुत करना रांगेय राघव का कभी अभीष्ट नहीं रहा। उस प्रगतिवाद में मानवतावाद के वे स्वर हैं जो किसी कृतिकार को संकुचित सीमाओं की परिधि से मुक्त कर वृहत् लक्ष्य की ओर उन्मुख कर देते हैं। रांगेय राघव का यह प्रगतिवादी दृष्टिकोण ध्वंसात्मक न होकर सृजनात्मक है। शोषण के प्रति आक्रोश होते हुए उसकी चरम परिणति मानवतावाद में है—"शोषण की घुटन सदैव नहीं रहेगी। वह मिट जायेगी। सत्य सूर्य है। वह सदैव मेघों से घिरा नहीं रहेगा। मानवता पर से यह बरसात एक दिन अवश्य दूर होगी और तब नई शरद् में नये फूल खिलेंगे, नया आनन्द व्याप्त हो जाएगा।"

रांगेय राघव के स्वयं के परिवेश का एक विचारणीय पक्ष उनका कवित्व भी है। प्रकृति-परिवेश और ग्रामीण अंचल के परिवेश में नयनगोचर, भव्य, संश्लिष्ट चित्र कविजन्य कल्पना से अनुप्रेरित हैं। रांगेय राघव मूलत: कवि थे। उदर-भरण के लिए अन्य विधाओं में रचित साहित्य ने उनकी सजग और स्फुरणशील चेतना को कुण्ठित कर डाला। इसमें कोई सन्देह नहीं कि रांगेय राघव को वर्णन-शक्ति की अद्भुत क्षमता प्राप्त थी। अनेक स्थलों पर लेखक की अतिशय भावुकता और रूमानी प्रकृति इसकी साक्षी है। यही कारण है कि वह स्थल चाहे चमरखोर का हो, चाहे सुखराम के घायल होने पर कजरी का करुण क्रन्दन हो, चाहे रुस्तमखाँ की सुजाक-वेदना का हो, चाहे कजरी और प्यारी का व्यंग्य-विलास हो, सर्वत्र वर्णन-चमत्कार और लेखनी की प्रखरता परिलक्षित होती है। बाँके द्वारा धूपो के साथ किये गए बलात्कार का माहौल और उसके विलाप का जो संवेदनशील वर्णन हुआ है, वह वस्तुत: श्लाघनीय होने के साथ-साथ उपन्यास का श्रेष्ठ अंश है। परन्तु वर्णन करते-करते रांगेयराघव इतने भावुक हो उठते हैं कि अचेतन में परिव्याप्त नाटकीयता से अपने को असम्पृक्त नहीं कर पाते। यही कारण है कि धूपो के विलाप और भीड़-प्रतिक्रिया में अबूझीं, अयाचित नाटकीयता है। कहीं-कहीं संवेदना को इतना गहरा रंग दिया है कि प्रकृति भी संवेदित हो उठती है। धूपो को बलात्कार के लिए विवश कर दिया गया है, उस समय का वर्णन है :—

"अँधियारा और घना हो गया और कोई भी तारा जैसे उसकी पर्तों को हटाने और काटने में असमर्थ हो गया। खेतों में हवा सनसनाने लगी और दूर-दूर तक आकाश में भागती फिरती यातना-सी कर उठती। और फिर जैसे आत्मीयता का चीत्कार करती हुई रोने लगती। उनकी अपनी सत्ता आप लज्जा से डूब रही। कुएँ की उदासी निकलकर अब उसकी जगत पर पड़े चरस में भर गई।"

रुस्तमखाँ के घर में हुए अग्निकांड के वर्णन से पाठकों को पुन: चमत्कृत होना

पड़ता है—"अगर अब कभी भालों की दीवार की तरह सीधी खड़ी हो जाती, और फिर हवा के विरुद्ध अपने हज़ारों हाथों में तलवारें लेकर दाएँ-वाएँ चलाती और कभी-कभी जब हवा कहीं हटने का उपक्रम करती तो तीरों की बौछार की तरह उस जगह टूटती और फिर वहाँ सिंह की भाँति शिकार को फाड़कर उसके लाल-लाल रक्त को बहा देती।"

ऐसे स्थलों पर रांगेय राघव की भाषा प्रसंगानुकूल ओज, माधुर्य और प्रसाद में पैंगें भरने लगती है।"

: ३ :

कथा-संरचना की दृष्टि से रांगेय राघव ने चार पीढ़ियों की कथा को एक साथ समाहित करने का प्रयास किया है। इससे कथानक इतना बोझिल हो गया है कि कथा-सूत्रों में बिखराव आ गया है। जहाँ एक ओर संवेदनात्मक, हृदयग्राही और मार्मिक स्थल हैं, दूसरी ओर अनावश्यक विस्तार से लेखक अपने को बचा नहीं सका है।[1] ६२८ पृष्ठों के इस उपन्यास को यदि ३४७ पृष्ठों में ही समाप्त कर दिया जाता तो कथानक का कसाव मोहक बन जाता। 'चन्दा' के आविर्भाव की ३०० पृष्ठों की जो कथा गढ़ी गई है,[2] वह उपन्यास के ठहराव और शैथिल्य की द्योतक है। लेखक ने जिस क्षिप्रता और विस्फोट के साथ कथा का प्रारम्भ किया है, अन्त तक उसका निर्वाह नहीं कर पाया है।

: ४ :

विवेच्य उपन्यास में त्रिकोणात्मक प्रमुख पात्र-विधान किया गया है। सुखराम, प्यारी और कजरी के चारों ओर कथा घूमती है। सुखराम अपने को अभिजात्य वर्ग का समझता हुआ, अभिजात्य के संस्कारों के अस्तित्व को बनाये रखने का प्रयास करता है। परन्तु परिवेश और संस्कारों के संघर्ष में परिवेश विजयी होता है। कजरी द्वारा भ्रष्ट प्यारी से उसका विवाह हो जाता है। अपने को ठाकुर कहने पर (यह उसकी मानसिक विकृति समझी जाती है) उसे 'नटी का जाया' आदि व्यंग्य-वाणों को सहन करना पड़ता है। परिवेश-जन्य वैषम्य होने पर भी उसकी इच्छा-शक्ति कुण्ठित नहीं होती है। वह लौ उसके हृदय में निरन्तर जलती रहती है। अधूरा किला, मानो उसके कुण्ठित और टूटे हृदय में अभिजात्य गौरव पाने का प्रतीक है। पुलिस, समाज (उच्चवर्ग) और उसके स्वयं का परिवेश वे अवरोध हैं, जिनके प्रति सुखराम के हृदय में तीव्र विद्रोह है, अनास्था है। विद्रोही हृदय की विफलता उसे और भी विकल

१. कजरी-सुखराम, कजरी-प्यारी की चुहल और निस्सार वतियाने में, दीना द्वारा कही गई दीर्घ कथा में और डाकू प्रसंग में यह अनावश्यक विस्तार है।

२. अ—इसके परिपार्श्व में, सम्भवतया, बदलते मूल्यों में करनटीय जीवन को दिखाने का उद्देश्य रहा है। यह भी सम्भव है कि मानवतावादी दृष्टिकोण की व्यंजना को इस कथा-सूत्र को पकड़ना पड़ा हो।

आ—परवर्त्ती कथा के शैथिल्य होने के दो कारण रहे हैं :

(१) एक ही बैठक में उपन्यास की परिसमाप्ति का संकल्प।

(२) अपनी लिखी हुई कृति को दुबारा पढ़ने और चिन्ता न करने की प्रवृत्ति का अभाव।

कर देती है। उसके हृदय की सम्पूर्ण अनिच्छाओं के बावजूद भी जब समाज के प्रतिशोध की प्यासी प्यारी रुस्तमखाँ सिपाही की रखैल बन जाती है तो सुखराम का हृदय टूट जाता है। सुखराम उस टूटने के बाद भी पत्नी का गुलाम नहीं बनना चाहता है। उसके अभिजात्य होने का दंभ बिफर पड़ता है। लाचारी, विवशता और कुण्ठा भी उसके अहं को कुचल नहीं पाते हैं। प्यारी जब उससे कहती है तू नहीं जा सकता, तो सुखराम क्रोध से कहता है—'तो क्या मैं तेरी चाकरी करूँगा हरामज़ादी।' लेकिन परिवेश से कुचला हुआ निरीह सुखराम, प्यारी के सामने हथियार डाल देता है। वह रुस्तमखाँ से कहता है—"सरकार! आप मुझे दो दिन को थाने भेज दो। फिर रहम करके मेरी बोली लगवा दो। रोज़ हाज़िरी दे जाया करूँगा। आपकी भी रह जायगी, प्यारी की भी रह जायगी। सरकार! मुझ पर से भी बोझ उतर जाएगा।"

बघेर से निहत्था लड़नेवाला, डाकुओं को अपनी शक्ति से आक्रान्त करनेवाला, बाँके और उसके बीसों गुण्डों के छक्के छुड़ाने वाला, वीर और निडर सुखराम, समाज, सामन्तवर्ग और पुलिस के सामने भीगी-बिल्ली बन जाता है। अपनी समस्त कमज़ोरियों के बावजूद भी वह मानवतावादी भावनाओं से ओत-प्रोत है। अपने प्रतिद्वन्द्वी रुस्तमखाँ के सूजाक की चिकित्सा, समस्त दुर्भावनाओं के बाद भी प्यारी की चिकित्सा, पशुत्व के उन्नयन के झीने पर्दे को हटाकर प्यारी में देवीत्व के दर्शन, धूपो की रक्षा, कजरी को आश्रय और सूसन की प्राण-रक्षा के मूल में वही भावना निहित है। प्यारी की मृत्यु पर उसका मानसिक आघात उसके तीव्रतम प्रेम का परिचायक है।

प्यारी जिस परिवेश में जन्म लेती है, उसकी समस्त विसंगतियाँ उसके चरित्र का अंग बन जाती हैं। सुखराम से विवाह होने पर भी वह कंजरों के यहाँ पड़ी रहती है, शराब पीती है। दरोगा की भोग्या होने पर वह सुखराम से कहती है—मेरा क्या बिगड़ गया है? उन ठाकुरों से बदला लेने के लिए, जिन्होंने अपना काम साधकर उसे दुअन्नी के स्थान पर इकन्नी प्रदान की थी, उस निरोती ब्राह्मण से प्रतिशोध लेने के लिए, जो अपना काम निकालकर पूरी गुड़ की भेली देने को कहकर मुकर गया था, और हुकूमत करने की उद्दाम लालसा लेकर, वह रुस्तमखाँ की रखैल बन जाती है। उसकी नैतिकता का मापदण्ड है—'नाता जोड़ना और बात है, मन की होकर रहना और बात है।' वह दूसरों से नाता जोड़ती हुई भी सुखराम के मन की होकर रहना चाहती है। उसकी आँखें खुलती हैं, जबकि रुस्तमखाँ को सूजाक का रोग हो जाता है और उसका वास्तविक रूप उसके सामने आ जाता है। कजरी का बढ़ता हुआ अबाध अधिकार भी उसकी आँखों में खटक जाता है। अन्त में कजरी से इतना स्नेह हो जाता है कि उसके लिए पेट में लात खाती है, रुस्तमखाँ से, और इहलीला समाप्त कर देती है।

कजरी भोगायित होते हुए भी, सुखराम से विवाह करने के उपरान्त, पतिनिष्ठ बनने में पूर्ण सफल होती है, यहाँ तक कि बाँके द्वारा सुखराम के घायल होने पर, उसका करुण-क्रन्दन अत्यन्त संवेदनशील हो उठता है। वह बाँके से प्रतिशोध लेने की प्रतिज्ञा करती है, जिसे अन्त में पूर्ण कर लेती है। उसमें नारीसुलभ ईर्ष्या,

पति पर अधिकार की अबाध लालसा, ममता और मोह भी है। सूसन की रक्षा को, गर्भवती होते हुए भी, लारेंस की लात सहती है।

विवेच्य उपन्यास में मानवीय संवेदनाओं को उभारने में रांगेय राघव को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। यथार्थवादी दृष्टिकोण के साथ पैनी सूझ, चिन्तन की गरिमा और लौकिकानुभूति की गरिमा अपने सम्यक् रूप में निखरकर इस उपन्यास में आई हैं। कथा-संरचनाओं के शैथिल्य होने और नाटकीयता से युक्त होने के बाद भी यह उपन्यास ग्रामीण अंचल की अभिव्यक्ति में अपने ढंग का सशक्त और अनूठा उपन्यास है।

डॉ० लक्ष्मीधर मालवीय

यह पथ बंधु था

इस देश के पिछले पचास वर्षों का इतिहास अत्यन्त घटनासंकुल रहा है, हालाँकि इनमें से अधिकतर घटनाएँ राजनीतिक थीं। भले ही यह सम्भव है कि आने वाली पीढ़ियों की दृष्टि में यह काल-खण्ड केवल रोचक घटनाओं का पुंज मात्र माना जाए। हमें इन पचास वर्षों का लेखा-जोखा प्रामाणिक इतिहास-ग्रन्थों में और कदाचित् उससे भी अधिक, राजनेताओं की प्रसिद्ध आत्म-कथाओं में अवश्य मिल सकता है, लेकिन ये कोई भी या सभी दृष्टियाँ एक सामान्य व्यक्ति की दृष्टि से इस समय के सामाजिक इतिहास को रिकार्ड नहीं कर पातीं। अतः श्री नरेश मेहता का लक्ष्य 'यह पथ बंधु था' में 'उस काल के मानव को प्रतीक रूप में प्रस्तुत करना' रहा है। यह कृति, मोटे तौर पर कहें तो, छायावाद-काल के राजनीतिक-सामाजिक परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति-मन का आकलन करती है।

भारतीय स्वभाव के निकट सबसे बड़ा गुण माना गया है—मौन सहनशीलता : चुपचाप झेलते जाना। शायद यह विशेषता इस सीमा तक किसी भी अन्य देश में नहीं पाई जाएगी। क्रमशः यह मौन और सहनशीलता हमारे न केवल स्वभाव और हमारी जीवन-पद्धति का हिस्सा हो गया है बल्कि हमने इसे विराग के रूप में एक दार्शनिक ऊँचाई भी दे दी है। (इस सम्बन्ध में उल्लेख्य श्री अज्ञेय की २६-७-६५ को आकाशवाणी दिल्ली से प्रसारित वार्ता।) पिछले कुछ दशकों का राजनीतिक इतिहास इसी मौन सहनशीलता की बाह्य अभिव्यक्ति है—और भारतीय विभिन्न साहित्यिक क्षेत्रों में छायावादी दृष्टिकोण (कविता नहीं, दृष्टिकोण) उसकी साहित्यिक परिणति या निष्पत्ति! इस मौन सहनशीलता का सबसे अधिक सशक्त रूप में, और विस्तार से, वर्णन किया है श्री नरेश मेहता ने अपने इस उपन्यास 'यह पथ बंधु था' में। उपन्यास को पढ़ते हुए बहुधा तो यह सन्देह होता है कि क्या पात्रों की अपेक्षा इस व्यापक मौन के षड्यन्त्र का चित्रण करना ही उपन्यासकार का प्रमुख लक्ष्य तो नहीं? लेकिन नहीं, उपन्यासकार की दृष्टि में वह प्रासंगिक ही है।

वस्तुतः यह मौन सहते जाने की दारुण यन्त्रणा एक प्रकार से काल का षड्यन्त्र ही है, हालाँकि इस बीच के युग की पीढ़ियों का निर्माण इस मौन सहनशीलता के बारीक तारों से हुआ था और (यदि कोई कह सके कि वे पीढ़ियाँ असफल थीं तो) उसकी असफलता का कारण भी इन्हीं तत्त्वों में निहित था। 'यह पथ बंधु था' में श्रीधर ठाकुर का प्रतीकरूप चरित्र इसका सबसे अच्छा उदाहरण है।

श्रीधर का व्यक्तित्व सदा दूसरों के हाथों आकार पाता है। बाल्यावस्था में श्रीधर का अधिकतर समय आभिजात्य गुणसम्पन्ना इंदु दीदी के पास बीतता है—एक तरह से श्रीधर की मानसिक संरचना में उन्हीं का सबसे प्रमुख हाथ था। श्रीधर सचमुच 'दीदी के आँचल में बँधा बोलता खरगोश' (पृ० १३०) था। शायद उसे जीवन के लिए इतना थोड़ा-सा पाथेय देकर इंदु दीदी ब्याहता हो अपनी ससुराल चली जाती हैं। इसके बाद श्रीधर को पूरा जीवन निःसंग भाव से समय को झेलते जाना है। 'दीदी के जाने के बाद वह चुप्पा ही होता चला गया।' (पृ० १४९) 'अब श्रीधर के लिए दीदी भी क्रमशः दूरागत ध्वनि होती जा रही थीं। दीदी ही उसके लिए घटना थीं और अब वह निश्चय ही घटनाहीन था।' (पृ० १५५) 'सबमें जैसे कोई अज्ञात प्रतीक्षा थी जिसे वे अज्ञात रूप से जिये जा रहे थे।' (पृ० १५९) उसके आसपास अनेक घटनाएँ घटित हुईं, लेकिन जैसे वे घटनाएँ उसके लिए नहीं थीं—इन्दु दीदी विधवा हो गईं, श्रीधर विवाहित हुए, मिडिल पास होकर उसी स्कूल में अध्यापक हो गए और तीन सन्तानों के पिता भी बन गए। लेकिन रहे वे वैसे ही अनिर्णीत—राज्य के इतिहास में श्रीमन्तों को आदरसूचक सम्बोधन देने की अपेक्षा 'कल जब वे त्यागपत्र दे देंगे उसके बाद क्या होगा ? कौन जाने ?' (पृ० १६१) वह इसी मनःस्थिति में एक दिन मुँह-अँधेरे नियतिचालित-से, सिद्धार्थ की तरह पत्नी-बच्चों, माता-पिता, घर-परिवार और अपनी जन्मभूमि छोड़ देते हैं—वह स्वयं नहीं जानते, जाने कब तक के लिए ! उज्जैन पहुँचते हैं, लेकिन वहाँ भी उन्हें लगता है कि 'यहाँ से भी आगे, कहीं दूर जाना होगा। लेकिन कहाँ ?' (पृ० १८१) जाड़े की उस रात को वह स्टेशन की बेंच पर काटते हैं, लेकिन अगली सुबह होते ही गाँव से खोजने के लिए आए किसी व्यक्ति द्वारा देख न लिए जाएँ, इसलिए सामने खड़ी इन्दौर वाली ट्रेन पर चढ़ जाते हैं। इन्दौर में जिस सराय में वह ठहरते हैं उसके सामने से नारे लगाता एक जुलूस गुज़रता है। यह जानकर कि यह स्वराजियों का जुलूस है, श्रीधर बाबू अनायास ही साथ हो लेते हैं। वह बिशन बाबू के सम्पर्क में आते हैं, जो सर्वहारा कोटि के राजनीतिक कार्यकर्ता हैं। वह मज़दूरों के जीवन से भी निकट से परिचित होते हैं—सायंकाल के समय वह मज़दूर बस्ती की पाठशाला में पढ़ाने जाते हैं।

ये घटनाएँ श्रीधर के ऊपर से बिना उस पर कोई छाप छोड़े गुज़रती जाती हैं। श्रीधर अभी से ही बहुत-कुछ निरीह-से व्यक्ति हो गए हैं। बिशन इसका कारण समझता है; वह श्रीधर के साथ घूमते हुए इन्दु के लिए कहता है—'दीदियाँ अपने भाइयों को ऐसा ही बना जाती हैं···अपने जैसा निरीह। जैसा कि श्रीधर है !' (पृ० २३४)

इन्दौर आने के पश्चात् बिशन से भेंट, उसके जीवन में थोड़ा अपने को शामिल

करने के अलावा श्रीधर के यायावरी जीवन की उल्लेख्य-उपलब्धि (!) है मालिनी—दूसरी दीदी ! इससे आगे उपन्यास का बड़ा भाग बिशन, मालिनी और 'दीदीत्व' (पृ० २७८)को अर्पित है। दीदी श्रीधर के ही पास नहीं है, बिशन के पास भी एक है। बिशन आगरा से भागकर इन्दौर आये थे और श्रीधर की ही भाँति लक्ष्यहीन, समय व्यतीत करने के लिए पीपल्या टैंक पर बैठे थे। तभी वहाँ एक स्त्री आई और अँधेरा होने के बाद आत्महत्या करने के लिये ताल में कूद पड़ी। बिशन ने उसकी प्राणरक्षा की। वह वेश्या थी और अपना घृणित जीवन समाप्त करना चाहती थी। बेहोशी टूटने के बाद वह कहती है—'बिशन बाबू, कभी वेश्या का भाई बनने की कामना हो तो यह मालिनी, दीदी बनने को उत्सुक रहेगी।' क्यों नहीं—और वह दीदी बना ली जाती है। कुछ दिनों बाद जब सराफ़ा-बाज़ार से होकर जाते हुए बिशन को मालिनी का नौकर घर बुला ले आता है तो मालिनी उसे भोजन कराती है; 'वेश्या के यहाँ का नहीं खिलाऊँगी। दीदी होकर छोटे भाई का ब्राह्मणत्व नहीं लूँगी।' (पृ० २४८) इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनों की एक-एक दीदियाँ हैं, हालाँकि दोनों दीदियों में अन्तर है, जिसमें 'सबसे बड़ी बात तो यह कि इन्दु श्रीधर की दीदी थी जबकि मालिनी बिशन की दीदी है।' (पृ० २७८) इससे बड़ी बात दूसरी हो भी सकती है। हालाँकि 'सबसे बड़ी बात तो यह' है कि लेखक इस 'दीदीत्व' की संगति, सार्थकता या मात्र-उपयोगिता ही सही, पात्रों के जीवन में कहीं भी स्थापित करने में सफल नहीं हो पाता—यह विशेषकर बिशन-मालिनी के सम्बन्ध में अधिक सही है : यदि मालिनी को कथा से बिलकुल हटा लें तो भी कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता।

यह दीदीवाद पिछली पीढ़ी के लिए एक अनिवार्य-सी मानसिक आवश्यकता बन गई मालूम देती है। वही दीदीवाद इस उपन्यास का एक महत्वपूर्ण अंग है। यह दीदीवाद अन्यत्र भी है। दीदी 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में भी है, लेकिन दृष्टि को मुक्त रखने के कारण खटकती नहीं। दीदीवाद शरत में भी खूब है, लेकिन उसे शरत के पात्रों और बंगाल की मिट्टी की बास का हिस्सा होने के कारण नज़रंदाज़ कर दिया जाता है। लेकिन आधुनिक भावबोध के साथ दीदीवाद की संगति बिठाना कठिन लगता है, इसी कारण समसामयिक भावबोध वाले पाठक को सबसे बड़ी कठिनाई है इस दीदी-वादी दर्शन की कोई, कैसी भी व्याख्या करने की ! मनोविज्ञान की आधुनिक व्याख्याओं के आधार पर इसे किसी एक खाने में डालकर भी चलता नहीं किया जा सकता। जो भी हो, यह तो निश्चित है कि उपन्यासकार द्वारा इच्छित प्रभाव पाठकों तक नहीं पहुँचता है—'क्या यहाँ ऐसे ही हमेशा-हमेशा के लिए हम-तुम नहीं बैठे रह सकते ?' उत्तर में हँसती हुई इन्दु किंचित् ज़ोर से उसके कान उमेठ देती है।' (पृ० १२७) थोड़ी देर बाद—'आज उसे दीदी जैसे बहुत बड़ी लग रही थीं। सम्भवतः पूर्ण युवती। दीदी ने उसे अपने से चिपटाते हुए कहा—क्यों, तेरी दीदी को कहीं किसी के यहाँ जाना नहीं है क्या ?' (पृ० १२८) इसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या में उलझने की आवश्यकता नहीं—क्योंकि आज भी अनेक व्यक्तियों के लिए यह बड़ा 'डेलीकेट' विषय है—परन्तु है यह अवश्य ही एक मनोग्रन्थि—ठीक वैसे ही जैसे एक युवती का अपने युवक प्रेमी को पाँच

वर्ष का बालक मानकर उसका माथा चूम लेने का अस्वाभाविक आवेश ! इस दीदीवाद की परिणति, स्वाभाविक है, सहज नारी को माँ-पद पर लाकर ही होती है—'बिशन रे, किसी जन्म में तुझे अपने पेट से उत्पन्न देखना चाहती हूँ...।' (पृ० २७५) रतना कहती है, 'दीदी ! 'माँ' कहने को मन करता है।' (पृ० ३०२)

बिशन वास्तव में आतंकवादी दल का सदस्य है, यह श्रीधर को बाद में ज्ञात होता है। बिशन ही वह छद्मनामधारी षड्यन्त्रकारी शफ़ीकुल्ला है जिसकी खोज में पुलिस बड़ी सरगर्मी से लगी है। श्रीधर इन्दौर से बाहर जा रहा है, तभी स्टेशन पर अत्यन्त रहस्य-रोमांचक स्थिति में एक लँगड़े भिखारी के छद्मवेश में बिशन से भेंट होती है और वे दोनों लौटते हैं। इन्दौर में बिशन और मालती का विवाह मालती के पिता पुस्तके साहब की इच्छा के विरुद्ध चुपचाप हो जाता है। पुस्तके साहब बिशन पर अपहरण का मुकदमा दायर करते हैं और उसकी गिरफ्तारी का वारंट निकलवाते हैं। अतः बिशन को और उसके साथ श्रीधर को भी इन्दौर छोड़कर बनारस भागने का निर्णय लेना पड़ता है। बनारस आकर बिशन श्रीधर का परिचय अपने दल की एक युवती रतना से कराकर गायब हो जाता है। बाद में रतना से ही श्रीधर को सूचना मिलती है कि बिशन इन्दौर में मालवा हाउस में एक अंग्रेज़ अधिकारी की हत्या करने के प्रयत्न में मारा गया।

बिशन हमें 'पथेरदावी' के सव्यसाची का स्मरण दिलाता है। परन्तु सव्यसाची के लिए क्रान्ति मन-मस्तिष्क में गहरे पैठकर चेतना में ही समाहित हो गया जीवन का एकमात्र लक्ष्य है, लेकिन बिशन के निकट क्रान्ति महज़ एक वक्ती चीज़ है। सभी देशों में आतंकवादियों की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता समान देखी गई है : उनका 'फ़नेटेसिज़्म', यही उनके जीवन में, यही उनके व्यवहार में—लेकिन यह गुण न बिशन में मिलता है और न रतना में। इसी कारण बिशन क्रान्तिकारियों की मुद्रा धारण करते हुए भी उनकी एनिमिक प्रतिच्छवि ही मालूम देता है। यही कारण है कि मालवा हाउस पर आक्रमण करते हुए पुलिस की गोली खाकर उसका प्राण देना बहुत प्रभावित नहीं करता। रतना का क्रान्तिकारी आन्दोलन से सम्पर्क भी संयोग से हो गया था—अपने एक निकटस्थ सम्बन्धी शुभदा द्वारा वह आतंकवादियों के सम्पर्क में आई 'और आज तक क्रान्तिकारी है, निश्चेई' (पृ० ४४२) इसी कारण जब वह आतंकवादी कार्यों से सम्बन्धित होने के कारण फाँसी पाती है तो लगता है कि बेचारी ने व्यर्थ ही जान गँवाई !

श्रीधर के लिए उपलब्ध करने को कुछ नहीं है—प्रभावित तक होने को भी नहीं ! बनारस में वह सात रुपये माहवार पर प्रूफ़रीडरी का काम पाते हैं। फिर एक पत्रिका के अवैतनिक सम्पादक होकर सारे बनारस का पैदल चक्कर काटते फिरते हैं। 'उन्हें न दुख होता है न अपमान होता है, न परिताप होता है—बस वे केवल उन सबको एकान्त में भोगते हैं।' (पृ० ४२७) कांग्रेस आन्दोलन में भाग लेने के कारण उन्हें तीन वर्ष की सजा होती है। जेल से निकलकर वह एक राष्ट्रवादी साप्ताहिक निकालने की योजना तैयार करते हैं और अब उसके लिए पूरे नगर का चक्कर काटते हैं। अब

उन्हें प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि तथाकथित उच्चवर्ग वास्तव में कितनी अधम वृत्ति का है। रतना का एक थैला, जिसमें बम रखा है, रामनगर पहुँचाने की चेष्टा में वह पकड़े जाते हैं और इस बार दस वर्ष जेल के सींखचों के पीछे काटते हैं। जेल से छूटते हैं तो फिर पहले की तरह अजनबी और उखड़े हुए। राष्ट्रीय साप्ताहिक की योजना उन्होंने त्यागी नहीं है। उन्हें एक प्रकाशक मिल जाता है और 'शंखनाद' का प्रवेशांक निकलता है। उसकी प्रतियाँ वह अपने देश, अपने पिता के नाम, नारायणबाबू और गाडगिल हेडमास्टर के नाम भेजते हैं—घर से टूटा सम्पर्क यों पचीसों वर्षों के बाद जुड़ता है। घटनाएँ और तेज़ी से गुज़रती हैं—सन् सैंतीस, महायुद्ध और बयालीस का आन्दोलन। पुराने क्रान्तिकारियों से सम्बद्ध होने कारण कहीं काम नहीं मिलता। घोर आर्थिक संकट और उपेक्षा। वह निर्णय करते हैं, 'घंटों शहतीरें ताकने के बाद···कि घर लौट जाएँगे। यह एक ऐसा निर्णय था जैसे कि आत्महत्या का निर्णय किया हो। लेकिन कई बार आत्महत्या का निर्णय भी तो मनुष्य करता ही है।' (पृ० ५६४) वह घर लौटते हैं। 'इसी कल को होले से निःशब्द बन्द करके एक दिन किननी सवेरे चुपचाप गये थे और आज अपनी समस्त आयु, उत्साह सब-कुछ बाहर को सौंपकर टूटे पराजित व्यक्तित्व के साथ घर लौटकर फिर उसी घर का दरवाज़ा···' (पृ० ५७३)। माता-पिता कभी के दिवंगत हो गए, पुत्री गुणी ससुराल में मिली यन्त्रणाओं से अपाहिज हो घर लौटकर घिसट रही है, पत्नी सरो यक्ष्मा से तिल-तिल घुल रही है। यहाँ भी वह पाते हैं कि राजनीति के लिए वह अनुपयुक्त हैं; वह अपने को सारी सामाजिकताओं से काट लेते हैं। सरो का देहान्त होता है—जो 'बस्ती के इस एकमात्र पथ को साक्षी बना पालकी में बैठकर आई थी···अपनी देह से उत्पन्न प्रजा के बीच उसी पथ से सबको बन्धु बनाकर लौट गई।' (पृ० ५९१) तेरहवीं के बाद छोटी लड़की सुशीला अपनी ससुराल लौट जाती है, सरो के माता-पिता अपाहिज गुणी को अपने साथ ले जाते हैं, पुत्र देवव्रत भी अपनी पढ़ाई पूरी करने उन्हीं के साथ वापस लौट जाता है। अकेले घर में साँझ, कहीं कोई शब्द नहीं। तेज़ बरखा हो रही है। छत टपक रही है। श्रीधर बाबू हाथ में लालटेन लिये पूरे घर में दो हाथ सूखी ज़मीन खोज रहे हैं। वह निर्णय करते हैं कि इस बार वे मनुष्य का इतिहास लिखेंगे। अकेली लालटेन का पीला मद्धिम आलोक और मूसलाधार वृष्टि। वह मनुष्य का इतिहास लिखते हैं।

श्रीधर ही नहीं उपन्यास के अन्य पात्र भी जीवन को आदि से लेकर अन्त तक इसी प्रकार मौन होकर झेलते जाते हैं। पिता श्रीनाथ ठाकुर—इस पीढ़ी से भी पिछली पीढ़ी के व्यक्ति, 'जिनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व, सभी में आवेशहीन शान्ति या असंग भाव ही रहता है' (पृ० ३४६) श्रीधर ने किसी राज्य का इतिहास लिखा श्रीमन्तों को विशेष सम्मानसूचक सम्बोधन अधिकारियों और मित्रों की प्रेरणा पर भी नहीं दिये। वह झुकने के बजाय नौकरी से त्यागपत्र देने का निर्णय करते हैं। पिता श्रीनाथ ठाकुर झूले पर लेटे हुए 'विष्णुसहस्रनाम' का पाठ करते रहते हैं; श्रीधर का निर्णय सुनकर 'पिता एक क्षण को हतप्रभ अवश्य हुए, लेकिन वे पुनः पाठ में लग गए।' (पृ० ३४) श्रीधर के गायब होने पर उनके मित्र नारायण बाबू और पेमेन उन्हें ढूंढ़ने बैजनाथ

जाते हैं; उसे वहाँ न पाकर आधी रात में पिता को खबर करने आते हैं। खोज का परिणाम जानने की 'पता नहीं क्यों पिता ने उत्सुकता नहीं दिखाई।' (पृ० ३१८) यह निर्वेद या उदासीनता नहीं है; यह स्थिति का यथावत मौन-स्वीकार है। सरो के सामने भी मौन-स्वीकार के अतिरिक्त वरण करने को दूसरा मार्ग नहीं—'न खाना, न पीना, न रोना, न धोना—बस जैसे घिग्घी बँध गई हो।' (पृ० ३२०) वह तो एक प्रकार से पति को समर्पिता, उनके साथ तदाकार हो गई है—'वह त्यागपत्र दे रहा हूँ···तुम्हें कुछ नहीं कहना ?—मैं क्या आपसे अलग हूँ ? आप अपने को एकाकी मानते हैं मानें···' (पृ० १७३) 'मेरा तो स्वत्व, व्यक्तित्व, लोक-परलोक सब उसी दिन आपमें लीन हो गया।' (पृ० ३६) गुणी कहती है, 'असल में मुझे बोलना आता ही नहीं। रोज़ जाने कितना, कैसा-कैसा देखते-देखते बस, देखने की आदत पड़ गई है।' (पृ० ३६६) यह कथन न केवल उपन्यास के अन्य पात्रों के लिए सही है बल्कि फैलकर आज के अवश, निर्णय के भागीदार होने में असमर्थ असंख्य 'अँधेरे से अँधेरे तक यात्रा करने वालों हज़ारों-लाखों साधारण कमज़ोरों' (पृ० ५१३) पर भी चरितार्थ होता है। गुणी ससुराल से अपाहिज बनाकर लौटा दी गई है, 'उसे दिनों नहीं महीनों हो जाते हैं बोले। सारी बातों का उत्तर वह फटी-फटी आँखों के अबोलेपन से दिया करती थी।' (पृ० ४७१) एक प्रकार से यह स्थिति पूर्णतया अस्तित्ववादी है—जहाँ व्यक्ति जीवित है, जीवित रहने की चेतना से रहित और इसी चेतना को पकड़ पाना उसके लिए सबसे कठिन चेष्टा है। लेकिन इस चेतना को पकड़ पाने में आड़े आ जाती है उपन्यासकार की आस्था।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, श्रीधर तथा उपन्यास के अन्य सभी प्रमुख पात्र त्रिशंकु की तरह आस्था और अनास्था के बीच झूलती पिछली पीढ़ी के जीवन को जीते हैं। अपना आकार पाने में वे सर्वथा असमर्थ हैं। उनके जीवन को एक लक्ष्य की खोज है—हालाँकि इस खोज में भी वे दिशाहीन आगे बढ़ते जा रहे हैं। जीवन की खोज रोम्याँ रोलां के 'ज्याँ क्रिस्तोव' में भी मिलती है। श्रीधर की ही समकालीन पीढ़ी का ज्याँ क्रिस्तोव अपने पूरे जीवन-भर उस स्थान को पाने की कोशिश करता है जहाँ वह अपने पैर टिका सके—श्रीधर की ही भाँति बार-बार उसे वह आधार मिलता है और प्रत्येक बार उसके पैर बिछल जाते हैं। रोलाँ उसे धर्म और भविष्य के प्रति आस्था का आधार देते हैं—अन्त में उसे यह आधार मिलता है—या शायद यह भी मृगमरीचिका ही है—विराट के महदाकार में अपने पृथक् अस्तित्व के विलय का परमानन्द : महाप्रयाण के समय ज्वर की अर्धचेतनावस्था में बजती हुई घंटियाँ, 'द्वार खुल गया है।' 'तुम कौन हो ?' 'मैं आने वाला कल हूँ।' ज्याँ क्रिस्तोव का पूरा जीवन-विस्तार जैसे धुन्ध में लिपटी समुद्र की पारे-सी झिलमिलाती क्षितिज-रेखा है। श्री नरेश मेहता अन्त में इतना ही देख पाते हैं कि 'युद्ध ही मानव-जाति का इतिहास रहा है।' (पृ० ५६४) (कितना अच्छा होता कि उपन्यासकार '···वह आया जल प्रतिश्रुत था—वे लिख रहे थे ··' के आगे केवल 'इति' लिख देता !) अज्ञेय के पात्र भी जीवन में सत्य के खोजी हैं, लेकिन वे इस खोज में मिशनरियों के लम्बे चोगे पहनकर नहीं

चलते—उनके सुष्ठु होने का यह कारण और परिणाम दोनों हैं। 'यह पथ बन्धु था' में घटनाएँ श्रीधर तथा अन्य सभी पात्रों को धकेलती हुई चलती हैं। श्रीधर अनुभव करता है कि 'कैसा सम्बन्धहीन सम्बन्ध इस पूरे व्यापार में है।' (पृ० १६६)—लेकिन यही सम्बन्धहीनता उसकी पूरी जीवन-दृष्टि में भी मिलती है। आश्चर्य है कि स्थितियाँ पूरी तौर से अस्तित्ववादी हैं, लेकिन न तो श्रीधर, न ही उपन्यासकार किसी भी स्थिति में जीवन के प्रति उपयुक्त रवैया अपना पाते हैं। इसी कारण श्रीधर या अन्य पात्रों का मौन विराग उनकी उदासीनता या असमर्थता का परिणाम मालूम होता है। (तुलना के लिए, 'अजनबी' में म्योर सॉल का मुकदमे में अपने को बचाने की चेष्टा न करना जीवन के प्रति उसके अपने दृष्टिकोण के कारण धनात्मक है।) विचारणीय है कि श्रीधर यह जानकर भी कि 'वे केवल एकान्त में भोगते हैं', कि 'वे न जाने किस प्रतीक्षा को जिये जा रहे हैं', या कि जीवन को अपाहिज की तरह 'वे बस देखते रहते हैं', एक बार भी आत्महत्या की बात मन में क्यों नहीं सोच पाते—जैसे कि, ऐसी ही मनःस्थिति में आकर 'द सेटिंग सन' का नाओजी निर्णय करता है 'इससे कोई लाभ नहीं। मैं जा रहा हूँ। मैं ऐसा कोई कारण नहीं सोच पाता जिसके लिए मुझे जीवित रहना चाहिए।' शायद इसलिए कि श्रीधर की आस्था अभी निराकार-निराधार होने पर भी खण्डित नहीं हुई है। काश, कि वह घटनाओं के इधर से गुज़र सकता, लेकिन यह माँग करना शायद उसे पीड़ा पहुँचाना है।

श्रीधर द्वारा साक्षात्कृत जीवन के इस विशाल विस्तार को—उसके बड़े अंश को भी—लगभग छः सौ पृष्ठों में भी पूरी तरह से भरना असम्भव था, इसलिए उपन्यासकार ने इन्हें चित्र-खण्डों के रूप में दिखलाया है। इनके अन्तराल पाठक की 'कैलिडास्कोपिक' कल्पना द्वारा भरे जाने के लिए छोड़ दिये गए हैं। सांकेतिकता पर आधारित यह वर्णन-शैली निःस्संदेह कथाशिल्प का उत्कृष्टतर प्रमाण मानी जा सकती है। इसका एक दूसरा अच्छा उदाहरण श्री विनोदचन्द्र पांडे का १३९ पृष्ठों का उपन्यास 'रेत, शून्य, हवा' है—'मैंने सिगरेट केस निकाला तो ड्राइवर ने जीप रोक दी। ऐसी तत्पर 'कर्टसी' राजस्थानी कर्मचारियों की विशेषता है—हालाँकि उनमें एक गम्भीर गर्व होता है—हुकुम दुहराने के बावजूद…।' (पृ० ८२) 'यह पथ बन्धु था' में, अपने भाषा-वैभव के साथ, यदि उपन्यासकार ने ऐसी संक्षिप्ति की ओर ध्यान रखा होता तो निस्सन्देह यह उपन्यास हिन्दी-कथा-साहित्य की अन्यतम कृति कही जा सकती थी। लगता है कि कहीं-कहीं खण्ड-दृश्यों का आनयन केवल एक अन्तिम कथोपकथन का लोभ संवरण न कर पाने के कारण किया गया है। उदाहरण के लिए (पृ० १३३-३४) श्रीधर और इन्दु घूमने जाते हैं, श्रीधर तार के खम्भे पर कान रखकर तारों में बजने वाली हवा सुनता है और इन्दु को भी सुनाता है—केवल इतने के लिए यह दृश्य। व्यापक रूप में यही आपत्ति उपन्यास के मध्य भाग 'उत्तर पथ' में बिशन और मालती आदि से सम्बन्धित अंश पर भी की जा सकती है। मालती दीदी से भेंट होने के बाद का अंश अधिक विस्तृत हो जाने के कारण बिखर गया है। दृश्य से एक केन्द्रीय व्यक्तित्व के गायब हो जाने के कारण यह बिखराव असंगत लगता है। संयोग से,

दीदी, बिशन आदि पात्र ऐसे प्रबल हो जाते हैं कि वे रोशनी अपने इधर कर लेते हैं और श्रीधर धुँधलके में खोया खड़ा रह जाता है। इसे दोष के रूप में इसलिए लिया जाएगा, क्योंकि इन मुख्येतर पात्रों का जमघट, उनका अपनी कहानी कहने लगना, श्रीधर चरित्र के विकास में—प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में भी—सहायक नहीं होता। वे श्रीधर के साथ घटनाओं के साथी हैं, सहभोक्ता नहीं। इसी कारण जब पृष्ठ ३०६ पर यह सूचना मिलती है कि नारायण बाबू श्रीधर को खोजने गाँव से आए थे, तब जैसे कथा का टूटा हुआ सूत्र पुनः जुड़ता है, जैसे कथा-प्रवाह घूमते हुए पाठक को हिलाकर जगा जाता है। यह शायद इसलिए कि पाठक की जैसी संपृक्ति बाल्यकाल के खण्ड-चित्रों की प्रभावात्मकता के कारण 'पूर्वपथ' के साथ थी वैसी 'उत्तरपथ' में बिशन आदि से नहीं।

खण्डों को जोड़ते हुए कथा कहने का प्रयास करते हुए कुछ सुन्दर चित्रों का अंकन भी हुआ है—ऐसे दृश्य जो सहज ही विस्मृत नहीं किए जा सकते। 'उन्होंने अपने कपड़े निकाले और तालाब में कूद पड़े। पानी एकदम ठंडा था। बाँहों से लहरें काटते एक अजीब तुष्टि मिल रही थी। तट पीछे छूटता जा रहा था। छतरी दूर से जितनी छोटी लगती थी उतनी छोटी वह थी नहीं। उन्होंने एक बार तट की ओर देखा। तट पर लोग रेंगते हुए दीख रहे थे। लोगों के बोलने की, डाकने की आवाज़ पानी पर उड़ती हुई आ रही थी। सूखती हुई धोतियाँ, कागज़ की पट्टियाँ लग रही थीं। बाला साहब की कोठी, खिड़कियाँ और गुम्बद···' (पृ० ५९) 'दौड़ती हुई ट्राली के साथ जैसे वर्षा भी भाग रही थी, पेड़ भाग रहे थे और पहली बार इन्दु के पास सटे बैठकर श्रीधर का मन भी न जाने कहाँ भाग रहा था, जैसे एकाकी सारस सहसा खुले आकाश में वर्षा से घिर जाए और तब वह अपने पंखों को अनजान दिशा में चपेटें सहता हुआ चलाने लगे। चारों ओर भीगती दिशाएँ···कोसों कोई गाछ न हो···उस नील वर्षा के झरते रहस्य को चीरकर कोई गाता हो।···वे वैसे ही भीगते हुए स्टेशन पहुँचे थे।' (पृ० ६२) श्रीधर के गृह-त्याग की भोर में घर से बाहर गली का दृश्य अप्रितिम—किसी निर्जन ऊँची पहाड़ी पर स्थित जाड़े में ठिठुरती एक ग्रीक गाँव की सूनी गली का स्मरण दिलाता है···'सेरी में घर की अपेक्षा अधिक खुला आलोक था। फिर भी अँधेरा घरों के बारजों, बन्द दरवाज़ों पर पोस्टरों-सा चिपका था। खपरैलों पर अँधेरा आलोक फैला था। पतली-पतली बासी गलियों में आधार-आलोक का मटमैला जल भरा हुआ था। गोबर लिये चबूतरे ठंठाए हुए ऊँघ रहे थे। इतने सवेरे अपना ही महल्ला अनजान लग रहा था। सड़कें···श्रीधर बाबू की इस एकान्त-यात्रा का स्वागत करने कुत्ते तक न तो जागे और न भौंके ही, क्योंकि वे जानते हैं कि इस वेला का एकांत यात्री और कुछ हो सकता है, चोर तो नहीं ही।' (पृ० १७४-७५)।

श्री नरेश मेहता की भाषा-नीति पर कुछ कहना पिष्ट-पेषण करना होगा। 'प्रवेशते' (पृ० ६०); 'विश्रामने लगी' (पृ० १४४); 'प्रवेशा' (पृ० ३००)—हालाँकि पृष्ठ ३११ पर 'प्रवेश किया' जैसे प्रयोग 'यह पथ बन्धु था' में भी कम नहीं। ऐसा लगता

है कि लेखक ने पांडुलिपि दोहराते समय भी कहीं-कहीं समुचित ध्यान नहीं दिया है— 'श्रीधर बाबू से कोई दस वर्ष आयु में बड़ी इन्दु को वे दीदी कहते थे' (पृ० ५९)। वे, अर्थात् श्रीधर ही तो !' बारों मास **गंगा नहाने वाली** धार्मिक बुढ़ियाएँ' (पृ० ९३)— लेकिन मालवा में कैसे ! 'वेश्या, भयंकर व्याधियों से ग्रस्त **रमणी** के प्रति लोभ हो ही क्या सकता है' (पृ० २९७)। यदि इसे बाल की खाल निकालना न माना जाए तो कहूँ कि यहाँ 'रमणी' शब्द अच्छा-खासा जुगुप्साजनक है। श्री नरेश मेहता के भाषा-सम्बन्धी दृष्टिकोण पर दो बातें विशेषतः कथनीय हैं। पहली तो यह कि उनका दृष्टि-कोण काफ़ी स्वप्निल और छायावादी है। इसका एक कारण बंगला भाषा—अथवा बंगला शब्दों की ध्वनि का उनकी भाषा पर प्रभाव माना जा सकता है। कुछ उदाहरण हैं 'श्रीधर हल्के-से **रुँआसित** हो उठा।' (पृ० १११) 'चरवाहे की फूहड़ **बांशी-स्वर**' (पृ० १२७)—भक्त कवि चंडीदास का पद तुलनीय है। 'जैसे बरज रही हो, बिना काजल हमें न देखो' (पृ० ११७)। या पृष्ठ २०७ पर 'रोज़ी सफ़ेद बुर्राक सुन्दर-सी साड़ी पहने थी। बालों की एक लट उसके कपोलों पर हल्की झूल आई थी। गेहुँए वर्ण की रोज़ी भली चमक रही थी। लगान की हरी पृष्ठभूमि में रोज़ी की उड़ती हुई साड़ी टाँगों के पास **पंखिल** लग रही थी।' इसके साथ तुलनीय है 'कामायनी' में श्रद्धा का रूप-वर्णन 'घिर रहे थे घुँघराले बाल, अंस अवलम्बित मुख के पास !' दूसरी कि श्री नरेश मेहता ने पदों को समासित करके शब्दों में संक्षिप्ति लाने का प्रयास तो किया है, किन्तु कदाचित् वह भूल गए हैं कि यह संक्षिप्ति इने-गिने शब्दों में न होकर जब शैली का आन्तरिक गुण होती है तभी वह कारगर होती है। श्री निर्मल वर्मा का गद्य इसका प्रमाण है।

समय के विस्तृत फैलाव में रेंगते हुए एक अन्धे कीड़े की तरह ठहर गया—वह है वर्तमान। शायद कभी, अर्द्धशताब्दी बाद, तीसरी-चौथी पीढ़ी जब समय की गर्द के नीचे दबे हुए अतीत को खोजने में संलग्न होगी, तब नई पौध की मिट्टी के नीचे तार-तार कोमल जड़-तन्तुओं की तरह अवश्य पहुँचेगी इस कृति तक ! क्योंकि इस उपन्यास में चित्रित वह जीवन, जो अभी भी 'स्मृति अधिक है, इतिहास कम', तब अधिक दूरगत अतीत का इतिहास ही होगा। दास्तोएवस्की या ज़ोला को पढ़कर हम उस पूरे युग के जीवन को ही तो प्रत्यक्ष करते हैं। इसी प्रकार आने वाले समयों में, 'यह पथ बन्धु था' प्रत्यवलोकन का एक सशक्त माध्यम हो सकेगा, यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है।

महेन्द्र भटनागर

आषाढ़ का एक दिन

श्री मोहन राकेश-विरचित 'आषाढ़ का एक दिन' स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी-नाट्य-साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। जहाँ तक नाटक के बाह्य कलेवर का सम्बन्ध है, उसमें लगभग समान विस्तार के तीन अंक हैं तथा पात्रों की संख्या कुल बारह है, जिनमें प्रमुख पात्र मात्र तीन हैं। अंकों का विभाजन दृश्यों में नहीं किया गया है, जो उत्कृष्ट कला-कृति के अनुरूप ही है। नाटक का शिल्प आधुनिक है। रंगमंच-विधान जटिल नहीं है और न उसमें अनावश्यक रंगमंचीय साज-सज्जा ही है। रंगमंचीय प्रत्येक वस्तु की अपनी सार्थकता है, जहाँ छोटी-से-छोटी वस्तु तक अपनी विशिष्ट अर्थवत्ता रखती है। समय के अन्तराल की दृष्टि से सम्पूर्ण नाटक यद्यपि पर्याप्त काल घेरे हुए है, पर इतना नहीं कि प्रथम अंक से लेकर अंतिम अंक तक पहुँचते-पहुँचते पात्रों की शारीरिक अवस्था में अन्तर आ जाय। नाटककार ने 'कुछ वर्षों के अनन्तर' तथा 'कुछ और वर्षों के अनन्तर' लिखकर ही काम चला लिया है। नाटक रंगमंच पर अधिक सफलतापूर्वक खेला जा सकता है। मेघ-गर्जन तथा वर्षा के शब्दों का प्रभाव देने में भले ही किंचित् कठिनाई अनुभव हो। आकाशवाणी पर भी प्रस्तुत नाटक सफलतापूर्वक प्रसारित हो चुका है।

'आषाढ़ का एक दिन' का कथानक कालिदास के अन्तरंग जीवन से सम्बद्ध है। अपने उदात्त कलात्मक परिधान में प्रस्तुत नाटक कालिदास-विषयक अनेक ऐतिहासिक विवादों को भी स्पर्श करता है। ये विवाद यद्यपि नाटक में कहीं भी मुखरित नहीं हुए हैं, तथापि नाटककार ने प्रचलित अनेक प्रवादों का उचित समन्वय किया है; उन्हें संगति प्रदान की है। इस प्रकार साहित्याचार्यों के लिए भी प्रस्तुत नाटक में पर्याप्त सामग्री विचारार्थ है। इसमें सन्देह नहीं, एक रचनाकार के हृदय की विशालता का बोध ही नाटककार के निष्कर्षों में निहित है। उसमें एक मानवीय उदार-दृष्टि सर्वत्र लक्षित होती है, जो कालिदास के साथ न्याय करती है एवं प्रेक्षक अथवा पाठक के हृदय में विश्वस्त-भाव को स्थिर करती है। कालिदास के विषय में राजशेखर कवि ने लिखा है, "एकोऽपि जीयन्ते हन्त ! कालिदासो न केनचित् ! शृंगारे ललितोद्गारे कालिदास-त्रयी किमु ?" अर्थात् जहाँ शृंगार में एक कालिदास ही अपराजेय है, वहाँ ललित भावों की अभिव्यक्ति करने वाले तीन कालिदास उत्पन्न हो जायँ तो कहना ही क्या ? कहने का अभिप्राय यह है कि कालिदास नाम के तीन कवियों की चर्चा प्रायः की जाती है। कुछ विद्वान् कवि कालिदास को नाटककार कालिदास से भिन्न मानते हैं। 'रघुवंश', 'मेघदूत' और 'कुमारसम्भव' नामक काव्यों का रचयिता कालिदास 'अभिज्ञान शाकुन्तल', 'विक्रमोर्वशीय' और 'मालविकाग्निमित्र' नामक नाटकों के लेखक कालिदास से भिन्न है। मुक्तक काव्य 'ऋतु-संहार' का रचयिता किस कालिदास को माना जाय, यह भी अंतिम रूप से नहीं कहा जा सकता। 'ज्योतिर्विदाभरणम्'

आदि ग्रन्थों का लेखक तो निश्चय ही कोई तीसरा कालिदास है। प्रस्तुत नाटक में 'ऋतु-संहार' तथा अन्य काव्यों और नाटकों का लेखक एक ही व्यक्ति माना गया है। नाटक के प्रारम्भ में कालिदास मात्र 'ऋतु-संहार' के लेखक के रूप में आते हैं। उज्जयिनी का राजपुरुष दन्तुल कालिदास के सम्बन्ध में, कालिदास की प्रेयसी मल्लिका से कहता है, "उज्जयिनी राज्य-सभा से सम्बद्ध प्रत्येक व्यक्ति 'ऋतु-संहार' के लेखक कवि कालिदास को जानता है।···सम्राट् ने स्वयं 'ऋतु-संहार' पढ़ा और उसकी प्रशंसा की है। इसलिए आज उज्जयिनी का राज्य 'ऋतु-संहार' के लेखक का सम्मान करना और उन्हें राजकवि का आसन देना चाहता है। आचार्य वररुचि आज इसी उद्देश्य से उज्जयिनी से यहाँ आये हैं।" नाटककार के अनुसार इसी कालिदास ने उज्जयिनी पहुँचकर 'मेघदूत', 'कुमारसम्भव', 'रघुवंश', 'शाकुन्तलम्' एवं कुछ अन्य नाटक लिखे। इसी कालिदास का दूसरा नाम मातृगुप्त है। मातृगुप्त नाम से कालिदास ने कश्मीर का शासन किया। अन्त में, लोगों का यह विश्वास दिलाया गया है कि उसने संन्यास ले लिया और काशी चला गया; जबकि नाटक में वस्तुस्थिति ऐसी नहीं बताई गई है। पर, यह सब लिखकर नाटककार ने तीन-तीन कालिदासों, कालिदास और मातृगुप्त, एवं कालिदास के कश्मीर, उज्जयिनी और काशी से सम्वद्ध होने के अनेक परस्पर-विरोधी एवं विवादास्पद तत्त्वों का समन्वय कर दिया।

'आषाढ़ का एक दिन' का कालिदास ख्याति-प्राप्त कालिदास के समान असाधारण व्यक्तित्व-सम्पन्न है। नाटक में सर्वप्रथम वह एक आहत हरिण-शावक की प्राण-रक्षा करता बताया गया है। पशुओं तक के प्रति उसके हृदय में ममता का भाव उसकी अत्यधिक भावुकता का परिचायक है। वह राजकीय सम्मान का भूखा नहीं है, अतः उज्जयिनी का राज्याश्रय स्वीकार करना नहीं चाहता। मल्लिका से उसका यह कथन—"मैं अनुभव करता हूँ कि यह ग्राम-प्रान्तर मेरी वास्तविक भूमि है। मैं कई सूत्रों से इस भूमि से जुड़ा हूँ।···यहाँ से जाकर मैं अपनी भूमि से उखड़ जाऊँगा।" उसके कश्मीर-भूमि के प्रति प्रगाढ़ मोह को प्रकट करता है, तभी तो उसकी कृतियों में कश्मीर-प्रदेश का स्वर्गिक सौन्दर्य रूपायित हुआ है। अपनी प्रेयसी मल्लिका के आग्रह पर वह उज्जयिनी जाना स्वीकार कर लेता है। वहाँ पहुँचकर, कुछ समय बाद, उसका विवाह गुप्तवंश-दुहिता परमविदुषी देवी प्रियंगुमंजरी से हो जाता है एवं कश्मीर का शासक बनकर वह पुनः अपनी मातृभूमि लौट आता है। पर, मल्लिका से उसका मिलन तभी होता है जब कश्मीर में विद्रोही शक्तियाँ सिर उठाने लगती हैं। कालिदास भागकर मल्लिका के पास चला आता है। वह कहता है, "कश्मीर में लोग समझते हैं कि मैंने संन्यास ले लिया, परन्तु मैंने संन्यास नहीं लिया। मैं केवल मातृगुप्त के कलेवर से मुक्त हुआ हूँ, जिससे पुनः कालिदास के कलेवर में जी सकूँ।" राज्याश्रय में रहकर कालिदास ने जो-कुछ लिखा उसके बारे में उसका मल्लिका से कथन है, "लोग सोचते हैं, मैंने उस जीवन और वातावरण में रहकर बहुत-कुछ लिखा है। परन्तु मैं जानता हूँ कि मैंने वहाँ रहकर कुछ नहीं लिखा। जो कुछ लिखा है वह यहाँ के जीवन का ही संचय था। 'कुमारसम्भव' की पृष्ठभूमि यह हिमालय है और

तपस्विनी उमा तुम हो। मेघदूत के यक्ष की पीड़ा मेरी पीड़ा है और विरह-विमर्दिता यक्षिणी तुम हो, यद्यपि मैंने स्वयं यहाँ होने और तुम्हें उज्जयिनी में देखने की कल्पना की। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में शकुन्तला के रूप में तुम्हीं मेरे सामने थीं। मैंने जब-जब लिखने का प्रयत्न किया, तुम्हारे और अपने जीवन के इतिहास को फिर-फिर दोहराया।···'रघुवंश' में अज का विलाप भी मेरी ही वेदना की अभिव्यक्ति थी।" पर, अपनी प्रेयसी मल्लिका का वर्तमान देखकर उसे अपने जीवन की व्यर्थता का बोध होता है और वर्षा की उस रात में ही, मल्लिका के कक्ष से, बिना कुछ कहे, वह बाहर निकल जाता है। अपने प्रेम की स्थूल असफलता अथवा विनष्टि देखकर, जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण इन शब्दों में आकार पाता है—"···समय अधिक शक्तिशाली है क्योंकि··· वह प्रतीक्षा नही करता।"

यही सूत्र मल्लिका की माँ अम्बिका के यथार्थवादी दृष्टिकोण की सार्थकता घोषित करता है। कालिदास अन्त में अम्बिका के दृष्टिकोण को सही बताता हुआ कहता है, "मैंने बहुत बार अपने सम्बन्ध में सोचा है मल्लिका, और बहुधा इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि अम्बिका ठीक कहती थी।" अम्बिका कालिदास को सन्देह और वितृष्णा की दृष्टि से देखती है, घृणा करती है। उसे यह पसन्द नहीं कि वह उसकी पुत्री मल्लिका से मात्र प्रेम करे। उनके प्रेम-सम्बन्धों को देखकर उसे अपवाद की चिन्ता होने लगती है। वह मल्लिका को वैवाहिक-सूत्र में बँधा देखना चाहती है। उसका स्पष्ट कथन है, "···यदि वास्तव में उसका तुमसे भावना का सम्बन्ध है तो वह क्यों तुमसे विवाह नहीं करना चाहता?" मल्लिका की भावनाओं को वह मात्र छलना और आत्म-प्रवंचना समझती है तथा जीवन की आवश्यकताओं को ही सर्वोच्च प्राथमिकता देती है। उसका जीवन, भावना नहीं, कर्म है। वह जीवन के यथार्थ से आँख मूँदकर नहीं जीती।

कालिदास की प्रेयसी मल्लिका, ठीक इसके विपरीत, भावना-लोक में विचरण करने वाली नारी है। वह एक आदर्श प्रेमिका है। कालिदास के सम्बन्ध में वह कोई भी अनुचित बात सुनना नहीं चाहती। कालिदास को कालिदास बनाने में उसी का प्रमुख हाथ है। कालिदास के कवि-हृदय में कोमल भावनाओं को जगाने वाली तथा अत्यधिक सुसंस्कृत और उदात्त भावना-सम्पन्न मल्लिका प्रस्तुत नाटक की नायिका है—जो अद्वितीय है, अविस्मरणीय है। उसका व्यक्तित्व सर्वाधिक आकर्षक है और वही प्रेक्षकों की समूची सहानुभूति का एकमात्र आलम्बन बनती है। वस्तुतः 'आषाढ़ का एक दिन' नारी-प्रधान रचना है। मल्लिका के माध्यम से नाटककार ने मानव-जीवन-सम्बन्धी अनेक मौलिक प्रश्न उठाये हैं। आदि से अन्त तक मल्लिका कालिदास के प्रति प्रेम-विभोर रहती है। वह कालिदास की कविता और उसके यश से परिचित है। तभी तो वह कालिदास को व्यक्तिगत स्वार्थ-वश अपने प्रेम-पाश में न बाँधकर उसे उज्जयिनी जाने के लिए राज़ी करती है। कालिदास की, अन्यों की तरह, वह सामान्य की कसौटी पर परीक्षा नहीं करती। आगे चलकर परिस्थितियों ने उसे भले ही वीरांगना बना दिया हो, पर वह कहीं भी उच्चतर भाव-भूमि से नीचे नहीं उतरती।

कालिदास की कल्पना और भावना के विपरीत जब वह वारांगना और एक पुत्री की माँ के रूप में सामने आती है तब कालिदास उसे छोड़कर चला जाता है; पर मल्लिका के जीवन का विश्लेषण करने वाला प्रेक्षक उसे एक प्रेमिका के रूप में सर्वथा उज्ज्वल और पवित्र अनुभव करता है। नाटक के प्रारम्भ में उसका यह कथन, "...फिर भी मुझे अपराध का अनुभव नहीं होता। मैंने भावना में एक भावना का वरण किया है। मेरे लिए वह सम्बन्ध और सब सम्बन्धों से बड़ा है। मैं वास्तव में अपनी भावना से ही प्रेम करती हूँ जो पवित्र है, कोमल है, अनश्वर है...।" नाटक के अन्त में भी उतना ही सत्य है। उसने अपने जीवन की सार्थकता इसी में समझी, "मैं यद्यपि तुम्हारे जीवन में नहीं रही, परन्तु तुम मेरे जीवन में सदा विद्यमान रहे हो। मैंने कभी तुम्हें अपने पास से हटने नहीं दिया। तुम रचना करते रहे और मैं समझती रही कि मैं सार्थक हूँ, मेरे जीवन की भी कुछ उपलब्धि है।"

अन्य पात्रों में प्रतिनायक की भूमिका में विलोम नायक एक ग्राम-पुरुष है जो मल्लिका को तो उतना नहीं चाहता, जितना कि यह चाहता है कि मल्लिका कालिदास से प्रेम न करे। कालिदास की अव्यावहारिकता एवं अन्य बदलती परिस्थितियों के कारण विलोम कालान्तर में मल्लिका से शरीर-सम्बन्ध स्थापित करने में सफल जरूर होता है; पर उस समय तक मल्लिका वारांगना बन चुकी होती है। सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि प्राप्त धन से वह उज्जयिनी से आने वाले व्यापारियों से बड़ा अनुनय-विनय करके कालिदास-रचित नये-नये काव्य-ग्रन्थ मँगवाती है। कालिदास और उसके काव्य के प्रति प्रेम की यह पराकाष्ठा है। पर स्थूल जीवन को चलाने के लिए, शारीरिक अस्तित्व बनाये रखने के लिए, अम्बिका के निधन के पश्चात्, उसे वारांगना का जीवन मानो विवश होकर वरण करना पड़ा। कवि-पत्नी प्रियंगुमंजरी भी मल्लिका के जीवन के व्यंग्य को वेतहाशा प्रकट करती है। उसका प्रत्येक सहयोग मल्लिका की जीवन-विडम्बना को गहराता चलता है, जिसमें अनुस्वार और अनुनासिक-जैसे मूर्ख अधिकारियों से विवाह का प्रस्ताव तो सर्वाधिक कटु है। प्रस्तुत नाटक में रंगिणी और संगिनी नामक उज्जयिनी की दो शोधकर्त्री भी आई हैं, पर उनका कोई औचित्य सिद्ध नहीं होता। यही नहीं, उनकी अतिसाधारण बुद्धि का प्रदर्शन कालिदास के व्यक्तित्व को आघात तक पहुँचाता है। यदि उज्जयिनी के ऐसे लोगों ने कालिदास का सम्मान किया तो उससे कालिदास की महत्ता का बोध कठिनाई से ही होगा। मात्र 'ऋतु-सहार' ही उज्जयिनी के विद्वानों का उसके प्रति प्रथम आकर्षण का विषय रहा; तदुपरान्त उसने 'ऋतु-संहार' की तुलना में कहीं श्रेष्ठ ग्रन्थों का प्रणयन किया। पर उनके पढ़ने और समझने वालों की इतनी स्थूल दृष्टि, रंगिणी और संगिनी के माध्यम से जो बताई गई है, वह कालिदास के महत्त्व पर प्रश्न-चिह्न तक लगा देती है। हास्य-रस की आयोजना के लिए निक्षेप-मातुल तथा अनुस्वार-अनुनासिक के वार्तालाप ही पर्याप्त थे। वैसे मातुल का वार्तालाप एवं व्यवहार अपना मनोवैज्ञानिक पहलू भी रखता है, तथापि उसके द्वारा हास्य की भी सृष्टि होती है। वस्तुतः नाटक करुण-रस से परिपूर्ण है। शृंगार और हास्य नितान्त गौण। सम्पूर्ण नाटक आषाढ़

की वर्षा की तरह आँसुओं से सिक्त है। यह वातावरण एवं भाव-साम्य नाटक को अत्यधिक प्रभावशाली बना देता है। बादलों से घिरे हुए दिन और मूक वेदना से भरा हुआ मल्लिका का जीवन ! सभी प्रधान पात्रों का अन्तर्द्वन्द्व उत्कृष्ट कला-सौष्ठव एवं मनोवैज्ञानिक दक्षता के साथ रूपायित हुआ है। भावाभिव्यक्ति का यह सौन्दर्य 'आषाढ़ का एक दिन' को अप्रतिम बना देता है। कालिदास के काव्य के अतुलनीय शृंगार, विशेषकर उसमें निहित तीव्र विरह-व्यंजना का आधार 'आषाढ़ का एक दिन' देखने-पढ़ने से स्पष्ट विदित होता है। कोई भी व्यक्ति किसी विशिष्ट क्षेत्र में इतना महान् क्यों बन जाता है—इस तथ्य का समाधान प्रस्तुत नाटक में द्रष्टव्य है। कालिदास को महान् बनाने में किन-किन जीवन-स्थितियों ने योग दिया—उनको तथा उस मूल प्रेरणा को, जिसने कालिदास के हृदय का वशीकरण किया एवं उसे सुसंस्कृत जीवन-दृष्टि दी तथा जिससे इतिहास आज तक अपरिचित है—प्रकाश में लाया गया है; जो वास्तविक न होते हुए भी ऐतिहासिक सम्भावनाओं की परिधि में है। और, वस्तुतः यही साहित्यकार का मुख्य लक्ष्य होता है। श्री मोहन राकेश अपने उद्देश्य में सफल हुए हैं। जिस नाज़ुक और महान् विषय-वस्तु का उन्होंने स्पर्श किया, उसका कलात्मक निर्वाह भी उतनी ही सरसता, गहराई, तीव्रता एवं उदात्तता के साथ हुआ है।



(पृष्ठ ८ का शेष)

दायरे से बहिष्कृत करके उन्हें बराबरी का दरजा देने से इन्कार कर दिया था।

सात : पाकिस्तान के शासकों ने पागलपन में भरकर भारत पर आक्रमण करने का साहस न किया होता, अगर अमरीकी साम्राज्यवाद ने 'साम्यवाद से रक्षा करने' के नाम पर किन्तु दरअसल भारत की विश्व-शान्ति और गुटों से निरपेक्ष रहने की नीतियों और हमारी स्वतन्त्रता की ही जड़ें खोदने के लिए पाकिस्तान को अरबों डालर के अस्त्र-शस्त्रों से लैस न किया होता, और अगर ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने भारत का विभाजन करने के बाद से लगातार पाकिस्तान को कश्मीर के बहाने भारत पर आक्रमण करने के लिए न उकसाया होता और अन्त में, अगर चीन के वाम-पक्षी नेताओं ने भारत-विरोध की अन्ध-भावना से प्रेरित होकर पाकिस्तानी शासकों को शीघ्र-विजय के सब्ज़ बाग़ न दिखाये होते।

ये सब तथ्य सर्व-विदित हैं, लेकिन उनको दोहराने की जरूरत इसलिए पड़ी कि साम्प्रदायिक प्रचारवादी उनको अपने रंग में पेश करके जनता को गुमराह करते हैं। इस प्रचार के प्रभाव से या सामयिक उत्तेजना में पड़कर लेखक यदि इन सन्दर्भों में से किसी एक को भी भूल जाय तो निश्चय ही वह वर्तमान हिन्द-पाकिस्तान युद्ध के बारे में सही दृष्टिकोण का विकास

नहीं कर सकता ।

निस्सन्देह, लेखक एक स्वतन्त्र अभि-कर्ता है । किसी को यह अधिकार नहीं है कि वह युद्ध-कथानकों पर लिखने या युद्ध में भाग लेने के लिए आदेश दे । यदि लेखक वर्तमान युद्ध से उत्पन्न जटिल मानवीय स्थितियों पर लिखने का चुनाव करता है, तो किसी को भी उसे सेन्सर करने का अधिकार नहीं है कि वह क्यों युद्ध का प्रशस्ति-गान न करके केवल युद्ध की ट्रैजेडी को, उसकी यातना को, उसकी अग्नि-परीक्षा को ही जो अनगिनत लोगों को भोगनी और झेलनी पड़ती है, चित्रित करता है । वर्तमान युद्ध में शायद लेखक और कुछ कर भी नहीं सकता ।

यह लेखक का जन्म-सिद्ध अधिकार है, यह मानकर भी मैं इस बात पर ज़ोर देना चाहूँगा कि लेखक के पास एक प्रति-बद्धता भी जो है समान रूप से उसके लेखन-कर्म का अभिन्न अंग है । यह प्रतिबद्धता सत्य और मानवीय मूल्यों के प्रति है । फलतः न तो वह सिनिकल तौर से सही को ग़लत, अच्छे को बुरा, शान्ति को युद्ध और मानवीय को पाशविक के साथ एक ही तराज़ू पर रख सकता है न अपनी आँखों को वास्तविकता से मूँदकर या इतिहास को तोड़-मरोड़ कर सस्ते गौरव के लिए अपनी कला को विकृत कर सकता है ।

इन दोनों प्रकार के भ्रामक दृष्टि-कोणों का परित्याग करके हर लेखक को स्वयं ही निर्णय करना चाहिए कि उसे दो भाइयों के इस पीड़ाजनक और निरर्थक युद्ध में एक लेखक की हैसियत से क्या करना है । बिना अपने साहित्यिक स्तर को नीचे गिराये उसे न्यायोचित और जनतान्त्रिक उद्देश्यों की विजय में सहायक बनना चाहिए । और चूँकि वर्तमान युद्ध में भारत का पक्ष न्यायोचित और जन-तान्त्रिक है, लेखक की प्रतिबद्धता यह है कि वह शान्ति की ख़ातिर इन उद्देश्यों को अपना समर्थन दे, उन पर 'थूके' नहीं बावजूद इसके कि इस संघर्ष की स्थायी शान्ति में परिणति के लिए भी तत्काल क़ुर्बानियाँ देनी पड़ेंगी और यातनाएँ झेलनी पड़ेंगी ।

● ●

१९६५ के मुख्य प्रकाशन

कलम का मजदूर : प्रेमचन्द	मदनगोपाल	११.००
योग-वियोग	शंकर	६.००
यही सच है	मधुकर गंगाधर	३.००
चौरंगी (पुन०)	शंकर	११.००
चारु-चन्द्रलेख (पुन०)	डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी	१२.००
धीरे बहे दोन रे (प्रथम भाग)	शोलोखोव	८.००
मीरा की प्रेम-साधना	डॉ० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'	१०.००
युग-वाणी (पुन०)	श्री सुमित्रानन्दन पन्त	३.५०
स्वर्ण-धूलि (पुन०)	" " "	५.००
सामर्थ्य और सीमा (पुन०)	भगवती चरण वर्मा	७.५०
वह फिर नहीं आई (पुन०)	" "	२.५०
सम्पर्क भाषा हिन्दी	डॉ० लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'	२.५०
विषैला अमृत	नानकसिंह	४.५०
पहला प्यार	मिन्दारोविच	२.५०
हिरोशिमा के फूल	एदिता मॉरिस	३.५०
भग्न सीमाएँ	बालशौरि रेड्डी	४.००
कोहबर की शर्त	केशवप्रसाद मिश्र	५.००
एक पंखड़ी की तेज धार	शमशेरसिंह नरूला	५.००
मुझे टिकट दो	डॉ० सत्यप्रकाश संगर	५.००
कल्प वृक्ष	रवीन्द्र नाथ त्यागी	४.००
कृष्ण पक्ष	विनोदचन्द्र पाण्डे	४.००
अंग्रेजी हिन्दी पर्यायवाची कोश	डॉ० बद्रीनाथ कपूर	६.००
भारतीय दर्शन : सरल परिचय	देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय	६.००
भारतीय दर्शन की रूपरेखा	एम० हिरियन्ना	१२.००
आपेक्षिकता की मूल संकलपनाएँ	बर्टेण्ड रसेल	६.००
आदिवासी भारत	योगेल अटल	३.००
भारत परिचय नक्शों में	आदर्श	०.७५
महान वैज्ञानिक	गुणाकर मुले	३.००



राजकमल प्रकाशन

दिल्ली-६ पटना-६

चार-खण्डीय

स्वातन्त्र्योत्तर-हिन्दी-साहित्य-विशेषांक

के लिए विशेष रियायत

१८ रुपयों की जगह केवल

१४ रुपयों में प्राप्य

आलोचना

शिवदानसिंह चौहान

इन खण्डों का फुटकर मूल्य इस प्रकार होगा

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य विशेषांक–१	: जून	'६५ का अंक	: ६ रुपये
,, ,, २	: जुलाई	'६५ का अंक	: ४ रुपये
,, ,, ३	: जनवरी	'६६ का अंक	: ४ रुपये
,, ,, ४	: मार्च	'६६ का अंक	: ४ रुपये

स्वातन्त्र्योत्तर-हिन्दी-साहित्य-विशेषांक

में लगभग १२० निबन्ध होंगे

हिन्दी आलोचना पर
हिन्दी कविता पर
हिन्दी उपन्यास पर
हिन्दी नाटक, एकांकी, रेडियो तथा रंगमंच पर
हिन्दी कहानी पर
हिन्दी निबन्ध पर
हिन्दी में बाल-साहित्य, समाजशास्त्रीय साहित्य तथा वैज्ञानिक साहित्य पर
हिन्दी में हिन्दीतर भारतीय तथा विदेशी साहित्य पर, एवं विदेशों में हिन्दी साहित्य पर
हिन्दी में शोधकार्य पर
साहित्य के नये मानमूल्यों, आधुनिकता और सामयिकता, परम्परा और प्रयोग, लेखक और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, लेखक और मानववाद, लेखक और युग के केन्द्रीय प्रश्न, सौन्दर्यशास्त्र के नये आधार, इत्यादि सामयिक प्रश्नों पर
साहित्यिकों के रेखाचित्र
श्रेष्ठतम कृतियों के पुनर्मूल्यांकन
जनपदीय भाषाओं का नया साहित्य

प्रत्येक अंक को रजिस्टरी से पाने के लिए

१४ रुपये का मनीआर्डर आज ही भेजिए !



राजकमल प्रकाशन

दिल्ली-६ पटना-६

श्रीमती शीला संधू, मैनेजिंग डाइरेक्टर, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लि०, ८ फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली के लिए नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित ।

विशेषांक

भाग : ४

सम्पादक शिवदानसिंह चौहान

३६ आलोचना

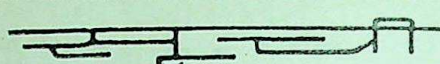
स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य

राजकमल प्रकाशन

त्रैमासिक आलोचना

पूर्णांक ३६ नवांक १० अप्रैल, १९६६

वार्षिक मूल्य १२) प्रत्येक अंक रजिस्ट्री
इस अंक का ४) से पाने के लिए १४)



(शेष कवर ३ पर)

आलोचना

सम्पादकीय

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य : नया मोड़—नये सन्दर्भ —नये प्रश्न

: १ :

सन् १९४७ में भारत ने अंग्रेज़ों की राजनीतिक ग़ुलामी से मुक्ति प्राप्त की। यह हमारे राष्ट्रीय इतिहास की एक महती घटना है और एक महत्त्वपूर्ण मोड़ भी। अनेक आलोचकों और स्वातंत्र्योत्तर पीढ़ी के तरुण रचनाकारों का तो प्रायः यह मत है कि स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भारतीय साहित्य ने नयी दिशाओं और नये आयामों में विकास किया है, जिससे हम कह सकते हैं कि सन् '४७ भारतीय साहित्य में एक नये मोड़ का सूचक है। 'आलोचना' के 'स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य विशेषांक' की योजना बनाते समय हमारे सामने यही विचार था कि हिन्दी के सभी प्रबुद्ध और विचारशील आलोचक स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य की उपलब्धियों का जायज़ा लें, उन प्रश्नों पर गम्भीरता से विचार करें जो इस बीच साहित्यकारों को उद्वेलित करते रहे हैं या जो दार्शनिक और राजनीतिक क्षेत्र के होकर भी साहित्यिक चिन्तन और सर्जन को प्रभावित करते रहे हैं ताकि हिन्दी लेखक और पाठक अपने साहित्य के विकास को व्यापक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य और वर्तमान के जटिल सन्दर्भों में देख सकें। हम आभारी हैं उन सभी आलोचकों और विद्वानों के, जिन्होंने इस महत्त्वपूर्ण कार्य में मुक्त हृदय से योग दिया, जिससे हम बहुत थोड़े परिवर्तनों के साथ विशेषांक की अधिकांश योजना को पूरा कर सके। इससे अधिक उल्लेखनीय बात यह है कि इस योजना के अन्तर्गत सभी विचारों और दृष्टिकोणों के आलोचकों ने अपने मत और अध्ययन पेश किए। जरूरी नहीं है कि हर पाठक विशेषांकों में प्रकाशित हर निबन्ध की हर बात से सहमत हो—ऐसा कभी होता ही नहीं। दरअसल ऐसे आयोजनों का उद्देश्य ही यह होता है कि पाठक विभिन्न दृष्टिकोणों और मतों को समझें और स्वयं अपने मत का निर्णय करें। अपनी सारी ख़ामियों के बावजूद, यह विशेषांक हिन्दी साहित्य के स्वातंत्र्योत्तर विकास के बारे में पाठकों की जानकारी में वृद्धि कर सकेगा और इसके अनेक निबन्ध विचारोत्तेजक सिद्ध होंगे। वर्तमान जीवन के सन्दर्भ में जो प्रश्न इस बीच उठे हैं, विशेषकर साहित्य के क्षेत्र में, उनको समझने में इनसे मदद मिलेगी और उन प्रश्नों को नये सिरे से, अधिक व्यापक सन्दर्भों में रखकर देखने और विचारने की प्रेरणा जगेगी, ऐसा हमारा अनुमान है।

: २ :

फिर भी कुछ प्रश्न अनुत्तरित रह गए हैं या उनका समुचित उत्तर नहीं दिया गया।

हमारा अभिप्राय नये सिरे से उत्तर पेश करना नहीं है, बल्कि यह संकेत देना मात्र है कि किन सन्दर्भों में उनका उत्तर खोजना चाहिए। मिसाल के लिए स्वतन्त्रता के बाद जब कुछ मित्रों के मतवादी संकीर्ण दृष्टिकोण के कारण साहित्य में प्रगतिवादी आन्दोलन बदनाम होने लगा और प्रयोगवाद, नई कविता और नई कहानी के आन्दोलन उठे तो इनके प्रवक्ताओं ने परम्परा से विद्रोह के नाम पर यह दावा भी किया कि वे साहित्य में जिस शिल्प और तकनीक का प्रयोग कर रहे हैं, केवल वही नवीन नहीं है, बल्कि उनकी जीवन-दृष्टि, उनका भाव-बोध और युग-बोध भी पहले से भिन्न है। इस प्रकार यह दावा किया गया कि स्वतन्त्रता से बाद का साहित्य ही 'आधुनिक' है, नया है और वर्तमान जीवन को सही अर्थ में रूपायित करता है। यह सब कैसे घटित हुआ, इसकी व्याख्याएँ लगातार बदलती रही हैं। युद्ध के बाद पाश्चात्य साहित्य में सार्त्र, कामू, फॉक्नर और 'एंग्री यंग मेन' की पीढ़ी ने या उनके दृष्टिकोणों की वकालत करने वाले आलोचकों ने इस 'नयेपन' के बारे में जब-जब नये विचार-सूत्र गढ़े, हमारे यहाँ भी अपनी या अपने समानधर्मा कवियों और कथाकारों की रचनाओं और साहित्य-प्रवृत्ति पर उनका आरोपण करके, नयी व्याख्याएँ पेश की गईं। एक समय साहित्य में 'गत्यवरोध' की दुहाई मचायी गई, एक समय पुराने साहित्य की 'आदर्श-वादिता' के विरुद्ध आवाज़ उठायी गई, एक समय 'अस्तित्ववादी' दर्शन के स्तोत्र पढ़े गए, एक समय साहित्य में कथ्य से कथन को ही सब-कुछ समझा गया, एक समय युद्ध की विभीषिका और अणु-अस्त्रों के त्रास से पीड़ित मानवता की सहानुभूति में नये साहित्यकारों ने अनास्था, कुण्ठा और निराशा की मुद्रा बनाकर मानव-मूल्यों के लिए लड़ना व्यर्थ घोषित किया और पुराने साहित्य की एपिक कल्पनाओं को कोरी बकवास कहकर दावा किया कि आज का मनुष्य चरित्रहीन लघु मानव है, इसलिए साहित्य में हीरो, उदात्त वीर-पुरुष का चित्रण आधुनिक साहित्य का अभीष्ट नहीं हो सकता, आज के पात्र केवल ऐसे निरीह, लघु-मानव ही हो सकते हैं, जो पैदा होते हैं केवल अन्त में पीड़ा झेलते हुए मरने की खातिर, न कि किसी महत् उद्देश्य की पूर्ति के लिए—इन लक्ष्य-हीन, पीड़ित मनुष्यों का कोई उदात्त जीवनादर्श नहीं हो सकता और अब कुछ दिनों से नीत्शे की इस घोषणा का नगाड़ा पीटा जा रहा है कि 'ईश्वर मर गया है,' और जब ईश्वर ही मर गया तो आस्था का संबल कहाँ रहा?

ये सब नारे नये भी हैं और घिसे-पिटे पुराने भी। एक सीमा तक हिन्दी साहित्य की परम्परा के सन्दर्भ में ये नयी बातें लगती हैं, क्योंकि प्रसाद, प्रेमचन्द, निराला, पंत ने ऐसी घोषणाएँ कभी नहीं की थीं। लेकिन विश्व-साहित्य के सन्दर्भ में देखें तो इन नारों में कोई नवीनता नहीं है। कई पीढ़ियों से, दरअसल उस समय से ही जब भारतेन्दु हिन्दी (खड़ी बोली) में आधुनिक गद्य लिखने का अभ्यास कर रहे थे और हिन्दी को काव्य-रचना के लिए अयोग्य समझा जाता था, पाश्चात्य साहित्य में इन प्रश्नों को लेकर विचार-मंथन और शिल्पगत प्रयोग होने लगे थे। इसीलिए पाठकों को अक्सर यह भ्रम हो जाता है कि हमारा नया साहित्य पाश्चात्य की नक़ल है और विश्व-साहित्य में हिन्दी फ़िल्मों की तरह उसको कोई स्थान प्राप्त नहीं हो पाता (यद्यपि यह एक अलग प्रश्न है, जिस पर हम यथा-स्थान विचार करेंगे)।

हमने कहा कि नये साहित्य के नारे हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ में भी एक सीमा

तक ही नये हैं। अगर इतिहास को विस्मृत न करें तो निश्चय ही परम्परा से विद्रोह आज के 'नये साहित्य' की ही विशेषता नहीं है। छायावादियों ने भी परम्परा से विद्रोह किया था और डंके की चोट पर। उसके बाद प्रगतिवादियों का विद्रोह भी परम्परा से विद्रोह था। हर नये विद्रोह के आरम्भ में 'गत्यवरोध' दिखाई देता ही है और पुराने की जड़ीभूत मान्यताओं पर इस गत्यवरोध को तोड़ने के लिए ही प्रहार किया जाता है। रही पुरानी आदर्शवादिता से मोह-भंग की बात, तो प्रगतिवाद तो पूँजीवादी समाज की वर्ग-व्यवस्था और वर्ग-नैतिकता के प्रति प्रबुद्ध लेखक की आत्मचेतना के परिणामस्वरूप ही पैदा हुआ था। युद्धों की विभीषिका और फ़ासिज़्म के उदय से मानव-सभ्यता के ह्रास और विनाश का त्रास भी प्रगतिवादियों को भरपूर था। अपनी रचनाओं से प्रगतिवादियों ने ही प्राचीन काव्य-शास्त्र की मान्यता के उच्चवर्गीय धीरोदात्त-धीर ललति नायक का बहिष्कार कर आमतौर पर उन ग़रीब, असभ्य, अशिक्षित मज़दूर-किसानों को नायक की भूमिका प्रदान की थी, जिन्हें कुछ लोग मध्यवर्गीय समवेदना की झोंक में 'लघु-मानव' कहना पसन्द करते हैं, लेकिन प्रगतिवादियों ने इन 'लघु मानवों' को सामाजिक संघर्ष के बीच जब अंकित किया तो उनमें, समूह के रूप में ही नहीं व्यक्तिगत रूप में भी उन नैतिक गुणों, उन सामर्थ्यों और उन मानव-संवेदनों का अजस्र स्रोत पाया जो अनेक इतिहास-प्रसिद्ध 'धीरोदात्त-धीरललितों' में नहीं था। 'ईश्वर मर गया है' यह खोज नयी नहीं है, चाहे हठात चौंकाने वाले अन्दाज़ में इसे एक घोषणा का रूप क्यों न दे दिया गया हो। ईश्वर और धर्म पर आक्रमण तो पहले प्रगतिवादियों ने ही किया था, लेकिन ऐसा करते समय हमारा विचार यह नहीं था कि मानव-मूल्यों और सामाजिक दायित्वों से सर्वथा मुक्ति मिल जाएगी।

आप कहेंगे, जब ये सब बातें पहले ही हो चुकी थीं, तो स्वातंत्र्योत्तर साहित्य में क्या कुछ भी नया नहीं है, क्या छायावाद और प्रगतिवाद के बाद हमारे साहित्य में कोई नया मोड़ नहीं आया?

लेकिन हमारे कहने का आशय यह नहीं है। स्वतन्त्रता के बाद कुछ तो बाह्य प्रभावों से, कुछ हमारे अपने राष्ट्रीय जीवन की आन्तरिक विसंगतियों के परिणामस्वरूप हमारे यहाँ हर पीढ़ी के लोगों के चिन्तन और भाव-बोध में एक ज़बर्दस्त परिवर्तन आया है, जिसका व्यक्त और अव्यक्त प्रभाव साहित्य के विकास पर भी पड़ रहा है। निश्चय ही नई कविता या नई कहानी आदि के नाम पर जो नये ढंग का साहित्य रचा जा रहा है, वह शिल्प और तकनीक के नये प्रयोगों का ही परिणाम नहीं है, न 'नयेपन' की व्याप्ति केवल अभिव्यक्ति की नवीनता तक ही सीमित है। यह सामान्य तथ्य है कि जब जीवन को देखने और समझने की दृष्टि बदल जाती है या जब किसी नये सत्य की खोज की जाती है तो अभिव्यक्ति के ढंग भी बदल जाते हैं। छायावाद को नारी के शरीर-सौन्दर्य तक ही सीमित पुराने रीति-काव्य की दृष्टि संकीर्ण लगी और उसने काव्य के माध्यम से एक नये मानववाद की खोज आरम्भ की। प्रगतिवाद ने छायावादी (रोमाण्टिक) मानववाद को संकीर्ण माना, क्योंकि उसे लगा कि वास्तविक जीवन की विषम स्थितियों की व्यापक चेतना का उसमें अभाव था, जबकि ज़रूरत ऐसे मानववाद की थी जो वर्ग-वैषम्य से पीड़ित अपार जन-समूह की पीड़ा और वेदना के प्रति संवेदनशील हो और उन वैषम्यों के प्रति आधुनिक मानव को सचेतन बना सके। स्वातन्त्र्योत्तर नई कविता और नई कहानी का 'मोह-भंग'

दरअसल एक नये किस्म के मानववाद की आन्तरिक माँग से उत्पन्न मनःस्थिति है, जिसका प्रभाव शैली और शिल्प पर दिखाई दे रहा है। छायावाद में रोमाण्टिक उदात्त भावना का शिशुवत् सारल्य था, प्रगतिवाद में क्लासिकी यथार्थवाद की प्रौढ़ बौद्धिक चेतना व्यक्त हुई, लेकिन नई कविता और नई कहानी में उस कैशोर औद्धत्य की भावना प्रमुख है जो पश्चिमी साहित्य में इस बीच एक 'आधुनिक मिथ' का दरजा पा चुकी है। कैशोर औद्धत्य इसलिए कि आज के विषम समाज में, जहाँ सभी मूल्यों का विघटन तेज़ी से हो रहा है और अन्याय के साथ, स्वार्थपरता ही सर्वोच्च मूल्य बन गया है, विशेषकर अधेड़ पीढ़ी के लोग आदर्शों की बातें तो करते हैं लेकिन हर क़दम पर अन्याय से समझौता करते चलते हैं, केवल किशोर वय के लोग ही ईमानदार हो सकते हैं, उनकी आत्मा ही पवित्र हो सकती है और वे ही साहसपूर्वक पुरानी नैतिकता को चुनौती दे सकते हैं, और चूँकि उनकी आत्मा शुद्ध और पवित्र है, इसलिए झूठ पर आधारित इस समाज में वे बेगाने हैं, अजनबी हैं और आवारागर्दी ही उनकी नियति है। कामू और ऑसबर्न, जॉन वेन आदि 'एंग्री यंग मेन' पश्चिम में या नई कविता, नई कहानी से लेकर 'भूखी पीढ़ी' के तरुण लेखक इन्सानियत के प्रतीक 'उद्धत किशोर' के उद्देश्यहीन विद्रोह को रूपायित करके किसी नये उच्चतर मानववाद को कलात्मक अभिव्यक्ति दे सके हैं, यह सन्दिग्ध है, लेकिन खोज जारी है, इसमें सन्देह नहीं। हमारे यहाँ साहित्य की प्रगतिवादी धारा से, जिसमें यशपाल, अमृतलाल नागर, नागार्जुन और 'रेणु' की कृतियाँ मिसाल हैं, स्वातंत्र्योत्तर नया साहित्य इसी अर्थ में 'नया' है।

इस प्रसंग में विचारणीय केवल इतनी बात है कि पश्चिम में भी 'उद्धत किशोर' की 'मिथ' का आश्रय लेकर साहित्य में नये मानववाद की खोज एक 'डेड एण्ड' पर पहुँच चुकी है, क्योंकि प्रतिभाशाली कथाकारों के अलावा इस रौ में बहने वाले सामान्य लेखक अपने 'उद्धत किशोर' पात्रों के अनियंत्रित सेक्स के अनुभवों के विवरण ही पेश करते हैं, जो सस्ते क़िस्म के सेक्स-थ्रिलर्स से सिर्फ़ इस हद तक ही भिन्न होते हैं कि उनमें सेक्स के साथ हत्या और जुर्म का संयोग नहीं होता। हमारे यहाँ अभी कामू और सार्त्र जैसी प्रतिभाओं का अभाव है, इसलिए सामान्य रचनाकारों की दृष्टि 'परम्परा से विद्रोह' को अक्सर ओछे स्तर के अनियंत्रित सेक्स चित्रण में ही सीमित कर देती है, कोई बड़ा सार्वजनीन आशय उसमें निहित नहीं रहता।

प्रश्न उठता है कि क्या इतने संकीर्ण क्षेत्र के विद्रोह से मानव-जीवन की स्थितियों में कोई व्यापक परिवर्तन आ सकेगा? आज मनुष्य इतना त्रस्त, दुखी, संतप्त, पीड़ित और अभाव-ग्रस्त है, तो इसका मूल कारण क्या उस समाज व्यवस्था में नहीं खोजना चाहिए, जो इन स्थितियों को पैदा करने के लिए ज़िम्मेदार है? लेकिन इस दशा में खोज का परिणाम शायद पुनः प्रगतिवादी विचारधारा तक नये मार्ग से पहुँचना हो—किन्तु उस 'डेड एण्ड' से टकराते रहने से तो यह यात्रा साहित्य के लिए ज़्यादा फलवती हो सकती है। पुनः व्यापक सामाजिक सन्दर्भों की स्वीकृति रचनात्मक प्रेरणा के नये क्षितिज खोल सकेगी।

: ३ :

एक और प्रश्न है जो सामयिक महत्त्व का है, किन्तु जिस पर विशेषांक में विचार नहीं हो सका। हम यहाँ पर उस प्रश्न को पेश करके साहित्यकारों से अपेक्षा करेंगे कि वे उस पर अगले अंकों में विचार प्रकट करें।

प्रश्न यह है कि क्या 'भारतीय-साहित्य' जैसी कोई चीज़ है, यदि नहीं है तो उसका विकास क्या और कैसे सम्भव है ? कई साल पहले, जहाँ तक याद आता है, श्री बालकृष्ण राव ने किसी अन्य प्रसंग में यह प्रश्न उठाया था। दरअसल उन्होंने कहा था कि अभी तक 'भारतीय-साहित्य' जैसी कोई चीज़ नहीं है और न 'भारतीय लेखक' जैसा कोई 'जन्तु' ही। हमारा प्रश्न इस वक्तव्य मे ही निहित है। पश्चिम में अंग्रेज़ी, स्पैनिश, फ्रांसीसी, जर्मन, अमरीकी, इतालवी आदि भाषाओं के अलग-अलग अत्यन्त समृद्ध साहित्य हैं, लेकिन हम उनको सामान्य रूप से 'पाश्चात्य साहित्य' के अन्तर्गत रखकर भी पुकारते हैं। सोवियत यूनियन में दर्जनों भाषाओं का अपना-अपना साहित्य विकसित हो रहा है, लेकिन दुनिया के लिए वह रूसी या उज़बेक साहित्य के अलावा 'सोवियत साहित्य' भी है।

इसके विपरीत हमारे यहाँ बंगाली, तमिल, गुजराती, पंजाबी, असमिया, हिन्दी आदि अलग-अलग साहित्य तो हैं लेकिन उन्हें हम 'भारतीय साहित्य' जैसी किसी परिकल्पना में नहीं बाँध सकते। इसी तरह हम किसी को बंगाली, तमिल या हिन्दी लेखक तो कह सकते हैं लेकिन 'भारतीय लेखक' नहीं, जैसे सोवियत लेखक या पाश्चात्य लेखक सामान्यतः कहे जाते हैं। प्रश्न है कि ऐसा क्यों है ? क्यों हमारी विभिन्न भाषाओं के साहित्य इतने दीर्घकालीन राष्ट्रीय आन्दोलन की एकता-विधायक प्रेरणाओं के बावजूद परस्पर ऐसी सामान्य परम्पराओं का विकास नहीं कर सके कि वे अपनी-अपनी अलग हैसियत रखकर भी एक व्यापक समष्टि के अंग बन सकते ? क्यों विभिन्न भाषाओं के साहित्य अपनी क्षेत्रीय सीमाओं से बाहर प्रभावशाली नहीं हो पाते ? क्या कारण है कि रवीन्द्रनाथ, शरत्, बंकिमचन्द्र, ग़ालिब और इक़बाल को छोड़कर अन्य भाषाओं के बड़े लेखक सार्वदेशिक महत्ता नहीं प्राप्त कर सके ? ये और इनसे सम्बन्धित अनेक ऐसे प्रश्न हैं जिन पर समुचित विचार होना चाहिए।

: ४ :

अन्त में एक प्रश्न राजनीतिक है; किन्तु जिसका उत्तर व्यक्तिगत रूप में हर लेखक को स्वयं अपने-आप देना होगा। साहित्यिक शब्दावली में पिछले कई वर्षों से हमारे यहाँ लेखक और उसकी प्रतिबद्धता का प्रश्न उठाया जाता रहा है। लेखक एक व्यक्ति नागरिक या एक रचनाकार के रूप में किसीके प्रति उत्तरदायी है या नहीं—इस प्रश्न का कोई स्पष्ट और सर्वमान्य उत्तर इस बीच नहीं दिया गया। स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले इस प्रश्न में कोई जटिलता नहीं थी। लेखन का एक सामाजिक उद्देश्य है और लेखक नागरिक की हैसियत से ही नहीं, बल्कि सामाजिक जीवन के चितेरे के रूप में भी अपने देश और काल की केन्द्रीय समस्याओं और संघर्षों में भाग लेना अपना नैतिक दायित्व समझे, यह उस समय की सामान्य धारणा थी और प्रगतिवादियों ने जब 'लेखक और समाज' का प्रश्न उठाया तो केवल इस सामान्य धारणा को अधिक मूर्त सामाजिक सन्दर्भ देने की ख़ातिर। देश और काल के प्रति यह लेखक की जागरूकता का नया आयाम था, राजनीतिक चेतना जिसका अभिन्न अंग थी। लेकिन स्वतन्त्रता के बाद राजनीतिक समस्याओं को नई पीढ़ी के लेखकों ने एक साहित्येतर चेतना माना। इसके कई कारण थे। यद्यपि पूँजीवादी समाज की विषमताओं और अनैतिकता के प्रति वे बेख़बर नहीं थे लेकिन स्तालिन कालीन अतिवादों का पर्दाफ़ाश होने से साम्यवाद के प्रति उनकी आस्था अडिग नहीं रह सकी और हर प्रकार की राजनीतिक विचारधाराओं,

पार्टियों और आन्दोलनों के प्रति उनमें एक अनास्थापूर्ण अविश्वास का भाव पैदा हो गया। पूँजीवाद और समाजवाद का संघर्ष वर्तमान युग का केन्द्रीय संघर्ष है और दोनों तरफ़ के अतिवादों के बावजूद हर व्यक्ति को इस संघर्ष में भाग लेने के लिए कूदना पड़ेगा—इस बात की सामान्यतः उपेक्षा की गई। लेखक किसी बाह्य सत्ता, वर्ग, विचार, दल या आन्दोलन के प्रति प्रतिबद्ध नहीं है, बल्कि उसकी प्रतिबद्धता केवल अपनी भावनाओं, अपने अनुभवों और अपनी रचना के प्रति ही है—इस धारणा को पहले की धारणा के मुक़ाबले में रखकर जैसे दोनों परस्पर-विरोधी और प्रतिद्वन्द्वी धारणाएँ हों, स्वीकारा गया। लेखक अपने और अपनी रचना के प्रति ईमानदार हो, यह एक नारा बन गया जिसमें हर प्रकार की सामाजिक प्रतिबद्धता और दायित्व को नकारने का भाव जैसे अन्तर्निहित था। पिछले तीन दशकों के अपने साहित्यिक जीवन में हमने ऐसे अनेक एकांगी मतवादों को साहित्य में उभरते और गिरते देखा है। उनमें सत्य का एक अंश ही रहता है, जो उनकी शक्ति का स्रोत होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि लेखक की प्रतिबद्धता सम्बन्धी ये दोनों धारणाएँ परस्पर-विरोधी नहीं हैं, एक-दूसरे की पूरक हैं और एक जागरूक लेखक की शक्ति इसमें है कि दोनों ही उसके भावबोध और विश्वबोध का अभिन्न अंग हों। उसकी सम्पूर्ण चेतना का अन्तःसंस्कार हों। लेखक अपने और अपनी रचना के प्रति ईमानदार हो, और अपने देश और काल के प्रति ईमानदार हो, एक समर्थ रचनाकार से यह अपेक्षा ही नहीं की जाती, यह उसकी बौद्धिक चेतना का सहज गुण भी होता है।

यह माना कि विश्व पर युद्ध और आणविक अस्त्रों का आतंक छाया है और किसी समय भी सभ्यता और संस्कृति उनकी ज्वाला में भस्म हो सकती है लेकिन इस आतंक के आगे अपनी सामाजिक चेतना को मूर्छित करके तटस्थ हो जाना या अपने मन की कन्दराओं में घुसकर केवल क्षणों में जीना ही आदमी की नियति नहीं है। दरअसल यह न तो एक दार्शनिक प्रश्न है न नैतिक, बल्कि एक सीधा-सादा व्यावहारिक प्रश्न है। अगर आँख खोलकर दुनिया को देखें तो मालूम होगा कि आज के अनेक सन्दर्भों में इस तरह का तटस्थतावादी-अनास्थावादी दृष्टिकोण एकांगी ही नहीं, एक हास्यास्पद भंगिमा-मात्र है जिसके बग़ैर भी लेखक अपने और अपनी रचना के प्रति ईमानदार रहता हुआ उस साहित्य का सृजन कर सकता है जो युग की समस्त वेदना को अभिव्यक्ति देता है और जो युग के संघर्षों में मनुष्य-मात्र की प्रेरणा भी बनता है। युद्ध से मनुष्य-जाति का सर्वनाश आज सम्भव है और यह चेतना ही कर्म की प्रेरणा का स्रोत है। ऐसे सर्वनाशी युद्ध के ख़तरे के बावजूद साम्राज्यवादी दूसरे देशों में हस्त-क्षेप करके या वहाँ नए-से-नए युद्धास्त्रों का प्रयोग करके लाखों निरीह और निरस्त्र लोगों को मारने और तबाह करने से बाज़ नहीं आ रहे। वियतनाम इसकी मिसाल है। अगर वियतनाम के लोग भी उसी अन्दाज़ में युग के भावबोध और युद्ध के त्रास और आतंक की बातें करके तटस्थ बैठ जाते जिस अन्दाज़ में इन धारणाओं का प्रचार हमारे यहाँ किया गया है, तो वे अब तक न केवल अपनी आज़ादी से हाथ धो बैठे होते, बल्कि अमरीकी साम्राज्यवाद के कब्ज़े में सारा दक्षिण-पूर्वी एशिया होता और शायद तीसरे महा-युद्ध की आग में हम सब भी भस्म हो चुके होते। वियतनाम की जनता आज अपनी आज़ादी और विश्वशान्ति दोनों के लिए एक साथ ही अपना खून बहा रही है, यह बात लेखक की प्रतिबद्धता के प्रश्न को हमारे देश में एक नया सन्दर्भ प्रदान

करती है और इस पर बहुत गम्भीरता से विचार करने की ज़रूरत है।

जापान एशियाई देशों में सबसे उन्नत और समृद्ध देश है। उसकी उन्नति और समृद्धि अमरीका के समकक्ष है। पिछले युद्ध के बाद से जापान में अमरीकी प्रभाव जितना प्रबल रहा है उतना अन्यत्र नहीं। अमरीकी साहित्य, अमरीकी जीवन-पद्धति, अमरीकी संगीत और कला का जैसा अन्धानुकरण जापान में हुआ है वैसा एशिया में और कहीं नहीं हुआ। कुछ समय पहले तक वहाँ के तरुण लेखक और बुद्धिजीवी प्रगतिशील राजनीति और सामाजिक दायित्वों की बात पर उसी तरह नाक-भौं सिकोड़ते थे जिस तरह हमारे यहाँ अब एक फ़ैशन बनता जा रहा है। जापानियों के मुक़ाबले में हमारे देश का जीवन, यहाँ तक कि दिल्ली, कलकत्ता जैसे महानगरों का जीवन भी देहाती है और वहाँ के लेखकों के रहन-सहन, सोचने और विचारने के मुक़ाबले में हमारे तरुण लेखकों के रहन-सहन और सोचने-विचारने का स्तर ठेठ गँवारू है। यह बात मैंने इस बार जापान जाकर महसूस की। लेकिन आधुनिक जीवन तथा अमरीकी दबावों के बावजूद वियतनाम के युद्ध ने जापान के नए-पुराने लेखकों और बुद्धिजीवियों को इतने ज़ोर से झकझोरा है कि उन्होंने आज प्रगतिशील राजनीतिज्ञों से भी एक क़दम आगे बढ़कर समस्त जापानी जनता का बौद्धिक नेतृत्व अपने हाथ में ले लिया है और अमरीकी साम्राज्यवाद और वियतनाम में उसके वर्बर कारनामों के विरुद्ध जापानी जनता को उभारने में वे एक सशक्त भूमिका अदा कर रहे हैं।

हीरोशीमा और नागासाकी में एटम और हाइड्रोजन बम के विरुद्ध विश्व सम्मेलन में भाग लेने के बाद जब मैं टोकियो पहुँचा तो ज्ञात हुआ कि वहाँ के लेखकों और बुद्धिजीवियों ने 'बेहरिन' नाम की एक संस्था बनाई है, जिसका अर्थ है 'वियतनाम में शान्ति के लिए दो देशों का सम्मेलन'—अर्थात् जापान और अमरीका के बुद्धिजीवियों का सम्मेलन। दो देशों का सम्मेलन इसलिए कि अमरीका वियतनाम में हमलावर है और जापान उसका एशिया में सबसे बड़ा हवाई और समुद्री अड्डा है जहाँ से वियतनाम के लोगों की हत्या के लिए फ़ौजी कुमक भेजी जाती है। इसलिए अगर वियतनाम का युद्ध विश्वयुद्ध में परिणत हुआ तो अमरीका के साथ-साथ जापान भी एटम बमों का शिकार बनेगा और तबाह होगा। यह चेतना हर जापानी के मन में जागृत हो रही है और इसीलिए जापान में वियतनाम युद्ध के विरुद्ध और ओकीनावा तथा अन्य स्थानों से अमरीकी फ़ौजी अड्डों को हटाने के लिए इतना प्रबल आन्दोलन है। जापानी इक्कीस साल पहले हीरोशीमा और नागासाकी में अमरीकी एटम बमों की तबाहकारी देख चुके हैं और नहीं चाहते कि दुनिया के किसी भी हिस्से में फिर कोई हीरोशीमा और नागासाकी बने। इसीलिए अमरीकी हमले के विरुद्ध वियतनाम की जनता के संघर्ष को वे अपनी आज़ादी का संघर्ष मानते हैं। यह भावना नई नहीं है। वहाँ का समाजवादी और साम्यवादी आन्दोलन इसके लिए वर्षों से संघर्ष करता आ रहा है, लेकिन पिछले दो साल से इस संघर्ष में लेखकों, वैज्ञानिकों, दार्शनिकों, कलाकारों आदि का आगे बढ़कर हिस्सा लेना और अपनी सरकार को चुनौती देना वहाँ के बौद्धिक जीवन में एक नया मोड़ है जो आधुनिक जापानी साहित्य और कला के लिए भी एक मुक्तिदायी विकास है। बेहरिन की कान्फ्रेन्स में मैंने अन्य देशों से निमन्त्रित किये गए दर्शक प्रतिनिधियों के रूप में भाग लिया और जब पन्द्रह अगस्त को

बेहरिन की ओर से टोक्यो में एक विशाल पब्लिक रैली हुई जिसमें कान्फ्रेन्स के निर्णय जनता को बताये गए तो मैंने अपने भाषण में भारत की ओर से उन्हें आश्वासन दिया कि भारत की जनता और बुद्धि-जीवी भी वियतनाम युद्ध के विरुद्ध हैं और उन्हीं की तरह चाहते हैं कि अमरीकी वहाँ से अपनी फ़ौजें हटाकर वियतनाम के लोगों को अपने भविष्य का निर्णय स्वयं करने दें।

कहने का तात्पर्य यह है कि उन राजनीतिक प्रश्नों से तटस्थता, जिन पर विश्वशान्ति का प्रश्न निर्भर करता है, लेखक के लिए आज की स्थिति में उचित नहीं है। स्वयं लेखक के अपने साहित्यिक विकास की दृष्टि से भी क्योंकि वह उसके जीवन बोध को संकीर्ण बनाता है। युद्ध के आतंक से संसार को मुक्ति दिलाने का एक ही रास्ता है और वह यह कि जहाँ कहीं की जनता बाह्य हस्तक्षेप और आक्र-मण के विरुद्ध अपनी आज़ादी के लिए संघर्ष कर रही हो उसका मुक्त हृदय से साथ दें, उसके संघर्ष को अपना संघर्ष समझें। विश्व की जनता के साथ जब तक लेखक के रूप में हम ऐसा अटूट और अभिन्न सम्बन्ध स्थापित नहीं करते तब तक साहित्य और कला को भी उन मानव-द्रोही संकीर्ण भावनाओं से निकालकर विश्वजनीन साहित्य की रचना नहीं कर सकते जो कुण्ठा और अनास्था के वर्तमान वातावरण में ही सार्थक न लगे बल्कि आगे भी जिसकी सार्थकता रहे। वियत-नाम का प्रश्न ऐसा है जिस पर लेखकों को व्यक्तिगत रूप से भी और सामूहिक रूप से भी अपने अन्तःकरण को कुरेदकर अपनी मान्यताओं की घोषणा करनी चाहिए ताकि भारतीय जन-मानस उद्‌बुद्ध हो सके और अमरीकियों द्वारा किए जाने वाले उस हत्याकाण्ड को बन्द कराया जा सके, जिसके प्रति तटस्थ रहना हर व्यक्ति को असंवेदनशील, अमानवीय और बर्बर बनाता है।

शिवदानसिंह चौहान

विजयकुमार शुक्ल

साहित्येतिहास : विधा एवं स्वरूप

आज हिन्दी-भाषा-साहित्य में 'साहित्येतिहास' के प्रकाशन का स्तर गिरता जा रहा है। नयी कविताओं व कहानियों द्वारा नवलेखन के सन्दर्भ में 'आधुनिकता-बोध' को पारिभाषिक अर्थ-बोध मिलता जा रहा है। और वहीं साहित्येतिहास के माध्यम से मूल्यों का ह्रास हो किन्तु चिन्तकों को इस दिशा में चिन्तना न हो, आश्चर्य की बात है। मैं समझता हूँ कि छायावाद के पश्चात साहित्येतिहास-लेखन या तो पूर्वग्रहमूलक है या दल-प्रभावित है या आचार्य शुक्ल के साहित्येतिहास का अनुकरण व मात्र नकल है। मूल प्रवृत्ति की गहराइयों में पैठ करने की मानो क्षमता रही नहीं, इसका दोषी कौन? दोषी वह प्राध्यापक समाज है जिसके पास पाठक के रूप में विद्यार्थी वर्ग है, वे उनकी सामग्री के ग्राहक हैं और छपास की पूर्ति के लिये उनके पास उक्त कारण से प्रकाशन संस्थाएँ भी हैं। साधन व सुविधा से सम्पन्न होने पर भी विश्वविद्यालयीन स्तर पर अभी तक ठीकठिकाने के साहित्येतिहास ग्रन्थ नहीं हैं, प्रायः बुर्जुआ प्राध्यापकों के मुख से सुना जाता है कि आचार्य शुक्ल का इतिहास ही श्रेष्ठ है और वैसा इतिहास लिखा नहीं जा सकता। साहित्येतिहास का श्रेष्ठ होना केवल काल-निर्धारण पर मात्र अवलम्बित नहीं, न उसके मूल्य-बोध के समाविष्ट पर ही। श्रेष्ठ साहित्येतिहास के गुण उसके अनेक समाविष्ट गुणों व तत्त्वों की सम्पूर्णता पर निर्भर करते हैं।

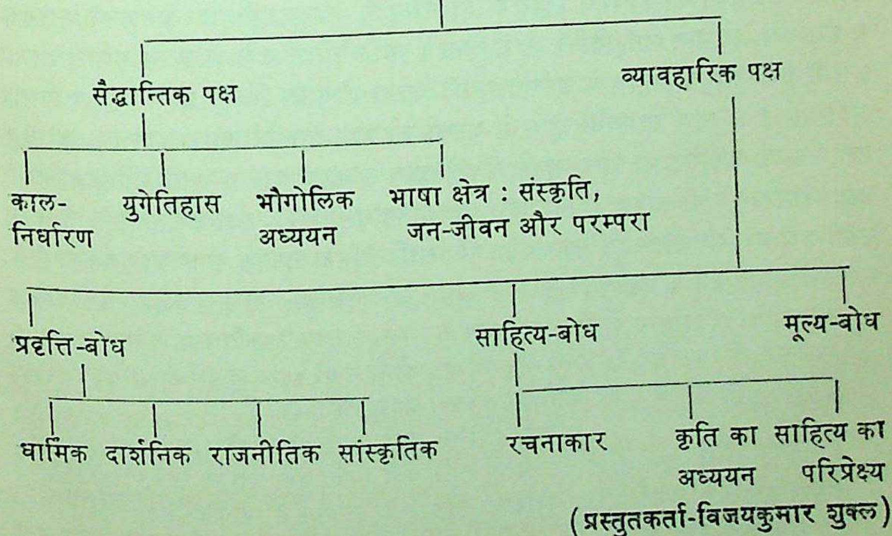
आचार्य शुक्ल कृत साहित्येतिहास हिन्दी में प्रथम बार ऐसा प्रयास माना जायगा जिसमें वैज्ञानिक काल-निर्धारण करके प्रवृत्तियों के अध्ययन के परिप्रेक्ष्य में कृतियों के मूल्य-बोध को प्रस्तुत किया गया है। उक्त गुण-वैशिष्टय के कारण अपने पूर्व साहित्येतिहासों से पृथक माना गया आचार्य शुक्ल का साहित्येतिहास। जहाँ एक ओर आचार्य शुक्ल के साहित्येतिहास में गुण-सम्पन्नता है, वहाँ काल-निर्धारण करने में प्रवृत्ति एवं समय के बीच साम्य नहीं है बल्कि पृथकता है। कवि-क्रम के प्रस्तुत करने की परिचयात्मक पद्धति, पूर्व साहित्येतिहासों की भाँति, सूची पेश करने का जैसा टाँकने का कार्य भी आचार्य शुक्ल ने भी सम्पादित किया। दूसरे शब्दों में, आचार्य शुक्ल ने काल-निर्धारण का वैज्ञानिक आधार अवश्य स्वीकार किया लेकिन कहीं प्रवृत्ति प्रमुख है, कहीं कवि का व्यक्तित्व अथवा मात्र कृतित्व। आज शोध-मूल्यों का परिप्रेक्ष्य अधिक व्यापक हो गया है जिन्हें समाविष्ट करना उनके बाद के साहित्येतिहासकारों के धर्म में था। यह अधिक उचित होता, यदि समस्त मान्यताओं को समाविष्ट करके आचार्य शुक्ल की अशोधित सामग्री के पठन से हिन्दी पाठकों को बचा लिया जाता।

आचार्य शुक्ल का काल-निर्धारण आउट ऑफ़ डेट है, उसमें वैज्ञानिकता आचार्य शुक्ल की समय-दृष्टि से अवश्य रही होगी। आचार्य शुक्ल के मूल्य-बोध का स्तर आज तो एकांगी कहा ही जाता है, उनके वर्तमान रहने पर ही अनेक उनके समकालीन लोगों ने उक्त आरोप किया था, चुनौती दी थी। मूल्य-बोध का स्वरूप सदैव आलोचक की निजी मान्यताओं के अनुसार निर्धारित होता है। 'मूल्य', प्रतिमान आलोचक व रचनाकार के अनुसार अनुदृष्टि-प्रधान हुआ करता है। आचार्य शुक्ल के काव्यगत प्रतिमान उनके तर्क पर आधारित हैं, उनका दृष्टिकोण सामाजिक उपयोगिता के परिप्रेक्ष्य में विशेष महत्त्व रखता है, यही कारण है कि कबीरदास व सूरदास तथा छायावाद के कवि आचार्य शुक्ल के प्रतिमान के सम्मुख उतना महत्त्व नहीं रखते जितना तुलसीदास या बाबू मैथिलीशरण गुप्त। सत्य तो यह है कि आलोचना व मूल्यांकन साहित्येतिहास का अनिवार्य गुण-तत्त्व नहीं है, यदि वह न भी हो तो भी साहित्येतिहास को कोई क्षति न होगी। यदि हो, तो प्रतिमान की स्थिति-बोध उसके आलोचक-व्यक्तित्व का बोध माना जायगा।

आचार्य शुक्ल का इतिहास ठीक से देखा जाय तो उनके पूर्व के इतिहास-परम्परा में भी वह व्यवस्थित हो जाता है और उससे हटकर भी दिशा-बोध देने में समर्थ है क्योंकि वह आज भी मूल्य-बोध की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। संकलन की प्रवृत्ति कवियों को काल-क्रम के अनुसार या कवि की कविता के उदाहरण पेश करने की शैली आदि वास्तव में शुक्लजी पर पूर्व-परम्परा का ही प्रभाव कहा जायगा। मूल्य-बोध को स्थिर करने का पक्ष वहाँ है जहाँ आचार्य शुक्ल अपनी आदर्शवादी काव्य-मान्यता या सिद्धान्त का व्यवहार आरम्भ से अन्त तक एक अविरल धारा के रूप में प्रवाहित करते हैं। आचार्य शुक्ल द्वारा प्रस्तुत इतिहास समसामयिक राजनीति, सामाजिक, धार्मिक स्थिति की व्याख्या में रचित 'प्रकार' की स्थूलता मात्र नहीं है, बल्कि यह तो है ही, उसमें उनकी काव्यगत मान्यताओं का स्थिर संस्कार भी संयोजित है। वे यदि स्वयं में स्थिर न होते तो कबीर, सूर और छायावादी कवियों की आलोचना करने के लिए उद्यत न होते। छायावाद अल्पायु हो गया, कारण था—उनका इतिहास जिसमें सतर्क था उनका आलोचक या कहिए उनकी काव्य-मान्यताएँ। यदि आचार्य शुक्ल ने जीवन-मूल्यों के विकास के लिए आदर्शवादी, समाजोपयोगी, लोकसंग्रहमूलक भावना प्रधान प्रबन्ध-काव्य की मान्यता को उसकी व्यापकता और गहराई के आयाम (डाइमेंशन) में सेट करके पेश न किया होता तो उनका आलोचक व्यक्तित्व छायावाद को क्षत-विक्षत न कर सका होता। जीवन के परिप्रेक्ष्य में ही काव्य की गहराई में पाठक डूबता है और उसका विस्तार ही समाज के पक्षों का उद्घाटन करता है। जीवन के परिवेश में व्यष्टिगत तत्त्वों का संयोजन आचार्य शुक्ल नहीं चाहते बल्कि समष्टिगत संयोजन चाहते हैं ताकि समाज-बोध के साथ साहित्य-बोध भी सम्भव हो। उनकी प्रबन्ध-काव्य या कहिए लोकसंग्रह-भावना की माँग स्थूल व्यापकता मात्र नहीं है, बल्कि विचारों की सूक्ष्म गहराई लिये हुए है। उनके प्रबन्ध में समाज की जीवन-गत आवश्यकताओं की पूर्ति का विधान है और काव्य-मान्यताओं में जीवन की

अनुभूतियों का संकलन है। आचार्य शुक्ल समुद्र के विस्तार में जल-राशि की एक बूंद भी उपेक्षित नहीं होने देना चाहते। प्रबन्ध-शिल्प के फ्रेम में काव्य-चित्रों का अलबम कलात्मक रूप से सज्जित हो, उनका यही अभीष्ट है। इस प्रकार शुक्लजी में कण्टेंट पूर्व इतिहासकारों की परम्परा है और 'फार्म' के अन्तर्गत उनकी मान्यताएँ सुस्थिर होकर इतिहास-काया को प्राणान्वित करती हैं। जहाँ तक प्रश्न 'औसतवाद' का है, वह इतिहास में लेकर चलना ही पड़ता है। इसी औसत से दूर होने के कारण आज भी आचार्य शुक्ल के बाद कोई ठीक-ठिकाने का साहित्येतिहास सामने नहीं आया।

साहित्येतिहास को विधा-रूप दिया जाना चाहिए अन्यथा साहित्य-जगत् में संकट उत्पन्न हो सकने की सम्भावना है। विधा ललित व रचनात्मक साहित्य के अन्तर्गत अंग-रूप में स्वीकृत होती आई है। निःसन्देह, विधा-बोध रचनात्मकता व कृतित्व में है किन्तु विवेचन, आलोचन, समीक्षा में भी है, क्या उसके मूल उत्स में रचना का मूल्य ही विकसित होता है? विधा की परिभाषा होगी—वह साहित्य का अंग-विशेष जिसकी पूर्णता में अनेक सहायक तत्त्वों का समावेश हो और वह अपनी प्रेषणीयता में अथवा अभिव्यक्ति शैली में मौलिक भिन्नता व अस्तित्व रखता हो। साहित्येतिहास का उद्देश्य मूलतः अपनी अभिव्यक्ति में समूचे देश या प्रदेश की भाषा के साहित्य-दर्शन द्वारा विभिन्न युग व काल की संस्कृति व सभ्यता, मानवता व जातिगत गुणों की व्याख्या प्रस्तुत करना है। साहित्येतिहास-लेखन प्रबन्धात्मक है। साहित्येतिहास विधा इसलिए भी मैं मानता हूँ कि उसके अन्तर्गत निश्चित नियम, सिद्धान्त मान्यता व कसौटियाँ हैं, और उक्त शर्तों की पूर्ति के लिए साहित्येतिहास-लेखन बाध्य हैं और शर्तों के अभाव में वह विधा-रूप में पारिभाषित नहीं होगा।



(प्रस्तुतकर्ता-विजयकुमार शुक्ल)

साहित्येतिहास साहित्य और इतिहास दोनों की सन्धि से बना एक शब्द-रूप

है। स्वर्गीय पंडित नलिन विलोचन शर्मा ने इस शब्द का प्रयोग किया है, लेखक उनका आभारी है। किन्तु उन्होंने विभ्रमित होकर 'साहित्य का इतिहास-दर्शन' में उक्त शब्द का प्रयोग करके भी साहित्येतिहास को कहीं साहित्य का इतिहास और कहीं साहित्यिक इतिहास लिखा है। उन्होंने पश्चिमी भाषाओं के साहित्येतिहासों से सामग्री लेकर केवल अनुवाद करने का कार्य सम्पादित किया है। उन्होंने साहित्येतिहास को विधा रूप में व्याख्या कर उसके मौलिक पक्ष को उद्घाटित नहीं किया। हाँ, यह अवश्य है कि कहीं-कहीं 'विधा' का रूप प्रकट करने के उद्देश्य को अस्पष्ट रूप में व्यक्त अवश्य किया है। मैंने 'साहित्येतिहास' शब्द को एक 'टर्मनोलॉजी' रूप में अनेक आंग्ल कोशों में देखने की व्यर्थ चेष्टा की। साहित्येतिहास शब्द की आंग्ल टर्म क्या हो? मैंने उसे पहले 'हिस्ट्री ऑफ़ लिटरेचर' मानकर सन्तोष किया था। किन्तु हिस्ट्री व लिटरेचर की सन्धि से क्या आंग्ल टर्म नहीं बनायी जा सकती। दुस्साहस ही है कि मैंने हिस्ट्री (History) से हिस्टो (Histo) और लिटरेचर (Literature) से लिट् लेकर सन्धि-रूप में हिस्टॉलिट् (Histolit) कहना उचित समझा। मैं समझता था कि आंग्ल-भाषा में दुनिया की हर बात मौजूद है।

साहित्येतिहास के अन्तर्गत 'विकास' प्रस्तुत करनेवाली कृतियाँ भी स्वीकृत हैं। इतिहास और विकास में शाब्दिक अन्तर के साथ ही साहित्येतिहास सन्दर्भ में भी भिन्न अर्थ होगा। इतिहास में विकास अन्तर्भूत होता है और नहीं भी, किन्तु विकास में इतिहास पूर्णतः अन्तर्भूत रहता है। इतिहास में विकास का उतना ही आग्रह है जितना पतन का। अतएव साहित्येतिहास विधा के दो पक्ष स्वाभाविक रूप में स्पष्ट हो जाते हैं—(१) इतिहास-पक्ष[१] और (२) विकास-पक्ष[२]।

साहित्येतिहास में इतिहास की परिभाषा में यथातथ्य रूप में स्वीकृत भूतकालीन घटनाओं का विवरण निश्चय ही मान्य है किन्तु इतिहास के अपने यथारूप व रूढ़ रूप से भिन्न साहित्येतिहास में होगा। साहित्येतिहास में इतिहास गुण व तत्त्व-रूप में है। साहित्येतिहास में इतिहास की घटना गौण है किन्तु प्रवृत्ति की प्रधानता अनिवार्य है। जहाँ साहित्येतिहास में घटना की प्रधानता उसे स्थल बना दे, वहाँ वह वृत्त संकलन बन जायगा और वह साहित्येतिहास न कहा जाकर 'साहित्येतिहासाभास' कहा जायगा। यही कारण है कि शुक्ल पूर्व इतिहास-सामग्री साहित्येतिहास नहीं कही गयी, उसे वृत्त-संकलन मात्र कहा गया या साहित्येतिहासाभास कहा जा सकता है।

१. "साहित्येतिहास भी अन्य प्रकार के इतिहासों की तरह कुछ विशिष्ट लेखकों और उनकी कृतियों का इतिहास न होकर, युग-विशेष के लेखक-समूह की कृति-समष्टि का इतिहास ही हो सकता है। इस पर, सिद्धान्त और व्यवहार दोनों में ही ध्यान न देने के कारण साहित्यिक इतिहास ढीले सूत्र में गुँथी आलोचना का रूप ग्रहण करता रहा है।"

—नलिन विलोचन शर्मा, 'साहित्य का इतिहास-दर्शन', भूमिका।

२. "साहित्य का इतिहास सामाजिक अथवा साहित्य में व्यक्त तथा उदाहृत विचारों का इतिहास अथवा काल-क्रम से उल्लिखित विशिष्ट कृतियों के सम्बन्ध में भावनाओं तथा निर्णयों का इतिहास-मात्र होता है।"

—नलिन विलोचन शर्मा, 'साहित्य का इतिहास-दर्शन', पृ० ३४।

साहित्येतिहास में प्रवृत्ति की प्रमुखता होने से आचार्य शुक्ल को विशेष गौरव प्रदान किया गया। प्रवृत्तियों के संश्लेषण व विश्लेषण के अभाववश कृतियों का व्यापक रूप में मूल्य-निर्धारण भी नहीं हो पाता और साहित्येतिहास का इस अभाव में हृदय की गति-जैसा बन्द होने का परिणाम होता है। वृत्त के घटनामूलक रूप में प्रस्तुत होने से क्या प्रवृत्ति उसमें अन्तर्भूत होने की स्थिति को खो बैठती है? प्रवृत्तियों के स्थूल व्यापार घटनाप्रधान तो होते ही हैं, इसी प्रकार साहित्येतिहास में वृत्त को उपेक्षित रखकर मात्र प्रवृत्ति-व्याख्या से क्या वह सोद्देश्य हो सकेगा? ऐसे प्रश्न के लिये मेरा कहना है कि किसी शासन या राज्य के इतिहास में[1] प्रवृत्ति के स्थान पर घटनाओं का साक्ष्य प्रस्तुत करना उसे सोद्देश्य बना सकता है किन्तु साहित्येतिहास में प्रवृत्ति-विश्लेषण की और उसके तथातथ्य प्रस्तुत दर्शन की महत्ता रहती है। प्रवृत्ति-विश्लेषण में घटनाएँ या तो साम्य दिखाने के लिए या पुष्टिकरण की निमित्त बनती हैं। साहित्येतिहासकार युग-प्रवृत्ति-बोध को रचना व साहित्य की निर्माणोन्मुख दिशाओं के माध्यम से प्रस्तुत करने में यदि सफलता पा जाय तो निश्चय ही उसके ऐसे कृतित्व को कलात्मक प्रयास माना जायगा।

विकास (डेवलपमेंट या ग्रोथ) में इतिहास का अस्तित्व प्रधान होता है। सामान्यतः जब कोई साहित्येतिहास-लेखक किसी विधा के उद्भव को ध्यान में रखते हुए 'विकास' लेखन-कार्य सम्पादित करता है तो उसके दो उद्देश्यों पर दृष्टि जाती है प्रथम, क्या वह विधा-विशेष के माध्यम से प्रवृत्ति-बोध का विकास दे रहा है अथवा द्वितीय, विधा के शैलीगत बाह्य-रूप का विकास दे रहा है। प्रवृत्तियों का विकास दर्शाना सम्भव नहीं, क्योंकि प्रवृत्तियाँ विकासमान नहीं होतीं बल्कि वे व्यापक गहराई के बीच जाकर प्रसरित होती हैं। 'विकास' (Growh) ऊँचाई का बोध अधिक देता है। 'विकास' शब्द-प्रयोग का औचित्य विधा के बाह्य अंग-रूप में अधिक है। आज शोध-प्रबन्ध-लेखन में 'उद्भव और विकास' की जो परम्परा रूढ़ हो चली है, उसे देखते हुए शोध-कर्त्ताओं पर दया अधिक आती है कि वे 'विकास' को प्रवृत्तियों के अर्थ में भी ले लेते हैं। प्रवृत्ति अर्थ का सन्दर्भ फैलने तक ही लिया जा सकता है। विधा-विशेष के बाह्य-रूप प्रचलन को 'विकास' किसी सीमा तक स्वीकारा जा सकता है।

साहित्येतिहास के इतिहास पक्ष की स्थिति-निदर्शन से जानना चाहिये कि इतिहास के अन्तर्गत विवेचन प्रवृत्ति-दर्शन का स्वरूप क्या होगा? मैं समझता हूँ कि साहित्य के माध्यम से जो युग-समाज में फैली प्रवृत्ति है, वही यथातथ्य रूप में प्रस्तुत करना साहित्येतिहास-लेखन-धर्म में स्वीकृत होगा। विचारणीय है कि साहित्येतिहास

---

१. इतिहास (हिस्ट्री) का + + लौकिक और व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है 'गवेषणा या गवेषणा से प्राप्त जानकारी या गवेषणा की किसी प्रक्रिया से उपलब्ध ज्ञान।' + + + यह अन्वेषण की प्रणाली है, + + उदाहरणार्थ, राजनीतिक इतिहास में राज्य की अतीत घटनाओं का विवेचन रहता है। + + विज्ञान के रूप में इतिहास की प्रक्रियाएँ क्या हैं। इसका प्रथम कार्य है प्रामाणिक तथ्यों का संकलन।

नलिन विलोचन शर्मा, 'साहित्य का इतिहास-दर्शन', पृ० ७-८।

में इतिहास पर साहित्य प्रवृत्तियाँ आच्छादित होती हैं या साहित्य पर इतिहास प्रभावशाली होता है ? इतिहास स्वयं में साहित्य से उतना ही निर्मित होता है जितना मूर्तिकला, चित्रकला या शासन-प्रबन्ध से । युग-बोध जो साहित्य द्वारा हो, वह इतिहास में स्वीकृत होगा ही । इतिहास की सम्पूर्णता में साहित्य सहायक व पूरक तत्त्व है । इसीलिए साहित्य में युग-सत्य को प्रधानता देते हुए उसे इतिहास-रूप मान लेने में मैं पीछे हटने के लिए विवश होता हूँ, क्योंकि साहित्य तो इतिहास देता है और इतिहास-क्रम में साहित्य-विवेचन होने से साहित्य इतिहास से कहीं भी हीन नहीं है। साहित्य का इतिहास, साहित्य-इतिहास, साहित्येतिहास नामकरण में साहित्य-निर्माण का स्थूल-क्रम-निर्धारण, 'सूचीपत्र' प्रधान हो जाता है । दोनों के बीच एक सन्धि की खोज होनी चाहिए । केवल 'लिटरेरी हिस्ट्री' को साहित्येतिहास मान लेने से किसी भी अभीष्ट की पूर्ति नहीं होगी । 'लिटरेरी हिस्ट्री' को अनेक आंग्ल विद्वान साहित्येतिहास-सन्दर्भ में पारिभाषिक अर्थ-बोध देते हैं, किन्तु 'लिटरेरी' शब्द 'हिस्ट्री' का विशेषण है । इतिहास से साहित्य-निर्माण-क्रम और साहित्य से प्रवृत्ति-दर्शन का सत्य-बोध, दोनों का समन्वय होना चाहिये ।

काल-निर्धारण : साहित्येतिहास में काल-निर्धारण इतिहास के स्थूल आधार पर किया जाना चाहिए । मैं समझता हूँ कि क्रम-निर्धारण के दो मुख्य भेद होंगे—(१) साहित्य-निर्माण तिथि-क्रम और (२) साहित्य-प्रवृत्ति-क्रम ।[1] उक्त दो के बीच मूल भेद स्पष्ट करना चाहिए । साहित्य-निर्माण तिथि-क्रम में वृत्तमूलकता की प्रधानता होगी । कहने का तात्पर्य है कि इस प्रकार रचना-तिथि-क्रम, क्रमशः रचना-निर्माण का समय व उसके अंग-उपांगों का वर्णनात्मक शैली में प्रस्तुत किया गया विवरण और लेखक की जीवनी (Biography) के कारण, वह मात्र संकलन (Collection) बन जाता है । इसे इतिहास का 'कंकाल' मात्र कहा जायगा । प्रवृति-क्रम में साहित्य को प्रभावित करने वाले सांस्कृतिक, धार्मिक, दार्शनिक प्रवाह की गति को प्रधानता दी जायगी । समस्या है कि उक्त दोनों के मध्य वह मूलकेन्द्र-बिन्दु कहाँ होगा जिस पर अध्ययन की वैज्ञानिकता को टिका सकें ? प्रवृत्ति-क्रम मात्र को महत्ता देने से साहित्येतिहास कंकाल-रहित हो जायगा और साहित्य-रचना के निर्माण-क्रममात्र को महत्ता देने से (वृत्त-संकलन प्रधान हो जाने से) कंकाल तो रहेगा किन्तु प्रवृत्ति के अभाव में प्राण का स्पन्दन होगा नहीं, अतएव दोनों के सामंजस्य में साहित्येतिहास का काल-निर्धारण स्वयं में पूर्ण होगा । साथ ही एक-दूसरे की अनुपूरकता के परिप्रेक्ष्य में सोद्देश्यता की प्रधान शर्त को पूरा किया जा सकेगा । आचार्य शुक्ल ने उदाहरण के लिए केशवदास को भक्तिकाल के फुटकल कवियों के खाते में रखा है, दूसरी ओर रीतिबद्ध प्रवृत्ति का उन्हें प्रवर्त्तक कवि माना है । किन्तु समय व प्रवृत्ति में अन्तराल है ।[2]

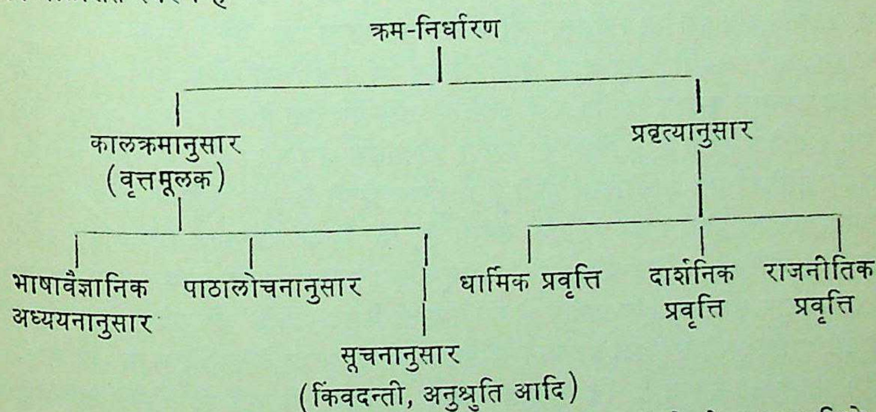
---

१. मेरे अनुसार क्रम-निर्धारण के वर्गीकरण की रूपरेखा है । यहाँ ध्यान रखना चाहिये कि मात्र कालक्रमानुसार साहित्येतिहास लेखन नितान्त स्थूल व वृत्तमूलक होगा इसलिए उक्त लेखन में प्रवृत्ति-बोध का सामंजस्य भी होना चाहिये । —लेखक

२. देखिए—हिन्दी साहित्य के इतिहास-ग्रन्थ एवं काल-निर्धारण । भाषा, सितम्बर, ६४ ।

काल-विभाजन की वैज्ञानिकता वर्गीकरण (Classification) में है। वर्गीकरण किसी प्रवृत्ति का अथवा रचना-निर्माण या कवि के जीवन-वृत्त के आधार पर करना सम्भव है। मेरा मत है कि यदि काल-विभाजन की साहित्येतिहास में वैज्ञानिक आधार-भूमि होगी तो यही कि एक कोण (Angle) से समय (काल) क्रम को अनु-दृष्टि में रखकर प्रवृत्तियों को देखा जाय और दूसरे कोण से प्रवृत्तियों को परिप्रेक्ष्य में रखकर समय (काल) की संस्थितियों को देखा जाय। सांस्कृतिक वाद-विवादों की पृष्ठभूमि इसलिए हो कि सम्पूर्ण कृतित्व वस्तुतः युग-सत्य का परिणाम है, यह भी परिलक्षित हो। काल-विशेष में प्रवृत्तियाँ पृथक व भिन्न न बनें तभी साहित्येतिहास का यह पक्ष पूर्ण माना जायगा। काल-निर्धारण में समय व प्रवृत्ति में सामंजस्य होना चाहिए।

'काल-निर्धारण' के अव्यवस्थित होने के कारण भी शुक्ल-पूर्व साहित्येतिहास लेखक किंचित् साहित्येतिहासकार कहे गये, कारण कि उनमें वस्तु संकलन, वृत्त संकलन और जीवनी प्रस्तुत करने का आग्रह अधिक रहा। उनमें कवि अथवा रचना-क्रम प्रस्तुत करने के अतिरिक्त देश-काल का समसामयिक प्रवृत्ति-निरूपण या उसके प्रभाव की स्थिति को अध्ययन-पृष्ठभूमि में अवस्थित करने की अतिरिक्त योजना का अभाव रहा। काल-निर्धारण साहित्येतिहास में अध्ययन के पक्ष मात्र की स्थूल आवश्यकता है। किसी भी अध्ययन को व्यवस्थित रूप देने में वर्गीकरण का महत्त्व होता ही है, अतएव काल-निर्धारण के लिए कवि-रचना-क्रम की समन्विति आवश्यक है। यह भी विचारणीय है कि कृतियों के सृजन के परोक्ष में प्रवृत्ति-धारा का प्रवाह होता है, इसलिए परिवर्तित प्रतिमान सृजन के माध्यम से विदित होंगे, अतएव कृतियों का मूल्य परोक्ष रूप में प्रवृत्तियों का मूल्य-बोध बन जाता है। काल-क्रम-निर्धारण का निम्नलिखित स्वरूप है—



तत्त्व प्रकार (Content) एवं स्वरूप बोध (Form), ये दो पक्ष साहित्येतिहास में आन्तरिक एवं बाह्य सन्दर्भों में अर्थ रखते हैं। बाह्य पक्ष मात्र शिल्प या अस्थि-कंकाल या ढाँचा तथा आन्तरिक पक्ष उक्त अस्थि-कंकाल में स्थित मांसल व आत्मागत चेतना-गुणों की सम्पन्नता का भावाशय रखेगा। स्वरूप-बोधक (फार्म)

के अन्तर्गत रचना-क्रम, कवि-जीवनी-पक्ष, वंशावली अथवा वहिर्साक्ष्य से प्राप्त सूचनाएँ, वर्गीकरण, काल-विभाजन या युग-विभाजन आदि स्वीकृत होंगे। तत्त्व प्रकार के अन्तर्गत साहित्य की मूल संवेदनशीलता, भावनागत चेतना, प्रवृत्ति, जीवन-दर्शन, सौन्दर्य-बोध, संस्कृति, ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में युग-बोध, सभ्यता, धर्म, विश्वास, परम्परा, प्रकृति-चित्रण-सन्दर्भ में भौगोलिक ज्ञान आदि स्वीकृत होंगे। सामान्यतः जीवनी, वंशावली-परिचय, रचना-परिचय के प्रस्तुतीकरण से साहित्येतिहास की आवश्यकता की पूर्ति नहीं होती। 'स्वरूप' (फार्म) से केवल कंकाल की सृष्टि ही सम्भव है, केवल साहित्येतिहास को आकार दिया जा सकता है किन्तु इतने मात्र संयोजन से किसी भी विधा में चेतना या गति नहीं उत्पन्न की जा सकती। दूसरे शब्दों में, तत्त्व-प्रकार (कंटेन्ट) किसी भी विधा के आन्तरिक चेतना-शक्ति के बोध देने में समर्थ होता है। परिणामस्वरूप तत्त्व-प्रकार (कंटेन्ट) और स्वरूप-बोध (फार्म) के परस्पर अनुपूरक तादात्म्य से ही वह पूर्ण बनता है। तत्त्व-प्रकार के स्थापन का कार्य (संस्कृति-दर्शन, प्रवृत्ति-दर्शन, युग-दर्शन, मानव-दर्शन) वस्तुतः साहित्येतिहास के प्रबन्धत्व में निहित औदात्य जैसी अपेक्षा का महत् कार्य है। साहित्येतिहास में इतिहास-क्रम या क्रम (क्रानॉलाजिकल ऑर्डर) और उसके वर्गीकरण द्वारा प्रस्तुत काल-निर्धारण स्थूल अंग-प्रत्यंग बोधक कार्य मात्र हैं।

'साहित्येतिहास' विधा में अतिरिक्त आवश्यकताओं पर ध्यान दिया जाना चाहिए—भाषा, भाषा-क्षेत्र, भाषा-क्षेत्र का भौगोलिक अध्ययन आदि। इसके पश्चात् साहित्य-अध्ययन का पक्ष स्वीकार होना चाहिए। मैं हिन्दी को 'भाषा' नहीं मानता क्योंकि हिन्दी वस्तुतः उत्तर भारत की बोलियों की सामूहिक एकता का प्रतीक मात्र है। दूसरे शब्दों में, उत्तर भारत की बोलियों का साहित्येतिहास ही हिन्दी का साहित्येतिहास है। जिस प्रकार वादों का उद्भव होता है और उसके माध्यम से प्रवृत्ति-दर्शनों का घटाटोप किसी एक युग-विशेष को प्रभावित करता है, उसी प्रकार हिन्दी के अन्तर्गत बोलियों को विभिन्न युगों में महत्त्व मिलता रहा, जैसे आरम्भ में अपभ्रंश, मैथिल, ब्रज, अवधी और आज खड़ी-बोली। अन्य बोलियाँ केवल लोक-वार्त्ताओं में केवल बकवास बनकर जीवित रहीं इसलिए साहित्येतिहास में उनका कोई महत्त्व नहीं रहा। प्रत्येक भाषा व बोलियों का अपना भौगोलिक क्षेत्र होता है। भाषा के अन्तर्गत अनेक बोलियाँ एवं उपबोलियाँ होती हैं। किन्तु हिन्दी के साथ ऐसी मान्यता व्यवहृत करना असंगत होगा। यह कहा जा सकता है कि 'हिन्दी' संस्कृति को जीवित रखने के लिए बोलियाँ साहित्य-बोध देने में सक्षम् होकर 'भाषा' ही थीं। जब उनका उपयोग या व्यवहार सभ्य साहित्य समाज से उठ गया तो वे पुनः 'बोली' हो गयीं। मेरा कहना है कि साहित्य की समृद्धता पा जाने के कारण बोली भाषा के रूप में मान्य हो जाती है। प्रश्न उठ सकता है कि 'संस्कृत' आज व्यवहार में नहीं तो 'बोली' क्यों नहीं मानी गयी? इसका मात्र उत्तर है कि हिन्दी बोलियाँ अपने भौगोलिक क्षेत्र सीमा में आज भी जीवित हैं, किन्तु सभ्यता के आवरण में उनके भाषा-गुण को ढँक लिया गया है। संस्कृत जीवन में भी नहीं है किन्तु जीवित साहित्य के कोश के कारण एवं अपनी प्राच्यता के कारण 'क्लासिकल' भाषा के रूप में मान्य है।

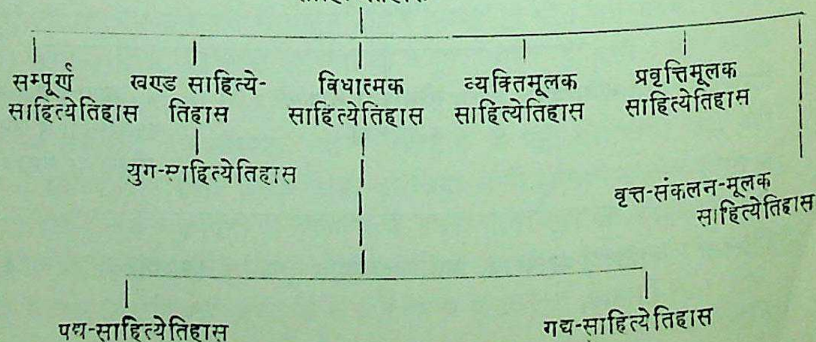
भाषा-क्षेत्र-सीमा[1] का निर्धारण-कार्य भौगोलिक प्रतिमानों पर आधारित होता है। उदाहरण के लिए, 'अवधी' का अध्ययन भौगोलिकता के परिप्रेक्ष्य में यदि किया जाय तो बस्ती, गोंडा, बहराइच, फैजाबाद, सुल्तानपुर, पूर्व इलाहाबाद, प्रतापगढ़, रायबरेली, जौनपुर (आजमगढ़ मार्ग पर १० मील छोड़कर) आदि के माध्यम से एक क्षेत्र-सीमा-रेखा तैयार की जा सकती है और उसकी सीमावर्ती बोलियों (जैसे भोजपुरी, बैसवाड़ी, खड़ी-बोली) के प्रभाव आदि का भी अध्ययन किया जा सकता है। इसके पश्चात् ही उस क्षेत्र की भौगोलिकता के परिप्रेक्ष्य में रीति-रिवाज़, परम्परा, विश्वास-धर्म, संस्कृति, साहित्य का अध्ययन करना न्याय-संगत होगा। भौगोलिक विशेषताओं के ज्ञापन से ध्वनि, उच्चारण आदि का भी महत्त्व सहज ही बोधगम्य हो सकता है। साहित्येतिहास के विधागत गुण को स्पष्ट करने की उद्देश्य-पूर्ति में बोली या भाषा की भौगोलिक सीमान्तर्गत प्रकृति-वैभव और उससे उद्भूत व विकसित परम्पराओं व धारणाओं का ज्ञान व बोध करना नितान्त आवश्यक है। इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि कोई रचनाकार अपने भूगोल व प्रकृति से पोषित जीवन-परम्पराओं से पृथक् रहता है। वह अपने भाषा या बोली-क्षेत्र की वनस्थली, प्राकृतिक सुषमा, पादप-पुष्प, पशु-पक्षी एवं जलवायु से भिन्न दिशा में यदि जाता है तो वह अपने जीवित रहने के धर्म से विपरीत जायगा। क्षेत्रीय संस्कृति का निर्माण भौगोलिक परिवेश में भाषा व बोली-साहित्य के माध्यम से होता है। जैसा मैं कह चुका हूँ कि हिन्दी के स्वरूप-निर्माण में बोलियों के साहित्य-सृजन का ही अस्तित्व है। 'हिन्दी' भाववाचक एकता-बोधक संज्ञा है। यदि पूर्णतः शास्त्रीय दृष्टि को रखकर भौगोलिक क्षेत्र-सीमा की मान्यता को व्यवहृत कर दिया जाय तो विघटन की प्रवृत्ति अधिक उभर सकती है। उस दशा में बोलियों के साहित्येतिहास की बात आ जायगी, सभी बोली इकाइयाँ स्वतन्त्र सत्ता रखने लगेंगी। उर्दू खड़ी-बोली की शैली मात्र है तो उसे हिन्दी साहित्येतिहास में स्वीकृति न देने से उसकी स्वायत्तता को मान बैठने के लिए कभी-कभी विद्वान विवश हो जाते हैं। भौगोलिक परिवेश केवल साहित्य के अध्ययन की पृष्ठभूमि होनी चाहिए ताकि प्राकृतिक परिप्रेक्ष्य का उद्घाटन साहित्येतिहास में गुणात्मकता उत्पन्न करने की दृष्टि से हो और भाषा व बोली क्षेत्र की संस्कृति व जन-जीवन में भौगोलिक प्रभाव किन रूपों में उपलब्ध है, यह भी जाना जा सके।

१. भाषा-क्षेत्र
- भाषा-क्षेत्र
- सीमावर्ती भाषाएँ व बोलियाँ
- भाषा-क्षेत्र : भौगोलिक उपलब्धियाँ व उनका जन-जीवन पर प्रभाव
  - भौगोलिकता के परिप्रेक्ष्य में
  - रीतियाँ, परम्पराएँ, विश्वास, संस्कार
  - धर्म, संस्कृति, दर्शन
  - भाषा-स्वरूप
  - साहित्य-दर्शन

युगेतिहास—प्रत्येक युग की भाषा व बोलियाँ युग-बोध देने में तथा इतिहास-बोध देने में समर्थ होती हैं। हिन्दी-साहित्येतिहास साक्षी है कि उत्तर भारत के मध्ययुगीन धार्मिक आन्दोलन को हिन्दी बोलियाँ-ब्रज एवं अवधी के माध्यम से अभिव्यक्ति मिली। साहित्य के मान्य स्तर को बुन्देली या अन्य बोलियाँ नहीं स्पर्श कर सकी थीं, इसलिए उनका युग आया ही नहीं, जबकि मैथिल का युग हिन्दी साहित्येतिहास में ब्रज व अवधी से पूर्व विद्यापति के माध्यम से आ चुका था। युगेतिहास साहित्येतिहास का एक अविर्भूत गुण है। प्रत्येक साहित्य-कृति अपने युगेतिहास को अभिव्यक्त करने में समर्थ होती है। युग-बोध, युग-समाज, साहित्य-समाज का दर्पण आदि शब्दों व वाक्यों का प्रयोग वस्तुतः युगेतिहास के लिए सन्दर्भ रूप में होता है। युगेतिहास एक एलिमेंट है जिसके अभाव में रचना का जीवन नहीं होता। सामयिकता युगेतिहास का गुण-बिन्दु-क्षण है। युगेतिहास स्थानीयता, देश-काल, वातावरण की प्रधानता, युगीन जीवन-दर्शन, युग-विशेष की सामाजिक परम्पराओं व विश्वासों की सम्पूर्णता को कहेंगे। इसी प्रकार युगेतिहास का सम्बन्ध रचना की कथानक रूढ़ियों से भी है।

वर्गीकरण : साहित्येतिहास का वर्गीकरण युगेतिहास, विधा, प्रवृत्ति, युग-बोधक व्यक्ति-विशेष, शैलियों के आधार पर ही सम्भव है। आचार्य शुक्ल का साहित्येतिहास 'सम्पूर्ण' (१) के अन्तर्गत स्वीकृत होगा क्योंकि उसमें सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में अवलोकन हुआ है। 'खण्ड' (२) साहित्येतिहास एवं युग-साहित्येतिहास (३) में क्रमशः डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत 'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल' एवं डॉ० शम्भूनाथ सिंह कृत 'छायावाद युग' स्वीकृत होगा। 'हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास', 'हिन्दी एकांकी : उद्भव और विकास' आदि कृतियाँ विधात्मक (४) साहित्येतिहास के अन्तर्गत स्वीकृत होंगी। व्यक्तिमूलक साहित्येतिहास की कोटि या श्रेणी भी हो सकती है? मैं समझता हूँ कि व्यक्तिमूलक साहित्येतिहास उस श्रेणी में स्थान रखेगा, जिसमें किसी महान् व्यक्तित्व व उसके कृतित्व दोनों का प्रभाव सम्पूर्ण युग पर पड़ता हो या युग अपने अस्तित्व को उक्त प्रकार के व्यक्तित्व व कृतित्व में समाविष्ट कर लेता हो। व्यक्तित्व व युग-विशेष की प्रवृत्ति, विचारधारा, मान्यताएँ आन्दोलन, जब एक-दूसरे से अन्योन्याश्रित सम्बन्ध स्थापित कर लें तो निश्चय ही वह

१.



व्यक्तित्व अपने कृतित्व के माध्यम से साहित्येतिहास दे सकने के कारण एक कोटि या श्रेणी बन जाता है। जैसे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का व्यक्तित्व उनके जीवन व जीवन के पश्चात् कुछ वर्षों तक हिन्दी-भाषी जन-जीवन पर समकालीन कृतिकारों के माध्यम से छाया हुआ था, यदि भारतेन्दु के नाम पर ही उन्हें उनके युग में, केन्द्रीय रूप में देखने की चेष्टा की जाय तो साहित्येतिहास की पूर्ति होगी ही। हिन्दी में कतिपय ऐसी कृतियाँ हैं, जो साहित्येतिहास के व्यक्तिमूलक श्रेणी के अन्तर्गत मान्य होंगी, जैसे—स्व० गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' कृत 'महाकवि हरिऔध'; गंगाप्रसाद पाण्डेय कृत 'महाप्राण निराला' आदि। उक्त कृतियाँ कृतिकार के माध्यम से साहित्येतिहास की पर्याप्त प्रवृत्तिमूलक एवं वृत्तमूलक सामग्री प्रदान करती हैं।[1]

प्रवृत्तिमूलक साहित्येतिहास उसी प्रकार एकांगी है जिस प्रकार वृत्तसंकलन प्रधान साहित्येतिहास। वृत्त-संकलन में रचनाकार की जीवनी, उसके जीवन से सम्बन्धित प्राप्त किंवदंतियाँ, अनुश्रुतियाँ (घटनामूलक), कृतियाँ व उसके सम्बन्ध, समय आदि पर उठाये गए तर्क-वितर्क, रस, छन्द, अलंकार की दृष्टि से कृतियों का अवलोकन मात्र रहता है। दूसरे शब्दों में, 'सूची-पत्र' ही साहित्येतिहास नहीं है और उसी प्रकार मात्र प्रवृत्तिमूलकता को प्राधान्य मानकर किया गया कार्य भी साहित्येतिहास नहीं है। प्रवृत्तिमूलक साहित्येतिहास की, इसीलिए वर्गीकरण में, एक कोटि या श्रेणी निर्धारित कर देना उचित है। प्रवृत्ति-विश्लेषण साहित्येतिहास का विशिष्टतम गुण है। प्रवृत्तियों के निरूपण करने में ही विभिन्न युगों के धार्मिक आन्दोलन, जन-जीवन, रहन-सहन, उपासना-पद्धति, संस्कृति, सभ्यता के रूप, आचार-विचार, दार्शनिक प्रवाह-गति, राजनीतिक गतिविधि और उससे प्रभावित जीवन व समाज आदि के दिग्दर्शन को लेखक अपना मूल-धर्म मान बैठता है। यह प्रधान हो जाने के कारण कृति, कृतिकार व उसके माध्यम से प्रस्तुत साहित्य गौण हो जाता है। इसके साथ ही घटनाएँ भी प्रवृत्तियों का निर्माण करती हैं, उनकी उपेक्षा हो जाती है। प्रवृत्तियों के साथ घटनाएँ व कृतियों के सामंजस्य प्रस्तुत करने की चेष्टा होनी चाहिए। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' कुछ इसी प्रकार का प्रवृत्तिमूलक साहित्येतिहास है। संस्कृति के इतिहास से अधिक भिन्न नहीं होता प्रवृत्तिमूलक साहित्येतिहास।

साहित्य-बोध : साहित्येतिहास में साहित्य-बोध न हो तो निश्चय ही वह साहित्येतिहासकार के लिए दोष माना जाएगा। आलोचक के लिए जेम्स स्कॉट ने जैसा कहा है कि उसमें आलोचना के गुण में, परिष्कृत रूप में आलोचना की कलात्मक अनुदृष्टि व अन्तर्दृष्टि होनी चाहिए अन्यथा वह रचना की आत्मा का संस्पर्श न कर सकने के कारण, आलोचक-धर्म का निर्वाह न कर सकेगा। जेम्स स्कॉट की उक्त मान्यता कि आलोचक में कलाकार या रचनाकार के गुण व धर्म की सम्पन्नता होनी चाहिए, साहित्येतिहास-लेखन में मूल्य-निर्धारण की दृष्टि से नहीं, बल्कि प्रस्तुत

१. उक्त दोनों कृतियाँ हिन्दी समालोचना में चरितमूलक या जीवन-वृत्तान्तीय समालोचना (Biographical Criticism) की कृति हैं। —लेखक

साहित्य के प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से कलात्मकता को स्वीकार करना ही पड़ेगा। साहित्येतिहास केवल क्रमानुसार रचना-नामावली मात्र प्रस्तुत करने के उद्देश्य की पूर्ति नहीं करता, यह सहायक तत्त्व ही हो सकता है। साहित्येतिहास का आब्जेक्ट ही है, प्रस्तुत करना—साहित्य-बोध। साहित्य-बोध द्वारा साहित्येतिहास अपने अर्थ को पाता है और अभीष्ट की पूर्ति करता है। एक प्रश्न उठ सकता है कि साहित्य-बोध व प्रवृत्ति-बोध की क्या साहित्येतिहास में भिन्न सत्ताएँ होंगी? मैं समझता हूँ कि प्रवृत्ति-बोध साहित्य-बोध के भीतर अवस्थित है। किन्तु बाह्य जीवन-विधान में उसका व्यवहार भिन्न होता है। दूसरे शब्दों में, यों कहें कि साहित्य-बोध की भूमिका है—प्रवृत्ति बोध। प्रवृत्ति-बोध के परिप्रेक्ष्य में साहित्य-बोध देखना-परखना चाहिए। साहित्य-बोध की क्या कसौटी होगी? इस प्रश्न पर विचारने पर यही स्पष्ट होता है कि साहित्य में अवस्थित मात्र रस व प्राकृतिक-छटा को ही आधार नहीं बनाया जा सकता बल्कि उसके सौन्दर्य-बोध पक्ष को, मानवीय-पक्ष को, जीवन-दर्शन पक्ष को, रचना-दर्शन पक्ष को, संवेदन व भावना पक्ष को, विचार-बोध पक्ष को युग-बोध, युगेतिहास की प्रवृत्ति के परिप्रेक्ष्य में देखना होगा। उसे देखने में, साहित्येतिहासकार में अन्तः को स्पर्श करने के निमित्त स्वयं में कलात्मकता होनी चाहिए अन्यथा वह यदि अपने साहित्यिक ठूठपन का परिचय देगा तो निश्चित ही साहित्येतिहास का 'आब्जेक्ट' अर्थहीन हो जायगा।

साहित्येतिहासों में साहित्य-बोध की सदैव उपेक्षा होती रही है। उसे या तो रस, छन्द, अलंकार की दृष्टि से देखा गया या प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से। यही कारण है कि रचना-दर्शन से अपरिचित होकर हिन्दी साहित्येतिहास यह सिद्ध करने में सक्षम नहीं हो सका कि कृति-विशेष का युग-परिधि में केन्द्र-विन्दु कहाँ है? हिन्दी साहित्येतिहास के क्षेत्र में कार्य करने वाले अनेक मनीषी आँकड़ों का ही झमेला बना, अपनी प्रतिभा-प्रकाश को एक क्षण देकर बुझ गये। यदि साहित्येतिहास में युग-प्रवृत्ति व रचना-दर्शन का सम्यक-बोध दिया जाना अभीष्ट मान लिया जाय तो निश्चय ही 'मूल्य' पक्ष भी ऊँचा होगा। आलोचनात्मक अध्ययन-शैली की वर्तमान स्थिति में साहित्येतिहास भी जकड़ा हुआ है। चाहे कबीर हों, चाहे तुलसी, चाहे जायसी या पन्त, निराला, प्रसाद हों, उनके रचना-दर्शन को प्रस्तुत करने की एक सामान्य प्रचलित शैली है। भाषा, शैली, भाव-प्रवणता, कथानक, पात्र, उद्देश्य, अलंकार, रस, छन्द की दृष्टि से, जैसे बाजारू आलोचनात्मक अध्ययनों में साहित्य को समझा व समझाया जा रहा है, वही साहित्येतिहासों में। यह केवल प्रचलित साहित्येतिहासों मात्र की दशा नहीं है, बल्कि सामान्यतः उद्भव और विकास वाले विधात्मक साहित्येतिहासों व खण्ड-साहित्येतिहासों की भी दशा है जिनके सम्बन्ध में अनेक तथा-कथित स्तर के पत्रों से प्रशंसा या सरकारी पुरस्कार पा जाने के कारण भ्रम उत्पन्न हो जाता है।

शोध-बोध : शोध-कार्य में अनुपलब्ध या अप्राप्य को उपलब्ध या प्राप्त करने की अभीप्सा की पूर्ति में शोधकर्ता जितना सजग होता है उतना ही उसे सजग होना

चाहिए स्थापना के लिये भी। इस प्रकार शोध-कार्य के दो पक्ष हो जाते हैं। यदि सामग्री (मैटीरियल) बिखरी है तो उसे ठोस रूप व क्रम देना ही उसका मात्र ध्येय नहीं, बल्कि उसकी क्रम व व्यवस्था से क्या निष्कर्ष युग-बोध के लिये होता है, भी देना चाहिए। स्थापना की दरिद्रता से पीड़ित आज का शोध-कार्य केवल एरेंजमेंट देकर अपना कार्य पूरा मान बैठता है। जहाँ स्थापना नहीं है, वहाँ शोध की सम्पूर्णता विकेन्द्रित होगी और उसे अपने सम्पूर्ण शोध-कार्य का बोध भी नहीं होगा। माने गये विद्वान कहते हैं कि शोध-कार्य में आवश्यक नहीं कि निष्कर्ष या स्थापना को महत्त्व दिया जाय, यह तो आलोचक के लिये है, न कि शोधकर्ता के लिए। वस्तुतः उक्त कथन पलायनवादी दृष्टिपरक है। शोध-बोध के लिए शोधकर्ता क्या मात्र, 'स्टेटिस्टिकल डेटाज़' से प्रमाण पेश करेगा। आज उद्भव व विकास वाले साहित्येतिहास केवल 'कोटेशन' से थीसिस भरते हैं और 'स्टेटिस्टिकल डेटाज़' से अपनी विद्वता का कागज़ी प्रमाण-पत्र लेकर बुझ जाते हैं।

साहित्येतिहास में शोध-बोध को आत्मसात् करना चाहिए। खेद है कि हिन्दी-शोध पर दम्भ भरनेवाले तथा शोध-कारखानों के संचालक अर्थात् विद्वान, जितना शोध हुआ है, उतना साहित्येतिहास में आत्मसात् होने के विधान पर ध्यान न दे सके। आचार्य शुक्ल के साहित्येतिहास के दस वर्षों बाद आरम्भ हुआ हिन्दी-साहित्य-शोध अपनी जगह है और आज भी 'आउट ऑफ़ डेट' पुरानी अशोध की वस्तुएँ विद्यार्थी पढ़ते हैं और वे दम्भ करने वाले विद्वान अपने विद्यार्थी द्वारा कराये गये शोध की चर्चा नहीं करते, जबकि ये विद्यार्थी अपनी एक तिहाई थीसिस केवल गाइड के उद्धरणों से सँवारते हैं।

साहित्येतिहास में शोध-बोध इसीलिये आवश्यक है कि उससे वह जड़ न हो, चेतन हो। कहनेवाले कह सकते हैं कि शोध-कार्य इसलिए सम्पादित होता है कि वह समीक्षा व साहित्येतिहास के लिए सामग्री दे सके, किन्तु मैं नहीं मानता।

शोध-बोध के एक पक्ष के सम्बन्ध में कह चुका हूँ कि उसमें रचना-क्रम, वर्गीकरण, स्टेटिस्टिकल डेटाज़ आदि को प्रमुखता दी जाती है। रचना-पाठ के अध्ययन के लिये पाठालोचन (टेक्टुअल क्रिटिसिज़्म) व भाषा के अध्ययन के लिये भाषा-विज्ञान (फाइलालॉजी) व भाषा-शास्त्र (लिंग्विस्टिक्स) आदि का भी अध्ययन-पक्ष प्रमाण व साक्ष्य प्रस्तुत करने के उद्देश्य से साहित्येतिहास में होना चाहिए। यह कार्य वस्तुतः साहित्येतिहास के सैद्धान्तिक परिप्रक्ष्य में होगा।

मूल्य-बोध : मूल्य शब्द वस्तुतः नीतिशास्त्रीय 'वैल्यू' का पर्यायवाची है।"[1]

---

१. मूल्य और प्रतिमान समानार्थी शब्द हैं। दोनों ही मानव-निर्मित निकष और कसौटियाँ हैं, जिनके सहारे साहित्य की परख की जाती है। मनुष्य पहले व्यक्ति है, इकाई है—उसके अपने मूल्य सूल्य होते हैं। परन्तु व्यक्ति-मनुष्य एक बृहत्तर मानव-समाज का, परिवार, नगर, प्रदेश, प्रान्त, राष्ट्र या संसार का सदस्य, नागरिक, सामाजिक विशेष होकर सामान्य अंग भी है, अतः उसके प्रत्येक विचार, कर्म और कल्पना में मूल्य का प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाता है।—प्रभाकर माचवे, हिन्दी साहित्य कोश, पृ० [illegible], भाग १

मूल्य-निर्धारण के लिये साहित्येतिहासकार जागरूक हो, यह अनिवार्य नहीं, किन्तु गुण अवश्य है। वैसे मैं अनिवार्य गुण मानूँगा क्योंकि रचना (ओं) के माध्यम से युग-बोध, मूल्य-निर्धारण द्वारा ही सम्भव होगा। मूल्य, जैसे कहा गया है—'प्रतिमान का समानार्थी शब्द है।' मूल्य व प्रतिमान का परिप्रेक्ष्य केवल समीक्षा के स्वरूप को साहित्येतिहास में स्पष्ट करता है। यदि 'मूल्य' नहीं तो साहित्येतिहास का नमक समाप्त माना जाएगा। मूल्य वस्तुतः कृति व कृतिकार की स्थिति का ही बोध करायेगा। साहित्येतिहासकार जिस साहित्य की सामग्री को उक्त विधा के आधारभूत सिद्धान्तों पर रखता है तो उसे कम-से-कम यह बताना होगा कि क्या वह साहित्य-बोध कर पाया है? क्या उसमें साहित्य-बोध की योग्यता है? यदि नहीं तो वह साहित्य के मूल्य-निर्धारण की भी योग्यता नहीं रख सकता। साहित्येतिहासकार में स्थित मूल्य-बोध-क्षमता ही उसके साहित्य-बोध की क्षमता की कसौटी मानी जाएगी। साहित्येतिहास-वस्तु अपने निष्कर्ष में साहित्य-बोध प्रदान करने में ही मूल्य-बोध भी दे सकेगी। 'मूल्य' के पूर्वग्रह की अवस्था में सम्भव है कि वह एकपक्षीय हो जाए। ऐसी अवस्था में उसके एकांगी होने के आरोप को स्वीकार करना होगा। किन्तु यह दोष स्वीकार्य है, समीक्षा में मूल्य-बोध की भाँति। फिर भी "मूल्य-निर्धारण के लिये यदि सामाजिक व वैयक्तिक स्तरीय मानवतावादी दृष्टिकोणपरक 'निकष' होंगे तो निश्चय ही साहित्येतिहास सही पथ पर अग्रसर होगा।" "मूल्य युग-सन्दर्भ प्रधान होता है किन्तु साहित्येतिहास 'मूल्य' को इतिहास-आकलन रूप में प्रस्तुत कर अपने विधात्मक गुण के स्वरूप को निखार देता है।"

"साहित्येतिहासकार को जिस भाषा का इतिहास लिखना है, उस भाषा की ओर प्रदेश-विशेष की संस्कृति, सभ्यता, साहित्य कला के अन्य उपकरणों की, जन-जीवन की, तथा भाषा के प्रदेश की, राजनीतिक विकास सम्बन्धी समस्त उत्थान-पतन की, गतिविधियों से सुपरिचित होना चाहिये। साथ ही भाषा जिन प्रभावों से युक्त हो, वह भी अपने अध्ययन के सन्दर्भ में रखकर इतिहासकार को इतिहास-लेखन-कार्य सम्पन्न करना चाहिये। हिन्दी-साहित्य के इतिहासकार को हिन्दी की जननी संस्कृत-भाषा एवं साहित्य तथा अन्य सम्बन्धित अभिविकसित प्राचीन भाषाओं का भी सन्दर्भ में ज्ञान होना चाहिए। विदेशी भाषाओं की साहित्यिक विचारधाराओं का क्रमशः किन रूपों में प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर पड़ा है, इसका भी अध्ययन अपेक्षित है। इन उपर्युक्त आवश्यकताओं की संपूर्ति से इतना लाभ होगा कि इतिहासकार वह सामग्री संकलन तो देगा ही, साथ ही तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत करना उसके लिए सम्भव होगा और मूल्यांकन, निर्णय, गुण-दोष-विवेचन का भी अभाव न होगा। ऐसा न हो सकने पर इतिहासकार अपने धर्म का पालन करने में सक्षम नहीं हो सकेगा। इसलिए जब हम सूक्ष्म रूप से देखते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य शुक्ल ने इतिहास-लेखन को सोद्देश्य माना है।"[1] आचार्य शुक्ल ने माना है कि "प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का स्थायी प्रतिबिम्ब होता है तब यह

१. प्रो० विजयकुमार शुक्ल, ...

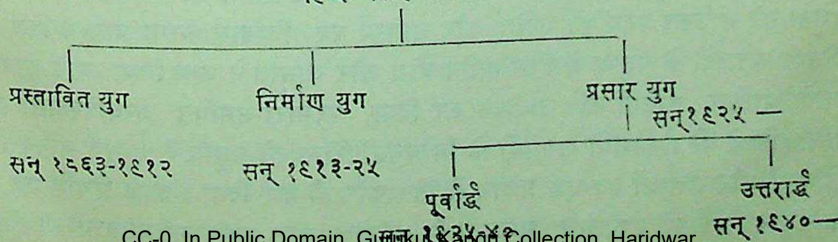
निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अन्त तक इन्हीं चित्त-वृत्तियों की परम्परा परखते हुए साहित्य-परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास है'।[1]

मैंने अत्यन्त संक्षेप में साहित्येतिहास के कुछ प्रतिमान स्थिर किये हैं। वस्तुतः साहित्येतिहास-लेखन को विभिन्न पृथक तत्त्वों के एकता-सूत्र में आबद्ध न किया गया तो निश्चय ही हिन्दी-साहित्य के अध्ययन के स्तर का ह्रास होगा। मैंने हिन्दी साहित्येतिहास पर शोध के लिये एक शोध-छात्र को ऐतिहासिक दृष्टि से 'विकास' के लिये एक वर्गीकरण का सुझाव दिया था। यद्यपि डॉ० तास कृत साहित्येतिहास का समय १८३८-३९ बताया जाता है किन्तु वह फ्रेंच में है। इसलिये मैं भारतेन्दु-युग के वास्तविक आरम्भ सन् १८६३ से भारतेन्दु-युग के अन्त सन् १८९३ और काल्पनिक कथा-युग सन् १९१२ तक के समय को हिन्दी साहित्येतिहास का प्रस्तावित युग था प्रवर्तन युग मानता हूँ, सन् १९१३ से २५ तक के समय को (जिसमें मिश्रबन्धु प्रमुख हैं) हिन्दी साहित्येतिहास का निर्माण-युग मानता हूँ, सन् २५ से ४० तक के समय को प्रसार-युग का प्रथम चरण मानता हूँ; सन् ४० से अब तक को प्रसार-युग का द्वितीय चरण स्वीकार करता हूँ।[2]

---

१. आचार्य शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास।

२.



देवीप्रसाद गुप्त

मानवतावादी चिन्तनधारा और नया साहित्य

आज स्वदेश और विदेश के साहित्य में सर्वत्र ही मानवतावाद का स्वर एक उद्घोष के रूप में सुनाई देता है। साहित्य ही क्यों, मानवीय चिन्तन के सभी क्षेत्रों में मानवतावाद की विचारधारा को स्वीकृति प्रदान की जा चुकी है। यही नहीं, मानवतावाद की विचारणा को हमारे जीवन की महत्त्वपूर्ण उपपत्ति के रूप में भी स्वीकृत किया जा चुका है। साहित्य, क्योंकि सामाजिक चेतना के आकलन का सांस्कृतिक प्रयास है; अस्तु उसमें युग-जीवन की उत्कृष्ट विचार-सम्पदा और भाव-राशि का आत्मसात् होना स्वाभाविक ही है। आज साहित्य का प्रत्येक प्रणेता अपनी रचनाओं को मानवतावादी कहने-कहलाने में गर्व और गौरव का अनुभव करता है। इस युग के साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि वह मानव के द्वारा, मानव के लिए, मानव को आधार बनाकर लिखा जाता है। मानवीय मूल्यों की महिमा का आख्यान, मानवीय जीवनादर्शों की प्रतिष्ठा, मानव-मन की इच्छाओं और आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति, मानव-जीवन के अन्तर्बाह्य संघर्षों की स्पष्ट व्यंजना, मानव की मर्यादा और महत्ता की स्थापना आदि साहित्य में मानवतावादी चिन्तनधारा का प्रतिनिधित्व करने वाली कतिपय प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं, जिन्हें दूसरे शब्दों में मानवतावादी साहित्यिक विधारधारा की विशेषताएँ भी कहा जा सकता है। इस चिन्तनधारा के साहित्य में प्रवेश और उसके शुभाशुभ परिणाम जानने से पूर्व मानववाद की विचारणा को समझ लेना उचित होगा।

मानवतावादी विचारधारा का आगमन मध्ययुगीन धार्मिक व्यवस्था की समाप्ति के बाद हुआ। एक प्रकार से मानववाद की वह विचारधारा जिसे नवमानववाद और वैज्ञानिक मानववाद अभिधान दिया जाता है, उन धार्मिक मान्यताओं का विरोध करने के लिये आयी जिनमें मानव का व्यक्तित्व गौण और किसी कल्पित एवं अज्ञात दिव्य सत्ता के अस्तित्व को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता था। विकासवाद के सिद्धान्त और विज्ञान की प्रगति ने मानव को चिन्तन की नयी दिशाओं की ओर अभिमुख किया। विज्ञान की सहायता से मनुष्य प्रकृति के रहस्यों को ज्यों-ज्यों समझने लगा त्यों-त्यों उसमें आत्मनिर्भरता, स्वावलम्बन, विश्वास, आस्था एवं तर्कसम्मत विवेक की प्रवृत्तियाँ पनपने लगीं। मनुष्य ने असंख्य देवी-देवताओं की उपासना और अज्ञात सत्ता की प्रभुता को छोड़कर स्वयं की शक्ति और सामर्थ्य पर विश्वास करना प्रारम्भ किया। बीसवीं शताब्दी के मनुष्य में जिस नवीन बोध और जागृति ने जन्म लिया उसके कारण उसने धार्मिक रूढ़ियों का उच्छेदन कर दिया, परम्परा-समर्थित अन्धविश्वासों को तिलांजलि दे दी। विंशति शताब्दी के विश्वयुद्धोपरान्त तो मनुष्य ने सम्पूर्ण मानवेत्तर शक्तियों और सत्ताओं का एक प्रकार से तिरस्कार ही कर दिया। आज स्थिति यह है कि मनुष्य धर्म को ढकोसला समझता है, अपरोक्ष सत्ता या परमात्म तत्त्व की हँसी

उड़ाता है, परम्पराओं के अनुमोदन को पराभव का चिह्न मानता है। आज का युग विज्ञान का युग है क्योंकि विज्ञान का प्रत्येक क्षेत्र में एकछत्र साम्राज्य है। विज्ञान की द्रुतगामी प्रगति का एक कारण मानवतावादी जीवन-दृष्टि भी है। वास्तव में विज्ञान के विकास की परिधि का केन्द्र मानव था। मानव की सुख-सुविधाओं की सामग्री जुटाना, मनुष्य को प्रत्येक प्रकार से निरापद और निःशंक बनाना वैज्ञानिक प्रगति का मूल लक्ष्य था। अतः विज्ञान की प्रगति ने संसार में एक आपातिक परिवर्तन ला दिया। यह परिवर्तन था—मानव के चिन्तन-क्रम में, जीवन की व्यवहार प्रणाली में, चेतना के गतिमान स्तरों में, समाजों की व्यवस्था में, राष्ट्रों की संचालत शक्ति में और विश्व भर की सांस्कृतिक गतिविधियों में। फलस्वरूप मानवतावादी चिन्तनधारा को स्वीकृति मिली और आर्थिक शोषण के विरुद्ध आवाज़ उठाई गई, राजनीतिक अधिकारों की माँग की गई, समानता, स्वतन्त्रता और विश्व-बन्धुत्व का नारा बुलन्द किया गया। इन समस्त प्रक्रियाओं से साहित्य भी अप्रभावित न रहा। साहित्य में भी मानव की महत्ता के स्वर मुखरित हुए और नव-साहित्य चेतना मानव के मंगलगान के लिए व्यंजित हुई। अस्तु—

मानवतावादी चिन्तनधारा मेरी दृष्टि में नवचेतना और चिन्तन क्षेत्र की जागृति का परिणाम है। इस प्रकार का चिन्तन अतीत काल में भी होता रहा है किन्तु मनुष्य की सर्वोच्चता की विचारणा को जितना महत्त्व वैज्ञानिक युग के प्रभाव से मिला है; उतना पहले कभी नहीं मिला। मध्ययुगीन समाज में ईश्वरीय सत्ता और प्राकृतिक शक्तियों को इतना अधिक महत्त्व दिया जाता था कि मनुष्य की स्थिति नितान्त तुच्छ और गौण ही बनी रहती थी। विज्ञान के ज्ञान द्वारा मनुष्य ने प्रकृति के गूढ़ातिगूढ़ रहस्यों को जानकर प्राकृतिक साधनों को अपने वश में कर लिया और वह अब प्रकृति का दास नहीं, स्वामी है। श्री एम० एन० रॉय ने लिखा है—

"In the past also, Humanism proclaimed the soveriegnty of man. But man remained Unexplained, and speculation about the essence of man led to mysticism and revival of religion. Thus Humanism defeated itself. Thanks to the enrichment of scientific knowledge, it can now be freed from all falacies. It needs no longer be misguided by mystic and metaphysical notions about the essence of man··· New Humanism proclaims the soveriegnty of man on the authority of the Modern Science, which has dispelled all mystery about the essence of man."

(Reason, Romanticism & Revolution
By M. N. Roy, p. 308)

आधुनिक साहित्यकार इस तथ्य से भली-भाँति परिचित हैं। इसलिए आधुनिक साहित्य के मूल में मानवतावादी जीवन-दृष्टि एक महत्त्वपूर्ण विधायक तत्त्व के रूप में कार्य कर रही है। श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में—"भारतवर्ष की विशाल

साहित्यिक परम्परा पर दृष्टि दीजिये तो इससे अनेक साहित्यिक युगों में सर्वत्र किसी विशेष मानवीय विश्वास को प्रेरणा देते पायेंगे···विभिन्न युगों में साहित्यिक साधनाओं के मूल में कोई-न-कोई व्यापक मानवीय विश्वास होता है। आधुनिक युग का व्यापक विश्वास मानवतावाद है···इस युग में मनुष्य ने धर्म पर सन्देह किया, परम्परा-समर्थित नैतिक दृष्टि-भंगी पर सन्देह किया। उसने मनुष्य की महिमा पर दृढ़तापूर्वक आस्था बनाये रखी। मनुष्य सब-कुछ कर सकता है, प्रकृति के दुर्ग पर अपनी विजय-पताका फहरा सकता है, वह सृष्टि-परम्परा की सबसे उत्तम परिणति है। नवीन-साहित्य के मूल में यही विश्वास कार्य कर रहा है।" (विचार और वितर्क—साहित्य की नयी मान्यताएँ शीर्षक निबन्ध—पृ० ९१)

मानवतावादी जीवन-दृष्टि के विकास का साहित्य के सृजन और समीक्षा दोनों ही क्षेत्रों में बड़ा शुभ प्रभाव पड़ा है। साहित्य-निर्माताओं ने मानव को लक्ष्य बनाकर उसका सर्वांगीण चित्रण प्रारम्भ किया। साहित्य में लोक-जीवन की विवशताओं, विभीषिकाओं और वैषम्यों का निरूपण प्रारम्भ हुआ। मानवीय सम्बन्धों की सम्पूर्ण व्याख्या के लिए साहित्यकार ने दर्शन, इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति, भौतिक-विज्ञान आदि साहित्येत्तर ज्ञानराशि को भी कलात्मक सृजन के लिए स्वीकार किया। साहित्य रचना का क्षेत्र केवल आह्लादकारी प्रसंगों की योजना तक ही परिसीमित न रहकर गर्हित, तिरस्कृत, विद्रूप और भदेश की स्थितियों को भी अपने परिधि-विस्तार में समेटने लगा। यथार्थवादी और तथ्याधारित शैलियों का विकास हुआ। सच तो यह है कि आज का साहित्य-प्रणेता मानव को उसके व्यापकतम परिवेश में प्रस्तुत करना चाहता है। अतीत के साहित्य-विधायकों की भाँति जीवन के केवल उज्ज्वल, आदर्श, शिष्ट, सभ्य और समुन्नत पक्षों के ही चित्रण में अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं समझ लेता। क्योंकि उसकी दृष्टि में वह सृष्टि-प्रक्रिया का एकांगी रूप या एकपक्षीय चित्रण ही होगा। जीवन की सम्पूर्णता का निरूपण तभी सम्भव है जब हम उसे सभी दृष्टियों, सभी कोणों से देखें, परखें और कृतियों में उतारें।

यद्यपि आधुनिक हिन्दी साहित्य की रचना का आरम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के आगमन से होता है; किन्तु सन् १९३६ के पश्चात् अर्थात् प्रगतिवादी साहित्य-रचना के साथ ही वास्तव में नवमानवतावादी जीवन-दृष्टि का विकास हम साहित्य में पाते हैं। हिन्दी के रीतिकालीन साहित्य-युग तक साहित्य में उस मानवतावादी जीवन-दृष्टि का अभाव ही था जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है। यद्यपि प्रगतिवादी रचनाओं के भी अपने अभाव, त्रुटियाँ और सीमाएँ हैं किन्तु एक महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय उपलब्धि इस साहित्य की यह है कि इसने सृजन की नवीन दिशाओं और चिन्तन की युगीन सम्भावनाओं को साकार किया और आगे आनेवाली पीढ़ी के साहित्यकारों को आह्वान किया कि आओ! और मानव की दुर्बलताओं, दीन-दुखियों की आहों, शोषित और पीड़ित वर्ग पर हो रहे अत्याचारों, जीवन के अभावों, विवशताओं और विडम्बनाओं का भी चित्रण करो। क्योंकि—"साहित्य अमरावती में प्रवाहित होने वाली कोई पीयूषधारा नहीं वरन् हमारे हिमालय की कल-कल करती धरती पर बहने

वाली मंदाकिनी की शीतल-उष्ण धारा है।" अथवा "साहित्य सुरसभा में निनादित होनेवाली उर्वशी के ताल-नुपूरों की मादक झंकार नहीं वरन् हमारे प्राणों से पुलकित बन में बजनेवाली व्याकुल विपंची है जो नित हमारे सुख-दुःख के तारों से झंकृत हुआ करती है।" या "काव्य, नन्दन कानन का कल्पतरू नहीं, वह हमारी ही दुनिया का आम्र वृक्ष है।" इस प्रकार की विचारधाराओं के फलस्वरूप साहित्य में जनसाधारण को स्थान मिलना प्रारम्भ हुआ। उदाहरण के लिए, काव्य क्षेत्र में महाकाव्यों को लीजिये। महाकाव्यों में अब तक धीरोदात्त और इतिहास-पुराण प्रसिद्ध (जैसे राम, कृष्ण, युधिष्ठिर, रघु, हर्ष आदि) ही नायक हुआ करते थे। वर्तमान युग के रावण, मेघनादवध, दैत्यवंश जैसे महाकाव्यों में राक्षस और दैत्य कहे जानेवाले पात्र भी नायक के पद पर आसीन हुए हैं। निषादपुत्र एकलव्य पर डॉ० रामकुमार वर्मा ने महाकाव्य लिखा है। सूतपुत्र कर्ण पर श्री रामधारीसिंह दिनकर ने 'रश्मिरथी'; श्री आनन्दकुमार ने 'अंगराज' और श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र ने 'सेनापति कर्ण' (अपूर्ण) नामक महाकाव्यों की रचना की है। उपेक्षित पात्रों को लेकर 'उर्म्मिला' (बालकृष्ण नवीनकृत) और कैकेयी जैसे सुन्दर प्रबन्ध-काव्यों की रचना हुई है। कथा-साहित्य के क्षेत्र में प्रेमचन्द के समय से ही, विशेष रूप से प्रेमचन्दोत्तर कथा-साहित्य में असंख्य उपन्यास, कहानियाँ, नाटक, एकांकी आदि दैनन्दिन सामाजिक समस्याओं और मध्यवर्गीय लोगों के जीवन की हलचलों पर लिखे गये हैं। प्रयोगवादी काव्य, नयी कविता और नयी कहानी के विधायक भी अन्ततः मनुष्य के सभी रूपों और उसके समस्त क्रिया-कलापों, आचार-व्यवहारों, मन-मस्तिष्क के संघर्षों एवं संवेदानाओं को ही व्यक्त करने को व्यग्र हैं। मानव व्यक्तित्व के सभी आयाम और जीवन की सभी जटिलताएँ अभिव्यक्ति पा सकें—यही तो नये साहित्यकार का प्रयास है। साहित्य-सृजन के क्षेत्र में इस प्रकार की विचारणा का प्रादुर्भाव निश्चित रूप से मानवतावादी जीवन-दृष्टि का ही परिणाम है। जीवन के भव्य और विराट, आदर्श और महिमामय रूप का मात्र चित्रण तो आज के साहित्यकार को अभीप्सित भी नहीं।

नये साहित्य के रचनात्मक आदर्शों को लक्ष्य करके उसकी पर्याप्त आलोचना भी की जाती है। कहा जाता है कि आज के अधिकांश साहित्य का लक्ष्य कुंठाओं की अभिव्यक्ति, अनास्था का प्रदर्शन, विकृत रुचियों का प्रचार और क्षणिक मनोरंजन है। आधुनिक साहित्य का ऐतिहासिक मूल्य और चिरन्तन पक्ष कुछ है ही नहीं। इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि जिस मध्यमवर्गीय समाज से साहित्यकार सृजन की प्रेरणा प्राप्त कर रहा है उसकी वस्तुस्थिति (दशा) में दैन्य, अतृप्ति, अस्थैर्य, अनास्था, आशंकाएँ और विकृतियाँ व्याप्त हैं। बेरोज़गारी, महँगाई, शोषण, घूसखोरी, निरक्षरता, भ्रष्टाचार आदि ऐसे समाज-विरोधी तत्त्व हैं जिनसे वर्तमान सामाजिक जीवन जर्जरित, पीड़ित एवं दीन हो रहा है। सम्पूर्ण सामाजिक संगठन में विघटनकारी स्वार्थमूलक शक्तियाँ परम्परा-स्थापित मूल्यों के मूलोच्छेदन में रत हैं। आज के विश्व-जीवन में मानव-मात्र की संकटापन्न स्थिति, कुंठित आत्मचेतना और भयावह वातावरण के कारण मानवीय चिन्तन-बोध के स्तरों में व्यतिक्रम और आत्मविरोध उत्पन्न हो गया है।

भौतिकतावादी जीवन-मूल्यों की पराकाष्ठा के कारण मनुष्य एकमत से आध्यात्मिक आस्थाओं को भी एकांगी स्वीकृति नहीं दे सकता। ऐसी स्थिति में साहित्यकार का एक दायित्व कटु जीवन-सत्यों को यथार्थ रूप में चित्रित करके सजगता और जागरूकता का वातावरण निर्मित करना है। इस दृष्टि से नया साहित्य अपने अस्तित्व की पूर्ण सार्थकता सिद्ध कर रहा है क्योंकि उसी के माध्यम से ऐसे प्रयास हो रहे हैं।

समालोचना के क्षेत्र में मानवतावादी चिन्तन-पद्धति को ग्रहण करने का सबसे अच्छा परिणाम यह हुआ है कि साहित्य-रचना के निरर्थक प्रयोजनों की उपेक्षा प्रारम्भ हो गई है। आज का समीक्षक साहित्य में छन्द, अलंकार या काव्य-दोषों की गणना, रसात्मक स्थलों के निर्देश, कथानक के स्रोत संकेतों या पात्रों के गुण-दोष-विवेचन तक ही अपनी दृष्टि परिसीमित नहीं रखता। वह आलोच्य कृति की सृजन संवेदना, अन्तरंग दर्शन, युगप्रभाव, परिस्थितिजन्य परिणामों, जीवन-मूल्यों की व्याख्या, विचार-संयोजन और भाव-सम्प्रेषण आदि की दृष्टि से रचना की परख करेगा। समालोचना में शास्त्रीय नियमों के प्रति आग्रह रूढ़ साहित्यिक परम्पराओं का जन्मदाता होता है। जैसे रीतिकाल तक के कवि महाकाव्य-लेखन के लिए कुछ काव्यशास्त्रीय नियमों (जैस मंगलाचरण, छंन्दविधान, सर्ग-योजना, विविध चित्रण आदि) के निर्वाह पर ही ध्यान देते थे। उन महाकाव्यों में संजीवनी-शक्ति या युग-चेतना के आकलन का अभाव ही होता था। किन्तु आज का कृतिकार रचना के बाह्य उपकरणों की चारुता पर विशेष बल न देकर उसके अन्तरंग पक्ष के निर्माण में सृजन-क्षमता का व्यय करता है। दिनकर जी का 'कुरुक्षेत्र' नामक प्रवन्ध-काव्य इस दृष्टि से विचारणीय है। इसके अतिरिक्त मानवता-वादी जीवन-दृष्टि के विकास से प्राचीन साहित्य का पुनर्मूल्यांकन भी हुआ है। आज की समीक्षा में विवेचना की अपेक्षा विश्लेषण पर बल दिया जाता है। समीक्षा-दृष्टि के परिवर्तन के मूल में विज्ञान युग की चेतना, राजनीतिक जागृति एवं सांस्कृतिक अवधारणाओं का परिवर्तित परिवेश भी कार्यरत हैं।

इस प्रकार मानवतावादी चिन्तनधारा के आगमन से हिन्दी का आधुनिक साहित्य सृजन और समालोचन दोनों ही क्षेत्रों में निर्माण की नयी दिशाओं की ओर अग्रसर हुआ है। हमारी चिन्तन-दृष्टि व्यापक और सहिष्णु भी हुई है। यद्यपि नये साहित्य पर भी देश, काल और समाज की सीमा-रेखाओं का प्रभाव है, फिर भी उसमें अन्तर्राष्ट्रीय भाव साम्य और वैचारिक एकता स्पष्ट देखी जा सकती है। पूर्व (भारत-वर्ष) के मानवतावादी दृष्टि-सम्पन्न नये कवि और कथाकार की अनुभूतियों और पाश्चात्य देशों के साहित्य निर्माताओं की सृजन संवेदनाओं में आजकल आकाश-पाताल का अन्तर नहीं है। कम-से-कम वह अन्तर नहीं है जो अंग्रेज़ी के चॉसर, शेक्सपीयर और मिल्टन युगों के काव्यों-नाटकों और हिन्दी के भक्तिकालीन काव्यों-नाटकों में है। इसी प्रकार जो अन्तर ड्राइडेन, पोप, जॉनसन या रोमांटिक युगों (Romantic Revival) के काव्यों और रीतिकालीन काव्यों में है। अंग्रेज़ी के वर्जिनिया वुल्फ, प्रीस्टले, मॉम, वेनेट, आल्डस हक्सले, जार्ज मूर, गाल्सवर्दी, ज्वाएस, आर्वेल, एच० जी० वेल्स आदि कथाकारों, सिटवैल, एडिथसिटवेल, किप्लिंग, हाउसमैन, चेस्टर्टन,

डी० ला० मेयर, राबर्ट ग्रेब्ज़, बेलॉक, टी० एस० इलियट आदि कवियों और जार्ज बर्नर्ड शा, वैरी, मेट्स, रैंटिंगन, ब्रिडी, ग्रैनविल वॉकर आदि नाटककारों की रचनाओं और प्रेमचन्द, अश्क, यशपाल, रांगेय राघव, अज्ञेय, रेणु, धर्मवीर भारती, प्रभाकर माचवे, विष्णु प्रभाकर, रामविलास, मुक्तिबोध, गिरिजाकुमार माथुर, नरेश मेहता, जगदीश गुप्त, सर्वेश्वरदयाल, नरेन्द्र, रामस्वरूप चतुर्वेदी, लक्ष्मीकान्त वर्मा, लक्ष्मीनारायण मिश्र, रघुवीरसहाय, शिवदानसिंह चौहान, नामवरसिंह, रघुवंश एवं अन्य अनेक कवियों, उपन्यासकारों, नाटककारों, आलोचकों की रचनाओं में चमत्कृत कर देने वाला साम्य दिखाई देता है। कुछ प्रमुख हिन्दी साहित्यकारों का पाश्चात्य कृतिकारों से तुलनात्मक अध्ययन करके इसी प्रकार के कतिपय निष्कर्ष हिन्दी के समीक्षकों द्वारा प्रस्तुत भी किये गए हैं। वैचारिक एवं भावगत साम्य के सम्बन्ध में वैज्ञानिक प्रगति, प्रेस का प्रचलन, चिन्तन का आदान-प्रदान आदि अनेक कारण प्रस्तुत किये जा सकते हैं, किन्तु मेरे मत में सबसे बड़ा कारण चिन्तनधारा में मानवीय विश्वासों को महत्त्व देने का है। मनुष्य को महत्त्व देने की दृष्टि से पूर्व और पश्चिम के नये विचारक दो खेमों में बँटे हुए नहीं हैं।

इस प्रकार सृजन और समीक्षायण की आधुनिक प्रक्रियाओं में रूप-परिवर्तन समान जीवन-दृष्टि का ही परिणाम है। मानवतावाद की विचारधारा किसी सिद्धान्त या आन्दोलन के रूप में पूर्वी या पश्चिमी साहित्यकारों पर थोपी नहीं गई है। वह तो सामान्य ज्ञान (बोध ?) के रूप में आज के साहित्यकार ने ग्रहण की है। मानवतावादी चिन्तनधारा का कार्य किसी कट्टर सैद्धान्तिक मतवाद या दार्शनिक मान्यता का प्रतिपादन है भी नहीं। टी० एस० इलियट ने उचित ही लिखा है कि—

"The function of Humanism is not to provide dogmas or philosophical theories. Humanism, because it is general culture, is not concerned with philosophical foundations, it is concerned less with reason than with common sense. When it proceeds to exact definitions it becomes something other than itself."

(SELECTED ESSAYS BY T. S. Eliot, p. 488)

वस्तुतः मानवतावादी चिन्तनधारा चिन्तन-जगत की श्रेष्ठतम उपलब्धि है। राजनीति, दर्शन, अध्यात्म और संस्कृति की नवीनतम और उत्कृष्ट विचार-सम्पदा द्वारा मानवतावादी चिन्तन पुष्ट और समृद्ध हुआ है। नये साहित्य के निर्माण में इस विचारधारा का योगदान अभूतपूर्व एवं उल्लेखनीय है। इस विचारधारा के फलस्वरूप साहित्य के नये प्रतिमान स्थापित हुए हैं, जीवन के प्रति नयी धारणाओं ने जन्म लिया है, सामाजिक मान्यताओं में भी परिवर्तन आया है और कला-जगत् में सृजन की सम्भावनाएँ बढ़ी हैं। वर्तमान विश्व-जीवन की संकटापन्न दारुण स्थिति से मुक्ति का उपाय आज मानवीय विश्वास और आस्था द्वारा ही सम्भव है, कल्पित किंबा अज्ञात सत्ता द्वारा नहीं। चिन्तन राशि के अन्य रूपों की भाँति अभी साहित्य भी संक्रमण की स्थिति में है। विश्व-युद्धों के आतंक का निवारण होने और मनुष्य-मनुष्य में विश्वास-भाव के बढ़ने पर ही मानवतावादी चिन्तनधारा के अपेक्षित महत्त्व को और भी गहराई से समझा जा सकता है।

—डॉ० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'

अस्तित्ववाद और नयी कविता

(क) नयी कविता की चेतना के दो प्रवाह

हिन्दी की नयी कविता चेतना के दो प्रमुख प्रवाहों में अभिव्यक्ति पा रही है। पहला प्रवाह व्यक्ति-निष्ठ है और दूसरा समाज-निष्ठ। राष्ट्रीय चेतना आदि का इन्हीं में किसी-न-किसी रूप में समाहार हो जाता है।

द्वितीय विश्व-युद्ध के आरम्भ के पश्चात् मानव की बौद्धिकता इन दो चेतना प्रवाहों में विशेष रूप से विभाजित हो गई थी। युद्ध की समाप्ति के अनन्तर विश्व में ऐसा वातावरण बना, जिसने उन दोनों प्रवाहों को आज तक निकट नहीं आने दिया है। हिरोशिमा का अणु-विस्फोट, भारत-चीन आदि के राज्य परिवर्तन, शीत-युद्ध की संशयात्मक स्थिति तथा जीवन-यापन के साधनों का विशेष व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रीकरण आदि कतिपय ऐसी ऐतिहासिक घटनाएँ हैं, जिन्होंने उन दोनों के मिलन की भावी सम्भावना को भी कम कर दिया है।

मानव-चेतना के इस बाह्य-खण्डित रूप को लेकर विश्व का साहित्य आगे बढ़ रहा है। अतः वह एक भयंकर संशयात्मक स्थिति के मध्य से अग्रसर हो रहा है। इस स्थिति के अनुकूल यूरोप में कुछ नये दर्शनों का विकास हुआ है। यूरोपीय कविता ने उन दर्शनों से समझौता करके अपनी नयी दिशा बनाई है। हिन्दी की नयी कविता भी उसी दिशा में यूरोपीय कविता के पीछे-पीछे चलना चाहती है। अतः उसमें भी चेतना के दोनों प्रवाह स्पष्टतः दूर-दूर चलते दिखाई देते हैं। व्यक्ति-निष्ठ प्रवाह की दिशा समाज-निष्ठ प्रवाह से निरन्तर दूर होती जा रही है।

जहाँ तक व्यक्ति-निष्ठ चेतना का प्रश्न है, उसका दर्शन अस्तित्ववाद से प्रभावित है तथा समाज-निष्ठ चेतना पर मार्क्सवाद का प्रभाव अधिक है।

(ख) अस्तित्ववादी जीवन-दृष्टि

अस्तित्ववादी चेतना हिन्दी की नयी कविता में अधिक स्थान घेरती जा रही है। अतः अस्तित्ववाद के दर्शन को समझकर ही नयी कविता के साथ उसके सम्बन्ध को सम्यक् रूप से समझा जा सकता है। यों अस्तित्ववाद का आरम्भ जर्मन दार्शनिक हरसेल तथा हेडेगर एवं डेनिश विचारक कीर्कगार्ड के तत्त्व-चिन्तन से ही हो गया था,

किन्तु उसका वास्तविक प्रचारक जाँ पाल सार्त्र ही माना जाता है। प्रथम महायुद्ध की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप यूरोप में मानवीय सांस्कृतिक तत्त्वों के विकास एवं मानव-सभ्यता की प्रगति के प्रति अविश्वास तथा अश्रद्धा की भावनाएँ पनपने लगी थीं। फ्रायड के मनोविश्लेषण-सिद्धान्त के प्रचार ने मनुष्य की अवचेतना के भीतर निहित गन्दगी का उद्घाटन करके उसे अत्यन्त निर्बल, इच्छा-शक्ति-हीन तथा मनोग्रन्थियों द्वारा परिचालित जीव सिद्ध कर दिया था। अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों की उथल-पुथल तथा द्वितीय महायुद्ध की भूमिका ने सांस्कृतिक मानव के हताश-हृदय में आत्म-विद्रोह के भाव जाग्रत कर दिये थे। इन सभी कारणों से साहित्य और संस्कृति में ह्रासोन्मुखता के तत्त्वों को पनपने का अवसर मिला। अस्तित्ववाद के मूल में ये ही तत्त्व वर्तमान हैं। सार्त्र (१९०५ ई०) ने इन्हीं तत्त्वों पर फ्रांसीसी कला का मुलम्मा चढ़ाकर द्वितीय महायुद्ध से त्रस्त विश्व को चमत्कृत करने की चेष्टा की। सौभाग्यवश यूरोप तो शीघ्र सार्त्र की मान्यताओं की भयंकर विडम्बनाओं को समझ गया, किन्तु भारतीय जनता के दुर्भाग्य से वह अनास्थावादी जीवन-दर्शन हिन्दी के नये कवियों और लेखकों के लिए अनुकरणीय हो गया। राष्ट्रीय महासभा तथा उसके नेताओं और समाजवादी विचारकों के प्रयत्नों से जो सामाजिक चेतना भारत को मिली थी एवं जिससे हिन्दी कविता का भाव-जगत् ही समृद्ध नहीं हुआ था, शिल्प और रूप भी गौरवान्वित हुए थे, उसे अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन ने समाप्त कर देने का भयंकर षड्यंत्र रचा। वह षड्यंत्र अभी तक समाप्त नहीं हुआ है। फलतः अब भी अधिकांश नयी कविता व्यक्ति-निष्ठ चिन्तन पर आधारित होकर भारतीय जन-जीवन के आन्तरिक स्वरूप को अपनी अभिव्यक्ति का विषय न बनाकर, यूरोपीय जीवन का आवरण उस पर डालने की चेष्टा कर रही है। कॉफ़ी-हाउस और रेस्टराँ जैसे स्थानों से वह आवरण अपना रूप-विस्तार करता है और भारतीय जीवन की समस्त यथार्थ स्थितियों को ढँककर अस्वाभाविक बनाता जा रहा है। न तो वह आवरण भारतीय जीवन की मूल भावनाओं को स्वीकार करता है और न विकासशील चेतनाओं को ही ग्रहण करता है।

सार्त्र ने अपने साहित्य के माध्यम से मानव-जीवन को निरर्थक मानने वाली विचारधारा दी है। वह तर्क को व्यर्थ और प्रभावहीन मानकर त्यागता है। ईश्वर में उसे विश्वास नहीं है। ईश्वर के प्रति अविश्वास की बात कई भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में भी स्वीकृत है, किन्तु सार्त्र के समान वे सम्प्रदाय समाज का तिरस्कार नहीं करते। सार्त्र ने मानव-जीवन को अवश, निरुपाय तथा निरर्थक माना है, भले ही वह उसे इस स्वीकृति के द्वारा कोई नया अर्थ देना चाहता हो। उसने समाज का तिरस्कार करके व्यक्ति को अपने चिन्तन का केन्द्र-बिन्दु बनाया है। दार्शनिक दृष्टि से उसकी यह मान्यता कितनी ही तर्कसम्मत क्यों न हो, व्यावहारिक जीवन की दृष्टि से उसका विशेष महत्त्व नहीं है।

सार्त्र मानव-जीवन की अवशता को नष्ट करने के लिये मानवीय स्वातन्त्र्य का समर्थन करता है। वह अस्तित्व की स्थिति तत्त्व से पूर्व मानता है। उसके अनुसार जब मनुष्य कार्य करता है तभी उसके (मनुष्य के) अस्तित्व का प्रमाण मिलता है। अतः

अस्तित्वाद में मनुष्य का चिन्तन उसके जीवन के सन्दर्भ से अलग नहीं किया जा सकता।

अस्तित्ववादी दर्शन की सबसे बड़ी दुर्बलता यह है कि वह मृत्यु के सन्दर्भ में जीवन पर विचार करता है। उसके अनुसार मृत्यु जन्म के साथ अनिवार्यतः जुड़ी हुई है, अतः जीव अपने लिए कोई भी चुनाव करने को स्वच्छन्द नहीं है। कीर्कगार्ड एवं यास्पर्स ने अपने अस्तित्ववादी चिन्तन से मानव को इतना असहाय नहीं बनाया था, जितना सार्त्र ने बना दिया है, क्योंकि वे ईश्वर-विश्वास पर कुठाराघात नहीं कर सके थे।

सार्त्र के अस्तित्ववादी दर्शन ने जहाँ ईश्वर से मानव को अलग किया है, वहाँ उसे समस्त परम्परागत चिन्तन और मूल्यों से भी दूर करने की चेष्टा की है। वह नये मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए आतुर रहा है। अवसाद, अनास्था और निराशा से प्रेरित होकर सार्त्र का अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन कभी स्थिर नहीं रह सका। सार्त्र स्वयं ज्यों-ज्यों सोचता गया है, त्यों-त्यों वह अपने विचार बदलता गया है। अतः कहीं-कहीं सार्त्र प्रगतिवादी चिन्तन के निकट प्रतीत होता है, किन्तु व्यक्ति-निष्ठ चेतना से आक्रान्त होने के कारण वह वास्तव में प्रगतिवाद से कोसों दूर है। भले ही मानव-मुक्ति में उसे आस्था हो, किन्तु मानव-जीवन के मूल्यों एवं समाज में अनास्था रखने के कारण वह मानव-जीवन के परिवर्तित मूल्यों को खोज सकने की दृष्टि खो बैठा है।

आत्म-चेतनात्मक स्वतन्त्रता का प्रचारक सार्त्र यह मत स्थापित करता है कि किसी परिस्थिति का वास्तविक ज्ञान तभी सम्भव है, जब कि व्यक्ति की चेतना उस परिस्थिति से पृथक् होकर स्वयं को उससे पूर्णतः विच्छिन्न करके उसका अनुभव करे। मनुष्य के इस चेतनात्मक स्वातन्त्र्य से शून्य की उत्पत्ति होती है। स्वयं सार्त्र ने यह स्वीकार किया है कि व्यक्ति का अस्तित्व ही शून्य-तत्त्व की सृष्टि करता है। उसने जिस चेतना की स्वतन्त्रता पर बल दिया है, वह भौतिक तथा यथार्थ परिस्थितियों का निराकरण करती हुई मात्र स्वानुभूति में लय होती है। इसलिए सार्त्र की दृष्टि में जीवन अर्थ-हीन वासना का पर्याय है। अतः एक तीसरा तथ्य 'घृणा' जिसे सार्त्र ने 'उबकाई' माना है, सामने आता है। यों स्वतन्त्र-चेतना, शून्यता और घृणा (या उबकाई) के तत्त्वों पर अस्तित्ववाद का वह वायवी दर्शन खड़ा है, जिसकी प्रधान देन है—अनास्था, अविश्वास, कुण्ठा, निराशा और आत्म-ग्लानि।

पतनशील प्रवृत्तियों के आधार-तत्त्वों का निर्माण करने वाले अस्तित्ववादी दर्शन ने नग्न वासना को स्वीकार कर यौन-भावना के बीभत्स प्रदर्शन को कृतियों में स्थान दिलाया है तथा मानसिक अस्वस्थता के चरम रूप की अभिव्यक्ति की है। फ्रॉयड आदि के मनोवैज्ञानिक तथ्यों की प्रतिक्रिया के रूप में इस दर्शन ने उन यौन-प्रवृत्तियों को अधिकाधिक गले लगाने की चेष्टा प्रदर्शित की है, ताकि कोई फ्रॉयडवादी किसी भी अस्तित्ववादी व्यक्ति को यौन-वृत्तियों से उत्पन्न मनोग्रन्थियों का शिकार न बतला दे (सार्त्र यह प्रमाणित करना चाहता है कि समस्त मानव-जीवन यौन-

क्रियाओं और प्रवृत्तियों के भीतर ही समाहित होने के कारण अर्थ-हीन है)। अतः अस्तित्ववादी चेतना जीवन के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण अपनाकर अस्वस्थ जीवन-मूल्यों का समर्थन करती है। भारतीय दर्शन में भी कुछ ऐसे सम्प्रदाय रहे हैं, जो जीवन की ही नहीं जगत् की भी नश्वरता बतलाकर उनकी निरर्थकता घोषित करते हैं, किन्तु वे आस्थावादी स्वस्थ दृष्टि देने के लिए ही ऐसा करते हैं, जिसके पीछे सामूहिकता की चेतना वर्तमान है। फरन्तु अस्तित्ववादी दर्शन किसी भी स्थिति में स्थिरता का कोई बिन्दु स्वीकार नहीं करता है। इसलिए उसकी दृष्टि में जीवन एक संकट है, जिससे उत्पन्न होने वाली 'घृणा' को व्यक्ति आत्म-चेतना के विद्रोहात्मक स्वरूप से ठुकरा कर ही कोई मार्ग पा सकता है। मार्ग प्राप्ति का यह उपचार व्यक्ति को घोर अहंवादी बनाता है। यही कारण है कि अस्तित्ववादी चेतना घोर वैयक्तिक तथा 'अहं-ग्रस्त' है। सामाजिक चेतना से विच्छिन्न होकर अस्वित्ववादी व्यक्ति चेतना के विराट् वृत्त में घबराया हुआ घूमता है।

(ग) नयी कविता में अस्तित्ववादी प्रवृत्तिया

ऊपर हमने अस्तित्वाद की जिन प्रवृत्तियों पर संक्षेप में विचार किया है, उनसे हिन्दी की नयी कविता पर्याप्त मात्रा में प्रभावित है। उसमें मानव का सामाजिक रूप तिरस्कृत होता चला जा रहा है। व्यक्ति के सामाजिक जीवन-सम्बन्धों और सामाजिक चिन्तनों को अयथार्थ तथा अस्वाभाविक बताकर तिलांजलि दी जा रही है। अब तक अस्तित्ववादी जो मुख्य प्रवृत्तियाँ नयी कविता में अवतीर्ण हुई हैं, वे इस प्रकार हैं :—

(१) जीवन की निरर्थकता और व्यक्ति की अवशता

व्यक्ति-निष्ठ चेतना का नया कवि जीवन के प्रति आस्था खो बैठा है। वह भयंकर अवशता का अनुभव करता हुआ जीवन के मार्ग पर अभिशप्त की भाँति निरर्थक यात्रा कर रहा है। प्रयागनारायण त्रिपाठी कहते हैं :

यह यात्रा कब आरम्भ हुई थी ?
क्यों ?
किस अथ से ?
किन मोड़ों से होकर इस इतिहास तक आया हूँ ?
किन्तु काल की शत-सहस्र परतों के पीछे
काली काली चट्टानों के पास झाँकने के प्रयत्न सब
व्यर्थ हुए हैं।
यात्रा का कुछ स्पष्ट अर्थ
चेतना पटल पर नहीं सँवरता
लगता है धारा में बहते बहते सहसा
नाव भँवर में उलझ गई है

लगता है : हर नया मार्ग गंतव्य-हीन
आगे-आगे-आगे प्रतिक्षण बढ़ता जाता है
जिस पर बस चलते जाने का निष्कारण अभिशाप मिला है
मुझको
अन्त-हीन यात्री को[1]

(२) क्षण का महत्त्व और विराट् काल की अस्वीकृति

अतीत, वर्तमान् और भविष्य की परम्परा के प्रति अश्रद्धालु बनकर नया कवि काल के अखण्ड प्रवाह में विश्वास नहीं करता, इसलिए वह किसी एक क्षण से अपना अस्तित्व सिद्ध करना चाहता है। नयी कविता में क्षण को महत्व देने वाले ऐसे अनेक उदाहरण अनायास मिल जाते हैं। कीर्ति चौधरी की एक कविता है :

मैं प्रस्तुत हूँ
इन कई दिनों के चिन्तनों संघर्षों के बाद
यह क्षण जो अब आ पाया है
उसमें बँधकर मैं प्रस्तुत हूँ
तुमसे सब कुछ कह देने को।

× × ×

मैं प्रस्तुत हूँ
यह क्षण भी कहीं न खो जाए।
अभिमान नाम का पद का भी तो होता है
यह कछुए सी मेरी आत्मा
पंजे फैला
असली स्वरूप जो तुम्हें दिखाने को
उत्सुक हो बैठी है
क्या जाने अगले क्षण की ही आहट को पा
सब कुछ अपने में फिर समेट ले झट अन्दर।[2]

(३) शून्यता की अनुभूति

नया कवि अस्तित्वाद से प्रभावित होकर जीवन में शून्यता की अनुभूति प्राप्त कर रहा है। ज्यों-ज्यों वह व्यक्ति की स्वतन्त्र चेतना का समर्थक बनता जा रहा है, त्यों-त्यों वह भौतिक एवं यथार्थ परिस्थितियों का एकदम निराकरण करके शून्य को महत्व दे रहा है। 'तिलमिलाती संध्या' कविता की कुछ पक्तियाँ प्रस्तुत हैं :—

कभी पूछना अँधेरे से
पहलू से लगी हो परछाई जब

१. नयी कविता अंक ३, पृष्ठ ८३-८४।
२. नयी कविता अंक ३ पृष्ठ ९३।

आवरण से भिन्न भी कोई नग्नता है
या यह विराट् आडम्बर
नग्नता छिपाने को नहीं
पर घेरने शून्य को।[३]

(४) निराशा और अनास्था का बोध

नयी कविता में अस्तित्वाद के प्रभाव से निराशा और अनास्था का अत्यधिक विस्तार हुआ है। यथा :

प्रकाश के रंगीन झरने
जो असंभव ऊँचाइयों से गिर रहे हैं
पत्थर को गुदगुदा कर
एक तरल संगीत जगाकर
कहीं दूर चले जाएंगे
और तब मैं बंद आँखों के अपार अँधकार में
झूलते हुए अपने ही चित्रों को नोचकर कहूँगा
कि सब कुछ
शायद मेरे उन्माद की छाया थी,
तुम नहीं।[४]

निराशा-जन्य अवसाद में ग्रस्त मन का एक चित्र इन पंक्तियों में प्रस्तुत हुआ है :—

नदी है, नाव है
किन्तु यहां कहीं भी
रुकता नहीं पाँव है
× × ×
भँवर के बाद भँवर
आते हैं
और चले जाते हैं
किन्तु भीतर क्या है
ऊपर नहीं लाते हैं
× × ×
उस पार कोई हो
या न हो
पर आज
गहरी उदासी में डूबा

३. नयी कविता अंक ३ पृष्ठ ६३-६४ कवि अनाम।
४. नयी कविता अंक ३ पृष्ठ ४३ कवि-कुंवर नारायण।

मेरा ही मन
भीतर ही भीतर
मुझे छल रहा है।[५]

निराशा की अभिव्यक्ति इस सीमा तक पहुँची है :—

बाहर ये राहें हैं
किन्तु एक बिन्दु पर
सब में
विराम है
× × ×
पर अब
भीतर के हर मोड़ पर
उनका पहरा है
ये राहें जहाँ पहुँचकर
बन गई हैं
ऊँची तम की दीवार।[६]

निराशा का अस्तित्वादी चिन्तन नए कवि को इस चित्रण तक ले पहुँचा है :—

ये हाथ
जिनमें रहते थे
फूल
अब इनमें श्वेत काँटे हैं···
जैसे बबूल।
माथे की चिंता की रेखाएँ
जो कभी थीं
पानी की लकीर
बनती जा रही हैं
पत्थर की लकीर।[७]

(५) घृणा या उबकाई की अभिव्यक्ति

सार्त्र ने अपने अस्तित्वादी दर्शन में जिस उबकाई (लानोसे) या घृणा को जीवन की मूल सत्ता का महत्त्वपूर्ण अंग स्वीकार किया है, उसे नये हिन्दी-कवियों ने पर्याप्त आत्मीयता से ग्रहण किया है। धर्मवीर भारती की कुछ पंक्तियाँ देखिए :—

थाहा था अनस्तित्व का सागर
पतनोन्मुख होकर ?

५. आयाम, डॉ० दिनेश, पृष्ठ १२।
६. आयाम, डॉ० दिनेश, पृष्ठ १४।
७. नयी कविता अंक १ कवि श्याम मोहन श्रीवास्तव, पृष्ठ ५१-५२।

दिग्भ्रम
भटकन
सीलन
कीचड़ काई
पाप उबकाई के
स्तर छुए थे···?[८]

(६) ईश्वर में अविश्वास और 'अहं' का विस्तार

नयी कविता में अस्तित्वाद के प्रभाव से 'ईश्वर' का अस्तित्व अस्वीकार किया जा रहा है। कवि अपनी नई दृष्टि और विवेक पर गर्व करता हुआ झूठे 'अहं' में फूल रहा है। निश्चय ही प्रगतिवादी दृष्टि को साथ लेकर कहीं-कहीं नये कवि ने अपने अस्तित्वादी अविश्वास को अनजाने समाज-हित में नियोजित कर दिया है, किन्तु वह मूलतः ईश्वर की अस्वीकृति में अपने 'अहं' के प्रति ही अधिक सजग है। विजयदेव-नारायण साही की निम्नांकित कविता इस संदर्भ में प्रस्तुत है :—

नबी तुम्हारी पोली छाती में यह क्या है ?
बंजर मिट्टी
पंगु तरलता
झूठी ज्वाला
रुद्ध हवाएँ

× × ×

प्रथम बार जब तुमने झूठा ईश्वर देखा
मानव के घायल मस्तक की साक्षी देकर
मैंने अस्वीकार किया था।

× × ×

नबी तुम्हारी कुण्ठाओं से निर्मित प्रभुता
केवल आत्मा की तेजाबी आभा थी, जो
जीती नहीं कलंकित होकर
मुर्दा परतों पर कुम्हलाया ज़हर छोड़कर
कुछ दिन बाद उतर जाती है।[९]

(७) यौन-भावना का नग्न रूप

अस्तित्ववाद के प्रभाव से यौन-भावना अपनी समग्र नग्नता के साथ नयी कविता में प्रस्तुत होना चाहती है। फ़ायड आदि मनोविश्लेषणवादियों को नया कवि मानो चुनौती देता है कि अब हमारी समस्त प्रयाण-कुण्ठा अपनी परिधि तोड़कर अभि-

---

८. नयी कविता अंक ३, पृष्ठ ५७।
९. नयी कविता के प्रतिमान पृष्ठ १८२ से उद्धृत।

व्यक्त होने को प्रस्तुत है। अज्ञेय से लेकर पन्त तक ने नग्न यौन-चित्रण प्रस्तुत किये हैं। राष्ट्रीय साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत नयी कविता के प्रतिनिधि संकलन "कला और बूढ़ा चाँद" (पंत) में इस प्रकार की नयी कविताएँ मिलती हैं। पत्र-पत्रिकाओं में तो ऐसी कविताओं के उदाहरण आये दिन मिल जाते हैं। अतः नग्न-यौन-चित्रण के प्रमाण देना यहाँ अभीष्ट नहीं हैं।

(घ) अस्तित्ववाद का नयी कविता पर शुभ प्रभाव

अब तक हमने नयी कविता पर अस्तित्ववाद के प्रभाव का एक पक्ष ही प्रस्तुत किया है, किन्तु उसका दूसरा शुभ पक्ष भी है। सामाजिक चेतना से प्रभावित कविता ने समूह को इतना अधिक महत्व दिया था कि व्यक्ति की उपेक्षा हो गई थी। अस्तित्ववादी दर्शन ने एक उपेक्षित व्यक्ति को महत्व देकर समाज की परिधि में उसे स्वतन्त्र इकाई के रूप में स्थापित किया तथा उसकी व्यक्तिगत स्थितियों को चित्रित कर उसके अस्तित्व का प्रकाशन किया। अतः इस दृष्टि से लिखी गई नयी कविताएँ एक शुभ प्रभाव लेकर भी चली हैं। उनमें व्यक्ति की स्थिति को नए आयामों में प्रस्तुत किया गया है तथा समाज में खोए हुए उसके व्यक्तित्व को नए आकारों में उभारा गया है।

(ङ) उपसंहार

पूर्वोक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हिन्दी की नयी कविता को अस्तित्ववाद ने जिस सीमा तक प्रभावित किया है, उस सीमा तक वह भारतीय जीवन की अनुभूति से कटकर योरपीय वातावरण के प्रभावों को स्वीकार करने के लिए विवश हुई है। अस्तित्ववाद ने उसे व्यक्ति के निकट पहुँचाकर कितना ही शुभ कार्य किया हो, किन्तु वह उसे वैयक्तिक सामर्थ्य और जिजीविषा का अमृत अधिक नहीं पिला सका है। आज हिन्दी कविता में जहाँ-कहीं भी निराशा, अनास्था, कुण्ठा, अविश्वास, घृणा आदि का चित्रण मिलता है, उसके लिए अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन बहुत कुछ उत्तरदायी है।

डॉ० छोटेलाल दीक्षित

नई कविता : क्षणवाद के सन्दर्भ में

नया कवि वर्तमान में ही जीता है। वह वर्तमान अनुभव-क्षण को ही सत्य मानता है। वह केवल अनुभूति के महत्त्व को स्वीकारते हुए सौन्दर्यानुभव के क्षण को ही अपनी रचना में व्यक्त करता है। उसका लक्ष्य अनुभूति के विशिष्ट क्षणों को पकड़कर कला के माध्यम से उन्हें स्थायी बनाना है। नई कविता के इस क्षणवाद के सम्बन्ध में कुछ

कहने के पूर्व मैं क्षणवाद के दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक पहलू पर विचार करना चाहूँगा।

दार्शनिक दृष्टि से बौद्ध-दर्शन में सर्वप्रथम क्षण की सत्यता का प्रतिपादन किया गया है। बौद्ध-दर्शन में क्षण की सत्यता परिवर्तनशीलता के अर्थ में स्वीकारी गई है : दो क्षणों में कोई वस्तु परिवर्तित हुए बिना नहीं रहती, अतएव सत्य क्षण ही है। ईसा से ५०० वर्ष पूर्व यूनानी दार्शनिक हैराक्लितस ने भी 'तुम उसी नदी में दो बार पैर नहीं रख सकते, क्योंकि ताजा पानी हर वक्त तुम्हारे ऊपर से बहता रहता है' कहकर क्षण की सत्यता का प्रतिपादन किया था। भगवान शंकराचार्य ने उत्तरोत्पादे च पूर्व निरोधात्, अनुस्मृतेश्च और क्षणिकत्वाच्च, आदि ब्रह्म सूत्रों का विश्लेषण करते हुए क्षणवाद का विरोध किया। क्षणवाद के अनुसार उत्तर क्षण की उत्पत्ति के समय पूर्व क्षण का नाश होता है। इस दृष्टि से पूर्व और उत्तर क्षण का कार्य-कारण भाव सिद्ध नहीं होता, क्योंकि नष्ट हुआ पूर्व-क्षणिक कार्य उत्तर क्षणिक कार्य का कारण नहीं हो सकता। अतः पूर्व क्षण का विनाश नहीं होता। अनुस्मृति से भी प्रतीत होता है कि अनुभव करने वाली आत्मा क्षणिक नहीं है। दर्शन और स्मरण में एक ही साथ दो क्षणों का सम्बन्ध प्रतीत होता है। तीनों कालों के साथ सम्बन्ध रखने वाला एक अन्वयी सर्वार्थ-दर्शी कूटस्थ स्थिर आत्मा न हो, तो देश-काल-निमित्त की अपेक्षा से जो वासनाओं का आधान होता है, वह और इनके अधीन स्मृति-प्रतिसन्धान आदि व्यवहार नहीं होंगे। वस्तुतः वर्तमान क्षण के अस्तित्व के साथ पूर्व क्षण का अस्तित्व किसी-न-किसी रूप में विद्यमान रहता है। भूत बीते होने पर भी अपने प्रभाव के द्वारा वर्तमान में स्थिर है।

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक विलियम जेम्स ने विचारों के प्रवाह पर प्रकाश डालते हुए क्षण और निरन्तरता का विश्लेषण करते हुए कहा है कि प्रत्येक वस्तु के प्रति हमारी मानसिक प्रतिक्रिया उस क्षण तक के विश्व के विभिन्न अनुभवों का प्रतिफल होती है। संसार जिसका हम अनुभव करते हैं वह मेरे और भूत की चेतना के संग्रह और त्याग से बना है। वर्तमान मानसिक-स्थिति भूत के सत्यों को एक-दूसरे के साथ और अपने साथ जोड़ती है। वर्तमान विचार भूत की अपनेपन की शृंखला के वास्तविक रूप में और कानूनन रूप में उत्तराधिकारी हैं। मनःस्थिति कभी विनष्ट नहीं होती। वही विद्यमान रहते हुए नई स्थिति के परिणाम को बदलती है। डॉ० जैनेट के अनुसार हिस्टीरिया के रोगी की जब कुछ किस्म की सम्वेदना नष्ट कर दी जाती है तो उसके साथ ही भूत की एकत्रित सम्वेदना-पुंज, जो उससे सम्बन्धित होती है, समाप्त हो जाती है। वस्तुतः वर्तमान क्षण की अनुभूति मात्र वर्तमान ही की नहीं होती, उसके साथ भूत के संस्कार विद्यमान रहते हैं। आधुनिक चिन्तक हेनरी वर्गसां के मतानुसार प्रत्येक अनुभूति वह चाहे जितनी साधारण हो अपने में सम्पूर्ण भूत और वर्तमान अनुभव के अस्तित्व को संजोये रहती है। चेतना स्मृति के बिना नहीं होती। स्मृति भूत को वर्तमान में लाती है। आन्तरिक-अस्तित्व स्मृति के जीवन की निरंतरता है। वर्तमान निरन्तर अपने गुणों को बदलते हुए उम्र के बढ़ने के साथ हमसे भावी बोझा ढुलवाता

है । हमारी बौद्धिक चेतना ठोस अनुभव, ज्ञान और स्थिर अवधारणाओं के साथ आगे बढ़ती है । हमारा भीतरी जीवन एक साथ गुणों की विभिन्नता, प्रगति की निरन्तरता और दिशा की एकता को संजोये रहता है । प्रत्येक वस्तु अवधारण को महत्त्व देने पर आधारित है । वस्तु की अवधारणा अपने-आपमें महत्त्व की नहीं है । यह महत्त्व की अवधारणा और वस्तु के बीच की मध्यस्थता करती है । विचार प्रायः अवधारणा से वस्तु न कि वस्तु से अवधारणा की ओर गुजरते हुए बनते हैं । अवधारणा निरन्तरता का प्रतीक है । विचारों के बनने में अवधारणा से वस्तु की ओर आया जाता है, अतएव किसी वस्तु से सम्बन्धित विचार क्षणिक अनुभूति पर आधारित नहीं है ।

क्षणवादी चिन्तनधारा के अनुसार जीवन एक प्रक्रिया अथवा आन्तरिक सम्बन्धों का बाह्य सम्बन्धों के साथ निरन्तर सामंजस्य है, प्रक्रिया जीवन की लालसा, घृणा, ईर्ष्या, लोभ और इसके प्रमुख सिद्धान्तों में कहीं टिकती नहीं है क्योंकि उसमें स्थायित्व नहीं है । आधुनिक कला में क्षण का महत्त्व प्रभाववाद के कारण स्वीकारा गया । प्रभाववाद में प्रत्येक अवस्था को क्षणिक माना गया जिसकी पुनरावृत्ति कभी नहीं होती । कवि और चित्रकार भी केवल अपनी एक मनःस्थिति को, न कि व्यावहारिक जगत के तन्त्रात्मक विस्तार को, रचना में व्यक्त करता है ।

आधुनिक युग में क्षण के महत्त्व के प्रतिपादन का कारण यान्त्रिक प्रगति के द्वारा जीवन-चेतना में आया शीघ्र परिवर्तन है जिसके कारण स्थायित्व और निरन्तरता के स्थान पर क्षण ही सत्य दिखाई देने लगा । क्षण के महत्त्व की प्रतिष्ठा में आधुनिक जीवन की भयानकता भी सहायक हुई । आधुनिक मानव के भीतर से ईश्वर और धर्म के प्रति विश्वास जाता रहा । वह घोर अनिश्चय और जीवन की दुर्दान्त विभीषिकाओं के समक्ष अपने को असहाय पा रहा है । कुछ उसके भीतर अज्ञात भय का एक स्थायी वास हो गया है । उसे सब कुछ क्षणभंगुर लगता है । अतएव वह क्षण में ही केन्द्रित हो गया है ।

प्रश्न यह है कि काव्य में अनुभूति के क्षण को महत्त्व देना कहाँ तक उपयुक्त है, रचना का लक्ष्य अनुभूति के कतिपय क्षणों को निरन्तर बनाना या तात्कालिक प्रभाव डालना हो अथवा नैतिक या सांस्कृतिक उत्कर्ष प्रदान करने वाले सामाजिक जीवन के स्थायी प्रेरक तत्त्वों की अभिव्यक्ति हो । यह सत्य है कि सौन्दर्यानुभव का क्षण रचनाकार के लिए स्थायी महत्त्व का होता है । बाह्य संघात से प्राप्त अनुभव सौन्दर्यानुभव के विशिष्ट क्षणों में अनुभूति बनते हैं और बाह्य माध्यमों द्वारा व्यक्त होकर रूप पाते हैं । सौन्दर्यानुभव के इन विशिष्ट क्षणों में हमारी संवेदना निजता से कटकर सार्वजनीनता के स्तर पर आ जाती है, हम अपनी सम्वेदना का विश्लेषण सार्वजनीन संवेदना के रूप में करने लगते हैं । सौन्दर्यानुभव के इसी क्षण की अभिव्यक्ति रचना में की जानी चाहिए । जो सौन्दर्यानुभव के इस क्षण की अभिव्यक्ति न करके निजी क्षणिक अनुभवों को व्यक्त करता है या विभिन्न मतवादों में बँधकर नारेबाज़ी करता है वह अपनी रचना के प्रति ईमानदार नहीं होता ।

सौन्दर्यानुभव के क्षण और अनुभव में अन्तर है । रचनाकार सौन्दर्या-

नुभव के क्षणों में अपनी संवेदना को सार्वजनीन स्तर पर रखकर अपनी भीतरी जीवन दृष्टि के अनुसार उसका विश्लेषण करते हुए उसे रूप प्रदान करता है। भीतरी जीवन दृष्टि कवि की जीवनी-शक्ति का प्रतीक होती है। सृजक की जीवन-दृष्टि के निर्माण में केवल वर्तमान, जिसमें वह जीता है, का ही हाथ नहीं होता। जीवन-दृष्टि के निर्माण में अतीत के विभिन्न अनुभवों के साथ ही मुख्य होता है अपने उस विवेक का जिसके अनुसार वह सम्यक् संगत, असंगत, अच्छे, बुरे का विश्लेषण करता है। अपनी संवेदना को सार्वजनीन स्तर पर रखकर अनुभव करने की क्षमता तो सभी में होती है। हम अनेक स्थितियों में अपनी संवेदना को सबकी बनाकर सोचते हैं। कलाकार की विशेषता सार्वजनिक स्तर पर आई सम्वेदना का अपने जीवन के निजी दृष्टिकोण के अनुसार विश्लेषण कर रूप प्रदान करना है। तब वह संवेदना क्षण की नहीं रह जाती वरन् समग्र जीवन के रस से संपृक्त हो जाती है।

साहित्यकार का व्यक्तित्व निरन्तर उसके साहित्य को प्रभावित करता है। अपवादों को छोड़कर यह सत्य नहीं माना जा सकता कि साहित्यकार के चरित्र या व्यक्तित्व के साथ उसकी रचना का कोई सम्बन्ध नहीं होता। साहित्य में उसके सर्जक साहित्यकार के खुले हुए अन्तःकरण की सहज प्रतिछवि देखी जा सकती है।

जो कवि जीवन के व्यापक अनुभव, जिससे उसकी भीतरी दृष्टि का निर्माण होता है, को छोड़कर केवल वर्तमान क्षण में जीना चाहता है, मुक्तिबोध के शब्दों में वह अपने समस्त व्यक्तित्व को भूमिगत करके ऊपरी सतह पर उछाले गए बिन्दुओं में अपने को तृप्त मान लेता है। वह समग्र मानव-सत्ता को छोड़कर क्षण को, उसके विशिष्ट अनुभव को महत्त्व देता है। वह जीवन के उस आत्म-रूप से कटता है जो उस क्षण को उत्पन्न या आविर्भूत करते हैं। वास्तव में क्षण-सत्ता की परिधि से बाहर न जाना अपने प्रति बेइमानी है और रचना को व्यापक जीवन-संवेदना से रिक्त करना है।

वर्तमान अनुभव-क्षण की परिधि में ही रहने वाले, भीतरी जीवन-दृष्टि से हीन आज के कतिपय कवियों को आधुनिक जीवन में अनिश्चय, अविश्वास, भयानकता, संत्रास, आशंका, व्यग्रता, अकुलाहट के तत्त्व ही मिलते हैं। निश्चय ही ये सारे तत्त्व आज के जीवन में हैं पर, केवल यही नहीं है और सब कुछ यही नहीं है। आधुनिक जीवन दृष्टि में इन्हीं को सब कुछ मान लेना भ्रामक और ग़लत दिशा में सोचना होगा। जो नितान्त क्षण-धर्मी न होकर व्यापक अतीत के अनुभव से प्राप्त जीवन-दृष्टि के आधार पर युग-जीवन का विश्लेषण करेगा उसे निश्चय ही आज के जीवन में केवल अकुलाहट और व्यग्रता ही न मिलेगी। इस सारी अव्यवस्था के बीच भी कहीं कुछ हो रहा है जो व्यवस्था और सृजन का प्रतीक है। प्रसाद ने तप को 'क्षणिक दीन अवसाद' की संज्ञा दी। अकुलाहट और व्याकुलता भी जीवन का स्थायी तत्त्व न कभी रहा है और न रहेगा। जीवन की भीषण विभीषिकाओं के बीच भी व्यक्ति में आशा और आह्लाद की किरण रहती है :

तप नहीं केवल जीवन सत्य, करुण यह क्षणिक दीन अवसाद,
तरल आकांक्षा से है भरा सो रहा आशा का आह्लाद।

हम डॉ० देवीशंकर अवस्थी के इस कथन से सहमत नहीं हैं कि आज का व्यक्ति ज़िन्दगी के पास विश्वास भरी आस्था से नहीं आता। वास्तव में ज़िन्दगी के प्रति यह विश्वास भरी आस्था ही उसे प्रगति की ओर उन्मुख होने और श्रेष्ठ मानव-मूल्यों के लिए जूझने की शक्ति और साहस प्रदान करती है। यहाँ मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि जीवन की कटुता को न व्यक्त किया जाय। उस कटुता को व्यक्त करने में क्षण की अनुभूति या केवल अनुभूति को मात्र महत्ता न देकर अतीत के व्यापक अनुभव से समन्वित विवेक-युक्त जीवन-दृष्टि को महत्त्व दिया जाय। मूल्यहीनता का संकेत करके बुराई की शक्ति नापते हुए, नये मानव मूल्यों की प्रतिष्ठा करना उपादेय और आवश्यक है। यह क्षणधर्मी कलाकार नहीं कर सकता। क्योंकि यह मूल्य-हीनता का अपनी जीवन-दृष्टि के अनुसार विवेचन करने पर ही सम्भव होगा।

मुक्तिबोध का सारा काव्य इसका सही प्रमाण है कि क्षण की अनुभूति या केवल अनुभूति अथवा सौन्दर्यानुभव का क्षण ही नहीं वरन् जीवन की दृष्टि जो सौन्दर्यानुभव का विश्लेषण करके उसे रूप देती है वही रचना को सार्थकता प्रदान करती है। मुक्तिबोध की कविताओं में अनुभूति के साथ गहरी और व्यापक चिन्तन प्रक्रिया चलती है। उनकी कविताएँ भी जीवन की भीषणता और कटुता को व्यक्त करती हैं पर, जगदीश चतुर्वेदी की कविताओं की तरह केवल अनास्था और कटुता को ही नहीं, जिनमें विश्लेषणात्मक जीवन-दृष्टि का अभाव है।

यहाँ तो सभी चेहरों पर चढ़ा है मायूसी का पलस्तर
नस्ल हीनों का क्रंदन
मुझे ले चलो इस खोखली नगरी से बहुत दूर
मेरी अस्थियाँ गल रहीं हैं
मेरी ज़िन्दगी उखड़ रही है
छुट रही हैं मेरी दम तोड़ती साँसें ।। प्रारम्भ

मुक्तिबोध अपनी एक कविता में संयुक्त परिवार की कटुता और विघटन का संकेत करते हुए भी एक ऐसी दृष्टि देते हैं जो हमें अपने पर पुनः विचार करने के लिए प्रेरणा देती है।

अजीब संयुक्त परिवार है—
अपने ही वक्ष को
खुरदुरा-वृक्ष-धड़
मान कर घिसती है, घिसते हैं
अपनी छाती पर ज़बर्दस्ती
विष दन्ती भावों का सर्प-मुख।
विद्रोही भावों का नाग-मुख
रक्त-प्लुत होता है।

चेहरे के भाव सरीसृप होते हैं,
आँखों में ज़हर का नशा रंग लाता है।
बहुएँ मुडेरों से कूद अरे ?
आत्म हत्या करती है ??
ऐसा मकान यदि ढह पड़ा,
हवेली गिर पड़ी,
महल धराशायी, तो
बुरा क्या हुआ ?

+ +

लेकिन, दबी धुक-धुकियों,
सोचो तो कि
अपनी ही आँखों के सामने
खूब ? हम खेत रहे।
खूब काम आए हम ??
आँखों के भीतर ही आँखों में डूब-डूब
फैल गए हम लोग ??
आत्म-विस्तार यह
बेकार नहीं जायेगा।
ज़मीन में गड़े हुए देहों की खाक से
शरीर की मिट्टी से धूल से
खिलेंगे गुलाबी फूल।

आज के कवियों में केदार नाथ अग्रवाल, कुंवर नारायण, नागार्जुन, नरेश मेहता, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, केदारनाथ सिंह आदि अन्य विभिन्न कवियों की अपेक्षा अधिक महत्त्व इसीलिए रखते हैं क्योंकि उनकी कविताएँ केवल क्षण की अनुभूति या अनुभूति को ही नहीं व्यक्त करतीं वरन् अनुभूति के साथ ही व्यापक जीवन-दृष्टि को भी सामने रखती हैं। उनकी कविताओं को सार्थक बनाती हैं।

आचार्यों ने काव्य के तत्त्वों की विवेचना करते हुए शब्द, अर्थ, भाव, कल्पना, तत्त्वों के साथ विचार-तत्त्व या बुद्धितत्त्व को भी महत्त्व दिया है। यान्त्रिकता के साथ आज के जीवन में जटिलता आई है जिससे जीवन की संवेदनाएँ भी जटिल हो गई हैं। इन जटिल संवेदनाओं की अभिव्यक्ति केवल क्षण-धर्मी बनकर नहीं की जा सकती। अनुभूति को सही रूप प्रदान करने वाली व्यापक जीवन-दृष्टि के अभाव में रचनाकार युगीन जीवन-चेतना की सही अभिव्यक्ति नहीं कर सकता और इसके बिना उसकी रचना में वह पैनापन नहीं आ सकता जो हमारे भीतरी जीवन के पर्तों का उद्घाटन कर हमें अपने विषय में पुनः विचार करने के लिए प्रेरित कर सके। वस्तुतः क्षण के साथ निरन्तरता, अनुभूति के साथ व्यापक जीवन-दृष्टि-संवेदना रचना को सार्थकता प्रदान करने वाले आवश्यक तत्त्व हैं।

विजय बहादुरसिंह

नये कवि का दृष्टिकोण

नये के नाम पर इधर बहुत कुछ लिखा गया है। जितना लिखा गया है उसी अनुपात में भ्रम का फैलाव भी हुआ है। हर लेखक चिन्तन के स्तर पर नई माँग करता है, हर चीज़ की अपने ढंग से परिभाषा देना चाहता है और उसी के सहारे सम्पूर्ण नव-लेखन को बाँधने की कोशिश करता है। नवलेखन की स्थिति इसके ठीक विपरीत है। उसे सही माने में किसी परिभाषा में बाँध सकना आज असम्भव है। उसके अनेक दिगन्त और छोर हैं। काव्य रचना को ही यदि लें तो कई विभाजक रेखाएँ खींची जा सकती हैं। कुछ लोग अब भी जीवन की मार्दवता, भास्वरता एवं प्रकृति की रमणीयता से प्रेरित एवं प्रभावित हैं जबकि दूसरे लोग एकबारगी कविता ही इसलिए लिख पाते हैं कि जीवन में ढेर सारी कुरूपता, नग्नता एवं भयंकरता उन्हें संवेदन देती है। कुछ लोग ग्रामीण जीवन परिवेश को महत्त्व दे रहे हैं तो कुछ आधुनिक भावबोध का नारा बुलन्द करते हुए सतही नागरिक-जीवन की अनुभूतियों में डूब गये हैं। इन अनेक वृत्तों के बीच रचनाधर्मी कविता और सही आधुनिक भावबोध को पहचानना आसान नहीं रह गया है। किन्तु यह पहचान ज़रूरी है। आखिर किसे कब तक इस अपरिचय में भटकना पसन्द है? निश्चय ही आज की कविता की मूल दृष्टि को पहचानना होगा। यह इसलिए भी ज़रूरी है कि जो रचनाकार इस नयी दृष्टि से सम्पन्न हैं वे निश्चित रूप से आज के विविधतापूर्ण जीवन को बहुत ईमानदारी के साथ भोग रहे हैं और यह भी कहा जा सकता है कि इन सारी स्थितियों ने उनके जीवन और व्यक्तित्व पर प्रश्न-चिह्न जैसा लगा दिया है। उनमें हताशा नहीं और न भावी विजय के प्रति दम्भ ही है। और न कुछ वैसा जो उनके व्यक्तित्व को लिजलिजा बना दे बल्कि वे सब बड़े धैर्य के साथ रूढ़िग्रस्त व्यवस्था के गुज़रते हुए कारवाँ को देख रहे हैं और आगाह कर रहे हैं अपने समाज और राष्ट्र को कि वह सम्हले और इस अत्याचार का विरोध करे। यह विरोध भाव ही मुझे दृष्टिगत नवीनता का पर्याय लगता है जिसकी पुष्टि मैं अ-कविता, अ-कहानी जैसे शब्दों के द्वारा कर सकता हूँ।

'माध्यम' में प्रकाशित एकाध निबंधों में 'अनुभववाद' जैसी-निष्पत्तियाँ आधुनिक लेखन के संदर्भ में प्रस्तुत की गई है और उन्हें उसका बुनियादी दर्शन स्वीकार किया गया हैं; किन्तु यह 'अनुभव' वैयक्तिक प्रतिक्रिया के अतिरिक्त और कुछ नहीं है जो नयी कविता की एक सीमा की ओर इंगित करता है। मुक्तिबोध जैसे समर्थ विचारक और कवि ने इसी प्रकार की काव्य-रचनाओं को 'पर्सनल सिचुएशन' की कविताएँ कहकर उनके सीमित-संकुचित दृष्टिकोण की ओर संकेत किया है। यही नहीं और भी आरोप लगाते हुए उन्होंने उसकी असंतुलित भूमिका के प्रति अपनी खीझ व्यक्त की है और सम्पूर्ण जीवन और साहित्य में 'अनिवार्य मूल्यगत आवयवकिता'

का स्पष्ट आग्रह किया है। मुझे लगता है इधर की सभी कविताएँ इस आग्रह से रिक्त हैं। इसका यह भी तात्पर्य नहीं कि इन कविताओं में कोई दृष्टि नहीं है बल्कि यह लेखन संक्रान्ति-संघर्ष का लेखन है। संक्रान्ति-क्षण में उसकी पीड़ा को भोगने वाले कवियों की एक लम्बी कतार यहाँ की पत्रिकाओं में देखी जा सकती है। इस पीड़ा का कारण वह बंजर व्यवस्था है जो कुछ भी उगाह सकने में अक्षम है। ऐसी स्थिति में पूरी सम्बन्ध निष्ठा से संक्रान्तिकालीन अनेक ढहते प्रतिमानों पर नये निर्माण की आशा लगाये हुए अनेक कवि अपनी खीझ और आक्रोश व्यक्त कर रहे हैं। श्रीराम तिवारी और कैलाश बाजपेयी की कविताओं को इसी सन्दर्भ में देखा जा सकता है। श्री तिवारी जहाँ-जहाँ इस जीवन की विरूपताओं की भीषणता में पीड़ा भरे मन से डूब गये हैं और उसीके व्यक्तित्व को सही प्रस्तुति देने की चेष्टा करते हैं वहीं कैलाश बाजपेयी के शब्दों में एक ताप है जो कुछ तोड़ने के लिए तिलमिला रहा है। दोनों के एक-एक उदाहरण मेरी बात को और भी स्पष्ट कर सकेंगे :

एक साजिश हुई है इन दिनों
कि सत्ताएँ और प्रवंचनाएँ
सर्जना से बड़ी हो गई हैं

तिवारी जी की यह साजिश भोग की पीड़ा कैलाश बाजपेयी को क्षुब्ध कर देती है और उनकी चेतना का आक्रोश इन शब्दों में फूट पड़ा है :

जहाँ हर यात्रा का अर्थ
दुर्घटना है
और अस्पतालों में मृत्यु अधिक निश्चित है
उस निचुड़े देश के
किसी घिरे घर से
एक धड़हीन कण्ठ आवाज देता है
सुनो सुनो ! दूर देश के लोगो—
मुझे शर्म आती है कहते—
कि मैं भारतीय हूँ—

तरसे हुए देश के एक जागरूक बौद्धिक व्यक्तित्व की इस खीझ को यों ही टाला नहीं जा सकता। इन दोनों कवियों में विपर्यस्त जीवनस्थिति का सही बोध देखा जा सकता है। यहाँ इनकी 'दृष्टिचर्चा' के सन्दर्भ में या इनकी काव्यगत सच्चाई के सन्दर्भ में इन्हीं पंक्तियों की साक्षी दी जा सकती है। नयी कविता की वास्तविक दृष्टिमता यही है कि वह इस जीवन के बीच चिपकी हुई तमाम अर्थहीनता का भण्डा-फोड़ करे। इस बंजर और ढकोसलावादी व्यवस्था के प्रति विरोध प्रकट करना तथा उसके धराशायी होने का स्वप्न देखना ही सही आधुनिक बोध है। नये कवि धूमिल की रचनाओं में यह आक्रामकता व्यंग्य स्तर पर उभरी है। वैसे व्यंग्य की प्रवृत्ति नयी कविता के लिए कोई नवीनता नहीं है, किन्तु यह ऐसी स्थिति है जहाँ कवि केवल व्यंग्य नहीं करता बल्कि उसके व्यंग्य छेड़-छाड़कर अगले को उत्तेजित करने के लिए

होते हैं जिनसे उन पर आक्रमण करने का एक ईमानदार अवसर मिले।

धूमिल की विशेषता केवल यही नहीं बल्कि वे उसकी निरर्थकता को भी प्रमाणित करने की कोशिश में हैं। उनकी शब्दावली को देखने पर ज्ञात होगा कि किस प्रकार वे आभिजात्य की खिल्ली उड़ाना चाहते हैं। जो एक संकोच और लिहाज है वह धूमिल की प्रकृति नहीं। वे अपने रचनाधर्म के प्रति अत्यधिक ईमानदार हैं। इन सभी कवियों में जो आलोचनवृत्ति है वही इनकी मूल बात नहीं। बल्कि इनकी मूल बात किसी नये निर्माण की कामना है और यह नया निर्माण आकाश में तो होने से रहा। फिर नया कवि इतना अधिक कल्पनावादी भी नहीं है। इसलिए इस निर्माण के पहले उसे प्रावतन जीवन के नास्तित्व का बोध-निरीक्षण ज़रूरी है। दूधनार्थसिंह की इन पंक्तियों में यह बोध कितना सही है :

लेकिन कहीं कुछ नहीं, कुछ नहीं, कुछ नहीं, कुछ नहीं
कोई इतिहास नहीं, कोई आतंक नहीं, कोई यादगार
या कोई स्मारक नहीं।
'तैमूरलंग'

नयी कविता के परिप्रेक्ष्य में उठे हुए अनेक मतवादों और पीढ़ियों में यह अविश्वास और पुराने के प्रति अनास्था गहरी होती जा रही है, यह शुभ लक्षण है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि नयी पीढ़ी की यह अनास्था उस विघटित जीवन-चेतना के प्रति है जो उसका साथ नहीं दे पा रही है। जीवन को तेज़ी से भागते हुए देखकर जो लोग किसी किनारे खड़े होकर प्रतीक्षा करना चाहते हैं वे करें या बलराम की तरह कन्धे पर हल रखकर तटस्थता का फ़लसफ़ा झाड़ना चाहें तो झाड़ें पर इससे कुछ होने वाला नहीं है। सक्रियता आज की सबसे बड़ी माँग है। निर्माण और क्रान्ति को जन्म देने वाले लोग इस सक्रियता को जीने के लिए विवश है यद्यपि वे इसे उत्साह के साथ अपनाए हुए हैं। यह और बात है कि अनेक वैचारिक मतवाद और रास्तों का चलन इस समय अत्यधिक हो गया है। विवेकशील होते हुए भी संशय और द्विधा का क्षण हम पर कहीं-न-कहीं हावी हो ही जाता है; किन्तु इसे गतिरोध नहीं कहा जा सकता। इस सम्बन्ध में साहित्य के शीर्षस्थ चिंतक आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का यह कथन याद किया जा सकता है—'मतभेदों का होना संशय या चिंता की बात नहीं है वरन् एक सीमा तक स्वागत-योग्य भी है। किसी भी साहित्य में सार्वत्रिक मतैक्य का होना चिन्ता की बात अवश्य हैं, क्योंकि इससे साहित्यिक अगतिकता की सूचना मिलती है। जनतांत्रिक व्यवस्था के देश में मतभेदों का होना, यदि मतभेद स्वस्थ हैं, जीवन्त प्रगति की निशानी है।' अनेक कवि और कथाकार इसी स्वस्थ मतभेद में जी रहे हैं और सबका अपने पर विश्वास है यद्यपि इसका अर्थ औरों पर अविश्वास नहीं होता। इसीलिए यह संघर्ष वैयक्तिक भूमिकाओं का संघर्ष है जो किसी बड़े लक्ष्य की प्राप्ति की आकांक्षा रखता है। दूसरे, आज के जीवन की विविध भूमिकाओं में सम्पूर्णता की हामी न तो भरी जा सकती है और न वैसा सम्भव है। सम्पूर्णता को जीने और अभिव्यक्ति देने का प्रयास फ़िलहाल एक व्यक्ति नहीं कर सकता आगे की राम जाने।

इसीलिए जो जितना कुछ भोग रहा है उसे सच्चाई के साथ रख रहा है चाहे वह कुमारेन्द्र पारस नाथसिंह हो या पद्मधर त्रिपाठी और ओम प्रभाकर हों या अजित पुष्कल और नहीं तो कान्ता, ममता अग्रवाल और नीलमसिंह। इनसे अधिक की माँग करना एक अतिरिक्त माँग है।

इसके मूल में साहित्यकार का अपना व्यक्तित्व और उसकी जीवन-स्थितियाँ और परिवेश भी है। ये न केवल उसके रचनाक्षणों की पृष्ठभूमि का निर्माण करते हैं बल्कि उसके मूल चिन्तन को प्रभावित भी करते हैं। निश्चय ही मैं यहाँ कोई वादी भूमिका की बात नहीं कर रहा हूँ, यद्यपि यह बात किसी 'वाद' से जुड़ी हुई हो सकती है। आज का रचनाकार दिन-रात एक समूह से गुजरता है—जो गया-गुजरा नहीं है, किन्तु उसके अपने पारिवारिक दायित्व और मँहगी जीवन-व्यवस्था उसे गरदन मोड़ने की फ़ुरसत नहीं देते। लेखक या कवि इसी समूह के पीछे दौड़ रहा है। उसे आत्म-विश्वास देने के लिए। शायद यह उसकी बात माने या स्वीकार करे। इसीलिए वह इस पर अपना राग-द्वेष उसी प्रकार व्यक्त करता है जैसे कोई व्यक्ति अपने मित्र पर। नये कवि की मित्रता इसी समूह से है। आज की कविता की यही सामाजिक भूमिका है। कवि विवश है इसके साथ चलने के लिए क्योंकि उसका प्यार, उसकी घृणा, उसका क्रोध और उसकी प्रसन्नता के चारों ओर एक भीड़ फैली हुई है जो इन्हें अस्तित्व देती है। भीड़ में होने के कारण ही वह इतना 'बोल्ड' है। उसकी कविताओं में जो सीधी पहुँच (डायरेक्ट एप्रोच) है वह इसीलिए। घुमा-फिराकर बात को कहना उसकी प्रतिभा का अपव्यय है। यह और बात है कि वह सपाट कथन न कर संकेत-कथन का सहारा लेता है।

आज की नव्यतम कबिता की यही स्वीकृति है। कहानी-लेखन ने यद्यपि एक प्रतिस्पर्द्धी भूमिका का निर्माण कर दिया है फिर भी चिन्तक की लाचारी उसे काव्य के पास आने को विवश करती है चाहे वह मुक्तिबोध हों या अज्ञेय, धर्मवीर भारती हों या कुँवर नारायण। आज का पाठक इस स्थिति को पूरी तरह समझता है क्योंकि वह स्वयं इसी जीवन से जी रहा है। अब किसी भी कवि को यह कहने की विवशता नहीं भोगनी होती—'फूल लाया हूँ कमल के क्या करूँ इनका'। पाठक कवि के समानान्तर हैं। वैसे जो समानान्तर नहीं हैं उन्हें यह सब कुछ इस लोक का नहीं लगता। उनकी आँखों में एक अर्थहीन विस्मय का भाव झलकता है; किन्तु जो इस सामाजिकता को सही अर्थों में जी रहे हैं और जिनमें अपने अनुकूल निर्माण करने की आकांक्षा है—न कि स्वयं परम्परित व्यवस्था के प्रति समर्पित हो जाने की विवशता—उन्हें एक तिक्तता का अनुभव बार-बार होता है। नई पीढ़ी को साफ़ साफ़ दिखाई दे रहा है कि जो प्रचलित सत्य है वह अन्ततः एक बड़ा भारी झूठ है और वह इस लिए है कि झूठ की मूल्यवत्ता सुरक्षित रह सके। मूल्यों के अवमूल्यन की यही स्थिति है जिसे हम या हमारी पीढ़ी सहज ही मान नहीं लेगी बल्कि उसको नये सिरे से ईमानदार आकार देगी। ऐसा करते हुए उसे एक अपरिचय की स्थिति से गुज़रना होता है जिसको पार करके उसे सम्पूर्ण बिखरे हुए को पुनः सहेजना है—यह सम्पूर्ण

बिखराव अनेक आयामों पर लक्षित होता है जिसे एक सन्तुलित आकार देना इस युग का कवि-धर्म है। कठिनाई कम नहीं है—कवि शलभ की इन पंक्तियों में उसे देखा जा सकता है—

दौड़ते अनगिनत प्रश्नों की कतारें
किसे जाने दें ? किसे किंचित विरमने को कहें ?
किसको पुकारें ?
सभी चेहरों पर बँधे हैं मुँह चिढ़ाते हुए दर्पण।

यह केवल 'शलभ' की परेशानी नहीं—हम सबकी है—इसे हम सभी देख रहे हैं। इस तिक्तता के बीच भी कवि की सहेजने की यह आकांक्षा एक नये यथार्थपरक आशा-लोक का निर्माण करती है।

इस तिक्तता के मूल में आज के कवि की सामाजिक जागरूकता और वैयक्तिक सामंजस्य की समस्या भी प्रमुख है। छायावादी कवि ने अपने को बहुधा अतीत और भविष्य के छोरों के बीच फैलाया है—उसके सामंजस्य की समस्या इसीलिए उतनी प्रकट नहीं हो पाई—यद्यपि निराला इसके अपवाद रहे हैं। नया रचनाकार चाहे वह कथाकार हो या कवि—इस सामंजस्य को तात्कालिक वर्तमान में चाहता है। व्यवस्था की प्राचीन प्राचीरों में यह सम्भव नहीं दीखता और वह अतीत या भविष्य की ओर प्रत्यावर्तन करने को भी तैयार नहीं। उसके असामंजस्य या विरोध का दूसरा कारण अन्तर्राष्ट्रीय धरातल का उभरना है। समग्र मानव-जाति का जीवन उसके सामने खुली हुई पुस्तक की भाँति पड़ा है। अनेक साम्प्रदायिक आवेशों से मुक्त होकर उसकी दृष्टि इस ओर जाती है। उसके लिए मनुष्य केवल मनुष्य ही है। वह सम्प्रदायों में, धर्मों और आस्तिक उन्मादों में नहीं बाँटा जा सकता। अमेरिका और अन्य पश्चिमी देशों की नई पीढ़ी तथा भारत की नई पीढ़ी की मैत्री का, आपसी आदान-प्रदान का यही कारण है। अब तक भारतवर्ष की नई पीढ़ी ने दर्द को झेला था; किन्तु दर्द के, अव्यवस्था के मूल कारण पर प्रत्यारोप या उसको ढहाने की चेष्टा नहीं की थी। स्थिति इससे आगे बढ़ गई है। व्यक्ति व्यक्ति की पीड़ा आज सामूहिक आह्वान कर रही है—उस भीड़ को छाँटने के लिए जो अर्थ की जड़ता तक पहुँची हुई है—

हमारे बीच
एक भीड़ फिर पैदा हो गई
किन्तु अब भी हमारे पास चिनगारी है
चलो। धुआँ उठाएं।
अपना होना तो इन्हें महसूस होने दें।
यह भीड़ शाखाओं से फिसलेगी गिरेगी।
और शताब्दियों से चिपकी हुई
अर्थहीनता छँटेगी
फुनगियों पर शायद फिर कोई नया अर्थ उभरे, आओ।
चलो धुआँ उठाएं।

आज की कविता का यह संकल्प-स्वर ही उसकी दायित्व-निष्ठा और आत्मसाक्षात्कार का प्रमाण है। उसके स्वर में एक संयत और विवेक-सम्पन्न विरोध है जो 'द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र' जैसे निवेदन से भिन्न है। निवेदन उसकी पूर्वज पीढ़ी ने बहुत किया है। वह तो पूरे विश्वास के साथ अपनी आँखों देख रहा है—

दीवार पर काई जमने लगी है
दो-तीन अंकुर फूट निकले हैं
पत्ते झूलने लगे हैं
शायद कभी बैंजनी रंग का फूल भी खिलेगा।
दीवार की पिछली तरफ़
खिड़कियाँ हैं
खिड़कियों पर लटकते हुए पर्दे।
एक दिन
शायद आँधी बोले—खुल जा सिम सिम।

कितनी आशा और कितना विश्वास अपने भविष्य के प्रति इस पीढ़ी में है उसे 'नवल' की इन पंक्तियों में देखा जा सकता है।

नये कवि का यह दृष्टिकोण भावुक दृष्टिकोण नहीं है। तात्कालिकता से वह उतना सम्बद्ध नहीं है जितना एक समग्र ऐतिहासिकता से। इसलिए वह समसामयिक से कहीं अधिक आधुनिक है। आधुनिक होना कोई फ़ैशनवाली बात नहीं रह गई है बल्कि यह तो उसकी आन्तरिक विवशता है। यद्यपि कुछ सतही लोग इसे खाल की तरह ओढ़ने की कुचेष्टा कर रहे हैं।

आधुनिकता को लेकर उठाये गए अनेकानेक प्रश्नों में भारतीयता और अभारतीयता का प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण है। नया कवि या कथाकार या रचनाकार अपनी सम्पूर्ण साहित्यिक निष्ठा के साथ भारतीय है। किन्तु वह अपने राष्ट्र की झूठी प्रशस्ति नहीं करता। उसे न तो पूर्व के प्रति झूठा मोह है और न पश्चिम के प्रति घृणा या हीन-भाव। वस्तुतः वह सम्पूर्ण विश्व संस्कृति के सन्दर्भ में भारतीय चेतना को तोलने का आकांक्षी है। वह जानना चाहता है कि संस्कृतियों और वैज्ञानिक प्रगति की इस भागदौड़ में उसका अपना राष्ट्र कहाँ है? और यह तभी सम्भव है जबकि उसके लेखन में अन्तरराष्ट्रीय मूल्य उभरें। पिछले दिनों श्री सुमित्रानन्दन पंत ने राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय मूल्यों की चर्चा करते हुए कहा था कि 'आज अन्तरराष्ट्रीय मूल्यों का उभार अत्यावश्यक है किन्तु इससे राष्ट्रीय मूल्यों की कोई क्षति नहीं दीखती। उनकी क्षति वहीं है जहाँ वे अन्तरराष्ट्रीय जीवन-मूल्यों के विरोधी बनकर आएँगे—जैसे हिटलरिज़म।' उनकी यह बात आज के सन्दर्भ में एक हक़ीकत है और इस हक़ीकत को बिना हिचक स्वीकार करना चाहिए। इस बात की आवश्यकता नहीं कि हम अपने राष्ट्रीय मूल्यों को अन्तरराष्ट्रीय मूल्यों के लोभ में खो दें और न इसकी ही कि राष्ट्रीय मूल्यों को किसी हठवादिता तक ले जाकर अन्तरराष्ट्रीय मूल्यों को अस्वीकार करें। वस्तुतः ऐसा करने का अवकाश अब नहीं रह गया है और

न कोई कर ही सकता है।

इन सब प्रश्नों को यदि केवल रचना के सन्दर्भ में ही सोचें तो हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि रचना के ईमानदार धरातल पर कभी इस प्रकार का संकट ही उत्पन्न नहीं होता। शेक्सपीयर और कालिदास की विश्वजनीन लोकप्रियता इसका ज्वलन्त प्रमाण है। दोनों में राष्ट्रीयता के विशिष्ट मूल्यों की स्वीकृति होते हुए भी दोनों विश्व-स्तर पर बहुपठित हैं। सच तो यह है कि रचना की प्रकृति ही विश्व-जनीन होती है चाहे वह ताजमहल हो या वीनस की मूर्ति। वह एक मनुष्य की वाणी है जो अनेक-अनेक मानवों के लिए होती है। वहाँ भारतीय-अभारतीय का प्रश्न उठाना रचना-धर्म का अपमान करना है। कविता की प्रकृति का बोध जिन्हें है वे तो उसे यहाँ तक मानने को तैयार हैं—

नहीं होती कहीं भी खतम कविता नहीं होती
कि वह आवेग-त्वरित काल यात्री है।
व मैं उसका नहीं कर्ता,
पिता-धाता
कि वह कभी दुहिता नहीं होती
परम स्वाधीन है वह विश्व-शास्त्री है।
गहन-गम्भीर छाया आगमिष्यत की
लिये, वह जन-चरित्री है।

(पृ० १६४, चाँद का मुँह टेढ़ा है)

कविता की यह प्रकृति ही उसकी सबसे बड़ी शक्ति है। उसकी इस प्रकृति को पहचानकर ही हमें कुछ कहने का अधिकार माँगना चाहिए। अन्यथा समय की प्रतीक्षा करनी चाहिए—वह समय—जो अपनी अन्तता में सम्पूर्ण चिन्तना को सही ऐतिहासिक प्रस्तुति देगा।

डॉ० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'

नयी कविता और सामाजिक चेतना

नयी कविता का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए परिप्रेक्ष्य की नवीनता, मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि, भाव-बोध के नये स्तर, सौन्दर्य-बोध के नए तत्त्व, यथार्थ के नए धरातल, मानव-विशिष्टता और आत्म-विश्वास के आधार, आधुनिकता आदि की बात की जाती है। उसकी ये सभी विशेषताएँ कथ्य-गत हैं। शिल्प-गत विशेषताओं की गणना कराते समय नूतन बिम्ब-विधान, नयी प्रतीक योजना, नवीन सादृश्य-संयोजन, भाषा की व्यंग्यात्मकता तथा शब्द में नए अर्थों का संक्रमण आदि का उल्लेख आवश्यक हो जाता है। निःसंदेह ये सभी प्रवृत्तियाँ [illegible] के होते हुए नयी-

पुरानी का अन्तर कर पाना कठिन नहीं है। प्रथम कोटि की अर्थात् कथ्य गत-प्रवृत्तियाँ यदि नयी कविता की आत्मा के परिवर्तन का संकेत करती हैं, तो द्वितीय कोटि की प्रवृत्तियाँ उसके शरीर की सूचना देती हैं। यहाँ हमें काव्य-पुरुष के शरीर में घटित होने वाले परिवर्तनों पर विचार नहीं करना है, क्योंकि सामाजिक चेतना का मूल सम्बन्ध कथ्य से ही है।

नयी कविता का कथ्य नितान्त नवीन दिशाओं का उद्घाटन कर रूपाकार ग्रहण कर रहा है। अतः उसमें स्थान पाने वाली हर बात नयी प्रतीत होती है। परन्तु जहाँ तक 'नयी कविता' की नवीनता से सम्बन्ध है, मेरी दृष्टि में वह चमत्कृत कर देने वाली नवीनता नहीं होनी चाहिए। युग बोध के अनुसार नये का अर्थ ग्रहण किया जाना चाहिए। आज के युग में मानव-जीवन के स्तरों और व्यवस्था-पद्धत्तियों में जो परिवर्तन हुआ है, उसे ही 'नये' के अर्थ में ग्रहण करना चाहिए। या, जो कुछ युगों से घटित होता आ रहा है, किन्तु जिसे वाणी से अभिव्यक्त होने का अवसर देना उचित नहीं समझा गया, उसे अभिव्यक्त करने का अवकाश मिलना भी 'नयापन' है। नयी कविता इसी अर्थ में 'नयी' है कि वह उस रहस्य को घोषित करने में संकोच नहीं करती जिस रहस्य ने मानव-जीवन को प्राचीनता से बाँध रखा था। निश्चय ही इस प्रकार की अभिव्यक्ति सामाजिक चेतना पर आधारित होगी। इसका एक कारण है प्राचीन काल से अबतक लिखे गए साहित्य में अभिव्यक्ति का लक्ष्य व्यक्ति रहा है, समाज नहीं; यद्यपि व्यक्ति को समाज में रखकर परखा गया है, व्यक्ति में समाज को कभी नहीं देखा गया। आज की नयी कविता के दो रूप हैं। एक रूप व्यक्ति को परखता है, किन्तु समाज में रखकर नहीं, उसके व्यक्ति में ही उसे रखता है। यही इस कोटि की—व्यक्ति-निष्ठ चेतना वाली—कविता का नयापन है। किन्तु, समाज को—उसी में व्यक्ति को रखकर—परखने का काम भी नयी कविता कर रही है। यहाँ परखने से तात्पर्य जीवन की विभिन्न अवस्थाओं और अनुभूतियों के चित्रण से ही है। वस्तुतः यही—द्वितीय कोटि की—सामाजिक चेतना वाली कविता ही नयी कविता है, जबकि व्यक्ति-निष्ठ चेतना वाली कविता मानव-सभ्यता की बहुत पुरानी—सहस्रों वर्ष पूर्व की वैयक्तिक स्थिति पर पहुँचाना चाहती है। अतः वह तथाकथित 'नयी कविता' है।

आज नयी कविता के सर्जकों में इसीलिए स्पष्टतः दो वर्ग बनते जा रहे हैं। एक वर्ग उन कवियों का है, जो समाजनिष्ठ चेतना को अभिव्यक्ति देते हैं और दूसरा वर्ग उनका है, जो सबसे दो कदम आगे आने के लिए वैयक्तिकता की आवाजें उठाकर पाठकों को चौंकाना चाहते हैं। ऐसे अर्थात् द्वितीय वर्ग के नए कवियों के पास कहने के लिए वह सब कुछ नहीं है, जिसे अपना कहा जा सके। वे चमत्कार में विश्वास करते हैं। अतः वे रूप और शिल्प का चमत्कार तो दिखाना ही चाहते हैं, कथ्य में भी चमत्कार लाने की चेष्टा करते हैं। इस चेष्टा में वे पाश्चात्य-साहित्य में पनपनेवाले अस्तित्ववाद आदि आन्दोलनों का ऋण लेते हैं। प्रथम वर्ग के अर्थात् सामाजिक-चेतना वाले नए कवि अपने युग-जीवन की ठोस धरती पर खड़े होकर

समाज की सामूहिक आशाओं-आकांक्षाओं के मध्य अपने विराट मानव को अस्तित्व-वादी बौने मानव की तुलना में खड़ा करते हैं। निःसंदेह उनका प्रयास नयी कविता को समृद्धतर करता जा रहा है और उसीके कारण आज तथाकथित 'नयी कविता' का कूड़ा-कर्कट पर्याप्त मात्रा में साहित्य-मन्दिर में फैलने पर भी वास्तविक नयी कविता की गरिमा में ह्रास उत्पन्न नहीं हुआ है। सच पूछा जाय तो नयी कविता का आन्दोलन भी सामाजिक चेतना वाले कवियों द्वारा ही हिन्दी साहित्य में आरम्भ हुआ था। अब भी वे संख्या में कम होने पर भी नयी कविता का विकास-पथ प्रशस्त कर रहे हैं।

नयी कविता का यह महत्त्वपूर्ण वर्ग सामाजिक चेतना के रूप को लेकर किस प्रकार उसे समृद्ध बना रहा है, यह समझने के लिए यहाँ कुछ उदाहरण अपेक्षित हैं। परन्तु, उसके साथ यह स्पष्ट जान लेना आवश्यक है कि नयी कविता का किसी 'वाद' से कोई सम्बन्ध नहीं है—चाहे वह प्रगतिवाद हो चाहे प्रयोगवाद। सामाजिक चेतना-प्रधान नयी कविता किसी वाद की संकीर्णता स्वीकार कर समाज को शोषक-शोषित या बुर्जुआ और सर्वहारा के वर्गों में नहीं बाँधती और न वह केवल प्रयोगों के लिए लक्ष्य-हीन स्थिति के शिल्प प्रयोग ही करती है। उसका एक सुनिर्दिष्ट मार्ग है कि व्यक्ति समाज का ही एक अखण्ड अंग है। अतः उसकी व्यक्तिग़त स्थितियाँ, अनुभूतियाँ, चेतन-अवचेतन की विभिन्न आकृतियाँ—सब समाज के विभिन्न सन्दर्भों की ही देन हैं। अतः सामाजिक चेतना को प्रधानता देने वाली नयी कविता व्यक्ति की कुण्ठाओं, निराशाओं, अनास्थाओं आदि के घरौंदे बनाना, अनावश्यक और प्राचीनता के निकट मानती है। उसका मार्ग सुस्पष्ट है। वह व्यक्ति का भीतरी-बाहरी पूरा चित्र उतारना चाहती है, पर उसे समाज से अलग रखकर नहीं, समाज के विराट आकार में यथा-स्थान बिठाकर, ताकि उसके चित्र के समस्त सन्दर्भ भी प्रकाश में आ सकें। इस प्रकार सामाजिक चेतना वाली नयी कविता व्यक्ति की उपेक्षा नहीं करती, अपितु उसे पूर्णता देती है तथा उसके साथ जल के आवर्त्तों की तरह घूमने वाले समाज को भी सही संदर्भों के रूप में समझना चाहती है। वह यह स्पष्टतः अनुभव कराना चाहती है कि व्यक्ति स्वयं में कुछ नहीं है, अपने परिवेशों की ही देन है। अतः व्यक्ति की चेतना का भी सामाजिक संदर्भों से कटकर अपना स्वतन्त्र कोई अर्थ नहीं है।

सामाजिक चेतना को नयी कविता में प्रतिष्ठित करने वाले नये कवियों का वर्ग अब भी, जबकि आज आधुनिकता के नाम पर, पाश्चात्य जीवन का हिन्दी-काव्य में बड़ी तीव्र गति से अनुवाद हो रहा है, सबसे बड़ा वर्ग है और सर्वाधिक समर्थ भी। इस वर्ग के कवियों ने समाज का महत्त्व स्वीकार किया है, समाज की व्यवस्थाओं को बदलकर नए रूपाकार देने की चेष्टा की है तथा व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों को स्वस्थ बनाने के लिए व्यक्ति के चेतन व अवचेतन, दोनों ही रूपों का स्वस्थ रूप में अनावरण कर उन्हें समाज से जोड़ा है। अतः सामाजिक चेतना की नयी कविता बौनों का चित्रण नहीं करती, बौने में विराट का दर्शन कराती है। उदाहरणार्थ,

भवानी प्रसाद मिश्र की 'गीत फरोश' कविता लीजिए। इसमें बोलने वाले अवसाद और निराशा से भरा हुआ व्यक्ति पाठक को अपने भीतर की किसी अंधकारपूर्ण गुहा में दम घोंटने के लिए नहीं ले जाता, बल्कि अपने माध्यम से समाज के विराट वपु का कोढ़ चित्रित करता है। निम्नांकित पंक्तियों में इस तथ्य का साक्षात्कार कीजिए—

यह गीत रेशमी है
यह खादी का
यह गीत पित्त का है यह बादी का
कुछ और डिज़ाइन भी हैं, ये इल्मी—
यह लीजे चलती चीज़, नयी फिल्मी
है गीत बेचना वैसे बिल्कुल पाप
क्या करूँ मगर लाचार हारकर
गीत बेचता हूँ।
जी हाँ, हुजूर, मैं गीत बेचता हूँ।[1]

विजयदेव नारायण साही की निम्नांकित पंक्तियों में उनका नया कवि सामाजिक चेतना से शक्ति पाकर ही व्यक्ति को समूह की दृष्टि से देखता है—

सच मानो प्रिय
इन आघातों से टूट-टूट कर रोने में कुछ शर्म नहीं
कितने कमरों में बन्द हिमालय रोते हैं
मेजों से लगकर सो जाते कितने पठार
कितने सूरज गल रहे अँधेरे में छिपकर
हर आँसू कायरता की खीज नहीं होता।[2]

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की निम्नांकित कविता निश्चय ही सामाजिक चेतना का एक विराट आयाम पाठक के सम्मुख प्रस्तुत करती है। इस कविता का संदर्भ समाज की विभिन्न स्थितियों को छूता हुआ मानव-चेतना का विस्तार करता है तथा उसे समूह से जोड़कर जीवन की विभिन्न स्थितियों के पर्त खोलने की प्रेरणा देता है। कवि ने लिखा है—

लिपटा रजाई में
मोटे तकिये पर धर कविता की कापी
मैंने इस जीवन की गली-गली नापी
हाथ कुछ लगा नहीं
कोई भी भाव कमबख्त पर जगा नहीं
मुझसे अच्छी तुम हो
सूप उठा तुमने सब चावल फटक डाले

१. नयी कविता के प्रतिमान, पृष्ठ ७६ से उद्धृत।
२. ” ” पृष्ठ १२[illegible] से उद्धृत।

मुझसे अच्छा यह है
डब्बा फाड़ जिसने सब बिस्कुट गटक डाले
सूप को फटर-फटर
'अम्मा पापा' की रट
मुझसे कहती है
जीवन ले कविता से हट
थैला उठाओ, जाओ—
तरकारी लाओ
आफिस का समय हो गया है
नहाओ, खाओ,
यह सब लिखना-पढ़ना कल्पना-विलास है
चीख-चीख कहता यह मेरा आस-पास है
लेकिन मैं इस पर भी कलम लिए बैठा हूँ
कवि हूँ, अपनी कविताई पर ऐंठा हूँ ।[1]

सामाजिक चेतना को स्वर देने वाला नया कवि अपनी दृष्टि को व्यापक बनाकर ही व्यक्ति के अन्तर्बाह्य स्वरूपों का उद्घाटन करता है। वह व्यक्ति की विवशताओं और बन्धनों की उपेक्षा करता हो, ऐसी बात नहीं, बल्कि वह उन्हें जन्म देने वाले संदर्भों के बोध से भी संश्लिष्ट करता है। कुछ पंक्तियाँ इस सम्बन्ध में दृष्टव्य हैं—

ताज बदल रहे हैं
आदमी की आवाज़ बदल रही है
धरती से चाँद मिलने आ रहा है
किन्तु
मेहनत-कश हाथों की रोटी का सवाल
उलझता जा रहा है।

× ×

गुलाब के फूलों में
दुर्गंध आ रही है
और चाँद की रोशनी
गीले जीवन के धुएँ में
घुटने लगी है
क्या होगा उस सभ्यता का
और उस नयी समाज-रचना का
जिसकी हर नींव
युद्ध की खाइयों में

१. नयी कविता, अंक १, पृष्ठ ६०।

भरी जा रही है ।[1]

दुष्यन्त कुमार ने भी निम्नांकित पंक्तियों में सामाजिक संदर्भों से अपनी दृष्टि का निर्माण किया है । वे लिखते हैं—

वे जो पसीने से दूध से नहाए थे
वे जो सचाई का झंडा उठाए थे
वे जो हमसे पहले इन राहों में आए थे
वे जो लौटे तो पराजित कहाए थे
क्या वे पराए थे ?
सच बतलाना तुमने उन्हें क्यों नहीं रोका ?[2]

सामाजिक चेतना की 'नयी कविता' का एक अन्य सुन्दर उदाहरण है केदारनाथ अग्रवाल की 'याद' शीर्षक कविता । वे लिखते हैं—

याद ?—है आवाज़
पथ के पेड़ की
राहगीरों के लिए—
जो गए
लौटे नहीं
इस राह से ।
वह सुबह की चांदनी है
ओस से भीगी
धूप का दर्पण लिए
ओट में गूँगी खड़ी ।[3]

पूर्वोक्त समस्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि नयी कविता में सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति पर्याप्त-मात्रा में तथाअत्यन्त सशक्त भाषा में हो रही है । नयी कविता का यह सामाजिक चेतनावादी वर्ग उसके विकास का वास्तविक आयाम है । उसमें मनुष्य को व्यक्ति की इकाई से लेकर उसके सामाजिक विराट् तक विस्तृत करके देखा गया है । उसकी संवेदना-भूमि अत्यन्त व्यापक तथा युग-सत्य के सभी आयामों का स्पर्श करती है । उसने व्यक्ति को कुण्ठा-ग्रस्त एक क्षुद्र और बौना प्राणी बनाने वाली संभावनाओं से बचाया है तथा आधुनिक-जीवन के विषम संघर्षों में अपनी समस्त जिजीविषा और निष्ठा एकत्रकर जीवित रहने की प्रेरणा दी है । निश्चय ही सामाजिक चेतना की यह नयी कविता हिन्दी साहित्य को विकास की नितान्त नूतन दिशा में ले जा रही है । हिन्दी-कविता का यह एक महान् और शुभ प्रस्थान है ।

---

१. आयाम—डॉ० दिनेश ।
२. नयी कविता, अंक ३, पृष्ठ ७२ ।
३. लहर, वर्ष ६, अंक १, पृष्ठ २७ ।

डॉ० सिद्धनाथ कुमार

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटक : एक विश्लेषणात्मक सर्वेक्षण

नई कविता या नई कहानी की चर्चा इधर बहुत ज़ोर पर रही है, पर नए नाटक का उल्लेख कहीं देखने को नहीं मिलता, यह कुछ आश्चर्य का विषय है। युग की नव्य संवेदना की अभिव्यक्ति के लिए कविता और कहानी जितने सशक्त माध्यम हैं, उनसे अधिक सक्षम एवं सशक्त माध्यम नाटक और रंगमंच का होता है। सामूहिकता की कला होने के नाते नाटक का सम्पर्क अपने युग-जीवन से प्रत्यक्षतः रहता है। नाटक अपने युग का बैरोमीटर कहा जाता है। अपनी युग-चेतना का संवाहक बनकर ही नाटक जीवित रहता है, और किसी भी युग में साहित्य की शक्तिशाली विधा के रूप में स्वीकृत होता है। पर नाटक के विकास के लिए रंगमंच या किसी भी प्रदर्शन-माध्यम का रहना अनिवार्य है। नाटक साहित्य की अन्यान्य विधाओं की तरह पूर्णतः स्वतन्त्र नहीं होता—रंगमंच या किसी अन्य प्रस्तुतीकरण-माध्यम के अभाव में इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। जब तक रंगमंच का विकास नहीं होता और देश के विभिन्न भागों में रंगमंचों की स्थापना नहीं होती, तब तक नाटक का विकास सम्भव नहीं। यह हिन्दी का दुर्भाग्य रहा है कि स्वाधीनता-प्राप्ति के पूर्व हिन्दी क्षेत्रों में रंग-मंच की स्थापना एवं विकास पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया था और रंगमंच तथा नाटक का सम्बन्ध एक प्रकार से विच्छिन्न ही रहा। साहित्य के इतिहास का यह एक स्वीकृत तथ्य है कि जिस युग में नाटक और रंगमंच का सम्बन्ध विच्छिन्न रहता है, उसमें मुख्यतः पाठ्य नाटकों की रचना होती है। स्वाधीनता-प्राप्ति के पूर्व हिन्दी में भी अधिकतर पाठ्य नाटकों की रचना हुई। स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद स्थिति परि-वर्तित हुई है : जहाँ एक ओर विभिन्न क्षेत्रों में रंगमंच के विकास पर ध्यान दिया गया है, वहीं दूसरी ओर आकाशवाणी केन्द्रों की संख्या में भी पर्याप्त वृद्धि हुई है, और इनके फलस्वरूप हिन्दी नाटक का एक नया युग प्रारम्भ हुआ है।

स्वातन्त्र्योत्तर युग में हिन्दी रंगमंच के विकास की दिशा में उत्साहवर्धक कार्य हुआ है। कला और संस्कृति के विकास को राष्ट्रीय शासन ने अपनी बहुमुखी विकास-योजनाओं का अंग माना है, और इसने रंगमंच की स्थापना में स्वयं भी योग दिया है और नाट्य-प्रदर्शन एवं नाट्य-लेखन को प्रोत्साहित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य भी किया है। रंगमंच के विकास एवं सफल अभिनेय नाटकों के लेखन को राष्ट्रीय शासन से पर्याप्त प्रोत्साहन मिला है। रंगमंच या तो जन-जीवन से सहज रूप में उद्भूत होता है या साधन-सम्पन्न संरक्षण की प्रेरणा से। साहित्यिक नाटक तो विशेष रूप से किसी-न-किसी प्रकार के संरक्षण में ही पल्लवित-पुष्पित होता है। प्राचीन काल में भी कभी धर्म ने और कभी राज्य ने ही नाटक और रंगमंच को संरक्षण प्रदान किया था। हिन्दी के नये नाटक के विकास में भी शासन का प्रोत्साहन काम करता रहा है।

सरकार की संगीत नाटक अकादमी ने देश में रंगमंच को विकसित करने और भारतीय भाषाओं में नाटकों की रचना तथा उनके प्रदर्शन को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से समय-समय पर पुरस्कारों की व्यवस्था की है। अकादमी ने अव्यावसायिक संस्थाओं को अनुदान देने की भी व्यवस्था रखी है। उत्तर प्रदेश, बिहार आदि अनेक राज्यों में भी अकादमी-जैसी संस्थाएँ कार्य कर रही हैं। व्यावसायिक रंगमंच भी नाट्य-लेखन को प्रभावित करने की दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं, पर हिन्दी क्षेत्र में इनका अभाव रहा है। प्रारम्भ में पृथ्वी थिएटर ने देश के विभिन्न भागों में घूम-घूमकर अपने नाटक प्रदर्शित किये, पर उसके टूटने के बाद व्यावसायिक रंगमंच नहीं के बराबर रह गया है। दूसरी ओर, स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद देश में जो नया सांस्कृतिक जागरण हुआ है, उसकी प्रेरणा से देश के विभिन्न भागों में अव्यावसायिक रंगमच का उदय हुआ है—लगभग सभी बड़े नगरों में अव्यावसायिक संस्थाएँ काम कर रही हैं। रंगमंच के इस नवोन्मेष से नये नाटक के विकास को गति मिली है। रंगमंच के प्रति हिन्दी के नाटककारों और आलोचकों की सजगता भी बढ़ी है, और रंगमंच एवं नाट्य-प्रदर्शन-सम्बन्धी टिप्पणियां विभिन्न प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। किसी भी साहित्य के नाट्य-लेखन को जहाँ एक ओर प्रदर्शित नाटकों की व्यावहारिक समीक्षा प्रभावित करती है, वहीं दूसरी ओर साहित्यिक कृतियों के रूप में नाटकों की समीक्षा भी। यह ध्यातव्य है कि मात्र साहित्यिक दृष्टिकोण से नाटकों की समीक्षा नहीं की जा सकती, और अगर की जाती है, तो वह नाट्य-साहित्य के विकास की प्रेरक शक्ति न बनकर उसके लिए बाधक ही सिद्ध होती है। आलोच्य काल में हिन्दी के नाट्य-समीक्षकों के दृष्टिकोण में भी पर्याप्त अन्तर आया है, और नाटकों के साहित्यिक मूल्य को स्वीकार करते हुए भी उनकी समीक्षा मुख्यतः प्रदर्शन से उन्हें सम्बद्ध करके ही की गयी है। अत्याधुनिक नाट्य-समीक्षाएँ मुख्यतः पाश्चात्य नाट्य-सिद्धान्तों पर आधारित हैं। नये नाटक के स्वरूप-निर्धारण में ऐसी समीक्षाओं का भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष योग रहा है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

रंगमंच के नवोन्मेष तथा नव्य नाट्य-चेतना के उदय की इस पृष्ठभूमि पर हिन्दी के नये नाटक साहित्य को देखा जा सकता है। समसामयिक समग्र नाट्य-लेखन पर इनका प्रभाव पड़ा ही हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता, पर इनसे नवीनतम नाट्य-साहित्य को नया आयाम मिला है, इसमें सन्देह नहीं। इस नये युग में भी ऐसे अनेक नाटककार काम करते रहे हैं, जिनके संस्कार पहले निर्मित हो चुके थे। पहले हम उस पुरानी परम्परा का ही परिचय प्रस्तुत करते हैं जो इस नये युग में भी चलती रही है।

प्रसादजी ने जिस नाट्य-रूप को अपनी प्रतिभा के संस्पर्श से गौरवान्वित किया था, उसकी परम्परा उनके बाद भी दिखाई पड़ती है। प्रसाद का नाट्य-लेखन किसी रंगमंच को आधार मानकर नहीं हुआ था, जिसके फलस्वरूप ऐसे नाटकों की रचना हुई थी जिनमें अवधि एवं रंगमंच की सीमाओं को स्वीकार नहीं किया गया था। उन नाटकों में दीर्घकालीन कथानकों को आधार बनाया गया था और उनमें नाटकीय वस्तु-विन्यास की अपेक्षा इतिहास के आग्रह को ही मुख्य रूप में स्वीकार

किया गया था। उनमें न वस्तु की संश्लिष्टता पर ध्यान था, न कार्य-व्यापार की गति पर, और न प्रभाव की अन्विति पर ही, अंकों और दृश्यों का विभाजन भी व्यावहारिकता और प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से बहुत प्रशंसनीय नहीं था। उनकी विशेषता उनके उदात्त उद्देश्य एवं साहित्यिक तत्त्वों की प्रतिष्ठा में थी। प्रसाद की काव्य-प्रतिभा ने उनके नाटकों को काव्यात्मक शैली दी, उन्हें गीतियोजना से अलंकृत किया, और उन्हें ऐसी साहित्यिक गरिमा प्रदान की कि वे महान् कृतियों के रूप में स्वीकृत हो सके। प्रसाद के पदचिह्नों पर चल सकना सामान्य कोटि की प्रतिभा के लिए सहज नहीं है, पर उनका प्रभाव उनके परवर्ती नाटककारों पर स्पष्ट ही परिलक्षित होता है।

प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा में जिन अनेक नाटककारों ने योग दिया है, उनमें सबसे उल्लेखनीय नाम हरिकृष्ण प्रेमी का है। प्रेमीजी पहले से ही ऐतिहासिक नाटकों की रचना करते आ रहे थे, और स्वातन्त्र्योत्तर-युग में भी उनका नाट्य-लेखन चलता रहा है। उनके 'कीर्ति-स्तम्भ', 'विदा' और 'रक्तदान' नाटक पुरानी परम्परा में ही आते हैं। इन नाटकों की रचना महान् उद्देश्यों की प्रेरणा से हुई है। राजपूत-काल की वीरगाथाओं पर आधारित 'कीर्ति-स्तम्भ' में लेखक ने यह दिखलाकर कि व्यक्तिगत मानापमान एवं स्वार्थ को सर्वोपरि समझने के कारण मेवाड़ का नाश हुआ था, यह संकेत दिया है कि हमें स्वार्थ की अपनी संकीर्ण सीमाओं से ऊपर उठकर व्यापक राष्ट्रीयता की भावना से अनुप्रेरित हो कार्य करना चाहिए। 'विदा' की रचना औरंगज़ेब के शासन-काल के अन्तिम दिनों की राजनीतिक परिस्थितियों एवं घटनाओं के आधार पर की गयी है, और इसमें लेखक का उद्देश्य भारत की राष्ट्रीय एकता को बल प्रदान करना है। 'रक्तदान' में सन् १८५७ के स्वाधीनता संग्राम में अन्तिम मुगल सम्राट् बहादुरशाह द्वारा किये गये त्याग और बलिदान को अंकित किया गया है। कला की दृष्टि से ये नाटक दुर्बल लगते हैं। इनके कथानकों में अनावश्यक विस्तार है, कार्य-व्यापारों की गति में शिथिलता। ये नाटक इतिहास अधिक लगते हैं, नाटक कम। इनमें प्रभावान्विति का अभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। इसका कारण यही है कि ये किन्हीं निश्चित नाटकीय स्थितियों पर आधारित नहीं हैं, और न इनके कार्य-व्यापार एक निश्चित दिशा में ही चलते हैं। इनमें कथनोपकथन के माध्यम से दीर्घकाल में बिखरी हुई कहानियाँ कह दी गयी हैं। इनके संवाद भी नाटकीय नहीं हैं—शिथिलगति कथा-शैली में इन संवादों की रचना हुई है। दृश्यों की संख्या भी कथा-विस्तार के अनुरूप ही काफ़ी बड़ी है। इस दृष्टि से इन नाटकों का साम्य प्रसाद के नाटकों से भले ही हो, पर इनमें प्रसाद का उदात्त स्वर और काव्यत्व का उच्च धरातल नहीं मिलते।

समस्या नाटकों के लेखक के रूप में लक्ष्मीनारायण मिश्र प्रसिद्ध रहे हैं। आलोच्य अवधि में मिश्रजी ने भी अनेक नाटकों की रचना की है, यद्यपि उन सबमें कलात्मकता का स्तर समान नहीं रहा है। 'वितस्ता की लहरें' इनका प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटक है। भारत पर सिकन्दर का आक्रमण और चाणक्य के बुद्धि-कौशल द्वारा उसका विफल बना दिया जाना नाटककारों का प्रिय विषय रहा है, और मिश्रजी

ने भी उसी पर इस नाटक की रचना की है। इस नाटक की विशेषता इस बात में अवश्य है कि इसमें प्रसंगों के विस्तार में न जाकर एक नाटकीय प्रसंग विशेष को ही आधार बनाया गया है, पात्रों की संख्या कम है, और एक-एक दृश्य के तीन अंकों में ही पूरा नाटक है। वस्तु-योजना में प्रभावान्विति पर ध्यान रखा गया है। अपनी समग्रता में यह नाटक स्वयं मिश्रजी के पहले के नाटकों की तुलना में पर्याप्त सशक्त लगता है। लेकिन इसके बाद लिखा गया 'मृत्युंजय' नाटक बहुत सन्तोषजनक नहीं ज्ञात होता। लेखक ने इसमें महात्मा गांधी के जीवन को अंकित करने का प्रयत्न किया है। गांधी, पटेल, नरेन्द्र देव, आज़ाद, देवदास आदि इसके पात्र हैं। गांधीजी के जीवन के अन्तिम वर्षों की घटनाओं को नाटक में प्रस्तुत किया गया है। रचना में न कोई नाटकीय स्थिति है, न कोई कार्य-व्यापार। नाटक में संस्मरणों की प्रधानता है और स्थान-स्थान पर पात्रों द्वारा विभिन्न विषयों पर उनके विचार प्रस्तुत किये गये हैं। दृश्य-परिवर्तन भी सुविधानुसार बार-बार किया गया है। एक प्रकार से नाटक का स्थापत्य ही विशृंखल-जैसा लगता है।

जीवनचरितात्मक नाटकों के प्रसंग में सेठ गोविन्ददास का भी स्मरण किया जा सकता है जिन्होंने 'वल्लभाचार्य,' 'रहीम', 'भारतेन्दु' और 'महात्मा गांधी' लिखकर हिन्दी नाट्य-लेखन के क्षेत्र में एक 'नया प्रयोग' करने का प्रयत्न किया है। इन कृतियों में इन महान् व्यक्तियों का जीवनचरित संवादों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। जीवनचरित होने के कारण इन रचनाओं में बड़ी लम्बी-लम्बी अवधियों की कहानियाँ आई हैं। 'भारतेन्दु' में २६ वर्षों की घटनाएँ हैं, 'रहीम' में ५० वर्षों की, और 'महात्मा गांधी' में ८३ वर्षों की। घटना-स्थलों का विस्तार भी बहुत दूर तक है। 'महात्मा गांधी' में भारत, अफ्रीका और इंग्लैण्ड के विभिन्न नगरों के दृश्य आये हैं। ये दृश्य भी क्षण-क्षण बदलनेवाले हैं। इन नाटकों में सुसम्बद्ध कथानक नहीं हैं, जीवनियाँ हैं; मुख्य पात्रों का चारित्रिक विकास नहीं है, उनकी चारित्रिक विशेषताओं का चित्रण है; घटनाओं में स्वयं गति नहीं आती, उन्हें गति दी जाती है। नाटक में जो सुसंगठन और संश्लिष्टता चाहिए, उनका इनमें अभाव है। 'अम्बपाली' के प्रसिद्ध लेखक रामवृक्ष बेनीपुरी का 'तथागत' भी जीवनचरितात्मक ही कहा जाएगा। इसमें भी जीवन के अधिकाधिक प्रसंगों को चित्रित करने का आग्रह विशेष रूप से दिखाई पड़ता है। इसका कथानक भी किसी नाटकीय स्थिति पर आधारित नहीं है। विस्तार में जाने और नाटकीय दृष्टि से अनावश्यक प्रसंगों को नाटक में समाविष्ट करने की प्रवृत्ति तो प्रसिद्ध कृति 'अम्बपाली' में भी है। इन जीवनचरितात्मक नाटकों को देखते हुए लगता है, जैसे लेखकों ने जीवनचरित और नाटक के अन्तर की ओर ध्यान न दिया हो। किसी व्यक्ति के जीवन की एक-एक घटना का अंकन नाटक में नहीं किया जा सकता। किसी के सम्पूर्ण जीवन पर आधारित रचना सफल नाट्य-कृति नहीं हो सकती, क्योंकि तीव्र नाटकीय प्रभाव के लिए जिस केन्द्रीभूत सामग्री की आवश्यकता होती है, उसका उसमें नितान्त अभाव रहेगा। सम्भवतः इसीलिए अरस्तू ने लिखा है कि महाकाव्यात्मक योजना पर नाटक की रचना नहीं होनी चाहिए, और महा-

काव्यात्मक से उसका तात्पर्य उस कथा से है जिसमें अनेक कथाएँ हों। निष्कर्ष स्पष्ट है कि सफल जीवनचरितात्मक नाटक की रचना किसी के जीवन के कुछ गिने-चुने मार्मिक एवं नाटकीय प्रसंगों पर ही हो सकती है। जीवनचरितात्मक नाटक और जीवनचरित में केवल यही अन्तर नहीं है कि एक का माध्यम संवाद है और दूसरे का नेरेशन; दोनों में शिल्पगत सौन्दर्य और उससे उद्भूत आनन्द एवं प्रभाव का भी अन्तर है। इस तथ्य की ओर हिन्दी के सब नाटककारों का ध्यान नहीं जा सका है।

रंगमंच-विवर्जित ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा को स्वातन्त्र्योत्तर-युग में कुछ नाटककारों ने नया मोड़ दिया है। इन्होंने नाटक को रंगमंच से सम्पृक्त कर देखा है, और उसे नया रूप प्रदान किया है। ऐसे नाटककारों में जगदीशचन्द्र माथुर का नाम विशेष महत्त्वपूर्ण है। इनकी नाट्य-कृति 'कोणार्क' प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी है। सन् १९५० और १९५५ के बीच लिखित हिन्दी नाटकों में सर्वश्रेष्ठ घोषित होने का गौरव 'कोणार्क' को प्राप्त हुआ था—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् ने सर्वश्रेष्ठ स्वीकृत कर उसे पुरस्कृत किया था। 'कोणार्क' उड़ीसा के प्रसिद्ध कोणार्क मन्दिर से सम्बद्ध इतिहास एवं किम्वदन्तियों पर आधारित है। माथुरजी की दूसरी कृति है 'शारदीया' जो महाराष्ट्र के एक ऐतिहासिक प्रसंग पर आधारित है—इसमें तत्कालीन राजनीतिक हलचलों की पृष्ठभूमि पर बायजा बाई और नरसिंह राव का प्रेम-प्रसंग मार्मिकता के साथ अंकित किया गया है। दोनों नाटक रंगमंच पर सफलतापूर्वक प्रदर्शित हुए हैं—'कोणार्क' तो विभिन्न स्थानों पर अभिनीत हुआ है। श्री माथुर ने अपने नाटकों में संश्लिष्टता पर ध्यान रखा है। दोनों नाटकों का अपना-अपना एक निश्चित गन्तव्य है, प्रभाव-सृष्टि का एक निश्चित विन्दु हैं जिसकी ओर नाटक का कार्य-व्यापार गतिशील रहता है। अप्रासंगिक घटनाओं एवं प्रसंगों को नाटक में स्थान नहीं दिया है। नाट्य-शिल्प की दृष्टि से जगदीशचन्द्र माथुर ने विशेष कौशल का परिचय दिया है। उन्होंने नाटकीय घटनाओं के प्रारम्भ, विकास तथा उनकी चरम परिणति एवं अन्त का निर्माण इस प्रकार किया है कि उनकी सजीवता अन्त तक बनी रहे, और वे दर्शकों की जिज्ञासा जगाए रख सकें। इसके लिए लेखक अन्त तक एक रहस्यात्मक संकेत अपने हाथ में रखता है—'कोणार्क' के अन्तिम अंश में ही विशु और धर्मपद को ज्ञात हो पाता है कि दोनों का सम्बन्ध पिता-पुत्र का है। यह उद्घाटन नाटक के अन्त को एक कारण स्पर्श दे जाता है। 'कोणार्क' के नाट्य-शिल्प की विशेषता यह भी है कि तीन अंकों के इस छोटे-से नाटक में घटनाएँ क्षिप्र गति से आगे बढ़ती जाती हैं, और दर्शकों की भावनाओं को उद्वेलित करती जाती हैं। अन्तिम अंक में घटनाओं की गति और नाटकीयता जितनी तीव्र है. उतनी ही उसकी हृदयस्पर्शिता की शक्ति भी। नाटकत्व और काव्यत्व का बड़ा सुन्दर समन्वय हुआ है इस नाटक में। 'उपक्रम' और 'उपसंहार' के प्रयोग भी बड़ी कुशलता से किये गए हैं—ये जहाँ एक ओर संस्कृत नाटकों की प्रस्तावना और पाश्चात्य नाटकों के प्रोलॉग, एपिलॉग और कोरस का स्मरण दिलाते हैं, वहीं दूसरी ओर नाटक को एक उच्च काव्यात्मक धरातल पर प्रतिष्ठित कर देते हैं। इस प्रकार जगदीशचन्द्र माथुर के नाटकों में प्रसाद के काव्यत्व-प्रधान

ऐतिहासिक नाटकों का ही विकसित एवं परिष्कृत रूप दीख पड़ता है। इन नाटकों में कार्य-व्यापार की गति में बाधक होने वाले सभी अनावश्यक तत्वों का परिहार हो गया है। इनमें काव्यात्मकता रह गयी है, काव्यात्मक अतिरंजना शेष हो गयी है; इनमें रंगमंच और अभिनय की सीमाओं और सम्भावनाओं का ध्यान रखा गया है। 'कोणार्क' हिन्दी के ऐतिहासिक नाटकों की प्रगति एवं विकास का निश्चित सूचक है।

जगदीशचन्द्र माथुर की कृतियों के बाद भी अनेक ऐतिहासिक नाटकों (सर्वदानन्द वर्मा, चतुर्भुज आदि के) की रचना हुई है, पर काव्यत्व प्रधान ऐतिहासिक नाटक का उत्कृष्ट रूप फिर मोहन राकेश के नाटकों में मिलता है। 'आषाढ़ का एक दिन' और 'लहरों के राजहंस', दोनों ही सफल अभिनेय नाटक सिद्ध हुए हैं। आषाढ़ का एक दिन' महाकवि कालिदास के जीवन से सम्बद्ध है, और लेखक ने कालिदास के काव्य-सृजन के प्रेरणा-स्रोत को उद्घाटित करने का प्रयत्न किया है। नाटक इस सम्भावना पर आधारित है कि कालिदास की प्रेमिका मल्लिका ने महाकवि के लिए किस प्रकार प्रेरक शक्ति के रूप में काम किया होगा। नाटक में इतिहास का उतना आग्रह नहीं है जितना नाटकीय स्थितियों के निर्वाचन और निर्वाह का। इसीलिए नाटककार ने कालिदास के समग्र जीवन को चित्रित करने का प्रयत्न न कर उनके जीवन के कुछ विशेष प्रसंगों को ही अपना आधार बनाया है। नाटक की शक्ति और सफलता का एक बहुत बड़ा कारण यह भी है। नाट्य-कृति में विरोधात्सक प्रसंगों का कुशलता से संयोजन किया गया है—मन से कालिदास से प्रेम करती हुई भी मल्लिका परिस्थितियों से विवश होकर उस व्यक्ति से विवाह कर लेती है जो स्वभाव और गुण, सब प्रकार से कालिदास के विपरीत है। कालिदास जब कुछ वर्षों बाद मल्लिका के पास वापस आते हैं, तब उन्हें ज्ञात होता है कि मल्लिका उनकी होती हुई भी उनकी नहीं है, उसका विवाह विलोम से हो गया है और वह एक बच्ची की माँ बन चुकी है। इससे नाटक के अन्त में मर्मस्पर्शिता विशेष रूप से आ जाती है। नाटक एक-एक दृश्य के तीन अंकों में है, और तीनों में घटनास्थल एक ही रहता है। इससे नाटक में पर्याप्त सघनता बनी रहती है, व्यावहारिक रंगमंचीय सुविधा तो इससे हुई ही है। संवादों में काव्यत्व का स्पर्श सरलता से देखा जा सकता है। मोहन राकेश का दूसरा नाटक 'लहरों के राजहंस' भी इसी प्रकार का है। 'लहरों के राजहंस' का कथानक महाकवि अश्वघोष की प्रसिद्ध काव्य-कृति 'सौन्दरनन्द' पर आधारित है। इसमें कपिलवस्तु के राजकुमार नन्द के बौद्ध भिक्षु बनने और उसकी पत्नी सुन्दरी के रूप-गर्व की कथा है। इस कृति में लेखक का ध्यान मुख्य पात्रों के मानसिक द्वन्द्व पर विशेष रूप से है। इसके तीनों अंकों में भी स्थान एक ही रहता है। इसमें समय के विस्तार को भी समेटने का प्रयत्न किया गया है—'आषाढ़ का एक दिन' का कथानक जहाँ अनेक वर्षों में फैला हुआ है, वहाँ 'लहरों के राजहंस' का कथानक दो रातों में ही सिमटा हुआ है। इस नाटक में लेखक ने राजकर्मचारी श्यामांग के शब्दों को नेपथ्य से प्रस्तुत करने का एक प्रयोग किया है, पर वह बहुत प्रभावशाली नहीं दीखता। यह श्यामांग-प्रसंग वास्तव में विशेष नाटकीय प्रयोजन भी सिद्ध करता हुआ नहीं दिखायी पड़ता।

जगदीशचन्द्र माथुर और मोहन राकेश के नाटक सूचित करते हैं कि प्रसाद के काव्यत्व प्रधान नाटकों की परम्परा विकसित एवं परिष्कृत होती हुई कहाँ तक आई है। रंगमंच के प्रति क्रमशः विकसित होती हुई जागरुकता ने इस परम्परा के संस्कार में विशेष योग दिया है—इसने नाटककारों को निर्दिष्ट किया है कि वे काव्य को नाटकीय चेतना द्वारा अनुशासित करें। शिल्पगत कुशलता इन नाटकों की विशेषता है, इसमें सन्देह नहीं लेकिन प्रसाद-जैसी युग-चेतना इन नाटकों में नहीं दीख पड़ती। प्रसादजी ने ऐतिहासिक नाटक ही लिखे थे पर उन्होंने इतिहास के केवल उन्हीं प्रसंगों को अपना आधार बनाया था जिनके माध्यम से वर्त्तमान की समस्याओं को अतीत की पृष्ठभूमि पर रेखांकित किया जा सकता था। शिल्प की दृष्टि से विकसित होते हुए भी उपर्युक्त नाटकों में अपने युग के प्रति जागरुकता क्रमशः कम होती गई है। यद्यपि जगदीशचन्द्र माथुर ने 'कोणार्क' में 'व्यक्तिगत वैषम्य के साथ सामाजिक समस्याओं का गठबन्धन' किया है, पर वे नहीं चाहते कि उसे 'समकालीन प्रगतिवाद की प्रतिध्वनि' कहा जाय। मोहन राकेश के नाटकों में आधुनिकता का प्रश्न ही नहीं उठता।

हिन्दी में नाटकों के नियमित प्रदर्शन की व्यवस्था न रहने से, युग-जीवन का जितना प्रभाव नाटक पर पड़ना चाहिए था, नहीं पड़ सका है। जीवन्त रंगमंच जहाँ एक ओर नाटक का स्थापत्य निर्दिष्ट करता है, वहीं दूसरी ओर उसे अपने समसामयिक जीवन से सम्पृक्ति बनाये रखने में सहायक होता है, हिन्दी नाटक को यह सुविधा बहुत कम मिल सकी है, फिर भी पौराणिक-ऐतिहासिक नाटकों के साथ-साथ इस युग से उत्पन्न विभिन्न राजनीतिक, सामाजिक, पारिवारिक आदि समस्याओं पर भी नाटकों की रचना होती रही है। पुराने और नए, दोनों प्रकार के नाटककारों ने इस क्षेत्र में काम किया है।

स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद देश की व्यवस्था एवं चेतना में पर्याप्त परिवर्तन हुआ है। देश के बहुमुखी विकास की योजनाएँ कार्यान्वित होने लगी हैं, पर व्यक्तिगत स्वार्थों एवं भ्रष्टाचार के फलस्वरूप अपेक्षित सुविधाओं की प्राप्ति अभी तक नहीं हो सकी है। औद्योगिक विकास के साथ-साथ परम्परागत सामाजिक एवं पारिवारिक व्यवस्था क्रमशः परिवर्तित होती जा रही है। देश में साम्प्रदायिकता, क्षेत्रीयता आदि की समस्याएँ समय-समय पर उभरकर सामने आती रही हैं। तात्पर्य यह कि हमारा वर्तमान जीवन इतनी ज्वलन्त समस्याओं से समृद्ध एवं वैविध्यपूर्ण है कि हमारा नाट्य-साहित्य उससे पर्याप्त जीवन-रस ग्रहण कर सकता है। इस दिशा में थोड़ा-बहुत काम अवश्य ही हुआ है। इस क्षेत्र में उदयशंकर भट्ट, उपेन्द्रनाथ अश्क, शील के नाम लिये जा सकते हैं।

राजनीतिक समस्याओं पर इने-गिने नाटकों की ही रचना हुई है। 'दाहर', 'मुक्ति पथ', 'शक-विजय', 'अम्बा', 'सगर-विजय'—जैसे ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों के प्रसिद्ध लेखक उदयशंकर भट्ट ने युग-जीवन से सम्बद्ध नाटकों की भी रचना की है। सन् १९५४ में प्रकाशित 'क्रान्तिकारी' नाटक का विषय यद्यपि राजनीतिक जीवन है, पर उसका सम्बन्ध वर्तमान से उतना नहीं जितना स्वाधीनता-प्राप्ति के

पूर्व के क्रान्तिकारियों के जीवन से है। उसका कथानक स्वाधीनता-पूर्व के क्रान्तिकारी आन्दोलन पर आधारित है। लेखक ने सशस्त्र विद्रोह के लिए प्रयत्नशील नवयुवकों की चारित्रिक दृढ़ता का कुशलता से अँकन किया है। वर्तमान अनुशासनहीनता के युग में उससे प्रेरणा ग्रहण की जा सकती है। स्वाधीनता-पूर्व के राजनीतिक जीवन पर ही नरेश मेहता ने 'सुबह के घण्टे' की रचना की है। इसमें एक ऐसे क्रान्तिकारी की कहानी है जो एक राजनीतिक दल की परिवर्तित होती हुई नीतियों के बीच स्थायी नैतिक मूल्यों की खोज करता है। रचनाकार की सजगता के लिए इस कृति की प्रशंसा भले ही की जाय, नाट्य-कृति के रूप में इसकी प्रशंसा नहीं की जा सकती। इसका कथानक बिलकुल विश्रृंखल-सा लगता है, और कहीं नाटकीयता के दर्शन नहीं होते। दृश्य अनेक हैं, और क्षण-क्षण बदलने वाले हैं। इसके भाषा-प्रयोग भी यथार्थ जीवन से विच्छिन्न-जैसे लगते हैं। श्याम मोहन अस्थाना का 'पूर्व और पश्चिम' भी स्वाधीनता-पूर्व के क्रान्तिकारी आन्दोलन पर ही आधारित है।

चीनी आक्रमण की प्रतिक्रिया समग्र देश में बड़ी तीव्रता से हुई थी। उसकी अभिव्यक्ति हिन्दी नाटक में भी हुई है। चीनी आक्रमण से उत्पन्न परिस्थितियों की प्रेरणा से जिन नाटकों की रचना हुई, उनमें उल्लेखनीय हैं—'घाटियाँ गूँजती हैं' (शिवप्रसादसिंह), 'नेफा की एक शाम' (ज्ञानदेव अग्निहोत्री) और 'अपनी धरती' (रेवती सरन शर्मा) ये तीनों नाटक अभिनेय हैं, और अनेक स्थानों पर अपनी सफलता सिद्ध कर चुके हैं। 'घाटियाँ गूँजती हैं' एक-एक दृश्य के तीन अंकों में है, और चीन-भारत-संघर्ष की व्यापक पृष्ठभूमि पर इसकी रचना हुई है। 'नेफा की एक शाम' एक-एक दृश्य के दो अंकों में है—दोनों का घटनास्थल एक ही है और नाटक की घटनावधि भी कुछ ही घण्टों की है। नाटक के वस्तु-विन्यास में पर्याप्त संश्लिष्टता बनी रहती है। रचना में नेफा के एक स्थान पर चीनी आक्रमण के समय वहाँ के लोगों की जागरुकता, कर्त्तव्यनिष्ठा एवं साहस का सजीव अंकन हुआ है। रेवतीसरन शर्मा लिखित 'अपनी धरती' नाटक भी सशक्त है। यह भी तीन अंकों का नाटक है। इसमें यह दिखलाया गया है कि किस प्रकार युवकों ने चीनी आक्रमण के प्रतिकार में अपनी शक्ति और साहस का परिचय दिया। नाटक अपनी समग्रता से दर्शकों और पाठकों को प्रभावित कर सकता है।

वर्तमान सामाजिक जीवन को आधार बनाकर अनेक नाटकों की रचना की गई है। पुराने प्रसिद्ध नाटककारों में उदयशंकर भट्ट और उपेन्द्रनाथ अश्क ने इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किए हैं। भट्टजी के सामाजिक नाटक हैं—'नया समाज' और 'पार्वती'। दोनों नाटकों की सामग्री मध्यवर्गीय समाज से ली गई है। पार्वती में पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित एक अर्धशिक्षित मध्यवर्गीय नारी पर व्यंग्य किया गया है। 'नया समाज' में जमींदारी-उन्मूलन के कारण दुखी हुए एक परिवार का चित्र अंकित किया गया है। इसके कथानक-निर्माण में आधुनिक मनोविश्लेषण-शास्त्र की आडिपस और आत्मरति ग्रन्थियों के सिद्धान्तों का सहारा लिया गया है। इसकी मुख्य स्त्री-पात्र कामना काम-वृत्ति की अतृप्ति के कारण मानसिक रोग से ग्रस्त है। कामना

की आत्मरति-ग्रन्थि का चित्रण ही मुख्य रूप से नाटक में किया गया है। अश्क के नये नाटकों में 'पैंतरे', 'अलग-अलग रास्ते' और 'अंजो दीदी' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'पैंतरे' हास्य और व्यंग्य-प्रधान नाटक है। इसमें बम्बई के फिल्मी क्षेत्र में काम करनेवाले नये पुराने कवि, लेखक, अभिनेता, निर्देशक आदि के जीवन की झाँकियाँ व्यंग्य की तूलिका से अंकित की गई हैं, साथ ही बम्बई में मकानों के अभाव की समस्या को भी तीखे रूप में प्रस्तुत किया गया है। नाटक तीन अंकों में है, और प्रत्येक अंक में दो-दो दृश्य हैं। समय और स्थान की अन्विति की रक्षा नहीं की गई है, फिर भी प्रभाव की अन्विति बनी रहती है। नाटक के सम्वाद पात्रों के व्यक्तित्व के अनुरूप हैं। बम्बइया हिन्दुस्तानी और पंजाबी के सम्वादों से नाटक में स्वाभाविकता भी आई है, विश्वसनीयता भी। 'अलग-अलग रास्ते' अश्क का कोई नया नाटक नहीं, बल्कि बहुत पहले लिखे गए 'आदि मार्ग' नाटक का ही परिष्कृत रूप है। यह एक समस्या नाटक है, जिसमें विवाह और प्रेम की समस्या के साथ-साथ समाज में नारी की प्रतिष्ठा की समस्या प्रस्तुत की गई है। इसमें अपने समाज की नारी के पुराने संस्कारों का, नव-जागरण की भावना के साथ संघर्ष चित्रित किया गया है। तीन अंकों के इस नाटक में लेखक ने स्थान की अन्विति का पूर्णतः निर्वाह किया है। कथानक का निर्माण इस प्रकार किया गया है कि अन्त तक आकर्षण बना रहे। स्थान-स्थान पर व्यग्य के स्पर्श ने नाटक को सजीव बना दिया है। 'अंजो दीदी' का पहला अंक सन् १९४३ में लिखा गया था, और दूसरे अंक की रचना १९५४ में हुई। इस नाटक में अंजलि और उसके परिवार के चित्रण के माध्यम से लेखक ने अभिजात वर्ग में सम्मिलित होने की आकांक्षा रखनेवाले मध्यवर्गीय व्यक्तियों के संस्कारों का अंकन किया है। नाटक चरित्र प्रधान है। मुख्य पात्र अंजलि है जिसके निर्देश पर उसका पूरा परिवार चलता है। दूसरे अंक की घटनाएँ बीस वर्ष बाद की हैं जबकि अंजलि जीवित नहीं रहती, फिर भी उसके संस्कार सबको प्रभावित करते रहते हैं। इस नाटक में ऐसी अनेक विरोध-पूर्ण स्थितियों एवं प्रसंगों की अवतारणा की गई हैं जिनसे रचना के आकर्षण में वृद्धि हुई है। इसमें हास्य-व्यंग्य का पुट भी कुशलता से दिया गया है। अभिनेयता की दृष्टि से भी यह नाटक काफी सफल रहा हैं।

समसामयिक राजनीतिक स्थिति एवं सामाजिक-आर्थिक वैषम्य की पृष्ठभूमि पर भी कुछ नाटकों की रचना हुई है। शील ने अपने नाटकों में आर्थिक वैषम्य को बड़ी तीव्रता के साथ चित्रित किया है। 'तीन दिन : तीन घर' में लेखक ने वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था से उत्पन्न जनजीवन की संकटग्रस्त स्थिति और उसके विरोध में उभरती हुई क्रांति-चेतना को चित्रित करने का प्रयत्न किया है। इसमें एक मुहल्ले के तीन घरों की कहानी कही गई है, और उसके माध्यम से समाज का व्यापक चित्र प्रस्तुत किया गया है। सामाजिक यथार्थ के चित्रण की दृष्टि से नाटक काफ़ी सशक्त है, पर साम्यवादी विचारों के प्रति लेखक का आग्रह स्पष्टतः परिलक्षित होता है। नाटक तीन अंकों में है, पर घटना-स्थल एक ही रहता है। नाटक में कोई सुसम्बद्ध कथानक नहीं है, और न कोई निश्चित कथा-विकास ही, फिर भी प्रारम्भ से अन्त

तक इसमें आकर्षण बना रहता है। युग की ज्वलन्त समस्याओं को चित्रित करने वाले अभिनेय नाटकों में ऐसी कृतियों का महत्त्व होना चाहिए। सीताराम चतुर्वेदी का 'वसन्त' भी आधुनिक युग के सामाजिक यथार्थ पर आधारित है। इसमें बेकारी, घूस-खोरी आदि को चित्रित किया गया है, पर लेखक का दृष्टिकोण आदर्शवादी है। नाटक अभिनेय है, और अनेक स्थानों पर अभिनीत हुआ है। विनोद रस्तोगी का 'नये हाथ' भी वर्तमान सामाजिक पृष्ठभूमि पर लिखा गया है। यह नाटक कलकत्ता के थिएटर सेण्टर द्वारा आयोजित अखिल भारतीय हिन्दी नाटक प्रतियोगिता में पुरस्कृत हुआ था। जमींदारी समाप्त हो जाने के बाद अभिजात वर्ग के संस्कारों-विचारों में किस प्रकार परिवर्तन होते जा रहे हैं, इसे विनोद रस्तोगी ने प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत किया है। आनन्दप्रकाश जैन ने अपने नाटक 'मास्टरजी' में अस्पृश्यता की समस्या पर अपना ध्यान केन्द्रित किया है। यह एक सामाजिक समस्याप्रधान नाटक है—इसमें समस्या को इतनी प्रधानता दी गई है कि कथानक और पात्र सब कुछ गौण हो गए हैं। तीन दृश्यों का यह नाटक एक सेट पर प्रस्तुत किया जा सकता है। राजकुमार का नाटक 'ज्वार-भाटा' वेश्याओं की समस्या पर आधारित है। लेखक ने यह प्रश्न उठाया है कि समाज में वेश्याओं को यदि सम्मान नहीं मिलता है, तो क्या उनकी सन्तान को भी नहीं मिलना चाहिए ? यह एक विचारोत्तेजक समस्या है, और लेखक ने इसे कुशलता से उपस्थित किया है। आज समाज में भ्रष्टाचार और अनैतिकता है, वह भी इस नाटक में उभरकर आया है। नाटक सुसंगठित है, पर इसमें आकस्मिकता का बार-बार सहारा लिया गया है, जो बहुत स्वाभाविक और विश्वसनीय नहीं लगता। समस्याप्रधान नाटकों में यह खतरा हमेशा बना रहता है कि कहीं पात्र व्यक्ति न रहकर विचारों के प्रतीक न बन जाएँ। इस नाटक में भी कुछ ऐसी ही बात लगती है। सूर्यनारायण अग्रवाल का 'माँ' नाटक भी सामाजिक है। इसमें सामाजिक विषमता का भी चित्र आया है, दहेज-मुक्ति और निर्भोज विवाह की ओर भी संकेत किया गया है। मुख्य पात्रों की संघर्षशीलता के कारण नाटक में गति आई है। इसमें गीतों का व्यवहार सम्भवतः हिन्दी फ़िल्मों द्वारा विकृत जन-रुचि की तृप्ति के लिए किया गया है। राजेन्द्रकुमार शर्मा का अभिनेय नाटक 'रेत की दीवार' भी विवाह की समस्या से सम्बन्ध रखता है। विवाह और प्रेम पर आधारित होने पर भी 'रेत की दीवार' कोई समस्या नाटक नहीं है, हास्यप्रधान नाटक है। इसका उद्देश्य मनोरंजन है जिसमें इसे सफल कहा जा सकता है। हास्यप्रधान नाटकों में चरित्रों की अपेक्षा नाटकीय स्थितियों और संलापों पर अधिक ज़ोर रहता है। इस नाटक में भी यही बात हैं। कृष्णकिशोर श्रीवास्तव का नाटक 'नींव की दीवारें' राष्ट्र की भावनात्मक एकता पर लिखा गया है, और सरकार द्वारा सन् १९६२ में आयोजित नाटक प्रतियोगिता में पुरस्कृत हुआ है। सन्तोष नारायण नौटियाल का नाटक 'चाय पार्टियाँ' व्यंग्यप्रधान है, और इसमें समाज के अवसरवादी समझदार लोगों का चित्र अंकित कियां गया है।

डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल ने अनेक बड़े नाटकों की भी रचना की है। 'अन्धा

कुआँ' में इन्होंने समाज के निम्नतम वर्ग का जीवन अंकित करने का प्रयत्न किया है। ग्रामीण समाज की कटुताएं और अस्त-व्यस्तताएँ इसमें अंकित की गई हैं। गाँव के सामाजिक यथार्थ के चित्रण की दृष्टि से यह नाटक विशेष रूप से उल्लेखनीय है, क्योंकि ग्रामीण जीवन में नाट्यलेखन की पर्याप्त सामग्री उपलब्ध रहने पर भी अन्य नाटककारों ने इस ओर ध्यान नहीं दिया है। नाटककारों ने अधिकतर नगर के मध्यवर्गीय समाज को ही अपनी कृतियों का उपजीव्य बनाया हैं। नाटक अभिनेय है और रंगमंच पर प्रदर्शित हो चुका है। यहीं डॉ० लाल के दूसरे नाटकों की भी चर्चा की जा सकती है। 'मादा कैक्टस' इनका प्रतीकात्मक नाटक है जिसमें लेखक ने विवाह से सम्बन्धित एक समस्या उठाई है कि क्या विवाह प्रतिभा के विकास में बाधक होता है ? स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध का चिरन्तन प्रश्न प्रस्तुत नाटक में आधुनिक परिवेश में प्रस्तुत किया गया है। नाटक का स्थापत्य सुदृढ़ है। वस्तु-विन्यास में पर्याप्त संश्लिष्टता है, और प्रभाव-सृष्टि की क्षमता भी। प्रतीकों का व्यवहार कुशलता से किया गया है।

प्रसिद्ध रेडियो नाटककार विष्णु प्रभाकर ने 'डॉक्टर' नामक रंगमंचीय नाटक भी लिखा है। इसे मनोवैज्ञानिक नाटक कहकर एक स्वतन्त्र वर्ग में रखा जा सकता है, यद्यपि किसी भी नाट्य-कृति का मनोवैज्ञानिक धरातल पर विश्वसनीय होना उसकी अनिवार्य विशेषता होती है। 'डॉक्टर' में लेखक का उद्देश्य किसी सामाजिक समस्या या सामाजिक यथार्थ के चित्रण का उतना नहीं है जितना एक मनोवैज्ञानिक समस्या के चित्रण का। इसमें एक ऐसी नारी का मानसिक द्वन्द्व चित्रित करने का प्रयत्न किया गया है जो अपने पति द्वारा परित्यक्ता होने पर डॉक्टर बन जाती है, और जिसे अपने पति की दूसरी पत्नी का ऑपरेशन करने का अवसर मिलता है। उसके मन में द्वन्द्व होता है—वह अपने पति से प्रतिशोध ले या अपने यानी डॉक्टर के कर्तव्य का पालन करे ? लेखक ने इस द्वन्द्व को प्रभावपूर्ण रूप में प्रस्तुत किया है, पर नाटकीय स्थिति के अनुपात में कथानक में विस्तार अधिक लगता है। नाटक के तीन अंकों में पाँच दृश्य रखे गए है।

इन मौलिक नाटकों की रचना के साथ-साथ विभिन्न भाषाओं की उत्कृष्ट नाट्यकृतियों के अनुवाद भी स्वातन्त्र्योत्तर युग में हुए हैं। जब कभी साहित्य की विधा विशेष के प्रति जागरूकता होती है, तब उस विधा की दृष्टि से समृद्ध अन्यान्य साहित्यों की ओर भी लेखकों की दृष्टि जाती है और महत्त्वपूर्ण कृतियों के अनुवाद एवं रूपान्तर प्रस्तुत किये जातेहैं। आलोच्य अवधि में संस्कृत के जिन नाटकों के हिन्दी अनुवाद विभिन्न रंगमंचों पर प्रयोग के रूप में प्रस्तुत किये गए, उनमें 'शकुन्तला' और 'मृच्छकटिक' विशेष उल्लेखयोग्य हैं। अपने यहाँ की प्रादेशिक भाषाओं के प्रसिद्ध नाटकों के भी अनुवाद प्रकाशित हुए हैं—मराठी के मामा वरेरकर, बंगला से रवीन्द्रनाथ ठाकुर, मलयालम से तोप्पिल भासी, तमिल से श्रीमती स्वामीनाथन, पंजाबी से परितोष गार्गी आदि के नाटकों का उल्लेख किया जा सकता है। विदेशी लेखकों में शेक्सपियर, शॉ, इब्सन, मिडेल, सिबाहिचयन आदि के नाटक हिन्दी में अनूदित हुए हैं।

अभी तक हमने हिन्दी के केवल अनेकांकी नाटकों की चर्चा की है, पर स्वातन्त्र्योत्तर युग में हिन्दी का नया नाटक अनेक रूपों में विकसित होता रहा है—एकांकी नाटक, रेडियो नाटक और पद्य नाटक के रूप में इसने अपना बहुमुखी विकास किया है। इनमें सबसे समृद्ध रूप है एकांकी नाटक का। संख्या की दृष्टि से जितने एकांकी नाटकों की रचना इस अवधि में हुई है, उतने बड़े नाटकों की नहीं।

हिन्दी एकांकी को विकास की प्रेरणा अनेक दिशाओं से मिली है। इस व्यस्तता के युग ने लघु नाट्य-रूप की समृद्धि के लिए उर्वर भूमि तो दी ही है, स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद देश में नया सांस्कृतिक जागरण हुआ है, उसकी अभिव्यक्ति के लिए भी एकांकी का माध्यम काफ़ी सुविधाजनक रहा है। विभिन्न प्रकार के नाट्य-समारोहों में जो नाट्य-प्रतियोगिताएँ होने लगी हैं, उनसे भी एकांकी के लेखन को प्रोत्साहन मिला है। आकाशवाणी केन्द्रों के विस्तार का प्रभाव भी अत्याधुनिक हिन्दी एकांकी पर पड़ा है। यह सही है कि रेडियो नाटक रंग-नाटक से भिन्न होता है, पर हिन्दी में प्रसारण के बाद अनेक रेडियो नाटक दृश्य संकेतों के साथ इस तरह प्रकाशित कर दिये गए हैं कि वे रंग-नाटक-जैसे ही लगते हैं।

जिन लेखकों ने सन् १९३० के बाद हिन्दी एकांकी के क्षेत्र में प्रवेश किया और जिन्हें उसे नव्य स्वरूप प्रदान करने का श्रेय प्राप्त है, उनमें से कुछ का लेखन-कार्य स्वातन्त्र्योत्तर युग में भी चलता रहा है। ऐसे लेखकों में डॉ० रामकुमार वर्मा, उदयशंकर भट्ट, उपेन्द्रनाथ अश्क, जगदीशचन्द्र माथुर आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। डॉ० वर्मा के नये एकांकी मुख्यतः ऐतिहासिक हैं। अन्य लेखकों ने सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों को आधार बनाकर अपने नाटकों की रचना की हैं। पुराने नाटककारों में हरिकृष्ण प्रेमी, रामवृक्ष बेनीपुरी, वृन्दावनलाल वर्मा, गोविन्दवल्लभ पंत, भगवतीचरण वर्मा आदि ने अनेक एकांकी नाटकों की रचना की है, पर इनमें कोई विशिष्टता नहीं दीखती। इन्होंने सामान्यतः अपने कथ्य और विषय-वस्तु को ही अधिक महत्त्व दिया है—नाटकीय चेतना एवं स्थापत्य के दर्शन कम ही नाटककारों की कृतियों में होते हैं। आलोच्य अवधि में ऐसे अनेक नये नाटककार भी उदित हुए हैं जिन्होंने एकांकी को विशेष रूप से समृद्ध किया है। नये एकांकीकारों की कृतियों में विषय और प्रस्तुतीकरण, दोनों की विविधता दिखाई पड़ती है। नये लेखकों की संख्या तो काफ़ी बड़ी है, पर कुछ नाम बड़े स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आये हैं—सत्येन्द्र शरत्, डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल, विनोद रस्तोगी, राजेन्द्रकुमार शर्मा आदि। इनकी कृतियों से स्पष्ट है कि रंगमंच के प्रति सजगता ने एकांकी के शिल्प को विकसित करने में योग दिया है। नये एकांकी की प्रवृत्ति कथानक के विस्तार की ओर नहीं, सघनता की ओर है, जीवन के मार्मिक क्षणों को चित्रित करने की ओर है, चरित्र के आकर्षक पहलुओं को प्रस्तुत करने की ओर है, अन्वितियों के निर्वाह की ओर है, अभिनेयता और प्रदर्शन की ओर तो है ही।

स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद की अवधि में हिन्दी के रेडियो नाटक ने पर्याप्त विकास किया है। हिन्दी क्षेत्र में रेडियो स्टेशनों की संख्या बढ़ी है, और उनके लिए

नाट्य-लेखन में वृद्धि हुई है। अनेक नये लेखक इस क्षेत्र में सामने आये हैं। इस अवधि में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह हुई है कि रेडियो नाटक को एक स्वतन्त्र नाट्य-विधा के रूप में स्वीकृति मिली है। रेडियो नाटक के शिल्प पर 'रेडियो नाटक' (हरिश्चन्द्र खन्ना) और 'रेडियो-नाट्य-शिल्प' (सिद्धनाथ कुमार) नामक दो पुस्तकें भी प्रकाशित हुई हैं। इस क्षेत्र में काम करने वाले पुराने और नये लेखकों की संख्या बहुत बड़ी है, पर रेडियो माध्यम की विशिष्टताओं को ध्यान में रखकर नाटक लिखने वालों में विष्णु प्रभाकर, हरिश्चन्द्र खन्ना, चिरंजीत, रेवतीसरन शर्मा, भारतभूषण अग्रवाल आदि लेखकों के नाम स्मरण किये जा सकते हैं। इस अवधि के रेडियो नाटकों में विषय और शिल्प, दोनों दृष्टियों से पूर्ववर्ती नाटकों से भिन्नताएँ दिखाई पड़ती हैं। स्वाधीनता-प्राप्ति के पूर्व रेडियो से प्रसारित अधिकतर नाटकों के विषय ऐतिहासिक और रोमांटिक होते थे, पर अब सामाजिक विषयों पर भी नाटकों की रचना होने लगी है। इस सम्बन्ध में यह अवश्य ध्यातव्य है कि रेडियो नाटक के विषयों एवं दृष्टि की सीमा राष्ट्रीय सरकार द्वारा नियन्त्रित है—युग की स्वाधीन चिन्ता की अभिव्यक्ति के लिए हिन्दी रेडियो नाटक में अवकाश नहीं रहता। रेडियो के लिए मनोवैज्ञानिक नाटकों की रचना विशेष रूप से हो रही है। इधर 'विविध भारती' कार्यक्रम के प्रारम्भ के बाद से हास्य और मनोरंजन-प्रधान नाटकों को विशेष स्थान मिलने लगा है, पर इनमें सामाजिक विकृतियों पर हो सकने वाले व्यंग्य का अभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है। विधा की दृष्टि से पर्याप्त अवकाश रहने पर भी स्वगतनाट्यों और अतिकल्पनाओं की रचना बहुत कम हो पाई है। हिन्दी में रेडियो नाटक का जीवन अभी पचीस वर्षों का ही है, फिर भी इस नव्य विधा ने पर्याप्त विकास किया है। इस क्षेत्र में अनेक उत्कृष्ट कृतियाँ सामने आई हैं, पर इस माध्यम की सम्भावनाओं का जितना उपयोग होना चाहिए था, उतना नहीं हो पाया है।

हिन्दी नाटक का एक रूप पद्य नाटक का भी है। प्रसाद ने लगभग पचास वर्ष पूर्व 'करुणालय' गीतिनाट्य की रचना की थी। उनके बाद मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त, भगवतीचरण वर्मा, उदयशंकर भट्ट आदि ने कुछ पद्य नाटकों की रचना की थी, पर वे कृतियाँ काव्य-नाटक के स्वरूप-विधान की सार्थकता नहीं सिद्ध करतीं। वे नाटक की अपेक्षा काव्य के अधिक निकट हैं। उनमें न रंगमंच का ध्यान रखा गया है, न किसी अन्य प्रदर्शन माध्यम का ही। सही अर्थों में हिन्दी के काव्य-नाटक का उदय स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद ही हुआ है। आकाशवाणी केन्द्रों के विस्तार के साथ काव्य-नाटक के प्रस्तुतीकरण को नया माध्यम प्राप्त हुआ है। रेडियो का अदृश्य माध्यम अपने स्वभाव से ही कल्पना और काव्यप्रधान होता है। पुराने प्रसिद्ध कवियों में सुमित्रानन्दन पन्त, उदयशंकर भट्ट, भगवतीचरण वर्मा, जानकीवल्लभ शास्त्री, केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' आदि ने रेडियो के लिए पद्य नाटक लिखे हैं, पर इन सबकी रचनाएँ रेडियो माध्यम के उपयुक्त काव्य-नाटक हैं ही, ऐसा नहीं कहा जा सकता। गिरिजाकुमार माथुर, भारतभूषण अग्रवाल, नरेश मेहता, धर्मवीर भारती, सिद्धनाथ कुमार आदि ने भी प्रसारणार्थ पद्य नाटक लिखे हैं, जिनमें वस्तु एवं शिल्पगत वैविध्य

देखा जा सकता है। आलोच्य अवधि में धर्मवीर भारती के 'अन्धा युग' से हिन्दी काव्य नाटक का नया चरण प्रारम्भ हुआ है। यह हिन्दी का पहला काव्य नाटक है जो रंगमंच पर अभिनीत हुआ है। पौराणिक आख्यान के माध्यम से लेखक ने आधुनिक युग की निराशा, कुण्ठा, अनास्था आदि का सशक्त अंकन इस रचना में किया है। 'अन्धा युग' की यह बहुत बड़ी विशेषता है कि इसने हिन्दी काव्य-नाटक की सम्भावनाओं का विकास किया है।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटक के इस सर्वेक्षण के बाद कुछ सामान्य निष्कर्ष दिये जा सकते हैं। हिन्दी के नये नाटक साहित्य को उसकी समग्रता में देखते हुए उसकी समृद्धि में सन्देह नहीं किया जा सकता, पर कविता, कहानी और उपन्यास आदि की रचना इस अवधि में जितनी हुई है, उसकी तुलना में नाटकों की संख्या बहुत कम है। नाटकों का प्रकाशन भी बहुत कम हुआ है। ऐसी अनेकानेक नाट्य-कृतियाँ हैं जो रंगमंच पर प्रदर्शित हुई हैं अथवा रेडियो से प्रसारित, पर प्रकाशित रूप में सामने नहीं आई है। दूसरी बात यह है कि सम्पन्न रंगमंचों ने जितना अधिक प्रश्रय संस्कृत या अन्यान्य भाषाओं से अनूदित नाटकों अथवा मौलिक ऐतिहासिक नाटकों को दिया है, उतना समसामयिक जीवन पर लिखित नये नाटकों को नहीं। पुरस्कारों से भी ऐसे ही नाटकों को प्रोत्साहन मिला है। तीसरी बात यह है कि रंगमंच के नवोन्मेष ने हिन्दी नाटक को नई दिशा दी है, और अब सफल अभिनेय नाटकों की रचना होने लगी है। इसका प्रभाव नाटक के स्थापत्य पर भी पड़ा है। अधिक नाटक तीन अंकों में आये तीन दृश्यों में लिखे गए हैं जिनमें नाटक का घटना-स्थल परिवर्तित नहीं होता। जिन नाटकों में तीन से अधिक दृश्य हैं, उनमें भी प्रदर्शन की व्यावहारिकता को ध्यान में रखा गया है। कथा-विन्यास में संघर्ष, कौतूहल, चरम सीमा आदि की चिन्ता की जाने लगी है। चरित्रप्रधान नाटक बहुत कम लिखे गए हैं, पर जो लिखे गए हैं उनमें नाटक के विकास की उज्ज्वल सम्भावनाओं का परिचय मिलता है। चौथी बात यह है कि एकांकी के क्षेत्र में हिन्दी नाटक विशेष रूप से सम्पन्न-समृद्ध हुआ है, पर वह अधिकांशतः रेडियो से प्रभावित है। रेडियो ने छोटे-छोटे नाटकों के लेखन के लिए प्रेरक शक्ति के रूप में काम किया है। अनेक लेखकों ने एक ही नाटक को रंगमंच और रेडियो, दोनों के लिए लिखने की कोशिश की है, पर इससे दोनों नाट्यरूपों के स्वतन्त्र विकास में बाधा पड़ी है—यह बात रेडियो नाटक पर विशेष रूप से लागू है। पाँचवीं बात यह है कि काव्य नाटक रंगमंच की ओर उन्मुख हुआ है, और उसके भविष्य का शुभ लक्षण कहा जा सकता है।

नये युग में भी पुराने नाटकों की परम्परा चलती रही है, पर नई चेतना का परिचय नये नाटककारों की कृतियों में मिलने लगा है। हिन्दी का नया नाटक शक्तिशाली विधा का रूप ग्रहण करता जा रहा है, इसमें सन्देह नहीं।

विश्वनाथप्रसाद तिवारी

आंचलिक उपन्यास : स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-साहित्य की नवीन उपलब्धि

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य में एक विशेष प्रकार के आभिजात्य का दर्शन प्राय: सर्वत्र होता है। अज्ञेय के कथा-साहित्य में यह विशेषता बहुत प्रमुख है। उनके प्राय: सभी पात्र (शेखर, शशि, भुवन, रेखा आदि) अत्यन्त शिक्षित और चिन्तनशील हैं। वे जगह-जगह श्रेष्ठ कवियों की पंक्तियाँ उद्धृत करते हुए विश्व-साहित्य के पंडित मालूम होते हैं। इसी प्रकार इस काल की अन्य प्रसिद्ध कृतियों में भी एक प्रकार का आभिजात्य प्राप्त होता है। किन्तु इधर आकर हमारे साहित्यकारों की दृष्टि लोक-संस्कृति की ओर भी उन्मुख हुई है। आज हिन्दी में जनवादी साहित्य-निर्माण का नारा बुलन्दी पर है। लेखकों ने जीवन के यथार्थ में गहरे उतरकर जनवादी साहित्य-सृजन की आवश्यकता महसूस की है। जो सबसे-अधिक उत्पीड़ित, उपेक्षित और शोषित को अपनी सहानुभूति दे सके, उससे गले मिलकर रो सके वही लेखक सच्चा जनवादी है। जो कलाकार भारतीय जन-जीवन का सच्चा चित्रण करना चाहता है उसे निश्चित रूप से आधुनिक सभ्यता से दूर गाँवों में रहने वाले संघर्षरत किसान तक पहुँचना पड़ेगा।[1] भारतीय संस्कृति मूलत: एक होते हुए भी हिन्दुस्तान के अनेक अनदेखे अंचलों में बिखरी हुई है। चाहे लखनऊ हो या बनारस, दरभंगा हो या पूर्णिया (बिहार), बरसोवा के मछुओं की ज़िन्दगी हो या नटों की—सबकी संस्कृति अपने में विशिष्ट है। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-साहित्य में—विशेषत: कथा-साहित्य में, इस अनदेखी संस्कृति और कौमार्य सौन्दर्य को सहानुभूति के साथ चित्रित करने की प्रवृत्ति लक्षित होती है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व जागरूक मानस में देशभक्ति की जो लहर देश को पराधीनता से मुक्त करने के लिये उठ रही थी, स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात वह एक दूसरी दिशा में मुड़ी है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व अंग्रेज़ों के विरुद्ध राष्ट्रीय आन्दोलन को जगाना और गतिशील रखना ही प्रमुख उद्देश्य था किन्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात देश-प्रेम की यह भावना जन-विकास की शिक्षा में उन्मुख हुई है। सहृदय लेखक पिछड़े जन-

१. "कला गाँवों में पनपती है, शहरों में नहीं। हम पकवान खाकर रसोइये पर प्रसन्न होते हैं—काश किसान पर रीझते तो कितना अच्छा होता। जिस समय सिर पर से पानी बहता हो, गले में साँप सोने न दे रहा हो, बदन पर चिथड़ा लिपटा हो और पास में पार्वती—पर्वत-पुत्री खड़ी पसीना पोंछ रही हो, जब उस गरीब पर मस्तक झुके तभी कला की सच्ची पूजा है—शंकर पूजा है। वह किसान ही हमारा शंकर है। साँप टैक्स है—चिथड़े गरीबी है—पार्वती उसकी पत्नी है। साहित्यिक कहता है, "मेरी कविता में अलंकार है, मेरी कला सुन्दर है। मुझे उस किसान से क्या सम्बन्ध—भाड़ में जाय तेरा अलंकार और तेरी कला, तीस-करोड़ अलंकार खेतों में लहलहा रहे हैं और तू अपने अलंकारों और कला को चिल्ला रहा है। मानव के इतने बड़े दुश्मन तुम्हें हम साहित्यिक कहें।"

—माखनलाल चतुर्वेदी : नया जीवन, मई १९५५, पृ० ४८।

जीवन की ओर लौटा है। उसकी दृष्टि साधारण जीवन और साधारण मनुष्य की ओर गई है। युगों से शोषित और उपेक्षित जीवन जर्जर विश्वासों का पुलिन्दा बन गया था। इस प्रकार शोषण के आर्थिक पहलू से ऊपर उठकर इन उपेक्षितों के समूचे अस्तित्व को उभारने की आवश्यकता महसूस हुई है।[1] साहित्यकारों में स्थानीय प्रेम प्रगाढ़ हुआ है। सन् १९४० ई० के आस-पास से ही हिन्दी उपन्यासों में स्थानीय रंग झलकने लगा था और स्थानीय भाषा प्रयुक्त होने लगी थी। श्री राहुल सांकृत्यायन आदि विद्वानों ने इस बात पर बल दिया था कि प्रत्येक जनपद की संस्कृति की रक्षा होनी चाहिये। सन् १९३५ ई० में इन्दौर साहित्य-सम्मेलन के सभापति पद से महात्मा गांधी ने भी साहित्यकारों को भारतीय गाँवों का स्मरण कराया था। प्रारम्भ में हमारे उपन्यासों में स्थानीय जीवन का केवल खण्ड-चित्र उभरा। श्री वृन्दावनलाल वर्मा तथा बाबू शिवपूजन सहाय के उपन्यासों में आंचलिक विशेषताओं के चित्रण हुए। वर्माजी ने बुन्देलखण्ड तथा सहायजी ने बिहार के अंचलों की झाँकी दिखाई। बाद में यह प्रवृत्ति एक नये स्तर पर एक अंचल विशेष की संस्कृति तथा जनपदीय लोक-जीवन के संस्कारों को अपनाकर स्थानीय जीवन के व्यापक चित्रण की ओर बढ़ी। फलस्वरूप आंचलिक उपन्यासों की रचना हुई। आंचलिक उपन्यास हिन्दी-उपन्यास-साहित्य की एक अत्यन्त नवीन-उपलब्धि है जिसका विकास पिछले दो दशकों में हुआ है।

आंचलिक उपन्यास उन उपन्यासों को कहते हैं जिनमें एक विशेष अंचल (क्षेत्र) के निवासियों का जीवन अपने समग्र रूप में विस्तार के साथ चित्रित होता है। "आंचलिकता लेखक की अपनी कृति को एक अंचल विशेष की आधारभूति पर निर्मित करने तथा वहाँ के निवासियों के जीवन और प्रगति को विस्तार के साथ चित्रित करने की प्रवृत्ति है"।[2] आंचलिक उपन्यासों में स्थानीय रंग-प्रधान होता है किन्तु उन सभी उपन्यासों को जिनमें स्थानीय रंग हो, हम विशुद्ध आंचलिक नहीं कह सकते। दोनों में उद्देश्य और चित्रण का मौलिक अन्तर होता है। उपन्यास में स्थानीय रंग प्रभावात्मकता तथा स्वाभाविकता उत्पन्न करने के लिये होते हैं। इनका उपयोग मूल तत्त्व के रूप में

---

१. "प्रेमचन्द के समय में राष्ट्रीय आन्दोलन विदेशी के विरुद्ध था, अतः उस समय राष्ट्रीयता का ही महत्व उनके उपन्यासों में मिलता है। प्रेमचन्द आदर्शवादी भी थे। गाँव की बहुतसी असलियत वे इसीसे स्पष्ट नहीं लिख सके थे, क्योंकि उस समय उनकी समस्या राष्ट्रीय आन्दोलन को बल देने की ही थी। किन्तु अब युग प्रेमचन्द से है और केवल शोषण का आर्थिक पहलू ही देखना काफी नहीं है। शहरों में बैठने वाले आधुनिकता के नजरिये से सब कुछ देख डालते हैं। पर असली भारत गाँव में है, जो अब भी मध्यकालीन-विश्वासों से ग्रस्त है। वे विश्वास मध्यकालीन आर्थिक व्यवस्था से नियंत्रित है। मैंने उनको स्पष्ट करने का यत्न किया है।... ।"

—रांगेयराघव : 'कब तक पुकारूँ', द्वि० सं० १९६० ई०, भूमिका।

2. The tendency of some writers to set their works in a particular locality, presented in some detail as affecting the lives and fortunes of the inhabitants..."
Joseph T. Shipley:'Dictionary of World Literary Terms, p.337-38.

न होकर साज-सज्जा के रूप में होता है।[1] दूसरी ओर आंचलिक उपन्यासों में उस अंचल का समग्र चित्रण होता है। स्थानीय रंग ऐतिहासिक, सामाजिक आदि सभी प्रकार के उपन्यासों में हो सकता है। इस प्रकार के उपन्यास हिन्दी में बहुत हैं। वृन्दावनलाल वर्मा, चतुरसेन शास्त्री, राहुल सांकृत्यायन, रांगेयराघव, निराला और अमृतलाल नागर के कई उपन्यासों में स्थानीय रंग देखा जा सकता है। विष्णुप्रभाकर के 'निशिकान्त', सर्वदानन्द के 'माटी खाई जानवरां' (१९६० ई०) तथा शिवसागर मिश्र के 'दूब जनम आई' (१९६० ई०) आदि उपन्यासों में स्थानीय रंग का उपयोग हुआ है। किन्तु इन उपन्यासों को विशुद्ध आंचलिक उपन्यासों की कोटि में नहीं रखा जा सकता।

पं० नन्ददुलारे वाजपेयी के अनुसार "आंचलिक उपन्यास हम उसे कहते हैं, जिसमें अपरिचित भूमियों और अज्ञात जातियों के जीवन का वैविध्यपूर्ण चित्रण हो। आंचलिक उपन्यास की सबसे प्रमुख विशेषता अपरिचित और किसी हद तक आदिम जातियों के जीवन-चित्रण में पाई जाती है।"[2] वाजपेयीजी का यह कथन हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों के संदर्भ में शत-प्रतिशत सही उतरता है। हिन्दी के आंचलिक उपन्यास प्रमुख रूप से या तो किसी अंचल विशेष के जन-जीवन का चित्रण करते हैं या किन्हीं अपरिचित और आदिम जातियों के जीवन का चित्रण करते हैं। नीचे हम हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों पर विचार करेंगे।

हिन्दी के विशुद्ध आंचलिक कहे जाने वाले उपन्यासों के दो प्रधान भेद किये जा सकते हैं।

१. पहले प्रकार के वे उपन्यास हैं जिनमें किसी अंचल विशेष के जन-जीवन का चित्रण होता है। इस प्रकार के उपन्यासों में फणीश्वरनाथ रेणु का 'मैला-आँचल' (१९५४ ई०) और 'परती परिकथा' (१९५७ ई०), नागार्जुन का 'बलचनमा' (१९५२ ई०), देवेन्द्र सत्यार्थी का 'ब्रह्मपुत्र', शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' का 'बहती गंगा' (१९५२ ई०), राजेन्द्र अवस्थी 'तृषित' का 'जंगल के फूल' (१९६० ई०), बलभद्र-ठाकुर के 'नेपाल की वो बेटी' (१९५९ ई०), 'आदित्यनाथ' (१९५९ ई०) तथा 'घने और बने' (१९६० ई०), दयानाथ झा का 'ज़मींदार का बेटा' (१९५९) तथा

---

1. The use of environmental detail in a story differs from regionalism in its mainly picturesque intent. It's interest lies in exploring a new or unfamiliar setting . or in preserving the record of a changing or dying locale while the regionalist sees in each region different conditions that operate profoundly in the lives of it's people and thus develop different patterns of culture and character, the local colourist takes rather the tourist's view of a countryside;... local colour thus presents superficial elements of the setting, dialect, custume, customs, not as a basic element of the story, but as decoration..." Ibid., p. 257.

२. सारिका : नवम्बर १९६१ ई०, पृ० ९१

रामदरस मिश्र का 'पानी के प्राचीर' आदि प्रमुख हैं।

रेणु के 'मैला आँचल' में पूर्णिमा (बिहार राज्य का एक ज़िला) के मेरीगंज तथा 'परती परिकथा' में परानपुर गाँव का चित्रण हुआ है। इन दोनों ही उपन्यासों में रेणु ने उस अंचल के आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक जीवन का आँखों देखा चित्रण किया है। गाँव की विभिन्न जातियों, उनके आपसी मन-मुटाव और झगड़ों, उनकी अज्ञानता, अन्धविश्वास, पक्षपात, भ्रष्टाचार, सरकारी कर्मचारियों की घूस-खोरी, स्थानीय त्योहारों, लोकगीतों और लोककथाओं का उपन्यास में सूक्ष्म चित्रण हुआ है। 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' के लेखक में अपने अंचल का मोह प्रबल है। वह अपने अंचल के हर चप्पे, हर कण और हर धड़कन से परिचित है। रेणु को अपने अंचल की धरती, बनस्पति, नदी-ताल, खेत-खलिहान—सब कुछ सुन्दर दिखाई पड़ता है। यह मैला आँचल नहीं स्वर्णिम आँचल है। गेहूँ की सुनहरी बालियों से भरा हुआ खेत मानो सोने की नदी है। बहती हुई पुरवैया हवा मानो नदी में उठती हुई लहर है और उस खेत में खड़े किसान मानो सोने की नदी में क्रीड़ा कर रहे हैं।[1] 'मैला आँचल' के डाक्टर पर यहाँ की मिट्टी का मोह सवार हो गया। उसे लगता है, मानो वह युग-युग से इस धरती को पहचानता है। यह अपनी मिट्टी है। नदी-तालाब, पेड़-पौधे, जंगल-मैदान, जीव-जानवर, कीड़े-मकोड़े सभी में वह एक विशेषता देखता है।''[2]

नागार्जुन के 'बलचनमा' में दरभंगा (बिहार का एक ज़िला) तथा देवेन्द्र सत्यार्थी के 'ब्रह्मपुत्र' में ब्रह्मपुत्र नदी के आस-पास का जीवन चित्रित हुआ है। 'रुद्र' के 'बहती गंगा' में काशी-निवासियों का जीवन चित्रित है। इसमें एक दूसरी से अलग, परस्पर स्वतन्त्र, परन्तु धारा और तरंग न्याय से आपस में बँधी हुई...[3] सत्रह तरंगों (कहानियों) के द्वारा काशी के पिछले लगभग दो सौ वर्षों (१७५० ई० से १९५० ई०) का इतिहास (प्रमुख घटनाओं तथा व्यक्तियों के माध्यम से) प्रस्तुत हुआ है। उपन्यास में ऐतिहासिक घटनाओं और व्यक्तियों की गाथा, अंग्रेजों के अत्याचार, उसके विरुद्ध काशी की वीर जनता की प्रतिक्रिया, उनकी देशभक्ति, 'घरफूंक मस्ती', हृदय की कोमलता तथा साहस चित्रित है। किन्तु 'बहती गंगा' में कहीं-कहीं घटनायें अलौकिक और अस्वाभाविक होने से काल्पनिक प्रतीत होती हैं।

राजेन्द्र अवस्थी 'तृषित' का 'जंगल के फूल' मध्य प्रदेश के दक्षिण में स्थित बस्तर ज़िले के निवासियों के जन-जीवन पर आधारित है। यहाँ के पचहत्तर प्रतिशत निवासी अब भी आदिम सभ्यता में हैं जिनकी अपनी अलग संस्कृति है और अलग मान्यताएँ हैं। इस उपन्यास में वस्तर ज़िले के इन्हीं निवासियों का जीवन चित्रित है। बलभद्र ठाकुर के उपन्यास 'नेपाल की वो बेटी' में पश्चिमी नेपाल के एक विशेष क्षेत्र—कालीगंड की उपत्यका—के ग्रामीण पहाड़ी जीवन को कथा-क्षेत्र चुना गया है,

---

१. मैला आँचल, १९५४ ई०, पृ० १८१
२. वही, पृ० २२७
३. बहती गंगा, १९५२ ई०, 'सन्दर्शिका', पृ० १०

किन्तु लेखक ने उपन्यास में प्रायः सम्पूर्ण पश्चिमी-नेपाल के ग्रामीण पहाड़ी जीवन का खाका खींच दिया है। इस उपन्यास का कथा-काल सन् १९२० से १९२३ ई० तक है। ठाकुर साहब के दूसरे उपन्यास 'आदित्यनाथ' में कुल्लूघाटी के अंचल का बड़ा ही आकर्षक चित्रण हुआ है। ठाकुर साहब के ही उपन्यास 'घने और बने' में पूर्वी हिमालय के दार्जिलिंग क्षेत्र के शहरी एवं चायबगानी जीवन का चित्रण हुआ है। दयानाथ झा का उपन्यास 'जमींदार का बेटा' मिथिला के जन-जीवन पर आधारित है। उदयशंकर भट्ट का 'लोक-परलोक' पश्चिमी उत्तर प्रदेश के गंगा तट स्थित पद्मपुरी नामक तीर्थग्राम पर आधारित है। रामदरस मिश्र का 'पानी के प्राचीर' गोरखपुर—देवरिया ज़िलों (पूर्वी उत्तर प्रदेश) के दक्षिणी-पूर्वी क्षेत्र के जन-जीवन पर आधारित है। अमृतलाल नागर का 'बूंद और समुद्र' यद्यपि विशुद्ध आंचलिक उपन्यास नहीं है किन्तु उसका भी कथानक मुख्म रूप से उत्तर प्रदेश के लखनऊ शहर पर ही आधारित है।

इस प्रकार इस कोटि के आंचलिक उपन्यासों का प्रमुख लक्ष्य किसी अंचल विशेष के जन-जीवन का यथार्थ और समग्र चित्रण करना है।

२. दूसरे प्रकार के आंचलिक उपन्यास वे हैं जिनमें किसी जाति विशेष (प्रायः अपरिचित और आदिम जातियों का) का जीवन चित्रित होता है। इस प्रकार के उपन्यासों में उदयशंकर भट्ट का 'सागर, लहरें और मनुष्य', रांगेय राघव का 'कब तक पुकारूँ' (१९५७ ई०) तथा देवेन्द्र सत्यार्थी का 'रथ के पहिये' (१९५३ ई०) आदि उपन्यास महत्त्वपूर्ण है। 'सागर लहरें और मनुष्य' में उदयशंकर भट्ट ने बम्बई के पश्चिमी तट पर बसे हुए बरसोवा नामक मछलीमारों के गाँव को कथा का आधार बनाया है। उपन्यास की महानता सभ्यता से दूर छँटे इस भूभाग में जीनेवाले असभ्य तथा अर्द्धसभ्य प्राणियों की जीवन गाथा को कुशलता से चित्रित करने में है। लेखक ने इन मछलीमारों के आपसी सम्बन्ध, उनके प्रेम और घृणा की भावना, ईर्ष्या, वासना एवं यौन-सम्बन्ध का यथार्थ चित्र खींचा है। इनका जीवन हम सभ्य कहे जाने वाले प्राणियों के जीवन से भिन्न है। यहाँ स्त्रियाँ पति पर शासन भी करती हैं, उपपति भी रख लेती हैं। इन निरीह प्राणियों में जितनी ही सचाई और कोमलता है उतनी ही ईर्ष्या। लेखक ने यथासम्भव अपने को अर्जित संस्कारों एवं नैतिक पूर्वाग्रहों से दूर रखने का प्रयत्न किया है। वह उनके सामाजिक जीवन (प्रेम, विवाह), आर्थिक जीवन (व्यवसाय, रहन-सहन पोशाक), धार्मिक-जीवन (त्योहार, धार्मिक विश्वास—खंडाला देवता की पूजा आदि) और संस्कृति से पूर्ण परिचित है।

रांगेय राघव के 'कब तक पुकारूँ' में जरायमपेशा कही जाने वाली खानाबदोश करनट जाति का जीवन चित्रित है। इनकी जीवन-रीति सभ्य कहे जाने वाले लोगों से नितान्त भिन्न है। लेखक ने भूमिका में इस जाति को नट, डोम, भंगी, संपेरा, चमार, धोबी आदि असभ्य तथा नीच समझी जाने वाली जातियों से भी अलग किया है। उपन्यासकार ने भूमिका में इनकी नैतिकता, पेशा, पोशाक, रहन-सहन, विवाह,

छुआछूत आदि का विवरण प्रस्तुत किया है।[१] करनटों के इसी विशिष्ट जीवन पर यह उपन्यास आधारित है। सम्पूर्ण उपन्यास में इस जाति का सामाजिक, आर्थिक और नैतिक जीवन 'भूमिका' में स्पष्ट किये गए विचारों के अनुरूप है। किन्तु उपन्यासकार ने इनकी नैतिकता को आदर्श बनाकर नहीं प्रस्तुत किया है।[२]

'रथ के पहिए' में देवेन्द्र सत्यार्थी ने आदिवासियों के एक वर्ग--गोंडों के जीवन को चित्रण का विषय बनाया है। उन्होंने उपन्यास में गोंड-जीवन और उनकी विशेषताओं का सूक्ष्म निरीक्षण प्रस्तुत किया है।

आंचलिक उपन्यासों को यथार्थवादी उपन्यासों की परम्परा में रखा जा सकता है। इनमें आंचलिक जीवन का यथार्थ चित्रण होता है। लेखक वर्ण्य जनपद के सम्पूर्ण सुख-दुःख, समूचे राग-विराग को भोगकर प्रत्यक्ष चित्र प्रस्तुत करता है। यथार्थ का यह आग्रह रांगेयराघव के 'कब तक पुकारूँ' में पूर्ण रूप से मिलता है। वर्ग-संघर्ष को उपन्यासकार ने उभारा है। दरिद्र और छोटी जातिवालों पर धनी और ऊँची जाति के लोगों के अत्याचार उपन्यास में भरे पड़े हैं। लेखक ने उत्पीड़ित और शोषित खानाबदोश करनटों के आर्थिक शोषण और उससे उत्पन्न उनके सामाजिक-नैतिक विश्वासों को सही-सही (उनकी सभी कुरूपताओं के साथ) प्रकट करने का प्रयत्न किया है। इनकी स्त्रियों के साथ उच्चवर्ग बलात्कार करता है, पुलिस इनको पकड़कर पीटती है और नाना प्रकार के अत्याचार करती है। सुखराम करनट (कथानायक) पागल की भाँति उत्तेजित होकर एक स्थल पर कहता है—

"...... हम नट है। हमारे पास कुछ नहीं। हम जुआरी, चोर, उचक्के, बेईमान, कमीने, धोखेबाज, झूठे हैं। हमारी औरतें कुतियों की तरह रहती है। ये सिपाही, ये बड़े लोग उन्हें बीमारी देते हैं। फिर वे औरतें वे ही बीमारी हमें देती है। फिर हम मरते हैं। मरते वक्त गुस्सा आता है तो कत्ल तक करते हैं। हम कभी किसी का भला नहीं कर पाते, हमें मौका मिलता है तो हम लोगों को ठगने का जतन करते हैं। जो भूखों मरते हुए किसान हैं, वे भी हमसे सुखी हैं। उन्हें बोहरा

१. "...इनकी कोई नैतिकता नहीं होती। इनमें मर्द औरत को वेश्या बनाकर उसके द्वारा धन कमाते हैं। ज्यादातर ये लोग चोरी आदि करते हैं। और ढोल मढ़ना, हिरन की खाल बेचना इनका काम है। इनकी औरतें डोमिनयों की तरह नाचती हैं।...वहाँ कोई बुराई 'सेक्स' के आधार पर नहीं मानी जाती। वे लोग हिन्दुओं के देवी-देवताओं को मानते हैं।...नटों में छुआछूत चलती है, करनटों में नहीं।...सँपेरों की तरह इनमें भी शादी में ब्राह्मण नहीं बुलाया जाता।...

नट हिन्दू ही है। वे मुसलमानों के हाथ का नहीं खाते, पर करनटों में ऐसी रुकावट नहीं है। वे गोश्त भी खाते हैं, शराब भी पीते हैं, खतरनाक भी होते हैं।...

पुराने जमाने में यहाँ के करनटों की हर लड़की जब जवान होती थी, तो पहले उसे ठाकुरों के पास रात बितानी पड़ती थी।..."

'कब तक पुकारूँ,' द्वितीय संस्करण १९६०, भूमिका।

२. "मैंने इनकी नैतिकता को समाज का आदर्श बनाकर प्रस्तुत नहीं किया है। बल्कि पाठकों को इसमें 'सेक्स' को ऐसी जानकारी के रूप में हासिल करना चाहिये कि यह इनमें होता है।"—वही, भूमिका।

नोचता है, वकील ठगता है, पुलिस खाती है, सब चूसते हैं, पर हम बेघरबार कुत्ते की तरह घूम-घूमकर जूठन खाने को अपनी आज़ादी कहते हैं।……[१]।"

इस प्रकार लेखक ने इन उत्पीड़ितों और शोषितों की दुर्दशा, इनके सामाजिक नियम और नैतिक विश्वास के प्रति संवेदना जगाने का प्रयत्न किया है।

'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' के लेखक ने भी अपने अंचल के निवासियों की प्रत्येक धड़कन सुनने की चेष्टा की है। उसने उस अंचल की सुन्दरता-असुंदरता, गरीबी-अमीरी—सब कुछ का यथातथ्य—हू-बहू चित्र खींचने का प्रयास किया है।[२] किन्तु यथार्थवादी होते हुए भी रेणु आदर्शवादी संस्कारों से मुक्त नहीं हो सके हैं। इसीलिए 'कब तक पुकारूँ' रेणु के उपन्यासों की तुलना में अधिक यथार्थवादी है। हिन्दी के लगभग सभी आंचलिक उपन्यासों में स्थानीय-भाषा और बोलियों के प्रयोग बहुलता के साथ हुए हैं। विशेष रूप से रेणु ने स्थानीय भाषा का बेलगाम प्रयोग किया है। कुटाई-पिसाई, गोंइठा, बतियाना, अकुताना, किरिया, टूअर, भकर-भकर आदि ग्रामीण शब्दों के अतिरिक्त अंग्रेज़ी के बिगड़े हुए शब्दों का (जिनका रूप गाँवों में बिगड़ गया है) उसी रूप में प्रयोग हुआ है, जैसे—डिस्टीबोट, कनकसन, मोलटियरी, डागडर, बिलेक, जेहल, लचकर, मिटिन, पुलोगराम आदि। इसके अतिरिक्त इन उपन्यासों में ग्रामीण मुहावरे और लोकोक्तियों का भी प्रचुरता से प्रयोग हुआ है। हिन्दी के आंचलिक उपन्यासौं के सन्दर्भ में यह भाषा की समस्या सबसे जटिल है। इन उपन्यासों की भाषा दूसरे दूर-प्रान्तों के हिन्दी-पाठकों के लिए एक कठिनाई उपस्थित करती है। इन उपन्यासों के अनुवाद की भी समस्या जटिल है। तमाम टिप्पणियों के बावजूद दूसरी भाषाओं में इन उपन्यासों के अनुवाद मूल भाव व्यक्त न कर सकेंगे। उपन्यास में स्थानीय भाषा का प्रयोग वहीं तक उपयोगी हो सकता है जहाँ तक उपन्यास की स्पष्टता एवं सरसता बनी रहे। केवल जनपदीय भाषा का व्यवहार ही अलम् नहीं है। भाषा स्थानीय संस्कृति को उभारने का साधन हो सकती है। किन्तु उपन्यास को शब्दों का अजायबघर नहीं बनाया जा सकता। आँचलिक उपन्यासों में 'कब तक पुकारूँ' की भाषा अन्य उपन्यासों से भिन्न है। उसमें भाषा-सम्बन्धी-दुरूहता नहीं है।

हिन्दी के आँचलिक उपन्यासों में बिखराव अधिक प्राप्त होता है। इस बिखराव के कारण उपन्यासकार किसी व्यापक कथा और महान् चरित्र की सृष्टि नहीं कर पाता। रेणु अपने दोनों ही उपन्यासों ('मैला आँचल' और 'परती परिकथा') में किसी एक व्यापक कथा और महान् चरित्र की सृष्टि नहीं कर सके हैं। घटनाओं के आधिक्य के कारण कथा में असंबद्धता और नीरसता आ गई है। केवल कुछ बिखरे चित्र मिलते हैं। दोनों ही उपन्यासों में चरित्र संख्या में बहुत अधिक है।

---

१. 'कब तक पुकारूँ,' द्वितीय संस्करण १९६० ई०, पृ० ३७१-७२।

२. "इसमें फूल भी है शूल भी, धूल भी है गुलाल भी, कीचड़ भी है चन्दन भी, सुन्दरता भी है कुरूपता भी…मैं किसी से भी दामन बचाकर निकल नहीं पाया।" रेणु : 'मैला आँचल', पहले संस्करण की भूमिका से

चरित्रों के सम्बन्ध में यही हालत 'बहती गंगा' में भी है। 'सागर लहरें और मनुष्य' का कथानक भी कमजोर है। यह जगह-जगह जोड़ा हुआ और अस्वाभाविक लगता है।

आँचलिक उपन्यासों में अपने अंचल का मोह प्रबल होने से उपन्यासकार की दृष्टि के संकुचित होने का खतरा बराबर रहता है। कलाकार की दृष्टि व्यापक होनी चाहिए। केवल आँचलिक उपन्यास होने से ही उसका मूल स्वर भी सीमित नहीं हो जाता। अन्य उपन्यासों की भाँति इनमें भी मानव-मूल्यों और युगीन-संघर्षों का यथार्थ चित्रण होना चाहिए। परिवेश का चित्रण साधन रूप में ही हो सकता है। आंचलिक उपन्यास कोई भूगोल नहीं हो सकता। वस्तुतः आंचलिक उपन्यासकार की दृष्टि सृजनात्मक है। वह आंचलिक समस्याओं का चित्रण करते हुए एक नये समाज की रचना करना चाहता है। समाज के घातक तत्वों को निर्मूल कर नव-निर्माण की प्रेरणा उसका उद्देश्य है। इस प्रकार आंचलिक उपन्यासों का उद्देश्य गम्भीर और सामाजिक है। इनकी सफलता जन-जीवन की सच्ची किन्तु महान् कथा कहने में है। जो उपन्यास गाँव के नाच-गाने, त्योहार तथा अन्य आंचलिक दृश्यों को बिना किसी महान् आधार के प्रस्तुत करेगा वह समर्थ नहीं कहा जा सकता।

ऊपर गिनाई गई कुछ कमजोरियों के बावजूद हिन्दी में आंचलिक-उपन्यासों का भविष्य आशाप्रद है। आजकल हिन्दी में आंचलिक उपन्यास बहुत लिखे जा रहे हैं। निस्सन्देह वस्तु और शिल्प दोनों ही दृष्टियों से आँचलिक-उपन्यासों ने हिन्दी-उपन्यास-साहित्य को समृद्ध किया है।

डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

हिन्दी में रेखाचित्र और रिपोर्ताज

हिन्दी की अपेक्षाकृत कम प्रचलित विधाओं में संस्मरण, रेखाचित्र, रिपोर्ताज, यात्रा-साहित्य, आदि को अधिक महत्त्व प्राप्त नहीं हो सका। वस्तुतः प्राचीन साहित्य में काव्य को जिस प्रकार सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त था, और उसी को लेकर सिद्धान्तों का जिस प्रकार निर्माण हुआ, उसी प्रकार हिन्दी ही नहीं, अन्य भारतीय भाषाओं में भी काव्य और तत्पश्चात् कथा को ही अधिक जनप्रियता प्राप्त हुई। आज भी यही स्थिति है। हिन्दी की सिद्धान्तवादिता अधिकांशतः 'काव्य' को आधार बनाकर प्रस्तुत होती रही है अथवा इधर कथा-उपन्यास की चर्चा अधिक हो रही है। गोष्ठियों, परिसंवादों और विशिष्ट व्याख्यानों में भी काव्य और कथा का ही ऊहापोह अधिक होता है, स्वभावतः अन्य विधाओं के लेखक उपेक्षित अनुभव करते हैं और इन विधाओं को साधारण-प्रतिभाएँ ही प्राप्त हो पाती हैं। कभी-कभी अन्य विधा-विशेषज्ञ इन अप्रचलित विधाओं में भी कुछ लिख देते हैं किन्तु हिन्दी में इन विधाओं में अभी तक गंभीर प्रयत्न नहीं हुए हैं। आलोचना की एक भी अच्छी कृति इन विधाओं पर अभी तक प्रस्तुत नहीं हो

सकी है, फलतः यदि इन विधाओं के लेखक यह कहते हैं कि हिन्दी में कवि, कथाकार और आलोचक अन्य विधाओं का विकास नहीं देखना चाहते तो इस आरोप में सत्य का अंश अवश्य है।

एक दृष्टि से किसी साहित्य की समृद्धि और व्यापकता का पता इस तथ्य से चलता है कि उसमें कितनी विधाओं में उच्चतम कोटि का साहित्य विद्यमान है और यह भी कि उसके साहित्यशास्त्र या सैद्धान्तिक आलोचना में व्याप्ति कहाँ तक है? हिन्दी का रससिद्धान्त पण्डितों के द्वारा अभी तक इतना व्यापक नहीं बन पाया है कि उसके द्वारा इन कम प्रचलित विधाओं का परीक्षण हो सके। अतः अप्रचलित विधाएँ हमारे सम्मुख इस प्रकार की कुछ चुनौतियाँ प्रस्तुत करती हैं। सिद्धान्त-शास्त्र केवल सारतत्त्व (essence) पर ही आधारित होकर नहीं चल सकता क्योंकि वह दर्शन की तरह केवल 'मूलतत्त्व' पर विचार का अभ्यस्त होने के कारण सन्दर्भहीन और सतही बन जाता है।

सारतत्त्ववादी दृष्टि से साहित्यमात्र की विशिष्टता अनुभूति और भाव की कलात्मक अभिव्यंजना है। स्पष्टतः इस महाव्याप्ति में रेखाचित्र-रिपोर्ताज भी आ जाते हैं किन्तु इससे साहित्येतर और साहित्य का भेद प्रस्तुत हो जाने पर भी कुछ भी स्पष्ट नहीं होता। वस्तुतः प्रत्येक विधा अपने मूल में एक जीवन-दृष्टि—एक परिप्रेक्ष्य छिपाए रहती है। वास्तविकता के 'चित्रण' में परिपेक्ष्य से चित्रण-विविधता आती है, अतः काव्य, कथा, नाटक से रेखाचित्र-रिपोर्ताज-संस्मरण आदि में जो चित्रण-वैविध्य है, उसका कारण लेखक का परिपेक्ष्य-परिवर्तन है। स्वयं रेखाचित्र और रिपोर्ताज आदि के मध्य इस परिपेक्ष्य-अनुवेध को देखा जा सकता है और केवल इसी आधार पर इनकी विशिष्टताओं और भेदों को समझा जा सकता है अतः काव्य-रूप की समस्या मात्र बाह्य विभाजन नहीं है, अपितु विधास्थित दृष्टि या परिप्रेक्ष्य का अनुसन्धान है।

कम प्रचलित विधाओं और काव्य-कथा-नाटक में मुख्य अन्तर यह है कि उपन्यास, काव्य आदि की तुलना में रेखाचित्रादि वस्तु-सम्पूर्णतावादी दृष्टि लेकर नहीं चलते। महाकाव्य और महानाटक तथा उपन्यासों में वास्तविकता को उसकी पूर्णता में बिम्बित-चित्रित किया जाता है जबकि रेखचित्रादि में एक स्थान पर स्थित होकर Positional वस्तु या व्यक्ति को देखा जाता है। रेखाचित्रादि व्यक्तिगत जीवन समष्टिगत जीवन की सभी धाराओं, सभी कालक्रमों और सभी प्रश्नों-समाधानों एवम् प्रवृत्तियों को नहीं देख सकते अतः सत्य और तथ्य की सांगोपांगता (Totality) इन विधाओं में नहीं मिलती। कम-से-कम हिन्दी की अपेक्षाकृत अप्रचलित विधाओं के विषय में यह कथन सही लगता है।

दृष्टि के अतिरिक्त दृष्टिप्रेरक तत्त्वों—मनोवेगों, उद्देश्यों और भावावेगों (Impulses) की मात्रा, विस्तार और गम्भरता की दृष्टि से भी अप्रचलितविधाओं और काव्य-कथादि में अन्तर उपस्थित हो जाता है। रेखाचित्रादि में लेखक की सम्पूर्ण-चेतना (Total Consciousness) समाविष्ट नहीं हो पाती, शायद इसीलिए इन्हें साहित्यकार उतना महत्व नहीं देना चाहते। परन्तु इसीलिए इनका विशिष्ट महत्त्व भी

सिद्ध होता है क्योंकि समुद्र के अतिरिक्त सुन्दर सरोवरों, लघु वीचिविलासमय सरिताओं और किसी प्रस्तर या पल्लव पर चमकती एक बूंद का भी अपना अद्वितीय सौन्दर्य होता है। शायद 'लघु' हमारे जीवन के अधिक निकट प्रतीत होता है अतः 'उदात्त' तत्त्व का अभाव होने पर भी ये लघुविधाएँ परिचित संसार का परिचित पद्धति पर आलेखन करती हैं। अपने अस्तित्त्व की नम्रता और लघुता समझकर भी ये विधाएँ साहित्य और जीवन को एक अपनत्व देती हैं। पराएपन का अभाव, आतंक का अभाव और अधिक मेधागत—कल्पनागत ऊहापोह का अभाव इनकी उपलब्धि है।

कम प्रचलित विधाओं में संस्मरण, रेखाचित्र और रिपोर्ताज परस्पर निकटतम विधाएँ हैं। संस्मरण में भावात्मकप्रियता अधिक कार्यरत रहती है, उदाहरणतः पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी की 'संस्मरण' नामक पुस्तक में पंडित श्रीधर पाठक आदि पर लिखित संस्मरणों 'प्रियता' और पसन्दगी लेखक के चित्त को वर्ण्यव्यक्ति की उन जीवन-स्थितियों पर केन्द्रित कर देती है, जो उसे प्रिय हैं, पसन्द हैं। अतः संस्मरणों को पढ़ते समय लेखक के व्यक्तित्व का भी अध्ययन होता चलता है। हिन्दी में ऐसे संस्मरण बहुत कम मिलते हैं, जिनमें स्मर्यमाण व्यक्ति का 'तटस्थ' स्मरण किया गया हो। इसका कारण यह है कि दिवंगत व्यक्तियों के विषय में भारतीय धारणा अप्रिय पक्षों की चर्चा को मृतात्मा के प्रति असम्मान समझती है। राग-द्वेष से रहित 'शव' को यहाँ परम पवित्र माना गया है और जो उपस्थित नहीं है, उस व्यक्ति की संज्ञा 'शव' है। 'शव' के प्रति सम्मान-पूर्ण दृष्टि का अर्थ यह है कि व्यक्ति पूर्ण नहीं होता, कोई कृति पूर्ण नहीं होती। अतः जीवन्त तत्त्वों में सहायक पक्षों और मूल्यों का स्मरण ही विधेय है। प्राचीन काल से 'परम्परा' के प्रति जो यह दृष्टि रही है, वही संस्मरण लिखते समय लेखक के मन में समाई रहती है अतः भारतीय संस्मरणों में शुभ पक्षों का ही उद्घाटन अधिक होता है, जानने पर भी कुत्सित पक्षों का उल्लेख अवांछनीय माना जाता है।

रेखाचित्र संस्मरणों से अधिक तटस्थ अंकन है। 'रेखाचित्र' शब्द से तो लगता है कि इस विधा में केवल व्यक्ति या वस्तु या स्थान का शब्दचित्र रहता है। मूलतः यह चित्रकला के क्षेत्र की प्रवृत्ति है जहाँ रेखाओं द्वारा व्यक्ति या वस्तु का आभास प्रस्तुत किया जाता है। रेखाओं के चित्र में रंग अनावश्यक होते हैं, इसी तरह शब्द के माध्यम से अंकित चित्रों में भाव की ऊष्मा अनावश्यक है। किन्तु रेखाओं से चित्र बनाते समय व्यक्ति या वस्तु के प्रति—एक उन्मुखता आवश्यक है, उसी प्रकार साहित्यिक रेखाचित्र में व्यक्ति या वस्तु के प्रति एक राग-उन्मुखता अनिवार्य तत्त्व है। बाह्याकृति अंकन के लिए वर्ण्य-व्यक्ति या वस्तु में कोई विशिष्टता लेखक को आकर्षित करती है। यह विशिष्टता आकृतिगत ही नहीं, आचरणगत, अभ्यासगत (आदत सम्बन्धी), स्वभावगत और पद्धतिगत भी हो सकती है अतः प्रायः जीवन में प्रचलित और स्वीकृत प्रणालियों से भिन्न जब किसी व्यक्ति में कुछ विलक्षणता दिखाई पड़ती है तब वह रेखाचित्र के योग्य बनता है। "यह व्यक्ति अपने में एक 'कैरेक्टर' है, यह रेखाचित्र के योग्य है," —इस प्रकार के कथन प्रायः सुनाई पड़ते हैं। फिर भी साधा-

रण से साधारण व्यक्तित्व में कुछ अद्वितीयता होती ही है। प्रत्येक व्यक्ति इस अर्थ में अद्वितीय होता है और इस दृष्टि से एक सामान्य साँचे के भीतर ढला हुआ होने पर भी प्रत्येक व्यक्ति कुछ स्तरों पर विलक्षण होने के कारण रेखाचित्र का विषय बन सकता है। उपन्यासों, कथाओं में रेखाचित्रों का बहुत अधिक प्रयोग होता है। प्रत्येक उपन्यास के ये रेखाचित्रात्मक स्तर वर्णित वस्तु या व्यक्ति को वाणी देते हैं। रेखाचित्र द्वारा वस्तु और व्यक्ति सवाक् हो उठते हैं, उनकी असाधारणता स्पष्ट होती है अतः रेखाचित्र प्रचलित और स्वीकृति साँचों के मध्य व्यक्ति के गौरव का, सौन्दर्य और आकर्षण का, वैविध्य और महिमा का आकलन बन जाता है। रेखाचित्र यह सिद्ध करते हैं कि प्रत्येक अस्तित्व में सामान्य और विशिष्ट की एक संगति रहती है। इस प्रकार एक बहुत बड़ा सत्य रेखाचित्र लेखक अनजाने ही हमारे सम्मुख प्रकट करता है।

रेखाचित्र में उपर्युक्त 'तटस्थता' और 'उन्मुखता' की संगति जितनी ही अधिक होगी, उतना ही वह सफल होगा। 'तटस्थता' का अर्थ रुचि का अभाव नहीं है। 'तटस्थता' का अर्थ है कि हम 'व्यक्ति' को अपने साथ जुड़ी—निजताओं-परताओं से ऊपर उठकर—एक सौन्दर्यपरक दृष्टि से देख सकते हैं। इससे व्यक्ति की विलक्षणताएँ एक 'सौन्दर्य-विषय' के रूप में प्रस्तुत हो जाती हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि वर्ण्य वस्तु या व्यक्ति के प्रति हमारे मन में कोई राग नहीं होता। राग होता है पर वह आवेग या भावुकता बनकर रेखाचित्रण की स्थिति में हमें सम्मोहित नहीं कर देता। 'तटस्थता और उन्मुखता की सामान्य स्थितियों के भीतर रेखाचित्र लेखक की रुचियाँ, मूल्य और जीवन-दृष्टियाँ भी कार्यरत रहती हैं, उसका सौन्दर्यबोध भी संलग्न रहता है अतः एक ही व्यक्ति और वस्तु, स्थानादि पर विभिन्न प्रकार के रेखाचित्र मिलते हैं। विशाल भारत के 'शहीद अंक' में शहीदों पर लिखे गए रेखाचित्रों में वाह्याकृतियों के सम्पुञ्जन और आलेखन में यह 'दृष्टि' कार्यरत है कि शहीद महामानव थे; वे मानवता के उद्धारक तथा सवर्स्वहोमी थे अतः उनकी साधारण चाल-ढाल, रूप, हावभाव, चेष्टादि उनके विकट-कर्मों के परिचायक निर्देशों या चिह्नों का रूप धारण कर लेते हैं। ऐसा लगता है, जैसे यदि उनका रेखांकन भिन्न होता तो वे ऐसे विकट कर्मा नहीं हो सकते थे और यह सत्य है कि दृढ़ संकल्पी व्यक्ति की शरीर-रचना चाहे जैसी हो, उसकी चितवनि और चाल-ढाल में कुछ अजीब आकर्षण आ ही जाता है। गठन; गति से रूप पाता है। रेखाचित्र-इस वाह्य गठन आदि को ही अंकित करता है, वह 'गति' के साथ सम्बन्ध जोड़कर कारण-कार्य परम्परा अपनाकर विश्लेषण नहीं करता अतएव रेखाचित्र प्रतीतियों का अंकन है, ऐसी प्रतीतियों का, जिनके कारणों की चेतना रेखाचित्र लेखक के मन में होती है, पर वह उसकी व्याख्या नहीं करता। वह पुण्य अथवा परिणाम को देखता है। उसका ध्यान 'सृष्टि' पर है, इस तथ्य पर नहीं कि वह इस प्रकार की ही क्यों है, इससे अन्यथा क्यों नहीं है?

कुछ रेखाचित्र व्यक्ति या वस्तु की विलक्षणता के रोचक अंश पर ही अधिक ध्यान देते हैं, यथा सुरेशनाथ दीक्षित के 'पण्डित जी' में अथवा बाबू गुलाबराय के

'नापिताचार्य' में। कुछ लेखक व्यक्ति के भीतरी उपकरणों पर अधिक ध्यान देते हैं, यथा वृन्दावनलाल वर्मा के 'हलकू' में। यह स्पष्टतः 'दृष्टिभेद' है। कहीं केवल बाह्य-आकृतियों और प्रतीतियों का आकलन होता है जैसे भगवतशरण उपाध्याय के 'वो दुनिया' में। कुछ स्थान का शब्दचित्र प्रस्तुत करते हैं जैसे सुहृदय के 'राँची के प्रपात' तथा रासबिहारीलाल के 'खण्डहर बोलते हैं' में। यहाँ लेखक 'दृश्य' के साथ अपनी दृष्टि का तादात्म्य करता है, एक सौन्दर्यबोधात्मक-तटस्थता के साथ। मानवप्रेमी प्रवृत्तियों पर सर्वाधिक ध्यान देकर रेखाचित्र बनारसीदास चतुर्वेदी ने लिखे हैं, जैसे 'नवीन जी' पर उनका रेखाचित्र। यह स्मरणीय है कि संस्मरण और रेखाचित्र की विधाएँ एक-दूसरे में सन्निविष्ट होती चलती हैं। इन दोनों में भेदक तत्त्व सिर्फ़ भावात्मकता की मात्रा का है—संस्मरणों में भाव लेखक को पर्याप्त मात्रा तक अनालोचक बनाए रखता है, रेखाचित्र में उन्मुखता अथवा रागात्मक स्पर्श-मात्र से ही काम चल जाता है।

रेखाचित्र व्यंग्यमयी चित्रवृत्ति में भी लिखे जाते हैं और शस्त्रहीन सौन्दर्य-बोधक स्थिति में भी—ये दोनों स्थितियाँ एक ही दृष्टि में मिली भी रह सकती हैं। घोर शत्रुता की मानसिक स्थिति बनाकर, खिल्ली उड़ाने की मानसिक दशाओं में भी रेखाचित्र लिखे जा सकते हैं लेकिन ऐसी दशा में राग चित्रित व्यक्ति में न होकर किन्हीं लेखक की धारणाओं में प्रतिबद्ध होता है। मेरी जानकारी में हिन्दी में पूर्ण वैज्ञानिक स्थिति में लिखित रेखाचित्र एक भी नहीं मिलता। वस्तुतः रेखाचित्र मानव-प्रेमी विधा है, एक विशेष प्रकार की सहानुभूति और तादात्म्य इसके लिए अनिवार्य है। कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर ने साधारण जनों पर 'दीप जले, शंख बजे' कृति में अनेक रेखाचित्र प्रस्तुत किए हैं, यहाँ मानवीय सहानुभूति के कारण साधारण जन विशिष्टता प्राप्त करते हैं। रामवृक्ष बेनीपुरी के 'गेहूँ और गुलाब' में भी यही प्रवृत्ति है। बेढब बनारसी के 'उपहार' में हास्यरसात्मक शब्दचित्र हैं। हास्यरस के लेखकों के लिए रेखाचित्र के क्षेत्र में असीम सम्भावनाएँ हैं यों बेढब, काका, बरसानेलाल चतुर्वेदी, चोंच, कुल्हड़ आदि ने पद्यात्मक रेखाचित्र प्रस्तुत किए हैं और उनमें अनेक रोचक हैं!

रेखाचित्रों में चित्रण की प्रधानता होती है, संस्मरणों में विवरण अधिक होते हैं। संस्मरणों में प्रसंगों और कथाओं का प्रयोग होता चलता है। घटित का विवरण और उससे वर्ण्यव्यक्ति की विशिष्टता या उपलब्धि पर प्रकाश प्रक्षेपण-संस्मरण की प्रचलित विधि है जबकि रेखाचित्र में लंगड़ी शैली में, रूप अभिव्यक्तिकारक नपे तुले शब्दों का प्रयोग अधिक होता है अतः रेखाचित्र संस्मरण से कहीं अधिक बड़े कलाकार की अपेक्षा करता है। संस्मरण में वर्ण्यव्यक्ति के कृतित्त्व और महिमा का बल रहता है क्योंकि पाठक या श्रोता का ध्यान लेखक के विवरण से होता हुआ वर्ण्यव्यक्ति के गौरव या विशिष्टता का अनुसन्धान कर; उससे आकर्षित होता है और संस्मरण की दुर्बलता को वर्ण्यव्यक्ति की महत्ता दबा ले सकती है किन्तु रेखाचित्र में कलाकार की शब्दशक्ति पर रूप को स्पष्ट और सवाक् करने की क्षमता पर; पाठक या श्रोता का सीधा ध्यान रहता है। सफल से सफल संस्मरण लेखक वर्ण्य वस्तु या व्यक्ति को वह

गौरव नहीं दे सकता जिसके लिए यह वर्ण्य वस्तु या व्यक्ति अयोग्य होता है; हाँ; असफल संस्मरण लेखक वर्ण्य व्यक्ति की महत्ता को अस्पष्ट रख सकता है। अतः जिस सीमा तक असफल संस्मरण लेखक अपने विषय का गौरव घटा सकता है; सफल संस्मरण लेखक अपने प्रतिपाद्य का गौरव उसी सीमा तक बढ़ा नहीं सकता अतः सफलतम संस्मरणों में गोर्की का तालस्ताय पर लिखा संस्मरण इसलिए भी अधिक सफल हुआ है क्योंकि उसका विषय है तालस्ताय। अतः इस संस्मरण में हमें गोर्की और तालस्ताय दोनों प्रभावित करते हैं। साधारण व्यक्तियों पर लिखित संस्मरणों में गोर्की उतना प्रभावित नहीं कर सके। रेखाचित्र जब किसी प्रसिद्ध और पूर्व से ही मन में बसे व्यक्ति पर लिखा जाता है, तथा उसे भी यह उक्त सुविधा मिल जाती है किन्तु साधारण व्यक्तियों पर लिखे रेखाचित्रों और संस्मरणों में रेखा चित्रकार का कार्य अधिक कठिन है।

पद्मसिंह शर्मा और श्रीराम शर्मा के क्रमशः 'पद्मपराग' और 'बोलती प्रतिमा' में वह शब्दशिल्प नहीं मिलता जो बेनीपुरी की 'माटी की मूरतें' और प्रकाशचन्द्र के 'मिट्टी के पुतले' और 'पीपल', 'खण्डहर' आदि में मिलता है। विशेषकर बेनीपुरी के रेखाचित्र अधिक सफल हुए हैं क्योंकि वहाँ विषय के लिए शब्द का बिम्बपरक चुनाव किया गया है। यह शब्दचयन जितना अधिक वास्तविकता के सदृश होगा अर्थात् वस्तविकता की अनुरूपता का वह जितना अधिक आभासक होगा, उतना ही रेखाचित्र अधिक सफल होगा। मछिन्द्रनाथ की 'घास वाली' हर्षदेव के 'पण्डित पातेप्रसाद' आदि में वह शब्द अंतर्दृष्टि नहीं मिलती जो बेनीपुरी की 'गेहूँ और गुलाब' और 'माटी की मूरतें' में मिलती है। प्रकाशचन्द्र गुप्त ने निर्जीव वस्तुओं यथा 'लैटर बक्स' 'तोता का ताल' 'दिल्ली दरवाजा' आदि को अपने शब्दचित्रों से अमर कर दिया है। इसका कारण लेखक की निर्जीव वस्तुओं में भी जान डाल देने की क्षमता है जो वस्तुओं में अपनी चेतना-प्रेक्षण की क्रिया है। विस्तृत हृदय का व्यक्ति ही यह चेतनादान कर सकता है, यह दृष्टि स्पष्टतः प्रकाशचन्द्र गुप्त को प्रगतिवादी मानववाद से मिली है और बेनीपुरीजी को समाजवादी मानववाद से; जबकि बाबू गुलाबराय को 'पराई पीर' समझने वाली वैष्णवता से और पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी को उनकी प्रिय अराजकतावादी उदात्त व्यक्तिधारणा और मानवप्रेम से मिली है। यह प्रेम वस्तुओं तक फैलकर उन्हें जीवन्त रूपों के विच्छुरण की शक्ति देता है और दूसरी ओर यही प्रेम किसी व्यक्ति या वस्तु पर केन्द्रित होते ही लेखक की चेतना में सार्थक शब्दों को उसी तरह उभारता है जैसे मंथन दुग्ध से नवनीत को जन्म देता है, अतः संस्मरणों और रेखाचित्रों में हिन्दी की यह मानव प्रेमी प्रवृत्ति ही परिलक्षित हुई है।

यात्रा साहित्य और संस्मरण कही जाने वाली कृतियाँ वस्तुतः रेखाचित्रों की भी उदाहरण बन जाया करती हैं क्योंकि प्रायः हिन्दी लेखकों में संस्मरण लिखते समय पहले या मध्य में रेखाचित्र प्रस्तुत करने की एक परम्परा ही दिखाई पड़ती है। इस दृष्टि से अरे यायावर रहेगा याद, एक बूंद सहसा उछली (अज्ञेय), ठेले पर हिमालय (धर्मवीर भारती), सुबह के रंग (अमृतराय), नन्दन से लन्दन (ब्रजकिशोर नारायण) सागर की लहरों पर (भगवतशरण उपाध्याय) दूसरी दुनिया (अक्षयकुमार जैन)

आदि यात्रात्मक साहित्य में रेखाचित्र के अंश मिलते हैं। संस्मरणों में अतीत के चलचित्र, स्मृति की रेखाएँ (महादेवी) संस्मरण (बनारसीदास चतुर्वेदी), क्या गोरी क्या साँवरी, रेखाएँ बोल उठीं (देवेन्द्र सत्यार्थी) ज़जीरें और दीवारें (बेनीपुरी) जो न भूल सका, जो लिखना पड़ा (भदन्त आनन्द कौशल्यायन), पथचिह्न, परिव्राजक की प्रजा (शान्तप्रिय द्विवेदी), भूले हुए चेहरे, ज़िन्दगी मुस्कराई (प्रभाकर), साहित्यिक जीवन के संस्मरण (किशोरीदास वाजपेयी), मेरी असफलताएँ, कुछ उथले कुछ गहरे (गुलाबराय) स्मृति कण (सेठ गोविन्ददास), पहली सलामी (चतुरसेन), चाँद पत्रिका का फाँसी अंक, ज़्यादा अपनी, कम पराई (अश्क), आदि कृतियों में रेखाचित्र भरे पड़े हैं अतः रेखाचित्रों की दृष्टि से भी इनका उल्लेख आवश्यक है।

इसी प्रकार 'इण्टरव्यू'-साहित्य में भी रेखाचित्रात्मक अंश मिलते हैं, 'मैं इनसे मिला' (कमलेश) के अतिरिक्त पत्रपत्रिकाओं में प्रकाशित इण्टरव्यू-साहित्य विपुल-मात्रा में मिलता है, कथा और उपन्यासों में प्राप्त रेखाचित्रों का उल्लेख किया जा चुका है।

रेखाचित्रों की दृष्टि से बेनीपुरी, प्रभाकर, बनारसीदास चतुर्वेदी, और प्रकाशचन्द्र गुप्त का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है।

रिपोर्ताज़ हिन्दी की नवीन विधा है। संस्मरण और रेखाचित्र हिन्दी में आज़ादी के बहुत पूर्व लिखे जाने लगे थे लेकिन रिपोर्ताज १९४० के बाद ही लिखे गए। किसी घटना की रिपोर्ट के कलात्मक और साहित्यिक रूप को रिपोर्ताज कहा जाता है। किन्तु इसमें लेखक घटना का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करता है यों सुनी हुई घटना पर भी रिपोर्ताज़ लिखे जा सकते हैं। इस दूसरी विधि में घटना के 'होने' के काल का कल्पना और पूर्वानुभव से मानसिक प्रत्यक्षीकरण किया जाता है। द्वितीय महायुद्ध में इस विधा का विशेष विकास हुआ। इलिया एहरेनबुर्ग के रिपोर्ताज प्रसिद्ध हैं। हिन्दी में बंगाल के अकाल पर रांगेय राघव ने शक्तिशाली रिपोर्ताज़ लिखे थे। प्रकाशचन्द्र गुप्त, अमृत राय, प्रभाकर माचवे आदि ने भी रिपोर्ताज लिखे हैं। आकाशवाणी से मेलों, उत्सवों, क्रीड़ाओं, खेलकूद, जन्म-मरण आदि अवसरों पर जनसमूह की क्रिया-प्रतिक्रियाओं का क्षणपरक वर्णन प्रसारित होता है, यह रिपोर्ताज-साहित्य में ही सम्मिलित हो सकता है। इस प्रकार के रिपोर्ताज़ों में कुछ आकर्षक रिपोर्ताज प्रसारित हुए हैं, गांधी नेहरू और शास्त्रीजी की मृत्यु के अवसर पर प्रसारित रिपोर्ताजों में यदि करुणा-जनक दृश्यों का साक्षात्कार किया गया है तो पर्वों उत्सवों के विवरणों में हर्षोल्लास का। खेल-कूद के विवरण में उत्साह और विनोद की अभिव्यक्ति होती है। अभी यह साहित्य मात्रा में और गुणा में प्रारम्भिक स्थिति में ही है।

रिपोर्ताज में घटना का यथावत् वर्णन और लेखक का उत्साह ये दो मुख्य तत्त्व होते हैं। यहाँ भी लेखक किस दृष्टि से घटना को देखता है और उस 'होने' (becoming) को अपने 'स्व' से कैसे जोड़ता है, यह बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। मात्र होने की रिपोर्ट या तो पुलिस थाने में लिखी जाती है या अन्य अधिकृत सूचनाओं में। किन्तु घटना एक संकुलन प्रक्रिया है। व्यक्तियों के समूह घटना को जन्म देते हैं अतः उनकी

आशा-अकांक्षाएँ, उनकी चेष्टाएँ, सन्देह और निश्चय, पराक्रम और पलायन आदि सभी कुछ रिपोर्ताज में व्यक्त होते हैं। रेखाचित्र में लेखक एक सौन्दर्यबोधक तटस्थता बरतता है किन्तु रिपोर्ताज में—पक्षधरता ही अधिक व्यक्त होती आई है। रांघेयराघव के अकाल पर संस्मरणों में केवल भूख से तड़पते बंगाल के व्यक्तियों का ही शब्दचित्र नहीं है अपितु लाशों पर मँडराते गिद्धों—अन्न के लिए अस्मत बेचती नारियों, मुनाफ़ाखोर धन्नासेठों की लालचग्रस्त आँखों, अफ़सरों की लापरवाह मुखमुद्राओं और सरकार के दम्भों का भी जीताजागता चित्रण किया गया है और इन सारी घटनाओं को एक सूत्रता देने वाली दृष्टि है, लेखक की जनता के प्रति प्रीति। यदि रांघेयराघव की जगह कोई प्रतिक्रियावादी लेखक अकाल पर रिपोर्ताज लिखता तो वह भारतीयों के भाग्यवाद, अंगरेज़शाही की कठिनाइयों और उदारता आदि से विवरण में एकसूत्रता का कार्य लेता। इस प्रकार परिप्रेक्ष्य के प्रति पक्षधरता अथवा प्रतिबद्धता के बिना रिपोर्ताज में लेखक का उत्साह व्यक्त नहीं हो सकता।

रिपोर्ताज रूस में बहुत लिखे गए, विशेषकर द्वितीय विश्वयुद्ध के समय। वहाँ लेखकों को युद्ध के मोर्चों पर भेजा गया और वहाँ से उन्होंने युद्ध में रूसी जनता की वीरता और बलिदान का, युद्ध की भयंकरता और विनाश का जीवन्त चित्रण किया। भारत पर चीन और पाकिस्तान के आक्रमण के समय लेखकों को मोर्चे पर नहीं भेजा गया, कुछ चित्रकार बाद में अवश्य भेजे गए अतः स्वतन्त्रता के बाद रिपोर्ताज का यह स्वर्णिम अवसर निकल गया। निर्माण-कार्यों के स्थलों पर भी रिपोर्ताज नहीं लिखवाए गए। खेद का विषय है कि इधर अब भी ध्यान नहीं दिया जा रहा है।

रिपोर्ताज वस्तुगत सत्य को प्रभावशाली बनाता है, उसका सम्बन्ध सिर्फ़ वर्तमान से होता है किन्तु उसका लेखक वर्तमान के उस बिन्दु पर होता है, जिसमें भूतकालीन मूल्य और भावनाएँ रहती हैं और भविष्य के प्रति उत्कट लालसा भी। अतः रिपोर्ताज में सर्वत्र एकहरा वर्णन नहीं होता। इनमें लेखक की गूढ चेतना से उछलते हुए और अपने में चिन्तन और अनुभव से संवलित शब्द और वाक्य अनायास ही सम्मिलित होते चलते हैं और साथ ही आमूलचूल स्पंदित भावकण क्षण-प्रतिक्षण घटने वाली वास्तविकता को मानवीय सन्दर्भ देते चलते हैं। कभी लेखक 'हाने' का क्षण-क्षण परिवर्तित-रूप आकलित करता है तो कभी उस होने में 'पूर्व' और 'पर' को जोड़कर उसे एक काल प्रवाह में रखकर देखता है; कभी उस 'होने' की प्रक्रिया के उपकरणों और व्यक्तियों पर नज़र डालता हैं तो कभी घटना और मनुष्य की नियति पर विचार करता है अतः रिपोर्ताज-साहित्य क्रिया के क्रम में स्थित होकर रचित साहित्य है। रिपोर्ताज का लेखक घटना का स्वयं अंश है और उसका द्रष्टा भी है। वह मात्र सिंहावलोकन नहीं करता, न वह चित्रकार की तरह दूर से दृश्य को देखता है, वह घटना का साक्षात् भोक्ता बनता है। अकाल में रांगेयराघव का लेखक भूखे के साथ भूख की पीड़ा से तड़पता है, दो मुट्ठी अन्न पाकर वह 'उस' भोजन के आनन्द की कल्पना को अनुभव में बदलता है। इसी तरह युद्ध में रिपोर्ताज लेखक मारने वाले के साथ मारता है और मरने वाले के साथ मरता है। अतः रिपोर्ताज में लेखक घटना

और द्रष्टा के मध्य की दूरी को अपने माध्यम से समाप्त कर देता है और विरोधाभास यह कि फिर भी वह एक स्तर पर तटस्थ रहता है। वह चन्द्रवरदाई की तरह द्रष्टा भी है और भोक्ता भी, लेखक भी है और मरजीवा भी। बिना कल्पना को अनुभव में बदले सफल रिपोर्ताज नहीं लिखे जा सकते और साथ ही अनुभव को कल्पना में पकाए बिना भी वह रिपोर्ताज का सफल लेखक नहीं बन सकता।

इस प्रकार रेखाचित्र की तटस्थता का विगलन और साथ ही रेखाचित्रक की तटस्थता रिपोर्ताज के अनिवार्य तत्त्व हैं। रिपोर्ताज में कल्पना, भाव और बुद्धि सर्वाधिक रूप में सक्रिय रहते हैं अतः यह विधा साहित्य की सबसे अधिक क्रियापरक विधा है जैसे एक ही व्यक्ति में ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों एक साथ क्रियारत हों और फिर भी एक स्तर से 'परमब्रह्म' की तरह लेखक अपनी चेतना के इन तीनों सक्रिय आयामों को साथ-साथ देखता चल रहा हो।

ऐसी सक्रिय विधा में शब्द उसी प्रकार त्वरा पकड़ते हैं जैसे स्वचालित बन्दूक से निकलने वाली गोली। यह स्वयंचलित प्रक्रिया रिपोर्ताज लेखन के समय उपयुक्त शब्दों को स्वतः चेतना में अवतरित कर देती हैं क्योंकि शब्दशिल्प के लिए वरण और चयन का समय रेखाचित्र-संस्मरण आदि में मिल सकता है, रिपोर्ताज में नहीं। अतः यहाँ सरस्वती जैसे विद्युत आघात पा जाती है और लेखक के मुख या लेखनी से बाह्य प्रत्यक्ष घटना विद्युत की तरह झटके दे-देकर उसका श्रेष्ठ रचनात्मक तत्त्व खींचकर बाहर निकाल लेती है। इस प्रकार रिपोर्ताज में ध्यान, धारणा, कल्पना और भाव की 'गति' में समन्विति होती है जबकि रेखाचित्र में इन सबकी संगति 'स्थिरगति' में होती है। रेखाचित्र में लेखक की चेतना का चमत्कार मिलता है, रिपोर्ताज में क्रिया और लेखक पर उसकी तीव्रतम प्रतिक्रिया इन दोनों का। अतः रिपोर्ताज क्रिया का सौन्दर्य है, संस्मरण क्रिया और व्यक्तित्व के स्मरण का सौन्दर्य है और रेखाचित्र बाह्याकृतियों और चेष्टाओं की पुनर्प्रस्तुति का सौन्दर्य है।

रेखाचित्र और रिपोर्ताज के क्षेत्रों में लेखकों की सफलता की असीम सम्भावनाएँ विद्यमान हैं। काव्य, कथा और आलोचना के वशीभूत हिन्दी लेखन यदि इन कम प्रचलित विधाओं को भी आवश्यक समय और शक्ति दे तो न केवल हमारा साहित्य जीवन के अधिक निकट पहुँच सकेगा अपितु हिन्दी का साहित्यचिन्तन जिस संदेहवाद और निरर्थकतावाद से पीड़ित हो रहा है, उससे भी उसे मुक्ति पाने में मदद मिलेगी। अप्रतिष्ठित या कम प्रतिष्ठित विधाओं को प्रतिष्ठित करने की प्रक्रिया में लेखकों को भी प्रतिष्ठित होने का अवसर मिलेगा और साथ ही हिन्दी की भागीरथी का प्रवाह भी विस्तृत होगा। आशा है लेखक बन्धु इधर ध्यान देंगे।

डॉ० विजयेन्द्र स्नातक

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-अनुसंधान : सीमाएँ और संभावनाएँ

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-अनुसंधान-कार्य का आकलन करने से पहले मैं हिन्दी-शोध के इतिहास का सिंहावलोकन आवश्यक समझता हूँ। आधुनिक युग का एकेडेमिक शोध कार्य पश्चिम के विश्वविद्यालयों की देन है, विशेष रूप से उपाधि सापेक्ष अनुसंधान तो बहुत कुछ पश्चिम के अनुकरण पर ही विकसित हुआ है। जिस प्रकार ज्ञान-विज्ञान के अन्य क्षेत्रों में हम पश्चिम का अनुकरण आधी शताब्दी बाद करते हैं उसी प्रकार साहित्यिक शोध में भी हम पश्चिम से लगभग एक शताब्दी पिछड़े हुए हैं। हिन्दी में उच्चस्तरीय अध्ययन-अध्यापन का प्रारम्भ ही सन् १९२२ से हुआ था अतः अनुसंधान का उसके दस वर्ष बाद अर्थात् सन् १९३२ से प्रारम्भ होना कुछ अस्वाभाविक नहीं है। यों तों हिन्दी भाषा और साहित्य से सम्बद्ध विषयों पर विदेशी विद्वानों ने सन् १९११ से ही अनुसंधान कार्य प्रारम्भ कर दिया था। प्रसिद्ध प्राच्य विद्या विशारद डॉ० टेस्सीटोरी ने रामचरित मानस और रामायण का अध्ययन प्रस्तुत कर अपनी शोध-वृत्ति का अच्छा परिचय दिया था। तदनन्तर लंदन विश्वविद्यालय में जे० एन० कारपेंटर, एफ० ए० के तथा मोहिउद्दीन कादरी ने क्रमशः तुलसीदास, कबीर और हिन्दुस्तानी ध्वनि पर शोधकार्य किया। इन चारों प्रबन्धों को हम हिन्दी अनुसंधान के सूत्रपात्र करने वाले मौलिक ग्रन्थ मान सकते हैं।

भारतवर्ष में संस्कृत विभाग के अन्तर्गत लिखा गया हिन्दी-विषयक प्रथम शोध प्रबन्ध डॉ० बाबूराम सक्सेना का 'अवधी का विकास' शीर्षक ग्रन्थ है। हिन्दी विभाग के अन्तर्गत लिखा गया हिन्दी का सबसे पहला शोध-प्रबन्ध सन् १९३४ में डॉ० बड़थ्वाल का था जो हिन्दी के निर्गुण काव्यधारा का अनुसंधान प्रस्तुत करता है। इसी वर्ष कोनिग्सवर्ग विश्वविद्यालय से सूरदास के काव्य पर तथा पेरिस विश्वविद्यालय से 'ब्रजभाषा' पर डा० धीरेन्द्र वर्मा ने शोध प्रबंध प्रस्तुत किए। ये सभी प्रबंध हिन्दीतर भाषाओं में लिखे गए थे किन्तु इनके विषय हिन्दी भाषा और साहित्य से सम्बद्ध थे।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व काशी, प्रयाग, पंजाब, आगरा, कलकत्ता, पटना और लखनऊ विश्वविद्यालयों में शोधकार्य का श्रीगणेश हो गया था। इन आठ विश्वविद्यालयों में तथा विदेशी विश्वविद्यालयों में कुल मिलाकर सन् १९११ से सन् १९४८ तक ३८ शोध-प्रबंध लिखे गए अर्थात् सानुपातिक दृष्टि से एक वर्ष में एक शोध प्रकाश में आया। इन शोध प्रबंधों की समीक्षा करना इस समय अनावश्यक है किन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि इन अड़तीस प्रबंधों में से पच्चीस प्रबंध ऐसे हैं जिन्हें हिन्दी-अनुसंधान की दृष्टि से श्रेष्ठ कहा जा सकता है।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी अनुसंधान का प्रारम्भ यदि सन् १९४८ से माना जाए तो सन् १९६५ तक सत्रह वर्षों में उपाधि सापेक्ष प्रबंधों की संख्या चालीस गुनी है।

अर्थात् सानुपातिक दृष्टि से प्रतिवर्ष सैंतीस शोध-प्रबंधों पर उपाधि प्राप्त हुई है। जब कि स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले अड़तीस वर्षों में अड़तीस—प्रतिवर्ष केवल एक-शोध-प्रबंध पर उपाधि मिली थी। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि हिन्दी में अनुसंधान की प्रगति स्वातंत्र्योत्तर-काल में ही हुई है। इस समय तक हिन्दी के स्वीकृत शोध-प्रबंधों की संख्या छह सौ है और लगभग पन्द्रह सौ विषयों पर शोध-कार्य हो रहा है। शोध की इस विपुल संख्या को देखकर कई प्रश्न हमारे सामने आते हैं जिन पर हम आगे की पंक्तियों में विचार करेंगे। किन्तु मूलभूत दो कारणों का संकेत करना यहाँ अनुचित न होगा। पहला कारण है अनुसंधान की वैज्ञानिक प्रक्रिया का विकास तथा दूसरा कारण है विश्वविद्यालयों की संख्या में वृद्धि। सम्प्रति भारतवर्ष के २८ विश्वविद्यालयों एवं शोध-प्रतिष्ठानों में हिन्दी शोध-कार्य हो रहा है जबकि स्वतंत्रता-पूर्व केवल ८ विश्वविद्यालयों में शोध की सुविधा थी। शोध की प्रविधि और प्रक्रिया भी पहले की अपेक्षा विकसित हुई है और शोध-छात्र उससे लाभान्वित हो रहे हैं।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-शोध के क्षेत्र में हुई इस क्रान्तिकारी प्रगति को भली-भाँति समझने के लिए कतिपय स्थूल तथ्यों की ओर मैं पाठक का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। पहली बात जो सभी क्षेत्रों में चर्चा का विषय बनी हुई है वह है शोध का स्तर। शोध का स्तर गुणवत्ता से आँका जाता है, परिमाण से नहीं। गुणवत्ता के सम्बन्ध में हिन्दी-शोध के निर्देशकों के मत-सम्मत बहुत निराशाजनक हैं, यदि मैं उन्हें यहाँ उद्धृत करूँ तो हिन्दी-शोध की प्रगति पर प्रतिबंध लगाने का आग्रह सभी के मत में व्यक्त होगा। शोध का स्तर इतना भिन्न क्यों हुआ यह विचारणीय होने के साथ चिन्त्य भी है। शोध ही एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें निष्ठा के साथ वस्तुपरक दृष्टि से अनुसंधाता को कार्य करना चाहिए। उसमें न तो काल का प्रतिबंध होना चाहिए न किसी प्रकार के आरोपित प्रतिमानों का भय। अनुसंधाता सत्यान्वेषी की भाँति तथ्यों का अनुशीलन करता हुआ निर्णीत और छाने-फटके हुए सत्य को प्रस्तुत करे जो पहले से अज्ञात होने के साथ यथार्थ रूप में ग्राह्य एवं उपादेय हैं।

अनुसंधान का मूल है जिज्ञासा। जहाँ ज्ञान के विस्तार अथवा अज्ञात के उद्घाटन की आकांक्षा है वहीं अनुसंधान का बीज निहित है। यदि जिज्ञासा ही शोध का प्रेरक तत्त्व रहे तो निम्न स्तर के शोध का प्रश्न ही नहीं उठता। जब अनुसंधान को जीविका और व्यवसाय के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है तभी उसके उद्देश्य से च्युत होने की आशंका पैदा हो जाती है। जबसे पी-एच० डी० उपाधि को व्यवसाय के धरातल पर ग्रहण किया गया तभी से उसके स्वरूप और परिणति में परिवर्तन आ गया। अनुसंधान की क्षमता के बिना भी अनुसंधान करने वाले जब इस क्षेत्र में कूद पड़े तब स्तर की रक्षा किस तरह संभव थी? कितनी दुर्भाग्य की वह घड़ी रही होगी जब अनुसंधान-जैसे अध्यवसाय एवं निष्ठा के कार्य के साथ उपाधि का गठबन्धन हुआ होगा। भारतीय विश्वविद्यालयों में आज अनुसंधान का कार्य कम और उपाधि प्राप्त करने का प्रयत्न अधिक हो रहा है। शोध के साथ यह उपाधि सापेक्ष खिलवाड़ सभी विषयों में हो रहा है, यह केवल हिन्दी तक ही सीमित नहीं है। हिन्दी के शोध-प्रबंध

छपकर सामने आ जाते हैं तो उनका मूल्यांकन कर लिया जाता है जबकि अन्य विषयों के निम्नस्तरीय शोध-प्रबंध पांडुलिपियों में मुँह छिपाए दुबके पड़े रहते हैं।

भारतीय विश्वविद्यालयों में जबसे उपाधि के निमित्त अनुसंधान कार्य प्रारम्भ हुआ तभी से उसके अध:पतन का भी प्रारम्भ समझना चाहिए। अनुसंधाता पथभ्रष्ट होकर तात्विक शोध के प्रशस्त राजमार्ग से हटकर उपाधि की संकरी गली में घुस गया और वहाँ आर्थिक प्रलोभन से लुब्ध होकर अपने कार्य को पूरा करने में लग गया। सतत वर्धमान ज्ञान पिपासा, जो अनुसंधान की मूल प्रेरक-शक्ति है, इस प्रकार के पथभ्रष्ट अनुसंधाता के पास नहीं रह पाई और उसे उपाधि ने आक्रान्त कर लिया। अनुसंधाता यह भूल गया कि उसके समक्ष ज्ञान के विस्तार का ध्येय है, अज्ञात को उद्घाटित करने का दायित्व है, अंधकार से आलोक में तथ्यों को प्रस्तुत करने का उद्देश्य है। फलत: वह शोध करते हुए भी शोध का आलोक विकीर्ण नहीं कर सका।

यह कहना असंगत न होगा कि गवेषणा या शोध के द्वारा नवीन तथ्य, नवीन सूचनाएं, नवीन विचारधाराएँ और नवीन सिद्धान्त प्रकाश में आते हैं। इन्द्रियगोचर तथ्यों के आधार पर अनुभूति और कल्पना से कलाकार जिस जगत् का निर्माण करता है वह साहित्य-जगत् है। साहित्य की रचना-प्रक्रिया में रचनाकार का अपना मनो-जगत् या भावजगत् ही अधिक क्रियाशील रहता है। साहित्यिक रचना कलाकार की अपनी स्वच्छन्द सृष्टि है, इसके निर्माण में कलाकार की अपनी मेधा, प्रतिभा और सर्जक शक्ति का ही योग है—यह एक आत्मपरक कृति है, किन्तु अनुसंधान इससे सर्वथा भिन्न एक वस्तुपरक रचना है जिसमें अनुसंधाता को तटस्थ और निस्संगभाव से तथ्यों का अनुशीलन कर निर्णय और निष्कर्ष प्रस्तुत करने होते हैं। इन निष्कर्षों में तर्क, मुक्ति, प्रमाण आदि का पूरा बल रहता है तभी ये स्वीकार्य बनते हैं। अत: अनुसंधानकर्ता के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने उपादान और निमित्त कारणों को दृष्टि में रखकर ही इस कार्य में प्रवृत्त हो। शोध की वैज्ञानिक प्रक्रिया के अनु-सार कार्य करने पर निम्नस्तरीय कार्य के लिए न्यूनावकाश है किन्तु कितने शोधार्थी हैं जो विधि-विधान से परिचित होकर ही अनुसंधान में प्रवृत्त होते हैं। जिन्होंने कभी किसी पुस्तकालय के द्वार पर पैर नहीं रखा, कभी दो सौ पुस्तकें इकट्ठी नहीं देखीं, वे भी शोध का झंडा उठाये, उपाधि की फ़िराक में घूमते देखे जा सकते हैं। खेद इस बात का है कि इस तरह चक्कर लगाने वाले अध्ययन-विहीन शोधार्थी भी एक दिन 'डॉक्टर साहब' के रूप में पहचाने जाते हैं और अपने हस्ताक्षर करते समय नाम के आगे अशिष्ट रूप में डॉक्टर लिखना नहीं भूलते।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी अनुसंधान में संख्या और परिमाण की दृष्टि से जो विपु-लता लक्षित होती है वह चौंका देने वाली है। यदि इस विपुलता का प्रभाव हिन्दी शोध के निर्देशकों पर अनुकूल पड़ता तो निराश होने की बड़ी बात न होती लेकिन निराशा यह देखकर होती है कि जो विद्वान प्रोफ़ेसर शोध-कार्य का निर्देशन-नियंत्रण कर रहे हैं वे अत्यन्त खिन्न और विषण्ण भाव से हिन्दी-अनुसंधान पर आठ-आठ आँसू बहा रहे हैं। स्वयं निर्माता, नियन्ता, निर्देशक होकर भी वे अपने सृजन से असन्तुष्ट

हैं। यह उनके आत्मनिरीक्षण का एक पक्ष है; किन्तु इस प्रकार के निम्नस्तरीय अनुसंधान पर प्रतिबंध क्यों नहीं लगाते यह भी चिन्त्य है। मैं भी हिन्दी अनुसंधान में साझीदार हूँ और अनेक बार इस समस्या पर गम्भीरतापूर्वक सोचता हूँ लेकिन व्यवसाय के धरातल से ऊपर उठकर कोई सही और स्वस्थ समाधान नहीं दे पाता। अनुसंधान के भयंकर दुश्चक्र में फँसे हुए विद्वान् निर्देशकों की पीड़ा का ज्ञान होने पर भी साहस की कमी से कोई भी शल्य-क्रिया के लिए तत्पर दिखाई नहीं देता।

जो कुछ हो गया सो हो गया—बीती ताहि बिसार दे आगे की सुध लेय—को भी ध्यान में रखा जाए तो हिन्दी अनुसंधान का भविष्य उज्ज्वल हो सकता है। फोड़े की पीर को सहने से अच्छा है फोड़े का फूटना, मवाद का निकलना। इस मवाद को निकालने का साहस सभी वरिष्ठ हिन्दी प्राध्यापकों को जुटाना होगा तभी अनुसंधान का सड़ा फोड़ा ठीक हो सकेगा। यदि मैं वरिष्ठ आचार्यों की वेदना के वचन यहाँ उद्धृत करूँ तो पाठक समझ सकेंगे कि हिन्दी के शोध-निर्देशक अज्ञान में नहीं हैं। वे जागरूक और सतर्क होकर भी दृढ़ संकल्प के अभाव में पीड़ा का दुख भोग रहे हैं। लीजिए, वरिष्ठ आचार्य की मर्म-व्यथा के कुछ वाक्य जो उनके आन्तरिक संताप को सहज रूप से व्यक्त करते हैं—

"कभी-कभी सोचता हूँ कि बेकारी न होती तो लोग क्या इस कठिन कार्य की ओर प्रवत्त होते। बैठे से बेगार भली—विशेषकर बेगार से यदि कुछ भविष्य में जीविका मिल जाने की संभावना हो। शोध-कार्य को इस विषम सामाजिक प्रश्न से बल मिल रहा है। भीड़ बढ़ रही है। बहुत लोग निराश हो गए हैं। यह सब क्या हो रहा है। अधिक-अधिक लोग काम करें, इसमें क्या बुराई है? बुराई इस बात में है कि शोध करने वाले से जैसी लगन, निष्ठा और ईमानदारी की आशा की जाती है, वैसी पाई नहीं जाती। लेकिन जाने भी दो, काहे को गंगाजल उठवाते हो।"

यदि मैं सभी विश्वविद्यालयों के अध्यक्षों तथा शोध निर्देशकों के मत यहाँ उद्धृत करने लगूँ तो शायद एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं होगा जो वर्तमान हिन्दी शोध से सन्तुष्ट हो और उसके पक्ष में विचार रखता हो। जिनके विचार मैंने ऊपर उद्धृत किये हैं उनसे हिन्दी-शोध की झाँकी मिल जाती है, लेकिन चित्र का यह एक पार्श्व है। दूसरा पार्श्व आशाजनक भी हो सकता है। मैं समझता हूँ कि आत्मनिरीक्षण के रूप में विभागाध्यक्षों और निर्देशकों का मत यदि निराशाजनक है तो कोई बुरी बात नहीं है, क्योंकि आत्मनिरीक्षण से ही सत्य का बोध होता है। दूसरों के कथन की उपेक्षा करने के बाद व्यक्ति स्वयं आत्मनिरीक्षण में प्रवृत्त होता है और यथार्थ को समझने में समर्थ होता है।

यदि हिन्दी अनुसन्धान केवल बेगार है या बेकारी को दूर करने का अल्पकालिक सहारा है तो उससे किसी श्रेष्ठ उपलब्धि की आशा करना बालू में से तेल निकालना है। लेकिन सभी शोधार्थी न तो बेकार होते हैं और न शोध को बेगार के रूप में ग्रहण करते हैं। ऐसे भी शोधार्थी हैं जो अच्छे पद पर आसीन हैं, विद्वान हैं, शोध की प्रविधि के जानकार हैं और सत्यानुसन्धान की प्रेरणा से इस दिशा में कार्य करने

आए हैं। अतः इसको विस्मृत कर एकपक्षीय निर्णय देने की जल्दबाज़ी में नहीं करना चाहता। स्वातन्त्र्योत्तर काल में हिन्दी अनुसन्धान की प्रगति और उपलब्धि का विवरण प्रस्तुत करते समय दोनों पक्षों का विवरण देना मैं आवश्यक समझता हूँ।

स्वातन्त्र्योत्तर शोध को यदि विषयानुसार वर्गीकृत किया जाए तो मोटे तौर पर हम उसे दस वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। यदि इतिहास के कालक्रम से विभाजन किया जाए तो वह चार वर्गों में होगा। किन्तु अनुसन्धान की रूपविधा और प्रकृति को दृष्टि में रखते हुए इतिहास के कालक्रम से विभाजन असमीचीन ही ठहरता है। इसलिए मैं प्रमुख दस वर्गों में विभक्त करके ही उसका आकलन करना उचित समझता हूँ।

पहले वर्ग में मैं उन शोध प्रबन्धों को स्थान देता हूँ जिनका सम्बन्ध भाषा विज्ञान तथा भाषापरक अध्ययन से है। डॉ० बाबूराम सक्सेना ने अवधी भाषा के विकास का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया था और डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने ब्रजभाषा के स्वरूप निर्धारण के लिए व्याकरण सम्बन्धी अनुसन्धान को प्रमुखता देकर भाषा-विषयक अनुसन्धान की नींव रखी थी। स्वतन्त्रता के बाद इस दिशा में बहुत अधिक कार्य हुआ और शायद हिन्दी की भाषा, विभाषा और बोली का कोई रूप आज नहीं बचा है जिसका अनुसन्धान के निकष पर अध्ययन न हुआ हो। मैथिली, भोजपुरी, ब्रजवुलि, बाँगरू, हलवी, राजस्थानी, बैसवाड़ी, ग्वालियरी मालवी, खड़ीबोली, कन्नौजी, बुन्देलखण्डी, दक्खिनी, बिहारी, रुहेली, मुण्डारी, कुरमाली, हरियानी, कुमायूनी, गढ़वाली, रावल्टी, सिराजी, निमाड़ी, खुरपल्टी, जौनसारी, सिरमौरी, पहाड़ी, कुल्लू की बोली, डोगरी, हड़ौती, भीली, बागरीबोली, कुरपाली बोली शेखा-वाटी बोली, मेवाड़ी, मेवाती, मगही, छत्तीसगढ़ी, भतरी, पंजाबी आदि चार दर्जन भाषाएँ और बोलियाँ अनुसन्धान के द्वारा प्रकाश में लाई गई हैं और उनका व्याकरण की दृष्टि से भी अध्ययन किया गया है।

भाषा के क्षेत्र में ही दूसरे प्रकार का अध्ययन व्याकरण और ध्वनि का है। जैसे ब्रजभाषा, खड़ीबोली, भोजपुरी आदि का व्याकरणपरक अध्ययन। कुछ जनपदों की बोलियों का भी विशेष रूप से अध्ययन हुआ है: जैसे मेरठ जनपद की भाषा, बुलन्दशहर जनपद की भाषा, दिल्ली की खड़ी बोली, गोरखपुर की भाषा, आजमगढ़ जिले की शब्दावली, अलीगढ़ की कृषक शब्दावली आदि। इस प्रकार के अध्ययन भी तीन दर्जन से ऊपर हैं। हिन्दी भाषा के शब्द, धातु, परसर्ग, (प्रत्यय) उपसर्ग, कारक, ध्वनि कुछ भी ऐसा नहीं है जिसका विस्तार से अध्ययन न हुआ हो। जातियों के नाम, व्यक्ति नाम, नगर नाम, बिहार के स्थान का नाम, आदि विषयों का पूरा अध्ययन हिन्दी में हो चुका है। लोक-साहित्य के अध्ययन में भाषा का पूरा रूप समेटा गया है और विस्तारपूर्वक भाषा को अनेक दृष्टियों से जाँचा-परखा गया है। किसी-किसी विषय पर तो चार-पाँच प्रबन्ध एक-से ही प्रस्तुत हुए हैं। इसी क्रम में प्रसिद्ध कवियों की भाषा का अध्ययन भी आता है जैसे, चन्दबरदाई, कबीर, जायसी, तुलसी, सूर, देव, बिहारी, पद्माकर, भूषण, केशव, प्रसाद, प्रेमचन्द, निराला,

रामचन्द्र शुक्ल, छायावाद की भाषा, आधुनिक काव्य भाषा, आदि विषयों पर भी तीन दर्जन प्रबन्ध उपलब्ध हैं। भाषा के तुलनात्मक अध्ययन भी इसी वर्ग के भीतर है। जैसे हिन्दी तथा पंजाबी की ध्वनियों का तुलनात्मक अध्ययन, खड़ी बोली परिनिष्ठित हिन्दी और पंजाबी का तुलनात्मक अध्ययन, तमिल, तेलुगु, संस्कृत, मलयालम, बंगला, मराठी आदि का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन हुआ है। लगभग एक दर्जन प्रबन्ध इस वर्ग में भी हैं। लिपि को भी मैं इसी वर्ग में रखता हूँ। लिपि के अध्ययन के लिए भी कई प्रबन्ध लिखे गए हैं।

संक्षेप में, यदि भाषा के विविध रूपों का समवेत रूप से विवरण प्रस्तुत किया जाए तो लगभग ढाई सौ प्रबन्ध इस वर्ग में आते हैं। इतनी बड़ी संख्या इस तथ्य को उद्घाटित करने में समर्थ है कि हिन्दी भाषा का परिवार और परिवेश बहुत व्यापक है और अनेक उपभाषाओं, विभाषाओं और बोलियों में फैली हुई वह पश्चिमोत्तर प्रदेश से लेकर पूर्वांचल तक व्याप्त है। दक्षिण की भाषाओं के साथ वैषम्य के धरातल पर भी उसका अध्ययन हो सकता है यह भी हिन्दी अनुसन्धान से विदित होता है।

अनुसन्धान का दूसरा वर्ग है काव्य सिद्धान्त तथा काव्यशास्त्र से सम्बद्ध विषय। इस वर्ग को भी हिन्दी के अनुसन्धाताओं ने बड़े आग्रह के साथ स्वीकार किया है। संस्कृत साहित्य के काव्य सम्प्रदाय, रस, ध्वनि, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, औचित्य का अनेक बार अध्ययन हुआ है। लगभग तीन दर्जन प्रबन्ध इन्हीं काव्य सम्प्रदायों पर हेर-फेर के साथ प्रस्तुत हुए हैं। इसके बाद काव्यरूपों पर पृथक्-पृथक् प्रबन्ध तैयार हुए। कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, एकांकी, गद्यकाव्य, निबन्ध, छन्दशास्त्र, महाकाव्य, खण्डकाव्य, प्रकृतिकाव्य आदि विषयों पर दर्जनों प्रबन्ध हैं। इन प्रबन्धों में इतिहास पक्ष भी है और सिद्धान्त पक्ष भी। अतः क्षेत्र के व्यापक होने से विस्तार होना स्वाभाविक है। काव्यशास्त्र के इस परिवेश में संस्कृत साहित्य शास्त्र के साथ अंग्रेजी काव्यशास्त्र को भी तुलनात्मक कसौटी पर रखा गया है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र का अध्ययन-अध्यापन हिन्दी में निरन्तर बढ़ रहा है इसलिए शोध के क्षेत्र में भी उसका समावेश उत्तरोत्तर बढ़ेगा और अरस्तू, प्लेटो, जानसन, ड्राइडन, क्रोचे, रिचर्ड्स, इलियट आदि के साथ तुलनात्मक दृष्टि से भी निबन्ध लिखे जा रहे हैं और भविष्य में और अधिक लिखे जाएँगे।

तीसरा वर्ग है कविता का अनुसन्धानपरक दृष्टि से अध्ययन। आदिकालीन काव्य से लेकर अधुनातन काव्य 'नई कविता' तक का व्यापक परिवेश इस अध्ययन में अन्तर्निहित होने से इस वर्ग का विस्तार भी अत्यधिक है। लगभग दो सौ शोध-प्रबन्ध काव्य के विविध रूपों पर लिखे गए हैं। ये शोधप्रबन्ध युगविशेष, प्रवृत्ति, वाद, काव्यशैली, काव्यधारा आदि से सम्बद्ध हैं। विशिष्ट कवियों पर भी प्रबन्धों का ताँता लगा है। तुलसी और सूर पर दर्जनों प्रबन्ध हैं। यही स्थिति प्रसाद के काव्य की भी है। कुछ कवियों का तुलनात्मक शैली से भी अध्ययन हुआ है। काव्यशैली और काव्यभाषा के विविध रूपों पर भी आवृत्तिपरक अध्ययन इस वर्ग की विशेषता है।

चौथा वर्ग है हिन्दी के साम्प्रदायिक साहित्य का अध्ययन। मुख्य रूप से यह अध्ययन भक्तिकाल से सम्बन्ध रखता है किन्तु कुछ सम्प्रदाय परवर्ती काल के भी हैं। गोरखनाथ, निर्गुण, सगुण, रामभक्ति, कृष्णभक्ति, गोसाईं, रसिक सम्प्रदाय, दादू, मलूक, रैदास, नानक आदि के पन्थ, रामसनेही, प्राणनाथी, हरिदासी, जसनाथी, राधावल्लभी, रामानन्दी, निम्बार्की आदि तीन दर्जन सम्प्रदायों का अध्ययन इस वर्ग के भीतर समाविष्ट है। साम्प्रदायिक अध्ययन में भी तुलनात्मक दृष्टि से शोधप्रबन्ध लिखे गए हैं जिसका उल्लेख मैं आगे करूँगा। सामान्यतः साम्प्रदायिक दृष्टि से जो अध्ययन हुआ है वह नवीन तथ्यों की सूचना अवश्य प्रस्तुत करता है।

पाँचवां बर्ग है गद्य साहित्य का अनेक रूपों में अध्ययन। गद्य के विकास को स्पष्ट करने वाले प्रबन्धों से यह वर्ग प्रारम्भ होकर गद्यरूपों और शैलियों के अध्ययन तक फैला हुआ है। हिन्दी साहित्य का इतिहास और उसके विविध पक्ष भी इसी वर्ग के भीतर आते हैं। हिन्दी गद्य के निर्माताओं पर भी स्वतन्त्र रूप से शोधप्रबन्ध लिखे गए, जैसे बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुन्द गुप्त, शुक्लजी का गद्य, गद्य की विविध शैलियों का अध्ययन, द्विवेदी युगीन गद्य, छायावादी कवियों का गद्य आदि। गद्य-विधा के सम्बन्ध में चार दर्जन से ऊपर प्रबन्ध प्रस्तुत हुए हैं। इस विधा को अब सूक्ष्म धरातल पर अन्वेषण का विषय बनाया जा रहा है।

पाँचवाँ वर्ग लोक-साहित्य, लोकगीत, लोक-संस्कृति तथा लोक-तत्त्व से सम्बन्ध रखता है। लोक-साहित्य की ओर सबसे पहले विदेशी विद्वानों का ध्यान गया था। उन्होंने भारतीय जनजीवन में व्याप्त लोकतत्त्वों के सम्बन्ध में अनेक ग्रन्थ लिखकर इस पथ को प्रशस्त किया। तदनन्तर हिन्दी में इस दिशा में अच्छा कार्य हुआ और अभी तक लगभग दो दर्जन शोधप्रबन्ध प्रकाश में आ चुके हैं। कुछ विश्वविद्यालयों में लोक-साहित्य को एम० ए० कक्षाओं में वैकल्पिक प्रश्नपत्र के रूप में स्थान भी मिला है। यह अध्ययन अनेक अज्ञात विषयों को प्रकाश में लाने वाला सिद्ध हुआ है। यद्यपि कुछ समय तक यह विवाद का प्रश्न रहा कि लोकसाहित्य को शुद्ध साहित्य माना जाए या न माना जाए, क्योंकि इस साहित्य में ललित साहित्य के गुणों का अभाव होता है। किन्तु इन शोधप्रबन्धों ने लोकसाहित्य, लोकगीत और लोककथाओं का ऐसा सुन्दर रूप उजागर किया कि आज यह पठनीय साहित्य बन गया है। इसका पूरा-पूरा श्रेय हिन्दी की शोध को ही प्राप्त है।

छठा वर्ग तुलनात्मक तथा प्रभाव परक अध्ययन का है। तुलनात्मक अध्ययन दो प्रकार का है—एक तो हिन्दी के कवियों या लेखकों की पारस्परिक तुलना, दूसरा हिन्दीतर भाषाओं से हिन्दी साहित्य की विशिष्ट विधाओं, प्रवृत्तियों तथा कवियों की तुलना। इस अध्ययन में शोध की दृष्टि सर्वत्र स्वच्छ रही है यह कहना कठिन है। मैंने कई शोधप्रबन्ध ऐसे भी देखे हैं जहाँ बरबस तुलना की गई है और उसका फलितार्थ भी पक्षपात के साथ स्थिर किया गया है। तुलनात्मक अध्ययन बहुत वांछनीय नहीं है। साम्य-वैषम्य दिखाते हुए प्रवृत्ति परक अध्ययन तो समीचीन हो सकता है, किन्तु दो कवियों या लेखकों की तुलना सर्वत्र श्लाघ्य नहीं होती। काव्य-

नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, समालोचना आदि में भी तुलनात्मक दृष्टि के अध्ययन उपलब्ध होते हैं, जो सभी ज्यों-के-त्यों ग्राह्य नहीं हैं। मुझे लगता है कि हिन्दी में शोध विषयों के अभाव के कारण शायद कुछ अनुसन्धाता इस क्षेत्र में पहुँच जाते हैं और दो प्रवृत्तियों या कलाकारों को समता के धरातल पर ला खड़ा करते हैं। हाँ, कुछ शोधप्रबन्धों में—विशेष रूप से भक्तिविषयक तुलनात्मक अध्ययन में—यह कार्य सुन्दर रूप से गृहीत हुआ है और उसकी उपलब्धि केवल साहित्य क्षेत्र में ही नहीं राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से भी सराहनीय है। हिन्दी शोध ने तुलनात्मक शोध का क्षितिज खोला है लेकिन अभी तक अपनी सीमाओं में ही है। यदि उसे व्यापक रूप से मानव जाति के विकास के फलक पर स्थापित किया जाए तथा देश-विदेश की विचारधाराओं के सन्दर्भ में अनुसन्धेय बनाया जाए तो शोध के लिए और अधिक उपादेय सामग्री उपलब्ध होने की सम्भावना है।

सातवाँ वर्ग प्रादेशिक साहित्य, भाषा तथा इतिहास का है। इस वर्ग में प्रादेशिक साहित्य का मूल्यांकन अनुसंधानपरक दृष्टि से करने का प्रयत्न लक्षित होता है जैसे हिन्दी साहित्य को पंजाब की देन, मध्यप्रदेश की देन, मत्स्य प्रदेश की देन, कानपुर के प्रमुख कवि, कूर्मांचल की देन, रीवाँ दरबार के कवि, काशी की देन, बैसवाड़े की देन आदि। यह वर्ग भी बहुत व्यापक है और इसके मूल में भी पिष्ट-पेषण तथा विषयों के अभाव की ध्वनि है। लगभग तीन दर्जन शोध प्रबंधों में तीन-तीन बार की आवृत्ति है और उस प्रदेश का भौगोलिक, ऐतिहासिक वर्णन मूल विषय की अपेक्षा दुगुना है। मैंने स्वयं लगभग आधे दर्जन शोध प्रबंधों का परीक्षण किया है और इस दोष को सभी प्रबन्धों में समान रूप से व्याप्त पाया है कि विषय पर लिखने की सामग्री सीमित होने से कलेवर को बढ़ाने के मोह में यह त्रुटि जानबूझ कर दुहराई जाती है। रीवाँ, पन्ना, अमेरी, ओरछा आदि दरबारों के कवियों पर तीन-तीन शोध प्रबंध लिखने की गुंजाइश कहाँ है? और क्या लाभ है इस पुनरावृत्ति का जो इन प्रबन्धों में हुई है। लेकिन अनुसंधाता सुगम पथ का पथिक बन गया है, निर्देशक अज्ञान में हैं, विश्वविद्यालयों में प्रतिस्पर्धा और अज्ञान दोनों है। परिणाम यह है कि 'आरछा के हिन्दी कवि' तथा 'ओरछा दरबार के हिन्दी कवि' पर समानान्तर शोध प्रबन्ध यह मानकर लिखे गये हैं कि ये दोनों विषय स्वतन्त्र और पृथक् हैं।

आठवाँ वर्ग है सांस्कृतिक एवं सामाजिक दृष्टि से हिन्दी साहित्य के अनुसंधान का। सांस्कृतिक एवं सामाजिक दृष्टि से काव्यानुशीलन फलप्रद होता है किन्तु उसकी फलवत्ता तभी सिद्ध होगी जब सांस्कृतिक या सामाजिक अन्वेषण के लिए स्वच्छ दृष्टि अनुसंधाता के पास हो। मैंने इन प्रबन्धों में मूलभाव का अभाव ही पाया है। तीन दर्जन प्रबन्धों में आठ-दस ही ऐसे हैं जिन्हें हम शोध प्रबन्ध कह सकें, शेष सब पिष्ट-पेषण और अवान्तर विषयों से भरे हुए हैं। रामकाव्य, कृष्णकाव्य, रीतिकाव्य, निर्गुण काव्य, मध्यकाल, सन्तकाव्य, आधुनिक काव्य में समाज और संस्कृति तथा आधुनिक उपन्यास में समाज एवं संस्कृति आदि विषयों पर जो प्रबन्ध लिखे गए हैं उनमें भी मूल विषय पर कम तथा अवान्तर प्रसंगों पर ही अधिक लिखा गया है। इन प्रबन्धों

के लिए इतिहास, संस्कृति और दर्शन के अध्ययन तथा ज्ञान की आवश्यकता अनिवार्य है जो हिन्दी के छात्र के पास न्यून मात्रा में है।

नवम वर्ग में पाठालोचन या पाठानुसंधान का स्थान है। पाठानुसंधान का काम हिन्दी में अभी द्रुतगति से प्रारम्भ नहीं हुआ है। प्राचीन ग्रन्थों में रासो, कबीर बीजक, मृगावती, पदमावत, रामचरितमानस, सूरसागर आदि के प्रामाणिक संस्करण अपेक्षित है। इनमें से कुछ पर अनुसंधान हुआ है और शेष पर कार्य हो रहा है। सूरदास, नन्ददास, केशवदास, देव, भूषण आदि के ग्रन्थ शोध छात्रों के पास है और वे इनका पाठ शोधन कर रहे हैं। यही एक दिशा ऐसी है जिसमें अभी पुनरावृत्ति प्रारम्भ नहीं हुई है। यदि इसमें आवृत्ति का कुचक्र फैला तो हिन्दी-शोध परिहास के सिवा कुछ और नहीं रह जाएगा। विद्वानों को इस क्षेत्र में पुनरावृत्ति रोकने का ध्यान रखना अनिवार्य है। यदि एक ही रचना के विविध पाठालोचन तैयार हुए तो अन्त में यही परिणाम निकलेगा कि कबीर बीजक, सूरसागर और रामचरितमानस किसी एक कवि की रचना न होकर रासो की तरह अप्रामाणिक रचनाएँ हैं। यह स्थिति लज्जास्पद होने के साथ उपहासास्पद भी होगी।

दसवां वर्ग उन प्रबन्धों का है जिन्हें हम विविध-प्रकीर्णक विषय कह सकते हैं, जैसे 'हिन्दी में बाल साहित्य', 'हिन्दी में नाम साहित्य', 'हिन्दी में कोश साहित्य', 'ध्रुवपद और हिन्दी साहित्य', 'हिन्दी और संगीत', 'हिन्दी में मंगलाचरण साहित्य', 'हिन्दी में व्यंग्य साहित्य', 'हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीयता', 'हिन्दी का यात्रा साहित्य' 'पत्र साहित्य', 'गुरुमुखी लिपि में हिन्दी साहित्य', 'हिन्दी के फिल्मी गीत' आदि। इन विषयों में भी पिष्टपेषण और पुनरावृत्ति की भरमार है। यात्रा साहित्य पर ही पांच प्रबन्ध हैं, कोश रचना पर तीन, पत्र साहित्य पर तीन, बाल साहित्य पर तीन, अनुवाद साहित्य पर तीन प्रबन्ध इस आवृत्ति के परिणाम हैं। इस वर्ग के भीतर हम उन सभी प्रबन्धों को रख सकते हैं जो हिन्दी भाषा और साहित्य को उपजीव्य बनाकर लिखे गए हैं जैसे 'अंग्रेज़ शासकों की शिक्षा नीति और हिन्दी भाषा', 'ईसाई मिशनरियों की हिन्दी सेवा', 'आर्यसमाज की हिन्दी सेवा', 'हिन्दी भाषा शिक्षण और अध्यापन' आदि विषय भी आते हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी अनुसंधान का वर्गानुसार आकलन करने के बाद हमारे सामने कुछ ऐसे तथ्य उभर कर आते हैं जो हिन्दी अनुसंधान की शक्ति और सामर्थ्य का द्योतन कराने के साथ उसकी सीमाओं एवं त्रुटियों को भी स्पष्ट करते हैं। मैं संक्षेप में उनकी ओर पाठक का ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक समझता हूँ। इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्वतन्त्रता के बाद हिन्दी क्षेत्र में सबसे अधिक स्फूर्ति और सक्रियता शोध में ही हुई है। यदि परिमाण को सामने रखा जाए तो शोध प्रबन्धों का परिणाम अन्य साहित्य से दुगुना अवश्य है। इस विपुल परिमाण से हिन्दी की विपुल सम्भावनाएँ सामने आई हैं। उपाधि सापेक्ष कार्य के साथ ऐसे भी विद्वान् हैं जिन्होंने उपाधि निरपेक्ष शोध की सामग्री स्वातन्त्र्योत्तर युग में हिन्दी को दी है। इन विद्वानों में राहुल सांकृत्यायन, हजारी प्रसाद द्विवेदी, विश्वनाथप्रसाद मिश्र

परशुराम चतुर्वेदी, अगरचन्द नाहटा, मुनि जिनविजय, वासुदेवशरण अग्रवाल, प्रभुदयाल मीतल आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस प्रकार के शोध का अभी तक पूरी तरह आकलन न होने पर भी हिन्दी शोध के इतिहास में इनका उपयोग तो होता है किन्तु इनकी कृतियों को हिन्दी शोध में समाविष्ट नहीं किया जाता। यदि इन्हें भी शामिल कर लिया जाए तो हिन्दी का सम्पूर्ण शोध कार्य बहुत ही समृद्ध प्रतीत होगा। किन्तु इस समृद्धि से अभिभूत होने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि जो उपाधि सापेक्ष ग्रन्थ शोध-प्रबन्ध के नाम से प्रकाशित होकर सामने आए हैं उनकी अपूर्णता, अवैज्ञानिकता, अमौलिकता और अप्रासंगिकता में ही उनकी दरिद्रता, हेयता और पिष्ट पेषणता भी लिपटी हुई है।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी शोध की सबसे बड़ी और सबसे अधिक खटकने वाली त्रुटि है विषयों की आवृत्ति और प्रस्तुतीकरण की अमौलिकता। केवल पिष्टपेषण ही नहीं तस्करी वृत्ति से भाव, विषय, शैली सभी कुछ अपहृत कर नया शोध प्रबन्ध लिखना हिन्दी शोध की चातुरी बन गई है। मैं दावे से कह सकता हूं कि जो छह सौ प्रबन्ध स्वीकृत हुए हैं उनमें चार सौ शुद्ध पिष्टपेषण की कला के निदर्शन हैं। यदि इन चार सौ शोध प्रबन्धों का अनुसंधानात्मक दृष्टि से पुनर्मूल्यांकन किया जाए तो विदित होगा कि इन प्रबन्धों के दो लाख पृष्ठों में से दो हजार ही नवीन हैं शेष सब पिष्टपेषण है, पुनरावृत्ति और संकलन मात्र है। यह कितनी हीन और दयनीय स्थिति है, इसके लिए कोई-न-कोई उपाय अवश्य सोचना चाहिए। जब तक प्रत्येक विश्वविद्यालय स्वतन्त्र रूप से कार्य करने का अधिकार मानकर चलेगा तब तक यह पुनरावृत्ति होगी और फिर होगी। अतः संयोजन के निमित्त एक अखिल भारतीय स्तर की अनुसंधान संस्था अति शीघ्र स्थापित होनी चाहिए जो विषयों की पुनरावृत्ति पर अंकुश रख सके। इस संस्था में विषय सूची के अतिरिक्त उन अधिकारी विद्वानों की भी सूची रहे जो किसी विशिष्ट विषय का प्रामाणिक शोध करा सकते हैं। अधिकारी विद्वानों के निर्देशन में ही यदि कार्य होगा तो उसकी प्रामाणिकता होगी और तस्करी आदि के हीन उपाय सफल नहीं हो सकेंगे।

मैं यह भी अनुभव करता हूँ कि कुछ विषयों पर शोध तो हुआ है किन्तु शोध की कोई ज्ञातव्य सामग्री उनमें नहीं है। इसके लिए कौन उत्तरदायी है यह मैं नहीं कहना चाहता किन्तु विषय-चयन में ही भूल है। उन विषयों को शोध क्यों समझा जाता है जो कक्षा में प्राध्यापक के भाषण के विषय हैं। जिन्हें 'क्लासनोट्स' कहते हैं, वे ही विषय शोध के भी मान लिए जाते हैं, यह घोर दुर्भाग्य है। कभी-कभी साधारण समीक्षात्मक आकलन भी अनुसंधान की उपाधि से विभूषित होते हैं और कभी सामान्य सूचनाओं पर शोध-उपाधि प्रदान की जाती है। इस प्रकार वैदुष्य हीन संकलनात्मक प्रवृत्ति को प्रश्रय नहीं मिलना चाहिए। कभी-कभी पुनराख्यान के नाम पर भी कविता की गद्य में व्याख्या कर अनुसंधान की मुद्रा से अंकित कर दिया जाता है। वस्तुतः पुनराख्यान के लिए विवेचन-विश्लेषण की प्रतिभा और विषय के आभ्यन्तर में पैठने की क्षमता अपेक्षित है। खेद है कि पुनराख्यान के नाम पर जो कुछ

मुद्रित होकर आ रहा है वह पूर्वज्ञात को पुनः ज्ञात कराने से अधिक कुछ नहीं है। हिन्दी शोध की मर्म कथा यह भी है कि वह हिन्दी के नये-पुराने ग्रन्थों और रचनाकारों तक सीमित रहकर पुनराख्यान या विवेचन करते हैं। इतिहास, दर्शन, समाज-विज्ञान, मनोविज्ञान तथा अन्य उपयोगी साहित्य से अनुसंधाता प्रत्यक्ष या परोक्ष परिचय नहीं करना चाहता। फलतः कूपमंडूकता का आनन्द और अभिशाप दोनों उसके प्रबन्ध में ओतप्रोत रहते हैं। रचनाकार की अन्तर्दृष्टि से शून्य, संहति के अभाव से ग्रस्त और आरोपित एवं असम्बद्ध तथ्यों से मंडित ये शोध प्रबन्ध उपहास के अतिरिक्त और किसी भाव की सृष्टि नहीं करते।

एक और बात जो स्वातन्त्र्योत्तर प्रबन्धों में विशेष रूप से लक्षित होती है, वह है प्रबन्धों का विशाल कलेवर। सामान्यतः पाँच सौ-छह सौ पृष्ठ लघु कलेवर के द्योतक है। डेढ़ हजार से पौने दो हजार पृष्ठ तक के निबन्ध हिन्दी शोध में स्वीकृत हुए हैं जिसकी जिल्दबन्दी में लेखक को बीस रुपये एक प्रति पर देना पड़ा है। यह धारणा कितनी भ्रान्त और गर्हणीय है कि मोटे आकार के, जलोदर पीड़ित प्रबन्ध से परीक्षक प्रभावित होते हैं। इसके मूल में निर्देशक का अपना अज्ञान भी छिपा रहता है। हिन्दी का शोध-निर्देशक सौ से ऊपर छात्रों का निर्देशन करने का दम्भ करे तो यही स्थिति होगी। कुछ विश्वविद्यालयों में तो निर्देशक तथा अनुसंधाता का साक्षात्कार पहली बार उस समय होता है जब शोधार्थी का पंजीकरण होता है और दूसरी बार तब, जब वह अपना शोध प्रबन्ध पूर्ण कर विश्वविद्यालय में दाखिल करता है। बीच में उसने क्या किया और क्या लिखा इसका सिरदर्द निरीक्षक महोदय उठाना नहीं चाहते। इस कटु सत्य को लिखकर मैं विश्वविद्यालयों का तथा उन द्रोणाचार्यों का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ जो केवल अपनी शिष्यवत्सलता से धन्य होने पर भी अपने कर्तव्य से नितान्त पराङ्मुख हैं।

शोध की वैज्ञानिक प्रक्रिया और प्रविधि का प्रशिक्षण अभी तक व्यापक रूप से प्रारम्भ नहीं हुआ है। एक-दो विश्वविद्यालयों में ही अनुसंधाताओं को शोध करने की विधि सिखाई जाती है। शेष स्थानों में तो जो शोध कर लेता है वही निर्देशक बन बैठता है। शिकारी बनने के लिए खरगोश मारना और शेर मारना समान ही समझा जाता है। शोध निर्देशन में जितनी विडम्बना है उतनी किसी और क्षेत्र में नहीं। यदि मैं इसके उदाहरण देना शुरू करूँ तो आश्चर्य होगा कि कौन-सा अनर्थ है जो नहीं हो रहा है। नयी कविता पर शोध कराने वाले ऐसे निदशक हैं जो मैथलीशरण गुप्त से आगे के काव्य को पढ़ना भी पाप समझते हैं। सिद्ध साहित्य पर पथ-प्रदर्शन करते हैं द्विवेदी युगीन विषय पर शोध करने वाले और द्विवेदी युग पर शोध करते हैं रासो तथा अपभ्रंश के विशेषज्ञ। यह सब गोरखधन्धा कब तक जारी रहेगा, नहीं कहा जा सकता।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी शोध की उपलब्धियों को अवमूल्यन द्वारा मैं नगण्य नहीं बनाना चाहता। मेरा प्रयास भी आत्म निरीक्षण की दिशा में ही है और उद्देश्य है अनुसंधान का सत्यानुशीलन द्वारा परिमार्जन। जिस विपुल मात्रा में और जिस द्रुतगति

से हिन्दी अनुसंधान का कार्य चल रहा है वह भारत की अन्य भाषाओं के लिए ईर्ष्या का विषय बन गया है। भारत की चौदह भाषाओं में मिलाकर जितना शोध कार्य हुआ है उसका बीस गुना अकेली हिन्दी में सत्रह वर्षों में हुआ है। यह बात हिन्दी के शोधार्थियों के अदम्य उत्साह की सूचक होने के साथ हिन्दी साहित्य-भंडार की समृद्धि का भी बोध कराती है। यदि पच्चीस प्रतिशत प्रबन्ध भी मौलिक होने के साथ शोध निकष पर खरे हैं तो डेढ़ सौ प्रबन्ध स्वातन्त्र्योत्तर काल में श्रेष्ठ कृति के रूप में हिन्दी में स्वीकृत हुए माने जाएँगे। यह संख्या छोटी नहीं है। डेढ़ हजार विषयों पर अभी काम हो रहा है, उसमें भी यदि पच्चीस प्रतिशत श्रेष्ठ कार्य हुआ तो पौने चार सौ प्रबन्ध अगले चार-पाँच वर्षों में हिन्दी भण्डार को समृद्ध बना सकेंगे।

लेकिन विपुल परिमाण और आकार ही अनुसंधान का प्राण तत्त्व नहीं है। सारग्राही बुद्धि से अनुसंधान को निष्ठा के साथ ग्रहण करने से उसकी गुणवत्ता बढ़ेगी। एक ही बँधे-बँधाये ढाँचे से हिन्दी अनुसंधान को निकालकर तथा विषयवस्तु परक उसकी कूपमंडूकता को हटाकर यदि व्यापक परिवेश और आयाम में उसे स्थित किया जाए तो निस्सन्देह हिन्दी अनुसंधान में नवजीवन का संचार हो सकेगा। शोध कार्य का क्षेत्र-विस्तार अब आवश्यक हो गया है। विदेशी छात्र यहाँ आकर अथवा अपने देश में ही रहकर अपनी भाषा के माध्यम से हिन्दी साहित्य के सम्बन्ध में शोध कार्य करते हैं; हमारे शोध छात्र भी क्यों न अपना क्षेत्र विस्तार करें और अरब, फारस, इंडोनेशिया, बर्मा, मध्य एशिया, अफ्रीका, अमरीकी आदि देशों के साहित्य पर शोध करना प्रारम्भ करें? यह शोध हिन्दी भाषा के माध्यम से हो और उस देश की भाषा को पहले पढ़कर कार्य प्रारम्भ किया जाए। रूस, जापान, अमेरिका और इंगलैण्ड के छात्र अपनी-अपनी भाषाओं के माध्यम से हिन्दी-उर्दू सीख कर इस प्रकार का शोध कार्य प्रस्तुत कर रहे हैं। यह कार्य पहले व्ययसाध्य और कठिन प्रतीत होगा, लेकिन छात्रवृत्तियाँ देकर प्रोत्साहित करने से इसके प्रचारित होने में कोई सन्देह नहीं है। भारत सरकार का शिक्षा मंत्रालय छात्रवृत्तियाँ देकर इस कार्य को अपने हाथ में ले तो विदेशों से हमारा सम्पर्क तो बढ़ेगा ही साथ ही भारत की राष्ट्रभाषा का भी सम्मान होगा। भारतीय भाषाओं के माध्यम से विदेशी साहित्य की प्रामाणिक जानकारी का यह मार्ग अभी तक हिन्दी अथवा किसी भी भारतीय भाषा के अनुसंधाता के सामने नहीं खुला है। विश्व-साहित्य के सम्पर्क में आने के लिए इस ओर हमें अविलम्ब ध्यान देना चाहिए। रूसी अनुसंधाता तुलसी, प्रसाद, प्रेमचन्द, यशपाल आदि की कृतियों पर अनुसंधान ग्रन्थ लिख सकते हैं तो हमारे विद्यार्थी उस देश की महान् कृतियों का अध्ययन क्यों नहीं कर सकते? इसके साथ ही अब हिन्दी छात्र को भारतीय भाषाओं के साहित्य में भी, उस भाषा को सीखकर, सीधा प्रवेश करना चाहिए। तमिल, तेलुगु, मराठी और बंगला के तुलनात्मक अध्ययन से आगे बढ़कर प्रत्यक्षरूप से प्रान्तीय भाषा और साहित्य में हिन्दी के शोधार्थी को प्रवेश करना चाहिए। आज हमें जो कठिन और दुरूह लग रहा है वह कल परिश्रम से सुगम और सहज साध्य हो सकेगा, ऐसा दृढ़ संकल्प और आत्म-विश्वास लेकर ही इस क्षेत्र में आना चाहिए।

डॉ० प्रभाकर माचवे

हिन्दी में मराठी साहित्य

मराठी भाषा के गये सात सौ वर्षों के समृद्ध साहित्य में से हिन्दी में कितना अनुवादित होकर आया है, यह तो एक पूरी ग्रन्थ-सूची का विषय है, जो शोध और समय-साध्य कार्य है। मैं तो यह टिप्पणी, केवल अपनी स्मृति के सहारे, इस आशा से लिख रहा हूँ कि मुझसे अधिक जाननेवाले इसे पूरा करेंगे।

ऐसे सब लेखन मैं व्यक्तिगत अनुभव से आरम्भ करता हूँ, और यदि इसमें अपने कार्य के बारे में लिखना पड़ता है तो मुझे क्षमा किया जाये। मैं आत्म-श्लाघा के हेतु से ऐसा नहीं करता; अंशतः यह सोचना आसान हो जाता है (स्मृति का 'स्व' से गहरा सम्बन्ध है); दूसरे, नयी पीढ़ी को ये पच्चीस-तीस बरस पुरानी कई बातें याद नहीं हैं। मैंने जब आरम्भ में हिन्दी लिखना और छपाना शुरू किया—सन् '३४ में मेरी पहली रचना छपी—तब एक द्वैभाषिक व्यक्ति की सारी अड़चनें मेरे सामने थीं: मेरी हिन्दी मराठी मुहावरों से भरी 'खराब' हिन्दी होती थी। मैं मराठी में भी तब लिखता था, और मेरी मराठी भाषा को मराठी सम्पादक 'हिन्दाळसेसी' (हिन्दी से बिगड़ी हुई) कहते थे। सो मैंने दोनों भाषाओं के व्याकरण, कोश, प्राचीन साहित्य आदि का गहरा अध्ययन शुरू किया, इस दृष्टि से कि दोनों के अन्तर को स्पष्ट समझूँ, और जब एक भाषा में लिखूँ तब 'हिन्दुई छुट किसी और भाषा की पुट' उसमें न मिलने पाए। यहीं सबसे पहले मराठी से हिन्दी में अनुवादित पुस्तकें पढ़ने को मिलीं। माधवराव सप्रेजी द्वारा अनुवादित ज्ञानेश्वर की 'ज्ञानेश्वरी', हरिभाऊ उपाध्याय द्वारा अनुवादित वामन मल्हार जोशी का उपन्यास 'रागिणी' और आचार्य जावडेसर की पुस्तक 'आधुनिक भारत' का हिन्दी अनुवाद आदि अब भी याद हैं। इन्हीं से प्रेरणा मिली कि स्वयम् भी यह कार्य किया जाए। प्रेमचन्द ने 'हंस' में सन् '३६ में मुझसे अनुवाद करवाए। हिन्दी के दो बड़े पत्रकार महावीर प्रसाद द्विवेदी और माखनलाल चतुर्वेदी अच्छी मराठी जानते थे और हैं। बाद में मैंने खांडेकरजी की कहानियाँ और एक उपन्यास (उल्का) का, 'अनिल' के एक काव्य 'भग्नमूर्ति' का पुस्तकाकार अनुवाद किया।

मराठी से हिन्दी में क्या-क्या अनुवादित हुआ है पुस्तकाकार; और क्या कुछ और होना चाहिए इसका विचार ऐतिहासिक क्रम से करना उचित होगा। आरम्भिक मराठी साहित्य मुख्यत: सन्त-साहित्य और भक्ति-साहित्य है। ज्ञानेश्वर, तुकाराम, एकनाथ, नामदेव, रामदास ये प्रमुख सन्त कवि हो गए हैं। ज्ञानेश्वर के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ज्ञानेश्वरी' के तीन अनुवाद हिन्दी में मेरे देखने में आये। उनमें एक छन्द में भी है।

सो इसका और एक अनुवाद आवश्यक नहीं है। ज्ञानेश्वर के दूसरे ग्रन्थ 'अमृतानुभव' का अनुवाद ज़रूर होना चाहिए। पर वह दार्शनिक पुस्तक होने से बहुत कम लोग इसका अनुवाद करने के लिए तैयार होंगे। तुकाराम की गाथा का कोई अनुवाद देखने में नहीं आया। हिन्दुस्तानी अकादेमी से बहुत वर्षों पूर्व डॉ० हरी रामचन्द्र दिवेकर की 'तुकाराम' पुस्तक छपी थी, उसमें कुछ अनुवाद हैं। पर इस सन्त के अनुवाद अंग्रेज़ी और फ्रेंच में उपलब्ध हैं; रवीन्द्रनाथ ने बँगला में उसके अनुवाद किए। परन्तु हिन्दी में नहीं हैं। एकनाथ के भागवत और भावार्थ रामायण के; मुक्तेश्वर के महाभारत के; श्रीधर के भक्तिलीलामृत के; वामनपण्डित के और मोरोपंत के काव्यों के अनुवाद नहीं हुए हैं। रीतिकालीन हिन्दी कविता का अनुवाद जैसे कठिन है, वैसे ही पण्डित कवियों की संगीतमयी संस्कृत-बहुला कविता का अनुवाद कठिन है। इस दिशा में कोई प्रयत्न नहीं हुआ है। हाँ, शिवाजी के गुरु समर्थ रामदास के 'दासबोध' का लक्ष्मण नारायण गर्दे का किया हुआ एक अनुवाद अवश्य हिन्दी में है, ओ गद्य में है। ये सारे ग्रन्थ अधिकतर पौराणिक कथानकों, भागवत, रामायण, महाभारत के उपाख्यानों के आधार पर हैं; अतः इनके अनुवाद आज के पाठक को कहाँ तक रुचेंगे यह भी एक प्रश्न है। यह काम तो किसी ऐसी संस्था को कराना चाहिए जो सारी भारतीय भाषाओं की रामायणें या सारी भारतीय भाषाओं के कृष्णलीला-प्रसंग या ऐसे ही विशिष्ट विषयों की रचनाएं एक सिलसिले से प्रकाशित करे।

मध्ययुगीन मराठी साहित्य, ऐतिहासिक कागज़-पत्र फारसी मिश्रित 'बाबरों' (अखबार का अहवाल) जैसे गद्य में, या क्रमशः 'पोवाडे' और 'लावणी' जैसे वीररस और शृंगार रस प्रधान लोककाव्य के रूप में है। इनमें से कुछ चुनी हुई रचनाओं के अनुवाद इस दृष्टि से उपयोगी होंगे कि मराठी भाषा में अन्य भाषाओं का कितना योगदान था। किसी प्रकाशक को महत्त्वपूर्ण मध्ययुगीन लोकसाहित्य की 'सीरीज़' छापनी चाहिए, जिसमें 'आल्हा', 'हीर-राँझा' की तरह मराठी के चुने हुए पोवाडे और लावणियों का मूल-सहित अनुवाद प्रकाशित हो।

अंग्रेज़ी राज्यशासन के बाद मराठी में गद्य बहुत विकसित हुआ। उसकी चर्चा एक-एक विधा : उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध, समीक्षा आदि स्वतन्त्र परिच्छेदों में आगे कर रहा हूँ। पहले पद्य या काव्य की बात करूँ : 'केशवसुत' (कृष्ण जी केशव दामले) मराठी की आधुनिक कविता के अग्रणी कवि रहे हैं। उनकी कविताएँ हिन्दी में आनी चाहिए। पूना की 'राष्ट्रवाणी' उनके जन्म की शतसांवत्सरिकी के अवसर पर विशेषांक निकालने जा रही है। उनके बाद के कवियों में कई प्रसिद्ध हुए। देशभक्ति की कविताओं में विनायक सावरकर, यशवंत, कुसुमाग्रज आदि; रोमांटिक कवियों में 'बी', तांबे, गडकरी, माधव ज्यूलियन बारेकर आदि। होना यह चाहिए कि चुनी हुई कविताओं के संकलन प्रकाशित करने चाहिए। जैसे स्वर्गीय रामनरेश त्रिपाठी ने 'कविता कौमुदी' में किया था, हिन्दी, उर्दू, संस्कृत, बंगला आदि की कविता का। उसके बाद प्रगतिवादी और अत्याधुनिक कवियों में आत्माराम राव जी देशपांडे, 'अनिल' और बा० सा० मर्ढेकर बहुत प्रख्यात हैं। इधर एक समकालीन

मराठी कविता का छोटा-सा संकलन दिनकर सोनवलकर ने सम्पादित किया है। मर्ढेकर की कविताओं के अनुवाद की पाण्डुलिपि अनिलकुमार ने तैयार की है, जो अप्रकाशित है। और भी कई अत्याधुनिक कवि हैं जैसे पु० शि० रेगे० वसंत बापट, विंदा करंदीकर, मंगेश पाडगांवकर, शरच्चन्द मुक्तिबोध आदि जिनके छोटे-छोटे संग्रह अनुवाद रूप में छप सकते हैं। पर अनुवाद करने वाले अच्छे होने चाहिए। मराठी नयी कविता से पुस्तकाकार बहुत कम हिन्दी में आया है, सिवा वर्धा की राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की 'कवि श्री' माला की दो छोटी पुस्तकों के।

उपन्यासों से बहुत से अनुवाद हिन्दी में हुए हैं : हरी नारायण आपटे, नारायण सीताराम फडके, मामा वरेरकर, वि० स० खांडेकर, ग० त्र्यं० प्राडखोलकर, साने गुरुजी, वि० द० सावरकर आदि सन् '४० तक की प्रख्यात पीढ़ी के प्रायः सभी उपन्यासकारों की कुछ कृतियाँ हिन्दी में अवश्य उपलब्ध हैं। परन्तु मराठी की विशेषता—ऐतिहासिक उपन्यास-सीरीज जैसे 'नाथ माधव' की शिवाजी के समय के उपन्यास या वि० वा० हडप की अंग्रेजी राज्य पर उपन्यास की सीरीज हिन्दी में बहुत लोकप्रिय हो सकती है। हाल में उसी विधा में बहुत लोकप्रिय हुआ, साहित्य अकादेमी से गत वर्ष पुरस्कृत उपन्यास रणजीत देसाई का 'स्वामी' है। सामाजिक उपन्यासों में जो सुधार-प्रधान उपन्यासकार थे, उनके अनुवाद तो हुए हैं। पर जिन उपन्यासों में समाज की रूढ़ियों से विद्रोह का समर्थन है, उनके अनुवाद कम हुए हैं। पु० भ० देशपांडे की 'बन्धनों के पार' या 'सदाफुली'; विभावरी शिरूरकर के 'कलियों के निश्वास' या 'बली' (शायद इसका अनुवाद श्री रा० र० सर्वटे ने किया है); विश्राम बेडेकर का 'रणांगण' (यह उपन्यास एक लाख के पुरस्कार के लिए मराठी परामर्शदात्री समिति ने आशंसित किया है और अनुवाद बम्बई के प्रो० मोहोडकर ने किया है, जो अभी अप्रकाशित है); पु० शि० रेगे का 'सावित्री' और 'अवलोकिता' (हाल में दोनों के अनुवाद क्रमशः 'ज्ञानोदय, और 'धर्मयुम में क्रमशः प्रकाशित हुए। 'अवलोकिता' का अनुवाद मैंने किया था); श्री० ना० पेंडसे का 'गारंबी चा बापू' और 'रथचक्र' (प्रथम वसंत देव द्वारा अनुवादित, 'राष्ट्रवाणी' द्वारा प्रकाशित; दूसरा साहित्य-अकादेमी पुरस्कृत, शायद 'राजपाल' द्वारा शीघ्र-प्रकाश्य); व्यंकटेश माडगूलकर का 'बनगरबाडी' (अंग्रेज़ी, पंजाबी अनुवाद प्रकाशित—हिन्दी अनुपलब्ध; जरूर छपना चाहिए) आदि ऐसी ही पुस्तकें हैं। अन्नाभाऊ साठे का 'फकिरा' भी हिन्दी में छपा है। इधर जो मराठी उपन्यास मैंने पढ़े उनमें तीन उपन्यासों ने मुझे व्यक्तिशः बहुत आकर्षित किया, और मेरे पास समय होता तो मैं उन्हें जरूर अनुवादित करता, यदि कोई हिन्दी प्रकाशक मुझे उसके लिए कहता—वे हैं :

लेखक	उपन्यास
दि० वा० योकाशी	दैव चालले (देवता चले)
भालचन्द नेमाडे	कोसला (रेशम जिससे बनता है वह ककून)
चि० त्र्यं० खानोलकर	रात काली……धागर काली (रात काली… …गगरी काली)

कहानियों में मराठी में सैकड़ों लेखक हैं। जिनमें से दस-बारह बहुत ही अच्छे हैं। प्रायः हिन्दी पत्रों में उनकी कहानियाँ छपती रहती हैं, अनुवाद रूप में। इधर पूना से 'कान्टिनेंटल' प्रकाशक ने अरविंद गोखले द्वारा संपादित श्रेष्ठ कहानियाँ १९६१, '६२, '६३, '६४, '६५ ऐसे संग्रह प्रकाशित किये हैं। मैंने ये पढ़े हैं। इनमें से यदि एक चुनकर उत्तम संग्रह तैयार कराया जाय, पच्चीस-तीस कहानियों का तो हिन्दी वालों को बहुत अच्छी कथाएँ पढ़ने को मिलेंगी—शिल्प और कथ्य दोनों दृष्टियों से।

नाटकों में मराठी काफी समृद्ध रहा है। आरम्भिक काल के अधिकतर नाटक संगीत-प्रधान होने से उनके अनुवाद असंभव हैं। सामाजिक गद्य नाटकों में खाडिलकर का कीचक वध ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। वह ब्रिटिश सरकार ने ज़ब्त किया था, बँगला में दीनबन्धु मित्र के 'नील दर्पण' की तरह। गडकरी का 'एकत्र प्याला' महाराष्ट्र में एक ज़माने में बहुत लोकप्रिय था, पर उसका सौन्दर्य उसमें की गद्य-काव्य जैसी भाषा में है अनुवाद में वह सौन्दर्य पूरी तरह नहीं उतरता। उनके बाद के प्रसिद्ध नाटककारों में मामा वरेरकर, प्रह्लाद केशव अत्रे, मो-ग-रांगणेकर आते हैं। मामा के कई नाटकों के अनुवाद र-श-केलकर ने किये हैं। अत्रे के एक नाटक का अनुवाद श्रीमती वनमाला भवासकर ने किया, जिसका नाम 'विवाह-बंधन' है। अत्रे के बाद पु० ल० देशपांडे तक के नाटकों में हास्य का और स्थानीत व्यंग का बड़ा रंग है। बहुत-सा हास्य विनोद शब्द-निष्ठ होने से उसका अनुवाद असंभव है। पु-ल-देशपांडे के प्रसिद्ध नाटक 'तुझे आहे तुझपाशीं' का अनुवाद 'कस्तूरी-मृग' राहुल बरपुते ने किया। इसके बाद के दो प्रसिद्ध नाटककार विजय तेण्डुलकर और वसंत कानेटकर के दो-तीन नाटकों का अनुवाद वसंतदेव ने किया है और बंबई के पाप्युलर प्रकाशन ने प्रकाशित किया है। इनमें 'ढाई अक्षर प्रेम के' और 'श्रीमंत' को बंबई, दिल्ली, इंदौर में मंच पर प्रदर्शित भी किया गया, सफलता से। यह सब दस-बारह अच्छे अनुवाद काफी नहीं हैं। हिन्दी पाठक-दर्शकों की और मंच की आवश्यकता को ध्यान में रखकर बहुत-सी मराठी नाटिकाओं और नाटकों का अनुवाद होना चाहिए। मो-ग-रांगणेकर की 'कुलवधू', पुरुषोत्तम दारव्हेकर और रत्नाकर मतकरी के नाटकों के अनुवाद हिन्दी में कराये जाने चाहिए। एकांकी नाटक तो अनेक हैं, जो बहुत अच्छे हैं। एक उत्तम उदाहरण अनिसकुमार द्वारा संपादित 'प्रतिनिधि एकांकी' नामक हिन्दी गंदर्भ विजय तेण्डुसकर का 'चार दिन' है।

निबन्ध के क्षेत्र में मराठी से बहुत कुछ अनुवादित किया जा सकता है। ललित निबंध और वैभाविक निबन्धों का एक उत्तम संकलन किया जा सकता है जिसमें फडके-खांडेकर से लगाकर दोडके-'अनामिका' तक बहुत-से ललित-निबंध एकत्रित किये जा सकते हैं। हिन्दी में तो निबन्ध की 'रम्य रचना' विधा में रेखाचित्र, व्यक्तिचित्र, रिपोर्ताज और साहित्यिक निबन्धों को भी शामिल कर लेते हैं : मराठी 'निबन्ध' के अन्तर्गत प्रोफेसरों की लिखी समालोचनाएँ नहीं आतीं। व्यक्तिचित्रों में पु० ल० देशपांडे का नाम सबसे बढ़कर है; वैसे और भी कई मनोरंजक प्रयोग इस

दिशा में हुए हैं।

चरित्र और आत्मचरित्र यानी जीवनी और आत्मकथा के क्षेत्र में मराठी में बहुत उपयोगी कार्य हुआ है। मराठी लेखकों में ऐतिहासिकता पर बहुत ज़ोर है। महाराष्ट्र में इतिहास-संशोधन का बड़ा कार्य हुआ है। अमेरिका में 'फाइव महाराष्ट्रीय ब्राह्मिन्स' नामक दि० धों० कर्वे की एक आत्मकथाओं में से संकलित ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। कई सामाजिक कार्यकर्ता, राजनैतिक क्रांतिकारी, मज़दूर नेता, सांस्कृतिक कार्यकर्ता, लेखक, यात्री, चित्रकार, संगीतकार, अभिनेता-अभिनेत्रियाँ, नर्तकियों आदि ने बहुत ही मनोरंजक और उपयोगी ग्रन्थ लिखे हैं। उनमें से चुनकर कई अच्छी किताबें प्रकाशित की जा सकती हैं। संगीतकारों की याद और प्रशंसा और मूल्यांकन के कई उत्तम ग्रन्थ हैं। उन सब का विवरण यहाँ असम्भव है। मेरा बस चले और मुझसे कहा जाय तो मैं अनंत कार्णकर की सन '३५-३६ के करीब छपी रूस-यात्रा की पुस्तक 'धुक्यांत्न लाल तान्याकडे' (कुहरे में से लाल तारे की ओर) या 'शुद्धसारंग' नामक लेखक की 'मखमल का पर्दा' (स्टेज सम्बन्धी संस्मरण) या अफ्रीका में और अन्यत्र अपनी सर्कस से जाने वाले सज्जन की आत्मकथा अवश्य हिन्दी में अनुवादित कराऊं। घोंड़ो केशव कर्वे की छोटी-सी आत्मकथा, धर्मानंद कोसंबी का 'निवेदन' (आत्मकथा), सावरकर की 'माझी जन्मठेय' (मेरा आजीवन कारावास), तिलक की स्मृतियों के कई खंडों से संकलन, ना० ग० गोरे के निबन्ध, काका गाडगील की आत्म-कथा आदि अनेक पुस्तकों के नाम मुझे याद आ रहे हैं। पर यहाँ भी 'भिन्नरुचिर्हि लोकाः' वाली बात सार्थक है।

साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में के० ना० वाटवे के 'रस-विमर्श' और द० के० केसकर के 'आधुनिक काव्यप्रकाश' का अनुवाद छप जाय तो पता चलेगा कि हिन्दी में रस-विषयक छपी पुस्तकों में कितनी 'मौलिकता' (?) शेष है। ग-त्र्यं-देशपांडे के 'भारतीय साहित्यशास्त्र' का हिन्दी अनुवाद उपलब्ध है। मर्ढेकर, दि० के० बेडेकर, वा० स० कुसकर्णी आदि कई समीक्षकों की रचनाएँ हिन्दी में आनी चाहिए। मर्ढेकर की 'सौन्दर्य आणि समीक्षा' का अनुवाद ज़रूर छपना चाहिए, कुछ निबन्ध 'राष्ट्रवाणी' में छपे थे। सासजी पेंडर्स के 'समाज आणि साहित्य' से रा० चिं० ढेरे के 'खंडोबा' और 'नाथ-पंथ' तक कई तरह के साहित्येतिहास पर सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक प्रभाव के परीक्षणों के ग्रन्थ छपे है। उनमें प्रा० न० (फाटक के 'एक नाथ', 'ज्ञानेश्वर', 'रामदास' के अनुवाद अवश्य हिन्दी में होने चाहिए। और प्रा० ग० दं० सरदार के ग्रन्थों के भी। साहित्य अकादेमी ने रजिवाडे, चिपस्फकर, आगरकर आदि के निबन्ध-संकलन और कथा-संग्रह आदि छापे हैं, जिनके अनुवाद हिन्दी में होंगे, ऐसी आशा है।

रामनारायण उपाध्याय

निमाड़ी का प्राचीन तथा आधुनिक साहित्य

मध्यप्रदेश की लोक भाषाओं में निमाड़ी का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। भाव, भाषा, उपमा और अलंकार सभी दृष्टियों से इसका साहित्य अत्यन्त ही समृद्ध रहा है। यहाँ का प्राचीन काव्य मुख्यतः अध्यात्म और दर्शन की पृष्ठभूमि लिये हुए है। इसके पीछे चार सौ वर्षों की सुदीर्घ परम्परा रही है। प्रकृति की गोद में यह पला, नदियों के किनारे इसने विकास पाया और लोक-जीवन को सुसंस्कृत बनाने में इसने अपना योगदान दिया है।

इसे सोलहवीं शताब्दी में, कबीर के समकालीन सन्त ब्रह्मगीर मनरंगीर, सिंगा, खेमदास, दलूदास और रंकदास जैसे पहुँचे हुए सन्त-कवियों की वाणी से मुखरित होने का गौरव प्राप्त है।

नर्मदा उपत्यका के अमर गायक संत सिंगा के गुरुमह ब्रह्मगीर को यदि निमाड़ का आद्य कवि कहें, तो भी अत्युक्ति नहीं। आपके ही लिखे एक गीत की दो पंक्तियों ने सिंगा के जीवन में आमूल परिवर्तन कर दिया, और एक ज़माने के साधारण से गोली को युग-युगान्त का महान सन्त बना दिया। गीत की ये दो पंक्तियाँ हैं :—

"समझी लेवो रे मना भाई,
अंत नी होय कोई आपणो।"

'हे भाई मनुष्य अच्छी तरह समझ लो। अन्त में कोई अपना होने वाला नहीं है।' इन शब्दों ने सिंगा के जीवन पर जादू का-सा असर किया और उन्होंने अपने मन को जगत् की ओर से मोड़, ब्रह्म की ओर लगा दिया। कहते हैं, उसी के बाद आपने अपने ग्यारह सौ अध्यात्मिक भजनों का निर्माण किया था। आपका समय भी सम्वत १४५५-१५७५ माना जाता है। यही कबीर का भी काल रहा है। खण्डवा से ६ मील दूर भामगढ़ ग्राम के पास ब्रह्मगीर नामक स्थान पर आज भी आपकी समाधि बनी हैं।

ब्रह्मगीर के बाद निमाड़ में दूसरे सन्त कवि मनरंगीर हुए। आप ब्रह्मगीर के शिष्य और सिंगा के गुरु थे। आपके ही मुँह से ब्रह्मगीर का भजन सुनकर सिंगा को वैराग्य हुआ था। आपके द्वारा लिखित एक लोरी समूचे निमाड़ में प्रसिद्ध है। लोरी क्या है मानों विराट ब्रह्म की गोद में झूलने वाले माटी के पुतले मनुष्य का वर्णन है। देखिये उसके बोल हैं—

"सोहं बाळा हालरो, नित निरमळो।
निरमळ थारी जोत, सोहं बाला हाळरो।"

'सोहं पुरुष नित्य निर्मल है और निर्मल ही है, उसकी ज्योत, सोहं पुरुष नित्य निर्मल है।'

खण्डवा से ५ मील दूर टाकली मोरी गाँव में आपकी समाधि बनी हुई है। मनरंगीर के वाद निमाड़ में जो सबसे सशक्त एवम् लोकप्रिय कवि हुए वे हैं सिंगा।

सन्त सिंगा को यदि निमाड़ काव्य-जगत् का पूर्ण चन्द्र कहें तो भी अत्युक्ति नहीं। शरद की रस-भीनी निर्मल चाँदनी की तरह आपकी रचनाएँ यहाँ के सम्पूर्ण मन:प्राण को आच्छादित किये हैं। निमाड़ में यदि सन्त सिंगा नहीं होते, तो निमाड़ी भाषा इतनी परिष्कृत नहीं होती, निमाड़ की संस्कृति इतनी सहिष्णु नहीं होती और निमाड़ के जन-मन में आध्यात्मिकता की ऐसी अमिट छाप नहीं होती। आप निमाड़ के किसी भी गाँव में चले जाइये, वहाँ आप सूर और तुलसी के पदों की तरह सिंगा के पद प्रचलित पाएँगे। जब भी किसी का मन अपने-आपमें नहीं समाता, या एकान्त में घिर जाता है, तो वह सिंगा के ही शब्दों में सान्त्वना पाता आया है।

जिस तरह निषाद के वाण से बिंधे क्रौंच को देखकर वाल्मीकि के मुँह से अनायास ही आदि काव्य के स्वर फूट निकले थे, उसी तरह शरीर की नश्वरता के सम्बन्ध में ब्रह्मगीर के शब्दों से बिंधकर सिंगा के मुँह से भी काव्य की अमृत-वाणी झर निकली थी, और अपने ग्यारह सौ आध्यात्मिक भजनों का निर्माण किया था। आपकी रचनाएँ कबीर की निर्गुण-धारा, रहस्यवाद और फक्कड़पन लिये हुए हैं। अपने एक गीत में अव्यक्त ब्रह्म का निरूपण करते हुए आपने लिखा है—

···निर्गुण ब्रह्म है न्यारा। कोई समझो समझणहारा॥
त्रिकुटी महल में अनहद बाजे। होत शब्द झणकारा॥
सुकमणी सेज शून्य मंऽ झूले। ओ सोहं पुरुष हमारा॥

एक दूसरे गीत में लिखा है—

"पाणी पवन से हो पातळा, जैसे सूर्या में घाम।
ज्यों हों शीश का चांदणा, ऐसो मेरो राम॥"

अर्थ है—"जो पानी और पवन से भी पतला है, जैसे सूर्य की धूप या चन्द्रमा की चाँदनी, ऐसा अव्यक्त मेरा राम है। अर्थात् जो धूप और चाँदनी की तरह दिखाई देकर भी पकड़ में नहीं आ सकता और पकड़ में न आने पर भी जिसके अस्तित्व से इनकार नहीं किया जा सकता।"

अपने इस सन्त-कवि पर यहाँ की जनता की कुछ ऐसी असीम श्रद्धा रही है कि भले ही सूर और तुलसी के नाम पर कोई ग्राम नहीं बसे हों, मेले नहीं लगते हों, लेकिन आपकी समाधि पर आपकी निर्वाण-तिथि के अवसर पर निमाड़ का सबसे बड़ा मेला लगता है और आपकी समाधि के पास जो गाँव बसा है वह 'सिंगाजी' के ही नाम से प्रसिद्ध है। अभी तक आपके द्वारा लिखित निम्न सामग्री प्राप्त हो चुकी है—

(१) सिंगाजी का दृढ़ उपदेश (२) आठ बार सिंगाजी का (३) पन्द्रह दिन (४) बावा सिंगाजी की बाणावली (५) आतमध्यान (६) सिंगाजी की नराज (७) सैकड़ों मौखिक भजन, जिनकी प्रतिलिपि की जा चुकी है।

आपका जन्म संवत् १५७६ में बड़वानी, मध्य प्रदेश के खजूरी ग्राम में हुआ और चालीस वर्ष की अवस्था में सन् १६१६ में आपने हरसूद तहसील के सिंगाजी नामक ग्राम में समाधि ली।

खेमदास सिंगा के अनन्य भक्त थे। आपके द्वारा लिखित सिंगाजी की परचरी सिंगा पर एकमात्र प्रामाणिक ग्रन्थ है। यह छन्दबद्ध ओवी में लिखा है। देखिये इसके कुछ पद ये हैं—

सिंगनी नाम, जात का गवळी
बजावे पावा मुहर बंशाली।
गावऽ गीत, घुमावऽ देव,
हरी भजन को न जाने भेव।
रहे उद्‌भुत करे चाकरी,
और नहीं जाणे बात दूसरी

यह मोटे देशी कागज पर ४ × ६ की साइज में १४० पृष्ठों में सम्पूर्ण है। इसके निर्माण काल और लेखक के सम्बन्ध में ग्रन्थ के अन्त में लिखा है।

संवत १७५१ में खेमदास ने इसे लिखा और संवत् १८७९ में गोवरधनदास ने उसी पर से इसकी प्रतिलिपि तैयार की। इससे खेमदास जी का भी समय १७५१ के आसपास प्रतीत होता है।

आइये, अब मैं आपको निमाड़ अंचल के विनम्र साधक दलुदास से परिचित करा दूँ। आप सिंगा के भक्त ही नहीं, उनके पौत्र भी थे और उन्हें भगवान की तरह मानते थे। आपका जीवन क्या क्या था, मानों सिंगा के प्रति समर्पित एक विनम्र श्रद्धांजलि। आपने उन्हीं की साधना-उपासना में अनेकों सुन्दर गीतों की रचना की थी। आपने अपने एक गीत में अपने प्रभु से अपने लिए कितने सादगीपूर्ण जीवन की माँग की है। गीत क्या है, मानो इसमें आपने अपनी आतमा उतारकर रख दी है। गीत के बोल हैं—

"सिंगा स्वामी अरजी सुणजो, कोई का दागदार मत कीजो
नर नारायण देह दीनी है, गुरु म्हारी पल पल खबरा लीजो,
कोई का दागदार मत कीजो।"

निमाड़ अंचल के काव्य को नवीन शैली प्रदान करने और नवीन उपमाओं एवं कल्पनाओं से सँवारने के नाते धनजीदास का नाम सदैव स्मरणीय रहेगा। आप जाति के नाई थे और गौगावाँ के समीपस्थ एक गाँव में आपका जन्म हुआ था। वेदा नदी के किनारे आज भी आपकी समाधि बनी हुई है।

यों तो आपके लिखे 'अभिमन्यु-व्याह', 'लीलावती', 'सुभद्रा-व्याह' आदि प्रसिद्ध रचनाएँ हैं, लेकिन इन सबसे अधिक आपकी 'मोतीलीला' है। यह १७५ पदों

में सम्पूर्ण एक काव्य है। भाव, भाषा, उपमा और अलंकार की दृष्टि से यह एक अनूठी कृति है। इसमें आपने एक धार्मिक कथा के आधार पर, अत्यन्त ही मौलिक एवं नवीन ढंग से, रूठी हुई राधिका को मनाने के लिये मोतियों के व्यापारी के रूप में श्रीकृष्ण का वर्णन किया है।

निमाड़ अंचल के काव्य की चर्चा करते हुए अब हम १९वीं सदी में प्रवेश कर रहे हैं। रंकदास १९वीं सदी के लोकप्रिय कवि हो गये। सिंगा की निर्गुण धारा के बाद, निमाड़ में सगुण काव्यधारा को प्रवाहित करने का श्रेय आपको है। आप हरदा तहसील के नजरपुरा ग्राम के निवासी गंगागीर के शिष्य और कृष्ण के उपासक थे। आपका काल सम्वत् १८४८-१९३२ रहा है। आपने अपनी रचनाओं में 'माया', 'ममता' और 'तृष्णा' आदि का बड़ा ही सुन्दर विवेचन किया है।

इस तरह निमाड़ अंचल का प्राचीन काव्य अपने में कबीर की निर्गुणधारा और सूर और तुलसी की सगुण धारा को सहेजे, पिछली चार शताब्दियों से निरन्तर प्रवाहमान रहा है।

आधुनिक गद्य एवं पद्य

निमाड़ी भाषा के आधुनिक गद्य एवं पद्य के निर्माण में शिक्षित वर्ग का जितना हाथ है, उतना ही ग्रामीण जनता का भी योगदान रहा है।

खण्डवा के श्री माणिक्यचन्द्रजी जैन द्वारा लिखित 'सुखानन्द-मनोरमा' नामक नाटक में सबसे पहले एक पात्र के रूप में निमाड़ी भाषा का प्रयोग किया गया। इसमें शिष्ट हास्य का उत्तम नमूना है। यह पुस्तक अब अप्राप्य है। इसके बाद 'वाणी' के निमाड़ अंक में प्रकाशित श्री तुलसीदास गांवसिंदे की 'कंजूस-खोपड़ी' नामक कहानी भी निमाड़ी भाषा की एक अत्यन्त ही सुन्दर और मनोरंजक रचना रही है। इसी तरह की एक बात मैंने अकोला से प्रकाशित 'मानवता' में दी थी। उसमें 'लोक-कहावतों' के माध्यम से बात-की-बात कही गई है।

कहानियों की दिशा में श्री नारायण बावने 'वरुण' ने निमाड़ी भाषा में अनेकों प्रयोग किये हैं। वे निमाड़ी में सिद्धहस्त रहे हैं। एक ओर जहाँ उन्होंने 'हुशियार घर वाळई' 'याइ-याऐण का सवाल-जवाब' और 'राजा को गप्पो' जैसी सुन्दर व्यंग्य और हास्य-पूर्ण रचनाएँ लिखी हैं, वहीं वे, अपनी बहादुरी के लिये प्रसिद्ध 'टंटिया मामा', और आत्मोत्सर्ग के लिये प्रसिद्ध 'कुलवन्ती बहू' की कथा को भी भूले नहीं है, जिसकी याद में आज भी 'वरला के तालाब' की आँखें डबडबाई हुई हैं।

निमाड़ी लोक-कथाओं की दृष्टि से भाई शिव नारायण उपाध्याय ने महत्त्व-पूर्ण कार्य किया है। आपने निमाड़ी लोक-कथाओं का एक संग्रह 'राजा को सपनो' नाम से सम्पादित किया है। श्री शिवसहायजी चतुर्वेदी द्वारा सम्पादित विभिन्न जन-पदों की लोक-कथाओं के प्रतिनिधि संग्रह 'हमारी लोक-कथाएँ' में आपकी 'जंगी-भूत' शीर्षक लोक-कथा संग्रहीत है। पब्लिकेशन डिवीजन से प्रकाशित 'कमल और केतकी' नामक पुस्तक में लेखक की दो निमाड़ी लोक-कथाएं संग्रहीत हैं। श्री डॉ० कृष्णलाल

हंस के निमाड़ी लोक-कथाओं के दो छोटे-छोटे संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

युग की पुकार से भी निमाड़ी गद्य-साहित्य ख़ाली नहीं है। श्री हेमेन्द्रनाथ शर्मा द्वारा लिखित 'धरती माता' शीर्षक कहानी में आप आचार्य विनोबा के भूमिदान आन्दोलन के स्वर सुन सकते हैं। संक्षेप में, निमाड़ी गद्य के ये कुछ पद-चिह्न हैं।

निमाड़ का पद्य-साहित्य अत्यन्त समृद्ध रहा है। इसमें अनेकों नये-नये प्रयोग हुए हैं, विभिन्न प्रकार की रचनाएँ लिखी गई हैं और इनके निर्माण में ग्रामीण और शहराती जनता का समान योगदान रहा है। इसमें उन निरक्षर देहातियों का भी सहयोग है, जिन्होंने शिक्षा के नाम पर एक अक्षर नहीं पढ़ा, और यात्रा के नाम पर अपने ज़िले की सीमा नहीं लाँघी। लेकिन फिर भी जो सूझ और प्रतिभा के ऐसे धनी रहे हैं कि उनकी रचनाएँ निमाड़ के जन-जन की ज़बान पर तैरने आई हैं।

आधुनिक पद्य की दृष्टि से 'सलिता का व्याह' निमाड़ी भाषा की सबसे पहली प्रकाशित रचना है। यह खण्डवा से प्रकाशित हुई थी और गणपत जी ढोंढोवा नामक व्यक्ति इसके प्रकाशक थे। इसका दूसरा संस्करण भी संवत् १९६६ में जगदीश्वर प्रेस बम्बई से निकल चुका है। यह १४७ पृष्ठों की पुस्तक है और निमाड़ में अत्यधिक लोकप्रिय रही है। भजन-मण्डलियों में इसका सर्वत्र प्रसार है।

ख्याल और लावणी-लेखकों में खुड़गाँव के श्री वंकटराम आनन्दराम का नाम सदैव स्मरणीय रहेगा। ये दोनों घनिष्ठ मित्र थे और इन्होंने 'वंकट आनन्दराम' के संयुक्त नाम से ही अनेकों रचनाएँ लिखी हैं। इनके ख्याल निमाड़ के गाँवों में बड़े ही प्रेम से गाये जाते हैं। इनमें से एक का जब निधन हो गया, तो दूसरे को इतना गहरा धक्का लगा था कि उस पर उन्होंने जो रचना की वह 'करुणा' की दृष्टि से समूचे निमाड़ी साहित्य की अनूठी कृति है।

गौगाँवाँ के श्री बोंदर कन्हैयालाल ने भी अनेकों गरबी, लावणी और ख्यालों की रचना की है। इनकी रचनाएँ अधिकांशतः समाज-सुधार सम्बन्धी हैं।

बरुड़ के श्री कृष्णराम परशराम और उमरखली के श्री फकीरनाथ जी की कुछ रचनाएँ, श्री कालूराम जी गंगराडे के सम्पादन में खण्डवा से प्रकाशित 'जाति-सुधारक' नामक पत्र में प्रकाशित भी हो चुकी है। इनकी रचनाओं पर सिंगा की निर्गुणधारा का स्पष्ट प्रभाव प्रतीत होता है।

श्री शिवचरणलाल द्वारा रचित 'खण्डवा की आग' का वर्णन भी अपने ढंग की अनूठी कृति है। आग तो लगी भी, और बुझा भी दी गई, लेकिन यह गीतकार की कलम का जादू है कि उनकी पंक्तियों में ४५ वर्ष पूर्व लगी आग का वर्णन आज भी ज्यों-का-त्यों देखा-सुना जा सकता है।

ख्यालों की दृष्टि से सायल्ली उस्ताद का नाम भी भुलाया नहीं जा सकता। उनके द्वारा रचित 'भैंस का ख्याल' बहुत प्रसिद्ध रचना है। इसमें एक देहाती की भैंस लाने की महत्त्वाकांक्षा, स्वयं की गरीबी और साहूकार के शोषण और अन्त में भैंस के भी खराब निकल जाने का अत्यन्त ही करुण और सजीव चित्रण है। यह गीत मुझे अपने ही गाँव कालमुखी के सुप्रसिद्ध ख्याल-गायक श्री धनसिंह गुर्जर से प्राप्त हुआ

था। और मैंने जब श्री देवेन्द्र सत्यार्थी को उनकी देश-व्यापी यात्रा के सिलसिले में फैजपुर कांग्रेस में इसे उन्हें सुनाया, तो इसकी पहली ही पंक्ति पर वे मुग्ध रह गये थे। इसका पहला चरण है—

तुम लाओ नी मसी हऊँ मही-दुध-माखन खाउंगा,
सौंदारऽ सी उठी नऽ मही रे खूब धमकाउंगा।
एक तीन साल सी बठी तुम्हारा भरसऽ
तुम लाओ कथई से, बंधी जांगण मंऽसरसऽ
भैंसो सारी चारो लाऊंगा, नऽ चारो लाऊंगा :
सौंदार से उठी नऽ मही रे खूब चमकाऊंगा ॥"

आधुनिक कविता की दृष्टि से भी निमाड़ी लोक-साहित्य किसी से पीछे नहीं है। इसकी जो सबसे बड़ी विशेषता है वह यह कि इसे लोक-जीवन से तदाकार व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त है।

ग्रामीण पद्य-लेखकों की चर्चा करते समय, हीरापुर ग्राम के छोग्या नामक भिल्ल नौजवान को भुलाया नहीं जा सकता जो अपने ख्यालों के लिए आसपास के अनेक गांवों में प्रसिद्ध रहा है। और बिना पढा-लिखा होने पर भी जिसे तत्काल ख्याल-रचना की अद्‌भुत सूझ प्राप्त है। भादों के महीने रास-मण्डल के दिनों वह जिस गाँव में पहुँच जाता है, वहाँ के कार्यक्रम में मानो प्राण आ जाते हैं। अभी-अभी सन् ५६ में जब निमाड़ में अकाल पड़ा, तो सड़क पर काम करते हुए उसने जिन गीतों की रचना की, उनमें मानो सहस्र-सहस्र जनता के दुख-दर्द की छाप उभर आई है। उसके द्वारा लिखित एक गीत :

"खुली गई सड़क भैय्या, लगी गई घाड़की
माटी फेकी न म्हारी, दुखो आई टालकी ॥

समूचे निमाड़ के मजदूरों द्वारा सामूहिक गान की वस्तु बन चुकी है।

आधुनिक कविता लेखकों में बरुफाटक के श्री बाबूलाल अवस्थी की रचनाओं में गरीबी के बीच की मुस्कराने वाली ज़िन्दगी और किसान के उज्ज्वल भविष्य के प्रति दृढ़ आस्था के दर्शन किये जा सकते हैं।

निमाड़ी में व्यंग्य लिखने वालों में महेश्वर के श्री बाबूलाल सैन और श्री विद्याधर टेलर का महत्त्वपूर्ण स्थान है। श्री बाबूलाल सेन की कलम में यदि आज की विषम सामाजिक व्यवस्था के सजीव चित्र प्रस्तुत करने की क्षमता है तो श्री विद्याधर टेलर की रचनाओं में आज की राजनीतिक स्थिति पर कसकर प्रहार किया है। आपकी रचनाएँ गुदगुदाती ही नहीं वरन् तिलमिला भी देती हैं।

भोपाल के श्री लक्ष्मणसिंह डासौंदी 'आयो आयो चुड़ी वालो' शीर्षक रचना के माध्यम से समूचे निमाड़ में पहचाने जाते हैं।

अंजड़ के श्री गौरीशंकर 'गौरीश' अपने छोटे-छोटे पदों में गेय-गीतों की रचना करने में सिद्धहस्त हैं : उनके एक वर्षा-गीत में वर्षा ही नहीं, वर्षाकालीन ग्रामीण जीवन का अत्यन्त ही सजीव चित्र उतरा है। कुछ ऐसे लगता है मानो रिमझिम की

तान पर नन्हीं-नन्हीं बूँदों की तरह नन्हें-नन्हें शब्दों में कोई संगीतमय कथानक चल रहा हो।

सेगाँव के श्री सोमेश्वर जोशी की रचनाओं में आज की विषम सामाजिक व्यवस्था का अत्यन्त ही मर्मस्पर्शी चित्रण हुआ है। उनकी 'दसेरो गयो न दिवाळई आई' शीर्षक रचना को पढ़कर कुछ ऐसे लगता है मानो अपनी अन्तरात्मा के दर्द और आँसुओं से उन्होंने इसकी रचना की है।

खण्डवा के सुप्रसिद्ध लोकगीतकार भाई बलराम पगोर ने निमाड़ी में करीब एक सौ गीतों की रचना की है। भाव, भाषा, उपमा व अलंकार सभी दृष्टियों से आपकी रचनाएँ निमाड़ी साहित्य के लिए गौरव की वस्तु हैं। रेडियो पर निमाड़ी लोकगीतों को मौलिक स्वरूप में प्रस्तुत करने का श्रेय भी आपको रहा है। कालमुखी के भाई शिवनारायण उपाध्याय की 'काई ई ओज गाँव आय' तथा 'हाँरे काका ई ओज गांव आय' शीर्षक रचना भी अत्यन्त लोकप्रिय रही है।

राजाभाऊ व्यास की रचनाएँ हमारे ही घर-आँगन के सजीव चित्र लिये हुए हैं। आपके द्वारा लिखित 'बईण की चिट्ठी' में बहन की मनोव्यथा का अत्यन्त ही मार्मिक चित्रण संजोया गया है।

बड़वाह के श्री प्रभाकर द्विवेदी की 'ई कूण आय' शीर्षक पुस्तक निमाड़ी पद्य-साहित्य की अत्यन्त सशक्त कृति है। आपने निमाड़ी लोक-गीतों की शैली में अत्यन्त ही सुन्दर एवं मौलिक प्रयोग किए हैं।

वहेगाँव के श्री रामराव जी चौरे की रचनाओं पर लोक-जीवन ही नहीं अध्यात्म का अधिक प्रभाव है।

बुरहानपुर के श्री मंशाराम यादव ने नवनिर्माण-सम्बन्धी रचनाएँ विशेष रूप से लिखी हैं।

खलघाट के श्री भगवान शर्मा द्वारा लिखित 'नर्मदा अष्टक' में नर्मदा का सजीव चित्रण हुआ है।

लोणारा के श्री मांगीलाल सोनी वैद्य द्वारा लिखित 'गरबी संग्रह' निमाड़ी और गुजराती की लोकप्रिय गरबियों का पहला प्रामाणिक संग्रह किया जा सकता है।

इसी तरह श्री अरविन्द जोशी पुष्प, शंकरलाल गुणखाण, नारायण बावने वरुण, मोतीलाल वर्वे 'मुक्त', शंकरलाल पाटीदार, मुरलीमनोहर कायरे व हेमेन्द्रनाथ शर्मा निर्मल अझेरर, रेवाशंकर भांगरोने, त्रिभुवनसिंह चौहान प्रेमी व दिनकर राव दिनेश की रचनाओं में भी निमाड़ी पद्य के उज्ज्वल चरण चिन्ह अंकित हैं।

शोध एवं संकलन कार्य

श्री सुकुमारजी पगोर के प्रयत्नों से सन् १९३४ में 'सिंगाजी-साहित्य शोधक मण्डल' की स्थापना की गई एवं पूरे तीन वर्षों तक सिंगाजी के मेले के अवसर पर उत्सवों का आयोजन कर सिंगा साहित्य पर शोधपूर्ण कार्य किया गया। सन् ३० में सिंगा के जीवन एवं भजनों पर 'सिंगाजी' नाम की एक छोटी-सीं अध्ययनपूर्ण पुस्तिका

भी प्रकाशित की गई।

श्री विश्वनाथ खोड़े के सम्पादन में खरगोन से प्रकाशित 'वाणी' पत्रिका के माध्यम से भी निमाड़ी लोक-साहित्य पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। उसका 'निमाड़ अंक' इस दिशा में महत्त्वपूर्ण प्रकाशन है।

सन् १९४० से मैं निमाड़ी लोक-साहित्य के खोज-शोध एवं अध्ययन के कार्य में संलग्न हूँ। सन् १९४९ में 'निमाड़ी लोकगीत' नाम से मेरा एक लोकगीत-संग्रह, सन् १९५८ में 'जब निमाड़ गाता है' नाम से दूसरा लोकगीत-संग्रह तथा सन् १९६४ में 'निमाड़ी और उसका लोक-साहित्य' नामक अध्ययन पुस्तक तथा सन् १९६५ में निमाड़ अंचल के १९वीं सदी के लोकप्रिय सन्त सिंगाजी पर 'सन्त-सिंगाजी एक अध्ययन' पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है। इनके अलावा 'सम्मेलन पत्रिका', 'परिषद-पत्रिका', 'सप्तसिन्धु', 'राजस्थान भारती', 'मरु भारती', 'त्रिपथगा', 'लोकायन' 'इंडियन फोकलोर' (अंग्रेज़ी) आदि में समय-समय पर अध्ययनपूर्ण निबन्ध प्रकाशित होते रहे हैं। 'शुक्ल अभिनन्दन-ग्रन्थ' एवं 'पृथ्वीराज कपूर अभिनन्दन-ग्रन्थ' में भी 'निमाड़ी लोक-साहित्य' एवं 'लोक रंगमंच : एक झलक' शीर्षक अध्ययनपूर्ण निबन्ध प्रकाशित हुए हैं।

लोक-साहित्य तथा पुरातत्त्व के विद्वान अन्वेषक डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल द्वारा हिन्दी जनपदीय परिषद के मुखपत्र 'जनपद' में 'निमाड़ी लोकगीत' पुस्तक पर एक विस्तृत अध्ययनपूर्ण निबन्ध प्रकाशित किया गया।

श्री श्याम परमार द्वारा 'मालवी लोक-साहित्य' परिषद के अन्तर्गत निमाड़ पर्यवेक्षण दल का आयोजन कर निमाड़ी लोक-साहित्य के संकलन का कार्य भी किया गया। आप मालवी भाषा के विशेषज्ञ हैं।

प्रो० नेमीचन्द जैन ने भील और बोरलों पर गम्भीर शोध-कार्य किया है। 'भील, भाषा-साहित्य और संस्कृति' तथा 'भीली हिन्दी शब्दकोष' आपकी महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं।

नागपुर के श्री कृष्णलाल हंस ने 'निमाड़ी और उसका लोक-साहित्य' पर तथा श्री रमेशचन्द्र गंगराड़े ने 'सिंगाजी' पर डाक्टरेट प्राप्त की है। ये दोनों ग्रन्थ निमाड़ी लोक-साहित्य के गौरव ग्रन्थ हैं।

निमाड़ी लोक-साहित्य के शोध, अध्ययन, संकलन एवं प्रकाशन के लिए सन् १९५३ में 'निमाड़ लोक-साहित्य परिषद' नामक संस्था की स्थापना की गई। सन् ५७ में इसके द्वारा 'निमाड़ी कविताएँ' नामक एक छोटी-सी पुस्तिका भी प्रकाशित की गई। परिषद के मुखपत्र के रूप में श्री जड़ावचन्दजी जैन के संचालन एवं श्री जगदीश विद्यार्थी, रामनारायण उपाध्याय एवं महेन्द्र जैन के सम्पादन में 'निमाड़' नामक एक पाक्षिक पत्र भी प्रकाशित किया गया जिसमें निमाड़ी लोक-साहित्य पर उपयोगी सामग्री प्रकाशित होती रही है।

डॉ० सत्येन्द्र

बाबू गुलाब राय

बाबू गुलाबराय जी से मेरा मानसिक सम्बन्ध तो 'नवरस' नामक ग्रन्थ के द्वारा सम्भवतः सन् १९२५-२६ में ही हो गया था।

बी० ए० में दर्शन के अन्तर्गत मनोविज्ञान भी मेरा विषय था, अतः नागरी प्रचारिणी सभा, आगरा के विद्यालय में विशारद तथा साहित्य रत्न की कक्षाओं को 'रस' का अध्यापन कराते समय मुझे मनोवैज्ञानिक प्रणाली ठीक लगती थी और उसका एक रूप बाबूजी ने ही छोटे से 'नवरस' में दिया था, अतः इससे मैं प्रभावित हुआ। जब बाबूजी ने आगरे को अपना स्थायी निवास बनाया तब मिलना हुआ होगा, पर तब भी पहले साक्षात्कार में वे चिरपरिचित लगे होंगे, ऐसा मुझे आभास होता है। क्योंकि मैं और वे मिले, तब क्या कुछ कैसे हुआ यह मुझे स्मरण नहीं अतः यह ऐतिहासिक घटना भी, एक सहज व्यापार के रूप में घटित हुई, और जिस क्षण से मुझे बाबूजी के पारस्परिक सम्पर्क का कुछ भी स्मरण होता है तो लगता है कि उससे भी बहुत पहले से मैं उनसे मिलता-जुलता रहा हूँ।

यथार्थ यह है कि बाबूजी आगरे में १९३३ में आये, जैसा कई व्यक्तियों ने अपने संस्मरणों में लिखा है, और मैं १९३० में ही आगरे से मथुरा चला गया था पर बीच-बीच में आगरे तो आना होता ही था, क्योंकि आगरे में ही मेरा घर था, पिताजी और छोटा भाई तो आगरे ही रहते थे, माता जी भी बहुधा आगरे ही रहती थीं, अतः आना होता ही था। आगरे आये तो नागरी प्रचारिणी सभा में जाना अनिवार्य ही हुआ, महेन्द्र जी से मिलना भी अनिवार्य। यहीं कहीं बाबूजी के दर्शन हुए होंगे।

फिर मैंने अनुभव किया कि बाबूजी का स्नेह मुझ पर पिता के समान है। यह भी अनुभव किया कि उनमें और मुझमें अत्यधिक आत्मिक निकटता है। बाबूजी के सम्बन्ध में लिखे गए अन्य विद्वानों तथा व्यक्तियों के संस्मरण मैंने पढ़े तो लगा कि वे सब भी बाबूजी से ऐसा ही निकटत्व अनुभव करते थे जैसा मैं करता था पर मेरी निकटता तो अन्य उपादानों के कारण बढ़ी ही और सम्भवतः यथार्थ आध्यात्मिक निकटता बनती गयी। जैसे 'साहित्य-संदेश' के संपादक के नाते हम दोनों साथ-साथ छपे, 'आकाशवाणी के कितने ही कार्यक्रम ऐसे बने जिनमें संवादात्मक चर्चा थी, इसके लिए बाबूजी के साथ बहुधा मुझे ही रखा गया—यों कुछेक ऐसी चर्चाएँ एक दो अन्य विद्वानों के साथ भी सम्भवतः उन्हें करनी पड़ी थीं, पर सबसे अधिक चर्चाओं में हम दोनों रहे ऐसा मेरा अनुमान है। और मुझे डी० लिट्० की उपाधि उसी कन्वोकेशन में मिली जिसमें

बाबूजी को डी० लिट्० की 'आनरिस काजा' (सम्मानार्थ) उपाधि प्राप्त हुई। कुछ प्राचीन कवियों पर समीक्षात्मक निबन्धों का एक संग्रह बाबूजी को तैयार करना था और उसमें दो या तीन निबन्ध उन्होंने मुझसे लिखवाए। उसकी भूमिका में बाबूजी ने इस बात की प्रसन्नता व्यक्त की थी कि मैं वे निबन्ध उसी शैली में लिख सका था जो बाबूजी की अपनी शैली थी—इसी प्रकार आगरा नागरी प्रचारिणी सभा तथा व्रज-साहित्य मंडल में मुझे बाबूजी के बढ़ते नैकट्य का आभास मिलता रहा। वास्तव में नैकट्य क्या, वह तो बाबूजी की उदारता और महानता थी जिसकी छाया में मैं औरों की ही भाँति आता गया, यह बात दूसरी है कि कुछ संयोगों के कारण उस छाया के केन्द्र के निकट मेरी पहुँचने की गति कुछ तेज रही, या मुझे यह लगा कि वह केन्द्र मेरे निकट अन्य की अपेक्षा तेजी से आ रहा है। सम्भवत: बाबूजी को भी इसका कुछ आभास अवश्य था, क्योंकि मुझे बताया गया है कि बाबूजी के अभिनन्दनार्थ जो ग्रन्थ उनके जीवन काल में ही तैयार किया जा रहा था, उसमें बाबूजी का आग्रह था कि सत्येन्द्र जी को अवश्य रखा जाय। यदि यह सत्य है तो इससे बढ़कर मेरे लिए गौरव की बात और क्या हो सकती है।

मैं समझता हूँ कि इसी प्रकार किसी न किसी प्रकार के मेरे और बाबूजी के पारस्परिक नैकट्य का ज्ञान औरों को भी है। तभी 'आलोचना' ने भी बाबूजी पर निबन्ध लिखने का भार मुझे दिया है। यद्यपि बाबूजी बाहर से आकर आगरे के बने और मैं आगरे का जन्म से होकर पढ़ लिख कर आगरे से बाहर रोटियाँ कमाता फिरा फिर भी दोनों ही कहे तो आगरे के ही जायेंगे। बाबूजी निश्चय ही आगरे के चिर-स्मरणीय गौरव हैं।

व्यक्तित्व

पर नहीं; वे आगरे के ही गौरव नहीं, समस्त हिन्दी-जगत के गौरव हैं। कौन है जो बाबू गुलाब राय और उनके कृतित्व से परिचित नहीं।

गोरा रंग, मँझोला कद, स्थूलता की कुछ झलक लिए हुए, छरहरी शरीर-यष्टि, चश्मे से झाँकने वाली बड़ी आँखें, जिनकी पलकों से गम्भीरता और गुलाबी कोयों में स्मित हास की रेखाएँ हैं; नीचे के ललित ओठों को चूमने के लिए उत्सुक घनी सफेद मूँछें, गोल मुख, चौड़ा माथा। इनका ऐसा सीधा-सादा व्यक्तित्व एक सहज तेज से देदीप्यमान रहता है। बन्द कालर का कोट तथा अचकन और चूड़ीदार पाजामा। बाबूजी को काले रंग के कपड़े पसंद नहीं थे। गांधी टोपी, जो फैल्ट कैप को परास्त कर बाबूजी के शिर को उनके मन की भाँति धवल-उज्ज्वल बनाती थी।

बाबूजी छतरपुर के सामन्तवादी वातावरण में रहे थे, पर उनका हृदय सदा सामान्य-जन जैसा रहा, दुर्बलों और दीनों के प्रति द्रवित होने वाला। इस प्रवृत्ति के कारण ही वे अत्यन्त सहिष्णु हो गए थे। मैंने ऐसे प्रसंग देखे थे कि जिनमें बाबूजी का कुछ उपहास किया गया। सभा में उपस्थित अन्य सज्जनों को यह बात अखरी, पर बाबूजी अविचलित। ठीक है, जो स्वयं अपने ऊपर हँस सकता है। ऐसे भी क्षणों का

ज्ञान मुझे है जब एक प्रबल व्यक्ति किसी अपने आश्रित के साथ कोई कठोर व्यवहार करने पर तुला हुआ है, बाबूजी का भी वह हितैषी है, और वह बाबूजी से अपने पक्ष का समर्थन चाहता है—बाबूजी का हृदय उस आश्रित की ओर है। ऐसे व्यावहारिक तनाव के क्षणों में भी वे समझौते अथवा समन्वय का मार्ग ही अपनाते थे। उनका आग्रह ऐसे अवसरों पर भी सत्य की ओर ही होता था, यथा सम्भव वे असत्य भाषण तो क्या असत्य आचरण भी नहीं करते थे।

उनका मन अत्यन्त निष्कलुष था। अपने साथियों और मित्रों की उन्नति से उन्हें प्रसन्नता होती थी। मैं जानता हूँ कि कुछ लोग उनसे अप्रसन्न थे। कुछ तो इसलिए अप्रसन्न थे कि वे समझते थे कि कुछ थोड़े-से रुपयों के लिए बाबूजी एक कालेज में प्रध्यापकी करते हैं, ऐसे विद्वानों को रुपयों का लालच अच्छा नहीं। पर बाबूजी को तो प्राध्यापन में एक आध्यात्मिक आनन्द मिलता था। कुछ इसलिए अप्रसन्न थे कि उनकी राय में बाबूजी में विद्वत्ता तो है नहीं, पर वे पुजते बहुत हैं। इसमें बाबूजी का क्या वश था। वे किसी से यह कहते नहीं सुने गए कि उनका कोई सम्मान करे। दूसरों के सम्मान की योजनाओं में वे हार्दिक सहयोग देते थे। ऐसे कुछ व्यक्ति जहाँ-तहाँ उनकी निन्दा भी करते थे, पर मैंने बाबूजी के मुख से किसी के सम्बन्ध में भी कोई निन्दा की बात सुनी हो मुझे स्मरण नहीं।

हाँ, बाबूजी में व्यवहार-बुद्धि भी पूरी थी। मैं समझता हूँ सामान्यतः उन्हें कोई ठग नहीं सकता था। बड़े-बड़े कुशल प्रकाशकों से भी उनके प्रिय सम्बन्ध थे। बाबूजी स्वयं कहते थे कि पुस्तकों से जितनी आय उनकी है उतनी सम्भवतः किसी अन्य ऐसे लेखक की नहीं होगी, जो स्वयं प्रकाशक नहीं। इस स्तर पर भी पूर्ण प्रसन्न और निश्चिन्त थे।

बाबूजी का जन्म माघ शुक्ल चतुर्थी को, संवत् १९४४ वि० में हुआ। यह सौभाग्य इटावे को प्राप्त हुआ। महाकवि देव का जन्मस्थान भी इटावे के पास ही था। इटावे में साहित्यकार पैदा होते हैं।

पर यथार्थतः बाबूजी का पैतृक स्थान तो जलेसर है।

पिता-माता

आपके पिता थे बाबू भवानी प्रसाद और माता का नाम था गोमती देवी। दोनों बड़े भक्त और धर्मनिष्ठ व्यक्ति थे।

भाई

आपके भाई श्री रामचन्द्र गुप्त हिमाचल प्रदेश के फाइनेन्स विभाग में शिमला में असिस्टेण्ट सेक्रेटरी थे, और अब उस पद से अवकाश ग्रहण कर लिया है।

पुत्र-पुत्रियाँ

आपके तीन पुत्र तथा पाँच पुत्रियाँ। बड़े पुत्र श्री रामशंकर गुप्त सैन्ट्रल एक्सा-

इज़ के एक अधिकारी हैं। मझले श्री शिवशंकर एम० डी० भूपाल में मेडिकल कालेज में विभागाध्यक्ष हैं। सबसे छोटे श्री विनोदशंकर सिविल इंजीनियरिंग में ओवरसियर हैं।

बाबूजी का कहना था कि गृहस्थ की दृष्टि से वे पूर्णतः सुखी हैं। यथार्थ में उनके घर भर में स्नेह का वातावरण रहता था। उनके जीवन भर में सम्भवतः घर की कोई जटिल-विकट समस्या इनके सामने खड़ी नहीं हुई। सभी पुत्र आज्ञाकारी और योग्य, अपने-अपने स्थान पर प्रतिष्ठा पाने वाले। सभी को बाबूजी का ध्यान था।

शिक्षा

आपने आगरा कालेज से सन् १९११ में बी० ए० पास कर दर्शनशास्त्र में एम० ए० सन् १९१३ में पास किया। एम० ए० के लिए आपने सेन्टजोन्स कालेज आगरा में शिक्षा पायी थी। एल-एल० बी० आपने आगरा कालेज से किया।

छतरपुर में

शिक्षा समाप्त करके आप छतरपुर राज्य में महाराज के प्राइवेट के पद पर नियुक्त हुए। वहाँ आपने न्यायाधीश का भी काम सँभाला। १९१३ से १९३२ तक राज्य की सेवा करके आप आगरा लौट आये। तब से आगरे में बैठकर आपने अनवरत साहित्य-सेवा की।

साहित्यिक सेवाएँ

बाबूजी अनेक प्रसिद्ध साहित्यिक आयोजनों का सभापतित्व कर चुके हैं। अखिल भारतीय ब्रज साहित्य-मण्डल के भी आप एक वर्ष सभापति निर्वाचित हुए थे। हिन्दी साहित्य सम्मेलन की दर्शन-परिषद का सभापतित्व आप तीन बार कर चुके थे।

नागरी प्रचारिणी सभा आगरा के आप एक कर्मठ कार्यकर्ता थे। सभा के कार्यक्रमों में आप पूरी रुचि से भाग लेते थे और कुछ उपयोगी और नयी सूझबूझ के आयोजन भी कराते थे। ऐसा ही एक अविस्मरणीय आयोजन था 'साहित्य में आने वाले पशु पक्षियों की प्रदर्शनी।' सभी पशु-पक्षी जिनका कवियों अथवा लेखकों ने वर्ण्य रूप में अथवा अवर्ण्य उपमान आदि रूप में उपयोग किया है, उन सबको सजीव अथवा मूर्ति-रूप में आपने जुटाया और उन्हें सज्जा के साथ प्रदर्शित किया। चातक, चकोर, चकवा आदि-आदि सभी थे और सबके जीव-विज्ञान-विषयक पारिभाषिक नाम भी दिये थे। एक कठिन और अभूतपूर्व आयोजन केवल बाबूजी की सूझबूझ और कर्मठता के कारण सफल हुआ था। भारत की प्रसिद्ध साहित्यिक संस्था 'साहित्यकार संसद से भी आपका घनिष्ठ सम्बन्ध था।

केन्द्रीय सरकार ने कोश-निर्माण-समितियों में आपको प्रमुख स्थान दे रखा था।

'आकाशवाणी' के दिल्ली केन्द्र की परामर्श-समिति में आपने कई वर्ष सहायता की थी।

जिन समितियों तथा परिषदों से आपका सम्बन्ध रहा, उन्हें आपने विचारों और क्रियात्मक सहयोग से, उनके द्वारा हिन्दी साहित्य को आपने लाभ पहुँचवाया है।

सम्मान

आपकी साहित्यिक सेवाओं को पुरस्कृत भी किया गया—

५०० रुपयों का एक पुरस्कार हिन्दुस्तानी एकेडमी से आपको मिला, तर्कशास्त्र के द्वितीय भाग पर।

एक स्वर्ण-पदक मध्यभारत हिन्दी साहित्य समिति इन्दौर ने आपको प्रदान किया, तर्कशास्त्र पर।

१००० रुपयों का साहू जगदीशप्रसाद पुरस्कार 'साहित्यकार संसद' से आपको मिला।

८०० रुपये पुरस्कार रूप में उत्तर प्रदेश सरकार ने आपको प्रदान किये।

बाबूजी की सेवाओं को देखते हुए, ये सम्मान वस्तुतः अत्यन्त क्षुद्र प्रतीत होते हैं। और यह लगता है कि हिन्दी-जगत अपने ठोस साहित्यकारों का समुचित सत्कार करना नहीं जानता।

मानार्थ डी० लिट्०

किन्तु आगरा विश्वविद्यालय ने सन् १९५७ में बाबूजी के साहित्यिक कृतित्व की देन को स्वीकार करते हुए उन्हें मानार्थ डी० लिट्० की उपाधि प्रदान की थी। वस्तुतः सारस्वत क्षेत्र का यह सर्वोच्च सम्मान था, जिसके वे पूर्णतः अधिकारी थे।

प्राध्यापक

बाबूजी एक सफल अध्यापक थे। इनके छात्र इस नाते इनका बड़ा सम्मान करते थे यों तो उन्होंने कुछ समय तक सेंट जान्स कालेज में दर्शन का अध्यापन भी किया था, पर यथार्थतः वे हिन्दी-विभाग के प्राध्यापक बहुत काल तक, १९५५ तक रहे थे। मुझे ज्ञात है कि बाबूजी ही भाषा-विज्ञान पढ़ाते थे। आलोचना आदि तो पढ़ाते ही होंगे, पर भाषा-विज्ञान भी पढ़ाते थे, यह आश्चर्य की बात लगती है। उस सूखे विषय में भी बाबूजी सफल अध्यापक थे।

बाबूजी का भाषण मन्दगति से बिना विशेष उतार-चढ़ाव के तो होता ही था बीच-बीच में 'ऐंङ्कारा' भी उन्हें लगाना पड़ता था जैसे यह तो आगे के शब्द ढूंढने के लिए या भाव पाने के लिए वे रुक रहे हों और 'ऐंऽऽ' की दीर्घ तानता की टेक बना रहे हों। ऐसा भाषण सामान्यतः उबाने वाला माना जायगा, पर इस सबके बावजूद बाबूजी के भाषण से कोई ऊबता नहीं था। क्योंकि उनका विस्तृत ज्ञान, तत्पर स्मृति

से प्राप्त रोचक उद्धरणों से प्रभाव-वृद्धि, रोचक टिप्पणियों और व्याख्याओं का समावेश, आदि से श्रोता मन्त्र मुग्ध रहते थे।

व्याख्यान दाता

यथार्थ यह है कि बाबूजी को भाषण देने का बहुत शौक था और इसे वे स्वयं मुझसे कह चुके थे। वे यह चाहते रहतेथे कि उन्हें कोई भाषण देने का अवसर दे या भाषण देने के लिए बुलाये। उनमें साहित्य पर भाषण देने की सामर्थ्य भी अभूतपूर्व थी। वे बड़ी आस्था से साहित्य के किसी भी पक्ष अथवा अंग पर बोल सकते थे।

साहित्य में प्रथम प्रवेश

सन् १९१३ में 'शान्ति धर्म' लिखकर आपने साहित्य क्षेत्र में पदार्पण किया। तब से बाबूजी की लेखनी नित्य साहित्य के रत्न प्रसव करती रही, मृत्यु पर्यन्त आप वीर योद्धा की भाँति रहे। यदि स्वयं नहीं पढ़ लिख सकते थे तो किसी की सहायता से या माध्यम से इस सर्जन में प्रवृत्त रहे।

साहित्य—सेवा चतुर्मुखी प्रतिभा

बाबूजी की साहित्य-सेवा पर दृष्टि पड़ते ही विदित होता है कि बाबूजी की प्रतिभा ने चार क्षेत्रों में वैशिष्ट्य प्रकट किया है—

(१) निबन्ध
(२) दर्शन
(३) हास्य
(४) आलोचना

और चारों में बाबूजी ने हिन्दी को विशेष देन दी है। एक और क्षेत्र में बाबूजी की देन श्लाघनीय है, वह है सम्पादन-कला।

(ख)

आलोचक : आलोचना—

बाबू गुलाबराय हिन्दी के प्रथम कोटि के आलोचक थे, इसमें दो मत नहीं। हिन्दी का बड़े से बड़ा विद्वान् और साधारण हिन्दी प्रेमी तक इस बात से परिचित हैं और सभी वर्ग के साहित्यकार उनमें श्रद्धा रखते थे। बाबूजी की बहुमुखी प्रतिभा का सबसे अधिक एकाग्रभाव साहित्य के इसी रूप को प्राप्त हुआ है। जैसे यही उनके जीवन का प्रधान धर्म हो। यों बाबूजी दर्शन-शास्त्र में एम० ए० थे और उनके जीवन में लेखन का प्रथमारम्भ भी निश्चय ही दर्शन विषयक पुस्तक के प्रणयन से ही हुआ। पर साहित्य इस दर्शन के वाहन पर सवार होकर धीरे-धीरे अपनी दिग्विजय की घोषणा करने लगा। बाबूजी ने जो रचनाएँ की हैं उनकी सूची इस प्रकार है :—

१. शान्ति धर्म—१९१३, प्रेम मन्दिर, आरा

२. मैत्री धर्म—१९१३, प्रेम मन्दिर, आरा
३. कर्तव्य शास्त्र—१९१५ नागरी प्रचारिणी सभा, बनारस
४. तर्कशास्त्र—भाग १, २, ३ १९१६ नागरी प्रचारिणी सभा, बनारस
५. पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास—१९१७ नागरी प्रचारिणी सभा, बनारस
६. फिर निराशा क्यों ?—१९१८ प्रेम मन्दिर द्वारा दूसरा संस्करण गंगा पुस्तक माला, लखनऊ
७. नवरस—१९३३ पहला संस्करण प्रेम मन्दिर, आरा, दूसरा ना० प्रचारिणी सभा, आरा
८. प्रबन्ध प्रभाकर—१९३३ हिन्दी भवन, लाहौर (जलन्धर)
९. निबन्ध रत्नाकर—१९३४
१०. विज्ञान विनोद—१९३७ हिन्दी भवन, लाहौर (जलन्धर)
११. हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास—१९४० साहित्य रत्न भण्डार, आगरा
१२. मेरी असफलताएँ—१९४६ साहित्य रत्न भण्डार, आगरा
१३. सिद्धान्त और अध्ययन—१९४६ प्रतिभा प्रकाशन दिल्ली द्वारा आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
१४. काव्य के रूप—१९४७ प्रतिभा प्रकाशन दिल्ली द्वारा आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
१५. हिन्दी काव्य विमर्श—१९४७ प्रतिभा प्रकाशन दिल्ली द्वारा आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
१६. साहित्य समीक्षा—१९४७ प्रतिभा प्रकाशन दिल्ली द्वारा आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
१७. हिन्दी नाट्य विमर्श—१९४७ पहला संस्करण महरचन्द लक्ष्मणदास, लाहौर फिर दिल्ली
१८. भारतीय संस्कृति की रूपरेखा—१९५२ साहित्य प्रकाशन मन्दिर, ग्वालियर
१९. हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास—१९४३ सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा
२०. गांधीय मार्ग—१९५३ गयाप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा
२१. मन की बातें—१९५४ प्रतिभा प्रकाशन दिल्ली द्वारा आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
२२. अभिनव भारत के प्रकाश स्तम्भ—१९५५ लक्ष्मीनारायण एण्ड सन्स, आगरा
२३. सत्य और स्वतन्त्रता के उपासक—१९५५ लक्ष्मीनारायण एण्ड सन्स, आगरा
२४. कुछ उथले कुछ गहरे—१९५५ शिवलाल एण्ड सन्स, आगरा
२५. मेरे निबन्ध—१९५५ गयाप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा
२६. जीवन पथ—१९५४ गयाप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा
२७. गांधीय मार्ग—१९५५ गयाप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा
२८. अध्ययन और आस्वाद—१९५६ प्रतिभा प्रकाशन दिल्ली द्वारा आत्माराम एण्ड सन्स
२९. विद्यार्थी जीवन—१९५६ गयाप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा
३०. हिन्दी कविता और रहस्यवाद—१९५६ सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा

सम्पादित :—

१. भाषा भूषण—साहित्य रत्न भण्डार, आगरा
२. सत्य हरिश्चन्द्र साहित्य—रत्न भण्डार, आगरा
३. युगधारा—ओरियन्टल बुक डिपो
४. प्रसादजी की कला-साहित्य रत्न भण्डार, आगरा
५. आलोचक रामचन्द्र शुक्ल—आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
६. आलोचना कुसुमाञ्जलि—गयाप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा

सन् १९५६ के बाद भी उनकी कुछ कृतियाँ प्रकाशित हुई हैं।

इस सूची से यह स्पष्ट विदित होता है कि पहले कर्तव्य-शास्त्र आया, और बाद में नवरस। 'आरा' से प्रकाशित यह 'नवरस' एक छोटी पुस्तक थी, पर थी साहित्य के आलोचना-पक्ष से सम्बन्धित मर्म पर दार्शनिक या मनोवैज्ञानिक प्रणाली में। 'नवरस' में स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि एक दार्शनिक, वह दार्शनिक जो पाश्चात्य प्रणाली से एम० ए० तक दर्शन के अन्तर्गत कर्तव्य-शास्त्र (एथिक्स), तर्क शास्त्र (लाजिक) साईकॉलोजी (मनोविज्ञान), मेटाफिजिक्स (तत्व-विद्या) पढ़ चुका है, अपनी नयी चेतना से प्राचीन भारतीय शास्त्र के रस सम्प्रदाय की व्याख्या करने बैठा है। 'रस' का सम्बन्ध 'आस्वाद' से है, पर यह आस्वाद भौतिक नहीं, ब्रह्मा के बनाये रस का नहीं, उस रस का है जो कवि द्वारा निर्मित है, और जिसका सन्बन्ध मन और अध्यात्म से है। रस-विचार निश्चय ही मनोविज्ञान से लिपटा हुआ है, गुँथा हुआ है। जिस रस का सम्बन्ध भाव के परिपाक से है, वह भाव मनोस्थिति से संबद्ध है; उस मनोविज्ञान का आश्रय लेकर रस के उद्भव, उसके स्थायीभाव, उद्दीपन, व्यभिचारी और अनुभाव की व्याख्या करने की बाबूजी ने चेष्टा की—निश्चय ही यह बाबूजी के पक्ष में एक प्रयत्न था। उनकी इस छोटी पुस्तक में भारतीय शास्त्र के इस महत्त्वपूर्ण तत्व को किस प्रकार ग्रहण करने की चेष्टा की जानी चाहिए, इसकी रूपरेखा मात्र मिलती है। इसमें सन्देह नहीं कि बाबूजी ने रस-विचार की प्राच्य-वस्तु को पाश्चात्य प्रणाली और दृष्टि से रखने और आधुनिक वैज्ञानिक स्तर पर पहुँचाने का जो मार्ग निर्दिष्ट किया था, उस मार्ग से उस स्तर पर पूरी तरह पहुँचने का कोई भी उद्योग अभी तक पूर्ण सफल नहीं हुआ। यहाँ तक कि बाबूजी जब अपने इस 'नवरस' का वृहद् संस्करण करने बैठे तो वे भी उस मार्ग से च्युत हो गये। वे भारतीय हिन्दी रस-शास्त्र से उदाहरण छाँटकर उन्हें व्यवस्थित करने में अधिक व्यग्र हो गए हैं, उनके पीछे व्याप्त मनोवैज्ञानिक तत्वों का उद्घाटन करने में इस बड़े ग्रन्थ में हमें उनका मन रमता नहीं दिखाई पड़ता है।

अतः बाबूजी के साहित्यिक कर्म का आरम्भ पाश्चात्य दार्शनिक मनोभूमि पर भारतीय-शास्त्र के तत्वों के परखने और स्पष्ट करने से हुआ। उनका यह साहित्यिक कर्म उस काल में अत्यन्त ही मौलिक था। प्राच्य और पाश्चात्य का यह मेल, जिसमें पाश्चात्य प्राच्य का व्याख्याता बनकर उपस्थित हुआ है, बाबूजी का अपना स्वभाव ही बन गया, और अन्त तक उनके साथ रहा।

परिस्थितियों ने बाबूजी को इधर-उधर और भटकाया है। उनमें एक कलाकार भी है, जो हास्य की सृष्टि करने के लिए अवसर ढूँढ़ता रहा है। बाबूजी ने उसका भी उचित समादर किया है। पर आलोचना के क्षेत्र में ही उनकी प्रतिभा विशेष रही है, क्योंकि उसी के ग्राहक उन्हें अधिक मिले हैं। एक दार्शनिक को साहित्यिक बनाने का श्रेय छतरपुर के वातावरण को दिया जा सकता है। पर वहाँ इसका बीज ही पड़ा। यह साहित्यिक प्रवृत्ति पोषित और विकसित हुई आगरे में ही आकर। आगरे के वैशिष्ट्य के कारण। बाबूजी के 'नवरस' के बाद के सभी साहित्यिक और आलोचनात्मक ग्रन्थ आगरे में लिखे गये हैं। ये ग्रन्थ भी तीन कोटि के हैं। एक 'स्फुट विचार' विषयक, दूसरे 'सुसंबद्ध विचार' शैली के, तीसरे 'ऐतिहासिक वृत्ति' के। पहले तो 'आलोचना' के क्षेत्र के हैं। स्फुट विचार विषयक वे ग्रन्थ हैं, जिनमें बाबूजी के किसी छोटे विषय पर लिखे निबन्ध क्रम से या अक्रम से दिये गए हैं। ये निबन्ध अलग-अलग साहित्यिक अथवा आलोचनात्मक विषयों पर भी हो सकते हैं, अथवा कवियों या लेखकों पर भी। 'सिद्धान्त और अध्ययन' में आलोचना के शास्त्र से सम्बन्धित विविध विषय हैं जो बाबूजी ने अलग-अलग लिखे हैं। पीछे उनको तारतम्य दिया गया है। 'हिन्दी-काव्य-विमर्श में भी इसी प्रकार के विविध कवियों पर छोटे-छोटे निबन्ध हैं। सुसंबद्ध विचार शैली के ग्रन्थ हैं 'हिन्दी नाट्य विमर्श' तथा 'नवरस' और 'काव्य के रूप'।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बाबूजी की साहित्यिक कृतियों में हमारे विचार करने की दृष्टि से 'हिन्दी नाट्य-विमर्श', 'सिद्धान्त और अध्ययन', 'काव्य के रूप', 'साहित्य-समीक्षा', 'हिन्दी-काव्य-विमर्श', और 'नवरस' जैसे वे ग्रन्थ हैं जिनके आधार पर हम अपने निष्कर्ष प्रस्तुत कर सकते हैं।

यह बात तो स्पष्ट ही है कि बाबूजी के ज्ञान-अर्जन का मुख्य माध्यम अंग्रेजी भाषा रही है और अभिव्यक्ति का माध्यम हिन्दी। आलोचना के समग्र कर्म में निम्न तत्त्व सामान्यतः कार्य करते विदित होते हैं।

१. ज्ञानोपलब्धि : सामग्री-संकलन।
२. विश्लेषण : सामग्री में निहित तत्त्वों को उसमें से निकालकर
(अ) पृथक-पृथक करना, और
(आ) उन्हें पहिचानना
३. व्याख्या : प्रत्येक तत्त्व के (अ) इतिहास
(आ) कारण-कार्य व्यवस्था तथा
(ई) गर्भित अभिप्राय को स्पष्ट करना।
४. प्रमाण : प्रत्येक तत्त्व की प्रामाणिकता सिद्ध करना।
५. तारतम्य : प्रत्येक तत्त्व का ज्ञान-क्षेत्र में, कला-क्षेत्र में और उस रचना में तारतम्य स्थापित करना।
६. निष्कर्ष :
७. उदाहरण :
८. विवेक :

यह जानने के लिए कि बाबूजी की आलोचना के स्रोत क्या हैं हमें उनकी एक पुस्तक को लेकर यह देखना होगा कि किन रचनाओं का उन्होंने किस रूप में उल्लेख किया है।

काव्य के रूप में—जिन ग्रन्थों का उपयोग लेखक ने किया है वे इस प्रकार हैं :

१ पाश्चात्य शास्त्र — १

२ प्राच्य-शास्त्र — संस्कृत २.१, हिन्दी २.२

३ अन्य — पाश्चात्य ३.१, प्राच्य ३.२

१	२.१	२.२	३.१	३.२
१. De Quincy	१. साहित्यस्य भावः	१. केशवदास	१. शेक्सपीयर	रघुवंश
२. The Scot James "Making of Literature"	२. विदधानीति हितम्	२. आचार्य शुक्ल	२. पैराडाइज लॉस्ट मिल्टन कृत	रामचरित मानस
३. एक अंग्रेज़ साहित्यिक (पृष्ठ ६)	३. काव्यशास्त्र विनोदेन काले गच्छति धीमताम्	३. प्रसाद	३. टाल्सटाय	कबीर
४. Style is the Man	४. हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः	४. डॉ० सुधीन्द्र	४. वोलतेर (Voltaire)	रामदास
५. Mathew Arnold : "Essay on Words worth"	५. श्री मम्मटाचार्यः "कव्य प्रकाश"	५. साहित्यालोचन	५. रूसो	सूर
६. वर्ड्सवर्थ	६. अग्नि पुराण	६. प्रेमचन्दः "कुछ विचार"	६. नित्शे	भ्रमरगीत सार

७. शेक्सपीयर	७. भरत मुनि : "नाट्य-शास्त्र"	७. होमर	भवभूति
८. डॉ० जानसन	८. विश्वनाथ: "साहित्य दर्पण"		मेघदूत
९. अरस्तू	९. दण्डी		कालिदास
१०. F.L. Lucas : "Tragedy"	१०. भामह		बिहारी
११. Shipley	११. कुन्तक या कुन्तल		वाल्मीकि
१२. The Quest for Literature	१२. वामन		सत्यनारायण गुप्त
१३. Hudson : An Introduction to Literature.	१३. आनन्दवर्द्धनाचार्य		रामनरेश
१५. Henry Fielding	१४. पंडितराज जगन्नाथ : "रस गंगाधर"		
१५. H.G. Wells	१५. दश रूपक		निराला
१६. Sir HughWalpole	१६. धनिक: "दशरूप टीका"		महादेवी
१७. स्ट्र ची	१७. D.R. Manked "Types of Indian Drama"		पंत
१८. वासवेल	१८. गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति ?		प्रसाद

"काव्य के रूप" नामक पुस्तक में से उक्त सामग्री संकलित की गई है और वह भी सरसरी दृष्टि से ही, फिर भी इसके आधार पर जो नियम बनाये जाएंगे, वे बहुधा ठीक ही रहेंगे।

इस सूची से विदित होता है कि पाश्चात्य क्षेत्र से जिन विद्वानों और उनकी पुस्तकों का उल्लेख किया गया है वे संख्या में तो कुछ अधिक दिखायी पड़ते हैं : २५ पाश्चात्य और प्राच्य १८+६ (२४) किन्तु शास्त्र की दृष्टि से पाश्चात्य के बहुत कम ग्रन्थ ऐसे हैं जिन्हें महत्त्वपूर्ण अथवा प्रभाव डालने वाला माना जा सके।

'सिद्धान्त और अध्ययन" में अध्ययन-सामग्री के अन्तर्गत बाबूजी ने जो सूची दी है उसमें पाश्चात्य साहित्य शास्त्र विषयक ग्रन्थ केवल ९ हैं।

(१) ब्रैडले (ए० सी०) "ऑक्सफोर्ड लेक्चर्स ऑन पोइट्री।"
(२) क्रोचे : "एस्थेटिक्स"।
(३) ईलियट (टी० एस०) "द यूज ऑव पोइट्री"।
(४) इनटिवसिल (ए० आर०) : "द स्टडी ऑव पोइट्री"।
(५) हडसन : "एन एन्ट्रोडक्सन टू द स्टडी ऑव लिटरेचर"।
(६) मरी (जे० एम०) : "दि प्रोबलेम ऑव स्टाइल"।
(७) रिचर्डस (आई० ए०) : "प्रिन्सिपिल्स ऑव क्रिटिसिज़्म"।
(८) शिप्ले (जे० टी०) : "द क्वेस्ट फार लिटरेचर।
(९) स्पिनगर्न (जे० ई०) : "द न्यू क्रिटिसिज़्म"।

शेष पुस्तकें मनोविज्ञान विषयक हैं या भारतीय साहित्य तथा काव्य-विषयक हैं।

हडसन का ग्रन्थ वह ग्रन्थ है जो हिन्दी में सबसे अधिक प्रभाव डालने वाला माना जा सकता है। क्योंकि बाबू श्यामसुन्दरदास का साहित्यालोचन इसी के अनुकरण पर खड़ा हुआ है, ऐसा माना गया है, और बाबू श्यामसुन्दरदास के साहित्यालोचन की शैली शास्त्रीय सिद्धान्त पद्धति के लिए हिन्दी में मार्गदर्शिका मानी गई है। हमारी आलोचनाओं का सिद्धान्त पक्ष प्रायः उसी परिपाटी अथवा उसके संशोधन-रूप में प्रस्तुत होता रहा है। शैली की अपेक्षा भावों और सामग्री-विश्लेषण को महत्त्व देने और उसका संश्लिष्ट मूल्यांकन करने की दृष्टि से मैथ्यू ऑर्नल्ड का 'वर्ड्सवर्थ' नामक निबन्ध बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। ये दो ग्रन्थ और निबन्ध बाबूजी को भी प्रभावित कर रहे हैं। रिचर्ड्स और स्पिनगर्न ने नई आलोचना को प्रभावित किया है। बाबूजी पर इनका संशोधनात्मक प्रभाव है, मौलिक प्रभाव नहीं। अन्य निबन्धों से और अन्य ग्रन्थों से बाबूजी ने अपने विचारों का प्रतिपादन करने में ही सहायता ली है; अथवा कोई अंश ही उनसे उत्प्रेरित हुआ है। उधर प्राच्य ग्रन्थों में से बाबूजी ने प्रायः प्रत्येक को मूल अथवा अनुवाद रूप में अपनी आवश्यकता के लिए अवश्य देखा है। इसमें भी कोई सन्देह नहीं हो सकता कि मूल ग्रन्थ से पूर्व बाबूजी ने उसके अंग्रेज़ी अनुवाद और उस अनुवाद की भूमिका पढ़ी और तब मूल को हृदयंगम किया। फलतः यह कहा जा सकता है कि ज्ञानोपार्जन का माध्यम अंग्रेजी रहा। किन्तु अंग्रेज़ी शास्त्र का उतना

मन्थन बाबूजी ने नहीं किया। अंग्रेज़ी के युग में अंग्रेज़ी के रोब को सन्तुलित करने और उसमें अभिभूत व्यक्तियों और विद्वानों को उन्हीं के स्तर पर प्राच्य वस्तु को उन्हीं की प्रणाली में समझाने के लिए बाबूजी को पाश्चात्य शास्त्र से परिचय प्राप्त करना पड़ा। वह परिचय उन्हें अपने शिक्षाकाल में ही हो गया होगा।[1] उसी की अनुकूलता देखने वे भारतीय साहित्य की ओर झुके तो गम्भीर विचारण की सामग्री वहाँ उन्हें बहुत अधिक मिली, अतः अंग्रेज़ी शास्त्र की अनुकूलता देखने को अग्रसर होने वाले बाबूजी की दृष्टि उलट गई। अब वे भारतीय शास्त्र को प्रमुखता देने लगे और अंग्रेज़ी से अनुकूलता ढूँढ़ने लगे। इसीलिए शास्त्रीय दृष्टि से बाबूजी समन्वयवादी हो गए। पाश्चात्य के लिए प्राच्य की तुलना और प्राच्य के लिए पाश्चात्य की तुलना पूर्वक व्याख्या करने में वे प्रवृत्त हुए। इस तुलना के हमें बाबूजी में कई रूप मिलते हैं। यथा—

(१) अलंकार अलंकार्य : अब प्रश्न यह होता है कि क्या अलंकार और अलंकार्य में भेद नहीं। इटली के अभिव्यंजनावादी समलोचक क्रोचे (Croce) अलंकार्य और अलंकार का भेद स्वीकार नहीं करते। वे अलंकारों को ऊपर से आरोपित नहीं मानते···हमारे यहाँ आचार्यों ने अलंकार और अलंकार्य का भेद माना है किन्तु यह भेद ऐसा ही है जैसा कि अंगी और अंग का होता है।···?

(२) क्रोचे ने अलंकारों को अभिव्यक्ति का अंग और पूर्ण से पृथक् न किए जाने योग्य कहा तो है, किन्तु वे फूल की भाँति अलग दिखाई दे सकते हैं।

सिद्धान्त और अध्ययन, पृष्ठ ३५

(२) टालसटाय ने कला का कुछ ऐसा ही आदर्श माना है।

'The destiny of art in our time is to transmit from the realm of reason to the realm of feeling the truth that well being for men consists in their being united together and to set up in place of existing reign of force that kingdom of God, that is, of Love, which, we all recognise to be the aim of human life.

What is Art (World's Classics, Page 288).

टालस्टाय के मत से कला का उद्देश्य बुद्धि के क्षेत्र से भाव के क्षेत्र में उस सत्य को ले जाना है जो कि यह बतलाता है कि मनुष्यों का कल्याण उनके एक होकर रहने में तथा ईश्वर की उस बादशाहत के स्थापित करने में है जो कि प्रेम पर आश्रित है और जिसको हम जीवन का परम लक्ष्य मानते हैं।

साहित्य शब्द में भी सहित अर्थात हित के साथ होने का भाव है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी उसी कृति को सार्थक कहा है जो सबका हित साधन करे।

---

१. उस काल के कालेजों और विश्वविद्यालयों का वात्योचक्र अंग्रेजी के प्रबल धूवन का परिणाम था, आज भी है। उसकी एक विशेष माँग थी, उसी आह्वान को बाबूजी को स्वीकार करना पड़ा था। वह आह्वान आज भी है।

कीरति भनिति भूति भलि सोई,
सुरसरि-सम सब कहँ हित होई ।

—रामचरितमानस (बालकाण्ड)

३. साधारणीकरण पर विचार करते हुए बाबूजी ने संस्कृत और हिन्दी के प्रमुख विचारकों के मत का भली प्रकार उल्लेख करके यह लिखा है कि "साधारणीकरण के सम्बन्ध में हमारे यहाँ के आचार्यों ने थोड़े बहुत अन्तर के साथ तीन बातों पर बल दिया है—

(१) विभावादि का—(जिनमें स्थायीभाव भी शामिल है) साधारणीकरण (२) पाठक का आश्रय वा कवि के साथ तादात्म्य (३) सब पाठकों का समान रूप से प्रभावित होना । इन तीनों ही बातों का पारस्परिक सम्बन्ध है ।

विभावादि जब विशेष सम्बन्धों से मुक्त हो जाते हैं तभी वे सब सहृदयों की भावना के समान रूप से विषय बनते हैं । जहाँ पाठक या श्रोता का काव्य के आश्रय के साथ तादात्म्य हो वहाँ बहुधा आपस में भी भाव-साम्य हो जाता है अर्थात् वे समान रूप से प्रभावित होते हैं और उनका कवि की भावना से भी तादात्म्य हो जाता है । साधारणीकरण द्वारा कवि, कविता के आश्रय और पाठक भावना में एक सूत्र में बँधे जाते हैं । कवि जितना जनता की भावनाओं के निकट आता है उतना ही पाठकों के साथ उसका भाव-तादात्म्य होता है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि कवि जनता के भावों से आगे नहीं जाता । कवि और जनता में आदान-प्रदान होता रहता है । कवि जनता से प्रेरणा ग्रहण करता है और वह धीरे-धीरे जनता के भावों में भी परिवर्तन करता है । साधारणीकरण का अभिप्राय है—आलम्बन का व्यक्तित्व बनाये रखते हुए भी उसको ऐसे रूप में उपस्थित करना कि वह मेरे-पराये के बन्धनों से मुक्त हो जाय और सब सहृदयों की भावना का समान रूप से विषय बन सके । पाठकों की वे भावनाएँ देश-काल के बन्धनों से मुक्त होती हैं तभी वे दुःखात्मक होने से बची रहती हैं और अखण्ड सात्विक आनन्द का सृजन करती हैं ।

और तब वे आगे लिखते हैं—

"पाश्चात्य समीक्षकों के सम्बन्ध में मेरा ज्ञान सीमित है । (इसका यह अर्थ नहीं कि भारतीय समीक्षकों के सम्बन्ध में सीमित नहीं ।) किन्तु मेरा ख्याल है कि उन्होंने विभावादि के साधारणीकरण की अपेक्षा तादात्म्य पर अधिक ध्यान दिया है·······

फिर इसके बाद कई पाश्चात्य लेखकों के मतों पर विचार है ।

४. "संस्कृत का प्रसन्नपद और अंग्रेजी का Happy Expression दोनों वाक्यांश एक-दूसरे से मिलते-जुलते हैं ।

सि० अ० पृ० ८८

५. यद्यपि भारतीय समीक्षा-शास्त्रों में स्वाभाविक और कलात्मक (Epic of growth and Epic of Arts) का विभाजन नहीं है तथापि हम वाल्मीकीय रामायण को स्वाभाविकता की कोटि में रख सकते हैं और 'शिशुपालवध' तथा

'किरातार्जुनीय' को कलात्मक कह सकते हैं।

(का० स० पृ० ६६)

६. यूरोपीय समीक्षाशास्त्र में भी इसी प्रकार की पाँच अवस्थायें मानी गई हैं वे इस प्रकार हैं—

(का० रु० पृ० ३०)

७. 'विनय पत्रिका' में उन्होंने रामनाम को "अपनो सो घरु" कहा है...

जो लोग अंग्रेजी के शब्द Sweet home की मधु व्यंजनाओं पर मुग्ध हों उन्हें उनकी खोज में अंग्रेजी की शरण लेने की आवश्यकता नहीं है। "राज डगरो सो" में उनको Royal Road पर चलने का भी आनन्द मिल जायगा।

ये सातों शैलियाँ अपनी कहानी स्वयं कह रही हैं। इनके आधार पर हम कह सकते हैं कि—१. पहली दृष्टि तो बाबूजी की यह रही है कि एकादमिक (academic) प्रवृत्ति से एक विषय पर जितने भी मत हैं उन्हें प्रस्तुत कर दिया जाय। अतः प्राच्य और पाश्चात्य से अपनी पहुँच के अनुसार बाबूजी ने प्रत्येक विषय पर मत संग्रह किया है।

(२) मुख्य वर्णनीय विषय प्राच्य शास्त्र है। उसका पाश्चात्य में क्या रूप है यह दिखाने की उन्होंने चेष्टा की है अतः प्राच्य शास्त्र का प्रतिपादन ही उनका मुख्य ध्येय हो गया है।

(३) इसी प्रवृत्ति का परिणाम यह है कि जहाँ बाबूजी को कोई चीज ऐसी मिली है जिसका उसी शास्त्रीय रूप में अस्तित्व प्राच्य में नहीं मिलता, वहाँ बाबूजी ने लक्ष्य ग्रन्थों में उन तत्वों की सत्ता दिखाने की चेष्टा की है।

(४) प्राच्य के इस मोह के साथ शास्त्रीय अहंकार भी बाबूजी में जागृत हुआ है, और जो लोग अंग्रेजी में शब्द-सौष्ठव विषयक विशेषता पर अन्य रूप में बल देते हैं, उन्हें प्रत्युत्तर देते हुए बाबूजी हिन्दी अथवा संस्कृत के गौरव को पुष्ट करने के लिए प्रयत्नशील हुए हैं।

इस ऊहापोह से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि बाबूजी की आलोचना में प्राच्य का प्रभाव प्रबलतर है। किन्तु यह विमर्श यहीं समाप्त नहीं हो सकता—क्योंकि तुरन्त ही प्रश्न उठता है: "तो क्या बाबूजी ने आलोचना में प्राच्य शास्त्र को ही अपने शब्दों में लिख दिया है?"

उनकी इन रचनाओं पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि बाबूजी का 'ज्ञान तत्व' प्राच्य-शास्त्रों से संग्रहीत है, उसका 'विश्लेपण' पाश्चात्य वैज्ञानिक प्रणाली से हुआ है, जो आधुनिक युग में प्रत्येक मेधावी के "बुद्धि तत्व" की विशेषता बन गई है। 'व्याख्या' में 'इतिहास-तत्व' पाश्चात्य शैली से प्रभावित है, 'कार्य-कारण निदान' 'प्राक्य-पाश्चात्य' के मिश्र उपादानों से युक्त है; जहाँ बाबूजी प्राच्य को विशेष पकड़ सके हैं, वहाँ उसकी प्रबलता है, उसके उदाहरण भी हैं; अन्यथा, पाश्चात्य शैली के आधार पर अपनी ओर से कार्य-कारण निरूपण करते रहे हैं। इसमें पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र कम सहायक हुआ है। मनोविज्ञान तथा अन्य शास्त्र उपयोगी

रहे हैं। 'गर्भित अभिप्राय' एक रसायन के रूप में विद्यमान मिलता है। जिसमें नव्य संस्कारशील के शील को स्वीकार होने वाला प्राच्य निष्कर्ष ही बहुधा प्रस्तुत किया गया है। 'प्रामाणिकता' का आधार भी प्राच्य शास्त्र है पर पाश्चात्य उल्लेखों से भी पुष्टि की गई है। 'तारतम्य' के लिए भी बाबूजी को मिश्र प्रणाली का उपयोग करना पड़ा है। 'तारतम्य' बिठाया गया है भारतीय शास्त्र के विविध तत्वों में जो परस्पर असम्बद्ध से लगते हैं, तारतम्य बिठाया गया है, उन तत्वों का नवसंस्कारशील मानस की मान्यताओं से और धारणाओं से और इसके लिए 'प्राच्य और पाश्चात्य' को समानभाव से लिया गया है—एक साथ ही शेक्सपीयर, तुलसी, वाल्मीकि, टाल्सटाय यहाँ पर एक सूत्र में पिरोये हुए, एक तारतम्य में बँधे हुए मिलेंगे, भाषा और भूगोल के भेद की दीवारें यहाँ नहीं रहीं।

'निष्कर्ष' प्रस्तुत करने में प्राच्य का आग्रह निश्चय ही प्रधान है, जहाँ निष्कर्ष प्राच्य रूप में नहीं आता, वहाँ उसका किसी-न-किसी रूप में समाधान किया गया है।

किन्तु यह बात यहाँ ध्यान देने योग्य है कि आधुनिक आलोचना शास्त्र को कितने ही ऐसे रूपों पर विचार करना पड़ता है जिनका प्राच्य-शास्त्र में उल्लेख नहीं मिलता। इनमें से दो रूप बहुत प्रबल हैं—

(१) निबन्ध, (२) उपन्यास-कहानी। इन रूपों का विवेचन मनोवैज्ञानिक और पाश्चात्य शास्त्र की दृष्टि से करते हुए भी उनमें साहित्य के सामान्य लक्षणों का अनुसंधान प्राच्य प्रणाली से करने में बाबूजी ने उत्साह दिखाया है। ऐसे ही अनुसंधानों में हम उन स्थानों को गिन सकते हैं, जिनमें बाबूजी ने उपन्यासों में भी रस की स्थिति पर विचार किया है।

जो स्थिति सिद्धान्त क्षेत्र में है, वह 'लक्ष्य आलोचना' के क्षेत्र में है। 'लक्ष्य आलोचना' में क्या कोटि-क्रम बाबूजी ने रखा है, यह हम उनके निबन्ध की विषय सारिणी को देखकर जान सकते हैं। "रसिक भक्त महात्मा सूरदास' की विषय-सारिणी यह है :—

"जीवन-लीला—निवास स्थान—वंश परिचय—दीक्षा—अन्त समय—सूरदास के ग्रन्थ—कृष्णोपासना और गीत काव्य की परम्परा—सूर काव्य का सैद्धान्तिक पक्ष—सूरकाव्य का भाव पक्ष—शान्तरस—वात्सल्य रस—सूर के वात्सल्य वर्णन की विशेषता—संयोग और वियोग शृंगार—भ्रमर गीत—विरह-वर्णन—विरह के उद्दीपन—विरह की तुलना—विरह की वास्तविकता—कलापक्ष—अलंकार—भाषा सूर तथा अन्य कृष्णोपासक कवियों की कुछ विशेषताएँ।"

इस सूची की शब्दावली ही यह प्रकट करती है कि आलोचक अपने विषय पर भारतीय शास्त्र को आधार मानकर विचार कर रहा है, विचार करने के लिए जिन पारिभाषिक शब्दों का उपयोग किया गया है वे भारतीय शास्त्र के हैं, और उनसे वही अर्थ लिया गया है, जो भारतीय शास्त्र में अभिप्रेत है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है पाश्चात्य वाहन पर आरूढ़ प्राच्य ही बाबूजी के द्वारा प्रस्तुत हुआ है, वह भी उसके पूर्ण गौरव के साथ।

बाबूजी का दार्शनिक सदा उनके साथ रहा है, पर उसे बाबूजी ने समझदार बनाकर ही उपस्थित किया है, निश्चय ही उसे हावी नहीं होने दिया, उसकी समझदारी का पूरा उपयोग वे कर सके हैं, इससे उनके समस्त विमर्श का स्तर ऊँचा उठा है, पर रहस्यमय नहीं हो सका है। भारतीय शास्त्रविदों ने अपने शास्त्रीय विचारदोहन में निरन्तर ही पारिभाषिक शब्दावली का इतना बाहुल्य रखा है कि उसे विशेषज्ञ ही ग्रहण कर सकता है। उस प्रतिपादन में जहाँ रहस्य न होगा वहाँ जटिलता होगी। बाबूजी ने नमोन्मेष का उपयोग करके उस जटिल स्वरूप को, नयी प्रणाली के वैज्ञानिक क्रम का उपयोग कर, सरल बना दिया है और पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग उतना ही किया है जितना उन्हें उस स्पष्टीकरण के लिए अनिवार्य प्रतीत हुआ है।

इस दार्शनिक ने बाबूजी की प्राच्य-प्रवृत्ति को आधुनिक रूप में निखार कर और सशक्त बनाकर उपस्थित किया है, और नये युग की माँग के अनुकूल कर दिया है।

शैली के संतुलन और पुष्ट शब्द-विन्यास ने बाबूजी के इस महत्त्वपूर्ण प्रयास को स्पष्टता के प्रसाद गुण से आवृत्त रखा है और विचार की अपेक्षित सम्पूर्ण गहराई की भी क्षति नहीं होने दी। बाबूजी के शास्त्रीय स्वरूप के प्रतिपादन में सबसे बड़ा गुण यही है कि उन्होंने गूढता और विचारों की गम्भीरता और गहराई को प्रकट करने का दम्भ अथवा आडम्बर कहीं नहीं दिखाया। फलतः इन सभी गुणों से युक्त होकर बाबूजी का शास्त्र-प्रतिपादन स्वयं अपने स्वरूप में एक मौलिक वस्तु हो गया है। उनके इन शास्त्रों ने हिन्दी के अध्येता को नयी प्रेरणा दी है। प्राचीन और नवीन प्रत्येक क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कृतिकर्ता की रचना को बाबूजी ने अपनी कसौटी पर कसा है और आलोचना-शास्त्र को ही नहीं सर्जन को भी दिशा-दर्शन दिया है।

आलोचना के क्षेत्र में बाबूजी की देन का जब वास्तविक मूल्यांकन होगा तो पता चलेगा कि उनकी देन ऐतिहासिक महत्त्व रखती है, और यह विदित होगा कि अपनी देन से नवीन वैज्ञानिक आलोचना-पद्धति में उन्होंने कई क्रान्तिकारी मोड़ प्रस्तुत किये हैं, जिनसे साहित्य-शास्त्र की रूपरेखा ने एक नूतन समृद्धता ही नहीं पाई, वरन् साहित्यकार ने भी सृजन के नये कला-मूल्यों की प्रेरणा पाकर साहित्य को उच्च स्तर पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की है।

(ग)

निबन्धकार एवं हास्यकार

दार्शनिक और मीमांसक भी हास्यकार हो सकता है, यह कुछ अद्भुत बात है, पर समन्वयवादी बाबूजी ने दर्शन और हास्य की दो वृत्तियों का समन्वय और सामंजस्य अपने कृतित्व में कर दिखाया है। 'ठलुआ क्लब' को लोग भूल सकते हैं, पर 'मेरी असफलताएँ' हास्य के क्षेत्र में चिरस्मरणीय रहेगी क्योंकि इसमें महात्मा गांधी जैसी आत्मस्वीकारिता, युधिष्ठिर जैसी शील-शालीनता के साथ स्मित हास्य के सभी आवश्यक कच्चा-उपादान काम में लाये गए हैं। बाबूजी का सबसे भारी साहस यह है

कि वे स्वयं अपने ऊपर हँस सकते हैं। पर उनका यह 'हास्य' निबन्ध-रूप में ही प्रतिष्ठित हो सका है। ये हास्य-व्यंग्य प्रधान निबन्ध 'ललित-कोटि' में रखे जायेंगे।

बाबूजी का हास्य अनोखा होता था; स्मित हास्य होते हुए भी वह एक प्रकार से आत्मालोचन के जैसा होता था, जिसमें संस्कृत आदि से उद्धरणों से एक उन्चता के साथ वैषम्य खड़ा होता था—इस तकनीक से एक साथ ही एक लालित्यपूर्ण हलकापन और एक हास्यपूर्ण गम्भीरता उद्भासित होती थी। निबन्धों में स्पष्टतः परिलक्षित होता है कि बाबूजी की स्मरण-शक्ति बहुत अच्छी थी, और ठीक अवसर और स्थान पर उन्हें सटीक उद्धरण स्मरणशक्ति की कृपा से मिल जाते थे, जिससे उनके कथन में निराली सजीवता और एक अनावश्यक प्रामाणिकता आ जाती थी। इन सबसे सुसज्जित होकर वे अपना ही उपहास स्वयं करते हुए भी अपना ही आदर बढ़ाते होते थे। उन्होंने अपनी असफलता में जिन मूर्खताओं की ओर संकेत किया है, जहाँ तक हमारा खयाल है, उनको लेकर कभी किसी ने बाबूजी पर व्यंग्य नहीं कसे।

सामयिक निबन्धों में उन्होंने समय-समय पर उठने वाले विविध सामाजिक-राजनीतिक और घरेलू प्रश्नों को लेकर अपने विचार गूँथे थे। इस सब में उनके ज्ञान, अन्तर-भेदी दृष्टि और सूझबूझ का पुट रहता था। 'सीमावर्ती चोर' शीर्षक निबन्ध में उनकी पैनी दृष्टि ने मानवीय आचार के उस पहलू को उद्घाटित किया है, जहाँ वह स्वयं 'आदर्श' के साथ छल कर बैठता है।

इधर बाबूजी को मनोवैज्ञानिक निबन्ध लिखने का बड़ा चाव रहा था। वस्तुतः उनके ये मनोवैज्ञानिक निबन्ध मानव के लिए दर्पण का काम करते हैं। ये निबन्ध केवल मनोविज्ञान के विज्ञानपक्षीय सिद्धान्त-निरूपण से सम्बन्धित नहीं, वरन् विविध मनोभूमियों को निजी निकर्ष पर साधारणीकरण द्वारा जीवन में देश-काल गत घटनाओं की क्रिया-प्रतिक्रिया पर अवलंबित हैं।

बाबूजी के सामाजिक तथा राजनीतिक निबन्ध भी कम नहीं हैं। उनकी प्रतिभा ही ऐसी थी कि वे चाहे जैसे सामान्य विषय को लेकर उसे एक रोचक और विचारोत्तेजक ललित निबन्ध का विषय बना सकते थे। उन्होंने अपने मुहल्ले की गली पर जो दो-चार निबन्ध लिखे, वे भी साहित्यिक लालित्य से युक्त हैं। निबन्धों के सम्बन्ध में बाबूजी ने अपना दृष्टिकोण इन शब्दों में प्रकट किया है :

> "आज का हिन्दी-निबन्ध-साहित्य अधिकांश में आलोचना की ओर दौड़ा जा रहा है। आजकल आचार्यत्व की चाह रीतिकाल से भी कुछ बढ़ी चढ़ी है, किन्तु उस प्रवाह में लिखे हुए निबन्धों में विषयगतता कुछ अधिक है। हमारे लेखकों को जीवन के लहराते सागर की ओर दृष्टिपात करने का कम अवकाश मिलता दिखायी पड़ता है। वे गम्भीर अधिक हैं। उन्होंने जीवन को खेल-कूद की अथवा जीवनोल्लास की प्रसन्नता के साथ नहीं देखा। वे न स्वयं हँसे हैं और न उन्होंने दूसरों को हँसाने का प्रयत्न किया है।"

और यह स्पष्ट है कि उन्होंने इसी अभाव की पूर्ति के निमित्त अपने निबन्धों में प्रयास किया। जीवन के लहराते सागर को भी उन्होंने देखा और बिना 'आचार्यत्व की चाह'

को कम किये, वे निबन्ध जीवन और जगत् से विषय ले-लेकर लिखते गये। उनकी निबन्ध-कला पूर्णतः तेजस्वी है।

तभी बाबूजी की रचनाओं के साहित्यिक मूल्यांकन करने वाले सभी विद्वान मुक्तकण्ठ से बाबूजी को एक उच्चकोटि का निबन्धकार मानते हैं। बाबूजी के निबंधों में सन्तुलित शैली का उपयोग हुआ है। भाव, भाषा और रस के समावेश की दृष्टि से बाबूजी में हम न बहुत अधिक उग्रता पायेंगे, न बहुत मन्दता। बाबूजी का जीवन-दर्शन समन्वयवादी रहा है। वे वर्तमान से अतीत का सामंजस्य और समन्वय करने के प्रयत्न में रहे हैं। वे विरोध को विरोध के रूप में स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं। वे उनके उन तत्त्वों को ढूंढ़ निकालेंगे जिनसे विरोध में व्याप्त साम्य को बल मिलता है। बाबूजी के निबन्धों में उनके व्यक्तित्व का यह धर्म निरन्तर विद्यमान है। द्विवेदी-युग की शैली को बाबूजी ने जकड़कर पकड़ा है, पर छायावादी और प्रगतिवादी से एक ताजगी और एक लोच को जहाँ-तहाँ द्विवेदी-शैली को सजाने के लिए अपनाने की चेष्टा भी की है। इस प्रकार निबंधों में न तो विषय-सम्पदा की उपेक्षा है, न निबंध-कला के संजीवन की, न युग की माँग की। बाबूजी के निबंध हिन्दी में निबंध-कला के अमर उदाहरण माने जाते हैं। बाबूजी ने प्रत्येक क्षेत्र में ही किसी-न-किसी प्रकार की मौलिकता दिखाई है। निबंध के क्षेत्र में भी उनकी कला में मौलिकता है।

बाबूजी ने जिस युग में निबंध-लेखन का विकास किया था, वह द्विवेदी-युग कहा जा सकता है। उस युग के निबंध-लेखन का आदर्श था निर्वैयक्तिक शैली। बँधे-सधे वाक्य जो व्याकरण के अनुकूल हों, ऐसी ही परिनिष्ठित शब्दावली। विषय एक ही एक निबंध में, और उसे गम्भीरतापूर्वक आद्योपान्त प्रस्तुत किया जाय। पं० प्रताप-नारायण मिश्र की हँसती हुई शैली, बालमुकुन्द गुप्त की व्यंग्य की तीव्रता से उतावली शैली अब काम में नहीं लाई जा रही है। पं० पद्मसिंह शर्मा की चुलबुली व्यंग्य, कटाक्ष, उपहास तथा चुटकियाँ लेने वाली पाण्डित्यपूर्ण मुस्कान से युक्त शैली मात्र एक प्रकार से अपवाद थी। निबंध का धर्म था वस्तुनिष्ठा। व्यक्तित्व प्रकाश केवल निबंध के विषय विधान में ही शेष था।

बाबूजी ने इसी भूमि पर निबंध रचना आरम्भ की थी। फलतः बाबूजी की निबंध-कला का मूलाधार इसी भूमि के पंचतत्त्व हैं :

(१) वस्तुनिष्ठा की प्रमुखता, (२) बँधी-सधी वाक्य-रचना,
(३) परिनिष्ठित शब्दावली, (४) व्यवस्थित प्रतिपादन,
(५) नवीन ज्ञान-सामग्री।

बाबूजी ने इनमें से प्रत्येक तत्त्व को नये प्राणों से अन्वित कर दिया; प्रत्येक तत्त्व को एक नवीन तत्त्व, शक्ति और सौन्दर्य प्रदान कर दिया।

फलतः उनके निबंधों में वस्तुनिष्ठता की प्रमुखता तो रहती है, एकतानता नहीं। निबंध के मूल प्रवर्तक मॉनटेन में भी एक अक्रमशीलता मिलती है, वह एक नये रूप में बाबूजी की वस्तुनिष्ठता में आ गई है। आप अपने पाण्डित्य के स्फुलिंगों से, आपके ध्यान में, उसी वर्ण्य के समानधर्मी अन्य बातों को प्रकाश में ले आते हैं, और

मूल वस्तु के साथ जोड़ देते हैं। यथा, 'साहित्य का उद्देश्य या प्रयोजन' नामक निबंध में एक उपशीर्षक दिया है, 'कान्ता सम्मिततयोपदेशयुजे'। इसके अन्तर्गत बाबूजी ने यह लिखा है।

(१) काव्यकार और धर्मोपदेष्टा के दृष्टिकोण में अन्तर है। (२) उसी अन्तर को दिखाने के लिए 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' कहा है। (३) शास्त्र में शब्द तीन प्रकार के बतलाये गए हैं—प्रभु सम्मित, सुहृत सम्मित, कान्ता सम्मित। (४) प्रभु सम्मित शब्द में आज्ञा रहती है। वेद के विधि वाक्य इसी प्रकार के हैं। सुहृत-सम्मित में आज्ञा नहीं रहती, ऊँच-नीच और इष्टानिष्ट होने की बात समझाई जाती है। (५) इतिहास, पुराणादि का उपदेश इसी प्रकार का होता है। (६) काव्य का उपदेश व्यंजनाप्रधान होने के कारण सरल होता है। (७) काव्य का रस कटु औषधि को मिष्ट बना देता है। (८) 'गुड़जित्वक या शिशूनिवोषधम्' बच्चों की गुड़ मिली हुई औषधियाँ आजकल की शर्करावेष्टित कुनेन की गोलियों की तरह कर्ण कटु उपदेश को भी ग्राह्य बना देती हैं।

कविवर बिहारीलाल का "नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास एहि काल। अली कली ही सों बिंधो, आगे कौन हवाल" वाले दोहे ने राजा जयशाह पर जादू का सा असर किया ···।

इसमें बाबूजी ने वस्तु या बात का वर्णन करने के लिए शास्त्र, वेद, पुराण की ओर भी ध्यान आकर्षित किया है। साथ ही साहित्यिक क्षेत्र से हटकर वैद्यक तथा ऐलोपैथिक के उल्लेख को भी नहीं छोड़ा है। और उदाहरण में बिहारी तक पहुँच गये हैं और उन्हें भी इतिहास की घटना की भूमिका से जोड़ दिया है। यही तो मन की लहर हुई, पर पाण्डित्य युक्त है। इस प्रकार एकतानता नहीं है। यही नहीं कि एकतानता का अभाव है। वरन् लेखक का योगदान यह है कि उसने वस्तुनिष्ठ वर्णन को रस-स्पर्श भी दिया है। बिहारी का उल्लेख उस रस-स्पर्श की चरम सीमा है। फलतः वस्तुनिष्ठा को एक नवीन तत्त्व मिला 'उल्लेख वैविध्य' का। वह 'उल्लेख वैविध्य' पाण्डित्य के प्रकाश से देदीप्यमान है। उस प्रकाश में रस-स्पर्श भी संयोजित है।

इसमें शक्ति की उद्भावना हुई है, रीढ़ को उससे भी प्रबल पोषण मिलने से। रीढ़ है 'कान्ता सम्मित तथा उपदेश'। इसकी व्याख्या करने के लिए शास्त्र का प्रमाण मूल रीढ़ से अधिक पुष्ट और दृढ़ है, कुछ संस्कृत उदाहरण भी शक्ति देते हैं। वस्तुनिष्ठता को इस प्रकार शक्ति भी मिली है। स्पष्ट है कि लेखक ने इस विवेचन में प्रतिपादन शैली से एक सौन्दर्य और सरसता पैदा कर दी है।

यही स्थिति बँधी-सधी वाक्य-रचना का है।

ऊपर जो वाक्यों का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है उससे यह अत्यन्त स्पष्ट है कि वाक्य का बँधा-सधा रूप आद्योपान्त विद्यमान है। इस बँधे रूप में कर्त्ता-कर्म के विस्तार-विषयक शब्दों से तथा क्रियाओं के संयुक्त अवयवों के कारण ही वाक्य वृद्धि हुई है। एक बात हमारा ध्यान विशेष आकर्षित करती है कि वाक्यों के शब्द-परिमाण में भी एक क्रम प्रतीत होता है। पहले तीन वाक्यों में शब्द संख्या एक तोल

की है, एक-दो शब्दों की वृद्धि ही है। किन्तु चौथा वाक्य एकदम दुगुनी-तिगुनी लम्बाई का हो गया है। यही क्रम आगे के चार वाक्यों में हैं। यह तो निर्विवाद है कि बाबूजी ने सोच-समझकर यह क्रम नहीं रखा। पर इनमें क्रम आ ही गया है और उस क्रम से एक लय इस गद्य को मिल गई हैं। यह स्वयमेव आई है, बाबूजी के बिना प्रयत्न के। इसमें ही उनके व्यक्तित्व की आन्तरिक लय सिद्ध होती है। हमने भी यह उद्धरण यों ही जो हाथ लग गया, ले लिया है। हो सकता हैं यह क्रम उनके निबंधों में सर्वत्र न मिले। पर औरों में भी कोई-न-कोई लय या रिध्म अवश्य मिलेगी। इस क्रम में भी शब्द संख्या क्रमात् बढ़कर फिर एकदम दुगुनी-तिगुनी हो गई है। इसी कारण वाक्य को नया तत्त्व मिला हैं। शनै-शनैः उसकी शक्ति में सम्बर्द्धन हुआ हैं, और अन्ततः एक विशेष प्रकार से विचार क्रम के समागत होकर इसे सौन्दर्य भी मिल गया हैं।

परिनिष्ठित शब्दावली आदि अन्य तत्त्वों पर भी इसी प्रकार विश्लेषणपूर्वक विचार किया जाय तो सिद्ध होगा कि प्रत्येक तत्त्व में नवीनता, शक्ति और सौन्दर्य उद्भासित हुए हैं। यहाँ हमने केवल दो का ही विश्लेषण देकर अपनी स्थापना को उदाहरणपूर्वक सिद्ध करने की चेष्टा की है।

किन्तु यह तो हमने साहित्यिक निबंध का ही उदाहरण लिया है। बाबूजी ने तो दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक और सामान्य (हास्य प्रधान) निबंध भी लिखे हैं। किन्तु जो वैशिष्ट्य उदाहरण में मिलता है वही कम-बढ़ सभी प्रकार के निबंधों में मिलेगा। इस उदाहरण में जो वैशिष्ट्य है वह यों समझा जा सकता है :—

(१) भूमिका
(२) वस्तु
(३) प्रमाण
(४) प्रमाण की व्याख्या में इतर प्रसंग (च्युति)
(५) उदाहरण के पोषण
(६) वस्तु की पुष्टि : व्याख्या सहित
(७) उद्धरणपूर्वक भव्य (Sublime), अभव्य (absurd) के समन्वय से उदाहरणपूर्वक वस्तु-सिद्धि की उद्भावना।

इसमें मात्रा की वृद्धि या कमी करके निबंधकार विविध प्रकार के प्रभावों को सिद्ध करता है। मात्रा वृद्धि के साथ इन तत्त्वों की प्रवृत्ति में भी वह कुछ परिवर्तन या विकास उपस्थित करके अभिप्राय सिद्ध कर सकता है। कहीं वह 'प्रमाण के भ्रान्त प्रमाण' देकर व्यंग्य या हास्य ले आयेगा, कहीं वस्तु की पुष्टि और व्याख्या ऐसी करेगा कि वह पूर्णतः च्युति हो पर सिद्धि सी दिखाये। कहीं भव्य-अभव्य के समन्वय में अत्यन्त गहरी विकृति प्रस्तुत कर दे।

इस समस्त वैशिष्ट्य के साथ एक भव्य वैशिष्टय यह मिलता है कि इन सभी बातों का आयोजन बाबूजी के निबंधों में 'समतोल' मिलता है। पाठक यह अनुभव नहीं कर पाता कि कोई बात उबाने वाली हुई जा रही है। समतोल वाक्यावली, समतोल शब्दावली से, समतोल गम्भीरता, समतोल च्युति-विकृति, समतोल ज्ञानवैविध्य, सम-

तोल उद्धरण, समतोल उदाहरण, इनमें समतोल सरसता तथा समतोल हास्य का व्याप्त प्रकाश, इन सबसे बाबूजी के समतोल व्यक्तित्व का ज्ञान सहज ही हो जाता है।

साहित्य के इतिहासकार

बाबूजी ने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास का सुबोध संस्करण' लिखा है। इस इतिहास का मुख्य आधार उन्होंने पं० रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास को बनाया है, फिर भी यह इतिहास उसकी न तो संक्षिप्ति मात्र है, न मात्र उसकी नकल है। शुक्लजी के आधार को रखते हुए अपने निजी अध्ययन और चिन्तन को इसमें स्थान देकर और नई सामग्री तथा नई व्याख्या से सँजोकर वह इतिहास लिखा गया है। इस इतिहास ने बड़ी लोकप्रियता प्राप्त की है। इसके अठारह से भी अधिक संस्करण हो चुके हैं और प्रत्येक संस्करण में कुछ-न-कुछ परिवर्तन और सम्वर्द्धन कर आप उसे अप-टू-डेट बनाने की चेष्टा करते रहे।

सम्पादन-कला मर्मज्ञ

बाबूजी की देन इस दिशा में भी अभूतपूर्व हैं। आप कई अभिनन्दन ग्रन्थों के सम्पादक रहे हैं। हिन्दुस्तानी एकाडमी के लिए आपने कवि और काव्य (प्रेममार्गी कवि) का सम्पादन किया। 'साहित्य-सन्देश' के आप यशस्वी सम्पादक रहे। 'साहित्य सन्देश' की स्थापना सन् १९३७ में हुई थी। तब से वे उसके सम्पादक रहे। मैं भी उनके साथ एक सम्पादक रहा।

इस दीर्घकाल में हम दोनों का पारस्परिक सहयोग और घनिष्ठ होता गया। कभी पारस्परिक मतभेद का भी अवसर नहीं आया। हम दोनों का ही दृष्टिकोण निर्माणात्मक था, खण्डनात्मक अथवा ध्वंसात्मक नहीं। साहित्यिक मेधाओं को उच्च से उच्चतर स्तर पर जाने में सहायता देने में ही उन्हें प्रसन्नता होती थी।

उनके इस समस्त कृतित्व में समन्वयपूर्ण मृदुल और स्वर्णिम प्रकाश मिलता है। महावीर प्रसाद द्विवेदी युग निर्मित स्तम्भ के रूप में उनकी यथातथ्यात्मक शैली को प्रयोग द्वारा उच्चतम भूमि पर पहुँचाते हुए वे अप्रैल सन् १९६३ तक हिन्दी के कृतित्व को सँभाले रहे और वटवृक्ष के रूप में अपनी उदार भुजाओं में वे सभी धाराओं के मनीषियों को समेटे रहे और सबसे प्रेम और श्रद्धा पाते रहे।

आज वह हमारे बीच में नहीं हैं, पर अपने कृतित्व में गुंथे हुए व्यक्तित्व के द्वारा वे अपने आपको अपने विभिन्न ग्रन्थों के रूप में सौंप गए हैं। हम जितना अधिक उन्हें जानना चाहेंगे, उतना ही अधिक उनके ग्रन्थों का पारायण करेंगे। उनके समस्त ग्रन्थ मिलकर हमारे लिए एक छोटा किन्तु घरेलू पुस्तकालय बन सकता है, और उस पुस्तकालय में से हम बाबूजी को प्रतिदिन अपने सामने मुस्कराते हुए देख सकते हैं।

डॉ० रामाधार शर्मा

माखनलाल चतुर्वेदी : एक राष्ट्रीय कवि

पं० माखनलालजी चतुर्वेदी, एक राष्ट्रीय कवि हैं। उनके काव्य का परिचय देने के पूर्व राष्ट्रीय काव्य की विशेषताओं से अवगत होना आवश्यक है। राष्ट्रीय काव्य क्या है ? राष्ट्रीय काव्य की प्रथम और प्रमुख विशेषता कवि की देश-प्रेम की भावना है। यह इस सम्पूर्ण काव्य का केन्द्रीय ज्योति-भवन (सेन्ट्रल पावर हाउस) है। यह केन्द्र जितना शक्तिशाली होता है, काव्य-भूमि भी उतनी ही अधिक दूरी तक तीव्र और एकरस प्रकाश से आलोकित हुआ करती है। केन्द्र यदि दुर्बल हुआ तो प्रकाश अधिक दूर तक नहीं जाता, वह क्रमशः मंद होने लगता है और अन्त में कवि को किसी दूसरे केन्द्र की खोज करनी पड़ती है। राष्ट्रीय काव्य की सूक्ष्म या आंतरिक प्रेरणा देश-प्रेम की अत्यन्त पवित्र भावना है। यह इस काव्य की नींव है, जिस पर समस्त काव्य-निर्माण आधारित होता है। यही सूक्ष्म भावना कवि को वह राष्ट्रीय दृष्टि देती है, जिसे पाकर कवि अनायास हिमकिरीट की ऊँचाइयों को छू लेता है और उसकी कविता कोटि-कोटि कंठों की सहज वाणी बन जाती है। व्यक्ति के समष्टि तक पहुँचने की इतनी सुगम विधि दूसरी नहीं है, साधारणीकरण की इतनी सहज प्रक्रिया और कहीं नहीं दिखलाई पड़ती। राष्ट्रीय काव्य के मूल में देश प्रेम की सूक्ष्म भावना स्थायी तत्त्व के रूप में निहित रहती है। यह स्थायी तत्त्व वह निकष है जिस पर किसी काव्य के राष्ट्रीय होने या न होने की परीक्षा की जा सकती है। मूल और मुख्य वस्तु यही है।

राष्ट्रीय काव्य की दूसरी उल्लेखनीय विशेषता उसकी सामयिक प्रेरणा की है। यहाँ हमें यह स्पष्ट समझ लेना होगा कि उपर्युक्त सूक्ष्म प्रेरणा के बिना, एक अंतर्निहित अटूट देश-प्रेम की भावना के अभाव में, सामयिक प्रेरणा एक वाह्य वस्तु मात्र होगी, जिससे किसी परिस्थिति विशेष विशेष की सूचना ही मिलती है। दूसरी ओर सूक्ष्म और अत्यन्त आन्तरिक देश-प्रेम की भावना ही राष्ट्रीय काव्य के लिए अलम् नहीं है, सामयिक संस्पर्श भी उसके लिए आवश्यक है। सूक्ष्म और सामयिक का सुन्दर समन्वय ही राष्ट्रीय काव्य को व्यक्तित्व प्रदान करता है।

सामान्य रूप से हम जिसे राष्ट्रीय काव्य कहते हैं, उसके तीन सोपान दृष्टि-गत होते हैं। राष्ट्रीय काव्य का प्रथम सोपान वह है, जिसमें तीव्र देश-प्रेम की भावना और तीव्र सामयिक प्रेरणा समन्वित हो जाती हैं; दूसरा सोपान वह है जिसमें एक अन्तर्निहित देश-प्रेम की भावना सदैव विद्यमान रहती है, परन्तु सामयिक प्रेरणा तीव्र नहीं होती और अन्तिम तृतीय सोपान वह है जिसमें देश-प्रेम की भावना उतनी तीव्र और स्थायी नहीं होती परन्तु सामयिक प्रेरणा बड़ी तीव्र शैली में व्यक्त होती है। इस तीसरी श्रेणी की कविता में देश-प्रेम संचारी के रूप में रहा करता है विशेष दृष्टि से ये श्रेणियाँ राष्ट्रीय काव्य, सांस्कृतिक काव्य एवं सामयिक या सामाजिक काव्य के नाम

से अभिहित की जा सकती हैं। काव्य की यह उज्ज्वल परंपरा है। इसका प्रत्येक कवि देश-प्रेमी होता है। यह दूसरी बात है कि उसकी भावना तीव्र या मंद हो सकती है, उसका रूप व्यक्त या अव्यक्त हो सकता है। इस परम्परा के समस्त कवि हमारी अभ्यर्थना के अधिकारी हैं।

कुछ लोगों ने इस राष्ट्रीय परम्परा से भिन्न या विरुद्ध भी कुछ काव्य-रचना की है। व्यक्तिगत सुख-दुःख को लेकर चलने वाले कवि काव्य की उदात्त भूमियों में कम पहुँचते हैं। उनके काव्य का सम्प्रेषण इस बात पर निर्भर करता है कि उनकी वैयक्तिक अनुभूति में सामाजिक बनने की कितनी क्षमता है। यह क्षमता जितनी अधिक होगी काव्य भी उतना ही अधिक रस-भूमि के समीप होगा। यह वैयक्तिक अनुभूतियों का काव्य उन मनःशास्त्र को आधार मानकर चलने वाले व्यक्तिवादियों की रचनाओं से भिन्न है, जो कवि नहीं हैं। ये दोनों वर्ग राष्ट्रीय परम्पराओं के प्रति एक उदासीनता लेकर चलते हैं; परन्तु कुछ ऐसे भी है, जिनकी श्रद्धा-भक्ति के आधार देश के बाहर रहे हैं। राष्ट्रीय काव्य का यही वर्गीकरण सम्पूर्ण साहित्य के लिए भी स्वीकार किया जा सकता है।

राष्ट्रीय काव्य में सामयिकता आवश्यक है। इसकी सामयिकता से आशय यह है कि यह काव्य देश की समसामयिक परिस्थितियों के प्रति अत्यधिक जागरूक और संवेदनशील होता है। देश के भूत, भविष्य और वर्तमान में वह, मुख्यतः वर्तमान से सम्बन्ध रखता है। राष्ट्रीय काव्य का कवि अतीत का गौरव-गायक भी होता है, भविष्य-द्रष्टा भी बनता है, परन्तु उसकी दृष्टि वर्तमान पर ही केन्द्रित होती है। उसकी प्रेरणा का स्रोत बहुत समीप और प्रत्यक्ष रहता है। वे राष्ट्रीय परिस्थितियाँ उसे भी प्रभावित करती हैं जिनका जन-जन से सम्बन्ध है और जो लोक-हृदय को आन्दोलित करती हैं। इसलिए ऐसा काव्य व्यापक रूप से ग्रहण किया जाता है। ऐसे काव्य के ग्रहण की भूमिका पहले ही तैयार हो जाती है।

राष्ट्रीय काव्य समष्टि-आकांक्षा का काव्य कहा गया है। उसमें राज्य-नीति नहीं, लोक-नीति प्रतिबिम्बित होती है। राष्ट्रीय काव्य का कवि अभय भाव से जनता की आशा-आकांक्षाओं को, हर्ष-विषाद को, गति-प्रगति को वाणी का सुन्दर परिधान पहनाता है। वह राष्ट्र की प्रबुद्ध लोक-वाणी बनता है।

यहाँ एक प्रश्न पूछा जा सकता है। क्या राष्ट्रीय काव्य सामयिक और एक-देशीय वस्तु है? क्या उसका प्रभाव-क्षेत्र देश-काल की सीमाओं से आबद्ध है और क्या उसमें काव्य के सार्वभौम एवं शाश्वत उपकरणों की कमी होती है? दूसरे शब्दों में क्या राष्ट्रीय काव्य रस-भूमि की वस्तु नहीं है? इन प्रश्नों का उत्तर यही हो सकता है कि राष्ट्रीय काव्य ही रस-काव्य होता है। रस राष्ट्रीय भूमि की ही वस्तु है। देश और काल की सीमाओं में आबद्ध होते हुए भी वह सार्वभौम और शाश्वत वस्तु है। अन्य काव्यों की अपेक्षा राष्ट्रीय काव्य की प्रेरणा-भूमि अधिक सशक्त और उदात्त होती है, उसका प्रभाव (अपील) अधिक व्यापक और गहरा होता है। राष्ट्रीय काव्य विराट की अनुभूति का काव्य है, शक्ति और सामर्थ्य की वाणी है। जिस सूक्ष्म

आन्तरिक प्रेरणा पर राष्ट्रीय काव्य की नींव रखी जाती है, वह सभ्यता के अनेक अवरोधों के उपरान्त भी, एक सार्वजनीन सत्य है। दूसरी बात यह कि राष्ट्रीय कवि सामयिक उपकरणों से सीधी प्रेरणा ग्रहण कर, उसे अपनी कल्पना के द्वारा, अधिक समर्थ और अमर-सुन्दर रूप देता है। यह प्रक्रिया कठिन है, यह अंजन विरल्लों को ही मिलता है। राष्ट्रीय कवि देश की मिट्टी को श्रद्धा-भक्ति से पूर्ण हो अपने हाथों में लेता है और भाव-भीने स्पर्शों से उसे एक ऐसी सुन्दर मूर्ति में परिणत कर देता है, जिस पर कोई मनुष्य मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकता। मूर्ति में मिट्टी का आधार प्रत्यक्ष है, परन्तु अब वह मिट्टी नहीं, मूर्ति बन गई है। जो लोग इस मूर्ति-कला में पारंगत नहीं हैं, उनके सम्बन्ध में ही उपर्युक्त प्रश्न उठाए जा सकते हैं।

राष्ट्रीय काव्य में तीव्र भाव-परक अभिव्यक्ति (इमोशनल एक्सप्रेशन) अन्य काव्यों की अपेक्षा अधिक आवश्यक है, जिससे संप्रेषण तरल एवं सरल हो जाता है। बुद्धि परक अभिव्यक्ति का मार्ग अपनाने पर काव्य में जड़ता और जटिलता आ जाती है और प्रभाव क्षीण होने लगता है।

दादा एक राष्ट्रीय कवि हैं। उनके काव्य की सर्वप्रथम और प्रमुख विशेषता यह है कि देश-प्रेम की एक प्रबल भावना उनके काव्य में सर्वत्र व्याप्त है। यह सूक्ष्म आन्तरिक प्रेरणा उनके काव्य का प्राणतत्त्व कही जा सकती है। यदि शास्त्रीय शब्दावली का प्रयोग करें तो कहना होगा कि देश-प्रेम उनके काव्य का स्थायी भाव है। यह आलोककेन्द्र अमन्द और अटूट है। इसकी शक्ति पर कहीं शंका नहीं की जा सकती। हिन्दी की राष्ट्रीय काव्य-धारा के अन्तर्गत कतिपय ऐसे नाम भी स्वीकार किए गए हैं, जिनके काव्य का स्थायी भाव देश-प्रेम नहीं कहा जा सकता। देश-प्रेम उनके काव्य में संचारी बनकर ही आ सका है। अधिकतर देखा गया है कि ऐसे कवि कभी-कभी—विशेषकर राष्ट्रीय संकट के अवसरों पर—बड़ी आवेशपूर्ण शैली में अपने देश-प्रेम का परिचय देते हैं। शेष समय में वे मुख्य रूप से शृंगार की रचनाओं में संलग्न रहते हैं, बौद्धिक कृतियाँ प्रस्तुत करते हैं या फिर मनोरंजन की दृष्टि से लिखे गए छोटे-मोटे प्रयोग करने लगते हैं। हिन्दी में ऐसे कवियों की एक बड़ी संख्या है। ये सब समय की गंगा के घाट पर स्नान करने वाले लोग हैं, परन्तु उसकी लहरों में तैरते हुए उसे रत्नाकार तक ले जाने वाला तो कोई एक भगीरथ ही हुआ है। किसी स्थायी प्रेरणा के अभाव में अनेक कवि सामयिक प्रतिक्रिया की ही सूचना दे पाते हैं। वे वर्तमान की ज्वाला को शब्दों में बाँधते हैं। दादा राष्ट्रीय ज्योति के कवि हैं, ज्वाला के नहीं। उनका काव्य सहज ओज का काव्य है, आकस्मिक आवेग की असंयत वाणी नहीं है। चीन और पाक के भारत पर आक्रमण के अवसरों पर अनेक कवियों ने साहित्यिक संयम से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया, परन्तु दादा का अखंड ओज आद्यंत शालीनता की भारतीय मुद्रा से चिह्नित है।

दादा के काव्य की नींव बहुत गहरी है स्वदेश प्रेम की स्थायी भावना का तीव्र अटूट अंतर्प्रवाह उनके काव्य को सामयिक आवेग के कवियों से भिन्न और उदात्त भूमिका पर प्रतिष्ठित करता है। दूसरी बात यह कि दादा का काव्य, समय के प्रभाव

की दृष्टि से अन्य किसी भी कवि से भारी पड़ता है। समय के प्रति इतनी सजग और संवेदनशील दृष्टि दुर्लभ है। राष्ट्रीय जीवन की कोई भी महत्त्वपूर्ण घटना उनसे अनंकित नहीं जा सकी। उनका काव्य राष्ट्रीय जीवन का भावात्मक इतिहास है। दादा के काव्य में सामयिकता का गुण, विशेष प्रत्यक्ष प्रेरणा, बहुत बड़ी मात्रा में विद्यमान है। उनकी कविताओं का सम्बन्ध राष्ट्र के महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों, घटनाओं या परिस्थितियों से है या उस आराध्य से है जो देश से अभिन्न है। दादा की अधिकांश कविताओं के साथ उनकी रचना-तिथि और स्थान भी दिए गए हैं उनसे उनके काव्य को समझने में बड़ी सहायता मिलती है। यहाँ कुछ लोग यह प्रश्न पूछ सकते कि यदि दादा का काव्य इतना अधिक सामयिक गुण से पूर्ण है, तो उसे हम शाश्वत काव्य की संज्ञा कैसे दे सकते हैं ? यह प्रश्न स्वाभाविक है। सम्भवत: कुछ लोगों को शंका हो सकती है कि काव्य का सामयिक होना उसका दोष है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। समय के जल और देश की मिट्टी के बिना किसने मूर्ति बनाई है ? सामयिकता काव्य का दोष नहीं, उसका प्रथम गुण धर्म है। इसी सामग्री से काव्य का सौन्दर्यपूर्ण भवन बनाया जा सकता है। दादा के पास काव्य की इस सामग्री का अक्षय भंडार है। समय के प्रवाह की गद्‌गद गीली मिट्टी लेकर अमर सुन्दर मूर्ति बनाने की कला निश्चय ही बड़ी कठिन क्रिया है (जिसके सरल होने की भ्रान्ति ने कई के हाथ मिट्टी भरे कर दिए हैं) पर जिसे दादा ने सिद्ध कर लिया है। इस प्रकार दादा के काव्य की नींव (सूक्ष्म देश-प्रेम की भावना) बड़ी गहरी है, काव्य सामग्री (सामयिक प्रभाव) की उनके पास प्रचुरता है और निर्माण-कला में उन्हें सिद्धि प्राप्त है। यहाँ दादा के काव्य के कुछ उद्धरण देना आवश्यक है—

१. तुम रवि किरणों से खेल,
जगत् को रोज जगाने वाली,
कोकिल बोलो तो ?
क्यों अर्द्ध-रात्रि में विश्व
जगाने आई हो ? मतवाली,
कोकिल बोलो तो ?
दूबों के आँसू धोती रवि किरनों पर,
मोती बिखराती विन्ध्या के झरनों पर,
ऊँचे उठने के व्रत-धारी इस वन पर,
ब्रह्मांड कँपाती इस उद्दंड पवन पर,
तेरे मीठे गीतों का पूरा लेखा
मैंने प्रकाश में लिखा सजीला देखा
तब सर्वनाश करती क्यों हो,
तुम जाने या बेजाने
कोकिल बोलो तो !
क्यों तमोपत्र पर विवश हुई

लिखने चमकीली तानें
कोकिल बोलो तो !

—'कैदी और कोकिला'—हिमकिरीटिनी, पृ० १४,
सेन्ट्रल जेल जबलपुर सन् १९३०

२. युग तुम में, तुम युग में कैसे झांक रहे हो बोलो,
उथल-पुथल तब हो कि समय में जब तुम जीवन घोलो।
तुम कहते हो बलि से पहले अपना हृदय टटोलो
युग कहता है क्रान्ति-प्राण ! पहिले बन्धन तो खोलो।
... ...

है तेरा विश्वास गरीबों का धन, अमर कहानी—
तो है तेरा श्वास, क्रान्ति की प्रलय लहर मस्तानी।
कंठ भले हों कोटि-कोटि, तेरा स्वर उनमें गूँजा,
हथकड़ियों को पहन राष्ट्र ने पढ़ी क्रान्ति की पूजा।

—'युग और तुम-—समर्पण, पृ० २१-२२
गांधी जयन्ती के लिए, सन् १९३५

३. वाणि, वीणा और वेणी की त्रिवेणी धार बोले,
नृत्य बोले, गीत बोले, मूर्ति बोले, प्यार बोले।
आज हिमगिरि की पुकारों, सिन्धु सौ-सौ बार बोले,
आज गंगा की लहर में प्रलय का व्यापार बोले !
... ...

दंग करती-सी मृदंग बजे, कि वंशी-रंध्र बोलें,
नृत्य-मग्ना एशिया की गोपियाँ स्वच्छन्द डोलें,
अमित मधु आकर्षणों का ज्वार हरि, वंशी बजावे,
स्वर भरे कश्मीर उसमें, भैरवी नेपाल गावे।
मोह ले मन को हमारे नेह का गंधार प्रहरी,
और लंका से हमारी सिन्धु-सी ही प्रीत गहरी।
आज ब्रह्मा के स्वरों में, एशिया के द्वार हर्षित,
मित्र के उल्लास हर्षित, शत्रु के संहार हर्षित।
तीन बाजू से घिरा, यह तरल पारावार हर्षित,
आज दिल्ली के स्वरों ईमान का संसार हर्षित।

'प्राण का शृंगार'—युग चरण, पृ० ३४-३५
जनतन्त्र दिवस, सन् १९५४

ऊपर तीन उद्धरण दिए गए हैं। पहला उद्धरण विशेष परिस्थिति से सम्बन्ध रखता है, दूसरे में व्यक्ति उद्दिष्ट है और तीसरे में तिथि का महत्त्व है। परन्तु यह द्रष्टव्य है कि तीनों उद्धरणों में काव्य विशेष की भूमि से दूर पहुँच गया है। जबलपुर सेन्ट्रल जेल की वन्दिनी आत्मा कोकिल के स्वर के साथ सूर्यकिरणों में, विन्ध्य के

झरनों में और वनों में तथा आँधियों में कितनी स्वच्छन्द घूमती है और सूर के—जहाज के पंछी के समान पुनः पूर्व स्थान पर पहुँच गई। 'युग और तुम' कविता में युग-पुरुष महात्मा गांधी की अभ्यर्थना की गई है, परन्तु उद्धृत काव्यांश किसी भी युग-पुरुष की वन्दना के बोल हो सकते हैं। 'प्राण का शृंगार' कविता जनतन्त्र-दिवस पर लिखी गई है, परन्तु उसमें जिस हर्ष की व्यंजना है, वह किसी एक दिन, किसी एक वर्ष और किसी एक व्यक्ति की वस्तु नहीं है। उसमें तो कवि ने संपूर्ण राष्ट्र के चिरन्तन उल्लास को वाणी दी है। छोटी-सी प्रेरणा को लेकर दादा बहुत दूर और ऊपर पहुँच जाते हैं। यह कला हिन्दी के बहुत कम कवियों के पास है। यहाँ वे सामयिक रहते हुए भी समायातीत हो जाते हैं। ऐसे प्रसंगों में दादा प्रायः नाम आदि के स्थूल विवरणों को छोड़ देते हैं या आवश्यक होने पर उनके संकेत-मात्र देते हैं और सूक्ष्म तात्विक भूमि पर विचरण करने लगते हैं।

दादा के काव्य की ऊँचाई का एक और रहस्य है। उनका सम्पूर्ण काव्य आध्यात्मिक स्तर पर प्रतिष्ठित है। आसेतु हिमाचल फैले हुए इस विराट देश में उन्होंने अपने आराध्य की भावना की है इसलिए उनकी कृतियाँ पवित्र पूजा के गीत बन गई हैं :—

हो मुकुट हिमालय पहनता, सागर जिसके पद धुलवाता,
यह बधा बेड़ियों में मंदिर मसजिद, गुरुद्वारा मेरा है।

—हिमकिरीटिनी

'वेणु लो गूँजे धरा' संग्रह में भी आराध्य बलि के फूलों से ही प्रसन्न हुआ है।

प्राण कौन से स्वप्न दिख गए,
जो बलि के फूलों खिलते हो।

देश-प्रेम की भावना को आध्यात्मिक स्तर पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय दादा को है। आध्यात्मिक राष्ट्रवाद उनकी हिन्दी में विशेष मौलिक वस्तु है और इस क्षेत्र में वे अकेले हैं। दादा की आध्यात्मिकता परम्परागत है और शरीर तथा मन से परे एक चिरन्तन चिन्मय वस्तु है। इसी परम्परागत आध्यात्मिकता से दादा का काव्य दृढ़तापूर्वक बँधा हुआ है। भारतीय जीवन और काव्य की परम्परा मुख्यतः अध्यात्म-मुखी रही है और जो कवि इस परम्परा के जितना निकट रहा है उसे भारतीय जीवन ने उतने अधिक श्रद्धा के पुष्प अर्पित किये हैं। आधुनिक काव्य से सर्वाधिक तेजस्वी आध्यात्मिक ज्योति दादा के काव्य में दिखलाई पड़ती है। हमें दादा के काव्य का मूल्यांकन इस दृष्टि से भी करना होगा। हम अपने समय के इतने समीप हैं कि हमें उसका सम्यक् बोध नहीं हो सकता और दूसरी बात यह है कि आत्म-प्रचार के अगणित नगाड़ोंकी अभ्रभेदी आवाजों के बीच रेवातट के शान्त परन्तु सशक्त वेणु-स्वर बहुत कम सुनाई पड़े। परन्तु एक शताब्दी उपरान्त यह स्थिति नहीं रहेगी। ऐतिहासिक बोध से सम्पन्न आनेवाली पीढ़ियाँ दादा को भिन्न दृष्टि से देखेंगी। आज यह बहुत स्पष्ट दिखलाई पड़ रहा है कि भारत की शक्ति-साधना के साथ ही उसकी मूल आध्यात्मिक चेतना भी बलवान बनेगी। अध्यात्म हमारे राष्ट्र का केन्द्र है,

हमारी साधनाओं की राजधानी है। इसका महत्त्व हमें आज नहीं तो कल समझना ही होगा। हमारी आगामी पीढ़ियाँ यह देखेंगी कि कौन हमारे इस केन्द्र के पास है और अपना है तथा कौन इससे दूर-दूसरे केन्द्र के समीप पहुँच गया है और पराया बन गया है। इस दृष्टि से दादा के काव्य का मूल्य और भी अधिक बढ़ जाता है। यदि दादा का काव्य केवल सामयिक प्रतिक्रिया व्यक्त करता तो वे देश के बहिरंग शरीर के कवि होते, यदि दादा का काव्य देश प्रेम की सूक्ष्म भावना पर ही आधारित होता तो वे देश के अंतरंग प्राण या हृदय के कवि होते परन्तु दादा तो देश की आत्मा के कवि हैं 'एक भारतीय आत्मा' हैं और उन्होंने आत्मभूमि पर काव्य-रचना की है। दादा का काव्य आध्यात्मिक स्तर की वस्तु है। पूर्व मध्य-युग के उपरान्त इतनी सशक्त और सुन्दर आध्यात्मिक अभिव्यक्ति हिन्दी में दूसरी नहीं दिखलाई पड़ती। हमारा ध्यान हिन्दी के इस ऐतिहासिक तथ्य की ओर जाना अत्यन्त आवश्यक है कि प्राचीन पद-साहित्य का दादा के पूजा-गीतों के रूप में पुन: अवतार हुआ है। हिन्दी के अनेक आधुनिक कवि इस दृष्टि से दादा के कम-कक्ष लगेंगे।

एक ओर तो दादा कोटि-कोटि भारतीयों के साथ अपने हृदय का तादात्म्य स्थापित करते हैं और साथ ही उसी भारतीय जन-गण में अपने आराध्य (विस्तृत, विराट, श्याम सलोने) की भावना कर उसके चरणों में समर्पित की हैं। उनके काव्य की यह दुहरी भूमिका एक ऐसे प्रगाढ़ रस की सृष्टि करती है जो हिन्दी में अन्यत्र दुर्लभ है। व्यष्टि के समष्टि तक पहुँचने की यह प्रणाली आज अपने आपमें अकेली है। रस-काव्य को दादा ने नई दीप्ति दी है, नई शक्ति दी है।

दादा का काव्य शासन का अनुगामी और अनुगायक कभी नहीं रहा। भारतीय जनता की आशा-आकांक्षा, हर्ष-शोक, संकल्प-विकल्प आदि उनके काव्य में व्यक्त होते रहे हैं। स्वतन्त्रता के पूर्व वे एक विद्रोही सैनिक थे और स्वतन्त्रता के उपरान्त वे एक समीक्षक की स्थिति में हैं। दादा में राजनीति नहीं, जननीति मुखरित हुई है, वे राज-कवि नहीं है विराट भारतीय जन-गण के कवि हैं। उनका काव्याधार जन-तान्त्रिक है।

ऊपर कहा जा चुका है कि राष्ट्रीय काव्य में तीव्र भाव-परक अभिव्यक्ति (इमोशनल एक्सप्रेशन) अधिक आवश्यक है। जिन कवियों ने राष्ट्रीय काव्य में बुद्धि परक अभिव्यक्ति का मार्ग अपनाया है उनकी रचना अभीप्सित प्रभाव की सृष्टि नहीं कर सकी है। ५ अगस्त सन् १९६५ को भारत पर पाकिस्तान ने आक्रमण किया। इस संदर्भ को लेकर पुन: हिन्दी के कवियों ने राष्ट्रीय कविताएँ लिखीं, परन्तु अधिकांश कविताएँ बुद्धि-प्रसूत हैं और प्रयत्नपूर्वक लिखी गई हैं। कुछ उदाहरण यहाँ दिए जा रहे हैं—

१. सिपाही देश का कलंक धो रहा है।
जो बीज जम कर,
सदियों में कई बार सूखे हैं,
उन्हें फिर से बो रहा है।

बम के धड़ाकों से ईश्वर ही नहीं चौंकता,
आदमी भी घबराकर जाग उठता है।
इतिहास जानता है कि क्या हो रहा है ?

२. हथियारों नहीं, मर्दों के गीत गाओ।
अरे गाओ, अगर स्वर समर्थ है।
क्योंकि मर्द नहीं, तो हथियार लूले हैं,
मर्दानगी नहीं, तो लोहा व्यर्थ है।
विमान सेबर हो या नैट
कोई ज्यादा फर्क नहीं पड़ता है।
लड़ाई तो मर्दानगी की चीज़ है
हथियार भी मर्दों के इशारों पर लड़ता है।

३. इस सबसे क्या,
उस सबसे क्या, किसी सबसे क्या,
जब कि अकेलेपन में,
एक व्याप्त मामूलीपन का स्पन्दन है
और वह व्याप्त मामूलीपन एक सेतु है
जिसमें हम सब
हर अकेली रात के अँधेरे में
एक सम्बन्ध और सामर्थ्य और गौरव के सूत्र में बँधते हैं—
हम, हम, हम, हम भारतवासी ?

ऊपर तीन उद्धरण दिए गए हैं। पहले उद्धरण में संभवतः दो बातें बहुत ही सीधी शैली में कही गई हैं कि हमारे सिपाही देश के कलंक को धो रहे हैं और यह भयंकर युद्ध मनुष्य के साथ ही ईश्वर को भी चौंका देने वाला है (यद्यपि इसमें ईश्वर के बाद आदमी के आने से अतिशयोक्ति प्रभावहीन हो गई है)। इसमें विचार-सूत्र सीधे सरल रूप में रख दिए गए हैं। परन्तु हृदय का वेग कहीं संयुक्त नहीं हो सका है। दूसरा उद्धरण युद्ध के तथ्यों पर आधारित है। यह अब सर्वविदित है कि भारत-पाक युद्ध में भारतीय वीरों ने अपने साहस और शौर्य के बल पर अमेरिका द्वारा पाकिस्तान को दिए गए सेबर जैट विमानों और पैटन टैंकों के धुर्रे उड़ा दिए थे। इसी तथ्य को उक्त उद्धरण में, कुछ सामान्य रूप देकर, एक विचार के रूप में प्रस्तुत किया गया है कि लड़ाई हथियारों से नहीं मर्दानगी से जीती जाती है। यहाँ द्रष्टव्य है कि बाह्य तथ्यों के आधार पर निष्कर्ष निकालने वाली यह प्रक्रिया मूलतः बौद्धिक है। ये दोनों कविताएँ सरल, परन्तु वेग-रहित हैं। तीसरा उद्धरण जटिल और वेग-रहित काव्याभास का उदाहरण है। इन तीनों उद्धरणों में उत्तरोत्तर बौद्धिक प्रक्रिया बढ़ती गई है और उसी अनुपात से काव्य-प्रभाव का भी ह्रास हुआ है।

राष्ट्रीय काव्य की प्रतिनिधि शैली हिन्दी के कतिपय नए कवियों में व्यक्त हो रही है। उपर्युक्त बौद्धिक काव्य से इसकी भिन्नता प्रदर्शित करने के लिए कुछ उदा-

हरण देना आवश्यक है :

१. मशाल थामना—
मोरचा बिखर न जाय,
गिर न जाय काल-सन्तरी
उसे सम्हालना
मशाल थामना
कृष्ण है स्वदेश आज और काश्मीर बंसरी
उसे सम्हालना
मशाल थामना ।

२. आज अपना देश पूरा लाम पर है,
जो जहाँ भी है, वतन के काम पर है !
हल लिए है हाथ भामाशाह मेरे
प्रतापों ने बर्फ पर साका किया है,
लहू देने का महूरत आ गया है
दूध जिसने भी कि—इस माँ का पिया है ।

३. पुरुषार्थ
क्षमा के लिए बने हुए हाथ
लेते हैं शास्त्र
व्यापक क्षमा के लिए
चारों तरफ अनसुना कोलाहल है,
और मुझे सूझते नहीं हैं शब्द
घबराये हुए लोगों की उपमा के लिए ।

पहला उद्धरण एक गीत है, जिसमें सशक्त उद्बोधन निहित है । कवि की चिन्ता कृष्ण और उनकी वंशी के रूपक में पवित्र होकर, तीव्र गति से, संगीत के स्वरों के साथ, प्रत्येक बार कल्पना के नव-नव वस्त्र पहिन कर अग्रसर होती है । दूसरी कविता का सहज ओज ऐतिहासिक संदर्भों तथा राष्ट्रीय उपलब्धियों के सहारे विकसित हुआ है । देश-प्रेम के लिए कवि ने जैसे ओज और आवेग का गरुड़-वाहन उपस्थित कर दिया है । तीसरी कविता अपनी उदात्त परिणति, (शत्रु-पक्ष की अनुपमेय घबराहट द्वारा) भारतीय पुरुषार्थ की व्यंजना एवं गम्भीर आत्म-विश्वास के कारण उल्लेखनीय बन गई है । राष्ट्रीय काव्य की भाव-परक शैली की त्रिविध भंगिमाएँ ऊपर दी गई हैं । इन कविताओं की शैली सरल और तरल है ।

दादा का काव्य भाव-परक अभिव्यक्ति का आदर्श प्रतिष्ठित करता है । वास्तव में दादा के काव्य की केन्द्रीय शक्ति उनकी भावना ही है । काव्य का मूल और मुख्य तत्त्व भी यही है और यह उनके काव्य में साद्यन्त समरस रहा है । इसीलिए उनके काव्य में सहज वेग का कहीं अभाव नहीं है । जिन कवियों के काव्य में मूल शक्ति बुद्धि होती है, उनके सम्पूर्ण काव्य और काव्य-प्रक्रिया का शासन बुद्धि द्वारा

ही होता है। उन्हें हम नियंत्रित-भावना के कवि कह सकते हैं। युवावस्था की शक्ति के साथ बुद्धि की प्रखरता और प्रकाश उनके काव्य में व्यक्त होते हैं, परन्तु अवस्था के अधिक हो जाने पर बुद्धि की शक्ति क्षीण होने लगती है। कुछ कवि अपनी काव्य-कला का केन्द्र कल्पना को बनाते हैं। कल्पना द्विमुखी है। उसका एक मुख हृदय की ओर है और दूसरा मुख मस्तिष्क की ओर। जिन कवियों की कल्पना मस्तिष्क-मुखी होती है आगे चलकर उनका काव्य विचार-प्रधान बन जाता है और कल्पना की रमणीयता कम होने लगती है। दादा के काव्य का केन्द्र भावना है और यह स्वतन्त्र तथा समरस रही है। यह उनके काव्य की मूल शक्ति है। अवस्था के विकास के साथ ही मनुष्य की भावना विस्तृत, विशुद्ध और तीव्र हो जाती है। दादा का काव्य इस बात का प्रसाण है। उनका काव्य-क्षितिज विस्तृत हुआ है, उनकी भावना पवित्रता की ऊँचाइयों तक पहुँच गई है और भाव-तीव्रता भी, एक विशेष संयम की मुद्रा लेकर, व्यक्त हुई है। सन् १९६२ में चीन के भारत पर आक्रमण के समय दादा ने देश की तरुणाई को एक बार फिर अपने सहज स्वर में ललकारा :—

बूढ़ों की क्या बात युगों की तरुणाई के दिन आये हैं,
चट्टानों, खन्दकों, पहाड़ों की खाई के दिन आये हैं।
गंगा मांग रही है मस्तक, जमना मांग रही है सपने,
आज जवानी स्वयं टटोले सिर हथेलियां अपने-अपने।
कितने दिन से वृक्ष दे रहे संकेतों झुक आई डाली,
कितने दिन से खड़ा अकेला अपने बागों का यह माली।
आज सिद्ध करना ही होगा नहीं जवाहर कभी अकेला,
आज सिद्ध करना ही है यह आ पहुँची प्रयाण की वेला।
चलो सजाओ सैन्य, समय की भरपाई के दिन आये हैं,
आज प्राण देने के, युग की तरुणाई के दिन आये हैं।

—मरण-ज्वार, पृ० ५१

बलिदान का त्योहार मिल जाने की प्रसन्नता गीत के स्वरों में फूट पड़ी है। इस गीत में दादा का सम्पूर्ण ओज एक निर्विकार शान्ति में पर्यवसित हो गया है। गीत की यह उदात्त भूमिका स्वाभाविक है, अधिक सशक्त और संयत भी है, साथ ही अभिव्यक्ति सीधी और सरल है। पूरा गीत एक मार्मिक प्रभाव उत्पन्न करता है।

देश-प्रेम की एक अटूट आन्तरिक भावना दादा के काव्य का मूल और मुख्य उपकरण है। इस भूमि पर समय के चरण-चिह्न बहुत गहरे अंकित हुए हैं, जिन्हें वे अपनी भाव-भीनी कलम से सुन्दर कला का रूप देते हैं। दादा भारतीय राष्ट्र के अनन्य उपासक हैं। वे हमारे राष्ट्रीय कवि हैं।

डॉ० सियाराम शरण प्रसाद

सियाराम शरण गुप्त के उपन्यास : एक समाजशास्त्रीय अध्ययन

स्वर्गीय श्री सियाराम शरण गुप्त सामाजिक चेतना के सांस्कृतिक कवि और लेखक थे जिनकी रचनाओं में भारतीय संस्कृति और प्रगतिशीलता का समुचित सन्तुलन ध्यात्व है। एक ओर जहाँ उनमें शुद्ध कवि-हृदय का दर्शन होता है वहां दूसरी ओर उनका गद्य साहित्य भी अपना अलग महत्त्व रखता है।[1] प्रस्तुत निबन्ध में हम उनके उपन्यासों की समाजशास्त्रीय दृष्टि से विवेचना करेंगे।

साहित्य अनुभव और अनुभूतियों का संग्रहीत कोष होता है और जिसमें समयानुसार उद्‌बुद्ध परिस्थितियों की अग्नि एवं परिवेश के जलकण से समस्याएँ निर्मित होकर अनुभव और अनुभूतियों का संस्पर्शन करती हैं। कलाकार चेतन प्राणी होता है, बुद्धि, विवेचन और अनुभूति की शक्ति रखता है। समाज के मध्य उसकी परिणति एवं जीवन-यापन होता है। एक कालगत समस्याओं और परिस्थितियों का उसे प्रत्यक्ष रूप से सामना करना पड़ता है। इनसे कटकर कलाकार, विशेषकर गद्य लेखक अपनी प्राणवत्ता ही खो बैठेगा।[2] गद्य यथार्थ एवं वास्तविकता से अलग हटकर निष्प्राण हो जायगा। अतएव उपन्यास, जो गद्य की एक प्रमुख विधा है, इन उपकरणों से वंचित नहीं हो सकता है और इसके फलस्वरूप उसकी विवेचना समाजशास्त्रीय कसौटी पर प्रकृत रूप में, सहज भाव से की जा सकती है। श्री सियाराम शरण गुप्त के उपन्यासों के साथ भी यही तथ्य लागू है। चूंकि गुप्तजी के उपन्यास सामाजिक धरातल पर ही खड़े हैं इसलिए यह भी विचारणीय प्रश्न उनसे सम्बद्ध है।

श्री गुप्त के उपन्यास स्वतन्त्रता पूर्व के १९४० के आसपास के हैं।[3] अतएव स्वाभाविक रूप में उनकी इन औपन्यासिक कृतियों में तत्युगीन समस्याएँ एवं सामाजिक

---

१. मौर्य-विजय, अनाथ, दूर्वादल, विषाद, आर्द्रा, आत्मोत्सर्ग, पाथेय, मृण्मयी, बापू, उन्मुक्त, दैनिकी, नकुल आदि काव्य पुण्य पर्व नाटक, निष्क्रिय प्रतिशोध, कृष्णाकुमारी गीतिनाट्य, कोटर और कुटीर, मानुषी आदि कहानी संग्रह तथा नारी और गोद—इनके उपन्यास हैं। ज्योति प्रसाद निर्मल के शब्दों में हम कह सकते हैं कि वे "—परिवर्तन के पक्षपाती हैं।" —नवयुग काव्य-विमर्श, पृष्ठ ।

2. "All the arts in one way or another, to some greater or lesser extent, interpret life···these three functions intensification, clarification and interpretation of experience, the arts fulfill in various degree"—Irwin Edman—'Art and the Man'. Page-22-30.

३. 'गोद' का प्रकाशन १९९० तथा 'नारी' का १९९४ है।

परिस्थितियाँ क्रियाशील हैं। यह सर्वविदित तथ्य है कि भारतवर्ष के लिए वह काल पराधीनता की शृंखला से आवद्ध था। यहाँ अँग्रेजों का राज्य था। भारतीय मुक्त जीवन से परे थे। अँग्रेजों ने राजनैतिक और आर्थिक कुचक्र के माध्यम से भारतीय शक्ति को कुचला ही नहीं प्रत्युत छिन्न-भिन्न कर सदियों तक के लिए कमजोर बनाने का प्रयत्न किया। १९४० तक सारे देश में अँग्रेजों की शोषण प्रणाली पूरी तरह व्याप्त हो चुकी थी। जमींदारी तथा महाजनी प्रथा का विस्तार इतना व्यापक हो गया था जिसमें सम्पूर्ण भारत का ग्राम जीवन शोक-विषाद और निर्धनता का केन्द्र बन गया था। जमींदार एवं महाजन भारतीय जीवन में जोंक सदृश थे जो निरीह ग्रामीणों और जनता का सारा रक्त चूसते जा रहे थे। ऐसी स्थिति में किसान खेत जोतकर भी सारा धन जमीन्दारों और महाजनों को समर्पित कर भूखे रहते। किसान के बच्चे अभाव में कातरता से जीवन व्यतीत करते, दर्द की कहानी बनकर जीवन-लीला समाप्त करते। 'नारी' में इस तत्त्व को स्पष्टतया देखा जा सकता है। जमना और उसका पुत्र हल्ली इस चक्र में फँसे दीख पड़ते हैं। महाजन के कर्ज़ के कारण जमना घोर कष्ट सहती है और कर्ज़ के अभिशाप से क्षतिग्रस्त होने के कारण वह महाजन के पुत्र के सम्मुख अपने पुत्र को सिर उठाने नहीं देती है। लगता है महाजनी प्रथा की अभिशाप-शिला उसकी स्वच्छन्द साँस को रोककर उसके कलेजे पर बैठी है। अन्त में इसी भावना को अपने पुत्र के समक्ष व्यक्त करती, आशा का संबल लेकर कहती है—"सह ले, पक्का होकर इसे सह ले। कमजोर क्यों पड़ता है? जितना अधिक सह सकेगा, उतना ही तू बड़ा होगा।" (पृष्ठ २०६) इसी अभिशाप का मार्मिक उदाहरण है कि मोती चौधरी जमना का खेत, कुआँ आदि वृन्दावन से अपने नाम रजिस्ट्री करा लेता है। वृन्दावन वर्षों पत्नी को छोड़कर जाने वाला व्यक्ति भी जमना का मालिक बना उसका सर्वनाश करता है। सचमुच ही ऐसी प्रथा घोर नाटकीय नहीं तो और क्या कही जायगी जिसमें भागा हुआ, कर्त्तव्यहीन पति ही पत्नी के भाग्य का मालिक बना उसके साथ खेलवाड़ करता है। जमना और हल्ली का भाग्य-रूपी आकाश तिमिराच्छन्न हो उठता है। इस दुर्भाग्य का सृजन मात्र महाजनी प्रथा, शोषण प्रणाली, असामान्य आर्थिक व्यवस्था के कारण होता है। न जाने इस पीड़ा-जन्य रोग से भारत के कितने करोड़ लोग शिकार हुए और हाल-हाल तक होते रहते हैं।[1] यही शोषण-प्रथा जमुना और वृन्दावन को पुनः मिलने भी नहीं देती क्योंकि दोनों के मिलने से शोषण का अवसर कम हो जाता, खेत, कुएँ हड़पने का अवसर नहीं रह जाता। इसी-लिए चौधरी वृन्दावन का पत्र छिपाकर, उसे शंका के क्षोभ में डुबोकर अपना स्वार्थ साधता है, जमना को वृन्दावन के जीवित होने की सूचना से वंचित रख, वृन्दावन के

१. मालिक किसान जो अभी तक अपनी ही जमीन पर खेती करता था, अब बनियाँ-जमीन्दारों या साहूकारों का करीब-करीब दास किसान बन गया, जो केवल काश्तकार था उसकी हालत तो और भी खराब हो गई। वह तो साहूकार का भी दास बन गया था, या बेदखल किए हुए भूमिहीन मजदूरों की बढ़ती हुई जमात में शामिल हो गया।"—जवाहर लाल नेहरू—"मेरी कहानी"—पृष्ठ-४१८।

मन में जमना के प्रति भ्रष्टाचार की भावना उत्पन्न कर दोनों के पवित्र प्रेम के बीच, दीवार बन, दोनों का जीवन सदा-सदा के लिए कालिख से भर देता है। जमना के मन में अपने पति के प्रति जो अगाध प्यार एवं विश्वास था, वृन्दावन के मन में अपनी पत्नी के प्रति आसक्ति और ममत्व था—वह सब महाजनी सभ्यता की अग्नि में होलिकादहन की तरह छार हो जाता है। निःसन्देह सियाराम शरण गुप्त ने महाजनी सभ्यता का बड़ा ही मार्मिक, परन्तु आवेश से परे, चित्र 'नारी' में प्रस्तुत किया है। यह सत्य है कि गुप्तजी ने उसके अभिशाप को ही चित्रित किया है, सामाजिक धरातल पर कोई ठोस निदान प्रस्तुत नहीं किया है और यह कुछ समाजवादी सिद्धान्त के आलोचकों को खटक सकता है।

ग्राम से सम्बद्ध कथानक पर आधारित 'गोद' उपन्यास में भी महाजनी सभ्यता उपस्थित है। उसमें इस सभ्यता के फलस्वरूप झूठी मर्यादा के मुखौटे का पर्दाफाश किया गया तथा उसकी निरर्थकता सिद्ध की गई है। वस्तुतः इसमें इस प्रकार का दूसरा आयाम, जो ऊपर से चमकदार, साफ दीख पड़ता है, परन्तु भीतर से भ्रष्ट और दलदलापूर्ण है। 'गोद' में इसी सभ्यता का घना वातावरण मर्यादा के मुखौटे में चमकदारपूर्ण बना दीखता है। परन्तु भीतरी खोखलापन इसमें छिप नहीं पाता है। गुप्त जी की पैनी दृष्टि सतह से हटकर गहराई में प्रवेश कर सत्य देखती है कि इसी सभ्यता के खोखलेपन में पार्वती छटपटाती है, परन्तु दिखावापूर्ण मर्यादा छोड़ना नहीं चाहती, शोभाराम इसी कारण अपनी आत्मा की आवाज किसी के सम्मुख स्पष्ट ढंग से प्रस्तुत करने में अक्षम होता है। पार्वती किशोरी की पवित्रता पर विश्वास रखकर भी पति के सम्मुख एक शब्द भी बोलना अपराध समझती है। पति ही सब कुछ है, उसकी इच्छा और विश्वास ही सब कुछ है, इसी अंधविश्वास को लेकर वह मन में ताप और पीड़ा सहती, घुटती है, परन्तु कुछ बोल नहीं पाती है। दयाराम उसी पुरानी रूढ़िग्रस्त प्रथा का जीता-जागता प्रतीक है। शोभाराम हृदय से किशोरी के लिए ममत्व रखकर भी घिसी-पिटी प्रथा के संस्कार में डूबा रहा, कुछ बोलने में असमर्थ होता है। और इसका परिणाम भोगना पड़ता है किशोरी और उसकी माँ को। वे समाज से प्रताड़ित होती हैं, व्यथा का शिकार होती हैं, व्यंग्य से आहत होती हैं और यह सब होता है झूठी अफवाह के कारण। अतः लेखक ऐसी स्थिति में क्रान्ति का शंख फूंकता है। वह शोभाराम में नई चेतना की लहर उद्वेलित कर इस झूठे आवरण को खण्डित कर मुक्त साँस लेने की प्रेरणा देता है। परिस्थिति की सघनता में शोभाराम आत्मा की आवाज पर उठ खड़ा होता है और सारे लोकोपवाद को भ्रामक मानकर किशोरी से विवाह कर लेता है—अपने भाई की आज्ञा के बिना ही। तब उसके जीवन में नया आलोक आता है, वह नया अध्याय आरम्भ करता है और अन्ततोगत्वा उसके पुराने संस्कार के बड़े-भाई दयाराम भी उसे स्नेह से अपना लेते हैं। पार्वती के हृदय पर जमा हुआ पत्थर जैसे शोभाराम के प्रगतिशील कर्त्तव्य के स्पर्श से गलकर समाप्त हो जाता है और इस प्रकार एक नूतन परिप्रेक्ष्य सामने आता है। आदर्शवादी लेखक श्री सियारामशरण गुप्त को यह विश्वास है कि जब

तक देश में नवयुवक वर्ग साहस से उठकर न्याय और औचित्य की दृष्टि रख रूढ़ियों का विरोध नहीं करेंगे तब तक देश का भविष्य अंधकार-मंडित रहेगा—नये विचारों और न्याय का प्रकर्षपूर्ण सूर्य दीख नहीं पड़ेगा। भारत में उस समय तक मानवतावादी दृष्टिकोण का प्रचार हो रहा था। विवेकानन्द और गाँधी आदि इसी चेतना के प्रसारक थे। विवेकानन्द ने तो वेदान्त के आधार पर मानवतावाद का समर्थन करते हुए, ईश्वर को महान मानते हुए भी मानव को उसके समकक्ष स्वीकार किया—"मैं ऐसे धर्म तथा ईश्वर पर विश्वास नहीं करता जो विधवा के आँसू न पोंछ सके तथा अनाथ के लिए रोटी का टुकड़ा न दे सके।"[1]

इसके साथ ही गुप्तजी ने महाजनों की मनमानी, भ्रष्टाचार (सूद में पैसा लेकर भी प्रामाणिक कागज नहीं देना, मालगुजारी रसीद नहीं देना आदि), कृषकों की आर्थिक परिस्थिति तथा अन्धविश्वास आदि का भी अंकन किया है। 'गोद' और उससे भी अधिक 'नारी' में ये प्रसंग अधिक सजीवता और स्पष्टता से उभर कर आए हैं। यह ज्ञातव्य है कि गुप्तजी के उपन्यास स्वतन्त्रता पूर्व के हैं, उनमें स्वतन्त्रता के पर्याप्त पूर्व की स्थिति का यथार्थ चित्रण है। ब्रिटिश सरकार की अपनायी हुई नीति से भारत का जो अहित हुआ उसका वास्तविक रूप 'नारी' में उपस्थित है। भारत के किसान महाजनों और जमींदारों की दोहरी मार से टूट गए। उनका दोहरा शोषण[2] जैसे उनके जीवन को चूस गया। 'नारी' में प्रकारान्तर से इसका स्पष्ट वर्णन है।

यह भी सत्य है कि भारत कृषि-प्रधान होने के कारण तथा कृषि-साधनों के समुन्नत नहीं होने के कारण प्राकृतिक शक्तियों पर आश्रित रहने के कारण भाग्यवादी बन गया था। डॉ० चण्डी प्रसाद जोशी का कथन सत्य ही है—"—प्राकृतिक प्रकोप से बचने का उपाय न होने के कारण सुरक्षित जीवन सम्भव न था। अतः प्रकृति से हार स्वीकार कर वह जीवन के प्रति उदासीन, निराशावादी तथा भाग्यवादी बन गया।" गुप्तजी के उपर्युक्त उपन्यासों का सृजन-काल वह काल था जब भारत परतन्त्र था। साथ ही औद्योगिक विकास नहीं हुआ था। आस्था और निष्ठा के विपरीत भाग्यवादी प्रवृत्ति मूलरूप से व्याप्त थी। "नारी" और "गोद" दोनों उपन्यासों में यह भाग्यवादी दृष्टिकोण प्रबल रूप में दिखाई पड़ता है। "नारी" की जमना में भाग्यवादी का आधिक्य देखते हैं। वह अपने दुख का कारण भाग्य को ही स्वीकार कर महाजनों तथा अन्य सभी के अत्याचारों को चुपचाप सहती है। जब उसका पुत्र हल्ली कभी भाग्यवादी दृष्टि का विरोध करता है तब उस क्षण भी जमना भाग्य की दुहाई देकर उसका मुख बन्द करना चाहती है। इसी प्रकार वृन्दावन तथा कुछ सीमा तक अजीत भी भाग्यवाद के प्रभाव को स्वीकार कर लेता है। "गोद" में पार्वती, शोभाराम, दयाराम, सभी भाग्यवादी रूप में दीख पड़ते हैं। पार्वती में तो इसकी पराकाष्ठा है। तभी वह सब दुख सहती हैं पर किंचित मात्र भी विरोध नहीं करती

1. Great Man of India—Edited by L. F. Roshbrook Page 506.
२. हिन्दी उपन्यास : समाजशास्त्री विवेचन, : ले० चण्डी प्रसाद जोशी, पृष्ठ-१८।

है। जैसे मनुष्य भाग्य का दास हो। भाग्य के सम्मुख मनुष्य नितान्त अशक्त और दुर्बल है। परन्तु गुप्तजी का लेखक इस विश्वास का समर्थक नहीं था। गुप्तजी मनुष्य के निराशा और भाग्यवाद की कुंठा में जर्जर होने के विपरीत कर्त्तव्य और उत्साह में जीवन का महती आनन्द स्वीकार करते हैं। वे जीवन का आलोक कर्त्तव्य-परायणता और क्रियात्मक बुद्धि में अनुभव करते हैं। इसीलिए तो अन्त में शोभाराम भाग्यवाद के विपरीत कर्त्तव्य से संचालित होकर एक नया आदर्श उपस्थित करते हैं। मानवता को एक नया मार्ग देते हैं। शोभाराम का भाग्यवादी दृष्टिकोण के विरुद्ध जेहाद से ही कथानक में स्वस्थ वातावरण अवतरित हो पाता है, किशोरी, शोभाराम, पार्वती आदि के जीवन में आशा की किरणें फूटती हैं। यही तत्व "नारी" में भी ध्यातव्य है। "नारी" की जमना में भी भाग्यवादी के कारण पीड़ा का स्रोत फूटता रहता है, परन्तु हल्ली और जमना में भी कर्त्तव्य का नया आलोक आता है तो वे कुंठा त्याग आदर्श और नवीन दिशा के लिए निर्माण करते हैं। उनका जीवन नयी दिशा में उन्मुख हो जाता है। अतः भाग्यवाद के भरोसे कर्त्तव्यहीनता को प्रश्रय देने की प्रवृत्ति गुप्तजी की कृतियों में कदापि नहीं है।

गुप्तजी के उपन्यासों में नारी-मर्यादा का प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण हैं। अंग्रेजों के शासन-काल में नारी-समाज को घर और पर्दे के अतिरिक्त कहीं स्थान नहीं था। पितृ कुल की सेवा तथा विवाहोपरान्त पतिगृह में ससुराल वालों की सेवा ही उनका मुख्य आदर्श बन गया था। वे मर्यादा की गहरी सीमा में आवद्ध हो गई थीं। इतनी मर्यादा के बावजूद अगर एक दिन भी किसी अज्ञात स्थान पर रह जाती या चली जाती (किसी मजबूरी के ही कारण) तो उनकी सारी मर्यादा और पवित्रता समाप्त मान ली जाती और इसके परिणाम स्वरूप उन्हें दारुण से दारुण कष्टों को झेलना पड़ता। नारी जैसे एक निर्जीव पात्र थी जिसका जीवन मात्र पुरुष के उपयोग के लिए बन गया था।[१] किशोरी मेले में भटक कर एक रात स्वयंसेवकों के कैम्प में रहती है और इसके फलस्वरूप उसे अगाध पीड़ा सहनी पड़ती है। शोभाराम से तय की हुई शादी भंग हो जाती है। उसे अनमेल विवाह के लिए भी तैयार होना पड़ता है। एक अनजान भूल के लिए मानों जैसे उसका जीवन काँटों की शय्या बन जाता है। अगर शोभाराम की आँखें नहीं खुलतीं और वह साहस से उसे नहीं अपनाता, उससे वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित नहीं करता तब निश्चय ही किशोरी सदा-सदा के लिए नरक की अग्नि में तड़पती रहती, उसकी माँ दारुण व्यथा में जलती रहती, किशोरी को अनमेल विवाह के अभिशाप से ग्रस्त रहना पड़ता, एक भ्रष्ट पुरुष की पत्नी बनकर मानसिक यातना सहनी पड़ती। गुप्तजी ने समाज में प्रचलित नारी के सम्बन्ध में ऐसे रूढ़ विश्वास का विरोध किया और समाज की आँखों में उँगलियाँ डालकर सोचने-समझने को विवश किया है। "गोद" में लेखक ने इस तथ्य को कुशलता और मार्मिकता से प्रस्तुत किया है। "नारी" में भी नारी की मर्यादा और शील की समस्या है। जमना अपने पति के अनजान देश में चले जाने के बाद कई

१. महादेवी कृत "स्मृति की शृंखला", और "अतीत के चलचित्र" देखें।

वर्षों तक उसके आने की प्रतीक्षा करती है, किसी दूसरे पुरुष से वैवाहिक सम्बन्ध करने से मुकरती रहती है। अकेले छोटे पुत्र को लेकर कठिन यातना की अग्नि में जलती रहती है, परन्तु पुर्नविवाह की कल्पना तक नहीं करती। उसका छोटा पुत्र हल्ली भी अपने सामाजिक संस्कार के कारण अजीत के प्रति उसका झुकाव देख, पुर्नविवाह का विरोध करता है। लेकिन झूठी कल्पना से, यथार्थ से पलायन से मनुष्य कब सुखी हो सकता है। अजीत से प्रभावित होकर तथा शीतल छाया के लिए जमना का अजीत से पुनर्सम्बन्ध को औचित्यपूर्ण ठहराकर लेखक ने पुनर्लग्न को, प्रेम विवाह को उपयुक्त ठहराया है। सुखी जीवन पुरुष-नारी के सार्थक सम्बन्ध पर ही निर्भर करता है। पुरुष नारी के परस्पर विश्वास और सहयोग से जीवन का चक्र सहज ढंग से चलता है, आन्तरिक सुख उपलब्ध होता है। जमना अपने पति वृन्दावन के आचरण से क्षुब्ध हो कर जब अजीत के प्रेमपूर्ण व्यवहार, सहानुभूतिपूर्ण ढंग से अपनत्व स्थापित कर लेती है तब उसके जीवन में सर्वथा नवीन अध्याय आरम्भ होता है। स्पष्टतः गुप्तजी ने पति-पत्नी के विश्वासपूर्ण, सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध को महत्त्वपूर्ण स्वीकार कर उसकी प्रतिष्ठा को औचित्यपूर्ण माना है। इस दृष्टि से प्रेमचन्द और गुप्तजी में साम्य है। प्रेमचन्द ने भी नारी मर्यादा को स्वीकार किया है। परन्तु जहाँ प्रेमचन्द के नारी-पात्र विद्रोह कर बैठते हैं, उदाहरणार्थ "प्रतिज्ञा" की सुमित्रा, "सेवासदन" की सुमन, "निर्मला" की सुधा, "रंगभूमि" की इन्दु[1], वहाँ गुप्त की नारियाँ उस तीव्रता को ग्रहण नहीं करतीं, यद्यपि वे मर्यादित ढंग से उठ खड़ी होती हैं तथापि उनमें संयम है, नियंत्रण है।

प्रसंगवश गुप्तजी ने दहेज प्रथा और अनमेल विवाह का भी विरोध किया है। अनमेल विवाह का प्रसंग "गोद" में है जब दयाराम और शोभाराम से निराश होकर कौशल्या अपनी पुत्री का अनमेल विवाह करने को बाध्य होती है। उस क्षण मातृत्व विकल हो फूट पड़ता है। वह इसे स्वीकार करना नहीं चाहकर भी दहेज प्रथा के कारण, अपनी गरीबी से लाचार होकर, अपनी पुत्री किशोरी का गंजेड़ी वर से विवाह रचाने को तैयार होती है। उस समय उसके सम्मुख दूसरा कोई विकल्प नहीं रह गया था। इस प्रसंग के अंकन के सन्दर्भ में गुप्तजी ने उपर्युक्त दोनों तत्वों को अनुचित ठहराया है, दहेज तो समाज में ऐसा कोढ़ है जिससे न जाने कितने निरीहों का सर्वनाश होता है। अनमेल विवाह की चक्की में आजतक न जाने कितने प्राणों का शोषण हुआ है। परन्तु भाग्य के चक्र से गुप्तजी की किशोरी इन दोनों अभिशापों से बच जाती है और शोभाराम से उसका विवाह सम्पन्न हो जाता है। प्रेमचन्द ने दहेज प्रथा को भी उग्रता से चित्रित किया है। "सेवा सदन" में दहेज-प्रथा के अभिशाप से ही वेश्या-समस्या उत्पन्न होती है। इसी प्रकार "निर्मला" उपन्यास में दहेज-प्रथा के कारण ही अनमेल विवाह सम्पन्न होता है जिसके दुष्परिणाम स्वरूप निर्मला की मृत्यु होती है। "निर्मला" में निर्मला के मुख से निकले इन शब्दों में अनमेल विवाह के दर्द की मार्मिक अभिव्यक्ति है—"बच्ची को आपकी गोद में छोड़ जाती हूँ। अगर जीती-

१. "प्रतिज्ञा" में सुमित्रा और सुमन को देखें।

जागती रहे तो किसी अच्छे कुल में विवाह कर दीजिएगा—चाहे क्वाँरी रखियेगा, चाहे विष देकर मार डालिएगा, पर कुपात्र के गले न मढ़िएगा, इतनी ही आपसे विनय है।''[1]

अन्त में कहा जा सकता है कि गुप्तजी में किसी राजनैतिक और विशिष्टवाद से अधिक मानवतावादी विचार-धारा के प्रतिष्ठापन की चेष्टा है। लेखक ने अपने उपन्यासों को किसी भी राजनीति से रंगने की बजाय मानवतावादी उदार चेतना को प्रमुखता दी है। ''गोद'' में शोभाराम और किशोरी का विवाह तथा उसका अपने भाई के घर लौटने और स्नेह पाने में, ''नारी'' में जमना का नवीन अध्याय में प्रवेश करने में इसी उदार मानवतावादी चेतना का हाथ है।

डॉ० केदारनाथ लाभ

डॉ० रामकुमार वर्मा

''अपने नवयुवक जीवन से लेकर आज तक मैंने जो कविताएँ लिखी हैं वे उन क्षणों की रेखाएँ हैं जिनमें मैंने जीवन की गति अनुभव की है—ऐसे जीवन की जो अत्यन्त पवित्र क्षण से उत्पन्न हुआ है।''[2] अपनी काव्य-प्रक्रिया संदर्भ में कहे गए डॉ० रामकुमार वर्मा के उक्त कथन में बेझिझक मैं इतना और जोड़ देना चाहता हूँ : ''और ऐसे ही अत्यन्त पवित्र क्षणों की रेखाओं के ताने-बाने से मेरे (डॉ० रामकुमार वर्मा के) व्यक्तित्व की झीनी-झीनी चादर भी बीनी गई है।''

डॉ० वर्मा के अध्ययन का परिवेश बड़ा ही व्यापक है। वे संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी, उर्दू, फ़ारसी, मराठी और रूसी आदि भाषाओं के आचार्य हैं। छन्द शास्त्र, ज्योतिष शास्त्र, व्याकरण, इतिहास, मनोविज्ञान तथा समाजशास्त्र आदि विभिन्न विषयों पर उनका आधिपत्य है। सुतरां, उनके साहित्य में सर्वत्र इनका कलात्मक निदर्शन उपलब्ध होता है। उनकी भाग्यवादिता के मूल में, मेरे जानते, ज्योतिष शास्त्र का अध्ययन एवं उसमें विशेष अभिरुचि भी एक महत्वपूर्ण कारण है। यदा-कदा वे स्वयं भी अपनी कुंडली देखते रहते हैं तथा ज्योतिषाचार्यों द्वारा व्यक्त भविष्य-कथन में आस्था भी प्रदर्शित करते हैं। उन्हें एक ज्योतिषी ने पहले ही बता दिया था कि उन्हें पद्मभूषण की उपाधि प्राप्त होने का योग है।

डॉ० वर्मा का जन्म भारतवर्ष के हृदयस्थल—मध्यप्रदेश—के सागर जिले में, नवम्बर, सन् १९०५ ई० में हुआ। अपने समय की विशिष्ट कवयित्री, अपनी माता श्रीमती राजरानी देवी की स्नेहिल छाँह में जीवन की प्रारम्भिक शिक्षा मिली। बचपन में 'कुमार' नाम से सम्बोधित डॉ० वर्मा अपनी कक्षाओं में सदैव प्रथम आते

१. ''निर्मला'',—पृष्ठ-१८६।
२. आधुनिक कवि : रामकुमार वर्मा : मेरा दृष्टिकोण : पृष्ठ—३।

रहे। एम० ए० (हिन्दी) की परीक्षा भी प्रथम श्रेणी में ही उत्तीर्ण की। ईश्वर के प्रति आस्था शैशव काल में ही, पारिवारिक परिवेश के कारण जगी। महीनों उन्होंने पूरी एकाग्रता एवं तन्मयता से शिवार्चन किया था और साधना-समाप्ति की रात्रि में शिव ने स्वप्न में उन्हें अपना दिव्य दर्शन भी दिया था। गंगा, गरल और गेहुँअन (सर्प) से तीन बार उन्हीं शिव ने उनकी रक्षा करते हुए अपने उस बचन का निर्वाह किया जो वरदान स्वरूप उन्हें दिया था—'मैं मृत्यु से बचा तो नहीं सकता पर मृत्यु को टाल अवश्य सकता हूँ।'' महाकाल ने डॉ० वर्मा को तीन-तीन बार अकाल काल-कवलित होने से बजाया है।

डॉ० वर्मा जीवन के आरंभिक दिनों में कभी अभिनेता होना चाहते थे, कभी राज नेता। किन्तु उन्हें होना था साहित्य-नेता। सो द्विवेदी कालीन अनेक नाटकों में अभिनय कर तथा १९२२ ई० के असहयोग आन्दोलन में भाग लेकर भी वे साहित्य लोक का एक देदीप्यमान आलोक-स्तम्भ बन गए। द्विवेदी-युग के आकाश में प्रत्यूष की पीयूषवर्षी विभा लेकर आने वाले 'कुमार' छायावादी काव्य-गगन के ज्योतिर्मय नक्षत्र बन गए।

अध्यापन-वृत्ति आलोचना-प्रधान होती है। कालान्तर में अध्यापक प्रवृत्ति से भी आलोचक हो जाता है। किन्तु डॉ० वर्मा अध्यापक होते हुए भी शुष्क आलोचक मात्र नहीं रहे। दसवीं कक्षा में ही उनके अंतःकरण में काव्य की जो सलिला फूटी वह सदानीरा की भाँति दिनानुदिन फैलती-फूलती ही चली गई। भावयित्री एवं कारयित्री प्रतिभा का ऐसा मणि-कांचन सुयोग विरले अध्यापक में ही पाया जाता है। वे कवि हैं, नाटककार हैं, समीक्षक हैं, साहित्येतिहासकार हैं, निबन्ध-लेखक हैं और कुशल एवं ललित वाग्मी। उनका हर रूप अपने आप में मनोहर एवं कालजयी है।

'वीर हम्मीर' (१९२२ ई०) डॉ० वर्मा का प्रथम काव्य-ग्रन्थ है। फिर 'चित्तोड़ की चिता' (१९२९ई०), 'अंजलि' (१९३० ई०), 'अभिशाप' (१९३१ ई०), 'निशीथ' (१९३५ ई०), 'चित्ररेखा' (१९३६ ई०), 'जौहर' (१९४१ ई०), 'आकाश गंगा' (१९५७ ई०) आदि काव्य ग्रन्थों के अतिरिक्त 'एकलव्य' महाकाव्य का प्रणयन उनकी निरंतर काव्य-साधना का जीवंत परिचय देते हैं।

अपने कवि-रूप में डॉ० वर्मा मुख्यतः एक सफल सौम्य गीतकार हैं। उनके गीतों में विद्यापति की तलस्पर्शी सुकुमार-सरसता, कबीर की रहस्यमूलक अनुभूत्यात्मकता, सूर का लालित्य एवं संगीत प्रवणता तथा मीरा की कारुणिकता का विलक्षण संयोग है। यही कारण है कि इनके गीत हमारे प्राणों का स्पर्श कर उन्हें मात्र झंकृत ही नहीं करते वरन् अलौकिकता की भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित कर उन्हें दिव्यानुभूति भी प्रदान करते हैं।

डॉ० वर्मा की कविताएँ मुख्यतः रहस्यपरक हैं। कबीर के रहस्यमूलक पदों से वे प्रचुर रूप में प्रभावित हैं। सूफियों का भी उन पर प्रभाव है। किन्तु, इसका यह अर्थ नहीं कि वे अनुभूति के क्षेत्र में भी उनके ऋणी हैं। यह तो उनकी आत्मोपलब्धि

है। आत्मा में आध्यात्मिक दृष्टि से अनुभूति की क्षमता, आराध्य के प्रति ऐक्य-भाव तथा आत्मा और आराध्य में दाम्पत्य-मूलक निश्छल प्रेम की विकसनशीलता—रहस्य-वादी कविता के ये तीन प्रधान तत्व होते हैं। डॉ० वर्मा की कविताओं में ये तीनों ही तत्त्व हार में तार की भाँति अनुस्यूत हैं। उनकी स्वीयोक्ति है—'रहस्यवाद की कविता इन तीनों तत्वों को लेकर एक आनन्दानुभूति में जन्म लेती है। यह आत्मा की सबसे पवित्र अभिव्यक्ति है। मेरी कविता के दृष्टिकोण में यही रहस्यवाद रहा है और इसी में मेरी भावनाओं का विकास हुआ है।"[1] कवि को अपने परिवेश के प्रत्येक अवयव में अपने प्रियतम के दर्शन हो जाते हैं—

कौन कहता है कि तुम अज्ञात हो !
मैं तुम्हें पहिचान लूँगा, दिवस हो या रात हो !

(आकाश गंगा : पृष्ठ ४३)

अथवा

यह तुम्हारा हास आया।
इन फटे-से बादलों में कौन-सा मधुमास आया ?

(आधुनिक कवि : भाग ३ पृष्ठ ३४)

रहस्यवादिता के अतिरिक्त डॉ० वर्मा की कविताओं में नियतिवादिता-भाग्य-वादिता और निराशा के स्वर यदि एक ओर गूँजते दीख पड़ते हैं तो दूसरी ओर मानव के प्रति संवेदना, राष्ट्रीय चेतना, ऐतिहासिकता एवं जीवन की गत्यात्मकता तथा सक्रियता के स्वर भी स्फुट दीखते हैं। एक ओर उनका मानव की नश्वरता से उत्पन्न यह भाव है—

"क्या शरीर है ? शुष्क धूल का थोड़ा-सा छवि जाल।
उस छवि में ही छिपा हुआ है, वह भीषण कंकाल ॥"

(अभिशाप : पृ० ८)

अथवा

भाग्यवादिता की यह अनुगूंज है—
भाग्य की रेखा हमारी, है नदी के कूल-सी
गति रही अनुकूल तो लहरें उठीं प्रतिकूल-सी

और

भाग्य ने मुझको छला है !
दीप्ति घटती जा रही है, चन्द्र की जैसे कला है !

(आकाश गंगा : पृ० ५४ और ४६)

तो दूसरी ओर उनकी यह भी आकांक्षा है कि—

जीवन न दीन बने
विरह के क्षण में मिलन-सा चिर नवीन बने।

(वही : पृ० २२)

---

१. आधुनिक कवि : रामकुमार वर्मा : मेरा दृष्टिकोण : पृ० १४।

नाद गीत का अनिवार्य तत्व है—'न नादेन बिना गीत' (संगीत रत्नाकर)। तदुपरान्त छन्द और लय का स्थान है। "यदि काव्य का सम्बन्ध मानव की रागात्मक वृत्तियों से अविच्छिन्न है तो नाद और उसके साथ छंद भी साहित्य की शैलियों के अन्तर्गत अपना महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण करेगा।"[1] डॉ० वर्मा काव्य-भूमि पर उसके भावात्मक और रूपात्मक दोनों प्रकार के सौन्दर्य के समर्थक हैं। अतएव, भाव-क्षेत्र में जहाँ उन्होंने प्रकृति की विराट् सत्ता में ईश्वरीय शक्ति की अनुभूति, कल्पना वृत्ति और रहस्यमय सौन्दर्य का अवलम्बन ग्रहण किया है वहीं, शिल्प-क्षेत्र में नादात्मकता, वर्ण-लालित्य, छन्दोबद्धता, रूपकात्मकता एवं अलंकरणशीलता का भी मुक्त भाव से आश्रय लिया है। स्वभावतः उनके गीत असीम-से-ससीम को जोड़ने वाली कौशेय-कड़ी हो गए हैं।

'एकलव्य' डॉ० वर्मा का एकान्त महाकाव्य है। इसमें उनके चिंतन-अध्ययन की विशदता के साथ ही कल्पना की प्रखरता तथा शिल्प की सुघरता के अनुपम दर्शन होते हैं। यह महाकाव्य भारतीय महाकाव्य की पारंपरिक परिभाषा का स्पर्श करते हुए भी अनेक अर्थों में नवीन प्रतिमान प्रस्तुत करता है। इसका नायक उच्चकुल संभूत न होकर एक अंत्यज है। ममता सर्ग को छोड़कर शेष तेरह सर्गों में पन्द्रह वर्णों वाले अमित्राक्षर छन्द का इसमें प्रयोग हुआ है। सर्गान्त में छन्द परिवर्तन है। छन्दों में प्रवाह और स्फूर्ति सर्वत्र परिलक्षित होते हैं। गीतिमयता, नाटकीयता एवं मनोवैज्ञानिकता के संगम पर चरित्रोत्कर्ष का जो सूक्ष्म रूपायन इसमें हुआ है वह इसे हिन्दी महाकाव्यों में महार्घता प्रदान करता है। प्रकृति-चित्रण एवं मार्मिक प्रसंगों की पहचान तथा उनकी सम्यक् अभिव्यंजना-शक्ति कवि के वैशिष्ट्य हैं। एकलव्य-जननी की वेदना को जिस रागात्मकता से रंजित कर कवि ने वाणी दी है वह सहज ही चिन्ता-वर्जक हो गई है।

डॉ० वर्मा स्वयं शिव-भक्त हैं और शैव दर्शन से अनुप्राणित। स्वभावतः एकलव्य का भव्य मंगलाचरण शिव-स्तव से होता है—

"वाणी दो हे नीलकण्ठ ! हे किरात-कार्मुकी
गूँज उठे व्योम वन-प्रान्त गिरि कन्दरा
शब्द-वेध की अलक्ष्य लक्ष-लक्ष ध्वनि में
नृत्य करे काव्य और काव्य में वसुन्धरा।"

(एकलव्य : स्तव १)

शिव के डमरू-नाद से चौदह सूत्रों का उद्भव हुआ है। 'एकलव्य' में, इसीसे चौदह सर्ग हैं। एकलव्य अपने को चौदह सूत्रों का अन्तिम वर्ण मानता है—

'आप गुरु होंगे, शिष्य मैं हूँ चिर काल से
वाणी आपकी है शम्भु-डमरू-निनाद-सी
और मैं हूँ अन्त्यवर्ण सूत्र प्रत्याहार का।'

प्रत्याहार के अन्तिम सूत्र 'हल्' की भाँति ही तो एकलव्य भी अन्त्यवर्ण का,

१. साहित्य शास्त्र : डॉ० रामकुमार वर्मा : पृ० १२६।

अति तुच्छ एवं हीन प्राणी है। समाज में उसका स्थान कितना लघु है, कितना उपेक्षणीय, यह प्रत्याहार के अन्तिम सूत्र से सहज ही स्फुट हो गया है। यहाँ गुरु-शिष्य का 'चिर-काल से' सम्बन्ध भी ध्यातव्य है। जीव की त्रिकुटी (इसे कैलाश भी कहा जाता है) पर शिव अवस्थित रहते हैं। जीव और शिव का शाश्वत अद्वैत सम्बन्ध है। 'यत्र तत्र जीवस्तत्र तत्र शिवः।' शिव ही जीव के गुरु भी होते हैं क्योंकि उनकी कृपा से ही जीव को अपने स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा होती है। और प्रत्यभिज्ञा ही शिवोपलब्धि अथच मुक्ति है। तुलसी ने इसी से शिव को अपना गुरु माना है।[1] स्वभावतः—

"गुरु द्रोण चौंक उठे—यह शिष्य कैसा है
है तो शूद्र, किन्तु जैसे निष्कलंक द्विज है
बालक निषाद का है, किन्तु तेजोमय है
जैसे मणिरत्न है विशाल विषधर का।"

यहाँ भी कवि ने द्विज और विषधर जैसे श्लिष्ट शब्दों के माध्यम से जीव-शिव के अद्वैत रूप की ओर संकेत किया है। द्विज ब्राह्मण ही नहीं बालेन्दु भी है जो शिव के ललाट पर शाश्वत शोभित रहता है तथा विषधर सर्प ही नहीं जो शिव का ग्रीव-हार है वरन् स्वयं शिव (गरल ग्रीव) भी है। जीव और शिव की अद्वयता जिस कलात्मकता से कवि ने यहाँ प्रतिष्ठित की है वह तो द्रष्टव्य है ही साथ ही इसके माध्यम से उसने एकलव्य के प्रति अपनी संवेदना उंडेलकर उसे सामान्य मानव की पंक्ति में प्रतिष्ठित कर दिया है। दर्शन की दृष्टि-कोर को कला के काजल से आंज-कर प्रस्तुत करने के कारण ही एकलव्य की रसवन्ता में कहीं व्याघात नहीं उत्पन्न होता।

भाषा की अभिनव-भंगिमाओं, शब्दों के लालित्य, अर्थ-गौरव, रस-प्रवणता, व्यंजना-प्राचुर्य एवं विलक्षण उपमान-उत्प्रेक्षा की योजनाओं के कारण एकलव्य का काव्य-शिल्प हिन्दी के प्रायः सभी आधुनिक महाकाव्यों के अनुगत सिद्ध कर देता है। जिन्हें एकलव्य की उपमान-योजना में कवि के पाण्डित्य-प्रदर्शन की गन्ध मिलती है वे सम्भवतः तीव्र घ्राण-शक्ति को ही काव्य-बोध का प्रमाण मानते हैं, न कि उस संस्कार को जो अनुभूति, संवेदना एवं अध्ययन-आवेष्टन से निर्मित होता है।

डॉ० रामकुमार वर्मा के कवि व्यक्तित्व से उनका नाटककार रूप कम आकर्षक नहीं है। सच तो यह है कि उनके दोनों रूप एक-दूसरे के पूरक हैं जो सम्मिलित रूप से उनके व्यक्तित्व को पूर्णता प्रदान करते हैं। उनके काव्य में नाटकीय शिल्प का प्रयोग हुआ है तो उनके नाटकों में उनका कवि-रूप भी उतना ही मुखरित हुआ है। यद्यपि उन्होंने 'विजय-पर्व', 'कला और कृपाण' तथा 'नाना फड़नवीस' आदि अनेकांकी सांस्कृतिक-ऐतिहासिक नाटकों का भी प्रणयन किया है तथापि वे मुख्यतः हिन्दी एकांकी कला के जनक एवं पोषक-रूप में अमर रहेंगे। हिन्दी में एकांकी नाटकों को जो विस्तार, प्रियता एवं कलात्मकता उन्होंने प्रदान की है वह किसी अन्य ने नहीं।

१. गुरु पितु मातु महेस भवानी। प्रनवउँ दीनबन्धु दिन दानी॥
(मानस, बालकांड, १५)

उनके एकांकियों की संख्या शताधिक हैं। 'बादल की मृत्यु' (१९३० ई०) उनका प्रथम एकांकी है। यह विश्वमित्र में प्रकाशित हुआ था। तदनन्तर 'दस मिनट', 'नहीं का रहस्य', 'पृथ्वीराज की आँखें', 'चम्पक' और 'एक्ट्रेस' आदि एकांकी क्रमशः प्रकाशित हुए। डॉ० वर्मा के एकांकी अनेक कोटियों में विभाज्य है। 'एक्ट्रेस' और 'रजनी की रात' सोद्देश्य एकांकी हैं तो 'नहीं का रहस्य', 'एक तोले अफ़ीम की कीमत' और 'जीवन का प्रश्न' समस्यामूलक एकांकी हैं। 'बादल की मृत्यु' में हास्य-व्यंग्य का प्राधान्य है तो 'चारुमित्रा' और 'दस मिनट' में जनपदीय भावों की अभिव्यंजना है। 'प्रतिशोध', 'भरत का भाग्य' और 'शैल शिखर' पौराणिक एकांकी हैं तो 'पृथ्वीराज की आँखें', 'शिवाजी' और 'दीपदान' यार्थार्थिक भाव-शिला पर निर्मित हैं। डॉ० वर्मा के सद्यः प्रकाशित एकांकी-संग्रह 'मयूर पंख' में इक्कीस बहुरंगी एकांकी हैं जो पौराणिक वैज्ञानिक, ऐतिहासिक, सामाजिक एवं साहित्यिक कोटियों में विभक्त हैं।

डॉ० वर्मा के एकांकियों में उन प्रभावों का परिदर्शन होता है जो उन्होंने भारतीय नाटककारों के अतिरिक्त शॉ, इब्सन, मैटरलिंक और चेखव आदि से ग्रहण किये हैं। उनमें पौरस्त्य एवं प्रतीच्य नाट्य शिल्पों का समन्वय है। वे अपने एकांकियों में संकलन त्रय की सफल संयोजना के साथ ही एक ही दृश्य में वातावरण को चरमोत्कर्ष पर पहुँचा देते हैं जो उनके एकांकी-शिल्प के वैशिष्ट्य हैं। मानव मनोविज्ञान का विश्लेषण कथोपकथन की चारुता एवं घटनाओं के विकास के साथ करने में डॉ० वर्मा सिद्ध हैं। अपने एकांकियों में, चाहे वे पौराणिक हों या ऐतिहासिक अथवा सांस्कृतिक हों या सामाजिक "वे कलुष के भीतर से पवित्रता, दैन्य के भीतर से शालीनता, वासना के भीतर से आत्मसंयम एवं क्षुद्रता से महानता का अन्वेषण करने में समर्थ हुए हैं—और यह सब उन्होंने पात्रों और परिस्थितियों के संघर्ष से स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत किया है।"[1] वस्तु संगठन एवं शिल्प-सौष्ठव के औत्कृष्ट्य के कारण ही डॉ० वर्मा महाकवि भास की समकक्षता प्राप्त करते हैं।

डॉ० वर्मा का समीक्षक एवं निबंधकार रूप भी कम उदात्त एवं उर्जस्वी नहीं है। हिन्दी के साहित्येतिहासों में उनका 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (१९३८ ई०) एक विशिष्ट उपलब्धि है। इसमें आदिकाल से भक्तिकाल तक की हिन्दी साहित्य की उपलब्धियों का विशद एवं वैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है। यह न तो मात्र कवियों का परिचय प्रस्तुत करता है न किसी काल विशेष की साहित्यिक प्रवृत्तियों का संकेत और न ही कुछ कवियों की ग्रन्थावलियों का मात्र उल्लेख करता है प्रत्युत् इन सबकी तटस्थ एवं समग्रगत रूप से आलोचना भी प्रस्तुत करता है। "सामाजिक तथा धार्मिक शक्तियों के अध्ययन के परिप्रेक्ष्य में हिन्दी साहित्य के आदि युग और मध्य युग को समग्र रूप में देखने का यह पहला सफल प्रयास है।"[2] इसी ग्रन्थ पर डॉ० वर्मा को नागपुर विश्वविद्यालय ने सन् १९४० ई० में डॉक्टरेट की उपाधि प्रदान की थी।

---

१. हिन्दी साहित्य कोश, भाग २, पृ० ४७३।
२. हिन्दी साहित्य कोश, भाग २, पृ० ४७३।

डॉ० वर्मा ने कबीर के पदों का प्रथम शुद्ध पाठ प्रस्तुत कर उनके रहस्यवाद एवं योगाचार की मार्मिक एवं चिन्तनपूर्ण व्याख्या भी की है। इस दृष्टि से 'कबीर का रहस्यवाद' उनकी महत्तम कृति है। 'साहित्य शास्त्र' में काव्य, कला एवं साहित्य की विभिन्न विधाओं पर उनके विचारोत्तेजक एवं वस्तुनिष्ठ निबंधों का संकलन है। उनके निबंधों में विचारों की उदात्तता, अध्ययनशीलता, अन्तर्दृष्टि की गहनता एवं वस्तुनिष्ठता के साथ भाषा का लालित्य, काव्यमय लयात्मकता, विवक्षिति एवं चित्रधर्मिता अर्द्धनारीश्वर की भाँति विजड़ित हैं।

डॉ० वर्मा एक कुशल एवं सफल प्राध्यापक हैं। उन्होंने अपने अधीन बीसियों छात्रों का, भाषा एवं साहित्य की विभिन्न विधाओं पर, शोध-निर्देशन किया है तथा अनेक ग्रन्थों का सम्पादन-संशोधन कर उनकी गवेषणात्मक भूमिकाएँ लिखी हैं। वे आज भी साहित्य-साधना में रत हैं। 'नाना फड़नवीस' एवं 'मयूरपंख' उनके हाल के नाट्यग्रन्थ हैं। राष्ट्रीय सीमा पर हुए चीन एवं पाकिस्तान के अयाचित बर्बर आक्रमण की प्रतिक्रिया उनकी हाल की कविताओं में स्फुट हुई है जिनमें प्रखर राष्ट्रीय चेतना, इतिहास-प्रियता एवं कल्पनाशीलता के सहज दर्शन होते हैं। सामान्यतया सामयिक या ऐतिहासिक महत्त्व की कविताओं में कलात्मकता या काव्यसौन्दर्य का सम्यक् निर्वाह नहीं हो पाता किन्तु इस दृष्टि से भी उनकी कविताएँ महनीय एवं स्तुत्य हैं। अक्तूबर १९६५ ई० के 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में प्रकाशित 'जय जवान' उनकी ऐसी ही कविता है जिसमें अतीत और वर्तमान कला के क्षितिज मिलते हैं। सामयिक कविताओं के अतिरिक्त उनकी अन्य कविताओं में आज भी पूजा की पवित्रता रूपायित हो जाती है। वे इसे स्वीकारते हुए कहते हैं—"अपने काव्य-जीवन के प्रभात में तो मैं स्नान कर कविता लिखने बैठता था, आज जब मैं कविता लिखने बैठता हूँ तो जैसे पूजा की पवित्रता मेरी लेखनी की नोक पर आ बैठती है।"[1] हिन्दी-जगत् को डॉ० वर्मा से अपने विकास एवं विवर्धन की अनन्त सम्भावनाएँ हैं—यह असंदिग्ध है।

नवल किशोर

इलाचन्द्र जोशी 'घृणामयी' से 'जहाज का पंछी' तक

: १ :

हिन्दी कथा-साहित्य के मनोविज्ञानाक्रान्त दौर में मनोविकारग्रस्त जितने विलक्षण पात्र श्री इलाचन्द्र जोशी ने सिरजे, उतने किसी अन्य उपन्यासकार ने नहीं। उन पर मनुष्य को स्वभावत: कुत्सित, कुटिल और पाशविक चित्रित करने का आरोप भी इसी कारण लगाया गया।[2] लेकिन जोशीजी ने साहित्य की सामाजिक उपयोगिता को भी

१. आधुनिक कवि, राजकुमार वर्मा, मेरा दृष्टिकोण, पृ० ३।
२. विवेचना—आलोचना में अनाचार।

अस्वीकार नहीं किया, और अपनी मनोवैज्ञानिक कला-दृष्टि का लक्ष्य व्यक्ति के 'समाजघाती' और 'ऐकान्तिक' 'अंह' पर 'निर्भय प्रहार' करना घोषित किया था।[1] प्रगतिवाद के उस ज़माने में अपनी इसी समाज-चिन्ता से प्रेरित होकर उन्होंने मार्क्सवाद और फ्रायडवाद के समन्वय की चेष्टा की, लेकिन यह समन्वय-चेष्टा कलात्मक विफलता का कारण बन गई; क्योंकि जहाँ 'अज्ञात चेतना के पाताल-लोक में स्थित अतल नरक' का विश्लेषण उनकी सृजन-चेतना का अंग होने के कारण उनके वैशिष्ट्य को प्रकट करता था [जोशीजी ने स्वयं नवीन लेखकों को परामर्श देते हुए लिखा है, "केवल वे ही बातें पाठकों के हृदय पर स्थायी प्रभाव डालने में समर्थ हो सकती हैं, जो कठोर जीवन के वास्तविक अनुभवों की चोटों के फलस्वरूप दीर्घ-साधना द्वारा लेखक के अन्तर से व्यक्त हुई हों[2]] वहाँ उनका 'सामाजिक क्रान्तिवाद' एक आरोपित मूल्य ही रहकर दिवास्वप्न के संसार की सृष्टि कराता है। इसी कारण जहाँ उपन्यासकार का मुख्य संकल्प 'प्रगतिशील मनोवैज्ञानिक अस्त्र से अपने नायक के अन्तर्मन में दबी पड़ी सभी विकृतियों को अत्यन्त निर्ममता से चीरकर उसका यथार्थ रूप, दिखाना है वह 'प्रेत और छाया' जैसी विशिष्ट कृति दे सका है और जहाँ उसने अन्तर्जीवन की प्रगति के साथ बहिर्जीवन की प्रगति के सामंजस्य-निरूपण के लिए रचना की है 'जिप्सी'-जैसी निकृष्ट औपन्यासिक पुस्तक लिखी है। अन्तिम महत्त्वपूर्ण उपन्यास 'जहाज़ का पंछी', (प्रका० १९५५ ई०) की सृजन-प्रेरणा स्वातन्त्र्योत्तर भारत की वास्तविक जीवन-स्थितियों का चित्रण हैं, उसमें जोशीजी ने "मनुष्य की कठिनाइयों और मुसीबतों का मूलकारण उनके अन्तर्मन की गुत्थियों में न खोजकर समाज-व्यवस्था और प्रचलित मानव-सम्बन्धों में खोजा है जिनका आधार व्यक्तिगत अर्थ संचय और शोषण हैं",[3] अतः 'जहाज़ का पंछी' एक श्रेष्ठ उपन्यास बन सका है—किन्तु एक सीमा तक ही, क्योंकि लेखक के 'सामाजिक आदर्शवाद' ने आरोपित और स्वप्निल समाधानों द्वारा यथार्थ-बोध को विसंगति दे दी है।

: २ :

जोशीजी के पहले के विचारों के अनुसार फ्रायड का मनोविश्लेषण 'मानव-मन के सघन अन्धकारमय अन्तर्लोक में प्रकाश डालकर बाह्य-जगत् के साथ उसकी संगति का स्वास्थ्यकर उपाय हमे सुझाता है,' लेकिन आज वे फ़्रायडवाद के घोर निन्दक हैं [उन्होंने फ़्रायड़ को 'मानव विद्वेषी आचार्य' और मनुष्य की जय-यात्रा के बीच-बीच आने वाले अन्धकार के घोर निराशापूर्ण युगों की शृंखला में आगत एक ह्रासोन्मुख युग के 'फ़ाल्स प्रॉफेट' (नकली भविष्व-दर्शक) की संज्ञा दी है।][4] इसी प्रकार पहले उनकी दृष्टि में "बाह्य और अन्तः स्थित सभी प्रकार के जीवन-चक्रों

१. विवेचना—आधुनिक कथा-साहित्य का क्रम-विकास और नयी दिशा।
२. विवेचना—नवीन लेखकों के प्रति निवेदन।
३. आस्था और सौन्दर्य : डॉ० रामविलास शर्मा।
४. धर्मयुग—३१ मई ६४, ३० अगस्त ६४, २० फरवरी ६६।

की मूल परिचालिका शक्ति विश्वमानव की वह सामूहिक अज्ञात चेतना है" जो अति-प्राचीन पाशविक-वृत्तियों का कोष है [अतः उन्होंने मानव-जगत् में आपेक्षिक स्वर्ग की स्थापना हेतु 'बाह्य जीवन तत्वों के साथ उन नारकीय (किन्तु मूल) जीवन तत्वों का समुचित सम्बन्ध स्थापित' करना आवश्यक माना था], लेकिन आज वे मानवीय अवचेतना के गहन रहस्यमय विशाल सागर की गहराई में छिपे रत्नों की बात करते हैं (...अव चेतना के घोर अन्धकार-पूर्ण तत्वों को उसी के उज्ज्वल और चिर माँगलिक तत्वों के प्रकाश में परखने वाली एक नई और स्वस्थ मनोवैज्ञानिक दृष्टि का परिचय भी हम पा रहे हैं।)[1] इस प्रकार जोशीजी की मनोवैज्ञानिक नियतिवाद की धारणा का पर्यवसान अवचेतना की एक रहस्यवादी परिकल्पना में हुआ है। उनकी आज की दृष्टि से भी देखा जाय तो उनके उपन्यासों में अवचेतना के सागर के ऊपरी स्तरों में तैरते नाना प्रकार के भयावने मगरमच्छों' का ही चित्रण हुआ है। उन पर फ्रायड की अपेक्षा एडलर का प्रभाव अधिक है। जैसा कि हम कह चुके हैं वे अपनी औपन्यासिक रचनाओं में मनोविकृतियों का चित्रण सामाजिक हित की दृष्टि से लेखन का आदर्श मानकर करते हैं। दुर्बल स्वभाव नायक के प्रति सहानुभूति की बूर्जुवा मानववादी और शरद्चन्द्रीय मान्यता के अस्वीकार करते हुए चरित्रहीन नायक की अवतारणा को उन्होंने 'प्रगतिशीलता की पहली शर्त' बतलाया है, लेकिन उसके लिए यह आवश्यक भी माना है कि "उपन्यासकार का उद्देश्य उस चरित्रहीनता को महिमान्वित करने का अथवा चरित्रहीनता को केवल चरित्रहीनता के लिए चित्रित अथवा विश्लेषित करने का नहीं बल्कि दुश्चरित्रता के दुष्ट कीटाणुओं के विश्लेषण और परख द्वारा उन्हें जड़ से नष्ट करने का हो।"[2] जोशीजी के इस रचनात्मक उद्देश्य की अभिज्ञता से हम यह स्वतः सिद्ध नहीं मान सकते कि उनकी कृतियों में वे अभाव नहीं हैं जो एक मनो-विज्ञानवादी लेखक की रचनाओं में मिलते हैं—उनमें वे अभाव तो हैं ही इसके अति-रिक्त मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों के उस प्रयोगात्मक शिल्प का भी अभाव है जिसने उपन्यास को एक अपूर्व समृद्धि दी है।

मनोविज्ञानवादी लेखकों की परम्परा में जोशीजी ने संकल्पहीन मनुष्य का चित्रण किया है—ऐसा मनुष्य जो विकृतियों से अभिज्ञ होकर भी अपनी मनोग्रन्थियों से शासित निरुपाय व्यक्ति है। जोशीजी का मानव-चरित्र का अध्ययन आरम्भ से ही मनोविज्ञान शास्त्र पर एकान्त रूप से अवलम्बित नहीं है, उन्होंने अपनी दृष्टि का भी उपयोग किया है, अतः मात्र इडिपस-ग्रन्थि, आत्म-रति, हीन-भाव आदि मनोवैज्ञानिक सूत्रों में उनके पात्रों को आबद्ध कर देखने से उनके कृतित्व को नहीं समझा जा सकता।[3] लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि उनकी दृष्टि मनोवैज्ञानिक नियतिवाद से शासित रही है।[4] वे जिन पात्रों का निर्माण करते हैं वे वास्तविक जीवन से नहीं

---

१. धर्मयुग—२० फरवरी ६६।
२. विवेचना—आधुनिक उपन्यास का दृष्टिकोण।
३. धर्मयुग १५ दिसम्बर १९६३, धर्मयुग १३ जून १९६४ (द्रष्टव्य : जोशीजी के स्वयं के विचार)।
४. हिन्दी-साहित्य के अस्सी वर्ष—शिवदान सिंह चौहान (पृ० १६१-६२)।

लिए गए हैं, वे मनोवैज्ञानिक लेखक की कल्पित 'केस-हिस्ट्रीज' हैं। 'घृणामयी' की लज्जा, 'संन्यासी' का नंदकिशोर, 'पर्दे की रानी' की निरंजना, 'प्रेत और छाया' का पारसनाथ, 'निर्वासित' की नीलिमा, 'मुक्तिपथ' की प्रमीला—ये सारे पात्र अपनी ग्रन्थियों को लेकर जीते हैं। 'लज्जा' का राजू 'संन्यासी' की जयन्ती, 'पर्दे की रानी' की शीला, 'निर्वासित' का धीराज जान-बूझकर मृत्यु का वरण करते हैं—वे सब मृत्यु कामना से बाधित हैं। 'जिप्सी' में उन्होंने मनिया के रूप में एक ऐसा नारी-पात्र देना चाहा है जो आरम्भ में अन्य व्यक्तियों की दृढ़तर इच्छा-शक्ति की वश्यता में (हिप्नोटाइज्ड) रहती है लेकिन अन्त में अपने व्यक्तित्व का निर्माण कर एक आदर्श समाज सेविका बन जाती है—इस तरह एक स्वतन्त्र औपन्यासिक पात्र न रहकर लेखक की आदर्शात्मक कल्पना को चरितार्थ करती है। 'जहाज़ का पंछी' में वे मनोवैज्ञानिक कथा-लेखन का संकल्प छोड़ देते है, फिर भी वहाँ अनावश्यक रूप में एक पागलख़ाने का प्रसंग लाये हैं, लेकिन पागलपन को अब वे सामाजिक सन्दर्भ में (पति द्वारा परित्यक्ता पागल-स्त्री, आर्थिक परेशानियों से टूटा विक्षिप्त व्यक्ति···) देखते हैं।

: ३ :

जोशीजी ने दुर्बल स्वभाव के व्यक्तियों को कथानायक बनाकर मनोग्रन्थियों से पीड़ित व्यक्ति-चरित्रों का निर्माण करते हुए मानवमन की गहराइयों के चित्रण की दृष्टि से हिन्दी-उपन्यास को सम्पन्नता दी थी। आलोचकों ने इसी कारण उन पर 'विकृत और विरूप प्राणियों' को ही अपनी कला-सृष्टि का विषय बनाने का लांछन भी लगाया, जिसका खण्डन जोशीजी ने मानव-चरित्र के उन्नयन को अपना लक्ष्य बताकर किया। सम्भवत: इसी आलोचना की प्रतिक्रिया से और विशेषत: अपने बढ़ते हुए आदर्शवादी रुझान के कारण उन्होंने उत्तरोत्तर ऐसे कथा नायकों की सृष्टि की है जो 'वीर नायक' चाहे न कहे जा सकें, लेकिन किन्हीं आदर्शों के लिए समर्पित होने की महानता जिनमें अवश्य है। 'मुक्तिपथ' के राजीव और सुनंदा, 'सुबह के भूले' की गिरिजा, 'जिप्सी' की मनिया और 'जहाज का पंछी' का 'मैं' ऐसे ही आदर्शपात्र हैं, जिन्हें जोशीजी के प्रशंसक 'पोज़िटिव-हीरो' की संज्ञा देंगे; लेकिन जो वस्तुत: लेखक की आदर्शात्मक परिकल्पनाओं को जीते हैं, जिन्दगी को जीते हुए व्यक्ति-पात्र नहीं हैं। 'मुक्ति पथ' और 'जिप्सी' में नई सामाजिक व्यवस्था के लिये आदर्श प्रस्तुत करने वाले मुक्ति-निवेशों की स्थापना होती है और 'जहाज का पंछी' का उद्देश्य संपतिदान का आदर्श प्रस्तुत करना है। 'जहाज का पंछी' का 'मैं' सामाजिक विषमताओं का शिकार हतभाग्य अथवा संघर्षरत प्राणी नहीं है, लेखक अभावों की पीड़ा के सामान्य निदर्शन के लिए ही उसे अनेक स्थितियों में डाल देता है और अन्त में एक धनवान स्त्री से चामत्कारिक ढंग से उसका सम्बन्ध कराता है, जो उसकी प्रेरणा से अपनी सम्पत्ति को पीड़ितों की सेवा के लिए समर्पित कर देती है—इस तरह उपन्यास का नायक एक रोमाण्टिक कहानी का नायक रह जाता है और उसकी अभाव-भरी ज़िन्दगी एक वास्तविक मनुष्य की दुःखभरी कहानी का प्रतिनिधित्व नहीं करती।

: ४ :

जोशीजी ने नारी को वास्तविक रूप से शोषित वर्ग माना है और उनके अनुसार दलित नारी के प्रति, केवल सहानुभूति अथवा काव्यात्मक करुणा की आवश्यकता अब इस युग में नहीं है, "उसमें आत्मविलासी पुरुष जाति के विरुद्ध विद्रोह के बीज बोकर उसे आत्म-स्वातन्त्र्य, आत्म-सम्मान और आत्म-अवलम्बन की जीवित और व्यावहारिकता की शिक्षा देनी होगी।" वे पुरुष जाति के अहं पर प्रहार करने में सफल हुए हैं किन्तु नारी का विद्रोह उनके उपन्यासों में अमूर्त ही रहता है। किसी भी उपन्यास में वे जीवन्त विद्रोहिणी नारी की सृष्टि नहीं कर पाये है। 'प्रेत और छाया' की मंजरी उनकी दृष्टि में एक ऐसी विद्रोहिणी नारी है जो विपरीत परिस्थितियों पर विजय पाकर डॉक्टरी की उच्च शिक्षा पाने की महत्वाकांक्षा को पूर्ण करती है, लेकिन क्या विपरीत परिस्थितियों से जूझती नारी के रूप में उन्होंने मंजरी का चित्रण किया है, क्या मंजरी की सफलताओं का इतिहास मात्र उल्लिखित ही नहीं रहता। 'निर्वासित' की भूमिका में निम्न मध्यवर्गीय क्रांति के फलस्वरूप भारतीय नारी के 'माता, वधू, कन्या कुछ भी न रहकर सहसा रणचण्डी भैरवी' बन जाने की बात कही गयी है, लेकिन उपन्यास में किसी 'भैरवी' का जीवन्त व्यक्तित्व नहीं मिलता—प्रतिमा सर्वथा पृष्ठभूमि में रहती है और शारदादेवी अपने भूतपूर्व प्रेमी और अनेक स्त्रियों को वंचित करने वाले व्यक्ति के प्रतिशोध-पूर्ण आचरण करती है। 'मुक्तिपथ' की विधवा सुनन्दा राजीव की प्रेरणा से घर की चहारदीवारी से निकलकर समाज-सेविका बन जाती है और बाहरी योजनाओं की सफलता में अन्तर्मन की उपेक्षा के विरोध-स्वरूप राजीव को छोड़कर चल देती है। 'जिप्सी' की मनिया अपने पति को छोड़ने के बाद पुनः प्रणय-छल (तेजाब से जले अपने चेहरे को प्लास्टिक-सर्जरी से अमरीका जा ठीक कराती है और लौटकर महामारी से पीड़ित लोगों की सेवा के प्रसंग में एक नर्स के रूप में कार्य करते हुए पति नृपेन्द्ररंजन को आकर्षित करती है—एक सस्ती फिल्मी रोमांटिक कहनी!) उसे संपत्ति-दान के लिए तैयार करती है। 'जहाज का पंछी' की लीला भी अपने प्रेमी की प्रेरणा से अपना सर्वस्व समाज के लिए अर्पित कर देती है। इस तरह हम देखते हैं कि उनके उपन्यासों में नारी के विद्रोह की चर्चा है, उस विद्रोह का किसी सशक्त पात्र के माध्यम से रूपायन नहीं हुआ है।

'वर्तमान युग की बुद्धिवादिनी नारी' जोशीजी की दृष्टि में "शरत्-युग की नारी की तरह भावुकता के फेर में पड़कर अहंवादी पुरुष की इच्छा के बहाव में अपने को पूर्णतया बहाना और मिटा देना पसन्द नहीं करती, बल्कि स्थिति की वास्तविकता को समझकर व्यक्ति और समाज के अत्याचारों का सामना पूरी शक्ति से करने के योग्य अपने को बनाने की चेष्टा में जुट रही है।"[1] लेकिन 'संन्यासी' के अतिरिक्त वे और किसी उपन्यास में अहंवादी पुरुष से संतापित नारी का सफल चित्रण नहीं कर पाए हैं। 'प्रेत और छाया' में पारसनाथ को ग्रन्थि-पीड़ित दिखाकर वे उसे अपने सम्पर्क में आने वाली स्त्रियों को छलने के अपराध का उत्तरदायी नहीं रहने देते।

१. विवेचना—आधुनिक हिन्दी-साहित्य में मनोविज्ञान।

और जैसा कि कहा जा चुका है उनके उपन्यासों में नारी के विद्रोह का कथन है, चित्रण नहीं। इसका कारण यह है कि जोशीजी आभ्यन्तरिक जीवन के सफल कथाकार हैं, बाह्य-जीवन के नहीं। इसीलिए हम पाते हैं कि पुरुष की अहंवृत्ति के उद्घाटन में अपूर्व क्षमता का परिचय वे दे सके हैं, किन्तु नारी के विद्रोह की किसी वास्तविक कल्पना को निरूपित नहीं कर पाए हैं।

: ५ :

जोशीजी में कहानी कहने की बड़ी क्षमता है, लेकिन उपन्यासकार के रूप में उस क्षमता का उपयोग वे किस प्रकार कर पाये हैं, यह विचारणीय है। उनके उपन्यासों में मनोरंजक कथातत्व उपन्यास के एक अनिवार्य उपकरण के रूप में आया है जबकि उनके समकालीन कथाकारों जैनेन्द्र और अज्ञेय की कृतियों में कथात्मक रोचकता को कोई मान नहीं मिला है। आज उपन्यास के कथात्मक मूल्य को तिरस्कृत किया जाता है, फिर भी जीवन के गहरे और विस्तृत अनुभव तथा बोध को कथारस सम्पन्न कृतियों ने शब्दायित करने वाले कथाकार विरल नहीं है। वस्तुतः कुछ लेखकों की रचनाओं में कथात्मकता कलात्मक सृजन की दृष्टि से गुणात्मक महत्त्व पा लेती है। जोशीजी की कहानी सुनाने की कला आकर्षित करती है, लेकिन उसमें सूक्ष्म कथात्मक गुण का अभाव विकर्षित भी करता है—उदाहरण के लिए 'प्रेत और छाया' जैसे उनके प्रमुख उपन्यास में रचनात्मक कौशल एक कुतूहल-प्रधान कथानक का अपेक्षी रहा है—पारसनाथ का कल्पित और नाटकीय स्थितियों में मंजरी से सम्पर्क होता है, रहस्य-रोमांच की पद्धतियों पर नंदिनी से प्रणय-प्रसंग घटित होता है, संयोग से हा अपने पिता से उसका पुनर्मिलन होता है और वह अपनी माता के सतीत्व का विश्वास पा लेता है। इस प्रकार की औपन्यासिक सृष्टि के लिए लेखक की वह कलात्मक दृष्टि जिम्मेदार है, जो उपन्यास को अवचेतना के रहस्यों को चित्रित-विश्लेपित करने का माध्यम बनाकर भी उसे एक दिलचस्प रोमांचक कथा बनाए रखना चाहती है।

उनकी मनोविश्लेषण की पद्धति भी दोषपूर्ण है। लेखक पात्रों के मस्तिष्क का पाठकों के सामने खुला छोड़ने की प्रविधि को नहीं अपनाता है, स्वयं पात्रों के अन्तर्मन का लम्बा सैद्धान्तिक विश्लेषण करता है अथवा खुद पात्रों को यह काम सौंपता है।

स्थूल कथात्मकता (जो वस्तु में संयोग नाटकीयता और असामान्य स्थितियों की माँग करती है) के प्रति जोशीजी का आग्रह उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ दृष्टिगत होता है: 'जहाज का पंछी' में संयोग तत्त्व की अरुचिकर बहुलता है (नायक हर स्थिति में संयोग से ही पहुँचता है. उस प्रक्रिया को एक निरुपाय व्यक्ति की विवशता का चित्रण नहीं माना जा सकता) और नाटकीय स्थितियों को निरन्तर उत्पन्न किया गया है (···अस्पताल में नायक का भाषण, अदालत का प्रसंग, मिस साइमन के यहाँ की घटनाएँ, भादुड़ी मोशाय के घर पर रसोइये के रूप में रवीन्द्र की महानता पर वक्तव्य···)। जीवन में संयोग और नाटकीयता का स्थान है, पर साहित्य में उसे उसी रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता, क्योंकि वहाँ हमारा प्रयत्न जीवन को एक

बौद्धिक संगति में देखने का होता है—भले ही हम जीवन की अतार्किकता (इर्रेशनेलिटी) के प्रति आश्वस्त हों। आधुनिक कथाकार के लिए यह आवश्यक है कि जीवन का कथ्य प्रस्तुत करने में वह अपने माध्यम की स्वाभाविकता को खंडित न करे। जोशीजी ऐसा नहीं कर पाए हैं। इसका कारण यह है कि वे पूर्ववर्ती कथा-परम्परा से इस तरह जुड़े हैं कि उन्होंने अपने माध्यम की अपर्याप्तता की चुनौती महसूस नहीं की। उनके उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक-उपन्यास की विशिष्ट प्रविधियों (पूर्वदीप्ति, मुक्त-आसंग, मनः-संलाप, चेतना-प्रवाह आदि) के प्रयोग भी इसीलिए नहीं मिलते। उन्होंने न परम्परा से प्राप्त शिल्प का निजी संस्कार किया, न प्रचलित नये प्रयोगों के प्रति रुचि दिखाई और न अपनी अभिव्यक्ति के लिए कोई नई पद्धति आविष्कृत की। फलतः वे हिन्दी उपन्यास को शिल्पगत प्रौढता अथवा प्रयोगात्मक नवीनता की कोई महत्त्वपूर्ण देन नहीं दे पाए हैं।

: ६ :

'जहाज़ का पंछी' लेखक का अन्तिम और महत्त्वपूर्ण उपन्यास है। इस उपन्यास में लेखक मनुष्य के दुःख और पतन के लिए अन्यायपूर्ण समाज-व्यवस्था को ज़िम्मेदार ठहराता है—'करीम चाचा' के शब्दों में "अगर जमाने में इन्साफ़ होता, बेकारी न होती, भुखमरी न होती, इन्सानियत का कहीं नामोनिशान भी होता, तो आज इन्सान को इन्सान का गला काटने में इस कदर मज़ा क्यों आता।" स्वतन्त्रता के बाद भी हमारी आशा के विपरीत बेकारी, भुखमरी और अभाव बने रहे तथा राजनीतिक भ्रष्टाचार (उपन्यास के भादुडी मोशाय के व्यक्तित्व द्वारा लेखक इस ओर संकेत करता है) की एक नयी विभीषिका सामने आई, फलतः एक मोह-भंग हुआ।[1] लेखक का एक मोह-भंग उपन्यास में दूसरे मोहावरण से जुड़ा है—इस उपन्यास की परिणति भी 'मुक्तिपथ' और 'जिप्सी' की आदर्शवादी परम्परा में होती है।

लेखक का सामाजिक आशय जीवन की वास्तविकता से सम्बद्ध होकर ही कलाकृति में गृहीत हो सकता है। सामाजिक वैषम्य के प्रति लेखक में जहाँ प्रश्न, व्याकुलता और संघर्ष है एक श्रेष्ठ कृति की सर्जना संभावित है, लेकिन जहाँ लेखक अपने समाधानों को कल्पना में घटित दिखाने लगता है, किसी महत्त्वपूर्ण रचना की आशा नहीं की जा सकती। 'जहाज का पंछी' के पूर्वार्द्ध में सामाजिक विषमताओं का प्रकटीकरण है, लेकिन उत्तरार्द्ध में लेखक की पकड़ से जीवन छूट जाता है और वह दिवास्वप्न की सृष्टि करने लगता है।

जिन उपन्यासों में समाज का एक बड़े पैमाने पर चित्रण अभिप्रेत होता है, वे सुलिखित उपन्यासों (वैल-मेड नोविल्स) की भाँति चुस्त-दुरुस्त रचना का उदाहरण

१. "आज जब हज़ारों वर्ष बाद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के एक विशेष मोड़ के कारण उसे (भारत को) स्वतन्त्रता मिली है, तब भी पिछले युगों की जड़ता के फलस्वरूप उसके भीतर पराक्रम का वह तेज प्रज्ज्वलित नहीं हो पा रहा है, जो उसे आज के विश्व-व्यापी जीवन की विषमता के बीच में एक नयी, ठोस और सामंजस्यात्मक शक्ति के रूप में खड़ा कर सकता था और जन-जीवन में एक नयी चेतना ला सकता था।" (जहाज का पंछी)

नहीं होते, वहाँ बिखराव एक व्यापकता का अंग बन जाता है। बिखरे खण्ड-प्रसंग एक बड़ी थीम से जुड़े होने के कारण समन्वित प्रभाव उत्पन्न करते हैं। 'जहाज का पंछी' का लेखक भी समाज का एक व्यापक रूप दरसाना चाहता है, लेकिन किसी बड़ी थीम के अभाव में उसका बिखराव कलात्मक त्रुटि बन गया है। जिन सामाजिक विषमताओं के बारे में लिखने का उसने संकल्प लिया है उन्हें मनुष्य के भाग्य की कहानी बनाकर नहीं प्रस्तुत कर सका है।

नायक की बेकारी और भुखमरी की पृष्ठभूमि पर लेखक 'फ्री-वर्ल्ड' (स्वतन्त्र-संसार)-सम्बन्धी उद्घोषणा के विषय में प्रभावशाली व्यंग्य कर सका है। करीम चाचा के साथ का प्रसंग उपन्यास का एक महत्वपूर्ण स्थल है, क्योंकि करीम चाचा की कहानी पुरानी पीढ़ी के लोगों की महत्तर-जीवन-मूल्यों में आस्था की कहानी है और सईद पहलवान के दल के परिचय द्वारा लेखक ने तथाकथित अभद्र और नीच वर्ग की मानवीयता को प्रकट किया है। वेश्या-समाज के दुःखों का चित्रण सामान्य है। अनेक छोटे-छोटे मार्मिक प्रसंगों द्वारा (···कुण्ठित आकांक्षाओं वाली बेला, दयनीय 'साहबी'-गर्व लिए कोयले की दूकान करने वाला विपन्न एंग्लो-इंडियन ब्राउन, मिस साइमन के हाथों यंत्रणा भोगती वेश्याएँ अमला-सुजाना-जुलेखा···) यह उपन्यास साधारण लोगों के दुःख-दर्द को सामने रखता है, लेकिन किसी एक बड़े प्रसंग से ये छोटे प्रसंग सम्बद्ध नहीं हो पाए हैं। नायक की कहानी साधारण आदमी की जीवन-कथा के रूप में कल्पित नहीं है, वह एक ऐसे प्रच्छन्न महामानव की गाथा है, जो अभागे लोगों के उद्धार की अपनी योजना को एक पूँजीपति महिला का प्रेम प्राप्त कर क्रियान्वित करता है।

'जहाज का पंछी' एक प्रतिभाशाली उपन्यासकार की आंशिक सफलता और आंशिक विफलता का अच्छा उदाहरण है।

: ७ :

'घृणामयी' से 'जहाज का पंछी' तक की जोशीजी की औपन्यासिक यात्रा एक असामान्य प्रतिभा-सम्पन्न लेखक की भटकी यात्रा ही कही जा सकती है। अपने मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में जोशीजी मनोवैज्ञानिक नियतिवाद से बँधकर चले और 'सामाजिक कान्तिवाद' की ओर प्रवृत्ति होने पर सामाजिक न्याय के लिए मनुष्य के संघर्ष के स्थान पर वे अपने उपन्यासों में आदर्शों की एक अवास्तविक दुनिया रचने लगे।

एक उपन्यासकार के रूप में जोशीजी की सीमाओं की मैंने खुलकर चर्चा की है, लेकिन मैं इसे भी निर्विवाद रूप में स्वीकार करता हूँ कि श्री इलाचन्द्र जोशी का प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यासकारों में शीर्षस्थ स्थान है। उनके उपन्यासों ने मानव-मन के रहस्यों के चित्रण की ओर हिन्दी उपन्यासों को दिशा दी। उन्होंने प्रचलित नैतिकता के 'टैबू' को तोड़ने में योग दिया। जोशीजी ने 'समाजघाती पात्रों के चरित्र का मनोवैज्ञानिक निरूपण' करके 'नैतिक स्वास्थ्य के स्थापन' को अपने मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का लक्ष्य बनाया है, पुरुष की अहं-भावना के विरुद्ध नारी के विद्रोह को मान दिया है और सामाजिक वैषम्य को मनुष्य के दुखों का कारण बताया है, अतः वे एक मानवतावादी लेखक ही सिद्ध होते हैं। उनकी कला की सीमाएँ स्पष्ट हैं और साथ ही हिन्दी उपन्यास के इतिहास में उनका महत्त्व भी असंदिग्ध है।

श्री कृष्णबिहारी मिश्र

डॉ० रामबिलास शर्मा—कवि-आलोचक

रामबिलास शर्मा एक समर्थ सुकवि और सुधी आलोचक हैं। वस्तुतः उनकी कविता और आलोचना एक ही उत्स से निकली दो धाराएँ हैं और दोनों के पीछे जो व्यक्तित्व है उसमें संवेदनशीलता और सामाजिक सजगता का अद्‌भुत सन्तुलन है। उनकी आलोचना में विद्वत्ता, चिन्तनशीलता, सूक्ष्मदर्शिता और प्रत्युत्पन्नमितत्व आदि गुणों के साथ-साथ समर्थ अभिव्यक्ति, व्यंग्य का पैनापन, सहज स्पष्टता तथा निर्भीकता के दर्शन होते हैं। हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में उनका आगमन ऐसा नहीं था जिसको अनदेखा या उपेक्षित किया जा सके। यह कहना शायद अतिशयोक्ति पूर्ण न होगा कि अपनी तीव्र ओजस्वी आलोचनाओं से एक समय वे समस्त हिन्दी-जगत पर छा से गये थे। लेखक आशंका और आतंक की भावना से उनकी सम्भावित रचनाओं की प्रतीक्षा किया करते थे। बहुत समय तक वे यह नहीं समझ पाये कि डॉ० शर्मा की आलोनायें एक-पक्षीय हैं और उनका रास्ता एकमात्र सही रास्ता नहीं है। यह कहना उनके कृतित्व का मूल्य कम करना या उसे महत्त्वहीन सिद्ध करना नहीं है। हिन्दी जगत् में इस प्रकार का प्रभाव उनके पहले आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की समीक्षाओं ने ही उत्पन्न किया था, जिनसे टक्कर लेने की हिम्मत छायावादियों में भी निरालाजी जैसे अक्खड़ ही की होती थी। परन्तु डॉ० रामबिलास शर्मा के युग में तो वैसा कोई प्रतिद्वन्द्वी भी नज़र नहीं आता।

डॉ० शर्मा को इस बात का श्रेय दिया जाएगा कि उन्होंने निश्चित विचार-दर्शन का आधार लेकर हिन्दी के साहित्य-लेखन पर अपना निर्भीक और निष्पक्ष मत व्यक्त किया। जो उचित समझा वही कहा और जो उचित नहीं लगा उसकी अच्छी तरह खबर ली। उन्होंने जमकर और विस्तार से लिखा। छायावादी काल में आलोचना की जो एक शब्दाडम्बरपूर्ण, अस्पष्ट शैली विकसित हो रही थी, जिसमें भाषा का चाकचिक्य और वाग्विलास ही प्रमुख हो गये थे; शर्माजी ने उस सारे झाड़-झंखाड़ को साफ़ कर दो-टूक बात कहने वाली शैली अपनाई और जटिल-से-जटिल एवं गूढ़ माने जाने वाले सिद्धान्तों का सरलाता-पूर्वक विवेचन करने में सफलता प्राप्त की। बाद के आलोचकों ने उनकी समालोचनाओं को पूर्वाग्रह-पूर्ण कहा है। परन्तु कोई भी आलोचक स्वयं अपने विचारों या अपने दृष्टिकोण से निष्पक्ष नहीं हो सकता। हिन्दी के अनेक साहित्यकारों में आलोचना को लेकर एक विचित्र भ्रान्ति यह है कि समीक्षा मौलिक साहित्य सृजन न होकर केवल मौलिक लेखन की व्याख्या मात्र है। डॉ० शर्मा की आलोचनाएँ इस भ्रान्ति का निराकरण करने के लिये पर्याप्त हैं क्योंकि उन्हें पढ़कर उनकी मौलिकता का पता तो लगता ही है। वह साहित्यिक स्फुरण भी होता है जो किसी जीवित और सशक्त रचना का अनिवार्य लक्षण है।

डॉ० रामबिलास शर्मा के पिछले दो दशक के अधिक के लेखन-काल में उनके

साहित्यिक कृतित्व के रूप में अनेक आलोचनात्मक लेखों के संग्रह और एक काव्य-सकलन 'रूप-तरंग' है जिसकी कुछ कविताएँ 'तार सप्तक' के चयन में भी आई थीं। उनकी आलोचना में यथेष्ट विषय-वैविध्य और विस्तार है। उसमें कबीर, तुलसी आदि मध्ययुगीन सन्तों से लेकर प्रेमचन्द, निराला, रामचन्द्र शुक्ल आदि हिन्दी के आधुनिक महारथियों तथा कालिदास, शेक्सपियर, डॉ० जिवागो आदि पूर्व और पश्चिम के महत्त्वपूर्ण कृतिकारों एवं कृतियों का विश्लेषण अथवा सर्वेक्षण है। साहित्य के सैद्धान्तिक पक्ष का विवेचन भी उन्होंने गम्भीरता और सहजता से किया है। इस सबमें उनके अगाध पाण्डित्य और विचार प्रवणता का परिचय है। 'भारतेन्दु-युग', 'निराला' और 'प्रेमचन्द और उनका युग' १६४५ और १६५५ के दशक में लिखी गई प्रौढ़ता और सन्तुलन-क्षमता की दृष्टि से १६५५ से १६६५ के दशक में प्रकाशित 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना' 'लोक-जीवन और साहित्य' तथा 'आस्था और सौन्दर्य' जैसी कृतियों को अधिक गम्भीर और सफल माना जायेगा। प्रारम्भ की कृतियों में यदि विचारों की ताज़गी, दृष्टिकोण की स्वस्थता और नयेपन के साथ एक आवेश है, जो कभी-कभी अतिवाद को छू लेता है, तो बाद की रचनाओं में मत स्थापन की आतुरता का स्थान अपने सिद्धान्तों के सतर्क प्रवर्तन और सजग पोषण ने ले लिया है। सूक्ष्म अध्ययन करने पर यह भी ज्ञात होगा कि लेखक ने अपनी परवर्ती रचनाओं में स्वयं अपने अनेक मतों को परिमार्जित और संशोधित किया है।

'अवध के हृदय', वैसवाड़े के इस ज़िन्दादिल कवि ने वहाँ के प्राकृतिक ग्राम्य-परिवेश के जो मनोरम चित्र 'रूप-तरंग' में अंकित किये हैं वे सहजता से विस्मृत नहीं हो सकते। रामबिलासजी ने कहीं मज़ाक के मूड में ही लिखा था 'कहा जाता है एक असफल कवि आलोचक बन जाता है; वैसे मैं तो इतना असफल कवि भी नहीं था।' उनकी कविताएँ पढ़कर इसे अत्यन्त विनम्र 'स्वभावोक्ति' मात्र मानना पड़ता है।

उनकी 'सिलहार' और 'कोहरे के बादल' जैसी कविताओं पर निराला और 'ग्राम्या' का प्रभाव देखा जा सकता है परन्तु यह निःसंशय कहा जा सकता है कि उनकी खेत सींचने वाली कृषक-कन्या का चित्र निराला की पत्थर तोड़नेवाली से किसी भी प्रकार कम सजीव नहीं है। पन्त की ग्राम्या के ग्रामीण जीवन के दृश्यांकन के प्रयत्नों की अपेक्षा रामबिलास की तत्सम्बद्ध कविताओं में अधिक विश्वसनीयता है। वर्षा की बाढ़ से घर नष्ट हो जाने के भय से त्रस्त किसान का कष्ट किस प्रकार कतकी के मेले की बैलगाड़ी-यात्रा के स्वप्नाविष्ट सुख में परिवर्तित हो जाता है, इसे शर्माजी ने सहृदय और खुली आँखों से खूब देखा है। गाँवों की नैसर्गिक सुषमा पर मुग्ध होते हुए भी कहीं भी वे ग्रामों के क्षुधाग्रस्त, नग्न, निरीह समाज की भीषण यंत्रणा की उपेक्षा नहीं कर पाये। जीवन के समस्त वैषम्य और दैन्य के प्रति वे सदैव खड्ग-हस्त रहे हैं। उनकी सजग यथार्थग्राही चेतना इन दुखों की लड़ियों को उन सुषमा के मोतियों के बीच-बीच में पिरोती चलती है। उनकी कुछ पंक्तियों में अवध के लोकजीवन और लोक साहित्य की सोंधी सुगन्ध है।

मीठे सुर से क्या रही माँग
देवी से सेंदुर भरी माँग
चूड़ियों से सदा भरे हाथ
माँगे भाई तो पाँच सात,
पर बहन एक देवर अनेक
पति के घर में फिर ननद एक[1] (देवी के गीत)

रामबिलासजी की कविताओं में क्षोभ और आक्रोश की आग और करुणा के अश्रुओं का अद्‌भुत सम्मिलन है जैसा कि उन्होंने स्वयं लिखा है :—

यह मानव का हृदय क्षुद्र इस्पात नहीं है,
भय से सिहर उठे वह तरु का पात नहीं है।
रेत और पानी से बन जाते हैं पत्थर।
हृदय बना है आग और आँसू से मिलकर।

लोहे के पिंजरे में फ़ारस की बुलबुल से बन्दी दारा शिकोह की करुण दुःखान्त गाथा 'दारा शिकोह' कविता के माध्यम से पाठकों के मन में टीस पैदा करती है। इसे 'प्रलय की छाया' (प्रसाद) और 'शेरसिंह का शस्त्र समर्पण' (प्रसाद) आदि ऐतिहासिक वृत्त-मुक्तकों की शृंखला की एक कड़ी के रूप में माना जा सकता है, जिन्हें छायावावादी युग में द्विवेदी युगीन खण्डकाव्यों का स्थान लेने के लिये प्रस्तुत किया गया था। शर्माजी की अनेक काव्य-पंक्तियाँ हृदय में विंध जाती हैं :—

यह जीवन की हार नहीं छिपती आँखों में

उनके प्रतीक प्रायः प्रकृति से ग्रहीत, नवीन और भाव-प्रकाशन में सर्वथा समर्थ हैं :—

तरुणों की पीढ़ी जीवन में मार्ग खोजती,
चट्टानों के बीच फेन की धारा जैसी।

उनके प्रतीक-विधान और शब्दावली पर भी निराला, पन्त जैसे छायावादी कवियों का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। उनकी कविता की भाषा छायावाद के प्रमुख महारथियों से एक जबरदस्त departure इस मायने में है कि उसमें सारल्य और सहज-बोध को अनिवार्य गुण के रूप में स्वीकार किया गया है।

डॉ० शर्मा के आलोचनात्मक कृतित्व का विश्लेषण और मूल्यांकन करने के लिये सैद्धान्तिक मान्यताओं और व्यावहारिक समीक्षाओं को पृथक वर्गों में उसे विभाजित कर लेना अधिक युक्ति संगत होगा।

---

१. अवध के निम्न लोकगीत की पंक्तियों में इसी भाव को इस रूप में प्रस्तुत किया गया है :—
मांग्यों वरदान देवी के मन्दिर वा भीतर
अरे मांग्यों मैं सात-पाँच भइया, बहन अकेलि, देवी के मन्दिरवा भीतर।
मांग्यों मैं हरी-हरी चुरियाँ सन्दुर भरि माँग देवी के मन्दिरवा भीतर।
मांग्यों मैं सात-पाँच देवरा, ननदिया अकेलि, देवी के मन्दिरवा भीतर।
अरे मांग्यों मैं [illegible] देवी के मन्दिरवा भीतर।

डॉ० शर्मा की सैद्धान्तिक मान्यताएँ भौतिकवादी जीवन-दर्शन के आधार मानकर निर्मित हुई हैं। 'वैज्ञानिक भौतिकवाद के अनुसार मनुष्य प्रकृति की उपज है और विचार-चेतना मानव-मस्तिष्क की उपज···ज्ञान का आधार मनुष्य का प्रत्यक्ष अनुभव है' (यथार्थ जगत् और साहित्य—आस्था और सौन्दर्य पृ० ४), 'वैज्ञानिक, भौतिक व्यवहार अनुभव और प्रयोग से परे इलहाम द्वारा ज्ञान-प्राप्ति का दावा नहीं करता।' (वही पृ० ५); 'कवि क्या लिखे क्या न लिखे यह उसकी इच्छा के साथ-साथ परिस्थितियों पर भी निर्भर है।' (लेखक और जनता—परम्परा और प्रगति, पृ० ४) 'लेखक का व्यक्ति समाज के संघर्ष में विकसित होकर पुष्ट होता है।' (वही पृ० ६) 'प्रगतिशील साहित्य वह है जो समाज को आगे बढ़ाता है, मनुष्य के विकास में सहायक होता है।' (प्रगतिशील साहित्य पर कुछ प्रश्न—परम्परा और प्रगति—पृ० ४६) 'परन्तु साहित्य तभी प्रगतिशील है जब वह साहित्य भी है।' (वही) लेकिन वे कौन से गुण हैं जिनके आधार पर किसी रचना को 'साहित्य अथवा असाहित्य कहा जाय इसका विवेचन उन्होंने कहीं नहीं किया। 'इसी तरह उनकी प्रगतिशील साहित्य की परिभाषा अस्पष्ट है क्योंकि कौन से विचार समाज को आगे बढ़ाते हैं इस पर अलग-अलग व्यक्तियों की राय भिन्न-भिन्न होगी।

सौन्दर्य और उसकी कलात्मक सत्ता पर विचार करते हुए शर्माजी ने उसकी व्यापक परिभाषा इस प्रकार की हैं, 'प्रकृति, मानव-जीवन तथा ललितकलाओं के आनन्ददायक गुण का नाम सौन्दर्य है (सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता और सामाजिक विकास—आस्था और सौन्दर्य-पृ० २०) 'इन्द्रियों से जिस सौन्दर्य की अनुभूति होती है बाह्य जगत् में उसकी वस्तुगत सत्ता है, इन्द्रियाँ सौन्दर्य की परख का साधन हैं उसका कारण नहीं है—जहाँ तक वाह्य जगत के इन्द्रिय-बोध का सम्बन्ध है।' (वही पृ० २४) 'मनुष्य का सौन्दर्य बोध उसके सामाजिक जीवन का ही परिणाम नहीं है उससे भी पहले वह उसके प्राग्मानवीय विकास का परिणाम है। सौन्दर्य-बोध आर्थिक जीवन से प्रभावित होता है, किन्तु वह उसका प्रतिबिम्ब नहीं है, (वही, पृ० २९) 'मनुष्य के विचार उसके सामाजिक जीवन को प्रतिबिम्बित करते हैं, किन्तु मानव-चेतना में वह क्षमता है जो सामाजिक स्थिति से ऊपर उठ सके। चिन्तन की भौतिक सीमाओं से ऊपर उठकर अपेक्षाकृत स्वतंत्र स्तर पर विकसित हो सके। भौतिक जीवन और कलात्मक स्तर के उत्कर्षापकर्ष में अनिवार्य अनुकूल सम्बन्ध न होने से कला की समाज-निरपेक्षता सिद्ध नहीं होती, भौतिक जीवन से उसकी सापेक्ष स्वाधीनता ही प्रमाणित होती है'। (वही पृ० ३०-३१) यह विचार उन लेखकों और आलोचकों के लिए मनन करने योग्य हैं जो मार्क्सवादी समीक्षकों पर साहित्य को यांत्रिक ढंग से भौतिक परिस्थितियों से जोड़ने का अभियोग लगाते हैं।

'साहित्य में रूप और विषय का सम्बन्ध अभिन्न और अन्योन्याश्रित है। प्रगतिशील साहित्य रूप-सौष्ठव का तिरस्कार कर दो कदम भी नहीं चल सकता'। (प्रगति और परम्परा पृ० ५६) 'विषय-वस्तु और रूप का सामंजस्य तभी हो सकता है जब हम गम्भीर सामाजिक प्रेरणा से सौन्दर्य की उत्कृष्टता का सम्बन्ध मानें'।

(वही पृ० ५७) 'क्या सामाजिक यथार्थ से आन्दोलित हुए बिना किसी भी कलाकार के लिए सम्भव है कि वह आर्थिक सौन्दर्य की सृष्टि कर सके'। (वही) यहाँ केवल इतना ही कहना है कि जहाँ डॉ० शर्मा ने सिद्धान्त-रूप से रूप और विषय की एकता स्वीकार की वहाँ अपनी व्यावहारिक समीक्षाओं में उन्होंने अपने को साहित्य की विषय वस्तु के विवेचन तक ही सीमित रखा, उसके कलापक्ष का उद्‌घाटन उन्होंने नहीं के बराबर किया।

प्राचीन भारतीय साहित्य-शास्त्र के प्रमुख सिद्धान्तों 'रस-निष्पत्ति' और 'साधारणीकरण'—आदि पर डॉ० शर्मा ने गम्भीरता से विचार नहीं किया। साधारणीकरण पर व्यंग्य-प्रहार करते हुए वे एक स्थान पर कहते हैं 'साधारणीकरण एक ऐसा मन्त्र है जिसमें शोषक और शोषित किसी की भी पूजा करने से मनुष्य विश्व-प्रेम तक पहुँच जाता है।' (रस-सिद्धान्त और आधुनिक साहित्य—प्रगति और परम्परा पृ० १५५)।

शर्माजी के आलोचनात्मक सिद्धान्त-विवेचन में सर्वत्र वर्ग-आधार उपस्थित नहीं रहता, जो मार्क्सवादी समीक्षा-प्रणाली का अनिवार्य तत्व हैं। वह प्रायः 'सच्चे साहित्यकार' या 'लेखक' की बात करने लगते हैं जैसे 'प्रगति और परम्परा' में वे कहते हैं, 'लेखक सारथी होता है जो लीक देखते हुए साहित्य की बागडोर संभाले उसे उचित मार्ग पर ले चलता है।' (पृ० ३) क्या सभी लेखक साहित्य को उचित मार्ग पर ही ले चलते हैं ? इसी निबन्ध में पृ० २ पर कवि के विषय में जो बात कही गई है वह भी इसी प्रकार सामान्यीकृत सत्य के रूप से है, और उससे किसी 'विशिष्ट चेतना युक्त कवि' या 'लेखक' का बोध नहीं होता।

उनकी व्यावहारिक समीक्षा में हिन्दी के पूर्व-मध्य युगीन सन्त और भक्तों के कृतित्व के विवेचन और मूल्यांकन को काफ़ी विस्तार और महत्त्व मिला है। ऐतिहासिक दृष्टि से शर्माजी का मत है कि 'भारतीय जीवन की जिस परिस्थिति से सन्त-साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है वह हैं सामन्ती शक्ति का ह्रास'। (लोक जीवन और साहित्य, पृ० १२) यह उनकी बहुत महत्त्वपूर्ण स्थापना है। वे पहले आलोचक हैं, जिन्होंने स्पष्ट रूप से निर्देशित किया कि मुग़लकाल भारत में सामन्तवाद के ह्रास और व्यापारिक पूँजीवाद के अभ्युदय और प्रसार का युग था; और समाज की इस बदलती हुई परिस्थिति में ही उस सामाजिक औदार्य का स्रोत है, जिसके दर्शन भक्ति-आन्दोलन में होते हैं। उनकी भक्ति-कालीन रचनाओं का मूल्यांकन अत्यन्त सटीक और निर्दोष है। 'यह जीवन की स्वीकृति का साहित्य है, उसमें जनता का हास और उल्लास है, जनता का क्रोध और आवेश है, एक सुखी समाज की आकांक्षा है'। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी द्वारा उठाई गई शंका का, सूर और बिहारी के शृंगार-वर्णन में ऐसा क्या अन्तर है कि एक को भक्त और दूसरे को शृंगारी माना जाये, समाधान करते हुए शर्माजी ने ठीक ही लिखा है कि अन्तर रचना की पृष्ठभूमि में है। सूर का काव्य जन-संस्कृति की पृष्ठभूमि पर उद्‌भूत है जबकि बिहारी की सतसई सामन्ती संस्कृति की पृष्ठभूमि पर रची गई है। शर्माजी ने योगियों के साहित्य के

विषय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से सहमत होते हुए उनके साहित्य को जीवन से पराङ्मुख माना और उनकी रचनाओं में 'सामाजिक अनुभूतियों की कमी' की शिकायत की। उन्होंने राहुल सांकृत्यायन और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के पश्चिमी और पूर्वी आर्यों में भेदीकरण के नस्लवादी सिद्धान्त का सतर्क और सबल शैली में खण्डन किया। वे पूछते हैं यदि पूर्वी आर्य भावुक और क्रान्तिकारी होते हैं और पश्चिमी शास्त्रवादी और विवेकी तो सूर और मीरा पश्चिमी प्रदेश में कैसे उत्पन्न हुए ? और डॉ० रघुवीर और राहुल सांकृत्यायन का जन्म एक ही प्रदेश में क्यों नहीं हुआ ?

भक्तिकाल के प्रमुख कवियों पर लिखते हुए जायसी के विषय में वे कहते हैं 'जायसी को सांस्कृतिक समन्वय का कवि न कहकर जन-संस्कृति का कवि कहना ज्यादा उचित होगा। (लोक-जीवन और साहित्य पृ० २७)। शुक्लजी के मत का यह संशोधन उचित हैं। उन्होंने ठीक ही लिखा है 'कि अवध की सरसता को किसी ने इस तरह नहीं पहचाना जैसा जायसी ने'। (वही पृ० २६)। तुलसी के विषय में उनका मत है 'कि तुलसी की भक्ति मानववाद में डूबी हुई है। वह कवि ममुष्य का सबसे बड़ा उपासक है'। प्रगतिशील कहे जाने वाले आलोचकों द्वारा भक्त-कवियों की ग़लत, पक्षपात-पूर्ण और दोष-दर्शी आलोचना का शर्माजी ने मुँह-तोड़ उत्तर दिया। रांगेय राघव, भदन्त आनन्द कौसल्यायन और राहुल सांकृत्यायन किसी को भी इस अपराध के लिए उन्होंने क्षमा नहीं किया।

भारतेन्दु युग और उसके रचनाकारों की कृतियों का सम्यक् परिचय देने और महत्व प्रतिपादन के लिए डॉ० शर्मा ने 'भारतेन्दु-युग' शीर्षक से एक स्वतंत्र पुस्तक लिखी और वह आज भी उस काल पर लिखी गई समीक्षा कृतियों में अन्यतम है। द्विवेदी-युगीन लेखकों में, शर्माजी बाबू बालमुकुन्द गुप्त के प्रशंसक हैं और उन पर उन्होंने कई समीक्षात्मक निबन्ध लिखे हैं।

छायावादी युग पर डॉ० शर्मा ने विस्तार से विचार किया है। उनके मतानुसार 'छायावाद भारत के नव पूंजीवादी अभ्युदय के साथ उत्पन्न हुआ...उसने सामन्ती परम्परा का विरोध किया और साहित्यकारों में नये प्रसार और विकास की भावना पैदा की' (प्रगतिशील साहित्य पर कुछ प्रश्न—प्रगति और परम्परा पृ० ७३)। छायावाद में उपस्थित 'निराशा' और 'वेदना' का सम्बन्ध उन्होंने पूंजीवाद की असंगतियों और उससे उत्पन्न मध्यवर्ग के उत्पीड़न से जोड़ा। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की छायावाद-सम्बन्धी धारणाओं को उन्होंने संकुचित माना है और लिखा है कि इसीलिए शुक्लजी को निरालाजी की बहुत-सी रचताएँ छायावाद की भूमि से बाहर प्रतीत हुई। शुक्लजी द्वारा छायावाद के विरोध पर शर्माजी लिखते हैं, 'वह (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल) विरोध करते थे रहस्यवादी शैली का, अति लाक्षणिकता का...छायावाद को इन दो अर्थों तक सीमित नहीं किया जा सकता। वह एक मानववादी धारा है...आज अनन्त की ओर दौड़ने और अति लाक्षणिक शैली के व्यवहार से हिन्दी के समर्थ कवि बच रहे हैं यह बात शुक्लजी की आलोचना का समर्थन करती है'। (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिंदी आलोचना पृ० १६१)।

छायावाद के प्रमुख कवियों पर विचार करते हुये डॉ० शर्मा ने उनमें निराला को सर्वप्रमुख माना और उनकी विशेषताओं का उद्‌घाटन एक स्वतन्त्र-समीक्षा पुस्तक में किया। इस पुस्तक में निराला जी के व्यक्तित्व, उनके सामाजिक दृष्टिकोण और उनकी काव्यात्मक महत्ता का भली-भाँति निदर्शन किया गया है। प्रसादजी के विषय में शुक्लजी के 'मधुचर्या' वाले आक्षेप की चर्चा करते हुये डॉ० शर्मा ने लिखा है, 'प्रसादजी सुख, सौंदर्य के कवि हैं, परोक्ष चिन्तन बहाना भर है···प्रसाद जी न योगवादी थे न भोगवादी थे; उनका दर्शन संसार को शिव का प्रत्यक्ष रूप मानता है और कामायनी लोक-कल्याण का प्रतीक है।' (आचार्य रामचन्द्र और हिन्दी आलोचना पृ० १६३)। उन्होंने शुक्लजी की प्रसाद-विषयक आलोचना से सहमत होते हुए लिखा है 'लेकिन शुक्लजी का यह कहना सही है कि प्रसादजी ने कर्ममय जीवन के विशद चित्र नहीं दिये हैं, और उसे बहुधा यज्ञों, उद्योग-धन्धों और शास्त्र विधानों में सीमित कर दिया है।' (वही पृ० १६३-१६४) परन्तु वहीं उन्होंने यह संकेत किया है कि यह दोष प्रसादजी के उपन्यासों और नाटकों में नहीं है। उनके उपन्यासों की सामाजिक जागरूकता की शर्माजी ने प्रशंसा की है। 'काव्य कला और अन्य-निबन्ध' पर गम्भीरता से विचार करते हुए शर्माजी ने प्रसाद के दार्शनिक चिन्तन का विश्लेषण किया और यह निष्कर्ष दिया है कि उनकी विचारधारा पूर्व या पश्चिम के भाववादियों से भिन्न है।

छायावादियों में शर्माजी, पन्त जी के सबसे कटु आलोचक रहे हैं। विशेषकर उनकी 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूलि' तथा अन्य परवर्ती रचनाओं को लेकर उन्होंने लिखा है 'पन्तजी ने दर्शन और अर्थशास्त्र के अनेक सूत्रों को सम्बद्ध किया है···लेकिन उनका असली रूप सौन्दर्यवादी का है उसे वह छोड़ नहीं पाये।···पन्तजी जब कोशिश करके लोक-जीवन के नजदीक आते हैं तब भी मानो ज़ुल्फ़ें सँभालते हुए, पतलून की क्रीज का ध्यान रखते हुये'। डॉ० रामविलास शर्मा पहले व्यक्ति थे जिन्होंने 'ग्राम्या' और 'युगवाणी' की नकली प्रगतिशीलता को पहचाना और उसकी जोरदार आलोचना की।

महादेवी के विषय में शर्माजी ने लिखा है, 'महादेवीजी छायावाद की प्रतिनिधि कवि हैं। उनमें छायावाद का निराशावादी, पलायनवादी पक्ष है तो जीवन और सौन्दर्य का स्वस्थ मानव-प्रेमी और सौन्दर्यवादी पक्ष भी है। उनके अन्दर एक विद्रोही आत्मा सोती है जो दृष्टिकोण और मनोबल की सीमाओं के कारण अपना पूरा चमत्कार नहीं दिखा सकीं'। छायावाद और महादेवी के आलोचकों में डॉ० नगेन्द्र ने उनके काव्य की प्रेरणा अतृप्त काम भावना में मानी थी। इस मत पर शर्माजी की टिप्पणी इस प्रकार है, 'यदि जीवन और सौन्दर्य की चाह प्रकट करने वाली कविता दमित इच्छाओं के ही कारण हो, तो जितने भी जीवन और सौन्दर्य के कवि हैं, वे सब दमित इच्छाओं के शिकार साबित हों और जितने भी मृत्यु और कुरूपता के कवि हैं वे सब तृप्त इच्छाओं वाले समझे जायें' (लोक जीवन और साहित्य पृ० ६४) बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की 'क्वासि' की भूमिका और कविता दोनों की जो सतर्क और व्यंग्यात्मक आलोचना डॉ० शर्मा ने की है वह उनकी विद्वता और रोचक शैली दोनों का अच्छा उदाहरण कही जा सकती है। (प्रगतिशील साहित्य की समस्यायें।)

प्रगतिशील आन्दोलन और साहित्य की सफलताओं और कमियों पर शर्माजी ने बड़ी ईमानदारी से अपने विचार प्रगट किये हैं। वे लिखते हैं, 'प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन अखिल भारतीय आन्दोलन था। इस तरह का कोई भी आन्दोलन उस समय देश में न था···इस आन्दोलन ने उल्लेखनीय सफलताएँ प्राप्त कीं'। इनमें डॉ० शर्मा ने विभिन्न भारतीय भाषाओं के लेखकों का एक-दूसरे के निकट आना, हिन्दी-उर्दू में समान जातीय भावना का उत्पन्न होना और हिन्दी में श्रेष्ठ साहित्य का सृजन आदि परिगणित किया है। हिन्दी में उसने नरेन्द्र, दिनकर, सुमन आदि की शक्तिशाली कवितायें दीं। अमृतलाल नागर, नागार्जुन आदि के उपन्यास इस परम्परा में उत्पन्न हुए। आलोचना में उसने साहित्यिक परम्परा का मूल्यांकन करने का प्रयास किया और रूढ़िवाद का विरोध किया। कला की दृष्टि से उसने कविता की दुरूह शैली को सरल बनाया। आन्दोलन की भूलें उनके अनुसार इस प्रकार हैं: 'हमने आन्दोलन में दो तरह की भूलें कीं। एक तो गैर-मार्क्सवादी लेखकों का मूल्य न आँकना, दूसरी प्रगतिशील साहित्य में फैलने वाली प्रतिक्रियावादी रुझानों का विरोध न करना' यानी पहली 'संकीर्णता और दूसरी 'पक्षपात'। शर्माजी द्वारा उल्लिखित ये भूलें केवल आलोचना के क्षेत्र से सम्बद्ध हैं। रचना-क्षेत्र में प्रचारात्मकता, कृत्रिमता और अकलात्मक अभिधात्मकता आदि जो दोष आ गये थे उन्हें शर्माजी ने अनदेखा कर दिया है।

हिन्दी उपन्यासकारों में डॉ० शर्मा ने प्रेमचन्द को सबसे महत्वपूर्ण माना। उन पर लिखी समीक्षा-पुस्तक 'प्रेमचन्द' में उन्होंने उनके सभी प्रमुख उपन्यासों की विषयवस्तु का विस्तार से विवेचन करते हुये प्रमाणित किया है कि प्रेमचन्द के उपन्यास तत्कालीन भारतीय जीवन के जीते-जागते चित्र हैं। जैनेन्द और अज्ञेय के उपन्यासों को रामविलासजी प्रेमचन्द की परम्परा का विरोध करने वाले और यौन उच्छृंखलता का प्रतिबिम्बित करने वाले मानते हैं। राहुल सांकृत्यायन और यशपाल की भी उन्होंने क्रमशः ऐतिहासिक विकृति और कुत्सित अश्लीलता के दोषों के लिये तीव्र आलोचना की है। इन आलोचनाओं में कहीं-कहीं डॉ० शर्मा मध्यवर्गीय संकुचित नैतिकता की मनोवृत्ति से आक्रान्त हैं। रेणु के आंचलिक उपन्यास उन्हें ग्रामीण जीवन के खण्ड चित्रों के संग्रह से लगे (आस्था और सौन्दर्य)। मैला आँचल के यथार्थ अंकन के कुछ अंशों की उन्होंने प्रशंसा की। परन्तु लेखक की जनता को मूर्ख माननेवाली 'अनास्था' का खण्डन किया। उन्होंने रेणु के इन उपन्यासों को प्रेमचन्द की परम्परा में नहीं माना और 'परती परिकथा' के विषय में लिखा—'इसमें मैला आँचल के गुण प्रायः लुप्त हो गये हैं और दोषों का पूर्ण विकास हो गया है।' (आस्था और सौन्दर्य पृ० १२७)। 'नई कविता' को उन्होंने 'अनास्थापूर्ण' और 'खण्डित कला' घोषित किया है।

हिन्दी आलोचना में उनके विचार से आचार्य रामचन्द शुक्ल सबसे महत्वपूर्ण हैं। शुक्लजी के समीक्षा सिद्धान्तों और व्यावहारिक आलोचनाओं पर पूर्ण योग्यता और गम्भीरता से विचार करने वाली उनकी पुस्तक 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना' है। हिन्दी के परवर्ती आलोचकों द्वारा शुक्लजी पर किये गये आक्षेपों का निराकरण भी शर्माजी ने सतर्क शैली में किया है।

डॉ० शर्मा की आलोचना-पद्धति में ऐतिहासिक भौतिकवाद, शोषितवर्ग की पक्षधरता, साहित्य की सोद्देश्यता का समर्थन, सामाजिक सजगता, साहित्य का गत्यात्मक रूप में ग्रहण और दर्शन, आदि अनेक मार्क्सवादी तत्त्व वर्तमान है। उनका भक्ति युग और छायावादी युग के साहित्य का मूल्यांकन सबसे मार्के का है। संत और भक्त कवियों को वे जन-संस्कृति का प्रतिनिधि मानते हैं। उनकी आलोचना की प्रमुख दुर्बलता यह है कि वह आलोच्य कृतियों के विषयवस्तु के विवेचन और महत्व निरूपण से प्रारम्भ होकर, रचनाकार के सामाजिक दृष्टिकोण पर बल देने के पश्चात् इतना अवकाश ही नहीं पाती कि उसके कलापक्ष और रूप-विधान पर भी विचार करे। इस एकांगिता के अतिरिक्त उसमें मार्क्सवादी आधार भी सर्वत्र उपस्थित नहीं है और अनेक स्थल पर वे वर्गवादी चेतना को विस्मृत कर पिछले युगों की विचारधाराओं का अनुसरण करने लगते हैं। उसमें यदि सजीव क्रान्तिकारिता के लक्षण उपलब्ध नहीं होते तो इसके लिए शर्माजी को दोषी न ठहराकर उस युग को ही उत्तरदायी मानना होगा, जिसमें प्रगतिशीलता बहुतों के लिये केवल आडम्बर और फैशन मात्र थी। कहीं-कहीं उनकी आलोचनाओं में 'अति सरलीकरण' का दोष भी है। मानव-जीवन की जटिलताओं और मन की संश्लिस्ट स्थितियों के साहित्य में प्रतिफलन को शर्माजी कभी-कभी पर्याप्त गम्भीरता से नहीं ग्रहण करते। इन दोषों के बावजूद उनकी समीक्षा ने हिन्दी के रचनात्मक कृतित्व को बहुत बड़ी सीमा तक प्रभावित किया है एवं आलोचना के प्रतिमानों के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया है यह कहना एक तथ्य की स्वीकति मात्र है।

राजकुमार शर्मा

गिरिजाकुमार माथुर और नयी कविता

गिरिजाकुमारजी आधुनिक युग के उन विशिष्ट कवियों में से एक हैं जिन्होंने नयी कविता के क्षेत्र में परम्परा एवं प्रयोग के समन्वय पर आवृत एक अतिवाद मुक्त काव्य-दृष्टि का विकास किया है। आधुनिक काव्य के निर्माण में उनका योगदान अप्रतिम है। माथुरजी नये कवियों के उस वर्ग का नेतृत्व करते हैं जो किसी आरोपित अनास्थामूलक जीवन-दर्शन को अस्वीकार कर मानवीय उपलब्धियों में अगाध आस्था एवं विश्वास का संकल्प लेकर चला है। जो आधुनिक जीवन को, नये प्रत्यावर्तनों को, नयी अनुभूतियों और संवेदनाओं को नव्यतम शिल्प में ढालने का प्रयास करता हुआ, काव्योपलब्धि की किसी महत् संभावना की दिशा में आगे बढ़ रहा है। उनका काव्य निश्चित रूप से नयी कविता के शाश्वत, स्वस्थ एवं विकास-कारी तत्त्वों का प्रतिनिधित्व करता है। इन्हीं के आधार पर वह नयी कविता की सीमाओं से ऊपर उठकर उसकी उपलब्धि एवं संभावनाओं का प्रतीक बन गया है।

उनके काव्य की इस महत्ता को लगभग सभी श्रेष्ठ समालोचकों ने स्वीकारा है। डॉ० नगेन्द्र-जैसे परम्परानिष्ठ रसवादी आलोचक भी—जो अभी तक नयी कविता की उपलब्धि एवं सम्भावनाओं के प्रति आश्वस्त नहीं हो पाए हैं—उनके काव्य के वैशिष्ट्य की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते हैं। इसका मूल कारण यही रहा कि माथुरजी ने जो कुछ लिखा है भोगकर लिखा है; पढ़कर नहीं। आधुनिकता को उन्होंने व्यक्ति-स्तर पर जिया है, (अधिकांश नये कवियों की भाँति) जान-बूझकर अपने ऊपर ओढ़ नहीं लिया। उनके काव्य में परम्परा एवं प्रयोग का आदर्श सामंजस्य मिलता है। अत्याधुनिक होते हुए भी परम्परा से उनकी सम्पृक्ति टूट नहीं पाई है। नव्यता के मोह में अपने को परम्परा से निर्ममतापूर्वक काट लेना उनके कवि का आदर्श नहीं हैं। उनकी काव्य-प्रतिभा तो परम्परा के जीवन्त अंश को स्वीकार करती हुई काव्यगत् प्रयोगों की नयी दिशाओं की ओर बढ़ी है। पर काव्य में परम्परा एवं प्रयोग की इन नयी संतुलन-भूमियों की खोज में वे नयी कविता के दोषों के प्रति कभी उदासीन नहीं रहे। अनेक स्थलों पर माथुरजी ने नयी कविता की सीमाओं का निर्मम विश्लेषण किया है। अपने दोषों के प्रति आत्म-सजगता की यह भावना बहुत कम नये कवियों में मिलती है। माथुरजी की यह साहित्यिक विशिष्टता और ईमानदारी ही नयी कविता के कटु आलोचकों को भी उनकी प्रशंसा करने के लिए बाध्य करती है।

गिरिजाकुमारजी का कवि—अधिकांश नये कवियों की भाँति कोरी चमत्कार-सृष्टि और बौद्धिक खींचतान को ही काव्य का चरम उद्देश्य मानकर नहीं चला। वह काव्य को एक कठिन साधना के रूप में स्वीकार करता है। उसकी काव्य-चेतना कला-मूल्यों के साथ मानव-मूल्यों के प्रति अपने दायित्व को भी तीव्रता के साथ महसूस करती है। वह अपनी कला के द्वारा व्यक्ति के निविड़ मन की उलझी हुई संवेदनाओं की सृष्टि में नहीं बल्कि जगत की जटिलताओं और उलझी हुई संवेदनाओं के बीच सुलझे हुए सत्य का प्रकाश करने में विश्वास रखती है और शायद इसी कारण से कुछ नये कवि-आलोचकों की दृष्टि में वह, नयी कविता के 'लेबिल' की अधिकांश कविताओं के तथाकथित आधुनिक भावबोध से पूरा साम्य स्थापित नहीं कर पाती।[1] नयी कविता में वह अपना विशिष्ट व्यक्तित्व बनाए रखती है।

माथुरजी का मानवता और उसके उज्ज्वल भविष्य में गहरा विश्वास है। वे आधुनिक युग-जीवन के विघटन की अपेक्षा विघटित तत्त्वों में नयी संतुलन भूमि की खोज और अनास्था, नैराश्य एवं अवसाद की जगह आस्था, आशा एवं विश्वास को अधिक महत्त्व देते हैं। वे आज के अधिकांश नये कवियों की आत्मग्लानि एवं आत्म-वक्तृत्व (स्टेटमेंट) देने की प्रवृत्ति के घोर विरोधी हैं। वे मानते हैं कि नयी कविता में इस प्रकार के वक्तव्यों, यथा; "मैं लाश हूँ', 'कुत्ता हूँ', 'गलितांग हूँ', वमन हूँ, जारज हूँ, फेंका हुआ भ्रूण हूँ, शहीद हूँ, खण्डित हूँ, ओ रे, ओ पिता, हे पूर्वज, दर्द,

१. देखिए—डॉ० देवीशंकर अवस्थी—'श्री गिरिजाकुमार के काव्य का बोध और भाषा उतनी आधुनिक नहीं है जितने की हम माँग करते हैं। (कल्पना, फरवरी, '६३ पृ० ५)

दर्द दर्द, आदि की पुष्कलता रही है।'' उनका निश्चित मत है कि "पहले तो स्टेटमेंट कविता नहीं हो सकता। फिर यदि स्टेटमेण्ट यह हो कि मैं खण्डित हूँ, भग्न हूँ, लाश हूँ; तो उसका उत्तर यह होगा, ठीक हैं होंगे आप अपने को जो चाहे समझें, दुनिया को उससे क्या लेना-देना है। प्रश्न यह नहीं है कि आप वास्तव में किस परिस्थिति में पड़कर क्या हो गए हैं, बल्कि यह है कि उस परिस्थिति के प्रति आपकी क्या प्रतिक्रिया है; दुनिया को आप वहाँ से क्या देना चाहते हैं ? परिस्थिति की तीखी चोटों से आपको क्या अनुभूति हुई तथा व्यापक जीवन और मानवीयता के लिए आपका दाय क्या है ?''[२] माथुरजी का निश्छल आत्माभिव्यक्ति में विश्वास है जो अनुभूति के स्तर पर भोगे हुए सत्य को ही अभिव्यक्त करती है, किसी आरोपित या उधार लिए हुए वस्तु-सत्य को नहीं।

गिरिजाकुमारजी को नयी कविता के निर्माता कवियों में से एक माना जा सकता है। नयी कविता के आद्यः प्रवर्तक अज्ञेयजी के शब्दों में—"अब जिसे नयी कविता कहा जाने लगा है उसके रूप और मुहावरे के विकास में उनका (गिरिजाकुमारजी का) निश्चित रूप से महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।''[३] नयी कविता को माथुरजी का यह योगदान शिल्प एवं वस्तु दोनों ही क्षेत्रों में रहा है।

नयी कविता के शिल्प-पक्ष को समृद्ध करने में जितना योगदान गिरिजाकुमार का है उतना किसी भी नये कवि का नहीं है। नयी कविता के शिल्प-निर्माताओं में उनका स्थान सर्वोपरि है। भाषा, छन्द, बिम्बयोजना, प्रतीक योजना, नवीन अप्रस्तुत विधान, रंग-योजना आदि सभी क्षेत्रों में उनकी देन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने अनेकविध प्रयोगों द्वारा नयी कविता की भाषा का संस्कार किया। नवीन शब्दावली का निर्माण किया, पुराने शब्दों को नयी भंगिमा दी, नये वैज्ञानिक प्रतीकों की योजना की—और इस प्रकार कविता की भाषा को आधुनिक भावबोध की अभिव्यक्ति के योग्य बनाया। स्वर-ध्वनियों के प्रयोग से काव्य-भाषा को एक सहज आन्तरिक संगीतात्मकता प्रदान की। उसे छायावादी लाक्षणिकता और संश्लेषण के कुहासे से मुक्त कर मोती के पानी जैसे स्वच्छ एवं सहज सौन्दर्य से मण्डित किया। भाषा के 'रियलिज़्म' जैसी चीज़ नयी कविता को सर्वप्रथम माथुरजी ने ही दी। काव्य-भाषा को लोकजीवन की भाषा के निकट लाने का ऐसा सफल प्रयास और किसी भी नये कवि में दृष्टिगोचर नहीं होता।

उनके आन्तरिक लय-सम्पन्न गीत एवं मुक्त छन्द के नवीन प्रयोग तो नयी कविता के शिल्प की स्थायी निधि हैं। उन जैसा समर्थ गीतिकार एवं कुशल छन्द-प्रयोक्ता नये कविमों में दूसरा नहीं है। "गीत की विधा को छायावादी और उत्तर छायावादी सीमाओं से नयी कविता की भूमिका तक सफलतापूर्वक ले आने का दुष्कर

---

१. रामस्वरूप चतुर्वेदी—'परन्तु नयी कविता उनसे कुछ आगे बढ़ गई है।' (नवलेखन पृ० ५५)

२. नयी कविता अंक ५-६ पृ० ४४-४६।

३. आज का भारतीय साहित्य पृ० ३९३।

कार्य गिरिजाकुमार माथुर ही कर सके हैं।"[1] यह अज्ञेय जैसे समर्थ कवियों से भी संभव नहीं हो सका। भावी नये कवियों के निर्देशनार्थ मुक्त छन्द का एक सम्पूर्ण मौलिक विधान उन्होंने स्वयं रचा है। सवैये के विरामों पर स्थित एक नये प्रकार का संगीतमय मुक्त छन्द नयी कविता को दिया है जो छन्दगत् प्रयोगों के क्षेत्र में नयी कविता के शिल्पविधान की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

वस्तु की दृष्टि से भी माथुरजी का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने छायावादी रोमांटिक चेतना को प्रगतिवाद की सामाजिक यथार्थ-चेतना से सम्पृक्त करने का प्रयास किया है और इस प्रकार रंग, रस, रोमान और सामाजिक यथार्थ के समन्वय पर आधृत एक नया भावबोध विकसित किया है। आधुनिक युग, जीवन के घोर संघर्षमय वातावरण में अस्थायी राग-चेतना को बनाए रखने के लिए इस प्रकार के समन्वित भावबोध की अतिशय आवश्यकता थी। इसके माध्यम से उन्होंने नयी कविता को एक स्वस्थ एवं अतिवाद मुक्त जीवन-दृष्टि प्रदान की। उसे अपने पूर्ववर्ती काव्य की अपेक्षा अधिक संतुलित एवं विकसित भावभूमि पर प्रतिष्ठित किया। यहाँ उन्होंने छायावादी अशरीरी वासना और दायवी प्रेम के स्थान पर भौतिक प्रेम की प्रतिष्ठा की। वैयक्तिक प्रेम की निरावृत्त एवं सहज अभिव्यक्ति को महत्त्व दिया जिसमें न तो कोई परिधान है, न कुण्ठा और न कोई अप्रस्तुत पक्ष ही। सब कुछ स्पष्ट और निष्कपट है। सामाजिक यथार्थ-चेतना को भी उन्होंने नये रूप में प्रस्तुत किया। प्रगतिवादी काव्य-दृष्टि ने तो शोषित वर्ग को बौद्धिक सहानुभूति और स्तरीय सवेदनाएँ प्रदान करने और उसके भविष्य के प्रति शुभाकांक्षा व्यक्त करने को ही अपने कर्तव्य की इतिश्री मान ली थी। पर माथुरजी ने सामाजिक चेतना के इससे कहीं अधिक गहरे स्तर की माँग की। उन्होंने काव्य की इस सामाजिक चेतना को मार्क्सवाद के लाल फीते के बन्धनों से मुक्त कर उसे एक व्यापक अर्थ से संयुक्त किया। व्यक्ति चेतना और सामाजिक चेतना के संतुलित समन्वय पर आधृत एक नई मानवतावादी संस्कृति को काव्य के धरातल पर उतारने का प्रयास किया।

सामाजिक अनुभूति के अनुभव के क्षेत्र की व्यापकता माथुरजी की सामाजिक चेतना की महत्त्वपूर्ण विशेषता रही है। उनकी सामाजिक दृष्टि व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की सीमाओं को पार कर अन्तर्राष्ट्रीय भूमि पर पहुँची है। उन्होंने सम्पूर्ण मानवता को एक समंजस, अविभाज्य इकाई के रूप में देखा है। उनकी दृष्टि में समस्त विश्व अंगी है। उसके किसी भी अंग की कोई विकृति या दुख-दर्द उनकी सहानुभूति का विषय है। उन्होंने समस्त विश्व को अखण्ड रूप में देखा है और उसकी आत्मा को अभिव्यक्ति दी है। 'एशिया का जागरण', 'अदन पर बमवर्षा', 'हब्सदेश' 'नई भारती', 'पहिए', आदि अपनी अनेक कविताओं में गिरिजाकुमारजी ने अन्याय, अत्याचार एवं दमन के विरुद्ध संघर्ष करती हुई मानवता के सुख-दुःख, आशा एवं उल्लास को वाणी दी है। इन कविताओं में मानव-मूल्यों के प्रति उनकी दायित्व-चेतना स्पष्ट रूप में उभरकर सामने आई है। स्वातन्त्र्य-मूल्य में विश्वास और

१. डॉ० जगदीश गुप्त, वार्षिकी पृ० ८१।

सामान्य जन की मुक्ति के आग्रह के स्वर इन रचनाओं में पूरी शक्ति एवं दृढ़ता के साथ फूटे हैं—मानवता की शक्ति, सामर्थ्य एवं अनवरत गतिशीलता में अटल विश्वास ध्वनित हुआ है—

'शति व्यर्थ गई, उपलब्धिहीन साधना रही
मन में लेकिन संध्या की लाली बाकी है।
इस लाली का मैं तिलक करूँ हर माथे पर
दूँ उन सबको जो पीड़ित हैं मेरे समान
दुख, दर्द अभाव भोगकर भी जो झुके नहीं
जो अन्यायों से रहे जूझते वक्ष तान।
जो सजा भोगते रहे सदा सच कहने की
जो प्रभुता पद आतंकों से नत हुए नहीं,
जो विफल रहे पर कृपा न माँगी घिघियाकर
जो किसी मूल्य पर भी शरणागत हुए नहीं।[1]

विषय-वस्तु के क्षेत्र माथुरजी की दूसरी महत्त्वपूर्ण देन नागरी चेतना (Urban Sensibility) है। उन्होंने नयी कविता के माध्यम से पहली बार आधुनिक नागरीय जीवन को उसकी सम्पूर्ण विशेषताओं के साथ कविता में उतारने का प्रयास किया है। शहरों के सामान्य जीवन के नानाविध चित्र उनकी कविताओं में रूपायित हुए हैं। जिनके माध्यम से आधुनिक भारतीय जीवन का एक विशिष्ट चित्र समग्रता से उभरकर सामने आया है। सामाजिक यथार्थ का यह नया प्रयोग नयी कविता की एक विशिष्ट उपलब्धि है।

काव्यवस्तु के क्षेत्र में नयी कविता को माथुरजी की तीसरी महत्त्वपूर्ण देन विज्ञान-चेतना का सूत्रपात है। अपनी पृथ्वीकल्प (नाट्य काव्य), कालदृष्टि आदि रचनाओं के माध्यम से माथुरजी ने अणुयुग की वैज्ञानिक चेतना को काव्यात्मक अभिव्यक्ति देकर आगामी विज्ञान-काव्य की सम्भावनाओं के नूतन आयाम खोल दिए हैं। इन रचनाओं के द्वारा निश्चित रूप से कविता के क्षेत्र में एक अछूते क्षेत्र का उद्घाटन हुआ है। यहाँ मानव को उसकी वैज्ञानिक उपलब्धियों के परिप्रेक्ष्य में रूपायित किया गया है। विज्ञान के अमूर्त मूल्यों के आधार पर और उन्हीं के माध्यम से उसके (मानव के) हृदय में सहज रूप से उद्भासित अनुभूतियों की व्यंजना की गई है। हमारी दृष्टि में काव्य के क्षेत्र में यह पहला क्रान्तिकारी प्रयास है जिसने बिना किसी अतिबौद्धिक परिणति के वैज्ञानिक युग को हृदय के स्तर पर प्रेषणीय सिद्ध कर दिखाया है। इसने यह सिद्ध कर दिया है कि किस प्रकार वैज्ञानिक नियम और सिद्धान्त संवेदना और भावना के संयोग से काव्य की धरोहर बन सकते हैं, कैसे वैज्ञानिक चिन्तन पर आधारित अनुभूतियों और विचारों को काव्यात्मक परिणति प्राप्त हो सकती है।

निस्सन्देह माथुर का यह प्रयोग नयी कविता ही नहीं काव्यमात्र में एक

१. शिलापंख चमकीले—पृ० ८०।

साहसिक प्रयोग है, जिसने काव्यवस्तु के क्षेत्र में सम्भावनाओं के नये क्षितिज खोले हैं। यह नयी कविता की विशिष्टतम मौलिक उपलब्धि है। जिसने हिन्दी-काव्य को आधुनिक अन्तरिक्ष युग के वैज्ञानिक चेतनासम्मत नवीनतम भावबोध से संयुक्त कर दिया है।

उपर्युक्त विशिष्टताओं के आधार पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि नयी कविता के आधुनिकतम स्वरूप के निर्माण में गिरिजाकुमार माथुर का योगदान अन्यतम है। नयी कविता को कविता बनाए रखने का प्रयास करने वाले कवियों में वे मूर्द्धन्य स्थान के अधिकारी हैं।

डॉ० नरेन्द्रदेव वर्मा

मुक्तिबोध का आलोचना-दर्शन

श्री गजानन माधव मुक्तिबोध एक आधुनिक कवि के रूप में प्रसिद्ध हैं। उनका काव्य कविता की प्रचलित धारा से कुछ अलग-सा प्रतीत होता है। इसका कारण यह है कि वे प्रयोगवादी या तथाकथित नये कवियों के समान कविताएँ नहीं लिखते। उनकी काव्य-सृष्टि अपेक्षाकृत अधिक जागरूक और संयमित है। आधुनिक हिन्दी कविता के क्षेत्र में मुक्तिबोध के समान भावप्रशमन की चेष्टा और संवेदनात्मक प्रतिक्रियाओं को विवेक के द्वारा समायोजित करने का कार्य बहुत कम हुआ। वे अन्यान्य कवियों के समान मानसिक उद्वेलन की भँवर में पड़कर निस्सहाय हो जाते और अपनी निगूढ़ मानसिक ग्रन्थियों के उन्मोचन के लिए व्याकुल नहीं होते। वे एक अन्वेषी की दृष्टि से मानसिक संघात के गति-चित्रों को देखते हैं और उनकी प्रत्येक भंगिमा को अनेकानेक प्रतीकों के द्वारा विशिष्ट आकार प्रदान करते हैं। इसीलिए आधुनिक हिन्दी कविता के क्षेत्र में मुक्तिबोध का एक विशिष्ट स्थान है।

उनके इस अपूर्व काव्यगत संयम और धैर्य का रहस्य क्या है? वह है उनका दर्शन और कविता के सम्बन्ध में उनकी मौलिक धारणा। वे कविता को कुण्ठा की मुक्ति या व्यक्तित्व के पलायन का साधन नहीं मानते। उनका विचार है कि कविता एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है। मुक्तिबोध कविता को वैयक्तिक प्रयास का प्रतिफल नहीं समझते अपितु उसे समूह-मन का उच्छलन मानते हैं। उनका कथन है कि "काव्यरचना केवल व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया नहीं वह एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है, और फिर भी वह एक आत्मिक प्रयास है। उसमें जो सांस्कृतिक मूल्य परिलक्षित होते हैं वे व्यक्ति की अपनी देन नहीं, समाज की या वर्ग की देन है।

आलोचना के क्षेत्र में मुक्तिबोध को नव्य प्रगतिवादी समीक्षक कहा जा सकता है। जो साहित्यिक चिन्तना मार्क्स और एंजिल्स के साहित्य-विषयक विचारों को आधार के रूप में ग्रहण कर प्रवाहित हुई है उसके अनेक स्तरों और आयामों का

विकास भी यथासमय हुआ है। समय के साथ ही अनेक प्रगतिवादी चिन्तकों ने साहित्य की आर्थिक-सामाजिक व्याख्या के साथ अन्य दृष्टियों का समावेश भी किया है। आधुनिक काल में प्रगतिवादी साहित्य-चिन्तन की दो धाराएँ स्पष्टतः परिलक्षित होती हैं। प्रगतिवादी आलोचकों का एक वर्ग विशुद्ध आर्थिक और सामाजिक आधार पर साहित्य-समीक्षा का आग्रह करता है। इस प्रकार के समीक्षकों की चिन्तनाओं को असाहित्यिक कहना कोई अर्थ नहीं रखता। इस समीक्षा का एक बड़ा लाभ यह है कि यह हमें साहित्य को युगजीवन के साथ सम्पृक्त कर देखने का अभ्यस्त बनाता है और हम इसके माध्यम से सामाजिक उन्नयन के सूत्रों को टटोलना सीखते हैं। यह सच है कि सामाजिकता का अनुशीलन करते-करते साहित्य की मौलिकता की ओर दृष्टि नहीं जा पाती और साहित्य के सूक्ष्मतर सौन्दर्य-संवेदनों का आकलन नहीं हो पाता। इसी कमी को पूरा करने के लिए एक नई शैली की अवतारणा के प्रयत्न प्रगतिवादी चिन्तकों के द्वारा किये जा रहे हैं। आधुनिक हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत प्रगतिवादी आलोचना एक नये उन्मेष से सम्पृक्त दिखाई देती है। यह समीक्षा-शैली साहित्य के आर्थिक और सामाजिक सन्दर्भों की व्याख्या करना ही पर्याप्त नहीं समझती प्रत्युत् साहित्य के सृजनमूलक और मनोवैज्ञानिक तथ्यों का आकलन करना भी आवश्यक मानती है। साहित्य-विवेचन की इस नई शैली को नव्य प्रगतिवादी समीक्षा कहा जा सकता है।

मुक्तिबोध का आलोचना-साहित्य प्रगतिवादी समीक्षा के इसी नये उन्मेष की सूचना देता है। प्रगतिवादी आलोचना के क्षेत्र में मुक्तिबोध का सबसे बड़ा प्रदेय यह है कि उन्होंने प्रगतिवादी साहित्यालोचन की वैज्ञानिक पद्धति में मनोविश्लेषणात्मक सूक्ष्मता का आनयन किया है। मुक्तिबोध साहित्य की आर्थिक-सामाजिक व्याख्या को आवश्यक समझते हैं और भौतिक जगत् की उन परिस्थितियों का अध्ययन करते हैं जिन्होंने साहित्यकार के जीवन को प्रभावित किया है। किन्तु इसके साथ ही वे साहित्यकार के आन्तरिक जगत् का अनुशीलन भी करते हैं और उसकी उन मानसिक ग्रंथियों, कुण्ठाओं और संक्रान्तिशील मनःस्थिति का विश्लेषण करते हैं जिसकी छाप उनकी कृति में अनेकानेक आवरणों, कलात्मक परिधानों और वाक्य-योजनाओं की तह में दबी हुई है। किन्तु ये ही मुक्तिबोध के समीक्षात्मक प्रयास नहीं हैं। इसके अतिरिक्त वे एक अन्य गहनतर तत्त्व का आकलन करते हैं। वे साहित्यकार की चेतना का भी सम्यक् अवलोकन करते हैं जो बाह्य और आन्तरिक जगत् को एक साथ भोगती है तथा जो कला का मूल उत्स है। मुक्तिबोध का दूसरा प्रदेय यह है कि वे शताब्दियों से रहस्यमय, दैवी और अप्राकृत कहकर नकारे जाने वाले कला-उत्स के वैज्ञानिक विश्लेषण का आग्रह करते हैं।

मुक्तिबोध के साहित्य-चिन्तन के तीन स्तर हैं। पहले स्तर पर वे काव्य और साहित्य की सैद्धान्तिक चर्चा करते हैं। यह स्तर उनके दार्शनिक वर्चस्व से निर्मित हुआ है। यहाँ मुक्तिबोध एक तत्त्व-चिन्तक की तरह काव्य के उपादानों की विवेचना करते हैं। उनका यह प्रयास साहित्यिक की अपेक्षा अधिक दार्शनिक प्रतीत होता है।

दूसरे स्तर पर वे समीक्षा की परम्परागत मान्यताओं की परीक्षा करते हुए समीक्षा-सूत्रों का एक नया संयोजन उपस्थित करते हैं। इसी भूमिका पर वे प्रचलित प्रगतिवादी समीक्षा के प्रति अपनी प्रतिक्रियाएँ प्रस्तुत करते हैं, उसकी न्यूनताओं की ओर अंगुलि-निर्देश करते हैं और प्रगतिवाद का एक नया आलोचना-सिद्धान्त बनाते हैं। तीसरा स्तर उनकी व्यावहारिक समीक्षा से निर्मित हुआ है। यहाँ मुक्तिबोध का साहित्य-चिन्तन अधिक भव्य और साहसिक हो गया है। इस स्तर पर वे साहित्य के सैद्धान्तिक एवं क्रियात्मक अनुशीलन से उपलब्ध सूत्रों के आधार पर साहित्यकार के बाह्य एवं आभ्यन्तरिक जीवन की परीक्षा करते हैं। भौतिक जगत् की सामाजिक और आर्थिक शक्तियों का उल्लेख करते हुए वे कृति में प्रतिच्छायित स्रष्टा की कुण्ठाओं, प्रेरणाओं, ग्रन्थियों एवं मनोवैज्ञानिक सन्दर्भों का उद्घाटन करते हैं। इसके साथ ही वे इसी त्रिगुणी पद्धति के आधार पर नई काव्य-प्रवृत्ति की विशद विवेचना करते हैं।

यह पूछा जा सकता है कि क्या इस प्रकार की आलोचना-पद्धति स्वयं में पूर्ण और समग्र है? क्या साहित्य की आर्थिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक व्याख्या ही पर्याप्त है? क्या इनके अतिरिक्त साहित्य के किसी पक्ष का विश्लेषण-विवेचन आवश्यक नहीं होता? ये बड़े महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं। अकसर यह कहा जाता है कि साहित्य केवल आर्थिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक शक्तियों का ही प्रतिफल नहीं है। उसके निर्माण में मनुष्य की सौन्दर्यात्मक अनुभूति का भी विशेष स्थान होता है। साहित्यकार के सौन्दर्य-बोध की भित्ति पर कलाकृति के भवन का निर्माण होता है। सामाजिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक शक्तियाँ कलाकृति के सृजन का उपादान कारण हो सकती हैं। पर वे कला का मूल कारण नहीं हैं और केवल बाह्य उपादानों को ही साहित्य-जिज्ञासा का केन्द्र मान लिया जाए तो ऐसी जिज्ञासा समग्रगत नहीं कही जा सकती और तज्जन्य निष्कर्षों की मूलवत्ता के समक्ष प्रश्नचिह्न लग जाता है। कला का मूल हेतु साहित्यकार का सौन्दर्य-बोध है। जब कलाकार अपने सौन्दर्य-बोध को शब्दों और वाक्यों में रूपायित करने का प्रयत्न करता है तब बाह्य और आन्तरिक जगत् की क्रिया-प्रतिक्रियाएँ उसे एक विशिष्ट स्वरूप प्रदान करती हैं।

मुक्तिबोध सौन्दर्यवादी आलोचक नहीं हैं। कला के सौन्दर्यमूलक उपादानों के प्रति न तो उनकी रुचि है और न उनकी समीक्षा में कलाकृति के सौन्दर्य-संवेदनों को व्यक्त करने के लिए कोई अवकाश ही है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मुक्तिबोध कलाकृति के सौन्दर्य-पक्ष को व्यर्थ समझते हैं। उन्होंने स्वयं लिखा है कि "पाठक का यह आदि कर्तव्य और प्रथम धर्म है कि वह कलात्मक सौन्दर्य को आत्मसात करते हुए कृति के मर्म में प्रवेश करे। कलात्मक सौन्दर्य तो वह सिंहद्वार है जिसमें से गुजरकर ही कृति के मर्म-क्षेत्र में विचरण किया जा सकता है, अन्यथा नहीं।" मुक्तिबोध कलात्मक सौन्दर्य के मूल्य और महत्त्व को समझते हैं किन्तु उसे कला की अन्तर्वर्ती सत्ता नहीं मानते। सौन्दर्य कृति का मर्म नहीं है। वह तो मात्र उसका प्रवेश-द्वार है। कलाकृति की अन्तर्व्यापिनी सत्ता सौन्दर्य नहीं प्रत्युत् जीवन है। इसी मूल

तत्त्व की अभिव्यक्ति करने के लिए कलाकार युगों से प्रयत्न करता आया है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि कलाविवेचकों ने निरन्तर इसकी उपेक्षा करके सौन्दर्य की महिमा का गान किया है। यही कारण है कि जीवन का विवेचन मुक्तिबोध की आलोचना का आदि-सन्धान बन गया है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि जीवन के प्रति मुक्तिबोध का यह आत्यन्तिक अभिनिवेश प्रगतिवादी समीक्षा की जानकारी से विकसित हुआ है।

इसी भूमिका पर मुक्तिबोध प्रभाववादी आलोचकों से अपनी पृथकता प्रकट करते हैं। प्रभाववादी या सौन्दर्यवादी विवेचक कला के अन्य तत्त्वों को ताक में रख-कर उसकी सौन्दर्यानुभूति की खोज करने का प्रयास करता है और सौन्दर्य-भावना के आलोक में समस्त कला की व्याख्या करता है। सौन्दर्यवादी आलोचक यह मानकर चलता है कि कृति का प्रभाव या सौन्दर्य स्वयं अपने मानदण्डों की उत्सर्जना करता है और कृति के स्फूर्त प्रभाव के आलोक में ही वह उसकी विवेचना करता है। मुक्तिबोध प्रभाव पक्ष को अधिक महत्त्व नहीं देते। वे कलात्मक सौन्दर्य के रुपहले परदे को चीरकर कृति के मर्मस्थल को देखना चाहते हैं। वे जानते हैं कि अपने इस साहसिक अभियान में वे कृति पर प्रतिच्छायित जीवन और जगत् के दोहरे प्रभावों का अंकन कर सकते हैं। यही मुक्तिबोध की आलोचना का प्राणकेन्द्र है। उनकी सारी जिज्ञासाएँ उस जीवन और जगत् के चारों ओर घूमती रहती हैं, "जो जीवन-जगत् आभ्यन्तर और बाह्य इन दोनों तत्त्वों से निर्मित है, जो जीवन-जगत् मानव-सम्बन्धों, जीवन-मूल्यों, ज्ञान-दृष्टियों तथा गहन मानसिक प्रतिक्रियाओं का एक संवेदनात्मक समवाय है जो कलाकार के अन्तःकरण में अनेक मिश्र-रूपों में संचित होकर, अभिव्यक्ति क्षणों में प्रोद्भासित हो उठता है, अपने सारे वैभव और समृद्धि के साथ।" यह मक्तिबोध की विचारणा का प्रधान सूत्र है। यह वह सेतु है जहाँ कलाकार को प्रभावित करने वाली भौतिक परिस्थितियाँ कलात्मक मनस् के सागर में आलोड़ित-प्रलोड़ित उर्मियों पर क्रिया-प्रतिक्रिया करती हुई देखी जा सकती हैं। यह वह मिलन-स्थल है जहाँ प्रगतिवाद और मनोविश्लेषण एक-दूसरे से गले मिलते हैं। इसी मान्यता के आधार पर मुक्तिबोध काव्य की रचना-प्रक्रिया जैसे गूढ़ विषयों पर विचार करते हैं। इसी दृष्टि के आलोक में वे हिन्दी-समीक्षा की एकांगिता का परिदर्शन कराते हैं। किन्तु उनका विरोध मात्र विरोध के लिए नहीं होता प्रत्युत् वे एकांगिता का निराकरण करने के लिए सुझाव देते हैं और आलोचना के नये मान-मूल्यों की स्थापना करते हैं। और अन्ततः वे इन अभिनव मान्यताओं की कसौटी पर आधुनिक हिन्दी-कविता को कसते हैं। मुक्तिबोध के साहित्य-चिन्तन और काव्यगत मान्यताओं की दृष्टि से 'एक साहित्यिक की डायरी' उल्लेखनीय है। यहाँ वे अपेक्षाकृत अधिक सहज होकर अपनी काव्य-विषयक धारणाओं का परिचय देते हैं। 'नई कविता का आत्मसंघर्ष और अन्य निबन्ध' उनकी क्रियात्मक आलोचना के सूत्रों का संयोजन है। इस ग्रन्थ में तथाकथित नई कविता की न्यूनताओं के उल्लेख के साथ आधुनिक हिन्दी आलोचना का सिंहाव-लोकन किया गया है। 'कामायनी : एक पुनर्विचार' मुक्तिबोध की व्यावहारिक

समीक्षा का आधार-ग्रन्थ है। मुक्तिबोध एक वैज्ञानिक की तरह अपनी प्राक्कल्पना को यहाँ अनेकानेक स्तरों और सोपानों पर प्रयोगों के द्वारा सिद्ध करने में व्यस्त हैं।

आधुनिक हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में प्रभाववादी या सौन्दर्यवादी आलोचना की बहुलता है। प्रभाववादी समीक्षक की आलोचना-पद्धति बहुत-कुछ अयान्त्रिक और अवैज्ञानिक होती है। सौन्दर्य के प्रति आत्यन्तिक अभिनिवेश रखने के कारण समीक्षक की दृष्टि कृति के अन्य अंगों तक नहीं पहुँच सकती। समीक्षक केवल सौन्दर्य का आस्वादन करता है और कृति के प्रति अपनी प्रगल्भ भावमय प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। आजकल ऐसा माना जाता है कि सौन्दर्यमूलक दृष्टि ही एकमेव साहित्यिक दृष्टि है। प्रभाववादी आलोचक पूर्वनिर्धारित प्रतिमानों के आधार पर कृति का मूल्यांकन नहीं करता, इसलिए इस शैली को पूर्वाग्रहविनिर्मुक्त और तटस्थ कहा जाता है। मुक्तिबोध की आलोचना-पद्धति दूसरे सीमान्त पर स्थित है। वह अपेक्षाकृत अधिक यांत्रिक और वैज्ञानिक है। वे साहित्य में वर्णित कल्पना को निरपेक्ष विश्लेषण और तर्क की कसौटी पर कसते हैं। सौन्दर्य का निरपेक्ष आकलन उन्हें महत्त्वहीन प्रतीत होता है। इस दृष्टि में एक कमी यह हो सकती है कि कलात्मक प्रभाव का पक्ष अछूता छूट जाता है। मुक्तिबोध इस कमी को जानते हैं पर इसके लिए खेद प्रकट नहीं करते। वे इस बात से निश्चिन्त हैं कि सौन्दर्य-आख्यान का कार्य हिन्दी में बड़े धड़ल्ले से हो रहा है और इसकी पुनरावृत्ति अनावश्यक है। वे यह भी जानते हैं कि इस पक्ष के अभाव में उनकी आलोचनाओं का विरोध किया जाएगा और उसे विध्वंसात्मक कहा जाएगा। पर मुक्तिबोध इस विरोध का सामना करने के लिए पूरी तरह से तैयार हैं।

चन्द्रदेव सिंह

भारती का काव्य

भारती के सम्पूर्ण काव्य-व्यक्तित्व को मात्र कुछेक शब्दों के द्वारा परिभाषित कर पाना आसान नहीं। भारती की काव्य-यात्रा नये-नये जीवन-लक्ष्यों, क्षितिजों, अनुभूतियों और वैचारिक भाव-भूमियों से होकर उत्तरोत्तर नई मंज़िलों को छूती, चमत्कृत करती हुई क्रियाशील है।

यदि भारती की सम्पूर्ण काव्य-चिन्तना के बीच से उठते-उभरते हुए व्यक्ति की कल्पना की जाए, तो लगेगा—एक नवयुवक अल्हड़ पर उत्साही; प्रेमी हृदय और संवेदनशील, सौन्दर्यान्वेषी और यह सौन्दर्यान्वेषण दैहिक, मांसल उपभोग की कामना से अभिभूत। मगर वह केवल इन्हीं सीमाओं में बँधकर नहीं रह जाता वरन् युग-युग-जनित स्थितियाँ और उसका आन्तरिक विवेक उसे विभिन्न पथों और मोड़ों पर खड़ा करते हैं। वह आज भी क्रियाशील और सचेष्ट है। इसीलिए उसके सम्बन्ध में

अन्तिम रूप से यद्यपि कुछ नहीं कहा जा सकता, पर उसकी अब तक की गतिविधियों, आकांक्षाओं और उपलब्धियों को देखा-परखा जा सकता है अवश्य ।

कभी तो वह किन्हीं फिरोजी होंठों पर जिन्दगी के बर्बाद होने की सूचना देता है तो कभी अपने संयम की अस्थिरता का दोष किसी स्पर्श के जुल्म पर मढ़ता है। उसकी ये सारी क्रियाएँ, भावनाएँ, आकांक्षाएँ और विकलता पूर्ववर्ती कवियों, विशेषकर बच्चन, भगवतीचरण वर्मा, नरेन्द्र शर्मा और अंचल के युग-विशेष की भावनाओं से इतर नहीं ।

वह मिलन-अवधि में प्रिया के सहज संकोच को भी सहन नहीं कर पाता; अनुरोध करता है—

यह छुईमुई-सा सकुचाना
भयभीत मृगी-सा घबराना
यह नहीं लाज की बेला प्रिय
कुन्जों में छिप-छिप छेड़ रहा
दोशीजा कलियों को फागुन।

—ठण्डा लोहा

किन्तु उसे जब उसके ऐसे मनोभाव स्वयं अपराधी-सा अनुभव करने को बाध्य करते हैं तब वह पाप-पुण्य के विश्लेषण द्वारा अपनी इच्छाओं को मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों को सहारा देने का प्रयत्न करता है—

अगर मैंने किसी के होंठ के पाटल कभी चूमे
अगर मैंने किसी के नैन के बादल कभी चूमे
महज इससे किसी का प्यार मुझको पाप कैसे हो
महज इससे किसी का स्वर्ग मुझको शाप कैसे हो ?

—ठण्डा लोहा

अपनी इसी स्वाभाविक सहजता के साथ वह अपने संयम की अस्थिरता के लिए किसी के स्पर्श को जुलम का कारण मानता है—

तुम्हारे स्पर्श के ही ज़ुल्म से संयम न टिक पाता
किसी गुमनाम टोने में बँधा मैं और अकुलाता

—ठण्डा लोहा

और ऐसे ही स्पर्श के जुल्म का शिकार बन वह बार-बार उसी रसधारा में अपने-आपको बहाते जाने की कामना व्यक्त करता है—

साँसों में उलझा दो अपनी एक अलक बारीक
माथे पर धर हाथ, शर्ट का कालर कर दो ठीक
धीमे-धीमे और तुम्हारी ही गोदी में
आज आखिरी साँस तोड़ दे मेरा भी विश्वास
आज छोड़ सब काम-काज तुम बैठो मेरे पास ।

—ठण्डा लोहा

बच्चन के कवि ने भी कभी ऐसी ही इच्छा व्यक्त की थी—

कल सुधारूँगा हुई संसार में जो भूल
कल उठाऊँगा भुजा अन्याय के प्रतिकूल
आज तो कह दो कि मेरा बन्द शयनागार
सुमुखि ! ये अभिसार के पल चल करें अभिसार।

—बच्चन

और यही तो, ऐसी ही इच्छा कभी नरेन्द्र शर्मा ने भी प्रकट की थी—

प्रिये, अभी मधुराधर चुम्बन
गात-गात गूँथे आलिंगन
सुने अभी अभिलाषी अन्तर
मृदुल उरोजों का मृदु कम्पन।

—नरेन्द्र शर्मा

और आरसी प्रसाद सिंह ने भी—

मत हो लज्जा सरि में निमग्न
कर दे कुछ नीची ग्रन्थि मग्न

और अंचल ने भी तो कुछ क्षण और ठहर जाने का ही अनुरोध किया था, मात्र घड़ी-भर; ताकि प्राण पंछी की फड़फड़ाती आँखें तृप्त हो लें [पता नहीं तृप्ति की सारी कामना आँखों में ही निहित थी ?]

तुम्हारे कण्ठ की मधु बंसरी जलधार-सी चंचल
तुम्हारी चितवनों की छाँह मेरी कामना उज्ज्वल
उलझती फड़फड़ाती प्राण पंछी की तरुण आँखें
ठहर जाओ घड़ी भर और तुमको देख लें आँखें।

लेकिन युवक और आगे बढ़ता है। जीवन के परिवर्तन और सामाजिक मान्यताएँ उसे भी तो प्रभावित करती हैं। अब वह मात्र वैयक्तिक कामनाओं को ही विशेष महत्त्व नहीं देता, वरन् लोक-मर्यादा और सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रश्न उसे भी बार-बार प्रेरित करने लगता है—

प्रीति हो सब कुछ नहीं है
लोक की मरजाद है सबसे बड़ी।

—ठण्डा लोहा

यही लोक-मर्यादा उसे कच्ची साँसों के इसरार को अनसुनी करने पर बाध्य करती है; 'मुग्धा' का सौन्दर्य अब उसे पूर्वापेक्षा कम आकर्षित कर पाता है। 'और भी ग़म हैं ज़माने में मुहब्बत के सिवा' कुछ ऐसी ही अनुभूति उसे भी होती है—

यह काम काज दफ्तर फ़ाइल उचटा-सा जी
भत्ता, वेतन
ये सब सच हैं
इनमें से रत्ती-भर न किसी से कोई कम

अंधी गलियों में पथभ्रष्टों के ग़लत क़दम
या चाँदी की छाया में भर-भर आने वाली आँखें नम
बच्चों की-सी दूधिया हँसी
या मन की लहरों पर उतराते हुए कफ़न।
ये सब सच हैं।

—ठण्डा लोहा

और यहीं से वह अपने-आपसे बाहर निकलकर एक निश्चित लक्ष्य की ओर बढ़ने का प्रयास करता लक्षित होता है। यहीं याद आते हैं 'ठण्डा लोहा' संकलन के कुछ वाक्य …मेरे विकास और परिपक्वता के साथ उनके स्वर भी बदलते गए हैं। पर आप ज़रा ध्यान से देखेंगे तो सभी में मेरी आवाज़ पहचानी-सी लगेगी।…ये गलियाँ भी थीं जिनसे होकर मैं गुज़र चुका।…(भूमिका भाग) यहाँ पहुँचकर भारती का काव्य-व्यक्ति जन-व्यापी सच्चाई के प्रति अपने-आपको अर्पित कर देने को ही जीवन का लक्ष्य मानते लगता है। पर इस सत्यान्वेषण की दिशा भी स्पष्ट नहीं है। कभी तो वह सामाजिक सत्य को महत्त्वपूर्ण मानता है और कभी वैयक्तिक। कभी-कभी उसे उसका पिछला रूमानी संस्कार भी आकर्षित करता है। वह इन्हीं सारे मानसिक संघर्षों के बीच कभी इस छोर, कभी उस तट पर दिखलाई देता है।

उस दिन होगा फिर यह सिद्ध
वैयक्तिक सीमा में बद्ध
जितना झूठा है यह दुख
उतना ही झूठा है सुख
सुख-दुख इन दोनों के पार—क्या पायेंगे प्रभु !
क्या पायेंगे

कूड़े-से हमको तजकर तट के पास
मन्थर गति से बढ़ जायेगा इतिहास
सामूहिकता भी केवल
साबित होगी जिस दिन छल
अपनी वैयक्तिकता हार—क्या पाएँगे प्रभु !

अपने इन्हीं प्रश्नों का समाधान वह विभिन्न पौराणिक-ऐतिहासिक पात्रों-प्रतीकों के माध्यम से प्राप्त करना चाहता है। इसीलिए वह कभी 'प्रमथ्यु गाथा' को दोहराता है तो कभी 'युयुत्सु' की मानसिक क्लिष्टता का सहारा लेता है। दोनों सत्य का आश्रय लेते हैं; सामूहिक विकास के आकांक्षी हैं। प्रमथ्यु अन्धकार में भटकती सृष्टि के लिए स्वर्ग से अग्नि चुराकर लाता है। परन्तु वह जिनके लिए प्रकाश की व्यवस्था करता है वे सब प्रमथ्यु की पीड़ा से प्रसन्न हैं। उसका दुख उनके लिए मात्र तमाशा है, करिश्मा है। प्रमथ्यु को बँधा हुआ तथा उसके हृदय-पिण्ड को गिद्ध द्वारा नोंच-नोंचकर खाता देखकर जनसाधारण की घोषणा है—

यह जो हम अब भी खड़े हैं
प्रमथ्यु के आसपास
इसलिए नहीं कि हम उसके अनुगामी हैं !
हम हैं तमाशबीन
देख रहे हैं कैसे जकड़ा हुआ है शिलाओं से
कैसे वह कन्धे पर बैठा हुआ गिद्ध
नोच-नोच खाता है उसका हृदय-पिण्ड ।

× × ×

यह है करिश्मा और
हम सब करिश्मों के प्यासे हैं
चाहता अगर तो हममें से हरएक व्यक्ति
अपने ही साहस से प्रमथ्यु हो सकता था
लेकिन हम डरते थे
ज्योति चाहते थे
पर दण्ड भोगने से हम डरते थे

× × ×

हम खुद क्यों लें कोई भी निर्णय ?

—सात गीत वर्ष

समूह के लिए वैयक्तिक उत्सर्ग के परिणाम की वेदना से अभिभूत प्रमथ्यु जनसाधारण की स्थिति से दुखी नहीं होता; वरन् उस दिन की आशा में सारी पीड़ा झेलता जाता है कि कभी तो इस जनसाधारण में आत्मविश्वास और आत्मशक्ति का उदय होगा। वह कहता है—

कटु मैं नहीं हूँ
घृणा किससे करूँगा मैं ।
ये जो जन हैं, साधारण जन हैं
इनमें से एक-एक के अन्दर
मूर्छित प्रमथ्यु कहीं बन्दी है
अवसर जिसे मिला नहीं साहस कर पाने का ।
कोई तो ऐसा दिन होगा
जब मेरे ये पीड़ा सिक्त स्वर
इनके मन को बेध मूर्छित प्रमथ्यु को जगायेंगे
उस दिन
हाँ, उस दिन
अकेला मैं रहूँगा नहीं ।

—सात गीत वर्ष [प्रमथ्यु गाथा]

'प्रमथ्यु' की भाँति ही 'युयुत्सु' भी सत्य और धर्म का ही आश्रय लेता है।

महाभारत युद्ध में वह अपने सौ भाइयों और माता-पिता तथा सारी कौरव सेना को त्यागकर पाण्डवों का पक्ष लेता है। उन्हीं की ओर से युद्ध भी करता है। पर युद्ध की समाप्ति पर न तो पाण्डवों से ही उसे यथोचित महत्त्व मिलता है और न प्रजा से ही। एक ओर अपने भाइयों का वधिक और दूसरी ओर पाण्डवों की ओर से उपेक्षा पाकर युयुत्सु प्रत्येक क्षण इन्हीं मानसिक उद्वेलनों से आक्रान्त, दुखी और क्षुब्ध दीखता है। उसके अन्तर की कल्पना कितनी भयावह है—

मेरा अपराध सिर्फ इतना है
सत्य पर रहा मैं दृढ़
पर—अन्तिम परिणति में दोनों जर्जर करते हैं
पक्ष चाहे सत्य का हो
अथवा असत्य का।

—अन्धा युग

और सत्य की भी चरम परिणति आस्थाहीनता तथा अविश्वास में ही तो होती है। विदुर अन्त में इसी निष्कर्ष पर तो पहुँचते हैं—

सब के सब जैसे
उतर आये हैं अपनी धुरी से आज
एक-एक कर सारे पहिये हैं उतर गए जिससे
वह बिलकुल निकम्मी धुरी, तुम हो
क्या तुम हो प्रभु ?

—अन्धा युग

धुरीहीनता की यही स्थिति सत्य के पक्षधर के लिए भी आस्थाहीनता का हेतु बनती है। सत्य की चरम परिणति भी तो अविश्वास और अनास्था में होती है। 'युयुत्सु' ने भी सत्य का ही पक्ष लिया था पर परिणाम के रूप में मिली उपेक्षा, प्रताड़ना और घृणा। इसी से अट्टहास करता हुआ वह कहता है—

आस्था नामक यह घिसा हुआ सिक्का
अब मिला अश्वत्थामा को
जिसे नकली और खोटा समझकर मैं
कूड़े पर फेंक चुका हूँ वर्षों पहले

युयुत्सु की यही आस्थाहीनता उसे कृष्ण के सारे योग-कर्म के बावजूद उनके प्रति निम्न विचार प्रकट करने को ही बाध्य करती है—

लेकिन मैं कहता हूँ
वंचक था, कायर था, शक्तिहीन था वह
बचा नहीं पाया परीक्षित को या मुझको
चला गया अपने लोक।

—अन्धा युग

युयुत्सु की यह अभिव्यक्ति अन्धा युग की विशेषता है, यानी ऐसे युग की जब

क्या, क्यों और कैसे के प्रश्नवाचक चिह्न जीवन के प्रत्येक कार्य और परिणाम के आगे लगे हों। 'अन्धा युग' महाभारत की अन्तिम रात्रि की ही कथा-व्यथा नहीं; वह तो आज का भी इतिहास है। आज की वर्तमान विश्वस्थिति भी तो कुछ इतर नहीं। 'प्रमथ्यु' क्या पौराणिक कथा-चरित्र मात्र है? क्या आज के 'प्रमथ्यु' की पीड़ा भी मात्र करिश्मा नहीं? कवि ने इन पात्रों के माध्यम से कुछ ऐसे ही प्रश्नों को उभारने का प्रयत्न किया है ताकि आज का व्यक्ति आधुनिक जीवन-जगत् की यथार्थ स्थिति का यथोचित विश्लेषण कर सके।

सत्य और धर्माचरण का परिणाम आस्थाहीनता, उपेक्षा फिर···फिर तो कवि को मात्र अन्त:प्रेरणा और आत्म-विवेक ही आश्रय-आधार-स्वरूप दिखलाई देते हैं।

'कनुप्रिया' भी कनु से बार-बार अन्तर्प्रेरणा की ही दुहाई देती है। आधुनिक जीवन और बाध से परिचित राधा एक आधुनिका की ही भाँति हर प्रकार से अपनी मन:स्थिति का प्रकाशन करती है। उसे आश्वासन, वायदे, कर्म, स्वधर्म अर्थहीन शब्द मात्र लगते हैं। शब्द जैसे अपने पारम्परिक अर्थ से च्युत हो चुके हैं। और यह राधा का पागलपन नहीं; 'जनूने इश्क' नहीं, बल्कि स्वानुभूति का यथार्थ प्रकाशन है।

एक बार विलायत के एक प्रेम-प्रसंग की चर्चा करते हुए डॉ० बच्चन ने बताया था। प्रेमी प्रेमिका से अनगिनत वायदे करता रहा, विवाह करने की संकल्प-इच्छा का बार-बार उद्घोष करता रहा। यदि विवाह सम्भव न हो पाया तो मृत्यु का आलिंगन ही एकमात्र आधार होगा—ऐसे अनेक वायदे प्रेमी ने दोहराये। पर आगे चलकर जब उसने किसी और से शादी कर ली तो प्रेमिका ने केवल एक वाक्य-भर कहा—I have lost my faith in English language—अंग्रेज़ी भाषा में मेरी आस्था नहीं रही। यानी जिस भाषा में इतना अधिक झूठ बोला जा सकता है, उसमें क्या आस्था और आज तो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में ऐसी ही आस्थाहीनता व्याप्त है। परम्परागत मूल्य अर्थहीन हो चले हैं। मान्यताएँ; वैयक्तिक-सामाजिक खोखली हो चुकी हैं। संकल्पों, आश्वासनों, विश्वासों का कोई रूप नहीं। सब कहीं एक अजीब स्थिति। न तो कोई किसी से सच बोलता है और न सच सुनना चाहता है। आधुनिकता का यह वर्तमान युग प्राचीन मूल्यों के विघटन और नवीन मूल्यों के स्थापन का है। भारती के कवि ने भी इसे जाना और परखा है। अन्तर्प्रेरणा और आत्मविवेक की स्थापना कवि के ऐसे ही अनुभवों का परिणाम है।

राधा भी कृष्ण के द्वारा अभिव्यक्त शब्दों को मात्र थोथे शब्द-भर स्वीकारती है—

कर्म, स्वधर्म, निर्णय, दायित्व
शब्द, शब्द, शब्द
मेरे लिए नितान्त अर्थहीन हैं
मैं इन सबके परे अपलक तुम्हें देख रही हूँ —कनुप्रिया

इस प्रकार मोटे तौर पर भारती के सम्पूर्ण काव्य को तीन खानों में बाँटा जा सकता है—

(अ) छायावादोत्तर व्यक्तिवादी काव्यधारा के प्रमुख कवियों बच्चन, नरेन्द्र शर्मा इत्यादि जैसी वैयक्तिक प्रणय-भावना से युक्त विरह-मिलन की अभिव्यक्ति;

(ब) युग और बाह्य जीवन से प्रेरित रचनाएँ, जैसे निराला, सुभाष इत्यादि के प्रति लिखी कविताएँ और 'अन्धा युग' के कतिपय अंश;

(स) नये मानव-मूल्यों और नई जीवन-स्थिति-स्थापना का प्रयत्न; पौराणिक पात्रों-प्रतीकों के माध्यम द्वारा।

भारती की इन नवीन स्थापनाओं के पक्ष और विपक्ष में पिछले दिनों काफ़ी कुछ कहा गया है, कहा जा सकता है। उनके मानवतावाद वाले सिद्धान्त को लेकर भी कुछ प्रतिबद्ध खेमों से काफ़ी बौछारें हुई हैं। मैंने मात्र उनके काव्य का एक सहज लेखा-भर प्रस्तुत किया है। साथ ही मैं इतना और कहना चाहूँगा कि मुझे भारती का स्वर असामाजिक कहीं नहीं लगा। उनका वैयक्तिक विवेक काफ़ी अस्पष्ट और धुँधला-सा प्रतीत होता है, किन्तु एक बात उनमें प्रारम्भ से अन्त तक दीखी··· वैयक्तिक मुक्ति के द्वारा दूसरों की मुक्ति की कामना और यह मुक्ति भी दायित्व-पूर्ण हो। 'मानव मूल्य और साहित्य' में अज्ञेय की पंक्तियों को उद्धृत करते हुए भारती ने इसी व्यक्ति-मुक्ति और दायित्व की चर्चा की है—

दर्द सबको माँजता है
और जिन्हें वह माँजता है उन्हें वह सीख
देता है
कि सबको मुक्त रखें —पृष्ठ १७९

प्रमथ्यु भी यही सोचता है, युयुत्सु भी प्रकारान्तर से इसी विचार की पुष्टि करता है। 'कनुप्रिया' सारी वैयक्तिक सुखाभिलाषा के बावजूद 'कनु' के विचारों की पुष्टि करने का प्रयास करती है—

और जब तुमने कहा था—'माथे पर पल्ला डाल लो'
तो क्या तुम चिता रहे थे
कि अपने इसी निजत्व को, अपने आन्तरिक अर्थ को
मैं सदा मर्यादित रखूँ;
रसमय और पवित्र रखूँ
नव वधू की भाँति

—कनुप्रिया

और यहीं याद आती हैं 'ठण्डा लोहा' की पंक्तियाँ—

प्रीति ही सब कुछ नहीं है
लोक की मरजाद है सबसे बड़ी।

भारती वैयक्तिक मुक्ति में भी लोक-मर्यादा तथा लोक-दायित्व को भूल नहीं पाते और सम्भवतः कवि की यही सबसे बड़ी विशेपता उसे दूसरे समकालीन कवियों की अपेक्षा विशिष्ट और प्रतिष्ठा का पात्र सिद्ध करने में पूर्णरूपेण सक्षम है।

विजेन्द्र नारायण सिंह

उपन्यासकार फणीश्वरनाथ 'रेणु'

फणीश्वरनाथ 'रेणु' उस स्वान्त्र्योत्तर भारतीय ग्रामीण जीवन के कथाकार हैं जहाँ 'भारतमाता और भी ज़ार-बेजार रो रही है।' यों, यही समस्या प्रेमचन्द को भी भारतीय इतिहास की सदियों की ट्रेजडी से विरासत में मिली थी। उन्होंने अपने प्रारम्भिक आदर्शवाद के केंचुल को उतारकर अपने अन्तिम दिनों में इसी ट्रेजडी को सम्पूर्णता और विराटता में 'गोदान' के द्वारा अत्यंत ही सशक्त ढंग से अभिव्यक्त किया था। इसीलिए उच्छ्वसित राष्ट्रीयता और आदर्शवाद के रोमांटिक युग में भी प्रेमचन्द ने भारतमाता का 'सुजलां, सुफलां, शस्यश्यामलां' विज़न (Vision) नहीं देखा। 'रेणु' भी प्रेमचन्द की ही तरह रूमानी नहीं हैं। किन्तु वे प्रेमचन्द से भिन्न इस बात में हैं कि उन्होंने टूटे हुए भारतीय ग्रामीण जीवन के आभ्यन्तरिक संगीत को पकड़ा है और टूटे हुए गाँवों और टूटे हुए लोगों की टूटी हुई जिन्दगी में वे एक अज्ञात किन्तु अनवरत, अप्रतिहत, प्रवहमान लय की खोज कर सके हैं। चतुर्मुखी ह्रास से टूटकर भी ये गाँव मर क्यों नहीं गए हैं, इसे 'रेणु' के उपन्यासों से समझा जा सकता है।

बदलता हुआ ग्रामीण अर्थशास्त्र और जीवन

प्रेमचन्द ने सामंती व्यवस्था की सदियों पुरानी चक्की के नीचे दबकर भारतीय गाँवों का तार-तार बिखरते देखा था और उसी की करुणा की एक-एक बूंद निचोड़कर उन्होंने 'गोदान' की ट्रेजडी का निर्माण किया था। उनके उपन्यासों में भारतीय जीवन का यह चित्र उभरने लग गया था कि किस प्रकार सामंती व्यवस्था के उड़ते-टूटते पुर्जों का स्थान नया पूँजीवाद लेता जा रहा है। 'रेणु' के उपन्यासों की शुरुआत वहाँ से होती है, जहाँ से प्रेमचन्द के उपन्यासों का अंत होता है। 'रेणु' उस बिन्दु से खड़े होकर देख रहे हैं जहाँ से सारा भारतीय जीवन बेमानी लगता है। यह भारतीय जीवन एक अर्थहीन 'जुलूस' है। "यह जुलूस कहाँ जा रहा है, ये लोग कौन हैं, कहाँ जा रहे हैं, क्या चाहते हैं···। इस महाकोलाहल में अपने मुँह से निकला हुआ नारा मुझे नहीं सुनाई पड़ता। चारों ओर एक बवण्डर मँडरा रहा है, धूल का।"[1] बदलते हुए अर्थशास्त्र ने जीवन-मूल्यों को बदल दिया है। 'रेणु' इन्हीं बदलते हुए जीवन-मूल्यों के कथाकार हैं। वे उस बदलते हुए भारतीय ग्रामीण जीवन के कथाकार हैं जो 'शस्यश्यामला धरती की लाश'[2] है और जिस पर '···तालेवर के हल आस्मान में चलते हैं।'[3] जयरामसिंह थकी और उखड़ी हुई भाषा में पवित्रा से कहता है—"हाँ, मालिक की खेती की बात पूछती हैं तो खेती अच्छी है। और खेती अच्छी हो या खराब, मालिक को इससे क्या ? एक मिल अररिया कोट में भी चलायेंगे। अब खेती में क्या

१. जुलूस, पृ० ५ (भूमिका)।
२. वही, पृ० १७८।
३. वही, पृ० १७९।

है ? 'बिचनेस' और 'मिल' चलानेवाले के हल आस्मान में चलते हैं।" यही बदलता हुआ अर्थशास्त्र है जिसने भारतीय ग्रामीण जीवन में मूल्यों का संकट उपस्थित कर दिया है। रेणु ने अपने उपन्यासों में इसी उखड़े हुए समाज के उखड़े हुए लोगों की कथा लिखी है। एक जगह वे लिखते हैं—"चारों ओर धान और पाट के खेत हरे-भरे। लछमी खेतों में सजी-धजी खड़ी है धानी रंग की साड़ी पहनकर। मन्द-मन्द हासिनी। खेतिहर किसानों के बैठे-बैठे मलार गाने के दिन हैं ? खेतों में लछमी हँसती है, घर में लछमी हँसती है।...लेकिन जब तालेवर गोढ़ी का मिल चलने लगता है तो लछमी के चेहरे पर एक आंतक की छाया छा जाती है। हँसी बिला जाती है। गीत रुक जाता है।" यही भारतमाता का मैला आँचल है, जिसका महाकाव्य रेणु ने लिखा है। उनके सभी उपन्यास इसी महाकाव्य के अलग-अलग सर्ग हैं। इन सभी सर्गों में भारतीय ग्रामीण जीवन का जो चित्र उभरता है वह बड़ा ही सजीव है। रेणु ने इन चित्रों को उभारने के लिए रेखा और रंग दोनों का प्रयोग किया है। हम मानते हैं कि रेखाएँ कम तो नहीं हैं, किन्तु रंग कहीं-कहीं अधिक पड़ गए हैं। किन्तु ये तो सतत विकसनशील शिल्प के निर्माण की अनिवार्य प्रक्रियाएँ हैं।

उपन्यास महाकाव्य के रूप में

महाकाव्यों का स्थान अब उपन्यासों ने ले लिया है। महाकाव्य 'जातीय संस्कृति के किसी महाप्रवाह' को चित्रित करने के लिए लिखे जाते थे। उनका विषय पूरा समाज हीं होता है, किन्तु उपन्यास का विषय है व्यक्ति। यह समाज के विरुद्ध, प्रकृति के विरुद्ध, व्यक्ति के संघर्ष की कहानी है। यह केवल उसी समाज-व्यवस्था में विकसित हो सकता है, जिसमें व्यक्ति और समाज के बीच का संतुलन नष्ट हो चुका हो और जिसमें मानव का अपने समाज अथवा प्रकृति के विरुद्ध संघर्ष छिड़ा हो। 'मैला आँचल' और 'परती : परिकथा' का परिवेश यही है। इन दोनों उपन्यासों में व्यक्ति का संघर्ष समाज और प्रकृति दोनों से है। गरीबी और ज़हालत से समाज का संतुलन बिगड़ गया है। मानवीय मूल्यों का बेहद ह्रास हुआ है। डॉ० प्रशान्त और जित्तन दोनों समाज और प्रकृति से संघर्ष कर रहे हैं। मलेरिया और परती प्रकृति हैं। 'गोदान' और 'कफन' तक आते-आते प्रेमचन्द के समाज का संतुलन इतना बिगड़ गया है कि व्यक्ति इस युद्ध में पछाड़ खाकर गिर पड़ता है। यही 'गोदान' की महाकाव्यात्मक ट्रेजडी है। प्रेमचन्द ने उपन्यास की शैली में भारतीय जीवन का महाकाव्य लिखा, रेणु ने महाकाव्व की शैली में भारतीय जीवन का उपन्यास ही लिखा है—समाज और प्रकृति के विरुद्ध मनुष्य के संघर्ष की कहानी।

रेणु की यह महाकाव्यात्मक शैली क्या है ? भाषा उन्होंने गाँवों से हू-बहू उठा ली। देशज शब्दों की मिठास को उन्होंने ठीक-ठीक पहचाना है। ये देशज शब्द केवल भाषा की आधारशिला ही नहीं हैं, उनका काम झरोखे और मेहराब भी बनाना है। उन्होंने लोक-जीवन की भाषा उठाकर हिन्दी के अभिजात किन्तु मृतवत औपन्यासिक गद्य को नयी ताजगी प्रदान की। भाषा के क्षेत्र में उनका योगदान उससे

ज्यादा है, जितना कि लोग सामान्यतया समझते हैं। अज्ञेय और जैनेन्द्र की अभिजात और गढ़ी गई भाषा की तुलना में उसकी ताजगी हमें छूती है। रेणु के उपन्यासकार की शक्ति यहाँ देखने लायक है। भाषा की ताजगी के कारण अश्लील गालियाँ भी ब-खूबी बच गई हैं। लोकभाषा में अश्लीलता को वहन करने का जो सहज गुण होता है, वह परिनिष्ठित भाषा में अप्राप्य है। परिनिष्ठित भाषा जब समकालीन लोकभाषा के सम्पर्क में आती है तब उसमें नई ऊष्मा और प्राणवत्ता का संचार होता है। इस प्रकार रेणु ने भाषा के क्षेत्र में एक ऐतिहासिक दायित्व को पूरा किया।[1] हिन्दी-उपन्यास जो अज्ञेय, जैनेन्द्र और इलाचन्द्र जोशी की मृत और बनावटी भाषा से अवांछनीय रूप से प्रभावित हो रहा था, उसके लिए रेणु नियामत बनकर आए। भाषा जब जातीय संस्कृति का अपरिहार्य अंश बन जाती है, तब लेखक अनुवाद-शक्य नहीं रह जाता है। जिस प्रकार तुलसी, सूर या विद्यापति को अनुवादों के द्वारा ठीक-ठीक नहीं समझा जा सकता है, उसी प्रकार रेणु भी कदाचित अनुवाद-शक्य नहीं हैं। प्रत्येक प्रतिभाशाली साहित्यकार की तरह वे भी अपनी भाषा और संस्कृति से इस प्रकार सम्बद्ध हैं कि अनुवादों में पहुँचकर वे बेमानी हो जाएँगे। यों, रूसी और रूमानियन भाषाओं में वे अनूदित हो चुके हैं; किन्तु इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता।

केवल भाषा ही नहीं, बल्कि उपन्यास के तत्त्व भी रेणु ने गाँवोंसे ही उठा लिये हैं। उन्हीं की लोककथाओं, लोकगीतों, उन्हीं के पशुओं और पक्षियों की बोलियों और उन्हीं के पात्रों को लेकर उन्होंने अपने उस शिल्प का ईजाद किया जो शत-प्रतिशत उनका अपना ही है।[2] कोशीमैया और दुलारीदाय की कथा तथा सुन्नरिनैका और दंता राकस की लोककथाओं के साथ भारतीय ग्रामीण जीवन की युगीन ट्रेजडी को उन्होंने इतनी कलात्मकता के साथ गूँथ दिया कि उनका शिल्प महाकाव्यात्मक हो उठा है। लोकगीतों, लोककथाओं और लोकभाषा का उपयोग इन चीज़ों की प्रतिष्ठा के लिए नहीं किया गया है, बल्कि वे रेणु की अनुमति को रूप के धरातल पर उपस्थित करने के वस्तुगत प्रतिरूप (Objective correlative) हैं। लेकिन उसकी आभ्यन्तरिक शक्ति लय है, हालाँकि यह लय उस भारतीय जीवन की है जिसका तार-तार टूटकर बिखर गया है। "मैला आँचल' में करुणा का जितना कवित्व है, उसमें अतिनाटकीय होने के खतरे बहुत थे। किन्तु, रेणु उससे अपने को बेलाग बचा ले गए हैं।

अज्ञेय और जैनेन्द्र ने समूचे कर्म-जगत् को व्यक्ति की चेतना में केन्द्रित कर दिया। इसके कुछ अच्छे भी नतीजे निकले कि हमारी भाषा में कुछ श्रेष्ठ मनोविश्लेषणपरक उपन्यासों का पहली बार प्रणयन हुआ। किन्तु, इसी के परिणामस्वरूप उनके उपन्यास महाकाव्य के गुणों से शून्य हो गए। प्रेमचन्द के लिए यह विभाजन

---

१. यह आकस्मिक बात नहीं है कि 'रेणु' के आविर्भाव के साथ ही एक पीढ़ी ऐसे कथाकारों की तैयार हो गई जिन्होंने आंचलिक भाषा का खुलकर उपयोग किया है। शैलेश मटियानी, विश्वजीत, राजेन्द्र अवस्थी 'तृषित', दिनेशचन्द्र झा, 'प्रवासी', मधुकर गंगाधर उल्लेख्य हैं।

२. आलोचना ३५ (स्वातंत्र्योत्तर विशेषांक: ३) में मधुकर गंगाधर के आक्षेप हमारे विवेचन के क्रम में कोई मानी नहीं रखते हैं।

कल्पनातीत था। यह विभाजन तो उस पूर्णतया विकसित पूँजीवादी समाज की देन है जो पाँचवें दशक तक पूरा विकसित हो गया था और जिसमें व्यक्ति को समाज से पृथक् करने की प्रक्रिया करीब-करीब पूरी हो गई थी। जैनेन्द्र और अज्ञेय के आविर्भाव को विदेशी प्रभाव कहकर उड़ाया नहीं जा सकता है। 'नदी के द्वीप' चेतना के प्रवाह (Stream of consciousness) का पहला हिन्दी उपन्यास है। यह स्वयं भारतीय जीवन की आभ्यन्तरिक विसंगति का साहित्यिक प्रतिफलन है। इस विसंगति का एहसास प्रेमचन्द को अपने अंतिम दिनों में होने लग गया था। इसीसे 'गोदान' और 'कफन' की ट्रेजडी घटित होती है। किन्तु, जैनेन्द्र और अज्ञेय इसी विसंगति की कोख से जनमे हैं। रेणु के उपन्यास समाज और प्रकृति से व्यक्ति के संघर्ष के महाकाव्य हैं जहाँ टूटकर भी व्यक्ति पराजय स्वीकार नहीं करना चाहता है। रेणु की महिमा का मूल स्रोत इसी आस्था में खोजा जाना चाहिए।

'परती : परिकथा' सचमुच एक ऐसा उपन्यास है जो काव्य के स्तर पर पहुँच गया है। यह छटपटाती वेदना की पुकार है। यह एक ऐसी परती की कहानी है जो पिछले कई सौ वर्षों से मनुष्य के सब-कुछ करने वाले हाथों के निर्माण-परक स्पर्श से वंचित रही है। उसकी गोद में ऐसे मनुष्य हैं जो जाहिल और अपाहिज हैं, जिनकी आत्मा में मनुष्यता की कोई सुनहली किरण नहीं पहुँच पाती है जो आदमी के साथ आदमियत नहीं बरतते। मनुष्य और मनुष्य के बीच प्रेम का भी कोई सम्बन्ध होता है, इसका उन्हें पता नहीं है। 'मैला आँचल' और 'परती-परिकथा' मानव-वेदना की ऐसी चीत्कार है जो साहित्य के इतिहास में बार-बार नहीं सुनी जाती है।

परती की खोज

'मैला आँचल' और 'परती : परिकथा' वस्तुतः दो उपन्यास नहीं हैं बल्कि वे एक ही उपन्यास के दो परिवर्त-से लगते हैं। दोनों को जोड़ने वाली कड़ी है 'परती'। यह 'परती' 'मैला आँचल' में ही है जो 'परती : परिकथा' का मुख्य प्रतिपाद्य बन गई है। रेणु ने समकालीन भारतीय जीवन का जो विज़न देखा है उसीका वस्तुगत प्रतिरूप (Objective correlative) है यह 'परती'। 'मैला आँचल' के दूसरे परिच्छेद में ही लेखक मेरीगंज गाँव का परिचय देते हुए लिखता है—"तड़बन्ना के बाद ही एक बड़ा मैदान है, जो नेपाल की तराई से शुरू होकर गंगाजी के किनारे खत्म हुआ है। लाखों एकड़ जमीन। वंध्या धरती का विशाल अंचल! इसमें दूब भी नहीं पनपती है। बीच-बीच में बालूचर और कहीं-कहीं बेर की झाड़ियाँ।"[1] उसी प्रकार उपन्यास के अंत में जब ममता डॉ० प्रशान्त के साथ मेरीगंज आ रही है, तब लेखक लिखता है—"ममता बाहर की ओर देख रही है—विशाल मैदान। बंध्या धरती! ···यही है वह मशहूर मैदान—नेपाल से शुरू होकर गंगा किनारे तक—वीरान—धूमिल अंचल।··· मैदान की सूखी हुई दूबों में चरवाहों ने आग लगा दी है—पंक्तिबद्ध दीपों जैसी लगती है दूर से।···'तड़बन्ना' के ताड़ों की फुनगी पर डूबते हुए सूरज की लाली क्रमशः मट-

१. मैला आँचल, पृ० ६ (प्र० सं०)।

मैली हो रही है।"[1]

यही परती 'परती : परिकथा' में हू-बहू आई है। 'रेणु' का वर्णन हू-बहू वही है। 'परती : परिकथा' की शुरुआत यहीं से है : "धूसक वीरान, अन्तहीन प्रान्तर। पतिता भूमि, परती ज़मीन, वन्ध्या धरती···। धरती नहीं, धरती की लाश, जिस पर कफ़न की तरह फैली हुई हैं—बालूचरों की पंक्तियाँ। उत्तर नेपाल से शुरू होकर, दक्षिण गंगा तट तक, पूर्णिया ज़िले के नक्शे को दो असम भागों में विभक्त करता हुआ—फैला-फैला यह विशाल भू-भाग। लाखों एकड़ भूमि, जिस पर सिर्फ बरसात में क्षणिक आशा की तरह दूब हरी हो जाती है।"[2] यह 'मैला आँचल' वाली ही परती है—वही उत्तर नेपाल से शुरू होकर, दक्षिण गंगा तट तक, वे ही बालूचर, और दूब भी नहीं पनपती है। और तो और, 'परती : परिकथा' की 'सेमल-बनी' भी वही है जिसकी चर्चा 'मैला आँचल' में यों हुई है : "कमला नदी के उस पार, अधपके रब्बी की फसिल के उस पार—सेमलबाड़ी के जंगल के उस पार आसमान लाल हो गया है।"[3] 'परती : परिकथा' में इसका उल्लेख यों हुआ है—"गाँव के दक्खिन हज़ारों सेमल के पेड़ों का बाग है, सेमल-बनी। फूलों के मौसिम में लाल आसमान को मैंने देखा है—अपलक नेत्रों से, अचरज-भरी निगाहों से। लाल आसमान।"[4] इस प्रकार 'मैला आँचल' और 'परती : परिकथा' दोनों का मूल विज़न (Vision) एक ही है।[5] मृण्मय समाज और संस्कृति का ही वस्तुगत प्रतिरूप है यह 'परती'।

'परती : परिकथा' का वास्तविक नायक (या नायिका ?) स्वयं परती ही है। इस उपन्यास की समग्र शिल्प-योजना में इसी परती की व्यथा अन्तर्धारा की तरह व्याप्त है। उपन्यास का आरम्भ ही इसी परती से होता है—"धूसर, वीरान, अन्तहीन प्रान्तर। पतिता भूमि, परती ज़मीन, वन्ध्या धरती।"[6] और सम्पूर्ण पुस्तक का प्रतिपाद्य 'व्यथा-भरी कथा वन्ध्या धरती की' है और मानवीय प्रयत्न के स्पर्श से उपन्यास के अन्त में—'आसन्न-प्रसवा परती हँसकर करवट लेती है।'[7] अनेक लोककथाओं और लोकगीतों का आश्रय लेकर इसी आसन्नप्रसवा परती की कथा लिखी गई है। पुस्तक के सभी पात्र तो इतिहास की शक्ति की छोटी-बड़ी ऊर्मियाँ हैं, जो परती को गढ़ने में लगे हुए हैं। इतिहास मानवीय प्रयत्न से करवट ले रहा है, उसकी तन्द्रा टूट रही है। 'मैला आँचल' में ममता डॉ० प्रशान्त से कहती है—"कोई रिसर्च कभी असफल नहीं होता है डॉक्टर! ···तुमने कम-से-कम मिट्टी को तो पहचाना है।

---

१. वही, पृ० ४०२ (प्र० सं०)।
२. परती : परिकथा, पृ० १।
३. मैला आँचल, पृ० ३९८ (प्र० सं०)।
४. परती : परिकथा, पृ० १४।
५. रेणु के इस Vision की तुलना इलियट के 'वेस्टलैंड' के विज़न से की जा सकती है।
६. परती : परिकथा, पृ० १।
७. वही, पृ० ५२८।

…मिट्टी और मनुष्य से मुहब्बत ! छोटी बात नहीं ।"[1] यह रिसर्च जित्तन पूरा करता है। डॉ० प्रशान्त और जित्तन मनुष्य ही हैं, इनकी अपनी खामियाँ और खूबियाँ हैं। उन्हें अनुवीक्षण यंत्र-जैसी आँखों से देखने-दिखाने की चेष्टा बचकानापन है।

जो सचमुच महान् लेखक है, उसके राजनीतिक विचार चाहे कुछ भी क्यों न हों—वह वास्तविकता के साथ भयानक तथा क्रान्तिकारी युद्ध में जूझे बिना कभी रह नहीं सकता। उसका लक्ष्य होता है वास्तविकता को बदलना। यही कार्य रेणु ने 'मैला आँचल', 'परती : परिकथा' और 'जुलूस' में किया है। बाहर की परती नहीं, मन की परती मुख्य है। जित्तन सोच रहा है—"बेचारी जनता का क्या दोष ? ऊपर से थोपे हुए सुख को वे क्या समझें ?…मन की परती ज्यों-की-त्यों पड़ी हुई है, वीरान होती जा रही है। लगता है, मन को छूनेवाला मंत्र ही हम भूल गए हैं।"[2] इसी परती को तोड़ना है। इसी परती को तोड़ने के लिए डॉ० प्रशान्त जित्तन के रूप में पुनर्जन्म-सा लेता है। यदि कला का मूल लक्ष्य 'सभी रूपों और मतों को हृदयंगम करनेवाली समझ हासिल' करना है, तो निःसन्देह इसमें रेणु को सफलता मिली है। इन 'सभी रूपों और मतों को हृदयंगम करनेवाली समझ' को रेणु ने 'एलेगरी' (Allegory) का रूप दिया है। रेणु के सभी उपन्यास मूलतः 'एलेगरी' हैं। उनके शिल्प की यह एक ऐसी विशेषता है जिस पर विस्तार से विचार किया जाना चाहिए।

व्यक्तित्व का ध्वंस

महाकाव्य के रूप में रेणु के उपन्यासों की सबसे बड़ी कमी व्यक्तित्व का अभाव है। व्यक्तित्व या चरित्र का पूर्ण विनाश हो गया है। औसत परिस्थितियों में औसत व्यक्तियों को बिठा दिया गया है। इससे उपन्यासों के महाकाव्यात्मक गुणों का विनाश हुआ है, किन्तु इसके कुछ अच्छे नतीजे भी निकले हैं। समष्टि को ही औपन्यासिक पात्रता प्रदान करने का प्रयास किया तो बहुत बार गया है, किन्तु सफलता रूसी उपन्यासकार तॉलसताय और शोलोखोव तथा अमरीकी उपन्यासकार सिंक्लेयर लीविस और जॉन स्टाइनबेक को ही मिली। हिन्दी में इस असाध्य कार्य को प्रेमचन्द और उनसे भी अधिक रेणु ने सिद्ध किया है। श्रेष्ठ आलोचक श्री शिवदानसिंह चौहान के अनुसार, "कुदरत को आईना दिखाते हुए प्रेमचंद ने बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध के व्यापक समूह को 'गोदान' का पात्र और विषय बनाया था, उसी प्रकार 'परती : परिकथा' में बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध के व्यापक जन-समूह को पात्र और विषय बनाया गया है।…हर व्यक्ति, समाज का हर वर्ग, राजनीति का हर दल उसमें अपने आचरण और अपनी वर्तमान भूमिका का सही चित्र देख सकता है।"[3] 'मैला आँचल' और 'परती :परिकथा'—इन दोनों उपन्यासों का नायक निश्चय ही कोई एक व्यक्ति नहीं है। 'मैला आँचल' का नायक 'मेरीगंज' गाँव ही है। यह उपन्यास एक छोटे-से भारतीय

---

१. मैला आँचल, ४०२, (प्र० सं०)।
२. परती : परिकथा, ४९८।
३. आलोचना के मान, पृ० १४।

गाँव के परिदृश्य पर ही विशाल भारतीय ग्रामीण जीवन को अपनी सारी खामियों और खूबियों के साथ उपस्थित करता है। ये सभी पात्र भारतीय ग्रामीण जीवन के किसी-न-किसी पक्ष के प्रतीक हैं। ये प्रतीक हैं निरक्षरता और विमूढ़ता के, ये प्रतीक हैं ग़रीबी और ज़हालत के, अकर्मण्यता और लक्ष्यहीनता के, ईर्ष्या और क्षुद्रता के; ये प्रतीक हैं उस निर्धन जीवन के जिसे ये भोगते हैं। इसलिए इस उपन्यास का नायक कोई पात्र नहीं है—डॉ० प्रशान्त भी नहीं। इसका नायक तो अंततः वह मिट्टी ही है जिससे मुहब्बत कर डॉक्टर का 'रिसर्च' सफल हो सका।

वैज्ञानिक सभ्यता का विधेयात्मक पक्ष

रेणु चिंतक हैं, एक ऐसे चिंतक जो सहज ही अपने चिंतन को कला का रूप दे सकते हैं। रेणु का कोई घिसा-पिटा जीवन-दर्शन नहीं है; हालाँकि यह कहना तो एकदम ग़लत है कि उनके पास जीवन-दर्शन का अभाव है। इस वैज्ञानिक सभ्यता के गुण-दोषों की परीक्षा उन्होंने बहुत बारीकी से की है। उन्होंने इस सभ्यता के केवल नकारात्मक पक्ष को ही नहीं देखा है। आजकल वैज्ञानिकों के काम का यह नकारात्मक पहलू ही उपन्यासकारों को प्रभावित करता है, किन्तु विज्ञान को जीवन की कायापलट करनेवाली एक शक्ति के रूप में, वैज्ञानिक के जीवन और काम के बीच भारी अन्तर्विरोध को, तथा पूँजीवादी समाज द्वारा उनके उपयोग को आज का उपन्यासकार नहीं देखता। 'रेणु' ने कला की इस सामग्री का बहुत अच्छा उपयोग अपने पहले दोनों उपन्यासों में किया है। 'मैला आँचल' के अन्तिम परिच्छेद में डॉक्टर एक 'फैंटेसी' देख रहा है—"लेबोरेटरी!···विशाल प्रयोगशाला। ऊँची चहारदीवारियों में बंद-प्रयोगशाला।···· साम्राज्य-लोभी शासकों की संगीनों के साये में वैज्ञानिकों के दल खोज कर रहे हैं, प्रयोग कर रहे हैं।···गंजी खोपड़ियों पर लाल-हरी रोशनी पड़ रही है;···मारात्मक विध्वंसक और सर्वनाश शक्तियों के सम्मिश्रण से एक ऐसे 'बम' की रचना हो रही है जो सारी पृथ्वी को हवा के रूप में परिणत कर देगा।···ऐटम, 'ब्रेक' कर रहा है। मकड़ी के जाल की तरह··· । चारों ओर एकमत अन्धकार। सब वाष्प! प्रकृति-पुरुष···अंड-पिण्ड···।"[१] किन्तु डॉ० प्रशान्त इस भयावह फैंटेसी में भी निराश नहीं है। वह देखता है—"मिट्टी और मनुष्य के भ्रमचिंतकों की छोटी-सी टोली अँधेरे में टटोल रही है।"[२] अँधेरे में टटोलने के प्रयास की यह सार्थकता 'परती : परिकथा' में सिद्ध होती है। डॉक्टर राय चौधरी बड़ी ही ममता से कहता है—तुमीपार ले।

श्रेष्ठ कथाकार के गुण

जैनेन्द्र, अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी मानव को वास्तविक रूप में नहीं देख सके। उनके पात्र इतिहास के वास्तविक पुरुष और स्त्रियाँ नहीं हैं, बल्कि यों कहना चाहिए कि वे भारतीय उच्च-मध्यमवर्गीय लोग हैं, जिनको उन्होंने अपने ही रंग में

१. मैला आंचल, पृ० ४०७ (प्र० सं०)।
२. वही, पृ० ४०७।

रंगकर पेश किया है। ठीक इसके विपरीत रेणु की कल्पना की उड़ान, काव्य‸ अनुभूतियों को जगाने की क्षमता, अनगिनत घटनाओं को गढ़ने तथा पात्रों में अपनी जनता को अच्छी लगनेवाली मानवीय कमज़ोरियों और गुणों का चित्रण करने के सामर्थ्य ने उनके पाठकों को मुग्ध कर लिया। एक श्रेष्ठ उपन्यासकार के सभी गुण उनमें हैं—वे व्यंग्य के धनी हैं, उनकी कल्पना-शक्ति विलक्षण है, मिट्टी और मनुष्य से उन्हें गहरी मुहब्बत है, अपने पात्रों को वे वास्तविक दुनिया में स्थापित भी कर पाते हैं, अथवा यों कहिए कि वास्तविक दुनिया से अपने पात्रों को वे सीधे उठा लेते हैं और सबसे बढ़कर यह कि अश्लीलता में रस लेने की कला से ये वाक़िफ हैं। पश्चिमी देशों की 'कैथोलिक' नैतिकता के विपरीत इस देश में कभी किसी बड़े साहित्यकार पर अदालत में मुकदमा नहीं चलाया गया। दो-चार मुकदमे वैसे घटिया क़िस्म के लेखकों पर चले, जिनकी साहित्य के इतिहास में कोई हक़ीकत नहीं है। मुकदमे तो कुछ उन्हीं छुटभैयों पर चले, जो जीवन की अश्लीलता नहीं, अश्लील जीवन के ही चित्रण को सब-कुछ समझ बैठे। व्यक्तिवादी धारा के उपन्यासकारों को अश्लीलता तो अच्छी लगती है, पर खुलेआम उसका सामना करने का उनमें नैतिक साहस नहीं है। इन उपन्यासकारों को भय समाज या अदालत से नहीं है, ये अपनी ही कृत्रिम नफासत से परेशान हैं। यही साहस रेणु को है, जिससे उनकी अश्लीलता को महत्ता मिल गई है। विराटता में लघुता के स्पर्श से गरिमा आती है, किन्तु लघुता विराटता से छूटकर क्षुद्रता में रूपान्तरित हो जाती है। साहित्य में अश्लीलता तब आती है जब जीवन की विराट धारा सूख जाती है। रेणु 'दीर्घतपा' में इस विराटता से छूट गए हैं। 'दीर्घतपा' की भूमिका में पंचकन्याओं पर अलग-अलग लिखने की उनकी प्रतिज्ञा भयंकर और घातक भी है। वे एक साथ ही उन पर नहीं लिख सके, यह इस बात का प्रमाण है कि वे अपने कथ्य के अनुकूल औपन्यासिक शिल्प का ईजाद नहीं कर सके। यह उनकी प्रतिभा की सीमा है। 'दीर्घतपा' बहुत ही घटिया किस्म की रचना है। रेणु को या तो अपने शिल्प को पकड़ने का प्रयास करना चाहिए या वे धीरे-धीरे चुक जाएँगे। बेलागुप्त की अन्तिम परिणति बड़ा ही मनोवैज्ञानिक निर्माण है, किन्तु यह उस वास्तविकता से हार जाना है जिसकी कुक्षि से अज्ञेय पैदा हुए हैं।

रेणु इस समस्या से जूझ रहे हैं कि ऐसे समाज को कलात्मक रूप और अभिव्यक्ति कैसे दी जाए, जो उन्हें स्वीकार नहीं है। प्रेमचंद ने इस समस्या का समाधान अन्त में 'गोदान' और 'कफ़न' में यथार्थ के सामने घुटने टेककर किया है, किन्तु यशपाल और रेणु के लिए समझौता करना असम्भव हो गया। वास्तव में 'गोदान', 'झूठा-सच', 'मैला आँचल' और 'परती : परिकथा' भारतीय जीवन की पुंजीभूत वेदना के महाकाव्य ही हैं। रेणु की महिमा इस बात में है कि अपने युग की सतही शराफ़त को भेदकर वे ओट में नहीं चले गए हैं, इसीलिए अपने युग के वीरत्व को वे ठीक-ठीक पहचान सके हैं। उनका वीरत्व इस बात में है कि जिस समाज-व्यवस्था में उनकी पैदाइश हुई है, उसके कमीनेपन को उन्होंने खुली आँखों देखा है और उस कमीनेपन के मुहावरे का ईजाद उन्होंने यों किया है—'तालेवर के हल आसमान में चलते हैं।'

शान्तिप्रिय द्विवेदी

'लोकायतन'

'लोकायतन' कविवर श्री सुमित्रानन्दन पन्तजी का राजकमल से प्रकाशित वृहत् काव्य है। यद्यपि लेखन की दृष्टि से यह कवि की 'ग्राम्या' की तरह लोक-सहज नहीं है, तथापि जीवन की दृष्टि से यह लोकभूमि पर ही आधारित है। इस काव्य के नामकरण में गूढ़ व्यंजना है। 'लोकायत' चारवाक-दर्शन का शब्द है, बौद्ध धर्म में वह निषिद्ध है। किन्तु यह काव्य लोकायत नहीं, लोकायतन है, लोक के आयतन अथवा सृष्टि के विश्व-विस्तार में ही जीवन का उत्कर्ष करता है। इसका ध्येय है सदेह और सजीव मनुष्य का जीवन्त सांस्कृतिक निर्माण। इसी के लिए यह काव्य युग-युग के मूर्च्छित मनुष्य की चेतना अथवा स्वस्थ संवेदना को जगाता है और उसे ही जलाशय में जीवन की तरह लोक के आयतन में अमृत बनाकर प्राणान्वित एवं क्रियान्वित करता है।

अपने समकालीन वैज्ञानिक युग में आकर भी 'लोकायतन' का कवि आर्ष युग का आस्थावान है, अतएव अतीत की दिव्य मान्यताओं को अंगीकार करता है, किन्तु वह इस लोक की उपेक्षा करके स्वर्ग को किसी परलोक में नहीं देखता और न ईश्वर को मनुष्य से भिन्न किसी अलौकिक शक्ति में देखता है, न इन्द्रियों से भिन्न किसी अतीन्द्रिय की कल्पना करता है। कवि कहता है—

निरर्थक स्वर-विहीन संगीत,
इन्द्रियाँ ही ईश्वर की द्वार
स्वर्ग रख सका न जिसको बाँध
धरा पर करता वह अभिसार। (पृ० ३०८)

पृथ्वी पर ही ईश्वर को प्रत्यक्ष करने के लिए कवि ने यह रचनात्मक निर्देश दिया है—

प्रीति-ग्रन्थित हों खण्डित प्राण
जगत जीवन हो सांगिक छन्द। (पृ० २६४)

प्रीति से अखण्ड प्राण एवं सहयोग से सुसंगत लोकजीवन ही तो ईश्वर और स्वर्ग है। कवि इसी सुगठित निर्माण को भविष्य में देख रहा है—

ईश्वर ही जग अब, वही व्यक्ति,
जीवन मन अन्तःसंयोजित!

(पृ० ६५४)

जब सबका जीवन और मन अन्तःसंयोजित हो जाएगा तब ईश्वर ही विश्व और विश्व ही व्यक्ति हो जाएगा, समाज और व्यक्ति में भेद नहीं रह जाएगा। यह मध्ययुग के व्यक्तिवाद और आधुनिक युग के समाजवाद के आगे का अन्तःप्रेरित लोक-निर्माण है।

क्या कवि का वह अभीष्ट रचनात्मक युग स्वप्नमात्र है? कवि कहता है—'यह न काल्पनिक स्वर्ग मनःसर्जित'। जो कवि ईश्वर और स्वर्ग को अलौकिक और पारलौकिक रूप में नहीं देखता वह केवल काल्पनिक द्रष्टा कैसे हो सकता है! उसने तो एक युग के लोकोत्तर आनन्द और सौन्दर्य के प्रतीक स्वर्ग की अप्सरियों को भूतल पर लाकर, पृथ्वी के श्रम में उन्हें अक्षम दिखलाकर कल्पना के कला-विलास को नाटकीय ढंग से हास्यास्पद बना दिया है। सम्पूर्ण काव्य में यही स्वल्प अंश सर्वोत्तम है, इसमें कवि का अभीष्ट सब-कुछ आ जाता है।

कवि जीवन की सूक्ष्म अनुभूतियों की उपेक्षा नहीं करता, किन्तु अपने रचनात्मक दृष्टिकोण में सम्प्रति वह केवल भावुक नहीं, व्यावहारिक भी है। उसके जीवन-दर्शन को लोकात्म, अध्यात्म अथवा देहात्म सूक्ष्म कह सकते हैं। वह जड़ को ही चेतन, चेतन को ही जड़ मानता है, अतएव, सूक्ष्म को रूप और रूप को कर्म में जीवन्त देखना चाहता है। इसी का दृष्टान्त है कवि का यह काव्य-संस्थान 'लोकायतन'।

'लोकायतन, में पन्तजी के 'युगान्त' से लेकर 'स्वर्णकिरण' इत्यादि सभी कृतियों के मनन-चिन्तन का समावेश है इसमें 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' भी एकमेव हो गई है। इसे समझने के लिए पन्तजी के काव्य-संग्रह 'चिदम्बरा' की विस्तृत भूमिका (चरण-चिह्न) से सहायता मिल सकती है और इस काव्य के प्रथम खण्ड के प्रथम सर्ग 'पूर्व-स्मृति' से भी, जिसमें 'आस्था' को रामकथा के पौराणिक रूपक में थोड़े में बड़ी काव्यकुशलता से निरूपित किया गया है। यह सर्ग अपने-आपमें सम्पूर्ण 'लोकायतन भी है और उसका एक संकेत-बिन्दु अथवा भावात्मक भूमिका भी है। कहाँ पौराणिक युग का यह रूपक और कहाँ आधुनिक युग का यह काव्य! किन्तु दोनों युग अविभाज्य हैं। उमा सीता से कहती है—

विश्वचेतना तुम प्रति युग में विकसित,
नये रूप का करने आयी स्वागत

'लोकायतन' में कवि ने उसी विश्वचेतना को गान्धी-युग की सार्वजनिक साधना में साकार किया है। गांधीजी और उनके बाद के युग के वातावरण का इसमें बहुत सजीव चित्रण हुआ है, इस चित्रण में पन्तजी के विश्व-भ्रमण के अनुभवों का भी समावेश है। कवि ने जीवन के सभी क्षेत्रों की प्रवृत्तियों और गतिविधियों को सजग दृष्टि से देखा-परखा है। अपनी सम्पूर्ण उपलब्धियों को उसने एक अक्षय सांस्कृतिक वैभव के रूप में मानवता को प्रदान किया है। यह काव्य हिन्दी ही नहीं, बल्कि विश्व-साहित्य के लिए इस आत्मस्थ भारतीय कवि के सात्विक मनन-चिन्तन का अजस्र दान है।

'लोकायतन' का चित्रपट तो विस्तृत है ही, इसका आकार-प्रकार भी इतना

वृहत् है कि यह महाकाव्य-जैसा जान पड़ता है, किन्तु रूढ़ अर्थ में इसे महाकाव्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसमें कथानक नाममात्र का है। इसे 'कामायनी'-जैसा गीत-काव्य का महाबन्ध भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसमें संगीत की रागात्मकता का अभाव है। यद्यपि छन्दों और प्रसंगों में विविधता है, फिर भी ऐसी एकलयता अथवा एकस्वरता आ गई है कि पाठक को विराम नहीं मिलता, वह ऊब जाता है। यदि कवि अपने 'पल्लव' के विशद काव्य 'परिवर्तन' की तरह 'लोकायतन में भी लय-वैविध्य के लिए छन्दों को रसानुरूप ऋजु-कुंचित कर राग-भंगिमा दे देता तो इसमें बिना कथानक के भी औपन्यासिक रोचकता और नाटकीय वक्रता आ जाती।

'लोकायतन' चिन्तन और चित्रण-प्रधान काव्य है। यदि इसमें रागद्रवण भी होता तो पाठकों को रस-तारल्य मिल जाता। कवि ने यत्र-तत्र 'रे' के प्रयोग से रागोद्रेक करना चाहा है, किन्तु भाषा, वातावरण और कथ्य कुछ ऐसा गद्यमय है कि 'लोकायतन' में 'रे' 'गुंजन' के 'रे' की तरह मार्मिक नहीं हो सका। वह प्रक्षिप्त हो गया है।

'लोकायतन' के आयतन और कवि के जीवन-दर्शन को उसी की दृष्टि से उपस्थित करके भी इन पंक्तियों के लेखक को उससे पर्याप्त सन्तोष नहीं है। यह अन्तश्चेतना का काव्य है, किन्तु अन्तश्चेतना के अनुरूप साधन चैतन्य नहीं हो सके। कथानक, वर्णन, साधन (जैसे सन्तति-निरोध), सब-कुछ बाह्य और अखबारी सतह का हो गया है। इनसे स्वतन्त्र रह जाती है कवि की अन्तश्चेतना। दो खण्डों में संयोजित सभी सर्ग एक ही अन्तश्चेतना के आख्यान-से हैं। उसका तो कोई रूप नहीं, वह तो आन्तरिक अनुभूति की तरह सूक्ष्म, अरूप और अदृश्य संज्ञा है, फिर भी कवि ने अनेक प्रतीकों, रूपकों और उत्प्रेक्षाओं से उसे प्रत्यक्ष कर दिया है। 'पल्लव'-काल की पन्त की कल्पना-शक्ति अब भी 'लोकायतन' में उर्वरा है। 'छाया' और 'चाँदनी' जैसी सूक्ष्म अनुभूतियों को जिस कवि ने 'पल्लव' और 'गुंजन' में सजीव और साकार कर दिया था, उसी कवि ने अन्तश्चेतना को भी प्राणान्वित और रूपायित कर दिया। स्थूल विषयों पर तो बहुत-कुछ लिखा जा सकता है, किन्तु अन्तश्चेतना को आलम्बन बनाकर इतने विपुल पृष्ठों में, इतनी उद्भावनाएँ और कल्पनाएँ पन्त-जैसे महाप्रतिभाशाली कवि से ही सम्भव हो सकी हैं। कल्पना के क्षेत्र में आधुनिक कवियों में पन्त अद्वितीय हैं।

'लोकायतन' में पन्तजी सूक्ष्म को रूप तो दे सके, किन्तु रूप को यथानुरूप कर्म नहीं दे सके। अपने अभीष्ट भावी युग में पहुँचकर जीवन की रचनात्मक दृष्टि से वे कहते हैं—

यान्त्रिक उद्योग अपेक्षित
भारत को, किन्तु समान्तर
गृह-धन्धों की उन्नति से
श्रमरत रहते नारी-नर

(पृ० ६६२)

यद्यपि लोकायतन की स्थापना हिमांचल की ग्राम्यधरा के अंचल में हुई है तथापि वहाँ गृहधन्वों से जीवन का कोई निर्माण नहीं मिलता। 'लोकायतन' के कर्म क्षेत्र के लिए भी यही कहा जा सकता है—

जन छिन्नमूल पादप - से
गाँवों से पुर न समन्वित

(पृ० १६४)

साधन और साध्य में संगीत एवं अन्विति न होने के कारण 'लोकायतन' का कर्म-क्षेत्र भी छिन्न-भिन्न और निर्मूल हो गया है, उसकी कोई रचनात्मक परिणति नहीं हो सकी है। कवि पन्तजी को 'कामायनी' के श्रद्धा-मनु का हिमालय-प्रस्थान कर्म-क्षेत्र से पलायन जान पड़ता है। 'लोकायतन' के आरम्भिक सर्ग में उन्होंने कहा है—

कैसे कह दूँ इड़ा-लुब्ध युग-मनु से
श्रद्धा-संग वह करे मेरु-नग-रोहण,
आत्मबोध की निष्क्रिय समरस स्थिति को
जन-भूपथ पर करना सक्रिय विचरण

(पृ० ७)

किन्तु 'कामायनी' के श्रद्धा-मनु तो उत्तराधिकार में एक सक्रिय रचनात्मक दृष्टान्त छोड़ गए हैं, 'लोकायतन' में पन्तजी अपनी ही कवि-चेतना में सिमटकर रह गए हैं, जैसे 'ग्राम्या' में अपनी 'बौद्धिक सहानुभूति' में। श्रद्धा और मनु तो हिमांचल में वानप्रस्थ हो जाते हैं, किन्तु 'लोकायतन' जिस जीवन-स्रोत को प्रवाहित करने के लिए हिमांचल में स्थित हुआ, उस केन्द्र से वह हिमजल की तरह भूलोक को सिंचित कर कर्म-सुफल नहीं कर सका।

सिद्धान्तों में मतभेद हो सकता है, पन्तजी ने आलोचकों को सिद्धान्तों की दृष्टि से ही उत्तर दिया है, किन्तु मिशनरी प्रवृत्ति के कारण 'लोकायतन' नीरस दर्शन हो गया है, ट्रैक्ट बन गया है।

'लोकायतन' को कवि का अन्तरायण कह सकते हैं। इसमें 'लोक' नहीं, पन्त हैं, यह जीवन-दर्शन और कथानक के रूप में उन्हीं का आत्माभिव्यंजन और मानसिक युग-संचरण है। जैसा भी है, 'लोकायतन' का अपना वैशिष्ट्य है। यह अमृतपुत्र कवि पन्त का शाश्वत और सामयिक प्रतिनिधित्व करता है।

डॉ० त्रिलोकी नारायण 'दीक्षित'

झूठा-सच : यशपाल की नवीन कृति

प्रेमचन्द परिवर्ती उपन्यास साहित्य में यशपाल का श्रेष्ठ स्थान है। उनका योगदान विशिष्ट है और समादर के साथ उल्लेखनीय है। 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही' एवं 'मनुष्य के रूप' उनके बहुपठित एवं बहुचर्चित उपन्यास हैं। इसी परम्परा में उनकी अभिनव औपन्यासिक कृति 'झूठा-सच' पाठकों के समक्ष आई है। यशपाल की प्रस्तुत रचना का मूल्यांकन करने के पूर्व उनकी विचारधारा और जीवन-दर्शन के सम्बन्ध में विचार कर लेना उपयोगी होगा।

यशपाल की विचारधारा मार्क्सवादी अथवा समाजवादी सिद्धान्तों एवं दृष्टिकोण से प्रभावित है। उनके उपन्यास साहित्य का ताना-बाना उपर्युक्त दर्शन से अत्यधिक प्रभावित है। युग की समाजवादी चेतना ने यशपाल के दृष्टिकोण को प्रगतिवादी बनाया। इसीलिए उनकी रचनाओं में समाजवादी यथार्थ-विषयक तत्त्व सम्प्राप्त होते हैं।

'झूठा-सच' में जिस मानव-जीवन एवं समाज की परिस्थितियों का चित्रण किया गया है उसका सम्बन्ध मध्यवर्ग से है। प्रस्तुत उपन्यास का पारायण करने से स्पष्ट हो जाता है कि उसके समस्त पात्र बुद्धिजीवी हैं और उनके व्यक्तित्व पर मार्क्सवादी विचारधारा और सिद्धान्तों का स्वस्थ प्रभाव पड़ा है। इसी मार्क्सवादी विचारधारा के प्रभाव से प्रस्तुत कृति में प्रायः प्रत्येक चरित्र के चित्रण, परिस्थितियों के विवेचन एवं विश्लेषण, जीवन-दर्शन की व्याख्या एवं घटनाओं के उद्घाटन को एक विशिष्ट दिशा की ओर मोड़ दिया है। अन्य उपन्यासों की कथावस्तु के समान ही इस उपन्यास की कथावस्तु में भी राजनीतिक एवं रोमांस का सम्मिश्रण है। राजनीतिक विचारधारा पात्रों की व्यक्तिगत जीवनधारा को प्रभावित करती है। 'झूठा-सच' के पात्रों का चयन मध्य वर्ग से ही हुआ है। ये मध्यवर्गीय पात्र जीवन के प्रत्येक पक्ष में वैयक्तिक संस्कारों से प्रभावित हैं। परन्तु साथ ही वे समाजवाद से पूर्णतया प्रभावित हैं। सामाजिक जीवन में ये पात्र साम्यवादी दर्शन से प्रभावित हैं। प्रस्तुत उपन्यास के पात्रों में एक विशिष्टता है। यशपालजी के उपन्यासों के पात्र प्रायः क्रान्तिकारी दल की आतंकवादी विचारधारा से सम्पन्न रहे हैं। परन्तु प्रस्तुत उपन्यास में ऐसा नहीं है। 'झूठा-सच' के पात्र प्रगतिशील मार्क्सवादी जीवन-दर्शन में विश्वास रखते हैं। दुःख एवं शोषण से मानवता की उन्मुक्ति के हेतु आकांक्षी एवं प्रयत्नशील हैं परन्तु वे न क्रान्तिकारी हैं न आतंकवादी। यशपालजी के अन्य उपन्यासों के पात्रों की भाँति 'झूठा-सच' के पात्र भी अदम्य उत्साही, असामान्य सहनशील, अपने जीवन-दर्शन के परिपालनार्थ जीवन उत्सर्ग कर देने वाले, स्वतन्त्र, निर्भीक तथा परिस्थितियों का सामना करने में पूर्णतया सक्षम हैं। 'झूठा-सच' के नारी-पात्र आद्योपांत पुरुष पात्रों की अपेक्षा अधिक संघर्षरत और आदर्शों की पूर्ति के लिए प्रयत्नशील हैं। ये

नारी-पात्र मानव द्वारा प्रस्तुत की हुई विरोधी परिस्थितियों के स्वरूप में परिवर्तन समुपस्थित करती हैं और सामान्य तथा स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करने के लिए हर प्रकार से उद्योगशील हैं। देश के बटवारे के फलतः जो समस्याएँ, विपत्तियाँ और विषमताएँ समुपस्थित होती हैं, उनका सामना नारी-पात्र विशेष साहस के साथ करती हैं। सामान्य सामाजिक मान्यताओं के प्रति वे विद्रोह में अनुरक्त हैं और पुरुषार्थ में पुरुषों से पीछे नहीं हैं। उनमें हीनता का भाव कहीं भी दृष्टिगत नहीं होता है। 'झूठा-सच' की समस्या प्रमुखरूपेण नारी से सम्बन्धित नहीं है, परन्तु उसकी समस्याओं में नारी-जीवन की विकृति से सम्बन्ध रखने वाले अनेक प्रश्न स्वतः आ जाते हैं। भारतीय नारी का जीवन अत्यन्त अभिशप्त है। आर्थिक रूप से वह आत्मनिर्भर नहीं है, वह भोग-विलास की वस्तु समझी जाती है, वह अशिक्षा के अभिशाप से पीड़ित है, युगों से वह बहुशोषित है, सामाजिक जीवन में वह अत्यन्त पिछड़ी है। समाज में उसका अपना न अस्तित्व है न गौरव। उसे व्यक्तिगत के नाम से नहीं सम्बोधित किया जा सकता है, क्योंकि वह या तो किसी की पुत्री है या पत्नी, वह या तो कुमारी है या श्रीमती। वह तथाकथित शील, मर्यादा और परम्पराओं के बोझ ढोते-ढोते जीवन-लीला समाप्त कर देती है। उपर्युक्त समस्त दोषों एवं प्रवृत्तियों से प्रस्तुत उपन्यास के नारी-पात्र परिपीड़ित हैं। परन्तु वे समाज में पुरुष के समान अधिकार पाने के लिए, आर्थिक रूप से स्वतन्त्र होने के लिए और आत्म-निर्भर होने के लिए प्रयत्नशील हैं। वे परम्परागत मानसिक बन्धनों और झूठी नैतिक धारणाओं को नहीं स्वीकार करती हैं। वह यह सिद्ध करने के लिए उद्यत है कि उसका सामाजिक रूप है, और इसके लिए मूल्य भी चुकाना पड़ता है। यशपालजी का विचार है कि "मनुष्य समाज परम्परागत विचारधाराओं का दास नहीं है, बल्कि वह अपनी विचारधारा का स्रष्टा है।" इस दृष्टि से यशपालजी-सृजित नारी-पात्र विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये नारी-पात्र स्वयं अपने मार्ग का निर्माण करती हैं और जीवन को आर्थिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से सुखमय और शान्तिमय बनाने के लिए प्रयत्नशील हैं।

अपने ग्रन्थ 'देखा, सोचा, समझा' में यशपालजी ने प्रसंगवश लिखा है—"समाज के जीवन में प्रायः घटने वाली घटनाओं को उपन्यास के परीक्षण-पात्र में रखकर यह दिखाना चाहता हूँ कि किस प्रकार घटनाओं से हमारी विचारधारा में परिवर्तन आ जाता है या समाज के नए अनुभव कैसे नई विचारधारा को जन्म देते हैं।" (पृ० १०१) प्रस्तुत कथन से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं। प्रथम यह कि उपन्यासकार नई विचारधारा को जन्म देने के लिए, उसका प्रचार करने के लिए अपनी कृतियों की रचना करता है, तथा द्वितीय यह कि घटनाएँ किस प्रकार हमारी विचारधारा—चिन्तन विचारधारा में परिवर्तन उपस्थित करती हैं। घटनाएँ हमारे जीवन की धारा में किस प्रकार नए मोड़ उपस्थित कर देती हैं। यशपालजी में नई विचारधारा, नयापन तथा घटनाओं के आधार पर जीवन में नए मोड़ देखने-दिखाने की प्रवृत्ति मार्क्सवादी जीवन-दर्शन से प्रभावित होने के कारण है। यशपालजी ने 'झूठा-सच' में घटनाओं का विश्लेषण एवं चरित्रों का अंकन भौतिकवादी दृष्टिकोण से किया है। यह कहना असंगत न होगा

कि 'झूठा-सच' की कथा घटनाओं के आधार पर ही अग्रसर होती है। देश के बटवारे के फलस्वरूप सैकड़ों समस्याएँ उठ खड़ी हुईं और उन समस्याओं के कारण अनेकानेक घटनाएँ घटित हुईं। घटनाओं और समस्याओं के आधार पर उपन्यास की सम्पूर्ण कथा आगे बढ़ती है। घटनाएँ ही मानव-समाज की परिस्थितियों को अनुकूल एवं प्रतिकूल तो बनाती ही हैं, वे मानव-जीवन के रूप-स्वरूप को परिवर्तित कर देती हैं। 'झूठा-सच' में एक भी पात्र नहीं है जो इस कथन या मान्यता का अपवाद हो।

यशपालजी का अनुभव अध्ययन-क्षेत्र बड़ा विस्तृत है। उनकी लेखनी में विशाल एवं निर्बाध जीवन, परिस्थितियों का चित्रण करने की अद्भुत क्षमता है। उनमें सूक्ष्म चित्रण, सूक्ष्म वर्णन की अद्भुत क्षमता है। मानव-जीवन की एक-एक प्रवृत्तियों, भावनाओं और संस्कारजनित प्रतिक्रियाओं का उन्होंने अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन किया है और अपने उपन्यासों की भूमिका में सफलतापूर्वक उतारा है। 'झूठा-सच' में मानव-जीवन के हर्ष-विषाद, सम्पन्नता-निर्धनता, प्रेम-घृणा, सन्तोष-असन्तोष आदि के शतशः सजीव चित्रों को अंकित किया है। उपन्यास में विषाद, दुख, असन्तोष, ग्लानि से अभिशप्त मानव-जीवन के प्रचुर चित्र अंकित किये गए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मानव-जीवन में इसके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। देश के बँटवारे ने मानव-जीवन को अभिशप्त कर डाला। बँटवारे के फलस्वरूप मानव जिन-जिन कठिनाइयों का सामना करता है उनका वर्णन यशपालजी ने बड़ी सूक्ष्मता के साथ किया है। दुर्भाग्य से लड़ता हुआ मानव प्रकृति के प्रकोपों से संघर्ष करने में साहस खो बैठता है। मानव-जीवन की आशा-निराशाओं, द्वन्द्वों और परिस्थिति-जन्य विषमताओं का वर्णन यशपालजी ने बड़ी सफलता से किया है। विभाजन के फलतः परिवारों का छिन्न-भिन्न होना, सन्तानों, बहू-बेटियों का खो जाना, अपहरण या वध हो जाना, शरणार्थी शिविरों में कपड़ा-भोजन, दूध बटने के दृश्य बड़े मार्मिक और प्रभावशाली हैं। घटनाएँ इतनी अधिक हैं कि उन्हें सजीव रखने के लिए बहुत-से पात्रों का आयोजन भी करना आवश्यक हो गया है। उपन्यास की प्रमुख कथा के प्रवाह में प्रासंगिक कथाएँ, गौण पात्र और अनेक लघु घटनाएँ बाधा उपस्थित करती हैं। राज-नीतिक जीवन की असंगतियों, सामाजिक रूढ़ियों, प्रतिभाशाली लेखकों की दुर्दशा और 'तालीम के भी बाज़ार में ब्लैक', धार्मिक संकीर्णताओं, राजकीय कर्मचारियों की कर्त्तव्य-विमुखता आदि का चित्रण उपन्यास में बड़े विस्तार के साथ हुआ है।

'झूठा-सच' में कथाकार ने देश के विभाजन से पूर्व पंजाब प्रदेश की सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक परिस्थितियों का चित्रण किया है। उपन्यास में पंजाबी समाज की मनःस्थिति एवं राजनीतिक आन्दोलनों को कथावस्तु की आधार-भूमि के रूप में लिया गया है। सम्पूर्ण कथा में कथाकार ने यह दिखाने की चेष्टा की है कि मध्यवर्गीय समाज की जीवन-शैली और परिस्थितियों में कैसे परिवर्तन समुपस्थित होते हैं। प्रस्तुत उपन्यास में एक बात और बड़ी कुशलता के साथ व्यक्त की गई है। मध्यवर्गीय समाज में पुरुष हर प्रकार से अपनी स्थिति को स्वतन्त्रता देना चाहता है स्त्री के लिए उसका निषेध करता है। सामाजिक परिस्थिति के समाप्त हो जाने के पश्चात्

दोनों देशों में नरमेध और नारियों के अपमान का जो वर्णन उपन्यास में हुआ है वह प्रत्येक पाठक के हृदय पर आतंक की भावना समुत्पन्न कर देता है। इन समस्त वर्णनों की पृष्ठभूमि में एक बात बारम्बार हमारे मस्तिष्क में गूँज उठती है कि भारतीय नारी कितनी असहाय है। परन्तु अन्ततोगत्वा विजय नारी की ही होती है। उपन्यास के दूसरे भाग में लेखक ने राजनीतिक मतवादों और संघर्षों तथा सम्पूर्ण समाज में परिव्याप्त भ्रष्टाचार, अनाचार और दुराचार का रहस्योद्घाटन किया है। तथाकथित न्यायी नेताओं के अनाचार से जनता अत्यधिक परिपीड़ित और शोषित है। कांग्रेसी नेताओं के बाह्याडम्बरों, अनीति, असत्यप्रियता और बगुलाभगत रूप का चित्रण लेखक ने बड़े रोचक और प्रभावशाली ढंग से किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यशपालजी की सूक्ष्म दृष्टि से समाज और सामाजिकों का कोई भी दोष और अभाव छिप नहीं पाया है।

'झूठा-सच' में जिन समस्याओं को लिया गया है उस दृष्टि से प्रस्तुत उपन्यास अपनी कोटि का सर्वप्रथम और आज तक अकेला उपन्यास है। इस उपन्यास की कथा-वस्तु बड़ी विस्तृत और व्यापक है। विभाजनजनित समाज और जीवन की कोई भी ऐसी समस्या नहीं है जिसका चित्रण इस उपन्यास में नहीं हुआ है। उपन्यास में विवरणों और इतिवृत्यात्मकता का बाहुल्य है।

प्रस्तुत उपन्यास की कथावस्तु का प्रसार लगभग तेरह सौ पृष्ठों में हुआ है, परन्तु पहले खंड के अन्त में पूरे उपन्यास का अवसाद-वेदना और निराशा ड्राइवर के दो वाक्यों में साकार हो उठी है—"मनुष्यों के देश धर्मों के देश बन गए ?" "रब्ब ने जिन्हें एक बनाया था रब्ब के बन्दों ने अपने वहम और जुल्म से उसे दो कर दिया।" इन वाक्यों में सम्पूर्ण उपन्यास का सारांश आ गया है। इन पंक्तियों में समस्त पात्रों की मूक व्यथा साकार हो उठी है।

'झूठा-सच' यथार्थवादी उपन्यास है। इसमें यशपालजी की यथार्थवादी विचार-धारा व्यापक रूप से चित्रित हुई है। प्रस्तुत उपन्यास में घटना-विधान, दृश्य-विधान, पात्र एवं परिस्थितियाँ सभी कुछ अत्यन्त यथार्थ हैं। जीवन और समाज से सम्बन्धित जितनी भी परिस्थितियों का चित्रण किया गया है वे सब यथार्थ हैं। ये यथार्थवादी चित्रण बड़े मार्मिक और सजीव हैं। देश के बँटवारे के फलस्वरूप जो लोमहर्षक वातावरण प्रतिध्वनित हो उठता है वह सजीव और प्रभावशाली इसलिए अधिक है कि उसका आधार यथार्थ है। सम्पूर्ण उपन्यास पढ़ जाने के पश्चात् जान पड़ता है कि समाज में विघटन, विभंग, विच्छेद और विनाश के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। उपन्यास में सामन्ती व्यवस्था के फलस्वरूप जो शोषण और अन्याय एवं विषमता का प्रसार है वह भी बड़े यथार्थ रूप में चित्रित हुआ है।

झूठा-सच की समस्या यथार्थ और जीवन है। इतने बृहदाकार उपन्यास में यशपालजी की पहुँच से मानव-जीवन की कोई महत्त्वपूर्ण और आवश्यक समस्या नहीं छूट पाई है। प्रेम, विवाह, शिक्षा, मरण, राजनीति, बेकारी, नौकरी, सामाजिक बन्धन आदि के आधार पर मानव-जीवन और मानव-समाज के अनेकानेक मर्मस्पर्शी चित्र

अंकित हुए हैं। सम्पूर्ण उपन्यास समस्यामूलक है। उपर्युक्त समस्याओं के आधार पर लेखक ने मानव-जीवन के बहुरंगे तथा विषादग्रस्त चित्रों को अंकित करने की चेष्टा की है। समस्याओं के हल प्रस्तुत करने के लिए, उनका सही-सही मूल्यांकन करने के लिए, उनका सांगोपांग विवेचन करने के लिए यशपाल ने घटनाओं को आकस्मिक मोड़ दिया है। उनका साधारण-से-साधारण तथा बड़े-से-बड़ा पात्र समस्याओं के हल को प्रस्तुत करने के लिए प्रयत्नशील और समर्थ है। 'झूठा-सच' के अधिकतर पात्र सामाजिक चेतना-सम्पन्न हैं और सामाजिक समस्याओं के प्रति जागरूक हैं।

उपन्यास का ताना-बाना सत्य तथा असत्य, 'झूठा-सच' के विवेचन से बना है। समाज की व्यवस्था, परिस्थिति और आधार में क्या झूठ है और क्या सच—इसको यशपाल ने निकट से देखने का प्रयत्न किया है। बहुत-कुछ जो हमें सामाजिक जीवन में विधि या कानून की दृष्टि से सच दृष्टिगत होते हैं वे वास्तव में झूठ हैं और जो झूठ प्रतीत होते हैं वे सच होते हैं। इस झूठ-सच का विवेचन लेखक ने नैयर के मुख से निम्नलिखित शब्दों में कराया है—"घटना तो सच-झूठ नहीं होती। झूठ या सच तो इसे व्यक्त करने की दृष्टि में या उसे सोद्देश्य बनाने में होता है।" इस उपन्यास में झूठा-सच का निर्देशन अनेक रूपों में हुआ है। उदाहरणार्थ तारा का सोमराज की पत्नी होना, कानून की दृष्टि से सत्य है। पर नैतिकता, न्याय की दृष्टि से झूठ है। इसी प्रकार उपन्यास में व्यक्त अनेक घटनाएँ, सामन्ती संस्कार जन-जीवन के प्रवाह को रोकने वाली शक्तियाँ तथा पूँजीवाद के आधार पर विरोधित व्यवस्था झूठ है और मानव की सामाजिक चेतना, सामूहिक जागरण आदि सत्य है।

'झूठा-सच' एक सफल उपन्यास है। इसकी सफलता इसके कौतूहल और रोचकता में सन्निहित है। उपन्यास की कथा पाठकों की चेतना और अनुभूति को जागृत करने में सहयोग देती है। उपन्यास के पात्र जयदेव, तारा, कनक, उर्मिला, सोमराज, हाफ़िज़, असद, कृष्ण नारायण अवस्थी आदि सभी यथार्थ अनुभव के आधार पर सृजित पात्र हैं जो अपने-अपने वर्ग के प्रतीक हैं। ये व्यक्ति होने के बावजूद वर्ग हैं। रूढ़ियों-कुसंस्कारों और आर्थिक दुर्व्यवस्थाओं से ये सब अभिशप्त हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ये समस्त पात्र बड़े रोचक तथा जीवन्त हैं। उपन्यासकार ने उनकी आभ्यंतरिक मनोवृत्तियों पर भी प्रकाश डाला है। यशपालजी के अब तक लिखित उपन्यासों से यह श्रेष्ठ और सफल उपन्यास है।

यशपाल की वर्णन-शक्ति शक्तिशाली और गहरी है। 'मनुष्य के रूप', 'दिव्या' तथा उनकी अन्य कृतियों का अध्ययन करने वाले व्यक्तियों से यह बात छिपी नहीं है। प्रस्तुत उपन्यास में यशपाल ने मानव की पाशविक प्रवृत्ति के फलस्वरूप विकसित और उत्पन्न बीभत्स चित्रण को सफलतापूर्वक चित्रित किया है। लाशों पर मँडराते हुए गिद्ध, भयाकुल परिपीड़ित और शंकालु व्यक्तियों से लदी हुई ट्रेनें, अपमानित नारियों के दृश्य, नब्बू के घर तारा के साथ बलात्कार, शरणार्थी-शिविरों में समाज-सुधारकों की पशुता का प्रदर्शन, विपत्ति के समय में मानव-समाज की मनःस्थिति, गफूर का बन्दीगृह सब-कुछ बड़े सजीव बन पड़े हैं। इनके अतिरिक्त लाहौर के हिन्दू मोहल्लों

में विभाजन के दिनों में जो सनसनी, अशान्ति, अनिश्चितता साकार हो उठी थी, उसका भी चित्रण यहाँ पर लेखक ने बड़ी ही सजीव शैली में किया है। इन समस्त दृश्यों में मानव की मनोप्रवृत्तियों, समाज की बनती-बिगड़ी रूपरेखा आदि के दर्शन होते हैं।

कुल मिलाकर 'झूठा-सच' एक नई जीवन-दृष्टि को प्रस्तुत करता है। देश की एक महान् घटना को लेकर लिखा हुआ यह एक महान् उपन्यास है। जाने कितनी महत्त्वपूर्ण समस्याओं का समाधान इस वृहत् उपन्यास में किया गया है और मानव-जीवन के अनेक प्रश्नों को और भी लेखक ने अपने ढंग से इस उपन्यास में प्रस्तुत किया है। उसके एक-एक वाक्य में सत्य और गूढ़ तथ्य सचमुच चित्रित हुए हैं। यशपाल ने अपने पात्रों के द्वारा अनेक स्मरणीय कथनों को प्रस्तुत किया है। उदाहरण के लिए प्रेम जीवन का यथार्थ व्यवहार है। वह केवल कल्पना और स्मृति में ही सफल नहीं हो सकता। जनता सदा मूक भी नहीं रह सकती। देश का भविष्य नेताओं और मन्त्रियों की मुट्ठी में ही नहीं है, देश की जनता के ही हाथ में है।

डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित

भूले बिसरे चित्र

पचास वर्ष की दीर्घ अवधि की पटभूमि पर लिखा गया श्री भगवतीचरण वर्मा का उपन्यास 'भूले बिसरे चित्र' बहुवर्णी जीवन का मार्मिक चित्र अंकित करता है। कथा-पट पर दिल्ली-दरबार से भी पूर्व की स्थितियों से लेकर इलाहाबाद में नमक-कानून भंग किए जाने तक के अनेक राजनीतिक, सामाजिक तथा पारिवारिक चित्र उभरते हैं और गाँव और शहरों की गलियों से गुज़रते हुए बदले हुए जीवन-मूल्यों और पीढ़ियों के बीच हुए अन्तर को स्पष्ट करते हुए लुप्त हो जाते हैं।

पाँच खण्डों में विभक्त इस उपन्यास का केन्द्रवर्त्ती पुरुष है ज्वालाप्रसाद, किन्तु उससे सम्बद्ध रहकर भी कथा उसके पिता मुंशी शिवलाल से लेकर उसके पौत्र नवल तक की पूरी चार पीढ़ियों की इतिहास-कथा है। मोटे तौर पर सारी कथा एक परिवार—एक ऐसा परिवार जो निम्न स्तर से ऊपर उठा है और जिसने देश की अनेकानेक संघर्षपूर्ण स्थितियों को भोगा और अनुभव किया है—की कथा है। केन्द्रवर्त्ती पुरुष पर ध्यान दें, तो सारी कथा उसके उत्थान और परिस्थितियों में उसके टूट-बिखर जाने की कथा है, उस पुरुष की कथा है, जो परिस्थितियों का दासत्व स्वीकार न करते हुए भी उन्हें सहज-भाव से स्वीकार करता चलता है। प्रत्येक खण्ड में एक नया कथानायक सामने आता है और कथा को विकसित करता हुआ किसी ऐसे बिन्दु पर ले जाकर छोड़ देता है जहाँ से कथा-सूत्र दूसरे नायक के हाथ में पहुँच जाता है और फिर भी किसी-न-किसी घटना-सम्बन्ध से ज्वालाप्रसाद सारी कथा का संयोजक-

सूत्र बना रहता है। कभी-कभी एक खण्ड की कथा उसी खण्ड में समाप्त नहीं होती, अगले खण्ड में कुछ दूर आगे बढ़कर समाप्त होती है। ज्वालाप्रसाद केन्द्र बनकर उपस्थित अवश्य होता है, किन्तु पहले दो खण्डों के पश्चात् उसका अस्तित्व छाया-मात्र-सा रह जाता है। विशेषतः तीसरे और चौथे खण्ड में जहाँ कथा का नायक उनका पुत्र गंगाप्रसाद और उसका सहयोगी ज्वालाप्रसाद का ममेरा भाई ज्ञानप्रकाश प्रधान भूमिका का निर्वाह करता है। गंगाप्रसाद की मृत्यु पुनः ज्वालाप्रसाद को प्रधान पद पर प्रतिष्ठित कर देती है और अन्तिम खण्ड की कथा का प्रमुख पात्र नवल भले ही हो, किन्तु पारिवारिक दायित्व को सँभालनेवाला और जीवन का वास्तविक भोक्ता ज्वालाप्रसाद ही रहता है। पिछले पचास वर्ष जैसे ज्वालाप्रसाद में मूर्तित हो उठते हैं; एक टूटा हुआ व्यक्तित्व, एक हारा हुआ अस्तित्व प्रत्यक्ष हो उठता है।

प्रेमचंद का होरी परिस्थितियों से जूझकर टूटता है और एक गहरी निराशा के वातावरण में 'गोदान' की कथा समाप्त होती है। ज्वालाप्रसाद न होरी के समान जीवन-संघर्ष को भोगता है, न उसके समान टूटता ही है। कारण स्पष्ट है; होरी की कथा आद्यन्त, ऋण-भार से दबे विपन्न व्यक्ति की कथा है और ज्वालाप्रसाद की कथा नायब तहसीलदारी से आरम्भ करनेवाले समर्थ व्यक्ति की कथा है, जिसे परिस्थितियाँ चक्कर देती तो अवश्य हैं, किन्तु वैसी त्रासदायिनी नहीं बनतीं।

'गोदान' की कथा ग्रामीण जीवन को शहरी जीवन से जोड़ती है, परन्तु प्रधानतः ग्राम्य-जीवन की कथा ही बनी रहती है। 'भूले बिसरे चित्र' की कथा मूलतः ग्रामीण या अर्द्ध-ग्रामीण जीवन और उसकी समस्याओं से जुड़ी रहकर भी प्रधानतः और अन्ततः शहरी और राजनीतिक जीवन की कथा है। इस दृष्टि से प्रथम दोनों खण्ड केवल स्वयं एक-दूसरे से ही पृथक् नहीं हैं, बल्कि सम्पूर्ण शेष तीनों खण्डों से भी पृथक् ही हैं। कथा जोड़नेवाले सूत्र तो केवल पात्रों के नाम हैं, जिनके सहारे घटनाएँ घटित होती हैं। निश्चय ही एकसूत्रता का निर्वाह एक कठिन कार्य था, जिसे लेखक ने सफलतापूर्वक निबाहा है।

प्रथम दो खण्डों की कथा में पहले में सक्रियता और दूसरे में स्थिरता पाई जाती है। तीसरे में कथा की स्थिरता बनी रहती है, किन्तु चौथे और पाँचवें खण्ड में घटनाओं में तीव्रता और सघनता के साथ परिवर्तन होता है। अभिप्राय यह कि अन्य खण्डों की अपेक्षा दूसरे-तीसरे खण्ड की कथा अलग-अलग एक-एक परिवार से सम्बद्ध होकर बहुत-कुछ आन्तरिक बन गई है, जबकि अन्य खण्डों की कथा का क्रिया-क्षेत्र समाज का खुला क्षेत्र है। प्रथम दो खण्डों की कथा में केवल कर्मशीलता का निर्वाह है और शेष खण्डों में कर्म बहुत-कुछ बौद्धिकता का आश्रय ग्रहण कर लेता है, संघर्ष वैचारिक-संघर्ष का रूप ग्रहण कर लेता है। पहली कथा में घटनाएँ-ही-घटनाएँ हैं, दूसरी कथा में घटनाओं के पीछे और उनके परिणाम पर विवेक और विचार की छाप है। वस्तुतः पचास वर्ष का अन्तर इस स्थिति के लिए उत्तरदायी है। सामन्तशाही युग से कलयुग की ओर बढ़ती हुई कथा अन्ततः उससे भी आगे सत्याग्रह और स्वातन्त्र्य-युग की राजनीतिक परिणति को स्वीकार करती है, अतः घटनाओं से

वैचारिकता की ओर की यह यात्रा स्वाभाविक ही है।

शायद यह कहना आज कुछ विचित्र लगे कि 'भूले बिसरे चित्र' की कथा पुरुषार्थ-चतुष्टय की कथा है, किन्तु यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि सारी कथा का विकास आर्थिक स्थिति के सन्दर्भ में हुआ है—आर्थिक स्थिति ने ही नए मोड़ लेकर धर्म, काम और मोक्ष (या त्याग-वृत्ति) की विविध भूमियों का उद्‌घाटन किया है। कथा के विस्तार में इसीलिए अनेक सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक पहलू अपना रूप प्रत्यक्ष कराते हैं। मुंशी शिवलाल की पारिवारिक स्थिति, राधेलाल और उनके परिवार की अर्थ-लोलुपता, ज्वालाप्रसाद की पदावनति और प्रभुदयाल या जैदेई से उसका सम्बन्ध, राधाकिशन, संतो और कैलासो, सिद्धेश्वरी, विन्देश्वरी और कामतानाथ, रिपुदमनसिंह, बरजोरसिंह सबकी परिस्थितियों को बनाने-बिगाड़ने वाला है अर्थ; कहीं रिश्वत का रूप धारण करके, कहीं ऊँचे समाज में बैठने का दम्भ लेकर कर्जभार से लद जाने, कहीं विलास-मग्न हो जाने, और कहीं विवाह-सम्बन्ध टूट जाने जैसे अनेक परिणामों का एकमात्र कारण है अर्थ। धर्म यद्यपि अपने साम्प्रदायिक रूप में ही इस उपन्यास में चित्रित हुआ है; बरजोर की ओर से प्रभुदयाल के अपमान का कारण वर्ण-व्यवस्था की श्रेष्ठता-हीनता का दंभ है, कुएँ पर अछूतों के न चढ़ने देने और गंगाप्रसाद द्वारा गेंदालाल के तिरस्कार किए जाने के पीछे भी यही व्यवस्थागत संस्कार काम करता है, हिन्दू-मुस्लिम दंगे इसी साम्प्रदायिकता के कुपरिणाम हैं; तथापि इस बहाने लेखक को सामाजिक धरातल पर नवीन भारत में पनपे विचारों को प्रस्तुत करने और धर्म में साम्प्रदायिक रूप के प्रति पाठक में वितृष्णा जगाने में सहायता मिली है। ज्वालाप्रसाद को दाय-रूप में जो वंशगत संस्कार प्राप्त हुए हैं काम उनमें सर्वाधिक प्रबल है। परस्त्रीगमन जैसे उस कुटुम्ब का जन्मगत संस्कार ही है, गंगाप्रसाद तक की तीन पीढ़ियों में इसी की परिव्याप्ति है, साथ ही राधाकिशन, संतो, कैलासो तथा राजा-रानियों के खानदान केवल काम के पुतले हैं। स्वच्छन्द कामाचार मनुष्य की मौलिक वृत्ति के रूप में ही चित्रित हुआ है, जो समस्त विहित-अविहित कर्म कराता रहता है। अन्ततः नई पीढ़ी, गांधीयुग में चली पीढ़ी; इस सारी परम्परा को तिलाञ्जलि देकर स्वतन्त्र समाज के निर्माण की नींव डालती दिखाई पड़ती है। नारी-स्वातन्त्र्य और विवाह से मुक्ति इसकी चरम परिणति है, जिससे सम्बन्धित मुख्य पात्र हैं नवल और विद्या। सामन्तशाही से पूंजीवाद, कलियुग में व्यतीत होती हुई उपन्यास-कथा, इस प्रकार, राजनीतिक और स्वातंत्र्यसत्तात्मक स्थिति पर आकर समाप्त होती है।

विभिन्न स्थितियों के संगठन के समान ही उपन्यास में एक और प्रकार का संगठन सहज ही लक्षित किया जा सकता है। उसे हम विभिन्न परिवारों का संगठन कहेंगे। कालिदास ने केवल 'रघुवंश' की कथा को काव्यरूप दिया था, किन्तु भगवती-चरण वर्मा ने 'भूले-बिसरे चित्र' में एक-साथ तीन परिवारों की कथा प्रस्तुत की है और बड़े कौशल से तीनों कथाओं को एकसूत्रित किया है। मुख्यकथा शिवलाल और उनकी अगली तीन पीढ़ियों की है जिसका प्रधान पात्र है ज्वालाप्रसाद। सहयोगी कथा

के रूप में प्रथम महत्त्व की कथा है छिनकी और भीखू की, जो केवल दो पीढ़ियों की कथा होते हुए भी ज्वालाप्रसाद की कथा के विकास में जितनी सहायक है उससे कम उसके कमज़ोर पक्षों को, अपनी एकान्तनिष्ठा, सत्यनिष्ठा और त्याग की भावना से, उद्घाटित करने वाली नहीं है। तीसरी कथा प्रभुदयाल, जैदेई और उसके पुत्र लक्ष्मीचन्द की कथा है। तीनों कथाओं का सहज विकास और उनकी परस्पर अन्विति प्रशंसीय है, जिसमें जीवन की अनेक समस्याएँ (रिश्वत, कर्ज, कामाचार, आत्मसम्मान का झूठा दम्भ, टूटते रिश्ते, वर्ण-व्यवस्था, हिन्दू-मुसलिम समस्या, वेश्या-समस्या, राष्ट्रोत्थान, जनान्दोलन, दहेज और तलाक, स्त्री-स्वातंत्र्य और आत्मनिर्भरता आदि) प्रभावशाली ढंग से उभार पाए, और कहीं वातावरण चित्रण के द्वारा, कहीं घटनाओं की आकस्मिकता की नाटकीयतावश, कहीं घटनाओं को रहस्यात्मक सस्पेंसपूर्ण मोड़ देकर, कहीं व्यंग करके, कहीं दंगल और शास्त्रार्थ का आयोजन करके उन्हें शैल्पिक विशिष्टता के साथ प्रस्तुत किया जाए; ऐसी विस्तृत कथा उपस्थित करके वर्माजी ने निःसन्देह विषय और शिल्प को नवीन मोड़ दिया है। न्याय और सत्य, ममता और न्याय, कानून और नैतिकता अथवा न्याय और कानून के बीच उपस्थित होनेवाले द्वन्द्व का विभिन्न परिस्थितियों के माध्यम से दर्शन कराकर जीवन-संघर्ष को आँकने में लेखक सफल हुआ है।

वर्माजी के उपन्यास परिस्थिति और परिवेश को प्रधान स्थान देते हैं, पात्रों की सत्ता उनके प्रवाह में प्रवाहित होने मात्र की है। 'भूले बिसरे चित्र' के पात्र भी उसी साँचे में ढले हुए हैं। उनमें ज्वालाप्रसाद के समान रिश्वत से दूर रहने, न्याय का मार्ग अपनाने और गंगाप्रसाद के समान आत्मसम्मान अथवा राष्ट्रसम्मान के लिए त्यागपत्र दे देने का विद्रोह साँस तो लेता है किन्तु विजयी नहीं हो पाता। पुरुष-पात्रों की अपेक्षा उनके स्त्री-पात्र अधिक सबल, आत्मविश्वासी और एकनिष्ठ दिखाई देते हैं; उच्चवर्गीय पात्रों की अपेक्षा निम्नवर्गीय पात्रों का चरित्र अधिक सन्तुलित और अधिक उज्ज्वल जान पड़ता है। जैदेई की अपेक्षा छिनकी (जो ज्वालाप्रसाद की दूसरी माँ होने का अधिकार प्राप्त कर लेती है), लक्ष्मीचन्द और गंगाप्रसाद की अपेक्षा भीखू अधिक उदात्त और अपने प्रति सम्मान जागृत करने वाले पात्र हैं। काम-तृप्ति की पात्र रहकर भी छिनकी इतनी सेवामयी, आत्मत्यागशील और विवेकशील है कि कुलीन सन्तो हो चाहे कैलासो या जैदेई हो या रानी कहलाने वाली देवी, उसके चरित्र की तुलना में सभी तुच्छ और क्षुद्रतम सिद्ध होती हैं। सन्तो के साथ लेखक की वैसी सहानुभूति नहीं है। दुर्बलताओं की शिकार ऐसी नारियों की कमी हमारे समाज में नहीं है, किन्तु लेखक उसे जिस ऊँचाई से खींचकर नीचे लाता है, वह जैसे एक सहजक्रम की उपेक्षा करना है। उसकी आन्तरिक द्वन्द्वहीनता चरित्र-चित्रण में कुछ प्रभाव का सृजन करती है। ऐसा शायद इसलिए हुआ है कि वर्माजी के चरित्र अपने-आपमें विशिष्ट व्यक्तित्व न होकर एक विशिष्ट वर्ग के प्रतिनिधि और टाइप हैं।

प्रस्तुत उपन्यास में घटना-विन्यास में वर्माजी का जितना कौशल दिखाई पड़ता है और अन्य सन्दर्भों में घटित घटनाएँ भी मुख्य कथा या भावी कथा की समानस्तरीय

बनकर जैसे उनके कथा-शिल्प में सौंदर्य ला देती हैं, वैसे ही उनकी वातावरण, भाव एवं पात्र के अनुकूल भाषा भी उनके उपन्यास की गरिमा बढ़ाने में सहायक होती है। उदाहरणतः, उपन्यास के आरम्भ में ही मैकूलाल महाजन और भूपसिंह की कथा वस्तुतः आगे आनेवाली लाला प्रभुदयाल तथा बरजोरसिंह की कथा की पृष्ठभूमि या संकेत-कथा का उदाहरण बन जाती है। इसी प्रकार उनके इस्तगासे की भाषा और अभिव्यक्ति कचहरी की निश्चित भाषा के अनुकूल होने के साथ ही जालसाज़ शिवलाल के चरित्रोद्घाटन में भी समर्थ है। वर्माजी अवसरानुकूल भाषा का प्रयोग करने में सिद्धहस्त हैं। व्यंग में भाषा की वक्रता, वाक्य-गठन में स्वर की दृढ़ता, गम्भीर स्थिति में सांकेतिकता आदि गुण उनके इस उपन्यास में सर्वत्र प्राप्त होते हैं। सरलता, स्पष्टता और अर्थगौरव के साथ ही नाटकीयता, चुटीले और चटकीलेपन के कारण उनके कथनों में स्वाभाविकता और आकर्षण दोनों का समावेश हुआ है। हिन्दी के साथ अंग्रेजी का मेल नौकरशाही में पले व्यक्तियों का रूप उघारता है तो हिन्दी-उर्दू का मिश्रण हिन्दू-मुसलमान के बीच सहज अभिव्यक्ति का माध्यम बन जाता है और भोजपुरी का प्रयोग निम्नवर्गीय व्यक्तियों के लिए उपयुक्त अभिव्यक्ति का सहारा बन जाता है। जैसे शराब, नाच और खानपान से ठाकुर परिवार का चित्र उभरता है, वैसे ही उनकी आत्माभिमानी प्रवृत्ति उनकी भाषा में झलक आती है।

इस प्रकार, 'भूले बिसरे चित्र' कथ्य और शिल्प, भाषा और अभिव्यंग्य, दोनों में नवीन दृष्टि का उन्मीलन करता है और हिन्दी-कथा-साहित्य में एक महत्त्वपूर्ण कृति के रूप में सम्मान्य सिद्ध होता है।

कृष्णमार कुशर्मा

धूप के धान

'धूप के धान' श्री गिरिजाकुमार माथुर का तृतीय काव्य-संग्रह है। श्री माथुर के स्वयं के काव्य में ही नहीं, यह संग्रह सामयिक काव्य में भी अपना विशिष्ट स्थान रखता है। गिरिजाकुमार माथुर के इस संग्रह से पूर्व दो संग्रह और प्रकाशित हुए हैं, एक 'मंजीर' और दूसरा 'नाश और निर्माण'। 'मंजीर' में कवि के छायावादी संस्कारों से युक्त कविताएँ हैं। 'नाश और निर्माण' में छायावादी संस्कारों के साथ सामाजिक चेतना के दर्शन भी होते हैं। आशा और उल्लास के, आस्था और भविष्य के प्रति विश्वास के, स्वर भी इस संग्रह में मुखरित हुए हैं। इस विचारधारा का परिपक्व रूप 'धूप के धान' में अभिव्यक्त हुआ है। प्रयोगवादी काव्यधारा के ज्ञापक प्रथम 'तार सप्तक' के कवि माथुर, इस काव्यधारा से कुछ अलग-से पड़ते हैं। वह इस अर्थ में कि वे प्रयोग को साधन मानते हैं और वर्तमान सामाजिक यथार्थ को साहसपूर्वक झेलते हुए आस्था से टूटते नहीं। मानवता की स्थापना में विश्वास उन्हें है। उन्होंने 'धूप के धान' के

'निवेदनम्' में मानव-मूल्यों के प्रति अपने विचारों को इस प्रकार व्यक्त किया है—

"आज के विरोधी मतवादों के समन्वय से भयरहित, कष्ट-त्रास-रहित, अर्थ-मुक्त मानवता के एक सर्वांगीण दर्शन की उत्पत्ति होगी जिसमें श्रद्धा, निष्ठा, आस्था, विनय, शील, प्रेम, जीवन-सम्मान, सामाजिक न्याय, अन्तःकरण की नैतिक स्वतन्त्रता प्रतिष्ठित होगी।" (पृ० ११ 'धूप के धान')

प्रयोगवादी काव्यधारा में वास्तविक प्रयोगों के अतिरिक्त तथाकथित प्रयोग भी होने लगे थे। अपनी कमी को विशिष्ट वर्ग की वस्तु कहकर और अपने अज्ञान को नया प्रयोग कहकर गर्व भी किया जाता था। श्री गिरिजाकुमार माथुर प्रयोग की इस स्थिति को स्वीकार नहीं करते। उन्होंने कहा है—

> "अध्ययन या अनुभव की कमी के कारण यदि छन्दों में भूलें हैं तो उन भूलों को नया प्रयोग या विशेष वर्ग के पाठकों की चीज़ कहकर रेशनेलाइज़ नहीं करना चाहिये।"
>
> (पृ० १४, 'धूप के धान')

कवि, यदि वह है तो सामाजिक यथार्थ उसमें अभिव्यक्ति पायेगा ही। यह यथार्थ ओढ़ा हुआ अथवा मसीहाई का नहीं होगा वरन् कवि का भोगा हुआ, अनुभूत होगा। इसीलिए उसकी तीव्रता भी पाठक को प्रभावित करेगी, वह विशिष्ट वर्ग की नहीं होगी।

'धूप के धान' की कविताओं में यही तत्त्व है। प्रस्तुत संग्रह में कवि की सन् ४५ से लेकर ५३-५४ तक की कविताएँ हैं। यह समय भारतीय इतिहास का नवीन पृष्ठ है—ऐसा, जिसमें अनेक उथल-पुथलें हुई हैं। रूढ़ि और परम्पराओं का टूटना, नवीन आस्था और विश्वासों का जन्म और मानवता के नवीन मूल्यों के प्रति आग्रह, इस समय में विशेष रूप से सामने आया था। इस सबकी कथा 'धूप के धान' में व्यक्त है। जैसा कि मैंने कहा, 'धूप के धान' की कविताएँ ४ वर्गों में विभाजित हो सकती हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) नवीन और आगत स्वतन्त्रता की अनुभूति से उत्पन्न उत्साह, आशा, विश्वास और निश्चय से गुम्फित भावना की अभिव्यक्ति वाली कविताएँ। इस वर्ग में, मैं 'भोर : एक लैंडस्केप', 'युगारम्भ', 'एशिया का जागरण', 'पहिये' आदि को रखता हूँ।

(२) दूसरा वर्ग उन कविताओं का है, जिन में कवि का उत्साह कुछ खण्डित हुआ है—सामाजिक यथार्थ की अनुभूति से। वह विश्वास और आशा, जो प्रथम वर्ग की कविताओं में थी, चोट खाती है। इस वर्ग में मैं, 'प्रौढ़ रोमांस', 'शाम की धूप' आदि कविताओं को रखता हूँ।

(३) तृतीय वर्ग है उन कविताओं का जिनमें कवि की रोमानी वृत्ति व्यक्त हुई है, मांसल सेक्स के प्रति आसक्ति प्रकट हुई है, जैसे 'सावन के बादल', 'रात हेमंत की', 'धूप का ऊन', 'मुहूर्त्तं ज्वलितं श्रेयो', 'चाँदनी गरबा' आदि।

(४) चतुर्थ वर्ग में विविध कविताएँ हैं, जैसे निराला के प्रति, गांधी के निधन

पर लिखी गई कविता तथा इन्दुमती, इतिहास आदि ।

यहाँ इसी क्रम से इस काव्य-संग्रह का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है ।

'भोर : एक लैंडस्केप' कविता का रचना-काल है, फ़रवरी १९४५ । प्रथम ९ पंक्तियों में व्यतीत होती रात्रि का सजीव अंकन है, बिम्ब शैली का प्रयोग है । परन्तु, अन्तिम छः पंक्तियाँ स्वतन्त्र होते भारत की ओर संकेत करती हैं, युग की अँधियारी रजनी मिटने की प्रसन्नता, जीवन के नये जागरण के प्रति उत्साह और सोती मानवता के उन्मुक्त होने की आशा व्यक्त की गई है—पंक्तियाँ हैं—

यह प्रथम प्रदोष निमिष है नये उजेले का
जीवन के नये जागरण का
अब युग की अँधियारी रजनी मिटने को है
जन रवि का अग्र प्रकाश चरण
अंकित हो रहा धरा के मैले आँचल पर
जिसमें मानवता छिपी धूप बन सोती है ।

(पृ० ३, 'धूप के धान')

'युगारम्भ' (अप्रैल '४६) स्वतन्त्र भारत के नवयुग की आकांक्षा से पूर्ण कविता है। नवीन क्षितिज की कामना इससे व्यक्त की गई है। सदियों से परतन्त्रता-तिमिर में आवृत मानवता की स्वतन्त्रता की प्रशस्ति इस कविता में है। वास्तव में गुलामी की तीव्र पीड़ा के उपरांत मिलने वाली स्वतन्त्रता की आशा अनेक, विचित्र भावनाओं को जन्म देती है। मानव-हृदय, विचित्र स्थिति में अपने को पाता है, उसे विश्वास और उत्साह के नवीन क्षितिज उदित जान पड़ते हैं। यही भावना 'युगारम्भ' कविता में व्यक्त हुई है—

यह विकास पंथ जमे,
शिला खण्ड घुल गये
तिमिर घिरे जन मन के
नये क्षितिज खुल गये ।

(पृ० ६, 'धूप के धान')

'एशिया का जागरण' कविता भी स्वतन्त्रता के अभिनन्दन का गीत है। इस लम्बी कविता में, गुलामी का इतिहास, स्वतन्त्रता-प्राप्ति करने के प्रयत्नों की, उत्साह की गाथा और अन्त में स्वतन्त्रता का अभिनन्दन निहित है। भारत की स्वतन्त्रता की गाथा ओजपूर्ण शैली में कही गई है। इसका एक उद्धरण है—

मेरी गुलाम तलवारों का
है सामूहिक संकल्प जगा,
बन्धन टूटे, सीसा फैली
फिर जल-प्लावन सा कल्प जगा

(पृ० ११, 'धूप के धान')

मानवता के जागरण में उत्पन्न उत्साह के समक्ष 'मनुज दासता के प्रहरी' कब तक

रुक सकते थे। उनका दुर्ग ध्वस्त हुआ और एशिया की मिट्टी का प्रत्येक कण सुलग उठा, मुक्ति मिली, हम स्वतन्त्र हुए। आज़ादी का वन्दन हुआ—

नयनों में अग्नि शिखाएँ हैं
मुख पर मानवता का चन्दन
जनता जनार्दन आज बढ़ी
करने आजादी का वन्दन

(पृ० ९ 'धूप के धान')

अंग्रेज़ों के शासन ने इस देश में जो कुछ किया, किसीसे छिपा नहीं है। अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए वे किसी भी सीमा तक उतरे, आपस में झगड़ा कराया, भेद की दीवारें उठायीं, जब-जब उनका दाव लगा, उन्होंने चाल खेली—इस सबका वर्णन 'एशिया का जागरण' कविता में है। जब उनके अत्याचार की सीमा हो गई तो—

मुड़ गये समय के चपल चरण
आया कृतान्त बन मुक्ति काल
मिट्टी का हर कण सुलग उठा
जल उठी एशिया की मशाल

'पहिये' शीर्षक कविता में, परिवर्तन—चिरपरिवर्तनशील सृष्टि का इतिहास है। विकास के क्रम में मानव की आदिम अवस्था से आज तक की कथा है। मानव के भविष्य में आस्था प्रकट की गई है। मानव का मानव पर शोषण समाप्त होगा, दुःख की सत्ता समाप्त होगी, युग-युग से पीड़ित मानवता मुक्त होगी। ऐसे भविष्य के प्रति विश्वास इस कविता में व्यक्त हुआ है। 'धूप के धान' की अधिकांश कविताओं में श्री माथुर के मानवतावादी स्वर मुखरित हुए हैं। इस उदात्त मानवतावाद का एक उद्धरण प्रस्तुत है—

बस इसीलिये होगा विनाश,
मानव का मानव पर
दुःख, दोहन, अनाचार
इसलिये कि रुकता नहीं कभी गति का पहिया,
अविरल चलता विकास का क्रम
वह पाल लिये आता मनुज समाज नया
जब दुःख की सत्ता मर जायेगी।
पीले बासी फूलो

(पृ० २१ 'धूप के धान')

इस प्रथम वर्ग की कविताओं में आशावादिता है, मानव के भविष्य के प्रति अटूट आस्था है। द्वितीय वर्ग की कविताओं में सामाजिक यथार्थ की तीव्र अनुभूति व्यक्त हुई है। 'प्रौढ़-रोमांस' ऐसी ही कविता है। इसमें जीवन की यथार्थता को प्रकट किया गया है। विरह का दुःख वास्तव में शारीरिक है। दैनिक जीवन की भट्टी में तप कर, यह सत्य कवि पर उजागर हो गया है। वह भी पहले यही समझता था कि कोमलभाव

मूल्यवान होते हैं, पर अनुभवों ने उसे सिखा दिया कि मन के संघर्षों से बाहर के संघर्ष अधिक कठिन हैं—बोझिल हैं। यह जीवन इतना सरल नहीं है, यहाँ पल-पल पर संघर्ष है। आशा और विश्वास भी संघर्ष से ही फलीभूत होते हैं—

पर ठोकर पर ठोकर खाकर हमने जाना
तोल तराजू के पलड़ों में
मन के संघर्षों से बाहर के संघर्ष
अधिक बोझिल हैं।

(पृ० २३, 'धूप के धान')

इसीलिए वह संघर्ष करता है, विरही बनकर आहें भरना उसे नहीं रुचता, अपने भजबल से मार्ग प्रशस्त करना उसे रुचिकर है। वह जानता है कि जीवन-मिठास का रस संघर्ष में है, कोरी रंगीन कल्पनाओं में नहीं, मिथ्या आदर्शों में नहीं। जैसा कि अन्य आलोचकों ने कहा है, श्री माथुर में एकांत वैयक्तिकता अथवा पलायन नहीं है, वरन संघर्षों में अनुरक्ति ही अधिक है। 'शाम की धूप' कविता सामाजिक यथार्थ का चित्रण है। कवि ने अत्यन्त कलात्मकता के साथ प्रसंग उठाया है। शाम की धूप मिली हवा, जो लहर-सी आकर लिपट जाती है, की बात से कविता प्रारम्भ हुई है, और धीरे-धीरे पूरा, सायंकाल का समाज, थका-हारा, बोझिल समाज, प्रत्यक्ष होने लगता है। सड़कों पर घर को लौटता शोर, रिक्शा और साइकिल की घण्टी की आवाज़ें। साइकिल के आगे लगी ख़ाली टोकरी और ख़ाली टिफ़िन। दफ़्तर में ख़त्म न होने पर साथ लाई जाने वाली फ़ाइलें, सब पर कवि की दृष्टि जाती है। यह मध्य-वर्गीय कहलाने वाले समाज का यथार्थ चित्रण है। अभाव-ही-अभाव सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। शायद ही कोई ऐसी टोकरी हो जो फलों से अथवा अन्य किसी वस्तु से भरी हो, अन्यथा सभी रिक्त है। यह सामाजिक रिक्तता है जो व्यापक बनकर घुसी बैठी है। अन्न का अभाव, वस्त्र का अभाव, आवश्यक वस्तुओं की अलभ्यता ही आज का सामाजिक यथार्थ है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व तथा मिलने के प्रथम कुछ वर्षों में जो आशा-आकांक्षाएँ थीं, वे जैसे कुण्ठित हो जाती हैं। पर इस कुण्ठा के बावजूद, निराशा के बावजूद माथुर में हारने का, टूटने का भाव लक्षित नहीं होता। यही वह बिन्दु है जहाँ श्री माथुर अन्य नये कवियों से भिन्न हो जाते हैं। मन के हारने पर ही हार है। मन यदि नहीं हारा तो मानव का कुछ भी नहीं बिगड़ सकता, वह देर-सवेर लक्ष्य पा ही लेगा।

आज इंसान हो गया है कैद
पर न मन हार मान सकता है।

(पृ० इ० १, 'धूप के धान')

'धूप के धान' में तृतीय वर्ग उन कविताओं का है जिनमें कवि की रोमानी वृत्ति प्रकट हुई है। गिरिजाकुमार माथुर में यह रोमानी स्वर आरम्भ से ही रहा है और धूप के धान की कविताओं में भी है। मांसल सेक्स के कुछ चित्र इस प्रकार हैं। 'रात हेमंत की' कविता में रात को कामिनी कहा है, जो अपने कन्त की सेज को उष्ण करने के लिए

लिपटकर सो गई है, जिसके नयन स्नेह की लालिमा से रंजित हैं। भुज मिलन और तन गन्ध तथा नुकीले वक्ष की छुअन, उकसन, चुभन सभी कुछ कवि द्वारा वर्णित है—

नयन लालिम स्नेह दीक्षित,
भुज मिलन तन गन्ध सुरभित
उस नुकीले वक्ष की
वह छुअन, उकसन, चुभन अलसित

(पृ० ५४, 'धूप के धान')

'हेमन्त की रात' का यह चित्रण कवि की अपनी अनुभूति और आसक्ति का परिणाम ही है। इसकी अधिक व्याख्या अपेक्षित भी नहीं है। 'सावन के बादल' कविता में शृङ्गार के प्रतीक ही हैं। नहाई हुई—'ऋतुमती वनस्पति', 'नितम्बिनी धरा', 'रसवती कुँवरि सी' और सबसे बढ़कर ये पंक्तियाँ—

चमक बिजलियों की पलक चाँदनी सी
खुले चाँद तन की झलक दामिनी सी
झुके मेघ गीले अधर ज्यों झुके हों
लिपटती हवा मस्त गजगामिनी-सी

(पृ० ४१ 'धूप के धान')

'चाँदनी गरबा' में चाँदनी भी मादक रूप में चित्रित है—कामिनी-रूप में प्रेषित है—

उड़ती भीनी गन्ध हवा में दूब की
बिखरा सोई कोरे कुन्तल कामिनी
उभरे रोए छुवा गई है चाँदनी
सींग नुकीले चुभा गई है चाँदनी।

'सावन की रात' कविता भी इसी प्रकार की रोमानी प्रवृत्ति से पूर्ण है। अब थोड़ा शैली की दृष्टि से भी विचार किया जाए। शैली-शिल्प की दृष्टि से भी श्री माथुर विशिष्ट हैं। सामाजिक यथार्थ के प्रति जागरूक रहते हुए भी श्री गिरिजाकुमार ने शिल्प की उपेक्षा नहीं की है। उनके शिल्प में विकास हुआ है। चित्रात्मकता, ध्वन्यात्मकता, बिम्ब आदि के बहुत सुन्दर उदाहरण धूप के धान की कविताओं में हैं। उपमानों की योजना नवीन होती हुई भी यथार्थ है। नवीनता के लिए नवीनता नहीं है। उदाहरण के लिए चांदनी रात के इस दृश्य को लें। इसमें पूर्णचन्द्र से युक्त रात्रि का वर्णन है—यह वर्णन अनुभूतिजन्य होने के कारण ही इतना सच्चा बन पाया है। रात एकदम 'झकाझक' हो रही है—ऐसी उजली चाँदनी कि सुई में तागा पिरो लो, यहाँ तक कि सफ़ेद रात को दिन समझकर कौए बोलने लगे। सारे घर-द्वार जैसे सफ़ेद ताज़े चूने से पुते हों—और आकाश में पूरा चाँद है—ऐसी रात को शब्द-शिल्पी श्री गिरिजाकुमार माथुर ने इस प्रकार उतारा है।

यह झकाझक रात.
चाँदनी उजली कि सुई में पिरो लो ताग
चाँदनी को दिन समझकर बोलते हैं काग

हो रही ताज़ी सफ़ेदी नये चूने से
पुत रहे घर द्वार
चाँद पूरा साफ़

(पृ० ६४, 'धूप के धान')

कम-से-कम शब्दों में चित्र उतारने में श्री माथुर विशेष सिद्ध हैं। ऐसे चित्रों के लिए बहुत चुनाव की आवश्यकता है, शब्दों के भी और वर्ण्य के विशिष्ट अंगों के भी। 'हेमन्ती रात' को स्पष्ट करने के लिए—चाँद, ठण्डी, कँटीली हवा और ओस यही पर्याप्त है—

चाँद हेमन्ती
हवा बहती कटीली
चाँदनी फैली हुई है
ओस नीली

और इसका मन पर प्रभाव भी वर्णित है—

चाँदनी डूबी हवा सुधि गन्ध लाती।

(पृ० १११, 'धूप के धान')

श्री माथुर ने भाषा के प्रयोग भी किये हैं। एक प्रयोग है जनपदीय बोली के शब्दों के उपयोग का। जनपदीय बोली के शब्दों के प्रयोगों से तद्विषयक चित्र बहुत सफलता से अंकित हो पाए हैं। 'ढाक बनी' ऐसी ही कविता है। कुछ शब्दों का निर्माण भी किया गया है—जैसे नुकीले वक्ष के स्पर्श के लिए—'छुअन' 'उकसन' 'चुभन' आदि। ये शब्द न केवल चित्रांकन में समर्थ हैं, वरन् अनुभूति-प्रेषण में भी सफल हैं। एक और चित्र लें—धूप मिली हवा, छत पर बैठी ललनाओं के बाल उड़ाती है, आँचल भी उड़ाती है, आँचल जो सोंधे, तन-गन्ध भरे हैं—

कभी छत पर बैठी ललनाओं के
सोंधे तन—गन्ध भरे आँचल को
गोरे कन्धे से उड़ा देती है।

यह चित्र गोरे कन्धे ही नहीं, तन—गन्ध को भी स्पष्ट कर रहा है। चित्र-शिल्प, ध्वनि-शिल्प के अनेक उदाहरण 'धूप के धान' संग्रह में उपलब्ध हैं।

श्री माथुर ने छन्द के क्षेत्र में भी प्रयोग किये हैं। सवैया को तोड़कर नवीन छन्द का निर्माण किया है। उर्दू की छोटी बहर के आधार पर, लोकगीतों के आधार पर नवीन छन्द बनाये हैं। छन्द और उसके मूल तत्त्व—लय के प्रति श्री गिरिजाकुमार माथुर विशेष सतर्क रहे हैं।

अतः गिरिजाकुमार माथुर का यह संग्रह, वस्तु और शिल्प दोनों ही दृष्टियों से नई कविता में स्थान रखता है। नई कविता जब दुरूह हुई है, विशिष्ट वर्ग के पाठकों की चीज़ बनने लगी है। निराशा, कुण्ठा के स्वरों से संपृक्त हुई है। 'धूप के धान' की कविताओं ने नवीन आयाम प्रस्तुत किया है। संप्रेषण के नूतन स्तर प्रस्तुत किये हैं। इसलिए मेरी दृष्टि में 'धूप के धान' कवि माथुर का तो प्रतिनिधि संग्रह है ही, नयी कविता का भी महत्त्वपूर्ण संग्रह है।

कुँवरजी अग्रवाल

कोणार्क : शिल्प और मूल्य

साहित्य की समीक्षा की तुलना में नाटक का मूल्यांकन इस अर्थ में भी अलग है कि लिखित साहित्य की विधाएँ प्रेषणीयता के लिए प्रस्तुत पूर्णरूप हैं जबकि नाटक का लिखित रूप कलारूप की पूर्णता नहीं है, हालाँकि एक स्तर पर अभिव्यक्ति की पूर्णता वह है। रूप की यह अपूर्णता लिखित नाटक को पूर्णता के साथ संप्रेषित होने में बाधा डालती है, क्योंकि रूप ही संप्रेषणीयता का मूलाधार है। परिणाम यह होता है कि नाटककार की पूर्ण अभिव्यक्ति होने पर भी लिखित नाटक नाटक के बहुत-से सौन्दर्यात्मक मूल्य विहित ही रह जाते हैं और नाटककार के कृतित्व का मूल्यांकन कठिन हो जाता है। नाटक के लिखित रूप के समीक्षक की सबसे बड़ी समस्या इस अधूरे रूप के सहारे रूप की सम्भव पूर्णता का अनुमान और उसके आधार पर नाटककार के कृतित्व का मूल्यांकन करना है। ऐसी स्थिति में लिखित नाटक की समीक्षा एक हद तक संभावना या अनुमान का ही मूल्यांकन है।

कोणार्क के नक्शे के आधार पर नाट्य-सौन्दर्य के स्थापत्य को कल्पना में रूपायित करते समय कोणार्क भग्न-मन्दिर की भाँति रंग-सौन्दर्यभवन भी खण्डित ही बनता है। नाट्यानुभूति मानो रूप ग्रहण करना ही नहीं चाहती। निर्माण के लिए एकत्र उपकरण किसी अन्य उद्देश्य के लिए संकल्पित प्रतीत होते हैं। कोणार्क में रेडियो नाटक के उपकरण लेकर रंगमंचीय नाटक तैयार करने की कोशिश की गई है।

रेडियो नाटक और रंगमंचीय नाटक के बीच माध्यम का अन्तर ऐसी विशिष्ट तकनीकी और सौन्दर्यशास्त्रीय स्थितियाँ उत्पन्न करता है कि दोनों परस्पर भिन्न स्वतन्त्र कलारूप बन जाते हैं और एक के सौन्दर्य नियम दूसरे पर लागू नहीं होते। जिन कारणों से एक माध्यम की रचना सशक्त हो उठती है वे ही कारण दूसरे माध्यम में उसे दुर्बल बना सकते हैं। कोणार्क ऐसी ही स्थिति का उदाहरण बनकर रह गया है। यही नियति हिन्दी के और भी अनेक प्रतिष्ठा-प्राप्त नाटकों की है।

दोनों कलारूपों के कुछ साम्याभासों ने कुछ हिन्दी नाटककारों को भ्रम में डाल दिया और वे गलत निष्कर्ष निकालने के लिए विवश हुए। रंगमंच के अभाव ने इसमें योग दिया और फलस्वरूप रंगमंच के लिए बेकार एवं रेडियोधर्मी न केवल तथाकथित एकांकियों की ही धूम मच गई बल्कि बहुत-से बड़े नाटकों पर भी रेडियो तकनीक का गहरा असर पड़ा और प्रसाद के नाटकों की अनभिनेयता का रोना रोते हुए भी बहुत-से नाटककारों ने ऊपरी दृष्टि से अभिनेय प्रतीत होने वाले किन्तु नाट्यकला की दृष्टि से अत्यन्त असमर्थ नाटक रच डाले। कुछ लोगों ने तो मूलतः रेडियो नाटक ही लिखा और कुछ परिवर्तन कर उसे रंगमंचीय नाटक के रूप में छपवा दिया।

दो माध्यमों के लिए लिखे जाने वाले नाटकों के बीच भ्रम पैदा होने का एक मुख्य कारण यह समझ बैठना है कि दोनों प्रकार के नाटक संवादों के सहारे ही चलते

हैं और नाटककार का सबसे बड़ा कर्त्तव्य और अवसर संवाद लिखना ही है। वास्तव में शेष रूप में कुछ रंगसंकेतों के अलावा दोनों प्रकार के नाटक एक समान ही जान पड़ते हैं। दूसरे, रंगमंचीय नाटक की तुलना में रेडियो नाटक साहित्य के अधिक निकट हैं जिससे साहित्यकारों ने अनायास ही इसकी तकनीकों को अपना लिया। नाटक की भ्रामक साहित्यिक समीक्षा ने इस स्थिति पर और रंग चढ़ाया। चरित्र-चित्रण, अंतर्द्वन्द्व, चरमोत्कर्ष, रसबोध और साहित्य की दार्शनिक मान्यताओं के चक्कर में फँसी हुई नाट्य-समीक्षा रेडियो नाटक और रंगमंचीय नाटक के स्वरूपगत अन्तर को स्पष्ट न कर सकी। इनसे नाटककारों को नाटक की आन्तरिक बुनावट, अनुभूतियों के नाटकीय बिम्बों और माध्यम की शक्तियों को पहचानने में कोई सहायता न मिल सकी। अभिनेयता और अनभिनेयता के आधारहीन किन्तु व्यापक विवाद ने इतना ज़रूर किया कि नाटककार स्थूल रूप से अपने नाटकों के खेले जाने की परवाह करने लगे और कुछ अधिक सावधान नाटककारों ने नाट्य-प्रदर्शन-सम्बन्धी कुछ मोटी-मोटी बातों के ब्यौरों का परिशिष्ट भी अपने नाटकों के साथ जोड़ना आरम्भ किया। किन्तु रंगमंच पर किसी कृति को उतार लेना एक बात और उसका उत्कृष्ट नाट्य-कलाकृति होना दूसरी बात।

कोणार्क सुविधापूर्वक रंगमंच पर खेला जा सकता है, इसका प्रमाण नाटक का परिशिष्ट और इसके अनवरत प्रदर्शन हैं। इसमें कोई नारी पात्र न आने से अव्यावसायिक नाटक-मंडलियों के लिए यह नाटक बड़ा ही सुविधापूर्ण हो गया। इस दृष्टि से कोणार्क को इस बात का महत्वपूर्ण श्रेय है कि इसने बहुत-सी स्वल्प साधनों वाली अव्यवसायी मंडलियों को पूरा नाटक खेलने का अवसर दिया और इस प्रकार हिन्दी-रंगमंच के विकास के आधार को चौड़ा किया। यदि कहीं इसमें नाटकीय बिंबों की त्रिआयामात्मकता होती तो यह नींव गहरी भी हो जाती।

मूल नाटक को ध्वनिबिम्बों में रूपायित किये जाने के कारण कोणार्क द्विआयामात्मक हो गया और रंगमंच का तीसरा आयाम चिपकाया हुआ निष्क्रिय तत्त्व मात्र लगने लगा। रंगमंच के नाटकीय बिम्बों का मूल उत्स जिस सौन्दर्यमूलक प्रत्यक्षीकरण और अनुभूति में निहित है, उसमें व्यक्ति अपने परिवेश के साथ घनिष्ठता के साथ जुड़ा रहता है और नाटक की प्रभाव-इकाइयाँ व्यक्ति एवं परिवेश की क्रिया-प्रतिक्रिया से बनती हैं। व्यक्ति और व्यक्ति की क्रिया-प्रतिक्रिया भी परिवेश के सक्रिय योगदान से संवलित रहती है। रंगमंचीय नाटककार की सफलता इस बात में है कि वह इस तात्कालिक परिवेश की सक्रियता को पहचाने और अपने नाटकीय बिंबों को इस प्रकार रूपायित करे कि व्यक्ति अपने परिवेश में से उगता-बढ़ता मालूम पड़े।

रेडियो नाटक के रूप में अभिनीति होने पर तो कोणार्क के व्यक्ति अपने वातावरण से जुड़े मालूम पड़ते हैं, लेकिन रंगमंच पर वे अपने तात्कालिक परिवेश से कटे हुए लगते हैं। वातावरण निर्जीव पृष्ठभूमि बनकर रह जाता है। कोणार्क में नाटकीय क्रिया का विकास पूर्णतया संवादों के सहारे होता है, क्रिया-प्रतिक्रिया का चक्र भाषिक है। अंगस्थितियाँ, मुख-मंडलीय भावाव्यक्तियाँ, आकस्मिक क्रियाएँ, गतियाँ, मंच-सामग्री और दृश्यपीठ जैसे तत्त्व प्रतिक्रिया को उत्तेजना नहीं बनते, विकास में सक्रिय

योग नहीं देते, बल्कि अधिक-से-अधिक चित्रण (इलस्ट्रेशन) मात्र करके रह जाते हैं।

उपक्रम और उपसंहार को लेखक ने अपना नवीन प्रयोग माना है जिसमें संस्कृत नाटकों की प्रस्तावना और पश्चिमी नाटकों के एपीलोग, प्रोलोग एवं कोरस के समन्वय का दावा किया गया है। किन्तु वास्तविकता यह है कि रेडियो नाटक के लिए लिखी गई कमेंट्री को नाटककार ने ज्यों-का-त्यों लेकर और उसके दुर्बल चित्रण की व्यवस्था देकर उसे रंगमंच के लिए एक नवीन प्रयोग मान लिया है। वास्तव में नाटक के ये सर्वथा अकिंचन अंश हैं जो रेडियो की विधा में भले ही प्रभावशाली सिद्ध हों रंगमंच के सर्वथा अनुपयुक्त हैं। संस्कृत नाटकों की प्रस्तावना और पश्चिमी प्रोलोग एपीलोग तथा कोरस में केवल स्वर नहीं रहता बलिक व्यक्ति अपनी अनुभूतियों को उसी प्रकार अभिव्यक्त करते हैं जिस प्रकार नाटक के अन्य पात्र। वे दर्शकों को अपनी वैयक्तिक प्रतिक्रियाओं के दृश्य और श्रव्य बिंबों से प्रभावित करते हैं, फलतः दर्शकों की नाटकीय अनुभूति अधिक समृद्ध होती है। प्रस्तुत प्रयोग में रंगमंचीय माध्यम की शक्तियों की अवहेलना हुई है। उपक्रम उपसंहार की भाषा भी उस काव्य-शक्ति से वंचित है जो कोणार्क मन्दिर की भव्यता के बिंब को रूपायित कर सकती।

रेडियो विधा के अनुकूल भाषा को मुख्य आधार बनाने का ही परिणाम यह हुआ कि मंच पर व्यक्ति जो कुछ भी कहते हैं उसकी अभिप्रेरणा स्थापित नहीं होने पाती और बोलने की अनिवार्य मनोवैज्ञानिक स्थिति के अभाव में संवाद में उस आकर्षण की कमी प्रतीत होने लगती है जो रंगशाला में दर्शकों को एक-एक शब्द पी जाने को विवश करता है। कथा के सूक्ष्म अंशों का संवाद में वितरण अकुशल, स्थूल, प्रत्यक्ष, और रूढ़ है। संवादों में गूढ़ सांकेतिकता और अन्तर्मन के उद्‌घाटनों के अवसरों का बहुत कम उपयोग हुआ है। तब भी कोणार्क के संवादों का गठन सुडौल और मितव्ययितापूर्ण हो पाया है, किन्तु रेडियो शिल्प के कारण उनकी गति अत्यन्त क्षिप्र है। संवादों के मध्य नाटकीय क्रिया का अवकाश नहीं।

भाषा के सम्बन्ध में कोणार्क के नाटककार को एक अभूतपूर्व सफलता मिली है। वे ऐतिहासिक नाटक की भाषा को कृत्रिमता की उस शृंखला से युक्त कर सके हैं जो हिन्दी नाटकों को अर्से से जकड़े रही है। ऐतिहासिक वातावरण के सृजन में भाषा की कृत्रिम संस्कृतमयता नाटक को उस प्रकार योग नहीं दे सकती जिस प्रकार कहानी या उपन्यास को देती है। वह तो विश्वासबोध और भावमग्नता को—जो नाटकीय अनुभूति के महत्त्वपूर्ण उपकरण हैं, कदम-कदम पर खण्डित करती जाएगी। कोणार्क में पुराने पारिभाषिक शब्दों और कुछेक अभिव्यक्तियों के लिए संस्कृत पदावली के उपयोग ने काल-बोध कराने में अद्‌भुत सफलता दी है।

भावानुभूति का तनिक-सा भी अवसर मिलते ही भाषा को बोझिल गद्य-काव्य बना डालने का जो शौक छायावादी नाटककारों और बँगला के अनुवादकों से शुरू हुआ वह अब तक काफी मात्रा में मौजूद है। कुछ संयत रहने पर भी कोणार्क का नाटककार इसका अपवाद नहीं। भावानुभूति के गहन क्षणों में भाषा का काव्यमय हो उठना अनिवार्य है किन्तु वह काव्य-तत्त्व स्थूल और प्रत्यक्ष होने की बजाय पारदर्श

होना चाहिए।

सम्भवतः रंगमंचीय सुविधा की भावना ने ही नाटककार को कोणार्क के व्यापार-स्थल के रूप में कमरे के अन्दर के हिस्सों को चुनने की प्रेरणा दी। किन्तु इससे न केवल इस नाटक की दृश्यपीठ-सम्बन्धी समृद्ध सम्भावनाएँ अत्यन्त सीमित हो गईं बल्कि वातावरण की निष्क्रियता का कारण बहुत दूर तक यही बना। यदि नाटकीय क्रियाओं का स्थान सीधे कोणार्क के निर्माण-स्थल पर शिखर की छाया में कहीं रखा गया होता तो इस भव्य मन्दिर का दबा हुआ व्यक्तित्व भास्वर हो उठता, निर्देशक को शैलीकरण और प्रतीक योजना का अवसर मिलता, दृश्यांकनकार की कल्पना को अवकाश मिलता, प्रकाश योजना विविधतामय हो पाती, और अभिनेताओं को गतियों, क्रियाओं और विभिन्न धरातलों की सुविधा मिलती। तभी दर्शकों के लिए दृश्य-तत्त्व भी अधिक सार्थक हो पाता।

नाटक को ऐतिहासिक, पौराणिक, समस्या आदि वर्गों में बाँटने की जो प्रथा हिन्दी नाट्य-समीक्षा में चल पड़ी वह बहुत भ्रामक है। वस्तुतः नाटक केवल नाटक होता है। इतिहास, पुराण आदि नाट्य-विधा में आकर अपना रूप इस कदर बदल लेते हैं कि उनका स्वतन्त्र अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। इस परिवर्तन का प्रधान कारण स्वयं नाट्य-कला की प्रकृति है जो अपने दर्शकों की तात्कालिक सन्तुष्टि से घनिष्ठता से जुड़ी रहती है। यही कारण है कि पुराने युग के सभी नाटककारों ने पुरानी ऐतिहासिक, पौराणिक कहानियों को ही मुख्य रूप से अपने नाटकों का विषय बनाया; फिर भी वे ऐतिहासिक तथ्यों के अनुसन्धान की ओर कभी प्रवृत्त नहीं हुए, बल्कि कहानी के उपलब्ध प्रारूप को भी अपने लिए आवश्यक रूपों में बदल डाला। वास्तव में नाटककार सदा से यह महसूस करते आये हैं कि रंगशाला में दर्शक अनुभूतियों को जिस भव्य पैमाने पर जीना चाहता है उसके लिए समकालिक जीवन छोटा पड़ता है। दूसरी ओर शक्तिशाली सजीव अनुभूतियों का उद्गम-क्षेत्र समकालिक सांस्कृतिक आदतों-मान्यताओं के बहुत परे नहीं जा सकता। इसका परिणाम यह होता है कि नाटक में ऐतिहासिक-पौराणिक कथा के साँचे में नाटककार सदा समकालिक जीवन-मूल्यों को ही ढालता है। यही कारण है कि महाभारतकालीन शकुन्तला का पौराणिक आख्यान अभिज्ञान शाकुन्तल में गुप्तयुग की संस्कृति की इतनी गहरी झलक देने लगता है। समकालिक वैवाहिक जीवन का प्रतिबिंब ही वह मूल कारण है जिसमें 'अंधायुग' और 'आषाढ़ का एक दिन' प्रबुद्ध वर्ग में इतनी लोकप्रियता अर्जित कर सके।

नाटक को अपने ऐतिहासिक अनुसन्धान और नवीन तथ्यों के उद्घाटन का वाहक बनाकर जिस व्यूह में प्रसादजी की प्रतिभा उलझकर रह गई उसमें स्वेच्छा से उलझते रहने की हिन्दी के कुछ नाटककारों ने परम्परा ही बना डाली। प्रसादजी फिर भी इतिहास के नाटकीय मूल्य के प्रति सजग रहे और अपने समकालिक परतन्त्र जीवन की कुण्ठा की निष्कृति अतीत गौरव के उद्घाटन में ढूँढ़ते रहे।

स्वतन्त्रता के पश्चात् गुज़रे ज़माने की रौनक में मन रमाए रखना पुनर्निर्माण के आकांक्षापूर्ण क्षणों में आत्मघात-सा होता। अब तो इतिहास से अपने वर्तमान संघर्ष

का समर्थन और नव-निर्माण के लिए पोषण प्राप्त करना था। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी-नाटकों में इसीलिए कोणार्क का महत्त्व युग-प्रवर्तक का है कि इसमें पहली बार इतिहास के इस बदले हुए दृष्टिकोण का प्रतिफलन शक्तिशाली ढंग से हुआ है।

कला-समृद्धि से परिपूर्ण कोणार्क मन्दिर की भग्न-स्थिति, जनश्रुतियों और कतिपय ऐतिहासिक तथ्यों की प्रेरणा से नाटककार का सृजनशील मानस एक ऐसी कथावस्तु का ताना-बाना बुन सका जो आधुनिक मानस के लिए अर्थपूर्ण थी। गजदन्त मीनार की ऐकांतिक दुनिया से बाहर निकलकर, सामाजिक जीवन में सक्रिय हिस्सा लेने के लिए कलाकार को अछूत करना और प्रतिभा और कला सृजन-शक्ति को आवश्यकता पड़ने पर आत्म-रक्षार्थ न्याय-युद्ध में योगन्तरित करना कोणार्क का मूल स्वर है, जिसकी संगति करने वाले दूसरे स्वर, कलाकार की अपने उत्तराधिकारी की खोज (कला परम्परा का नवयुग में संक्रमण), और सौन्दर्य-सृजन के मूलस्रोत कोमल मानवीय अनुभूति (सृजन का रोमांटिक मनोविज्ञान) का उद्घाटन है। किन्तु नाटककार इन स्वरों में सन्तुलन स्थापित नहीं कर पाया और विशु और धर्मपद के मानवीय बिंब इन्हें ठीक से रूपायित नहीं कर सके। पूरा नाटक स्थायी भक्ति और राज्य-लिप्सा के संघर्ष के स्थूल विवरणों में उलझकर रह गया।

इस उलझाव का ही परिणाम है कि कोणार्क में उस गहरी नाट्यानुभूति का नियोजन नहीं हो सका जिसे प्रदान करना नाटककार का सबसे बड़ा कर्तव्य है। जन-रुचि को सन्तुष्ट करने की पतनोन्मुखी प्रवृत्ति कुछ निश्चित फार्मूलों को जन्म देती है जिसका उत्तरदायित्व व्यावसायिक भावना पर है। किन्तु जनता की आधारभूत माँगों को समझने की शक्ति नाटककार की पूँजी है। पैसे देकर रंगशाला में आने के लिए दर्शकों को नाटककार मजबूर कर सके, इसके लिए उसे दर्शकों को इस बात का प्रलोभन देना होगा कि वहाँ उसे एक विशिष्ट सन्तुष्टि प्राप्त हो सकेगी। दर्शकों को नाटक मूलतः कल्पनालोक में रमण करने का अवसर प्रदान करता है, वह उन्हें कल्पना के स्तर पर अनुभूतियों को जीने का मौका देता है। प्रत्येक युग और देश में यथार्थ परिवेश की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों के अनुसार कुछ विशेष प्रकार का काल्पनिक जीवन दर्शक चाहते हैं जिसके अनुसार नाटक की रूप-रूढ़ियाँ बनती हैं। ट्रेजेडी, कामेडी, मेलोड्रामा जैसे नाट्य-रूप और रस-सिद्धान्त एवं श्रृंगार की प्रमुखता देश-काल की ऐसी ही माँगों के परिणाम हैं। इन सभी रूपों में कुछ चुनी हुई गहरी जीवन-अनुभूतियाँ, कुछ चुने हुए व्यक्तियों के माध्यम से शक्तिशाली ढंग से प्रस्तुत की जाती रही हैं। इस प्रकार की किसी गहरी जीवन-अनुभूति को कोणार्क का कोई व्यक्ति साकार नहीं कर सका है।

रेडियो शिल्प के प्रतिमानों के आधार पर मूल्यांकन किये जाने पर कोणार्क अधिक उत्कृष्ट रचना प्रमाणित हो सकती। इतिहास के मलबे से एक स्पन्दनपूर्ण जीवन की खोज और कोणार्क मन्दिर की कला-सम्पदा एवं सांस्कृतिक गौरव के साहचर्य के आकर्षण के कारण यह नाटक लोगों को आकर्षित करता रहेगा।

आलोचना के स्वामित्व तथा अन्य ब्यौरे के विषय में विज्ञप्ति

फ़ार्म ४

[नियम ८ देखिए]

१. प्रकाशन का स्थान	दिल्ली
२. प्रकाशन की अवधि	त्रैमासिक
३. मुद्रक का नाम	श्रीमती शीला संधू
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड ८ फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली-६
४. प्रकाशक का नाम	श्रीमती शीला संधू
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, ८ फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली-६
५. संपादक का नाम	श्री शिवदानसिंह चौहान
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, ८ फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली-६
६. उन व्यक्तियों के नाम और पते, जिनका पत्र पर स्वामित्व है तथा उन भागीदारों अथवा शेयरहोल्डरों के नाम और पते, जो पूँजी के एक प्रतिशत से अधिक शेयर रखते हों।	राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, ८ फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली-६

मैं श्रीमती शीला संधू इसके द्वारा घोषित करती हूँ कि ऊपर जो ब्यौरे दिये गए हैं, वे मेरी अधिक-से-अधिक जानकारी में और मेरे विश्वास में सही हैं।

(ह०) श्रीमती शीला संधू

प्रकाशक

(कवर २ का शेष)



सर्वेक्षणमाला : एक नई पुस्तक माला

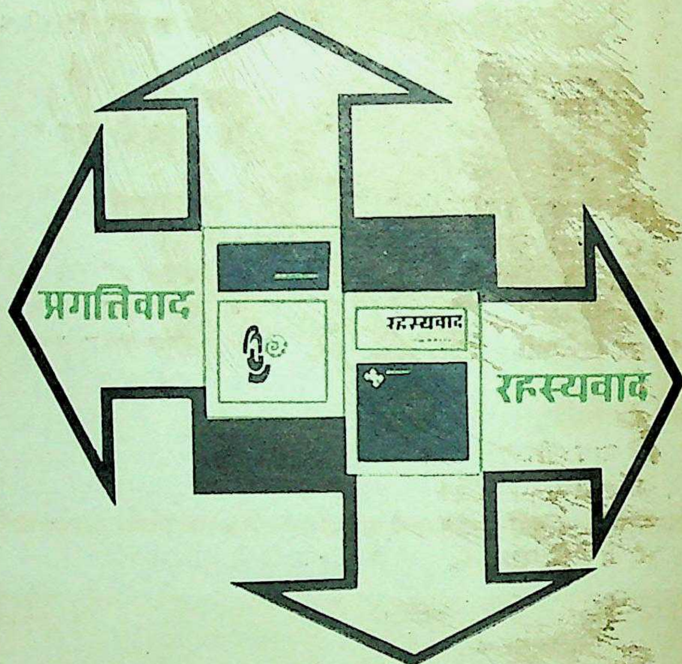
सम्पादक : डॉ० इन्द्रनाथ मदान

इस पुस्तकमाला का उद्देश्य सजग पाठक को साहित्य की प्रवृत्तियों, विधाओं और प्रमुख साहित्यकारों का परिचय देना है।

छायावाद
रहस्यवाद
प्रगतिवाद
प्रयोगवाद

हिन्दी उपन्यास
हिन्दी कहानी
हिन्दी नाटक
हिन्दी आलोचना

प्रेमचन्द
प्रसाद
निराला
पन्त



- विषय के विशेषज्ञ लेखक
- आकर्षक छपाई और साज-सज्जा
- राजकमल की गौरवपूर्ण परम्परा



राजकमल प्रकाशन

दिल्ली-६ पटना-६

श्रीमती शीला संधू, मैनेजिंग डाइरेक्टर, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लि०, ८ फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली के लिए नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित ।

विशेषांक

भाग : ५

सम्पादक शिवदानसिंह चौहान

३८

आलोचना

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य

राजकमल प्रकाशन

ही मनुष्य का हाथ इसको गिराकर नई इमारत भी बना सकता है। मनुष्य जो भी बनाता है, सृजन करता है या कल्पना करता है, उसका नये सिरे से निर्माण, सृजन या कल्पना भी कर सकता है। लेकिन आजकल ऐसी बात सोचनेवाले को निरा बुद्धू समझा जाता है।

इसका कारण है। नई पीढ़ी को आज सभी जगह लगता है कि उसे धोखा दिया गया है, उसके साथ विश्वासघात किया गया है और उसे झूठे नारों और झूठे वायदों से अँधेरे में रखा गया है। मेकार्थी, स्तालिन, माओ, जान्सन इन सब ने अपने कृत्यों से नई पीढ़ी में यह भाव पैदा करने में मदद की है। लेखक या कलाकार तीन दशक पहले जीवन के संभाव्य भावी रूप की मूर्ति तराशने में जो आनन्द प्राप्त करता था, वह जैसे उससे आज बरबस वंचित कर दिया गया है। नई पीढ़ी की स्थिति आज डॉन क्विग्ज़ोट जैसी है, जो हीरोइक जीवन की आकांक्षी तो है, लेकिन जिसे इस युग के कन्फ़्यूजन में यह ज्ञान नहीं रहा कि उसका दुश्मन कौन है और जो हर अच्छी और बुरी चीज़ को समान रूप से नकारती हुई हवाई दुश्मनों से लड़ती है। उसका विद्रोह लक्ष्यहीन है।

लेकिन 'अलगाव' की समस्या इतनी सतही नहीं है और न कुछ भ्रष्ट, क्रूर या कट्टरपन्थी नेताओं के दुर्व्यवहारों या कुछ सामाजिक आदर्शों की ख़ामियों की चेतना से उत्पन्न 'मोह-भंग' का ही परिणाम है। यह नई पीढ़ी का ही भाव-बोध है, ऐसा भी नहीं है। आदि-काल से मनुष्य अलगाव और अजनबीपन की समस्या से जूझता आया है, यद्यपि इस शब्द (alienation) का प्रयोग संभवतः पहली बार जर्मन दार्शनिक हीगल ने किया था और तब से लगातार दार्शनिकों के बीच यह विवाद का विषय बना हुआ है। 'अलगाव' की भावना क्या है और इसके पैदा होने का मूल कारण क्या है, इस पर अभी तक बहस जारी है। इस भावना से मनुष्य को मुक्ति कैसे मिल सकती है, या यह कि समाज में व्यक्ति का सामंजस्य कैसे संभव है, जिससे वह अपने कर्त्ता या विषयी होने के पूर्ण गौरव को प्राप्त कर सके और अपने को 'स्वतन्त्र' हस्ती समझ सके, यह बहस मानव-जीवन की इस मूलभूत विसंगति को दूर करने के निमित्त ही चल रही है, न कि इसे मानव-जीवन की दुर्निवार नियति मानकर 'पलायन' और 'समझौते' के मार्ग खोजने के लिए।

हीगल का कहना था कि मनुष्य का अपने 'तत्व' से विच्छेद हो गया है। इसका कारण वे दो स्थितियाँ हैं—'आवश्यकता' और 'अलगाव'—जिन्होंने उसे बंधनग्रस्त कर रखा है। 'आवश्यकता' का अर्थ है प्रकृति पर उसकी निर्भरता और उन भौतिक साधनों और शारीरिक क्षमता सम्बन्धी सीमाओं को स्वीकार करने के लिए उसकी विवशता जो प्रकृति मनुष्य पर आरोपित करती है। 'अलगाव' से हीगल का तात्पर्य था मनुष्य के 'स्व' का 'कर्त्ता' और 'वस्तु' इन दो रूपों में बँट जाना, यानी उसका एक 'कर्त्ता' भी होना, जो अपने भाग्य का निर्णायक बनने की चेष्टा करता है और साथ ही एक 'वस्तु' भी होना जिसे अन्य लोग मनमाने ढंग से इस्तेमाल करते हैं। इसलिए हीगल ने कहा कि मनुष्य का सर्वोच्च लक्ष्य 'स्वतन्त्रता' है, जिसमें उसे आत्म-निर्णय की स्वतन्त्रता हो और वह अपने 'तत्व' का स्वामी हो और उसे अपना 'स्व' पुनः प्राप्त हो जाए।

विज्ञान के विकास से यह अनुमान तो किया जा सकता है कि मनुष्य 'आवश्यकता' पर क़ाबू पा सकेगा और प्रकृति को बड़ी हद तक जीत सकेगा। लेकिन विषयी और विषय, कर्त्ता और वस्तु की भिन्नता तो ऐसी बुनियादी है कि उस पर क़ाबू पाना क्या सम्भव होगा ? व्याकरण में भी यह अलगाव स्वीकार किया गया है और जीवन में भी यह एक हक़ीक़त है। यानी 'मैं' केवल कर्त्ता 'मैं' नहीं हूँ जो अपनी मर्जी के

मुताबिक संसार को जैसा चाहूँ रूप दे सकता हूँ। मैं 'मुझ' भी हूँ, एक कर्म, विषयमात्र जिसकी हस्ती उन बिम्बों से बनी है, जिस रूप में दूसरे मुझे देखते हैं। इसलिए पूर्ण 'स्वतन्त्रता' असम्भव है। विषय और विषयी का द्वैत अनिवार्य है। 'मैं—मुझ' के होते कोई आत्म-निर्णायक होने का लक्ष्य कैसे प्राप्त कर सकता है?

हीगल के प्रगतिचेता अनुयायियों ने इस प्रश्न पर विभिन्न मतों का प्रतिपादन किया। ब्रूनो बॉयर ने, जो कार्ल मार्क्स के शिक्षक थे, कहा कि मानव-सम्बन्धों की हक़ीक़त का पर्दाफाश करने वाले एक आलोचनात्मक दर्शन का विकास करना चाहिए। इससे उनका तात्पर्य यह था कि सामाजिक कार्यों के पीछे व्यक्तियों की असली मंशा क्या होती है, इसका विश्लेषण ज़रूरी है। इससे ही 'कथनी और करनी' का भेद पैदा होता है। अधिकांश लोग पैदा होकर संसार को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेते हैं। वे इस बात से बेख़बर रहते हैं कि उनकी नैतिक और धार्मिक आस्थाओं का मूल स्रोत क्या है, या उनकी बौद्धिक मान्यताओं या अबौद्धिक धारणाओं का आधार क्या है। संसार (या समाज) ही उनके लिए इन आस्थाओं, मान्यताओं और धारणाओं का निर्णय करता है। इसलिए आलोचना के नश्तर से इन सबकी हक़ीक़त को चीर-फाड़कर देखने से मनुष्यों में आत्म-चेतना जाग्रत होगी और उनका छिना हुआ विवेक उन्हें फिर मिल जाएगा। इससे वे अपने 'स्व' को प्राप्त कर सकेंगे। ब्रूनो बॉयर के अनुसार आत्म-चेतना के ज़रिये ही मनुष्य द्वैत की स्थिति पर क़ाबू पा सकता है।

इसके विपरीत दार्शनिक फ़्योरबाख़ ने कहा कि 'अलगाव' की स्थिति का मूल स्रोत धार्मिक अन्धविश्वासों और जड़-पूजन की प्रवृत्तियों में है। उनके अनुसार मनुष्य बंधनग्रस्त इसलिए है कि वह अपनी आकांक्षा, चेतना और संवेदना के सर्वोत्तम भाग को किसी बाह्य वस्तु या कल्पित परमात्मा में प्रक्षेपित करके उसे 'दैविक' होने की संज्ञा प्रदान करता है और अपने 'स्व' से विच्छेद कर लेता है। अलगाव की इस स्थिति पर क़ाबू तभी पाया जा सकता है जब उस 'दैविक' तत्व को, जो वास्तव में मनुष्य का अपना 'तत्व' है, पुनः मनुष्य में अधिष्ठित किया जाए, किसी ईश्वर-केन्द्रित धर्म के ज़रिये नहीं बल्कि मनुष्य-केन्द्रित धर्म के ज़रिये, ताकि आत्म-प्रेम के माध्यम से वह अपने को पुनः सम्पूर्ण बनाए। फ़्योरबाख़ का कहना था कि अलगाव की स्थिति या आत्म-विरक्ति का अस्त्र लेकर आलोचना को चाहिए कि वह ब्रह्मज्ञान (theology) की जगह मानव-ज्ञान (anthropology) और ईश्वर की जगह मनुष्य को प्रतिष्ठित करे ताकि दर्शन पारलौकिक की चिन्ता छोड़कर लौकिक जीवन की ओर उन्मुख हो, मनुष्य अमूर्त-अव्यक्त की प्रेतच्छाया से मुक्त हो और आधिदैविक के पंजों से छुटकारा पाए। तभी मनुष्यों के पारस्परिक-सम्बन्ध "मैं-तू" (I-Thou) के आधार पर स्थापित हो सकेंगे।

क्लासिक दर्शन-परम्परा में आदर्श पुरुष की कल्पना इससे भिन्न होती थी। उसके अनुसार चिन्तन और साधना से निर्वाण या मोक्ष प्राप्त करना ही जीवन का लक्ष्य था, दुखों और द्वैत से मुक्ति पाने का यह मार्ग ही सर्वोपरि माना जाता था। लेकिन हीगल ने मुक्ति या स्वतन्त्रता की चर्चा करते समय एक नये तत्व की अवधारणा की थी। यह नया तत्व 'कर्म का सिद्धान्त' था। उसने कहा कि द्वैत और अलगाव की स्थिति से मुक्ति पाने के लिए, जो मनुष्य को बंधन में डाले रखती है, उसे कर्म करना पड़ेगा। चेष्टा या कर्म में ही मनुष्य अपने को पा सकता है। जीवन में वह जो भी चुनाव करता है, उससे उसका चरित्र या मूल स्वभाव प्रकाशित होता जाता है। लेकिन हीगल के लिए 'कर्म का सिद्धान्त' एक अमूर्त धारणा ही बनी रही

और फ़्योरबाख़ के विचारों में भी मूर्तता नहीं आ पाई, क्योंकि उसने जिस मनुष्य की चर्चा की वह जातिवाचक 'मनुष्य' था हालाँकि उसने पहली बार 'अलगाव' (alienation) की समस्या को निश्चित परिभाषा दी थी और धर्म में उसका स्रोत खोजा था। जो भी हो हीगल के वामपंथी अनुयायियों ने 'अलगाव' की समस्या को लेकर पहली बार तमाम पुरानी मान्यताओं और परम्पराओं पर प्रहार किया और मनुष्य के चिन्तन में 'आधुनिकता' के युग का सूत्रपात किया। इससे पहले प्रसिद्ध जर्मन कवि गेटे ने 'फॉस्ट' के रूप में 'आधुनिक मनुष्य' का चरित्र-चित्रण किया था—निर्बन्ध महत्वाकांक्षा के मनुष्य का—लेकिन गेटे भी नैतिक आदर्श के लिए प्राचीन यूनान का मुँह जोहता था। हीगल के दक्षिणपंथी अनुयायियों ने, जिनमें कीर्केगार्द सबसे अधिक उल्लेखनीय है, हीगल की 'अलगाव' (alienation) सम्बन्धी धारणा को धार्मिक साँचे में ढालने की कोशिश की। उसने कहा कि चूंकि मनुष्य किसी भी बौद्धिक चेष्टा से कर्त्ता-कर्म या विषयी-विषय के द्वैत पर क़ाबू नहीं पा सकता, इसलिए यह संसार बेमानी (absurd) है और हमेशा बेमानी बना रहेगा। संसार में मनुष्य हमेशा ही बंधनग्रस्त बना रहेगा—यह उसकी नियति है। वह केवल अपने से परे किसी धार्मिक अर्थ की प्रतीति के रूप में आस्था की कुलाँच भरकर निरपेक्ष सत्ता से तादात्म्य स्थापित करने की आशा भर कर सकता है। किन्तु यह कोई नया विचार नहीं था, क्लासिक विज्ञानवादी दर्शन का ही नये शब्दों में पिष्टपेषण था।

हीगल के वामपंथी अनुयायियों में कार्ल मार्क्स ने पहली बार उसके 'कर्म के सिद्धान्त' की कार्य (श्रम, work) के रूप में पुनर्व्याख्या करके उसे एक निश्चितता और मूर्तता प्रदान की। २६ साल के तरुण मार्क्स ने अपनी पुस्तक Economic-Philosophical Manuscripts में, जो अब तक अप्रकाशित थीं, और जिसके कारण विचारक मार्क्स के आर्थिक-राजनीतिक सिद्धान्तों का ही अध्ययन-विवेचन करते रहे, उसने मनुष्य और उसकी स्थिति-प्रकृति का विश्लेषण किया है। मार्क्स के अनुसार कार्य (श्रम) के माध्यम से ही मनुष्य-मनुष्य बनता है और जीवित रहता है, कार्य (श्रम) के माध्यम से ही वह अपने अकेलेपन (अलगाव की स्थिति या alienation) से मुक्ति पाता है और कार्य (श्रम) के माध्यम से ही मनुष्य सामाजिक प्राणी बनता है और इस प्रकार अपने 'स्व' का ज्ञान प्राप्त करता है और कार्य (श्रम) के माध्यम से ही वह प्रकृति को भी इच्छानुसार बदलता है। अलगाव (alienation) का स्रोत कार्य (श्रम) में अवस्थित करके मार्क्स ने एक क्रान्तिकारी क़दम उठाया और हीगल और उसके अनुयायियों की अमूर्त धारणाओं से मुक्त करके दर्शन को मानव-क्रियाशीलता की ठोस ज़मीन पर खड़ा कर दिया।

कार्य (श्रम) से विरक्ति या अलगाव की भावना के बारे में पहले तो मार्क्स ने भी आदर्शवादी द्वैत की परिकल्पना की। यानी यह कि कार्य (श्रम) करते समय मनुष्य बाह्य वस्तुओं (अपने श्रम से बनी वस्तुओं) में अपने-आपको परिवर्तित करता है। यह वस्तुएँ श्रम का ही रूप होती हैं, जो उस विरोधी और अजनबी विश्व का अंग बन जाती हैं, जो उसके ऊपर और उसके विरोध में खड़ा है। श्रम में मनुष्य को हाँका जाता है। श्रम में मनुष्य को दूसरे मनुष्य के बंधन, नियंत्रण और आदेश के मुताबिक चलना पड़ता है। इसके विपरीत 'स्वतन्त्रता' की स्थिति है, जहाँ मनुष्य प्रकृति को सचेत आत्मस्फूर्ति, सृजनात्मक कार्य (श्रम) से बदल सकेगा। लेकिन ऐसी 'स्वतन्त्रता' की प्राप्ति के मार्ग में बाधा कौन-सी है ? बाधा है यह स्थिति कि कार्य (श्रम) की प्रक्रिया पर मनुष्य का अधिकार खो गया है, साथ ही अपने श्रम से उत्पादित वस्तुओं पर से

भी, जिससे कार्य (श्रम) के प्रति उसमें विरक्ति (alienation) पैदा हुई है। अतः मार्क्स के अनुसार अलगाव और विरक्ति का मूल स्रोत अन्ततः वर्तमान सम्पत्ति-विधान में है। धर्म तो केवल अफीम का का नशा है जो इस तथ्य पर पर्दा डालता है। इसलिए फ़्योरबाख़ के विश्लेषण का महत्व गौण है। समाज (पूँजीवादी) में कार्य का संगठन-विधान इस रूप में होता है कि श्रम क्रय-विक्रय की वस्तु बन जाता है और मनुष्य दूसरों के उपयोग का विषय-बन गया है, जिससे उसे अपनी ही हस्ती से विरक्ति हो गई है और उसमें अपने 'स्व' का अहसास खो गया है। प्रचलित मनोवैज्ञानिक अर्थ में संसार से विरक्ति के भाव-बोध को 'अलगाव की भावना' (alienation) कहते हैं। जर्मन दर्शन में इस स्थिति को मानव-अस्तित्व की एक दुर्निवार स्थिति (ontological fact) के रूप में देखा जाता था। एक निरपेक्ष स्थिति होने के कारण मनुष्य के पास इसके सिवा कोई चारा नहीं था कि वह 'अलगाव' (alienation) को अपने अस्तित्व की नियति मानकर स्वीकार कर ले। लेकिन मार्क्स ने, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, 'अलगाव की भावना' को सामाजिक-ऐतिहासिक सन्दर्भ में रखकर देखा। उसके अनुसार इतिहास-जनित मानव-सम्बन्धों में ही इस भावना का मूल है और समाज की वर्तमान व्यवस्था को बदल देने से अलगाव की भावना या स्थिति पर क़ाबू पाया जा सकता है। यह कैसे सम्भव होगा ? वर्तमान समाज (पूँजीवाद) में कुछ लोगों के पास सम्पत्ति है, कुछ सम्पत्तिहीन सर्वहारा हैं—इस वैषम्य का कारण क्या है ? मार्क्स ने इन प्रश्नों की तह तक पहुँचने के लिए दर्शन के अमली पहलू, अर्थशास्त्र का अध्ययन शुरू किया ताकि वह 'अलगाव की भावना या स्थिति' के भौतिक आधार को उद्घाटित कर सके। इस गम्भीर खोज के परिणाम-स्वरूप मार्क्स इस नतीजे पर पहुँचा कि पूँजीवाद (तथा अन्य वर्ग-समाजों) में शोषण की प्रक्रिया ही 'अलगाव की भावना' के लिए ज़िम्मेदार है। यदि पूँजी पर व्यक्ति का अधिकार न रहे और उसका समाजीकरण कर दिया जाए तो शोषण की प्रक्रिया खत्म हो जाएगी और मनुष्य अपने श्रम से जो अतिरिक्त मूल्य पैदा करता है, वह सभी लोगों में बाँटा जा सकेगा, और श्रम के प्रति मनुष्य में आज जो विरक्ति का भाव है, वह नहीं रहेगा। इससे कुछ लोगों ने यह ग़लत निष्कर्ष निकाला कि पूँजीवाद ही मनुष्य में अलगाव की भावना का एकमात्र कारण है और पूँजीवाद और उसके साथ शोषण का अन्त होते ही मनुष्य में अलगाव की भावना का लोप हो जाएगा और मनुष्य अपने-आपको 'स्वतन्त्र' महसूस करने लगेगा, यद्यपि Manuscripts में मार्क्स ने स्पष्ट कहा था कि निजी सम्पत्ति को खत्म करते ही मनुष्य 'स्वतन्त्र' नहीं हो जाएगा, क्योंकि यह स्थिति 'सच्चे साम्यवाद' से भिन्न होगी—दरअसल वह 'कच्चे साम्य-वाद' की स्थिति होगी, एक अनिवार्य पूर्व स्थिति जो 'सच्चे साम्यवाद' और 'विधेयात्मक मानववाद' की ओर आरोहण करने में सोपान का काम करेगी, जहाँ मनुष्य अपने रचे संसार में अपने स्वरूप को पहचान सकेगा। 'सच्चे साम्यवाद' में मनुष्य अपने को सच्चे अर्थ में स्वतन्त्र और बंधन-मुक्त महसूस करेगा, क्योंकि वह अपनी क्षमता के अनुसार कार्य करेगा और उसे अपनी आवश्यकता के अनुसार सब चीज़ें उपलब्ध होंगी।

मार्क्स ने इस तथ्य का भी विवेचन किया कि पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में यद्यपि व्यक्ति क़ानूनी तौर पर स्वतन्त्र है, फिर भी मालिक और मज़दूर का रिश्ता ऐसा है कि उसमें पड़ते ही मज़दूर अनजाने ही गुलाम बन जाता है और कार्य (श्रम) से अलगाव भी महसूस करने लगता है। वह कौन-सा माध्यम है जो प्रत्यक्षतः स्वतन्त्र व्यक्ति को गुलाम बना देता है ? मार्क्स ने

इसका उत्तर दिया कि 'धन' या 'पैसा' ही ऐसा माध्यम है। धन सबसे निर्वैयक्तिक प्रकार का मूल्य है और देखने में निष्पक्ष भी। जो व्यक्ति पैसे के लिए अपना श्रम बेचता है, वह अपने को स्वतन्त्र तो महसूस करता है लेकिन दरअसल उसके श्रम से बनी वस्तु का आसानी से धन के रूप में अमूर्त्तीकरण किया जा सकता है। श्रम धन के रूप में परिवर्तित हो जाता है और व्यक्ति बिना यह जाने ही कि 'अतिरिक्त मूल्य' उससे निचोड़ लिया गया है, अपनी स्वतन्त्रता खो बैठता है। अलगाव की भावना का यही मूल कारण है। इसीलिए मार्क्स ने कल्पना की कि 'सच्चे साम्यवाद' की स्थिति में पहुँचकर विनिमय के लिए 'मुद्रा' के माध्यम की ज़रूरत नहीं रहेगी।

यहाँ प्रसंगवश इस बात का उल्लेख जरूरी है कि कार्य (श्रम) से मनुष्य में अलगाव की भावना पैदा होने की स्थिति की ओर मार्क्स से पहले भी जागरण-युग के अनेक विचारकों और लेखकों ने संकेत किया था। जिन क्रूर परिस्थितियों में मज़दूरों और किसानों को काम करना पड़ता था, उससे द्रवित होकर उन्होंने सोचा कि 'श्रम' ही अलगाव की भावना और विरक्ति का कारण है। लेकिन चूँकि श्रम से मुक्ति असंभव है, इसलिए उन्होंने एक ऐसे यूटोपियन समाज की कल्पना की जिसमें श्रम-विभाजन से उत्पन्न होनेवाली सभी विकृतियाँ मिट जायेंगी और श्रम और खेल का भेद भी मिट जायगा। खेल में व्यक्ति स्वतन्त्र होता है और उसमें अनुरक्त मन से भाग लेता है। शिलर, मोज़ार्त और फॉरियर आदि का कुछ ऐसा ही विचार था। श्रम की वर्तमान क्रूर परिस्थितियाँ कैसे बदली जाएँ, उन्होंने इस समस्या पर गौर नहीं किया और न तात्विक दृष्टि से यही देखा कि श्रम और खेल दो प्रकार के कार्य हैं, जिनका भेद मिटाना सम्भव नहीं है। जैसा कि हंगेरी के विचारक मिक्सलोस अलमासी ने लिखा है, 'श्रम' कभी खेल नहीं बन सकता, क्योंकि खेल बाह्य आवश्यकता की श्रृंखला से बाहर की वस्तु है। खेल के नियम मनुष्य के अपने बनाये नियम होते हैं, वह उन्हें बदल सकता है, खेल गड़बड़ हो जाय तो वह पुनः उसे खेल सकता है। खेल की स्वतन्त्रता एक विषयीगत स्वतन्त्रता है, जबकि कार्य (श्रम) प्रकृति के नियमों को समझकर उनका कुशलता से उपयोग करने पर आधारित होता है। कार्य (श्रम) में 'आवश्यकता' का जो बंधन है, उसे अलगाव (alienation) का पर्याय नहीं समझ लेना चाहिए। दरअसल अलगाव की भावना से मुक्ति श्रम की ऐसी परम्परा के विकास से ही संभव होगी, जिसमें हर मनुष्य अपनी अन्तरतम भावनाओं और रुचियों की तुष्टि कर सके। अर्थात् मनुष्य कार्य (श्रम) के माध्यम से इस बाह्य जगत में अपने को पा सके, अपने को पूर्णतः अभिव्यक्त कर सके और यह न महसूस करे कि उसे ऐसा कार्य करना पड़ रहा है, जो उसकी इच्छा के विपरीत है। तभी वह प्रकृति पर अपने लक्ष्यों को आरोपित कर सकता है और संसार को अपना बना सकता है और ऐसा करने के बीच स्वयं अपने को भी बदलकर उच्चतर मानव बन सकता है। इसीलिए मार्क्स ने कहा कि "वास्तविक स्वतन्त्रता, जिसकी क्रिया श्रम है, व्यक्ति की आत्मप्राप्ति और आत्माभिव्यंजना है।"

हंगेरी के प्रसिद्ध मार्क्सवादी आलोचक-दार्शनिक जार्ज लूकाच के शिक्षक सिमेल ने यह मत प्रकट किया कि औद्योगिक समाज ही आधुनिक मनुष्य में अलगाव की भावना के विकास का मूल कारण है। औद्योगिक समाज में मनुष्य अपनी सामाजिक हस्ती खोकर एक गुमनाम इकाई बन गया है और उसका व्यक्ति अनेक भूमिकाओं में बँटकर बिखर गया है। बाद में उसने अपने विचार को व्यापक आधार देते हुए कहा कि अलगाव की भावना मनुष्य की सृजनशीलता और सामाजिक संस्थाओं के दबाव के बीच चलनेवाली अनवरत टकराहट का परिणाम है। फ्रॉयड ने भी 'सभ्यता और उससे उत्पन्न

असन्तोष' नाम की पुस्तक में इससे मिलती जुलती धारणा व्यक्त की थी कि मनुष्य की सहज वृत्तिमूलक आवश्यकताओं और सभ्यता द्वारा आरोपित वर्जनाओं में निरंतर तनाव की स्थिति बनी रहने के परिणाम स्वरूप ही मनुष्य का जीवन दुखमय है। लूकाच ने 'इतिहास और वर्ग चेतना' नामक पुस्तक में इस सारी बहस को नैतिक-स्तर पर उठाकर भौतिकवादी दृष्टि से मानव-अस्तित्व के भविष्य को देखने का प्रयत्न किया।

अलगाव की भावना की अन्य कारण-भूत सामाजिक स्थितियों पर परवर्ती चिन्तकों ने भी और कई दिशाओं से प्रकाश डाला है। सोवियत यूनियन में समाजवादी व्यवस्था को स्थापित हुए पचास वर्ष हुए। पूर्वी योरोप के सात-आठ अन्य देशों में भी समाजवादी व्यवस्था को कायम हुए लगभग बीस साल हो चुके। चीन को हम इस प्रसंग में नहीं गिनेंगे, क्योंकि वहाँ समाजवादी व्यवस्था का विद्रूप ही नजर आता है। इस बीच का अनुभव यह बताता है कि अलगाव की भावना पैदा करनेवाली कुछ कारणभूत सामाजिक स्थितियाँ ऐसी हैं, जो पूँजीवादी और समाजवादी व्यवस्थाओं में सामान्य रूप से पाई जाती हैं, और 'सच्चे साम्यवाद' में भी उनका बाह्यरूप शायद ही बदले, जैसे श्रम-विभाजन की स्थिति या तकनीकी विकास की स्थिति या व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन के द्वैत की स्थिति। यह ठीक है कि उत्पादन के साधनों का समाजीकरण हो जाने के कारण वहाँ मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण तो खत्म हो गया, लेकिन व्यक्तित्व को बाँटने और खंडित करनेवाले न तो सभी मनोवैज्ञानिक कारण ही मिट सके हैं और न अलगाव और द्वैत की स्थिति पैदा करनेवाली उपरोक्त सभी अनिवार्य तथा कारणभूत सामाजिक स्थितियों के अन्तर्गत मानव-सम्बन्धों का नियमन इस ढंग से किया जा सका है कि उनके रहते हुए भी मनुष्य पूर्णतः सम्पृक्त हो सके और अलगाव न महसूस कर सामाजिक कार्य में एक कलाकार और सृष्टा जैसा उल्लास और अनुराग महसूस कर सके। संभवतः इसका कारण यह भी है कि समाजवादी व्यवस्थाएं अभी 'सच्चे साम्यवाद' की पूर्व-स्थितियाँ हैं। लेकिन इतना तो निश्चित है कि बीच में व्यक्ति-पूजा के अस्थाई किन्तु निरंकुश दौर से गुजरने के बावजूद समाजवादी देशों में व्यक्ति और समाज का वैषम्य और अन्तर्विरोध कम होता आया है और वहाँ के शोषण-मुक्त मानव को अलगाव की भावना से मुक्ति दिलाने की ओर भी सजग चेष्टा हो रही है। वहाँ कम-से-कम अलगाव की भावना से उत्पन्न मानसिक विश्रृंखलता की वह स्थिति तो नहीं है जो पाश्चात्य के पूँजीवादी देशों में आज पाई जाती है। मार्क्स की तरह अब तक यही सोचा जाता था कि आधुनिक समाज में कार्य (श्रम) का एक ही रूप बंधन-मुक्त है। केवल कलाकार और रचनाकार ही सृजन कार्य में अपने को मुक्त-हृदय और स्वतन्त्र महसूस करता है, और उन क्षणों में अलगाव की भावना पर काबू पा लेता है। लेकिन पूँजीवादी देशों में अब स्थिति ऐसी नज़र आती है कि कलाकार और कवि का व्यक्तित्व इस हद तक खंडित हो गया है कि वह सृजन के क्षणों में भी सम्पूर्ण नहीं हो पाता, विभाजित और बेगाना बना रहता है, जिसका मार्मिक वेदन उसकी रचना में ध्वनित होता है। आज कलाकार सृजन के स्फूर्तिदायी क्षणों में भी अगर अपने व्यक्तित्व को सीमित और विभाजित करनेवाली अलगाव की भावना से आक्रान्त करनेवाली स्थितियों से ऊपर उठकर मनुष्यमात्र से एकात्म महसूस नहीं कर सकता और पूरे समाज के भाग्य में रुचि लेकर विश्व-मानव होने की अखंडित अनुभूति नहीं कर सकता और सृष्टा के गौरव से वंचित होने की इस स्थिति को ही 'आधुनिक भाव-बोध' या 'भोगा हुआ सत्य' कह कर मन को सन्तोष देता है, तो कहना होगा

कि पूँजीवाद में सृजनात्मक कार्य भी अब 'स्वान्तः सुखाय' नहीं रहा। टोटल अलगाव (alienation) की यह स्थिति चाहे तथ्य हो लेकिन सत्य और अनित्य और दुर्निवार भी है, यह समझना जीवन को बेमानी और फालतू मान लेना है और उन सामाजिक कारणों से आँख मीच लेना है, जिन्होंने यह स्थिति पैदा की है।

चूंकि अलगाव की समस्या के प्रति हमारे देश के बुद्धिजीवी भी अब सचेत हो गये हैं, आवश्यकता इस बात की है कि इस पर गम्भीरतापूर्वक हर पहलू से विचार किया जाय। जीवन को बेमानी समझने-वाले व्यक्तियों की भी आन्तरिक इच्छा यही है कि जीवन में सार्थकता नज़र आये, क्योंकि मनुष्य का सर्वोच्च लक्ष्य आज भी स्वतन्त्रता की प्राप्ति है। वह अपने से ही बेगाना नहीं होना चाहता, कर्त्ता का गौरव प्राप्त करना चाहता है और चाहता है कि सामाजिक जीवन इसके लिए उसे अनुकूल अवसर प्रदान करे।

आभार प्रदर्शन

'आलोचना' के सम्पादन-कार्य से आज मुक्त होते समय मैं हिन्दी और अन्य भाषाओं के उन सभी समालोचकों, विद्वानों और नई व पुरानी पीढ़ी के रचनाकारों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करना चाहता हूँ जिनका स्नेह-सौहार्द्र और सहयोग मुझे लगातार मिलता रहा है, जिसके कारण ही 'आलोचना' आज के कन्फ्यूजन में एक विधेयात्मक भूमिका अदा कर सकी। सन् १९५१ में 'आलोचना' का आरम्भ करते समय मेरे सामने यह उद्देश्य था कि वह साहित्य की रचनात्मक प्रवृत्तियों का गम्भीर मूल्यांकन प्रस्तुत करे और यथासंभव उन्हें नया मार्ग-निर्देश दे। दोबारा मैंने जब इसका सम्पादन-भार संभाला तो उस समय भी मेरे सामने यही उद्देश्य था। अपनी अक्षमताओं से मैं बेखबर नहीं हूँ, फिर भी इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आलोचना के माध्यम से जो कुछ भी कर सका, उसका श्रेय वास्तव में साहित्य के उन मर्मज्ञ विद्वानों को है, जिन्होंने अपना मूल्यवान् सहयोग देने में कभी संकोच नहीं दिखाया। इस बीच अन्य कार्यों में, जिनका परोक्ष रूप में साहित्य से ही सम्बन्ध है, मेरी व्यस्तता इतनी बढ़ गई है कि 'आलोचना' के सम्पादन की ज़िम्मेदारी का निर्वाह करना कठिन हो गया है।

शिवदानसिंह चौहान

श्री शिवदान सिंह चौहान ने जिस योग्यता, दक्षता और तत्परता के साथ अब तक 'आलोचना' का संपादन किया है उसके लिए हम उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं। चौहानजी 'आलोचना' के एक संपादक ही नहीं, बल्कि संस्थापक हैं; और इसके लिए राजकमल प्रकाशन उनका चिरऋणी है। इस पत्रिका के द्वारा साहित्य में समीक्षा की एक स्वस्थ मर्यादा स्थापित हुई है और राजकमल को भी गौरव प्राप्त हुआ है। चौहानजी 'आलोचना' और राजकमल-परिवार से जिस प्रकार घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध रहे हैं उससे हम आश्वस्त हैं कि वे आगे भी 'आलोचना' को अपना सहयोग और परामर्श देते रहेंगे। भविष्य में 'आलोचना' उनके द्वारा स्थापित स्वस्थ एवं प्रगतिशील परम्परा को आगे बढ़ाने का पूरा प्रयास करेगी।

शीला संधू
मैनेजिंग डाइरेक्टर,
राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड

परमानन्द श्रीवास्तव

समकालीन लेखन में प्रतिबद्धता का प्रश्न

आकस्मिक नहीं है कि पिछले दिनों पत्र-पत्रिकाओं में प्रतिबद्धता (कमिटमेन्ट) की सबसे अधिक चर्चा हुई है और प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में लेखन की समस्याओं में इसे सबसे अधिक प्रतिष्ठा भी मिली है। इसके पीछे सबसे महत्वपूर्ण कारण संभवतः यह है कि दायित्व-चेतना के विरोध में 'स्वतन्त्रता' का जो नारा दिया गया था वह देखते-देखते 'निषेध' एवं 'नकार' के स्वर में घुल-मिल गया। आवश्यक हो गया था कि लेखक संक्रमण और विघटन की स्थिति में भी स्वीकार का कोई रास्ता चुने। समय की चुनौती स्वीकार करने वाले लेखक ने तब प्रतिबद्धता को भी मूल्य के रूप में चुना। प्रतिबद्धता का प्रश्न नये सन्दर्भ में इतना महत्वपूर्ण हो उठा कि लेखकों ने वक्तव्यों एवं टिप्पणियों में इस प्रश्न के विभिन्न पहलुओं पर विचार किया और एक-दो पत्रों ने इस प्रश्न पर अपने विशेष अंक भी निकाले। इस सिलसिले में अधिकतर लेखकों ने स्पष्ट किया कि उनकी प्रतिबद्धता आज की जटिल और निर्मम मानव-नियति के प्रति ही है। जिन्हें यह व्याख्या अविश्वसनीय लगती है वे प्रतिबद्धता को ग़ैर-साहित्यिक, दूसरे शब्दों में राजनीतिक प्रश्न मान रहे हैं और सफ़ाई के तौर पर कहते हैं कि साहित्यकार के रूप में वे अपने अतिरिक्त किसी के प्रति प्रतिबद्ध नहीं हैं। वे भूल जाते हैं कि प्रतिबद्धता अपना अर्थ-विस्तार भी कर सकती है या उसकी अर्थ-व्यंजना इतनी सीमित नहीं है जितनी वे समझते हैं।

प्रश्न किया जा सकता है कि क्या प्रतिबद्धता राजनीतिक प्रश्न है? शायद है—शायद नहीं है! अमरीका अपने को वियतनाम में प्रतिबद्ध कहता है और साबित करता है कि इस शब्द की आड़ में राजनीतिक षड्यन्त्र भी चल सकता है नहीं तो यह कौन-सी प्रतिबद्धता है जो मानव जाति के बहुत बड़े हिस्से को बर्बरता से नष्ट करने के लिए तत्पर है। दूसरी ओर भारतीय लेखक जब अल्जीरिया की स्वाधीनता की मांग करता है या वियतनाम में अमरीकी रुख़ के प्रति अपना विरोध ज्ञापित करता है तो यह प्रमाण देता है कि प्रस्तुत प्रश्न उसके लिए राजनैतिक से पहले नैतिक प्रश्न है। लेखक के रचनात्मक मानस में भीतर से ही प्रतिबद्धता की यह नैतिक चेतना उत्पन्न होती है—बाहरी दबावों के कारण नहीं। जिस तरह राजनीति सही और ग़लत हो सकती है वैसे ही इस प्रश्न का उपयोग सही या ग़लत रूपों में संभव है। समकालीन लेखन में इसका साक्ष्य मौजूद है कि ईमानदार लेखक समकालीन मानव-नियति के प्रति अपने कठोर दायित्व के रूप में इसे स्वीकार करता है। किसी प्रश्न को राजनीतिक कह कर टाल देना भी एक प्रकार की राजनीति है— तमाम विराट और वायवी शब्द या सन्दर्भ उसे छिपाने में समर्थ नहीं हैं। यह

बिडम्बना ही है कि अठारह वर्षों के भारतीय लोकतन्त्र में यह 'राजनीति' कई बार दुहराई गई है। इससे भी बड़ी विडम्बना यह है कि राजनीति के स्वर में लिखा हुआ साहित्य भी मानव-नियति के बुनियादी प्रश्नों को उसी तरह टालता रहा है जिस तरह राजनीति की छाया से परहेज़ करने वाला व्यक्तिवादी अन्तर्मुखी लेखन।

प्रतिबद्धता अपने-आप में सम्पूर्ण नहीं है क्योंकि वह किसी न किसी के प्रति होती है। भक्तिकाल में प्रतिबद्धता धर्म या ईश्वर के प्रति थी, रीतिकाल में राज्याश्रय (दरबारी संस्कृति) के प्रति। यह प्रतिबद्धता समर्पण ही थी। आधुनिक काल में प्रतिबद्धता राष्ट्रीय स्वाधीनता की मांग के प्रति थी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद के वर्षों में कुछेक लेखकों के मस्तिष्क या लेखन में ही सही, वह भारतीय लोकतन्त्र के प्रति उन्मुख रही है। भारतीय राजनीति एवं सत्ता की विसंगतियों के कारण वह टूटती गयी है क्योंकि समकालीन परिस्थितियों के विघटन के बीच उसकी दिशा इतनी स्पष्ट नहीं रह गई है। देखते देखते दुनिया के तमाम देशों की समस्याएं एक दूसरे से इस तरह घुलमिल गई हैं कि सृजनकर्ता सबसे पहले अपने को व्यापक मानवीय नियति के प्रति ही प्रतिबद्ध अनुभव करता है। समकालीन सृजन-प्रक्रिया में यह प्रश्न जटिलतर हो गया है। स्थितियों की अनिश्चयता निर्मम चुनौती के रूप में समकालीन लेखक के सामने है जिसे बदलना आसान नहीं है। लेकिन सिर्फ इसलिए उसकी प्रतिबद्धता की चेतना घटती नहीं, पहले की तुलना में बढ़ ही जाती है। अब लेखक सहज प्रतिबद्ध नहीं है, प्रतिबद्ध होने के लिए अभिशप्त है, उस पूरी मानवीय नियति के प्रति, जिसने आज की कला और साहित्य में प्रतिबिम्बित होने वाले भयानक अमानवीकरण का ही अनुभव कराया है।

समकालीन लेखक की प्रतिबद्धता इस यथार्थ-स्थिति के स्वीकार के प्रति है जिसके सन्दर्भ में स्पष्ट है कि मानव-प्रेम, देश-प्रेम, राष्ट्रीय एकता, सह-अस्तित्व जैसे शब्दों के अर्थ छिलके की तरह उतर गये हैं। उसकी प्रतिबद्धता इस निर्मम स्थिति के स्वीकार के प्रति है। नये कवि केदारनाथ सिंह की कविता इस 'स्वीकार' से ही शुरू होती है :

उठो और दरवाज़ा खोल दो।
अखबार का समय हो गया है
और कुछ भी ठीक नहीं
सूरज और हाकर में किसकी दस्तक
पहले पड़ जाय !

और आगे वे अपने को स्पष्ट करते हैं:—

'प्रतीक्षा'—प्रेमिका की हो या अखबार की
एक ग़लत शब्द है
ग़लत और बेमानी।
आदमी को सिर्फ़ 'तैयार' रहना चाहिए।

यहीं समकालीन कविता छायावाद के रूमानी भाव-बोध से, जो घिसटकर आगे की नव-रोमानी कविता तक चलता रहा, अलग हो जाती है। केदारनाथ सिंह क्योंकि अपने ढंग से

प्रतिबद्ध कवि हैं अतः वे आज की जटिल नियति को उसके निर्भ्रान्त रूप में स्वीकार करते हैं :

क्योंकि इस समय
कितना मुश्किल है अलग कर पाना
प्रेमिका को अखबार से
और अखबार को
सुर्ख आँखों वाले किसी जंगली जानवर से !

केदार इसी कविता में सचेत करते हैं कि आज के व्यक्ति को उन अस्पष्ट शब्दों से बचना चाहिए जो उसकी कठोर प्रतिबद्धता के मार्ग में अवरोध उपस्थित करते हैं और दूसरी ओर प्रतिक्रियावादी शक्तियों से सावधान रहना चाहिए :

कुछ शब्द हैं,
जैसे 'भविष्य'—जिसके जादू से बचना चाहिए।
कुछ चीज़ें हैं,
जैसे साबुन का यह डिब्बा
जिसके बारे में तुम्हारी चुप्पी
सिर्फ़ उन ताक़तों को लाभ पहुँचाती है
जो तुम्हें
तुम्हारे तौलिए के विरुद्ध इस्तेमाल
करना चाहती हैं।

निर्मल और बाद के कहानी लेखकों, जैसे दूधनाथसिंह, महेन्द्र भल्ला या ज्ञानरंजन आदि की कहानियों में यथार्थ स्थिति के स्वीकार का स्वर तेज़ है—चाहे अस्वीकारात्मक स्थिति के ही स्वीकार का स्वर हो। यह केवल संयोग नहीं है न अभ्यास का परिणाम कि समकालीन लेखन की भाषा में अतिरंजना एकदम नहीं है— सतही आवेश भी नहीं. जो झूठे आश्वासन का ही एक पहलू होता है।

आक्टोवियो पाज़ जब ब्रेख्त पर विचार करते हैं तो कुशलता से कहते हैं– 'विद्रोह अपने अन्दर होता है, बाहर से उसे जुटाया नहीं जा सकता। मगर इससे भी बड़ा ख़तरा तब पैदा होता है जब कमिटमेन्ट या प्रतिबद्धता को साहित्य के मूल्यांकन के लिए एक मान-दण्ड मान लेने का आग्रह किया जाता है।' पॉज़ की आख़िरी बात से सहमत होना कठिन नहीं है लेकिन ग़लत स्थितियों के प्रति विद्रोह का ख़तरा प्रतिबद्ध लेखक को उठाना ही पड़ता है (यों अपने ढंग से हर जागरूक व्यक्ति को, नागरिक को उठाना पड़ता है) ! आखिर आधुनिक कवि एवं लेखक स्वर्गीय गजानन माधव मुक्तिबोध ने यह ख़तरा उठाया ही। मार्क्सवाद में उनकी आस्था न भी होती तब भी प्रतिबद्ध लेखक के रूप में वे यह ख़तरा उठाने के लिए अभिशप्त थे। वे यथार्थ स्थिति के प्रति अत्यन्त जागरूक थे—यथार्थ उनके लिए यथार्थ ही था, फैन्टेसी नहीं। उन्होंने यथार्थानुभव को प्रतीकों में समाप्त नहीं कर दिया, रूपकों में फैलाया। इसकी चिन्ता उन्हें नहीं हुई कि उनकी कविता के 'सौष्ठव' में कोई कमी आती है। फैलाव मुक्तिबोध की कविता का गुण है क्योंकि वह बुनियादी प्रश्नों

की ऐतिहासिक भूमि पर व्याख्या करता है। प्रतिबद्ध कवि मुक्तिबोध की पहचान कितनी अचूक और तीखी थी यह बताने की आवश्यकता नहीं— जब वे लिखते हैं—

काले लिबास में ढंकी हुई गहरी छाँहें
हाथों में लालटैन मद्धिम
जेबों में धन
आजादी को खरीदने का ऊधम...
वे छाँहें तो दुनियाँ के आरपार जाती-सी
बाहें हैं
उसकी बाहें—
जो उस बँगले में अदृश्य बनकर बैठा है
वे गुप्त सीढ़ियाँ रूपक छिपे तरीकों के...

तो उनके ऐतिहासिक तर्क को समझना कठिन नहीं होता।

समकालीन सन्दर्भ में इस प्रश्न पर विचार करते हुए हम अस्तित्ववादी दार्शनिक ज्याँ पाल सार्त्र से सहमत हो सकते हैं जब वे आज की स्थिति में इसे आवश्यक प्रश्न मान कर उठाते हैं परन्तु कृतिकार के संस्थान में रूपान्तरित होकर रह जाने की नियति का विरोध भी करते हैं क्योंकि प्रतिबद्ध होना प्रतिवद्ध होना है, सर्मपित होना नहीं।

विजयशंकर त्रिवेदी

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी समीक्षा की समस्याएँ

युग-जीवन के प्रभाव साहित्य की गरिमा में संश्लिष्ट होते हैं। युग और साहित्य के पारस्परिक सम्बन्धों का सेतु बौद्धिक चेतना हुआ करती है, जो उसके अस्तित्व का बोध करवाती है। संवेदनाओं का प्रदेय उसके महत्व को स्थायित्व देता है, किन्तु उसके स्थायित्व का मूल्यांकन समीक्षकीय चेतना करती है। अपितु, यह कहना अधिक समीचीन होगा कि समीक्षा की चेतना ही उसके मूल रूप से प्रस्थापन में सहायक होती है। जिसे समय की आँच अपने में गला नहीं पाती बल्कि उसे तपाकर कुन्दन की तरह उसके महत्व को प्रकट करती है। समीक्षा का प्रदेय किसी भी साहित्य को ऊपर उठाता है, हिन्दी साहित्य को भी समीक्षा ने एक स्थैर्य दिया है जो कई कठिनाइयों के बाद प्रकट हुआ है। स्वतन्त्रता के बाद हिन्दी समीक्षा के निकट विगत का सम्मोहन और आगत का आग्रह उपस्थित हुआ। यही नहीं, कई समस्याओं का उदय भी हुआ। इन समस्याओं के बीच समीक्षा अपनी अन्तर्दृष्टि के आधार पर ही अपने पथ का प्रस्थापन कर अपनी महत्ता को प्रकट कर सकती है।

सन् १९४७ से हमने स्वतन्त्रता का जीवन आरम्भ किया था। स्वतंत्र होते ही हमारे सामने कई समस्याएँ उठ खड़ी हुईं। और अधिकांश समस्याएँ वर्तमान की आवश्यकता बन गई। जन-जीवन के व्यवहार के लिए भाषा की समस्या भी प्रमुखता रखती थी। जो उस समय हल न होकर २६ जनवरी १९५० में जाकर हुई। हमारे संविधान में राष्ट्र-भाषा की महत्ता को स्वीकारा गया और हिन्दी को उसकी उपयुक्तता के अनुकूल पाया गया। कदाचित इसलिए कि हिन्दी इस महादेश की एक ऐसी भाषा थी जो लगभग एक सहस्र वर्ष से अपने साहित्य और व्यवहार के बूते पर राष्ट्रभाषा की अधिकारिणी हो सकती थी। राष्ट्र जीवन को बड़ी व्यापकता के साथ छूने वाली इस भाषा ने अपने महत्व को प्रतिपादित किया। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने उसकी महत्ता को प्रकट करते हुए कहा है, "जिस भाषा को जितने अधिक लोग बोलते हों उसका उतना ही राष्ट्रीय महत्व मानना होगा। हिन्दी का करीब एक हजार वर्षों का साहित्य है, जिसमें सूर, तुलसी, मीरा और भारतेन्दु से लेकर आधुनिक युग में जयशंकर प्रसाद, पंत, निराला आदि कवियों की बहु-मूल्य निधियाँ मौजूद हैं। गद्य-लेखन का कार्य भी काफी हुआ है। इसके अतिरिक्त हिन्दी की अपनी परम्परा है जो राष्ट्र के जीवन के समस्त संघर्षों से जुड़ी हुई है। वह इतिहास की दृष्टि से भी केन्द्र की भाषा है।"[१] अस्तु राष्ट्र-भाषा की समस्या एक ढंग से

१. राष्ट्र-भाषा की कुछ समस्याएँ : प० नन्ददुलारे वाजपेयी, पृष्ठ ५२

हल हो चुकी थी किन्तु उसके निकट राजनैतिक स्वार्थों के उपस्थित हो जाने के कारण उसमें जो विपुल साहित्य 'वैज्ञानिक शब्दावली', पारिभाषिक कोश तेज़ी से निर्मित हो रहा था, वह उलझ गया। डा० नगेन्द्र ने कहा भी है कि 'हिन्दी का यह सौभाग्य था और दुर्भाग्य भी था कि संविधान सभा ने उसे राज-भाषा घोषित किया। सौभाग्य इसलिए कि स्वतंत्र भारत जैसे महान् देश की राष्ट्रीय एकता की सूत्रधारणी बनने का गौरव उसे मिला। दुर्भाग्य इसलिए कि वह राजनैतिक वत्याचक्र में फँस गई।'[1] इसके बावजूद हिन्दी के प्रति जो दुर्भावनाएँ थीं वे धीरे-धीरे मिटती गईं। और स्वतंत्रता के बाद लगभग दो दशकों में हिन्दी और उसके साहित्य ने विपुल प्रगति की है।

हिन्दी की प्रगति के साथ उसके साहित्य की प्रगति निरन्तर होने लगी और विपुल मात्रा में हिन्दी का प्रकाशन होने लगा। इस प्रकाशन ने हिन्दी को बलवती बनाने में निश्चय बहुत बड़ा योग दिया है। बल्कि यह कहना उचित होगा कि हिन्दी के प्रकाशन की प्रगति ने जहाँ हिन्दी के लाखों पाठकों को अपनी ओर आकर्षित किया है, वहीं उसकी समृद्धि ने हिन्दी के गौरव को राष्ट्रभाषा की महत्तर शालीनता से अभिषिक्त भी किया है। कविता, उपन्यास, नाटक, समीक्षा, अनुसन्धान आदि पर प्रकाशन ने प्रगति के द्वार खोल दिये हैं। प्रकाशन ने हिन्दी की चहुँमुखी प्रगति की। प्रकाशन सुविधा ने हिन्दी में एक ओर यदि व्यावसायिकता को ऊपर उठाया तो दूसरी ओर सद्-असद् के विवेक से उसे वंचित भी किया है। सद्-साहित्य की समृद्धि में अच्छी पुस्तकों का प्रकाशन कम हुआ और व्यावसायिकता की पूर्ति के लिए धड़ल्ले के साथ घटिया किस्म का प्रकाशन बहुत हुआ। स्वतंत्रता के बाद हिन्दी में आचार्य द्विवेदी के युग के बाद फिर संक्रमण-काल आ उपस्थित हुआ है, जिसमें अच्छे और बुरे साहित्य की पहचान कम हो गई। मूल्यांकन की दृष्टि क्षीण हो गई।

एक ओर हम प्रगति करते जा रहे थे तो दूसरी ओर इस संक्रमण की पीड़ा से भीतर ही भीतर आक्रांत हो उठे। जीवन की विकटता का दृष्टिकोण व्यवसायिकता के परिवेश में काफी खोखला हो उठा। कदाचित् यही कारण है कि सद् और असद् के बीच की पहचान के लिए समीक्षा के स्वस्थ प्रतिमानों की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। जीवन के ह्रासोन्मुख रूप-तत्व साहित्य की प्राण-प्रतिष्ठा में सहायक नहीं हो पाये। युग जीवन के अन्तर्संघर्ष को इस व्यावसायिक साहित्य की आँखें नहीं देख पाईं। कदाचित् तभी नई चेतना की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी और हम अपने साहित्य में स्वस्थ मूल्यों की स्थापना की दिशा में अग्रसर हो चले। हिन्दी के विकास में उत्पन्न यह संक्रमण एक नये संघर्ष की भूमिका लेकर आया, जिसमें सद्-साहित्य की दिशा में गतिरोध तो अवश्य था, किन्तु इसने आत्म-निरीक्षण का अवसर भी प्रदान किया। स्वस्थ समीक्षादर्शों की आवश्यकता ऐसे ही अवसरों में उत्पन्न होती है, ताकि वे उत्पन्न हुए गतिरोध को हटा सकें। काव्य-शास्त्र के अनुशीलन की महत् परम्परा हमारी भारतीय मनीषा में कालांतर से चली आ रही है। शास्त्रीय दृष्टिकोण समीक्षा के सैद्धान्तिक पक्ष को सदैव निर्मित करते रहे हैं।

---

१. अनुसन्धान और आलोचना, पृ० ८३

यहाँ एक बात और स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि समीक्षा के विकास की जो सम्भावनाएँ दिखाई पड़ने लगीं, उसमें साहित्य की समृद्धि का भी योग है। अगर हम स्वतंत्र नहीं हुए होते तो न राजभाषा का प्रश्न आता और न हिन्दी के साहित्य का अपना इतना विकास ही हुआ होता। स्वतंत्रता ने साहित्य की समृद्धि को जो दिशा दी है, वह निःसन्देह उर्वर है। किन्तु इस उर्वरता का यह आशय नहीं कि कुछ भी उच्छिष्ट, गर्हित को उर्वरता का प्रदेय मान लिया जाय। प्रकाशन के सम्मुख आज यह सबसे बड़ा प्रश्न है कि सद्-साहित्य को सामने लाने में वह कहाँ तक व्यावसायिकता के सामने झुकता है। ऐसे अवसरों पर ही समीक्षकीय चेतना निर्णय के लिए बाध्य करती है। १५ वर्षों में राष्ट्र-भाषा बनाने का दिया गया समय यद्यपि राजनैतिक षड्यन्त्र ही था, किन्तु इन वर्षों में हिन्दी को अपने विकास और समृद्धि के जो अवसर मिले वे हितप्रद अधिक थे। इस सबसे साहित्य की समृद्धि ही हुई और हिन्दी गौरवान्वित भी हुई। समृद्धि के नाम पर शैवाल, प्रकाशन के आधार पर व्यावसायिकता; जीवन की रागात्मक अनुभूतियों के स्थान पर भौतिकता की अनास्था सभी कुछ समीक्षा के सद्-विवेक को उत्पन्न करते हैं। हम जीवन के मूल्यों को सदैव शाश्वत आधारों पर देखने के पक्षपाती रहे हैं। विकृति का संवेग अधिक समय तक स्थायी नहीं रखा जा सकता। नीर-क्षीर की दृष्टि विवेक के साथ वहाँ उत्पन्न हो ही जाती है। समीक्षा इन्हीं आधारों को स्थिर रखने की अन्तर्दृष्टि प्रदान करती है, जो सुकृति की नियामक होती हैं। समीक्षा की यही विधायकता है। साहित्य अपने समय के साथ बराबर चलता हुआ शाश्वत मूल्यों को स्थापित करता है। वह दैनन्दिन संघर्ष की समस्याओं को उसके सत्य और सत्व के आधार पर स्वीकार करता है। समस्याएँ और संघर्ष साहित्य का उन्मूलन नहीं कर पाते अपितु उसकी दृष्टि को स्थिर बनाने में सहायक होते हैं। कदाचित् इसलिए कि इनका अस्तित्व नई चेतना की भूमिका लिए आता है। जीवन की संवेद्य शक्ति को साहित्य, आने वाली पीढ़ियों के लिए विरासत बना देता है। उसके निकट उत्पन्न सद् और असद् के विवेक को स्थिर रखता है। सुश्री शचीरानीगुर्टू ने कहा भी है कि 'युगीन समस्याएँ नित्य बदलती हैं और इंसान उनसे जूझता है, खेलता है, उलझता है पर उसकी कोई थाह नहीं पाता। समय से टकरा कर साहित्य के शाश्वत उपादान जीर्ण होकर धूलिसात नहीं होते वरन् नित नये रूपमें उभरते हैं। आलोचक को इस द्वन्द्व, इस कशमकश में ही पथ खोजना पड़ता है।''[१] समीक्षक, विधायक तत्वों के लिए समग्र जीवन की ऊहापोह कर डालता है, ताकि उसके मूल्यांकन में किसी तरह की हीनता का लेश न रह जाय।

साहित्य समाज की चेतना है, और समीक्षा साहित्य की चेतना। अस्तु, समीक्षा की चेतना, चेतना की चेतना है। उसके निकट दुहरा दायित्व है, वह बड़ी गम्भीरता से अपने अस्तित्व को प्रकट करती है। इससे यह प्रकट हो जाता है कि समीक्षा जीवन की समग्रता से अन्तर्दृष्टि प्राप्त करती है और विवेक के माध्यम से आस्फालित होती है। जीवन मूल्यों को साहित्य के माध्यम से कलाकार ऊपर उठाता है। सौंदर्य की दिशा को उन्मुक्त करने में समीक्षा की दृष्टि ही अधिक समीचीन हुआ करती है। श्री शिवदान सिंह

१. वैचारिकी—सुश्री शचीरानी गुर्टू, पृष्ठ ११

चौहान ने कहा भी है "आलोचना केवल पाठकों को साहित्य की कृतियों के पूरे सौंदर्य-मूल्य तथा चेतना-विकासी मानव-संवेदन प्राप्त करने में ही सहायता नहीं देती, बल्कि साहित्य-कारों को भी नई अन्तर्दृष्टि प्रदान करके उनके आगे रचना के नये क्षेत्र और सीमांत खोल देती है। आलोचना एक सक्रिय शक्ति है जो साहित्य और कला की धाराओं का आवश्यकतानुसार नियन्त्रण करती है तो साहित्य और कला में नई प्रवृत्तियों और धाराओं को विकास के लिए प्रोत्साहन और प्रेरणा भी देती है।"[1] समीक्षा की विधायकता कृति के कालजयी मूल्यों की स्थापना करती है। वह संवेदना और विवेक के माध्यम से सत्य के उद्घाटन का अभिनव स्वरूप उपस्थित करती है। साहित्य अथवा कला के क्षेत्र में उत्पन्न व्यावसायिक अथवा घटिया, अमौलिक तत्वों के उन्मूलन का महद् भार वहन करती है। जिसके माध्यम से नई दिशा और नई आस्था को प्रकट करती है।

विश्लेषण और मूल्यांकन इस विधा के अन्तर्सत्य हैं। समीक्षा इन्हीं के आधार पर अपने उद्देश्य को पूरा करती है। ये आधार कृतित्व के प्रति दृष्टि-निर्माण में सहायक होते हैं। अन्तर और बाह्य के सूक्ष्म विश्लेषण से सत्य के उद्घाटन में सहायता मिलती है। बल्कि यह कहना अधिक संगत होगा कि मूल्यांकन के आयाम स्पष्ट हो जाते हैं। संवेदना और विवेक मूल्यांकन के सही रूप को स्थिर करते हैं, जिससे एकांगिता का दोष नहीं आ पाता। डा० देवराज ने कहा भी है, "जीवन की रागात्मक संवेदनाओं के उद्घाटन या चित्रण को साहित्य कहते हैं तथा विश्लेषण एवं मूल्यांकन को आलोचना।"[2] अस्तु समीक्षा के निकट जो अन्तर्दृष्टि है, वह उसी के माध्यम से कृति के प्रति उचित मूल्यांकन को प्रस्तुत करती है। समीक्षा जहाँ सद् और असद् के विवेक को उत्पन्न करती है, वहीं वह कलाकार के प्रति सृजन के द्वार खोलती जाती है। यही उसकी विधायकता की परिणति हुआ करती है। इसका अभाव एकांगिता को अधिक उभारता है। और समीक्षा के मूल उद्देश्य की भी पूर्ति नहीं हो पाती, जिसमें उसे सद् और स्थिर साहित्य का निर्माण करना होता है। सृजन के अनहित में समीक्षा का कोई मूल्य नहीं रह जाता। सही और सम्यक् अन्तर्बाह्य के आधार पर उसका मूल्यांकन करना समीक्षा का अभिप्रेय है। डॉ० भगवत्-स्वरूप मिश्र ने कहा भी है, "वस्तु को उसके सम्पूर्ण रूप में विधिपूर्वक सम्यक् प्रकार से देखना ही समीक्षा है।"[3] समीक्षा, शास्त्र और परीक्षण के आधार पर निरन्तर विकसित होती रही है। समीक्षादर्शों के निर्माण में काल का भी अपना प्रभाव रहा है।

हिन्दी समीक्षा को संस्कृत से साहित्य-शास्त्र की अमूल्य परम्परा प्राप्त हुई है। हिन्दी में शास्त्रीय समीक्षा के आधार संस्कृत के ग्रन्थ ही हैं। रस सम्प्रदाय, अलंकार सम्प्रदाय, रीति सम्प्रदाय, वक्रोक्ति सम्प्रदाय, ध्वनि सम्प्रदाय, औचित्य सम्प्रदाय ये छः सम्प्रदाय भारतीय साहित्य-शास्त्र के अन्तर्गत प्रचलित रहे हैं। नाट्य-शास्त्र, श्रृंगार प्रकाश, रस मंजरी, रसतरंगिणी आदि ग्रन्थ रीति-शास्त्र और काव्यादर्श, काव्यप्रकाश, साहित्य दर्पण, चन्द्रालोक, कुवलयानन्द आदि अलंकार शास्त्र के क्षेत्र में उपयोगी रहे हैं।

---

१. हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष ; श्री शिवदान सिंह चौहान, पृष्ठ २०८
२. आधुनिक समीक्षा : डा० देवराज, १०६
३. हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास, डॉ० भगवतस्वरूप मिश्र, पृष्ठ ३१

शास्त्रीय समीक्षा हिन्दी समीक्षा के लिए निश्चय ही विकासमान तत्व रही है। इसी समीक्षा का आगे चलकर जो स्वरूप स्थिर हुआ वह आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० नगेन्द्र, डॉ० भागीरथ मिश्र, आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, बाबू गुलाबराय, डा० सूर्यकान्त, श्री सुधांशु की कृतियों में दिखाई पड़ता है। काव्यानुशीलन में सैद्धान्तिक पक्ष की प्रबलता में साहित्य शास्त्र का अपना योग है। श्रेष्ठ काव्य के मूल्यांकन में सैद्धान्तिक दृष्टिकोण प्राचीन समीक्षादर्शों को भले ही उपस्थित करे, किन्तु उसकी फल-श्रुति में संतुलित, जीवन्त और स्थायी तत्वों का प्रदेय निहित रहता है। डा० भगवत्स्वरूप मिश्र ने कहा भी है कि "समीक्षा का सैद्धान्तिक पक्ष उसके व्यवहारिक रूप का आधार स्तम्भ है।"[1] वस्तुतः सैद्धान्तिक पक्ष समीक्षा को एक स्थायी आधार प्रदान करता है। शास्त्रीय समीक्षा का प्रचलन हिन्दी समीक्षा को अधिक गौरवान्वित करने में सफल रहा है। शुक्लोत्तर समीक्षा में भी शास्त्रीय समीक्षा का गहरा सम्पर्क दिखाई पड़ता है जो उसके महत्व का द्योतक है। वे तत्व काल के प्रभावों के बाद भी अशेष हैं।

शास्त्रीय-प्रणाली के अन्तर्गत सैद्धान्तिक समीक्षा मुख्य है, किन्तु परीक्षण-प्रणाली के अन्तर्गत व्याख्यात्मक, मनोवैज्ञानिक, तुलनात्मक, निर्णयात्मक समीक्षाएँ विशेष प्रचलित हैं। व्याख्यात्मक समीक्षा में कलाकार अथवा कवि की समग्र चेतना की अन्तर्बाह्य की पैठ के आधार पर ऊहापोह करते हुए उसके तत्त्वों का, आदर्शों का, उद्देश्यों का विवेचन करना ही समीक्षा का अभिप्रेय है। विश्लेषण इस विधा का मुख्य दृष्टिकोण है। रचना की व्याख्यात्मकता को ध्यान में रखकर ही मौल्टन ने इसे साहित्य का अंग न समझकर विज्ञान का अंग समझने पर बल दिया है।

मनोवैज्ञानिक समीक्षा में भी कवि या कलाकार के अन्तर्मन की प्रक्रिया को रचना में खोजना आवश्यक हो जाता है। चेतन मन की अपेक्षा उपचेतन के संस्कारों के आधार पर मन की प्रक्रिया का विश्लेषण इस समीक्षा-प्रणाली में अधिक दिखाई पड़ता है। बाह्य-संस्कारों की अपेक्षा आन्तरिक संस्कारों को यह पद्धति अधिक सूक्ष्मता के साथ देखती है। फ्रायड और युंग की विचारधारा की सम्पृक्ति इस पद्धति के साथ स्पष्ट दिखाई पड़ती है। कला, कला के लिए वाली बात सौन्दर्य-तत्त्व को लेकर अधिक दिखाई पड़ती है। डा० नगेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय और स्व० नलिन विलोचन शर्मा आदि इस पद्धति के अन्तर्गत स्वीकार किये जाते हैं।

बाह्य-जीवन के प्रभावों में राजनीतिक, धर्म, अर्थ काम सभी का योग दिखाई पड़ता है। आज के जीवन में उत्पन्न गतिरोध, संकट, असमानता रचनाकार के निकट नये प्रश्न उपस्थित करते हैं। कदाचित, तभी समीक्षक, मार्क्सवादी विचारधारा के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर जीवन और समाज की व्याख्या करता हुआ समीक्षा में प्रगतिशील तत्त्वों की स्थापना करता है। श्री शिवदानसिंह चौहान ने कहा भी है कि "प्रगतिवाद ने आलोचना की शास्त्रीय-पद्धति को न अपनाकर हिन्दी आलोचना के सम्मुख साहित्य और समाज के सम्बन्ध का प्रश्न उठाते हुए साहित्य के प्रयोजन और साहित्यकार के सामा-

---

१. वही आलोचना : उद्भव और विकास, डा० भगवत्स्वरूप, पृष्ठ ५८१

जिक दायित्व का प्रश्न उठाया।''[१] प्रगतिशील विचारों के माध्यम से इस समीक्षा में संकीर्णता और विशिष्ट मतवादी आग्रहों का भले ही दोष दिखाई पड़े, किन्तु इस पद्धति ने समीक्षा को विकसित ही किया है। श्री शिवदानसिंह चौहान, श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त, डा० रामविलास शर्मा, अमृतराय, नामवरसिंह, शमशेर बहादुरसिंह, स्व० मुक्तिबोध आदि विभिन्न समीक्षकों ने इस विधा को अधिक विकसित बनाया है।

तुलनात्मक समीक्षा एक ही विषय पर दो विभिन्न कवियों की रचनाओं का मूल्यांकन करती है। उसके अंगों के विवेचन के अतिरिक्त दोनों कवियों की दृष्टि, पैठ और अभिव्यक्ति की तुलना करते हुए दोनों का मूल्यांकन इसके लिए आवश्यक हो जाता है। कभी-कभी आलोचक की विशिष्ट अभिरुचि कवि विशेष के साथ पक्षपात के दोष से ग्रसित हो जाती है। 'साहित्य दर्शन' इस समीक्षा-पद्धति का एक अच्छा उदाहरण है।

निर्णयात्मक समीक्षा का समीक्षक लगभग शास्त्रीय सिद्धान्तों से प्रभावित रहता है। वह आलोच्य कृति को सिद्धान्तों के आधार पर परखता और देखता है। उसका दृष्टिकोण लगभग न्यायाधीश-सा हो जाता है। कभी-कभी कलाकार की रचना के अपने ऊपर पड़े प्रभावों के आधार पर भी समीक्षक निर्णय दे दिया करता है। कलाकार की प्रतिभा, मौलिकता और शक्ति को देखते हुए निर्णय देने का दृष्टिकोण निर्णयात्मक समीक्षा में अधिक होता है। कदाचित् इसीलिए यह विधा आज भी समीक्षकीय-प्रणालियों में अधिक प्रचलित दिखाई पड़ती है।

इन पद्धतियों का प्रचलन स्वतन्त्रता के पहले भी था और आज भी दिखाई पड़ रहा है। वस्तुत: ये पद्धतियाँ आज अधिक उत्कर्ष और व्याप्ति के साथ सामने आ रही हैं। साहित्य और शिक्षा के अनुशीलन और प्रसार से आज नई-नई सम्भावनाएँ समीक्षा के निकट दिखाई पड़ने लगी हैं। भारतीय साहित्य-शास्त्र के अनुशीलन से जहाँ एक ओर समीक्षा को गहराई मिली है, वहीं पाश्चात्य साहित्य के प्रभावों से उसे नई चेतना भी मिली है।

इन समीक्षा-पद्धतियों से समीक्षा का स्वरूप निश्चित हो चला था। बल्कि यह कहना उपयुक्त होगा कि विकासमान रूप ही अधिक सामने आए हैं। जैसा कि कहा गया है कि स्वतन्त्रता के बाद हमारी राष्ट्रभाषा ने साहित्य की संवर्द्धना में अच्छा यत्न किया। इसी के साथ हमारे यहाँ कई नये विश्वविद्यालय स्थापित हुए। विश्वविद्यालयों में हिन्दी को लेकर जो कार्य हुआ करता था अब वह अपने नये सन्दर्भ में नये विकास लेकर आने लगा था। हिन्दी का क्षेत्र नई समृद्धि से आगे बढ़ा। उसकी प्रतिष्ठा के अनुकूल उसके स्तर के लिए पाठ्य-सामग्री के चयन का प्रश्न भी सामने आया। परिणामत: विश्वविद्यालयों की आवश्यकता के अनुरूप पाठ्य-पुस्तकों का निर्माण और तेजी से आरम्भ हुआ। अस्तु, स्पष्ट है कि उच्च कक्षाओं के लिए लिखा जाने वाला साहित्य अपने नये रूप में नई गरिमा को लिए प्रकट हुआ। हिन्दी में गरिमा का आस्फालन दिखाई पड़ता है। बी० ए० और एम० ए० के पाठ्य-क्रम के अनुरूप पुस्तकों ने ज्ञान की दिशाओं में एक नई चेतना भर दी। कविताएँ, कहानियाँ, उपन्यास, नाटक, एकांकी आदि विभिन्न प्रकार की पुस्तकें इन

१. हिन्दी साहित्य के [illegible] : श्री शिवदानसिंह चौहान, पृष्ठ : २१६

पाठ्य-क्रमों में सम्मिलित की गई। इन्हीं के साथ शोध और अनुसन्धान की दिशा में भी कार्य आरम्भ हुआ।

शोध और अनुसन्धान के कार्यों की अपेक्षा बौद्धिक चेतना के उन्मेष में इन विश्वविद्यालयों के लिए लिखी जाने वाली समीक्षा ने एक नया स्वरूप पाया। इस समीक्षा ने पाठ्य-क्रम के मूल्यांकन की अपेक्षा समीक्षकीय स्तर को ऊपर उठाने में काफी योग दिया है। पाठ्य-ग्रन्थों के अतिरिक्त समीक्षा के ग्रन्थों का प्रणयन पर्याप्त मात्रा में आरम्भ हुआ। यद्यपि यह सत्य है कि समीक्षा के विकास ने जहाँ एक ओर प्रशस्त कार्य किया वहीं आचार्यों की महिमा के अनुरूप समीक्षा में एक परिसीमन भी आ गया। हर विश्वविद्यालय और हर आचार्य की महिमा का प्रभाव समीक्षा के साथ संश्लिष्ट होने लगा। शास्त्रीय प्रभावों के अनुशीलन के अतिरिक्त व्यक्तिवादी मूल्यों का भी प्रचलन समीक्षा के साथ जुड़ गया। समीक्षा के साथ एक और जो कार्य इन विश्वविद्यालयों में आरम्भ हुआ वह शोध और अनुसन्धान का था, जिनमें पी० एच-डी० और डी-लिट के शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किए जाने लगे। शोध की दिशा में जो कार्य आरम्भ हुआ उससे अनुपलब्ध साहित्य सामग्री के अतिरिक्त नई विचारधारा, नये तथ्य, नई स्थापनाएँ, नये मूल्य सामने आए। अनुसन्धान के साथ समीक्षा के तत्त्व किसी-न-किसी रूप में जुड़े हुए सामने आए।

अनुसन्धान की अपेक्षा स्वतन्त्र रूप से समीक्षा ग्रन्थों का प्रणयन भी हुआ। काव्य शास्त्र, सौन्दर्य शास्त्र, रस शास्त्र की दिशा में अच्छी कृतियाँ सामने आईं। सुधांशुजी का 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' डा० नगेन्द्र का 'रस सिद्धान्त' और डा० राममूर्ति मिश्र का 'रस विमर्श' पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र का 'वाङ्मय विमर्श' आदि कृतियाँ सामने आईं। रस शास्त्र की मीमांसा में जो नये प्रयत्न आरम्भ हुए वे निश्चय ही शुभ हैं। इससे समीक्षा में स्थायित्व के अतिरिक्त आत्म-प्रतिष्ठा की सम्भावनाएँ बढ़ी हैं। डा० भगीरथ मिश्र और पं० नन्ददुलारे वाजपेयी आदि समीक्षक काव्य शास्त्रीय आधारों के अतिरिक्त रसवत्ता उद्भावनाओं की पैठ और मीमांसा में गहन चिन्तन रखते हैं। साहित्य की स्थायी अभिवृद्धि में समीक्षा की जीवंत चेतना ही अधिक उपादेय है। शुक्लत्तोर समीक्षा में रस-मीमांसा का दायित्व बढ़ा जिससे नये साहित्य और नये मूल्यों की अभिवृद्धि हुई। यही नहीं, साहित्य के निकट नई आधार शिलाएँ प्रस्तुत हुईं। कदाचित् यही कारण है कि रस शास्त्र की मीमांसा में जो उपलब्धियाँ दिखाई पड़ रही हैं उनमें प्रबुद्धता है और नई ताज़गी है।

एक ओर जहाँ रस शास्त्र की दिशा में प्रगति दिखाई पड़ती है तो दूसरी ओर हिन्दी की उच्चतर कक्षाओं की परीक्षा के लिए परीक्षोपयोगी सामग्री में विकास दिखाई पड़ते हैं। परीक्षोपयोगी समीक्षाएँ विशेषतः टीकाओं पर ही आधारित रहती हैं। वैसे मराठी में टीका को समीक्षा का पर्याय मानकर उसका उपयोग किया जाता है किन्तु हिन्दी में टीका शब्द संस्कृत की तरह समझाए जाने वाले दृष्टिकोण के अधिक निकट है। टीका शब्द हिन्दी में कुँजियों अर्थात परीक्षोपयोगी साहित्य के लिए व्यवहृत होता है। संस्कृत साहित्य में 'जिस तरह कालिदास पर मल्लिनाथ की टीका', श्रीहर्ष के 'नैषध चरित' पर नारायण की टीका, भवभूति के 'उत्तररामचरित' पर वीर राघव की टीका और भवभूति के ही उत्तर रामचरित पर [illegible] की टीका, शूद्रक के 'मृच्छकटिक' पर पृथ्वीधर की

टीकाएँ पाई जाती हैं, हिन्दी में इस तरह की अच्छी टीका डा० वासुदेवशरण अग्रवाल की 'पदमावत संजीवनी भाष्य' की पाई जाती है। इसके अतिरिक्त कुँजी और गाईड सम्प्रदाय ने टीका के क्षेत्र में जो कार्य किया है उसमें अर्थ का दृष्टिकोण अधिक रहा है। अस्तु, जो इस ढ़ंग का अर्थप्रधान दृष्टिकोण सम्प्रदायों की वृद्धि में भले ही सहायक रहा हो उसने सद्साहित्य का कोई हित नहीं किया। दुर्भाषा से मूर्च्छित कविता को नया चैतन्य देने में कोई विधायकता नहीं अपनाई। यद्यपि यह सत्य है कि व्याख्या के आधार पर [यदि वह सही हो] मूल्यांकन की विधा विषय को सरलता का परिवेश देती है। जो उसकी बोधगम्यता को अधिक स्पष्ट करती है। अस्तु, काव्यानुशीलन के लिए सही दिशा की ओर तभी बढ़ा जा सकता है जब हम उसके अन्तर्बाह्य को गहराई के साथ समझ लें। अन्यथा परिचय ग्रन्थों की बाढ़ असम्बद्ध और असंगत परिणाम सामने रखेगी। जो सही दिशा का अनुवर्तन न कर भ्रमित अधिक करेगी। श्री शिवदानसिंह चौहान ने इस विषय में सर्वथा उचित कहा है कि "पुस्तक बाजार में प्राचीन भारतीय काव्य-सिद्धान्तों का परिचय देने वाले अध्यापकों के लिए ग्रन्थों की इन दिनों बाढ़-सी आ गई है, लेकिन उनके अनुशीलन से पता चलता है कि कैसे इधर-उधर से जमा करके साहित्य और कला-सम्बन्धी विभिन्न मतों के असंख्य, असम्बद्ध उद्धरणों से परचून या स्टेशनरी की दुकान सजायी गई है। किसी वस्तुपरक अध्ययन और शोध का उनसे कहीं पता नहीं चलता।"[1] वस्तुतः यह कथन अपना औचित्य बनाए हुए है इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है।

भारतीय विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों में अनुसन्धान का कार्य बड़ी तेज़ी से हो रहा है। नई खोजों के लिए, नई मान्यताओं के लिए और अनुपलब्ध साहित्य के प्रकाशन के लिए। अनुसन्धान के साथ आलोचना के सम्बन्ध जुड़े हुए हैं। कदाचित् इसलिए कि तथ्यों के आकलन के अनन्तर विश्लेषण और विवेचन की समस्या आलोचना के माध्यम से ही हल होती है। अन्वेषण के उपरान्त अनुशीलन की आवश्यकता उसके मूल्यांकन को अनिवार्य कर देती है। यही नहीं तथ्यों की प्रामाणिकता में उसके पक्ष-विपक्ष के प्रतिपादन में आलोचना को ही व्यवहृत किया जाता है। अस्तु आलोचना के साथ अनुसन्धान के गहरे सम्बन्ध हैं। इसके बावजूद "आलोचना अनुसन्धान का पर्याय नहीं है।"[2] दोनों में एक अन्तर है, इसके अलावा दोनों की पद्धतियों में एक समानता है। डा० नगेन्द्र ने दोनों के परस्पर सम्बन्धों पर प्रकाश डालते हुए कहा भी है कि "अनुसन्धान में जो तथ्याख्यान है वही आलोचना में व्याख्या विश्लेषण है, दोनों में विवेचन कार्य-कारण सूत्र का अन्वेषण तथा अर्थव्यंजना आदि का उद्घाटन समान रूप से रहता है। इसी प्रकार पक्ष-विपक्ष के सन्तुलन आदि के आधार पर निष्कर्ष और निर्णय की पद्धति ग्रहण करना सर्वथा आवश्यक होता है। उसके बिना तथ्य विश्लेषण का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। अतः निष्कर्ष तथा निर्णय का महत्त्व अनुसन्धान और आलोचना दोनों के लिए समान रूप से मान्य है।"[3] अनुसन्धान और आलोचना अपने पारस्परिक सम्बन्धों के आधार पर नई

१. आलोचना के सिद्धान्त : श्री शिवदानसिंह चौहान, पृष्ठ : २१
२. अनुसन्धान और आलोचना : डा० नगेन्द्र, पृष्ठ : ६८
३. अनुसन्धान और आलोचना : डा० नगेन्द्र, पृष्ठ : ६५

उपलब्धि और नई मान्यताओं को प्रस्तुत करती हैं। अनुसन्धान के किसी भी क्षेत्र में उसकी उपादेयता है। वह उपलब्धि के मूल्यांकन का माध्यम बनती है। पं० परशुराम चतुर्वेदी ने कहा भी है कि "आधुनिक आलोचना पद्धति में अनुसन्धान का, चाहे वह शुद्ध वैज्ञानिक हो अथवा ऐतिहासिक मात्र ही क्यों न हो, एक बहुत बड़ा हाथ है। इसके द्वारा उसकी विविध प्रक्रियाओं में न केवल विवेचन के लिए पर्याप्त सामग्री उपलब्ध हो जाती है, अपितु आलोच्य-कृति के अधिक से अधिक स्पष्टीकरण का पूरा अवसर मिल जाता है।"[1] अस्तु स्पष्ट है कि आलोचना और अनुसन्धान के गहरे सम्बन्ध हैं। आलोचना के विकास के साथ अनुसन्धान के योग का विस्मरण नहीं किया जा सकता। हिन्दी में स्वतन्त्रता के बाद अनुसन्धान की दिशा में उल्लेखनीय प्रगति हुई है।

एक ओर जहां अनुसंधान के रूप में आलोचना की प्रगति हो रही है, वहीं शोध-ग्रन्थों में विषयों की पुनरावृत्ति भी दिखाई पड़ती है। सूरदास, कबीरदास, तुलसीदास आदि ऐसे विषय हैं जिन पर किसी न किसी रूप में अनुसंधान कार्य किया गया है। और नये तथ्यों के स्थान पर पुराने तथ्यों के विस्तार का ही संवर्धन किया गया है। यही नहीं, विषयों के चयन में परिष्कृति और परिश्रम की संभावनाओं का ह्रास दिखाई पड़ता है। जिन विषयों को अनुसंधान के उपयुक्त नहीं समझा जाता, ऐसे विषयों पर भी शोध कार्य करवाया जाता है। जो प्रगति के स्थान पर वस्तुतः प्रगति के आगे विराम ही लगाता है। विषय-विस्तार की सीमा में धर्म, समाज और राजनीति भले ही प्रवेश पा गई हो किन्तु अकाव्य को प्रवेश देना निश्चय ही घातक है। ऐसे अवसरों पर अनुसंधान को आलोचना की परिष्कारिणी (रिफाइनरी)[2] से होकर जाना चाहिये। डाक्टर नगेन्द्र के विचार इस दिशा में उपयुक्त लगते हैं। अनुसंधान के नाम पर गर्हित विषयों पर शोध कार्य साहित्य की प्रतिष्ठा में वृद्धि नहीं करता। पेड़, पौधे, पशु-पक्षी, ऋतुवर्णन, जादू टोने, पकवान-पुराण आदि जैसे विषयों को चुन कर सिद्धों की बानियों में, कबीर की साखियों में अथवा लोक या वार्ता साहित्य में कार्य करने का आग्रह समीचीन नहीं दिखाई पड़ता, इससे शोध की मर्यादा का ह्रास होता है। पं० नन्द दुलारे वाजपेयी ने भी विषयों के प्रति आशंका प्रकट करते हुए कहा है कि—"हिन्दी के वर्तमान शोध-कार्य पर यदि थोड़ी-सी गंभीरता से विचार किया जाय तो यह ज्ञात होगा कि इस प्रकार अधिकांश कार्य संग्रह-मूलक होता जा रहा है। जहां कहीं सैद्धांतिक स्तर का विवेचन होता भी है, वहाँ 'उस स्तर का आद्यन्त निर्वाह नहीं हो पाता। विषय ही ऐसे दिये जाते हैं जिनमें सम्पूर्ण एकात्मता नहीं होती और शोधकर्ता को वैचारिक और सैद्धान्तिक गहराइयों में जाकर आद्यन्त अपने विषय का ऊहापोह करने का अवसर नहीं मिलता[3]।" शोध और समीक्षा का स्तर तभी श्रेष्ठ और मूल्यवान हो सकता है, जब हम सद्-साहित्य और अनुपलब्ध साहित्य को सही तथ्यों के आधार पर, सही मूल्यांकन के आधार पर प्रस्तुत करें। अन्यथा विकास की संभावनाओं के नाम पर भ्रांति उत्पन्न होने की बड़ी आशंका है। शोध और समीक्षा जहां अपना संतुलन खो बैठती हैं, वहीं उसकी दृष्टि मृत और जीवित

१. आलोचना, अंक—१ वर्ष—५३ अक्टूबर—३, पृष्ठ : १५
२. अनुसंधान और आलोचना : डा० नगेन्द्र, पृष्ठ : १०४।
३. हिन्दी अनुशीलन, वर्ष [illegible], अंक [illegible] पृष्ठ : ३५।

व्यक्तियों की सामान्य उपलब्धियों पर केन्द्रित हो जाती है। 'व्यक्ति और काव्य' के अनुशीलन में व्यक्तित्व का ही विस्तार दिखाई पड़ने लगता है। काव्यानुशीलन पूर्ववर्तियों की परम्परा में समानधर्मी विचारों के प्रतिपादन में ही बृहदाकार हो जाता है। इससे जुड़वा लेखन की नयी परम्परा का विकास हिन्दी शोध में सम्पृक्त होता दिखाई पड़ रहा है। यह जुड़वा लेखन शोध की दिशा में व्यापकता ग्रहण करता जा रहा है, जो नींव को खोखला करने की अपेक्षा कुछ नहीं कर पायेगा। इसका विकास कैंसर की भांति ही हिन्दी शोध को ले डूबेगा। बृहदाकार ग्रन्थों से ही श्रेष्ठ कार्य की अभिव्यक्ति नहीं होती, छोटे और सादे, वजन में हलके ग्रन्थों से भी श्रेष्ठ कार्य की अभिव्यक्ति हो जाती है। पुनरावृत्ति का पोषण जुड़वा लेखन को भले ही समृद्ध बनाये, शोध की श्रेष्ठ उपलब्धियों को वह सामने नहीं ला पायेगा। इस ढंग की परम्परा का उन्मूलन आवश्यक हो गया है।

शोध प्रबंधों में तात्विकता को प्राधान्य दिया जाता है, वही उसके सत्यान्वेषण की सिद्धि हुआ करती है। सत्यान्वेषण के लिए सामग्री की ऊहापोह कर जहां एक ओर मूल्यांकन किया जाता है, वहीं उसमें निहित तात्विकता को स्पष्ट कर दिया जाता है अथवा उसे प्रकट कर अपने निष्कर्षों को प्रमाणित किया जाता है। हिन्दी के शोध प्रबंधकों में तात्विकता की ओर, लगता है, उतना ध्यान नहीं दिया जाता। प्रबंध के बृहदाकार (वजनदार) संस्करण का मोह शोधकर्त्ता को अधिक रहता है। परिणामतः प्रबंध में उपलब्धि का अंश कम होता है और अन्य संग्रहित फुटकर सामग्री का विज्ञापन अधिक होता है, जो ग्रन्थ को बृहदाकार करने में सहायक होती है। स्व० नलिन विलोचन शर्मा को भी शोध प्रबन्धों में तात्विकता का अभाव अनुभव हुआ तभी उन्होंने 'गुंजाइश' वाली बात कही। उन्होंने कहा कि कुछ वर्षों से ही हिन्दी शोध कार्य परिणामतः इतना विकसित हुआ है कि अब हम विषय या लेखन के सूक्ष्म पक्षों पर ही कार्य करने की बाध्यता अनुभव करने लगे हैं, गोकि इस बाध्यता का परिणाम अच्छा ही होगा, किन्तु वास्तविकता यह भी है कि हिन्दी में अभी तात्विक शोध कार्य के लिए काफी गुंजाईश है, बल्कि यह कहना उचित है कि इसकी आवश्यकता बनी हुई है और हमारा ध्यान इधर कम गया है'[1]। वस्तुतः हम इस ओर नहीं बढ़ पाते। शोध प्रबन्धों की सफलता और उसकी श्रेष्ठता के लिए उसमें तात्विकता का अंकन आवश्यक है। इसके अतिरिक्त फुटनोट की सीमा इतनी लम्बी कर दी जाती है कि प्रबन्ध का तात्विक रूप ढंक जाता है और फुटनोट ही हावी दिखाई पड़ने लगते हैं। छोटे-छोटे फुटनोटों की जगह ५-५ पृष्ठों के फुटनोट प्रबन्ध का गौरव बढ़ाने की जगह उसकी आकृति और वजन का अधिक संवर्धन करते हैं। डा० दीनदयाल गुप्त का शोध प्रबन्ध 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' इसका स्पष्ट उदाहरण है। यही नहीं, इस तरह के कई अन्यान्य प्रबन्ध भी यहां उदाहरण के लिए रखे जा सकते हैं। शोध और समीक्षा तात्विकता के प्रति मूल आकर्षण बनाये रखने के उपरांत ही अपने विकास की दिशाओं को उज्ज्वल बना सकती है। वज़न और आकृति का मोह तात्विकता के सवर्धन में सहायक नहीं हो सकते।

हिन्दी के शोध प्रबन्धों की संख्या निरन्तर बढ़ रही है और यह प्रगति का शुभ

१. हिन्दी अनुशीलन अंक—३, सन् ६१ पृष्ठ : ३।

लक्षण भी है। इस ढंग की प्रगति को पीछे मुड़ कर देख लेना या अपने गिरहबान में झांक लेना अपने इस कार्य को अधिक श्रेष्ठ और जीवंत बनाना है। वस्तुतः शोध प्रबन्धों को शीघ्र प्रस्तुत करने के तीव्र मोह में शोधार्थी सद्-असद् का विवेक भूल जाता है। वह किसी न किसी रूप में अपने तथाकथित कार्य को विश्वविद्यालय के आधीन कर देना चाहता है। और उसके परीक्षक आपसी समझौते के अनुसार अपने मित्रों के छात्रों को डाक्टरेट प्रदान कर अपने समझौते की रक्षा किया करते हैं। परिणाम यह होता है कि घटिया स्तर के शोध प्रबन्ध इन समझौतों के अन्तर्गत निकल जाते हैं। इन निकल जाने वाले प्रबन्धों की बाढ़ स्तर के सामने प्रश्नचिह्न लगाती है। शोध को संख्या के नाम पर भले ही अभिवृद्धि का गौरव दे किन्तु गुणता के नाम पर अभाव ही दिखाई पड़ता है। कई ऐसे शोध प्रबन्ध हैं जिन्हें देखकर सहज ही में सशंकित हो जाना पड़ता है। श्री अगरचंद नाहटा ने भी इसी आशंका को उठाते हुए कहा है कि 'बहुत से शोध प्रबन्ध जिन पर डाक्टरेट मिल चुकी है, वे वास्तव में इसके योग्य थे, यह कोई तटस्थ व्यक्ति नहीं कह सकेगा। उनका स्तर बहुत ही साधारण है, और कईयों में इतनी भूल भ्रांतियां हैं कि उनका संशोधन करना भी एक नया शोध कार्य हो जायेगा।'[२]

इसके अतिरिक्त दूसरा प्रश्न यह भी आजकल उठ खड़ा हुआ है कि शोध प्रबन्धों में कहां तक अस्तेय वृत्ति की प्रमुखता है। शोध प्रबन्धों से जहां नई उपलब्धि, नई मान्यता की आशा की जाती है वहीं यदि उनमें अस्तेय वृत्ति के भी दर्शन हों तो उनके विषय में क्या सोचा जायेगा। शोध की दिशा में जो बाढ़ आई है, उसके कारण क्या हम अपने गिरहबान में भी न झांक कर देखें? देश के मान्य विश्वविद्यालयों में मान्य प्राध्यापकों और विद्वानों की देख-रेख में ऐसे अस्तेयवादी शोध प्रबन्ध तैयार हुए हैं, जिनकी ओर से बहुजन हिन्दी विद्वान समाज आँखें मूंदे बैठा है। वस्तुतः यह अस्तेय वृत्ति शोध के आगे प्रश्न-चिह्न लगाती है। सृजन के नाम पर हम कितनी सबलता से आगे बढ़े हैं? लगता है आपसी समझौते और आपसी मान प्रतिष्ठा के सम्बन्ध विद्वानों को इस ओर बढ़ने नहीं देते। आने-वाली पीढ़ी को ये अस्तेयवादी शोध-ग्रन्थ प्रामाणिकता के नाम पर कौन सी मनीषा का दिशा निर्देश कर सकेंगे? सद्-साहित्य की दिशा में जो कार्य होगा वही जीवंत, प्रतिष्ठित और उपादेय हो सकेगा।

शोध के माध्यम से, समीक्षा के स्वरूप में भी वही व्यक्तिवादी तथ्य जुड़ते चले गये हैं। जहाँ समीक्षा सद्-साहित्य की प्रवर्धना में अपनी सार्थकता रखती थी वहीं शोध भी नई उपलब्धि और तथ्यों से आस्था रखता था। अब वह भी व्यक्तिगत मूल्यों से प्रभावित होता जा रहा है। व्यक्ति विशेष के विचारों का पाद टिप्पणियों में अधिक से अधिक प्रयोग कर, उसके बाद विश्वविद्यालय के श्रेष्ठ व्यक्ति अथवा आचार्य को उसका समर्पण व्यक्तिनिष्ठा के अन्तर्गत ही हुआ करता है। यदि यह संभव न हुआ तो व्यक्ति विशेष के समूह के अन्तर्गत आने वाले विद्वान की अनुशंसा के अतिरिक्त परीक्षक भी देखा गया है कि वे भी समुदाय विशेष के होते हैं और आपसी अनुशंसा के लिए विद्यार्थियों से शोधप्रबन्धों के माध्यम एक दूसरे को प्रसन्न कर लिया करते हैं। इस तरह के शोध

२. हिन्दी अनुशीलन अंक—३-४ सन् ६२ पृष्ठ : ४५।

प्रबन्ध तथ्यों और उपलब्धियों के लिए नहीं लिखे जाते वरन् अनुशंसा, समर्पण और जीविका के लिए लिखे जत्ते हैं। नये ज्ञान की संभावनाओं को यही त्रिकोण ग्रस लेता है। हर विश्व-विद्यालय डाक्टरों के उत्पादन की संख्या को महत्त्व देता है, गुणता को महत्त्व देने वाले कितने आचार्य, विद्वान हिन्दी की कोख में शेष हैं? सभी के निकट समुदाय की मर्यादा की प्रतिष्ठा के प्रश्न बने हुए हैं, घेरेबन्दी का आग्रह है। राजनीति का फरेब साहित्य में प्रतिष्ठित करवाया जा रहा है। उत्पादन की चिंता वाले आचार्य शोधप्रबन्ध को शीघ्राति-शीघ्र प्रस्तुत करने का आषिर्वचन बहुतायत से देते पाए और देखे जाते हैं। यही नहीं, इस उत्पादन प्रक्रिया में कई अनधिकृत [विषय] के आचार्य अपने अन्तर्गत विषय से अनभिज्ञ रहने पर भी निर्देशक और परीक्षक बनना स्वीकार कर लेते हैं। कदाचित् इसलिए कि उनके निकट स्पर्धा का मोह और समुदाय की प्रतिष्ठा का ही प्रश्न अधिक होता है। यही दशा रही तो कोई आश्चर्य नहीं होगा कि कुछ दिनों बाद डाक्टरेट प्राप्त करना होमयोपेथी की डिग्री प्राप्त करने की तरह आसान हो जाएगा। उत्पादन की अपेक्षा शोध के सही रूप को प्रतिष्ठित करना अधिक हितकर होगा। डा० हरदेव बाहरी ने कहा भी है कि "लोग पहले किसी एक विश्वविद्यालय में डाक्टर उत्पादन की भर्त्सना करते थे, आज वह·········फिर भी वे धन्य हैं कि जिस मार्ग पर वे कभी चले नहीं थे उसका दिग्दर्शन कराने लगे हैं। वे स्वयं तो डाक्टर नहीं थे, किन्तु उन्हें डाक्टरों के जनक बनने की धुन सवार हो गई। बाद में इस होड़ में दूसरे विश्वविद्यालयों के प्राध्यापक आ मिले। आज उनके आवेदन पत्रों में बराबर रहता है, मैंने इतने डाक्टर पैदा किए'।[१] वस्तुतः इन डाक्टरों के उत्पादन की बीमारी में सागर, दिल्ली, इलाहाबाद, आगरा, बनारस आदि विश्वविद्यालयों का विशेष योग रहा है और समर्पण अनुशंसा और जीविका के क्रम को शोध प्रबन्धों के माध्यम से पूरा किया जा रहा है। समुदाय के विद्वान व्यक्तियों की मान-प्रतिष्ठा के लिए इन प्रबन्धों का उपयोग किया जाता है। अस्तु, यह कहना अधिक उचित होगा कि शोध और समीक्षा के विकास में व्यक्तित्व की केन्द्रियता का आकर्षण कम नहीं है। नए ज्ञान की दिशाओं में अभी भी धुंधलका छिटका दिखाई पड़ता है जो प्रगति के क्षेत्र में गतिरोध बन गया है।

नई विचार धारा को लेकर लिखे गए काव्य को प्रारम्भ में प्रतिष्ठा नहीं मिलती रही है। उसे तो संघर्ष के सन्मुख चुनौतियों से जूझना पड़ा है। ये चुनौतियाँ अधिकांशतः विशिष्ट विचारधारा के कवियों के लिए हुआ करती थीं। उनके उपहास, निन्दा से सम्बन्धित समीक्षा उन्हें हतप्रभ करने के लिए सहायक हुआ करती थी। और अन्त में विचारधारा अपनी आन्तरिक दृष्टि और सांस्कृतिक आधार, सामाजिक आधार अथवा दर्शन के आधार पर जीवित रह जाती थी। निन्दा उपहास के दृष्टिकोण अपने आप झुठलाए जाते रहे हैं। विचारधारा में काव्य का सत्य और व्याप्ति का गुण हो तो जीवित रह जाती है। छायावाद को प्रारम्भ में इसी स्थिति का सामना करना पड़ा। आचार्य शुक्ल जैसे विद्वान समीक्षक उसे शैली से अधिक नहीं मान सके।[२] छायाभास [परिचय], छायानुकृति

१. हिन्दी अनुशीलन : अंक—३-४, सन् ६२।
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास : पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ ६६८।

जैसे आरोप उसे सहने पड़े, किन्तु उस युग के कवियों ने उन आरोपों का सामना कर अपनी काव्य-कृतियों की भूमिकाओं में अपने दृष्टिकोणों को स्पष्ट किया और अपनी मान्यताओं को स्थापना की दिशा दी। कविवर निराला, प्रसाद, पन्त, महादेवी आदि की कृतियों में इसी तथ्य को देखा जा सकता है। स्वतन्त्रता के पूर्व ही अपने वक्तव्य देकर अपनी बात को स्पष्ट करने का आग्रह दिखाई पड़ता है जो भूमिकाओं और स्पष्ट लेखों में पाया जाता है। यही परम्परा प्रगतिवाद के समय में भी आरम्भ हुई। प्रगतिवादी विचारधारा की कविताओं को मार्क्स और एंजल्स के प्रभावों में देखने की बात अक्सर सामने आई। नारे और प्रचार तथा संकीर्णता के अभियोग सहने पड़े।[1] किन्तु उसके विषय में जो बाद को नये तथ्य आए उनमें शोषण और शासन के सही रूप भी दिखाये गये। सामाजिकता को जीवन के सही यथार्थ में देखने की दृष्टि दी गई। श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त, डा० रामविलास शर्मा, श्री शिवदान सिंह चौहान, डा० नामवरसिंह आदि ने उसके विषय में सामग्री प्रस्तुत कर भ्रांतियों का निवारण किया। छायावाद, प्रगतिवाद के संघर्ष, स्थापन और स्वीकृति के अनन्तर प्रयोगवाद के चिह्न क्षितिज पर उभरने लगे थे जिन्हें परम्परागत रूप से आलोचकों, आचार्यों ने अपनी कुपित दृष्टि का लक्ष्य बनाया। हर नये विचार और दृष्टि के आगमन पर हो-हल्ला जैसे अवश्यम्भावी हुआ करता है। और हुआ भी वही। जो परम्परा स्वतंत्रता के पूर्व थी, वह बाद में भी दिखाई दी, उसका उन्मूलन नहीं हो सका, पूर्वाग्रह समाप्त नहीं हो पाये थे। यही कारण है कि प्रयोगवादी कविता का नई कविता तक आते-आते कई तरह से खंडन-मंडन होता रहा।

इस पंथ के अन्वेषक श्री अज्ञेय को इस विषय में स्पष्ट भी करना पड़ा, "तो प्रयोग अपने आपमें इष्ट नहीं है, वह साधन है। और दोहरा साधन। क्योंकि एक तो वह सत्य को जानने का साधन है, जिसे कवि प्रेषित करता है, दूसरे वह उस प्रेषण की क्रिया और उसके साधनों को जानने का भी साधन है।"[2] प्रयोगवादी विचारधारा को शनैः-शनैः स्थायित्व मिलने लगा, भले ही उनके बौद्धिक आतंक के कारण या प्रतिभा के कारण रहा हो, यद्यपि उसमें खोटी प्रतिभाओं का अभाव नहीं है। इस विचारधारा की स्थापना में निकष, प्रतीक, संकेत जैसे पत्र ही नहीं अपितु कुछ समीक्षात्मक पुस्तकें भी आईं। श्री लक्ष्मीकांत वर्मा की 'नयी कविता के प्रतिमान' उसके अन्तर-बाह्य के पक्षों को अच्छी तरह स्पष्ट करती है। श्री स्व० मुक्तिबोध की पुस्तक 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध' जैसी कृतियाँ उसके अन्तर्मन्थन को प्रकट करती हैं। नई कविताओं को लेकर निकलने वाले संकलन प्रथम तार-सप्तक से लगाकर संक्रांत तक सभी में लगभग भूमिकाएँ हैं जिसमें इस विचारधारा की प्रतिष्ठापना का आग्रह है। डा० धर्मवीर भारती, वीरेन्द्र कुमार जैन, डा० जगदीश गुप्त, सर्वेश्वर दयाल, शमशेरबहादुर सिंह, डा० प्रभाकर माचवे आदि ने अपने लेखों और भूमिकाओं से नई कविता की विचारधारा को स्थापित करने में अच्छा योग दिया है। नई विचारधारा में नया शब्द-संस्कार उसके महत्व को बढ़ाता है। श्री अज्ञेय ने कहा भी है कि "प्रत्येक शब्द का प्रत्येक समर्थ उपयोक्ता उसे नया संस्कार

१. हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष : श्री शिवदान सिंह चौहान, पृष्ठ : २१६-२१७।
२. दूसरा सप्तक : भूमिका—श्री अज्ञेय, पृष्ठ : ७।

देता है।''[१] अस्तु, प्रयोगवादी कविता समीक्षा के वत्याचक्रों से कालांतर में स्थिरता की ओर उन्मुख हुई। इसे भी वह सब कुछ सहना पड़ा जो छायावाद अथवा प्रगतिवाद के पुरस्कर्ताओं और समर्थकों को सहना पड़ा था। नवीनता की चकाचौंध में अंधकारजीवी अचम्भित हो जाते हैं और उसी के प्रभाव में पूर्वग्रहों से ग्रस्त अपनी मान्यताओं को सामने लाने लगते हैं, जो कदाचित समीक्षा के स्वस्थ प्रतिमानों के लिए हितकर नहीं है।

प्रयोगवाद के साथ ही नकेनवाद भी प्रचलित हुआ, किन्तु नलिन विलोचन शर्मा, केसरीकुमार, नरेश द्वारा प्रवर्तित यह आन्दोलन अधिक विकसित नहीं हो सका। प्रपद्यवाद की भूमिका में 'पस्पशा' में इस काव्यांदोलन का सैद्धान्तिक विवेचन हुआ है। इनकी कविताओं में वयस्कता का आग्रह अधिक है। 'पस्पशा' में कहा भी गया है कि "हिन्दी कविता को अपने में वयस्क बुद्धि लानी होगी और तभी वह युग की मेधा को अपने प्रति खींच सकती है। उसे अपने पुराने हृद्रोग से मुक्त होना होगा।''[२] नकेनवाद वस्तुतः अपने में सीमित हो गया, बल्कि यह कहना अधिक उचित होगा कि वह अकेला हो गया, उसकी अभिवृद्धि में उतनी भूमिकाएँ, लेख और पुस्तकीय समीक्षाएँ नहीं मिल सकीं। अस्तु, यह स्पष्ट है कि समीक्षाओं ने स्वतन्त्रता के बाद भूमिकाओं में, स्फुट लेखों में और कतिपय पुस्तकों में भी विकास पाया है। यद्यपि काव्यालोचन के लिए जो कार्य हुआ उससे अनहित नहीं हुआ और परम्पराओं का विकास एक स्वस्थ रूप में होता रहा। अपने मतवादन और अपनी दृष्टियों के प्रवर्तन में विभिन्न वादों के मध्य से समीक्षा ने अपना पंथ बनाया। जो उसकी सशक्त उपलब्धि है। नयी धाराओं को पुष्ट करने में इस तरह की समीक्षा-पद्धति ने नयी प्रतिभाओं और नये प्रतिमानों को भी जन्मा है।

व्यक्तिगत प्रभावों को लेकर समीक्षा में नयी पद्धति का प्रचलन हुआ है। इससे व्यक्तिगत महत्व के आधार पर उसके कृतित्व को आँका जाता है। कृतित्व के माध्यम से व्यक्तित्व को नहीं। कदाचित् इसलिए कि व्यक्तित्व के प्रभाव आज अधिक श्रेष्ठता रखते हैं। कृतित्व जैसे अधम हो गया है। देखा गया है कि आदमी देखकर उस पर लिखा जाता है। पद, पैसा और प्रतिष्ठा को ध्यान में रखकर उसका मूल्यांकन करना मित्रालोचन की सिद्धि है। कृतित्व की अधमता को व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा ढंक लेती है। और इस ढंकने की विधा में २६ वर्षी कवि-समीक्षकों से लगाकर ७० वर्षी वृद्ध राष्ट्रकवि तक ने भाग लिया है। अस्तु, यह कहना असंगत न होगा कि समीक्षा में व्यक्तिगत मूल्यों की प्रतिष्ठापना में जो लिखा जा रहा है वह सब पारस्परिक हितों की रक्षा के लिए है। जो कहीं न कहीं सम्बन्ध रखते हैं और उनका निर्वाह करने के लिए लिखना आवश्यक हो जाता है। 'कल्पना में उर्वशी पर डॉ० भगवतशरण उपाध्याय की सशक्त समीक्षा प्रकाशित हुई, उसमें उर्वशी के दुर्बल पक्ष दर्शाए गए थे। इसके बाद पता नहीं किस आतंक से 'कल्पना' सम्पादक ने उसकी मान-रक्षा में 'उर्वशी' अंक निकाल दिया। जिसमें युवक कवि-समीक्षक से राष्ट्रकवि तक को भाग लेना पड़ा। यही नहीं 'संस्कृति के चार अध्याय' पर भी बहुत कुछ लिखा गया। 'उसमें कृतित्व का' स्थान गौण था और व्यक्तित्व का आतंक अधिक था।

१. तीसरा सप्तक : भूमिका : श्री अज्ञेय; पृष्ठ : १४
२. हिन्दी साहित्य कोश (भाग १) पृष्ठ ५२१-५२२

डॉ० सावित्री सिन्हा की 'युग-चारण दिनकर' में भी कृतित्व गौण है।

इसी तरह परिचित कवि-समीक्षकों ने एक-दूसरे पर श्रेष्ठ कवियों की मान्यता के संदर्भ में सीरीज़ तक निकाल डाली। अभी 'रससिद्धान्त' पर चर्चा चालू है, किन्तु उसका सही मूल्यांकन पं० विद्यानिवास मिश्र के अतिरिक्त किसी ने नहीं किया। प्रकाशन समारोह में तो उसे बिना पढ़े ही आचार्यों ने प्रशस्तियों से विभूषित कर दिया। वस्तुतः ये प्रकाशन समारोह व्यक्तित्वों के प्रकाशन के आपसी मिलन-स्थल होते हैं। जहाँ एक-दूसरे की प्रशंसाओं के माध्यम से विद्वान कहलाने की भूख मिटाई जाती है। पुस्तक-परिचय के स्तम्भ में देखा गया है कि बिना पढ़े ही पुस्तकों की समीक्षाएँ कर दी जाती हैं क्योंकि उसमें लेखक के व्यक्तिगत प्रभावों का अधिक ध्यान रखा जाता है, पुस्तक के आलेखन से कुछ भी नहीं। साफ बात वही कह-लिख सकता है जो उसे पढ़ता है और अपनी अध्ययनशील प्रवृत्ति के आधार पर उसका संतुलन कर सकता है। व्यक्तिगत प्रभाव आज के समीक्षक की निर्भीकता को ग्रसे हुए है। स्वस्थ मूल्यांकन दब गया है। एक समय था जब कवियों को समीक्षक बनकर (छायावाद, प्रयोगवाद के कवि) दोहरा दायित्व सम्हालना पड़ता था। तब वे सही मूल्यांकन के लिए कृतित्व का अध्ययन किया करते थे और समीक्षा को स्तर प्रदान किया करते थे परन्तु आज समीक्षक व्यक्तित्व की रक्षा, प्रतिष्ठा और अभिवृद्धि के लिए लिखता है और अपने सम्बन्धों के सेतुओं को स्थिर बनाना चाहता है। उसके निकट समीक्षादर्श गौण हैं, व्यक्तित्व के आदर्श प्रमुखता रखते हैं। व्यक्तिगत प्रभावों को लेकर लिखी जाने वाली समीक्षाएँ अधिकतर दलबन्दी का शिकार होती हैं जो मित्रालोचन का अपना अंग हुआ करती हैं। पत्र-पत्रिकाओं में चर्चाओं के माध्यम से जो विज्ञापन करवाया जाता है, वह व्यक्तित्व के प्रसरण और प्रकाशक के हितवर्धन में ही अधिक उपयोगी होता है। समीक्षा की प्रतिष्ठा तब तक सही रूप में नहीं बढ़ती जब तक उसे व्यक्तित्व के प्रभावों से मुक्त न किया जाय। स्वतन्त्र, चिन्तनप्रद, मौलिक दृष्टिकोण ही उसके उत्कर्ष में सहायक हो सकेंगे।

समीक्षादर्शों की जगह व्यक्तित्वों के प्रश्न अधिक आधार बनते जा रहे हैं जिससे स्वस्थ समीक्षा का उत्कर्ष नहीं हो पा रहा। चाहे वह समीक्षा पुस्तक-परिचय के अन्तर्गत लिखी गई हो अथवा शोध-प्रबन्ध की उपलब्धि हो, उसमें स्तर और मर्यादा का ह्रास दिखाई पड़ता है। इसके अतिरिक्त नए ग्रन्थों के प्रणयन में एक ओर व्यावसायिकता का दबाव है, जिससे प्रकाशन का क्षेत्र व्यापक हुआ है किन्तु उसमें स्वस्थता का गुण परिणामतः न्यून है। इस न्यूनता का संदर्भ हमें और कहीं नहीं विश्वविद्यालयों की माँग और माँग की खपत के अन्तर्गत दिख जाता है। साहित्य और समीक्षा की अभिवृद्धि के लिए जहाँ एक-दूसरे के चिन्तन-मनन को स्वीकरण मिलना चाहिए था, वहाँ अब स्वीकरण की जगह द्वेष और घृणा मिल रही है। समीक्षा इस आधार पर कितनी स्वस्थता पा सकती है? स्वतन्त्रता के पूर्व और पश्चात् हमारे दृष्टिकोणों और विश्वासों में एक अन्तर दिखाई पड़ता है। श्री शिवदान सिंह चौहान के शब्दों में यहाँ कहना अधिक उचित होगा। उन्होंने कहा है कि "साहित्य के स्वस्थ विकास के लिए पारस्परिक सम्पर्क, आदान-प्रदान और विचार-संघर्ष को आवश्यक समझते थे। यह किसी काल्पनिक 'स्वर्ण युग' की बात नहीं है,

आजादी के पहले की बात है। तब यह सामान्य स्थिति थी। यद्यपि उस जमाने में प्रगतिशील और प्रतिक्रियावादी, यथार्थवादी और रूपवादी विचारधाराओं की टक्कर कटुता और तीक्ष्णता में किसी क़दर कम नहीं थी। गिरोहवन्दियाँ भी उन दिनों कम नहीं थीं, फिर भी इतनी असहिष्णुता नहीं थी कि वार्तालाप ही बन्द कर दिया जाय और मतभेदों की अभिव्यक्ति या तो मौन उपेक्षा द्वारा की जाय या दूर से केवल पत्र-पत्रिकाओं में अपने विरोधियों पर आवेश-भरे आरोपों और लांछनों की बौछार करके।"[1] अस्तु यह स्पष्ट है कि आजादी के बाद हिन्दी समीक्षा में गतिरोध, दलवन्दी, संकीर्णताएँ, प्रचारात्मकता आई, जिससे स्वस्थ समीक्षा की भूमि में काफी कटाव आ गया है। उर्वरता का अभियान पारस्परिक समझौतों के कारण दुर्बल हो गया। स्वस्थ समीक्षा का सामना करने का साहस हम में घट गया है। लेखक और समीक्षक के बीच काफी दूरी आ गई है। इस दूरी को चिन्तन और अनुभूति से भरने की जगह द्वेष, घृणा, उपेक्षा के विष से व्यक्तिगत आधारों पर भरा जाता है जो सद्-साहित्य की लक्ष्य पूर्ति न कर सहज स्वार्थों की ही पूर्ति करता रहा है। वस्तुतः चाहिए यह था कि दोनों के बीच [लेखक और समीक्षक] पारस्परिक समझ हो, व्यक्ति की अपेक्षा कृति का अधिक मूल्य हो, तभी वह स्वतन्त्रतापूर्वक अपना कथ्य सामने ला सकेगा। श्री शिवदान सिंह चौहान की बात यहाँ उपयुक्त लगती है। उन्होंने कहा है कि "आलोचक यह स्वीकार करके चले कि लेखकों को अपने अनुभव और Vision के अनुसार लिखने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए और लेखक भी यह स्वीकार करके चले कि आलोचक को भी अपने चिंतन मनन, और अनुभव की रोशनी में उसकी कृति की आलोचना करने की पूरी स्वतन्त्रता है।"[2] चिंतन और मनन की जगह व्यक्तिगत स्वार्थों की उपेक्षा आवश्यक हो गई है। सही अर्थों में मूल्यांकन करने से ही समीक्षा की प्रतिष्ठा बढ़ेगी, नहीं तो सम्मान-रक्षा की भावना में गुटवन्दियाँ ही अधिक मजबूत होंगी और सही प्रतिभा का ह्रास होगा, जो समीक्षा के लिए अशुभ लक्षण है।

हम 'जीवितकवेराशयो न वर्णनीय' को मानने के अधिक पक्षपाती थे। कदाचित् इसलिए कि इसमें व्यक्ति-चिंतन को प्राधान्य मिल जाया करता था, और हम उसका सही मूल्यांकन नहीं कर पाते थे। बल्कि यह कहना अधिक उचित होगा कि हम अपनी मान्यताओं को रखने और प्रकट करने में दुविधा के शिकार हो जाया करते थे। परिणामतः समीक्षा की स्वस्थ परम्परा व्यक्तित्व के प्रभाव के आगे अपने को विकसित नहीं कर पाती थी, अहोम् ध्वनि···अहोम् रूपम्···का स्वर प्रबल हो उठता। हिन्दी की समीक्षा में इस गुण का अभाव नहीं है। पहले तो कवियों ने समीक्षा और काव्य का दुहरा दायित्व सम्हाला और आज उन्हीं शेष होते चिह्नों को कतिपय कहानीकारों ने भी अपना लिया है जिसके माध्यम से वे जीना चाहते हैं। समीक्षा में यह गुण अधिक दिखाई पड़ रहा है। स्व० नलिनविलोचन शर्मा ने कहा है कि "वास्तविकता यह है कि आज हिन्दी आलोचना में 'जीवितकवेराशयो न वर्णनीयः' और 'जीवितकवेराशंसा कार्या' इन्हीं दोनों सिद्धान्तों का पालन कुछ अपवादों को छोड़कर [ऐसे अपवादों में साम्यवादी आलोचकों को नहीं रखा जा सकता,

१. 'आलोचना' : अंक २८, अक्टूबर सन् ६३, पृष्ठ १।
२. 'आलोचना' : अंक २८, अक्टूबर सन् ६३, पृष्ठ-११४।

माचवे, केसरी, नरेश, शिवचन्द्र उल्लेख्य हैं] किया जा रहा है और दोनों में अन्तर कुछ विशेष नहीं है।"[1] सामाजिकता के पार्श्व में भले ही मार्क्सवादी समीक्षा पद्धति द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर व्यक्ति के रूपों को देखे और मूल्यांकन करे, वह उसके अन्तर्गत अभीष्ट है, किन्तु व्यक्ति की अहोम् ध्वनि वाली स्थिति में उसका अनुसरण और आकलन उपादेय नहीं है। डा० इन्द्रनाथ मदान ने व्यक्ति-चिंतन के साथ समाज के मंगल की भावना को स्वीकार करते हुए कहा और देखा है। उन्होंने कहा है कि "इस समय हिन्दी आलोचना में व्यक्ति-चिंतन तथा समाज-मंगल के आधार पर विभिन्न दृष्टिकोण उपलब्ध होते हैं। साहित्य के वस्तु-पक्ष तथा शिल्प-पक्ष में एक अभिन्न सम्बन्ध होते हुए भी उनका विवेचन और मूल्यांकन विभिन्न जीवन-दृष्टियों से हो रहा है।"[2]

हिन्दी समीक्षा में ऐसी बात नहीं कि साहस के साथ कह सकने की स्थिति नहीं आई हो, उसका भी प्रारम्भ हो गया है। 'उर्वशी' पर सशक्त समीक्षा हो चुकी है। उसी के साथ अन्यान्य विषयों पर भी काम हो रहा है। इस तरह का कार्य हिन्दी समीक्षा के गौरव को बढ़ा सकेगा। डा० रामकुमार वर्मा की 'साहित्य समालोचना' आज से कई वर्ष पहले संवत् १९८७ में प्रकाशित हुई थी जिस पर कार्य करके डा० इन्द्रकान्त शुक्ल ने सिद्ध करदिया है कि वह 'अनुवाद का अश्वमेध' है जो अँग्रेजी की पुस्तक रेडीमेंट्स ऑफ क्रिटिसिज़्म' का रूपान्तर मात्र है। इसी तरह मैथिलीशरण गुप्त पर निकली एक थीसिस को भी एक विश्वविद्यालय ने पी-एच० डी० की उपाधि से सम्मानित किया है। ऐसा कृतित्व ही हिन्दी समीक्षा को सम्मानित करता रहा तो उसका भविष्य अन्धकारमय हो उठेगा। यह प्रवृत्ति छायाभास के अन्तर्गत स्वीकारी जा सकेगी अथवा जुडवालेखन के अन्तर्गत या शोध के लिए पुनर्लेखन के अन्तर्गत। इस दिशा में सत्य के उद्‌घाटन की नितान्त आवश्यकता है।

---

१. आलोचना, अंक १, अक्टूबर ५३।
२. आलोचना तथा काव्य : डा० इन्द्रनाथ मदान, पृष्ठ ६३।

डॉ० माहेश्वरी

सातवाँ दशक : कविता की दिशा

सातवें दशक पूर्वार्द्ध की हिन्दी कविता एक नई दिशा की ओर बढ़ चली है। 'तार-सप्तक' के प्रकाशन से आज तक लिखी जाने वाली कविता, जिसे प्रयोगवादी (अज्ञेय आदि के बार-बार अस्वीकारने के बावजूद) या नई कविता कहा जाता है, वस्तुतः केवल प्रयोगशील कविता है। 'वाद' शब्द स्वयं में किसी सिद्धान्त या मतवाद का द्योतक है, किन्तु स्पष्टतः इन कवियों के पास कोई सिद्धान्त, कोई वाद या कोई दर्शन नहीं है।

छायावादी कविता की रहस्य-रोमांच शैली वाली बुर्जुआ रोमांटिकता को तोड़ने की आवश्यकता के रूप में प्रयोगशील कविता सामने आई। यों, कहा जाता है कि 'टेकनिक के जितने प्रयोग इन कवियों ने किए सब उनके पूर्व ही, निराला कर चुके थे (नामवर—आधुनिक आलोचना—भाषण-अवन्तिका, कलकत्ता)। यह बात सौ फ़ी सदी सही नहीं मानी जा सकती। निराला जी ने तुकों को भले तोड़ा, पर उनकी कविता में लय या संगीत बना रहा। प्रयोगशील कवियों ने फार्म को पूरी तरह तोड़ा और उससे भी आगे बढ़े। एक प्रकार से नई कविता कथ्य, फार्म, संगीत, ध्वनि तथा बिम्बों की भी अवहेलना के प्रयोग करती रही है। यह वर्जनात्मकता या रूप-निषेध यहाँ तक बढ़ जाता है कि कविता, ताज़ी-कविता और एब्सर्ड-कविता नाम से जो कई कवितायें लिखी जाने लगी हैं उनमें से कुछ शब्द, अर्थ, ध्वनि, बिम्ब, मूर्त-अमूर्त कुछ भी परिलक्षित नहीं होता। यह अमूर्तता तथा एब्सर्डिटी कृत्रिम तथा अस्वाभाविक है अतएव ये रचनायें पूर्णतः असंवेद्य हो उठती हैं। मुद्राराक्षस की एब्सर्ड कविता की कुछ पंक्तियाँ इस चरम अमूर्तता या रूप-रस-गंध-स्पर्शहीनता का परिचय देती हैं।

'विबोध'
प्रतीतात्म्य
अन्त्य
वीयायन
लोनक्र
क्र—— (उत्कर्ष नववर्षांक ६६)

इस या ऐसी कविताओं के विषय में उनका वक्तव्य भी मनोरंजक है—'लोग अब तक ऐसी कृतियों के आदी रहे हैं, जो, कहीं-न-कहीं उनके अनुभव या संकल्प में आये हुए तत्व-जगत् की प्रतिकृति लगें। ऐसी कृतियाँ या संरचनायें क्यों नहीं हो सकतीं जो इनसे बाहर की हों ? और एक बात और। समझ में आने का मतलब किसी ने सोचा है ? समझ,

नासमझी की एक मात्रा के अलावा कुछ नहीं ?' (वही)

मुद्राराक्षस की ये कवितायें, ये वक्तव्य स्वयं उनके अनुसार एब्सर्ड हैं। फिर कोई एब्सर्ड बात पर एतराज़ क्यों करे ? ठीक ही है, नयी कविता का एक बड़ा वर्ग जहाँ पहुँच गया है उसको ईमानदारी से अपने को एब्सर्ड—या बकवास करने वाला मान लेना चाहिए। धीरे-धीरे प्रयोगशील कविता प्रयोगमयता और फिर अमूर्तता की ओर बढ़ी है। अमूर्तता के आगे उसको एब्सर्ड अर्थात् बेहूदा, हास्यास्पद, ऊलजलूल (नालन्दा शब्दकोश के अनुसार) होना ही पड़ेगा।

प्रयोगशील कविता को जन्म देने वाली पृष्ठभूमि प्रगतिवादी विचारधारा से सम्पृक्त थी। प्रगतिवादी विचारधारा को जन्म देने वाली प्रवृत्ति '३६ के आस-पास हिन्दी कविता में आयी। रूस में मार्क्सवाद पर आधारित समाजवादी सरकार की स्थापना और प्रतिगामी शक्तियों पर उसकी जीत ने '३० और '३६ के बीच सारे विश्व के बुद्धिजीवी एवं श्रमजीवी वर्ग को अनुप्राणित किया। समाजवादी चेतना की यह लहर भारत में भी आई। भारत का बुद्धिजीवी उस समय गांधी-दर्शन के चमत्कार में फँसा हुआ था। देश का नेतृत्व सेठाश्रयी राजनीतिक दलों के हाथों में था और वे पूँजी के प्रति समाजवादी खतरे से वाकिफ़ थे। फिर भी लाहौर में कांग्रेस ने समाजवाद का ऐतिहासिक प्रस्ताव पास किया। आज भी (असली या नकली) कांग्रेस समाजवाद को ही अपना लक्ष्य मानती है।

इस प्रभाव को हिन्दी में प्रगतिवादी दौर कहते हैं। यह दौर बड़ा तूफ़ानी था। न जाने कितने छायावादी कवि रातों-रात लाल झंडे और मज़दूर-किसानों के पृष्ठपोषक तथा समर्थक बन गये। किन्तु इन सभी कवियों के संस्कार एकदम भिन्न थे, उनकी चेतना मार्क्सवादी विचारधारा और चिन्तनपद्धति को पचा नहीं पायी थी। फलस्वरूप शीघ्र ही ये सभी कवि नारेबाज़ी की समरसता और सस्तेपन से ऊब गये। कुछ लोग समझते हैं— 'तार-सप्तक' या प्रयोगवादी कविता, प्रगतिवादी कठमुल्लापन के विरुद्ध एक विद्रोह थी (भारत भूषण—आधुनिक कविता—भाषण-अवन्तिका, कलकत्ता), किन्तु ऐसे लोग भूल जाते हैं कि 'तार सप्तक' के सात में से छः कवि मार्क्सवादी विचारधारा से कमोबेश प्रभावित थे। मुक्तिबोध (पूँजीवादी समाज के प्रति) नेमिचन्द्र जैन (कवि गाता है), भारत-भूषण (जागते रहो) माचवे (निम्नमध्यवर्ग), रामविलास शर्मा (विश्व-शान्ति) और अज्ञेय (जनाह्वान) की कवितायें सीधे मार्क्सवादी विचारों की मिट्टी से बनी दीख पड़ती हैं। किन्तु यह कहना है कि 'प्रयोगवाद का जन्म प्रगतिवाद की कुक्षि से हुआ है (जगदीश गुप्त-आलोचना-२६ पृष्ठ ८५) भ्रमपूर्ण है, क्योंकि मूलतः ये कवि मार्क्सवादी सिद्ध नहीं होते और बाद में आने वाली—इनमें से अधिकांश कवियों की रचनायें मानववादी एवं व्यक्तिवादी दृष्टिकोणों के बीच किसी धुंधले बिन्दु पर कांपती रहती हैं। नई कविता का संघर्ष अपनी पूर्ववर्ती कविता से प्रायः नहीं के बराबर है, क्योंकि उसका प्रारम्भ ही ऐसी रिक्तता से हुआ है, जो पूर्ववर्ती कविता छोड़ गयी थी।' (विद्यानिवास—'अज्ञेय'—भूमिका, पृष्ठ २३)।

प्रयोगशील कविता वस्तुतः छायावादी अतिभावुकता, रोमांटिकता तथा अध्यात्मपरकता के विरुद्ध जन्मती है। प्रगतिवादी कविता का जो दौर उस समय आया वह नकली नारेबाज़ी और लालसेना तथा क्रान्ति के गुणगान तक सीमित था। यह प्रभाव 'तार सप्तक'

तक बना रहा। किन्तु 'दूसरा सप्तक' तक अधिकांश कवि इस नकली कविता से ऊबकर धीरे-धीरे स्वच्छन्द प्रवृत्ति अपनाने लगे थे। उनकी दृष्टियाँ गांधीवादी और मार्क्सवाद के संघात से उत्पन्न खींचातानी में लक्ष्य-भ्रष्ट हो गई थीं। 'दूसरा सप्तक' के एक कवि की स्वीकारोक्ति है कि कि 'मार्क्सवाद को कविता पर गिलाफ़ की तरह चढ़ाया नहीं जा सकता''''''जागरूक रहकर दृष्टिकोण बनाना होगा।' (रघुवीर सहाय) सचमुच प्रगतिवादियों ने शब्दों पर मार्क्सवाद की केवल गिलाफ चढ़ाई थी। उनका जीवन-दर्शन न जीवन से मिला था न दर्शन से।

प्रयोगवादी (प्रयोगशील) कविता पर एक प्रयोगवादी कवि का वक्तव्य काफी साफ़ और शायद सच के बहुत पास है। 'उनकी भाषा और कला ऊबड़-खाबड़ है। उनके कलात्मक संस्कार अच्छे स्तर के नहीं हैं। उनमें चतुराई और कौशल है। धोखा आमतौर पर नहीं है, मगर नातजर्बेकारी है कला की, पद की (यानी शेर की)।' (संभवतः शमशेर ने कविता के नवीनतम रूपों—अकविता, एब्सर्ड कविता, लिग्वातलमानवाद आदि को निगाह में रखकर यह बात नहीं कही थी। इन प्रवृत्तियों को देखने के बाद शमशेर की इस पंक्ति को मैं यों सुधारना चाहूँगा—आमतौर पर धोखा है, सरासर धोखा है) सबसे बुरी बात है कि उनका दिमाग़ आसमान पर है और उन दिमाग़ों में अक्सर सिर्फ हवा है। उलझन और हवाई उलझन। इसका कारण एक यह भी है कि उनमें आधे से ज़्यादा राजनीति की थ्योरी से ज़्यादा बेचैन हैं, ज़िन्दगी के मसलों से उतना नहीं; उनके ग्रुप और गुट हैं और कविता, कला, अनुभूति सब ग्रुप और राजनीति के अधीन हैं। दूसरी तरफ विरोधी तबकों में इसी की प्रतिक्रिया है। कविता के नाम पर भावुकता है, जिसे बीसियों तथाकथित आधुनिक तरीकों से छिपाया गया है। दो-तीन कवि इस जुमले में गम्भीर हैं और कला में वाकई संघर्ष कर रहे हैं। उनमें एक अज्ञेय दूसरा मुक्तिबोध और तीसरा त्रिलोचन। बाकी मैं हूँ या कोई और, सब लेबॉरेटरी में शोध-सा कर रहे हैं—र्‌हेटरिक के घालमेल से सच्ची भाषा को, अपनी-अपनी बिसात के अनुसार शायद अलगा रहे हैं और रास्ता खोज रहे हैं, मगर (लगता है) किसी कदर मजबूरी से और इसीलिए कुछ लापरवाही के साथ। नतीजा ज़ाहिर है।' (शमशेर) इस वक्तव्य से कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं जैसे—

एक : कि प्रयोगशील कविता (प्रयोगवादी और नई कविता) अभी लेबॉरेटरी में ही है और यही उसकी नियति है।

दो : कि इन कवियों की कविता, कला, अनुभूति सब ग्रुप और राजनीति की सीमा में बाँधकर लिखा जाता है।

तीन : कि प्रयोगशील कविता की तीन उपलब्धियाँ हैं—अज्ञेय, मुक्तिबोध और त्रिलोचन।

त्रिलोचन की कृतियाँ बहुत उभरकर सामने नहींआई हैं। किन्तु अज्ञेय और मुक्तिबोध को हम यदि अपनी दृष्टि में रखकर देखें तो एक बात साफ़-साफ़ सामने आती है कि इन दोनों की कविदृष्टि की परिणति में दो ध्रुवों की दूरी है। मुक्तिबोध एक ओर जहाँ मार्क्सवादी-समाजदर्शन केवल से प्रभावित ही नहीं हैं, अपितु भयंकर पूंजीवादी यंत्रणा को भोगकर उसके बीच से उभरती हुई वितृष्णाओं और असंगतियों पर तेज़ी से प्रहार करते हैं, तो

दूसरी ओर अज्ञेय पूंजीवादी प्रतिक्रिया के व्यक्तिपरक यथार्थ और उलझे हुए व्यक्तिनिष्ठ जीवन-मूल्यों को अपनी कविता का आधार बनाते हैं।

प्रयोगशील कविता के इस अन्तर्द्वन्द्व के पीछे मूलभूत राजनैतिक-सामाजिक कारण हैं। स्वतंत्रता के पूर्व से ही हमारे देश का नेतृत्व पूंजीपतियों द्वारा समर्थित बुर्जुआ के हाथ में रहा है। फलस्वरूप स्वातंत्र्योत्तर काल में धीरे-धीरे शोषण की जड़ें गहराती गई हैं और आज यह स्थिति आ पहुँची है कि खुद सरकार, जो समाजवाद का नारा देती है, पूंजी के हाथों में खिलौना बन रही है। इस स्थिति ने बहुत शीघ्र जनता का मोहभंग किया और शीघ्र ही सभी की दृष्टि में यह बात साफ़ हो गई है कि हम भीतर-बाहर दोनों ओर पूंजीपतियों पर आश्रित हैं। यह आश्रय देशी पूंजी के माध्यम से विदेशी पूंजी द्वारा हमें मिल रहा है। यह भी तभी तक जब तक देश में पूंजी रक्षित है। हमारा भोजन और प्रतिरक्षा आज पूर्णतया दूसरों पर आश्रित है। पी. एल. ४८० के जहाज न आयें तो भोजन नहीं मिल सकता। और कोई समर्थ देश यदि आक्रमण करे तो हमें सामरिक उपादानों के लिए भी उन्हीं का मुंह जोहना पड़ता है। इसके अतिरिक्त आर्थिक असमानता ने भ्रष्टाचार, जातिवाद, साम्प्रदायिकता आदि अनेक रोगों को जन्म दिया है।

इस सामाजिक यथार्थ को समाजवादी दर्शन के संदर्भ में देखने वाली और पूंजीवादी शोषण की समस्त यंत्रणा, त्रास और अमानुषिकता की अनुभूति तथा भोग के साझीदार की हैसियत से बेनक़ाब करने वाली मुक्तिबोध की कविता है। इसके विपरीत नई कविता वालों ने "जीवन के बिलकुल सामयिक गुण-अवगुणों को आधुनिकता के मूल्यों के रूप में मानकर मानव-विकास की सांस्कृतिक परम्परा की सभी कलात्मक उपलब्धियों को झाड़ूमार ढंग से तिरस्कारना शुरू किया है। मानव-परम्परा की कलात्मक उपलब्धियों को नया कवि अपने आधुनिकतम स्वभाव (यदि वे आधुनिकता और सामयिकता के भेद को अपनी रचना में स्पष्ट रूप से समझ सके हैं तो) के कारण आत्मसात् न कर सके तो यह उनकी मजबूरी है लेकिन उनको तिरस्कृत करने की आदत डालना एक मनोवैज्ञानिक रोग भी तो हो सकता है। और यह रोगग्रस्त आधुनिकता कम-से-कम आधुनिक मूल्य नहीं बन सकती। इसलिए मानव-मूल्यों के सन्दर्भ में ऐसी विपरीत गति मानव-विरोधी हो जाती है।' (गोपालकृष्ण कौल, आलोचना-२६, पृष्ठ ९६)

नई कविता के 'विपरीत गतिवादियों' के विपरीत आज का नवप्रगतिवादी कवि समाजवादी यथार्थ को चित्रित करता हुआ एक ओर पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था की असंगतियों और कुत्साओं की नंगी तस्वीर उतारता है तो दूसरी ओर उसके विनाश के लिए संघर्षशील शक्तियों के संघात से निरन्तर पुष्ट होते हुए प्रगतिशील सामाजिक यथार्थ के विकास को स्वर देता है। प्रयोगशील कवियों का सबसे प्रमुख स्वर अज्ञेय और नव-प्रगतिवादियों का मुक्तिबोध है।

इन स्वरों के मूल अन्तर को विवेचित किया जाय इसके पूर्व ही कुछ अन्य प्रवृत्तियों की चर्चा कर लेना ठीक होगा। वैसे इस चर्चा का केवल प्रासंगिक महत्व होगा, क्योंकि हम जिन प्रवृत्तियों की चर्चा करने जा रहे हैं वे अभी भी साफ उभर कर सामने नहीं आ सकी हैं। वैसे भविष्य में भी उनके उभर आने की कोई संभावना नहीं दीख पड़ती क्योंकि

वे केवल किन्हीं शिल्पगत प्रयोगों या प्रयोजनों को अतिरिक्त महत्व देकर नई काव्य-प्रणालियाँ निर्मित कर देने का प्रयास करती हैं। ऐसी प्रवृत्तियों की सार्थकता केवल इस तथ्य में है कि ये ऊपर कही गई दो प्रमुख काव्य-धाराओं में से निकली हुई या उनमें से किसी एक में मिलती हुई प्रवृत्तियाँ हैं जो व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं, मूढ़ताओं और अन्य कारणों से जन्मती हैं।

इन प्रवृत्तियों में अकविता, ताज़ा कविता या आज की कविता के आन्दोलन, लिग्वातलमोतवाद,अन्यथावाद, एब्सर्ड कविता, युयुत्सावाद आदि का नाम लिया जा सकता है। मूढ़ताओं के उदाहरण अन्यथावाद, लिंग्वातलमोतवाद महत्वाकांक्षाओं के युयुत्सावाद या एब्सर्ड कविता और साहित्यिक गुटबाज़ी के नवगीत आदि नामों से प्रचलित काव्य-प्रवृत्तियों के पीछे कोई ठोस आधार मान्यता या दृष्टि नहीं है। वस्तुतः ये सारी रचनायें शिल्प के अतिवादी प्रयोग-भर हैं जो अक्सर 'एब्सर्डिटी' को भी मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास करती हैं। उन सारी अस्थापित अथवा विस्थापित स्थापनाओं में से केवल युयुत्सावाद है जो प्रगतिवादी आन्दोलन से यदि अपने को जोड़ सके तो उसको अर्थ मिल सकता है अन्यथा अन्य बेपैंदी के आन्दोलनों की तरह इसकी प्रगति भी घोषणा तक ही सीमित रह जायगी। यों तो युयुत्सा शब्द हिन्दी कविता के लिए एकदम नया नहीं है। प्रयोगवादी कवियों ने आरम्भ में 'युयुत्साभाव' और 'प्रतिरोध' का नारा दिया था किन्तु प्रयोगशील कविता की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियाँ उसे कहाँ ले गईं, यह अज्ञेय की आधुनिकतम कृति 'सुनहरे शैवाल' की आलोचना सिद्ध करती है। अगर ये कविताएँ अज्ञेय की प्रतिनिधि कवितायें हैं, तो उन्हें नव-छायावाद के प्रवर्तक कहना ही अधिक समीचीन लगता है।' (रवीन्द्र कालिया, धर्मयुग, २४ अप्रैल, पृष्ठ ३५)। (यदि उक्त कृति को प्रयोगवाद की प्रतिनिधि रचना न मानें तो भी हमारे हाथ एब्सर्ड कविता ही लगती है। अस्तु, जब तक अज्ञेय के चेले स्वयं उन्हें अस्वीकारना प्रारम्भ न कर दें हमें एतराज़ नहीं है, उनको प्रयोगशील कविता का प्रतिनिधि कवि मानने में, यद्यपि प्रयोगशील कविता की बागडोर अज्ञेय के हाथों से उसी समय छूट गई जब नलिन विलोचन, केशरी कुमार ने 'प्रपद्यवाद' की घोषणा की।)

अज्ञेय और मुक्तिबोध की कविताएँ परस्पर-विरोधी दो ध्रुवों को स्पर्श करती कवितायें हैं। शेष कवि इन्हीं के बीच कहीं न कहीं स्थित हैं। इन दोनों कवियों की विकास-प्रक्रिया को यदि हम सामने रखें तो कहना पड़ेगा कि पिछले बीस-बाईस वर्षों में हिन्दी कविता एक तीव्र अन्तर्द्वन्द्व से गुज़र चुकी है जिसके फलस्वरूप कुछ बातें स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आई हैं।

यों तो अभी द्वन्द्व समाप्त नहीं हुआ है फिर भी 'विपरीत गति' ह्रासोन्मुखी, मध्यवर्गीय, व्यक्तिवादी, बोर्ज़्वा कविता ने एक बार लगता है वर्गों के द्वन्द्व को उभारने वाली, पूंजीवादी शोषण को उसकी सम्पूर्णता में चित्रित करती हुई, भयंकर उत्पीड़न और त्रास के बीच भी समाजवादी आस्था और प्रयोगशील कविता की सारी उपलब्धियों की धनी नव-प्रगतिवादी कविता के सामने घुटने टेक दिए हैं।

अज्ञेय और मुक्तिबोध के काव्यों की परिणति को उनके सम्पूर्ण काव्यजीवन के

परिप्रेक्ष्य में देखना ही उचित होगा। प्रयोगवाद के प्रारम्भिक दिनों से ही अज्ञेय और कतिपय अन्य कवियों—जैसे भारतभूषण, नेमिचन्द्र और मुक्तिबोध के आत्मबोध के स्वरूप में अन्तर रहा। 'अज्ञेय' की तरह इन कवियों में भी घोर असंतोष था, किन्तु अज्ञेय के विपरीत इन कवियों में अपनी मुक्ति के लिए नवीन जन-आन्दोलन से तादात्म्य स्थापित करने की आकांक्षा भी थी। इसलिए इन कवियों में अज्ञेय के असंतोष से थोड़ा भिन्न एक नये ढंग की 'कशमकश' दिखाई पड़ती है। यह कशमकश है संस्कार और विवेक की, आत्मस्थ होने की चाह को, असमर्थता को विवेक द्वारा चीर डालने की कशमकश है। नेमि और मुक्तिबोध में यह कशमकश अधिक तीव्र तथा मार्मिक है और इन दोनों कवियों में भी मुक्तिबोध में 'सक्रिय-जीवन-शक्ति' अधिक है। (नामवर—आधुनिक-साहित्य की प्रवृत्तियाँ)।

अज्ञेय और मुक्तिबोध दोनों ही प्रयोगकालीन अन्तर्द्वन्द्व से उभरे हैं। किन्तु दोनों की उपलब्धियाँ पूर्णतया भिन्न हैं। वस्तुतः प्रयोगशील कविता का काल कुछ ऐसे विरोधी तत्वों का द्वन्द्व हमारे सामने प्रस्तुत करता है कि सहसा उनमें से किसी को चुन लेना ग़लत ही हो सकता है। इन या उन प्रवृत्तियों को चुन लेने वाले ऐसे ही समीक्षक रहे हैं जिन्हें भीतर का यह अन्तर्द्वन्द्व प्रायः नहीं दीखता। इस कारण वे प्रयोगशील कविता (प्रयोगवादी और नई कविता) की उपलब्धियों के दो परस्पर-विरोधी कोणों को एक-दूसरे के पर्याय रूप में देखने की भूल करते हैं।

अज्ञेय की कविता व्यक्तिनिष्ठता तथा आत्मनिष्ठता से होकर अध्यात्म की तरफ संक्रमित हुई है और रावीन्द्रिक शैली की रहस्यवादी अभिव्यक्ति में परिणत होती है :—

आँगन के पार द्वार
द्वार खुले
द्वार के पार आँगन।
भवन के ओर-छोर
सभी मिले—
उन्हीं में कहीं खो गया भवन।
कौन द्वारी
कौन आगारी, न जाने
पर द्वार के प्रतिहारी को
भीतर के देवता ने
किया बार-बार पा लागन। (आँगन के पार द्वार)

इसके ठीक विपरीत व्यक्ति की पीड़ा को एक व्यापक सामाजिक तथा मानविक परिप्रेक्ष्य में रखकर भोगने और उनसे मुक्त होने की एक तीव्र छटपटाहट जो मुक्तिबोध की कविता में हमें, करीब-करीब हर कविता की किन्हीं पंक्तियों में मिल जायेगी—अज्ञेय में नहीं है :—

"अजीब संयुक्त परिवार है—
औरतें व नौकर व मेहनतकश

अपने ही वक्ष को
खुरदरा वृक्ष-धड़
मानकर घिसती हैं, घिसते हैं
अपनी ही छाती पर ज़बर्दस्ती
विषदात्री भावों का सर्प-मुख।
विद्रोही भावों का नाग-मुख
रक्तप्लुत होता है।
नाग जकड़ लेता है बाँहों को,
किन्तु वे रेखायें मस्तक पर
स्वयं नाग होती हैं।
चेहरे के स्वयं भाव सरीसृप होते हैं,
आँखों में जहर का नशा रंग लाता है।
बहुएँ मुँडेरी से कूद अरे
आत्महत्या करती हैं।
ऐसा मकान यदि ढह पड़ा
हवेली गिर पड़ी,
महल धराशायी, तो
बुरा क्या हुआ ?
ठीक है हम भी तो दब गए,
हम जो विरोधी थे
कुँओं तहख़ानों में बन्द—क़ैद,
लेकिन हम इसलिए
मरे कि जरूरत से
ज़्यादा नहीं, बहुत-बहुत कम
हम बाग़ी थे।
मेरे साथ
खण्डहर में दबी हुई अन्य धुकधुकियो
सोचो तो—
कि स्पन्द अब
पीड़ा भरा उत्तरदायित्व—भार हो चला,
कोशिश करो,
कोशिश करो,
जीने की,
ज़मीन में गड़कर भी।

(एक भूतपूर्व विद्रोही का आत्मकथन)

एक साधारण संयुक्त परिवार की, जो पूँजीवादी दबाव में ज़मीन के नीचे गड़े

रहने को बाध्य है, के सारे आक्रोश-विक्षोभ को दिशा देती हुई ये पंक्तियाँ भारत की मेहनतकश जनता में विद्रोह की कमी की ओर संकेत करती हैं और उसे ज़मीन में गड़कर भी जीने की आस्था देती हैं क्योंकि इन पंक्तियों के लेखक के हाथ में समाजवादी आस्था का परचम है। वह अस्तित्ववादी से कहीं अधिक व्यक्तित्व के संकट से ग्रस्त होकर भी उस संकट से आक्रान्त नहीं होता और ज़मीन में गड़कर भी जीता है, सोचता है और विद्रोह का आह्वान करता है।

तारसप्तक से क्रमश: 'आँगन के पार द्वार' और 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' तक संक्रमण करने वाले अज्ञेय और मुक्तिबोध की ये काव्य-यात्राएँ प्रयोग से पलायन तक तथा प्रगति से नवप्रगति तक की यात्राएँ हैं। अज्ञेय शुद्ध प्रयोगशील कवि हैं और उनके प्रयोग आधुनिक रहते हुए भी पीछे हटते चले जाने के प्रयोग हैं। मुक्तिबोध शुद्ध प्रगतिवादी या मार्क्सवादी कवि हैं और उनके प्रयोग शैली और शिल्प तक ही सीमित रहते हैं। चिंतन तथा अनुभूति में वे यथार्थ की पर्तों के नीचे धँसते हैं, धँसते चले जाते हैं। वह उस जीवन का चित्र खींचते हैं जिसे वे जी रहे हैं और उसकी ओर उनकी दृष्टि है जिसे वे जीना चाहते हैं।

हिन्दी के एक चोटी के समीक्षक ने, जो अज्ञेय के परम आत्मीय रह चुके हैं, नयी कविता के लक्षण गिनाते हुए लिखा है—इसकी पहली विशेषता है 'जीवन का आस्वादन' फिर नई कविता का दूसरा लक्षण है 'पार्थिव जगत की समग्रता का ग्रहण,' नई कविता की तीसरी विशेषता है उसकी प्रश्नाकुलता, और नई कविता की चौथी विशेषता है अपनी भावसंकुलता के अनुरूप लय तथा भाषा का अन्वेषण(विद्या निवास)।

यदि इन महासमीक्षकजी की बातों को आप मान लें तो यह मानना पड़ेगा कि नई कविता के पहले की कविताओं में जीवन का आस्वादन, जगत् की समग्रता का ग्रहण, प्रश्नाकुलता और भावसंकुलता के अनुरूप लय तथा भाषा नहीं थी। ये सभी लक्षण क्या पूर्ववर्ती कवियों पर नहीं घटते ? क्या रीतिकालीन कविता में जीवन का आस्वादन नहीं था ? क्या भक्तिकालीन महाकाव्यों में जगत् की समग्रता को ग्रहण नहीं किया गया था ? क्या रहस्यवादी कवियों से भी अधिक प्रश्नाकुल हैं ये नई कविता वाले ? क्या भावाकुलता में छायावादी कवियों से वे आगे बढ़ सके हैं और क्या भावाकुलता के अनुरूप भाषा बनाने में पहल इन्हीं ने की है ? और फिर लय से क्या अर्थ लिया जाए, तुक, संगीत-ध्वनि या क्या ?

क्यों ऐसा है कि लम्बी अवधि तक एक काव्य-प्रवृत्ति गिनी जाने वाली प्रयोगशील कविता यानी नई कविता को कोई आलोचक नहीं मिला और अज्ञेयजी को 'तीसरा सप्तक' के प्रकाशन यानी आज से सिर्फ़ सात वर्ष पूर्व भी यह कहना पड़ा कि—'परिस्थिति की माँग यह है कि कविगण स्वयं एक-दूसरे के आलोचक बनकर सामने आवें।' इतना ही नहीं, उन्होंने कहा 'कि कृतिकार के रूप में नये कवि को साथ-साथ वकील और जज दोनों होना होगा (और सम्पादक होने पर साथ-साथ अभियोक्ता भी)।' सचमुच यह तो बड़ा अँधेर है कि एक काव्य-प्रवृत्ति स्थापित हो जाए और सारी पत्र-पत्रिकाएँ उस काव्य-प्रवृत्ति के अन्तर्गत स्वीकार्य खास किस्म की कविताओं से भरी रहें, फिर भी नये-पुराने ढेर सारे आलोचकों में से एक भी उसका पक्ष लेने वाला न हो। जाने क्या बात है कि अव्वलन तो

कोई आलोचक नई कविता की समीक्षा करने की सोचता नहीं; अगर करता ही है तो भले ही वह प्रयोगशील कविताएँ भी लिखता रहा हो वह प्रगतिवादी मानदण्ड को ही प्रयोग में लाता है (रामविलास-नामवर) और जोड़-तोड़ करके यदि कोई आलोचक मैदान में उतारा जाता है तो अपने सारे जिरह-बख़्तरों के बावजूद वह डान क्विक्ज़ोट की तरह धूल फाँकता नज़र आता है (विद्यानिवास, शमशेर, श्रीकान्त, अज्ञेय)।

'तीसरे सप्तक' की भूमिका में नकेनवादियों द्वारा प्रयुक्त भाषा की अतिप्रयोग-वादिता का खण्डन तथा विषय और वस्तु की व्याख्या तथा शिल्प के प्रयोगों का महत्त्व स्वीकारने के अतिरिक्त अज्ञेय को स्वयं नई कविता के विषय में कुछ नहीं कहना है। हाँ छोटे या बड़े सफल या असफल कवि की बड़ी आसान कसौटी उनके पास है। 'नये (या पुराने भी) विषय की, कवि की संवेदना पर प्रतिक्रिया, और उससे उत्पन्न सारे प्रभाव जो पाठक-श्रोता-ग्राहक पर पड़ते और उन प्रभावों को सम्प्रेष्य बनाने में कवि का योग (जो सम्पूर्ण चेतन भी हो सकता है, अंशतः चेतन भी और सम्पूर्णतया अवचेतन भी)—मौलिकता की कसौटी का यही क्षेत्र है। यही कवि की शक्ति और प्रतिभा का भी क्षेत्र है—क्योंकि यही कवि-मानस की पहुँच और उसके सामर्थ्य का क्षेत्र है। कहाँ तक कवि नई परिस्थिति को स्वायत्त कर सका है (आयत्त करने में रागात्मक प्रतिक्रिया भी और तज्जन्य बुद्धि-व्यापार भी है जिसके द्वारा कवि संवेदना का पुतला-भर न बना रहकर उसे वश करके, उसी के सहारे ऊपर उठकर उसे सम्प्रेष्य बनाता है), इसीसे हम निश्चय करते हैं कि वह कितना बड़ा कवि है। (और फिर सम्प्रेषण के साधनों और तन्त्र के उपयोग की पड़ताल कर यह भी देख सकते हैं कि वह कितना सफल कवि है—पर इस पक्ष को अभी छोड़ दिया जाए)।'

अज्ञेय के पास नई कविता का केवल एक ही लक्षण नया है और वह है प्रयोग-शीलता। शेष लक्षण जैसे विषय और वस्तु, कवि की संवेदना पर प्रतिक्रिया, सम्प्रेषणीयता, बुद्धि और संवेदना का सन्तुलन, सम्प्रेषण के साधनों और तन्त्र (टैकनीक) का उपयोग आदि सभी लक्षण क्या सब कालों की कविता के विषय में नहीं दोहराए जा सकते ?

वस्तुतः नई कविता को परिभाषित करने के सारे प्रयास व्यर्थ हैं, इसलिए नहीं कि नई कविता की परिभाषा करने की सामर्थ्य ही पिछले बीस वर्षों में कोई नहीं जुटा पाया बल्कि इसलिए कि नई कविता में, केवल प्रयोग-वैचित्र्य और नवीनता के आग्रह के, कुछ भी नया नहीं है। दर्शन के नाम पर नई कविता का हर कवि अपनी ढफली अपना राग बजा रहा है। सुविधा के लिए वह अस्तित्ववाद—जैन या बौद्ध दर्शन तथा शांकर दर्शन को भी एक हाथ में उठा सकता है।

नई कविता नई परिस्थितियों की उपज है किन्तु नई स्थितियों, नई संवेदनाओं और नये परिवेश की विशिष्टता को स्वीकार करके भी वह नये दर्शन को स्वीकार करने से हिचक रही है इस कारण कभी तो वह लोकगीतों की धुन पर गाती दीख पड़ती है तो कभी युद्धोत्तर यूरोप के कवियों के सुर में सुर मिलाकर मर्सिया पढ़ना शुरू कर देती है या फिर कमिंग्स तथा मायाकोव्स्की की तरह शब्द-चित्र बनाती है। 'नई कविता को उत्तराधिकार के रूप में न अध्यात्मवादी विचारधारा प्राप्त हुई न भौतिकवादी' (मुक्तिबोध—आधुनिक

कविता की दार्शनिक पृष्ठभूमि में) सम्भवतः एक नये कवि के शब्दों में—'नई कविता के नाम पर आज जो-कुछ लिखा जा रहा है उसके अन्तर्गत बहुत कुछ (मेरी अपनी कविताएँ भी) महज़ बकवास है।' (प्रयागनारायण, तीसरा सप्तक) तीसरा सप्तक में संकलित कवि की नई कविता के सन्दर्भ में दी गई यह प्रतिक्रिया महत्त्वपूर्ण है। इसे केवल विनम्रता मान लेना सही नहीं होगा।

दर्शन के नाम पर नई कविता हमें जो दे रही है वह कुछ ये चीज़ें हैं—

वर्तमान सभ्यता औद्योगिक सभ्यता है—चाहे वह साम्यवादी हो चाहे पूँजीवादी—

इस व्यवस्था में व्यक्तित्व का विकास नहीं होता।
व्यक्तिनाश प्रायः अवश्यम्भावी है।
अतएव मानव-दुःख भी अवश्यम्भावी है।
इसलिए निष्कर्ष—दुःख, निराशा, ग्लानि, विरक्ति, अगतिकता, कुण्ठा आदि-आदि—

अगतिकता मनुष्य की नियति है।
इसलिए उसे बदलने या उससे विक्षुब्ध होने की बात असंगत है।
आदर्श ग़लत हैं। उनके द्वारा हमें छला गया है।
हम लघु-मानव अपने लघु-प्रयत्नों द्वारा अपनी उन्नति या विकास करते हैं और अपनी जो भी भावनाएँ हैं उन्हें काव्य में व्यक्त करते हैं।
जनता एक भीड़ है।
भीड़ की कोई आत्मा नहीं होती।
व्यक्ति को भीड़ का हिस्सा बनने से बचना चाहिए। अर्थात् चेतन को अचेतन बनने से बचना चाहिए।
शुद्ध और शाश्वत कलाकार राजनीति या समाजनीति के चक्कर में नहीं पड़ता।
उसे तो केवल मानव की चिरन्तन संवेदना से मतलब रखना चाहिए। वह केवल
सौन्दर्य का आराधक है।

इन सारी बातों को प्रयोगशील कविता में ढूँढ़ा और पाया जा सकता है किन्तु नव-प्रगतिवादी के पास इन सभी दर्शनों का उत्तर है। वह प्रगतिवादी कवि के समान केवल नारा नहीं लगा रहा है और न प्रारम्भिक प्रगतिवादी आलोचकों के समान भद्दे ढंग से किसी भी कृति को या साहित्यधारा को कलम के एक झटके से प्रतिक्रियावादी या प्रगतिवादी घोषित कर रहा है। वह उसकी जड़ों में जाता है और सारे सामाजिक अंतर्विरोधों को अपने सामने रखकर कृति के भीतर से रचनात्मक-तत्त्वों तथा सौन्दर्यबोध को संवेद्य करती हुई पंक्तियों को चुनता है और एक पूरी सामाजिक तथा एस्थेटिक (सौन्दर्यशास्त्रीय) कसौटी पर उसे कसता है। उसे किसी कृत्रिम दर्शन के मुखौटे से त्रस्त नहीं

किया जा सकता। क्योंकि वह सत्य को अपनी दृष्टि से देखता है, किसी भी दर्शन का चश्मा पहनकर नहीं।

नई कविता के दर्शन का उत्तर नव-प्रगतिवादी के पास है। वह जानता है कि मानव को सुखी बनाने के लिए उद्योगों का प्रसार हुआ है। यदि मनुष्य की शान्ति की गारंटी हो जाए और प्रत्येक व्यक्ति को अपने विकास का खुला क्षेत्र प्राप्त हो—(ऐसा कुछ साम्यवादी देशों में हो भी रहा है) मानव का दुःख यदि अवश्यम्भावी है तो सुख भी। और यदि दुःख के कारणों को कम किया जा सके और किया जा सकता है तो सुख की सम्भावनाएँ अपने आप बढ़ जाएँगी। पुराने आदर्श ग़लत हैं। इसलिए उन्हें तोड़ दिया जाए और नया मानव लघु तथा आदर्श-हीन होने के बदले नये आदर्शों को पकड़े। मानव का समाज से निरासक्त या अलग कोई विकास नहीं हो सकता और व्यक्ति की काव्य-रचना किसी-न-किसी स्तर पर समष्टि की रचना होती ही है।

जनता एक भीड़ है किन्तु जागृत जनता अचेतन भीड़ नहीं रहेगी। चैतन्य जनता महान् उद्देश्यों के लिए संघर्ष करने वाली जुझारू जनता होती है जो मानवता के भविष्य की दिशाएँ निर्धारित करती है। वह यह भी जानता है कि कोई भी व्यक्ति आज की ज़िन्दगी में राजनीति से उसी प्रकार नहीं बच सकता जैसे मध्य-युग में भगवान् से। उसे यह भी मालूम है कि मानव की चिरन्तन-संवेदना या सौन्दर्य को कोई भी कलाकार केवल समसामयिक यथार्थ के चित्रण द्वारा ही कर सकता है और उसकी दृष्टि अपने समाज के जीवन को हर कोण से परखने को बाध्य है। इसके अतिरिक्त नव-प्रगतिवादी यह भी जानता है कि ये सारे सिद्धान्त उसे केवल इसलिए पिलाए जा रहे हैं—'कि कहीं ऐसा न हो कि ये भाव प्रगतिवादी जीवन-दर्शन में बँधकर कवि-हृदय में, एक भिन्न आलोक में चमक उठें। अतएव, यह आवश्यक समझा गया कि नये कवि उसके चक्कर में न पड़ें।' (मुक्तिबोध—'नई कविता का आत्म-संघर्ष और अन्य निबन्ध, पृष्ठ १८३)

नव-प्रगतिवादी यह भी जानता है कि जन-भावना या साधारणी-कृत भावना से ही काव्य की मूर्ति गढ़ी जाती है और यह मिट्टी केवल अपने को समाजवादी घोषित करने वाले साहित्यकारों में ही नहीं अन्य जागरूक और संवेदनशील साहित्यकारों में भी पाई जाती है। अन्तर केवल इतना होता है कि ऐसी अचेतन-जागृति दिशाहारा होती है और प्रायः उसको गुमराह करने या उसके लक्ष्य-भ्रष्ट हो जाने का खतरा रहता है।

'हिन्दी में इन दिनों दो प्रकार के वर्ग काम कर रहे हैं। एक उच्च मध्यवर्गीय जन, दूसरे निम्न मध्यवर्गीय जन। इन दोनों के बीच की खाई लगातार चौड़ी होती जा रही है। विश्व का जो आभ्यन्तरी-करण (संवेदनात्मक प्रतिक्रिया—लेखक) ये दो वर्ग करते जा रहे हैं उसमें बड़ा भेद दृष्टिगत हो रहा है। इन दोनों श्रेणियों की प्रधान भावनाएँ एक-दूसरे से जुदा हो चुकी हैं। दोनों के सामने दुनिया दो अलग संवेदनात्मक रूपों में प्रस्तुत हो रही है। प्रगतिशील जीवन-मूल्य निम्न-मध्यवर्गीय श्रेणी के मानव-चित्रों में अधिक पाए जाते हैं। इस श्रेणी में, जीवन-संघर्ष की अधिकता के फलस्वरूप अन्तर्मुखता और भावसघनता तो होती है, किन्तु उसके साथ स्वाध्याय और समय के अभाव के कारण काव्य-सौन्दर्य के विकास के प्रति विमुखता भी दृष्टिगोचर होती है। किन्तु सबसे अधिक चिन्तनीय

यह है कि वे तथाकथित अभिजात उच्च मध्यवर्गीय काव्य-संस्कृति से आच्छन्न होकर अपनी विशिष्टता को प्रखर रूप से प्रकट नहीं कर पाते।' (मुक्तिबोध—काव्य की रचनाप्रक्रिया)

इन शब्दों में मुक्तिबोध ने साफ़-साफ़ आज की हिन्दी कविता की मीमांसा की है और उन्हें इस बात का विश्वास है कि नई कविता में 'नियो-क्लासिसिज़्म' के बीज पक चुके हैं और अभी से विभिन्न कवियों में उसकी आशाएँ प्रकट हो रही हैं। (मुक्तिबोध—वही)

हिन्दी के सातवें दशक के पूर्वार्ध में हमें प्रयोगशील कविता या नई कविता में दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ दीख रही हैं। एक व्यक्तिवादी बोर्ज्वा संस्कारों के माध्यम से प्राप्त एक विशेष प्रकार की सौन्दर्य-अभिरुचि के रेजिमेण्टेशन से सम्बन्धित मुमूर्ष प्रवृत्ति जो अपनी ह्रासशीलता के कारण एब्सर्डिटी की ओर बढ़ती जा रही है और दूसरी सम्पूर्ण मनुष्य की अन्तस्थित जीवनानुभूति को सम्पूर्ण बाह्य-सन्दर्भों के साथ उपस्थित करने वाली, मानव की सारी पीड़ा को उसके संकल्पों और विकल्पों के साथ प्रस्तुत करने वाली और मानवता के भविष्य-निर्माण के संघर्ष से अपने को जोड़ने वाली तथा हिन्दी कविता के भविष्य की ओर चलने वाली जीवन्त-प्रवृत्ति है।

डॉ० मधुरमालती सिंह

दिनकर के काव्य में नारी

३१ जुलाई, १९६५ को दिल्ली विश्वविद्यालय के दीक्षान्त भवन में मैथिलीशरण गुप्त जयन्ती मनाई गई। गुप्तजी के काव्य की विशेषताओं और मुख्य प्रवृत्तियों का विश्लेषण संश्लेषण करते हुए दिनकर ने अपने वक्तव्य में कहा, "आधुनिक काव्य की मुख्य तीन विशेषताएँ रहीं, एक बुद्धिवाद, दूसरा नारी की मर्यादावृद्धि और तीसरा पौराणिक कथानकों की ओर झुकाव जिसमें भारत का हृदय है।" इसी वक्तव्य में भारतीय नारी के जीवन इतिहास को संक्षेप में दिनकर ने इस भाँति व्यक्त किया, "वेद नारी के महत्त्व के प्रमाण थे। वैदिक युग में ऋषिवाद था, मुनिवाद नहीं। वह प्रवृत्ति का युग था। गृहस्थ का महत्त्व था। मुनिवाद के पश्चात् बुद्ध का युग आया; हट्टे-कट्टे लोग नारी को छोड़कर चले जाते थे। नारी आजीवन वैधव्य का जीवन भोगती थी; जिसके आँसुओं में यह देश अब तक डूबा है।"

उपर्युक्त वक्तव्य में दिनकर ने युग परिवेश के साथ अपना नारी-सम्बन्धी दृष्टिकोण भी अनायास अभिव्यक्त कर दिया है। उनके काव्य का एक महान् अंग 'नारी' है, उसके आँसुओं को इस कवि ने जैसा पहचाना है और उसकी मर्यादावृद्धि का जैसा प्रयत्न किया है उससे परिचय प्राप्त करके हत्प्रभ रह जाना पड़ता है।

हिन्दी काव्य के इतिहास में नारी का क्या स्थान रहा ? यदि उस ओर दृष्टिपात

किया जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि आदियुग से भारतेन्दु युग तक नारी प्रिया थी या फिर प्रेयसी या माया। आदि युग का कवि राजा की सामन्ती नारियों की परम्परागत विरह व्यथा में डूबता उतराता रहा। कबीर के लिए वह ठगिनी माया थी और जायसी के लिए नागमती जैसी साध्वी गृहस्था शैतान। तुलसी अवश्य एक ऐसे कवि हैं जिन्होंने नारी को जीवन की विविध परिस्थितियों में आँका और पुरुष का साझीदार समझा; किन्तु उनके मुख्य नारी पात्र राम के संदर्भ से स्वयमेव महान् हो गए थे। फिर भी तुलसी की नारी विषयक ईमानदारी उपेक्षणीय नहीं है। तुलसी द्वारा प्रतिष्ठित नारी-सम्बन्धी महत्त्व का युग ने आदर नहीं किया; नारी का प्रिया और प्रेयसी या यूँ कहें कि कामिनी और विरहिणी रूप ही कवियों का प्रिय विषय रहा। रीतियुग और फिर भारतेन्दु युग तक स्थिति ऐसी ही चलती रही। काव्य के अनुकूल काव्य शास्त्र में भी नायिका भेदों में वासक सज्जा, आगत पतिका, प्रोषित पतिका, प्रवत्स्य पतिका आदि प्रधान रहे। नारी के गुण और स्वभाव का विश्लेषण करते समय आचार्यों की दृष्टि उसके हाव-भाव और हेला पर टिकी रही। वह सौंदर्य की कठपुतली-सी पुरुष की वासनापूर्ण कामुक दृष्टि का खिलौना और तृप्ति बनी रही। काव्यशास्त्र में नारी या यूँ कहें नायिकाभेद अब तक इसी दृष्टिकोण पर आधारित है। उसके रूप-सौंदर्य के अंकन में किसी भी काव्यशास्त्री की दृष्टि उसके मन और आत्मा के सौंदर्य पर नहीं गई।

द्विवेदी युग के सुधारवादी आन्दोलनों ने अनायास कवि का ध्यान नारी महत्त्व की ओर केन्द्रित कर दिया। जीवन के प्रति प्रवृत्ति में आस्था हुई, गार्हस्थ के महत्त्व के साथ उसमें पुरुष की बराबर की साझीदार नारी अपने सम्पूर्ण आत्मिक मानसिक सौंदर्य से आवेष्ठित काव्य-भूमि पर अवतरित हुई। रामनरेश त्रिपाठी के स्वप्न और पथिक, हरिऔध के प्रिय-प्रवास और वैदेही वनवास तथा मैथिलीशरण गुप्त का सम्पूर्ण काव्य नारी के इसी सौंदर्य से आभासित है।

नारी महत्त्व की इसी शृंखला को दिनकर ने अद्भुत सौंदर्य पराकाष्ठा तक पहुँचाया है। प्रिया और प्रेयसी के साथ सखी और माता रूप अपने समस्त दोष-गुण के साथ उनके काव्य में प्रतिष्ठित हैं। दिनकर के काव्य में प्रतिभाषित नारी सौंदर्य का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करके सम्भवतः भविष्य के हिन्दी काव्यशास्त्रियों को गर्भिणी, सद्यःप्रसूता आदि नवीन नायिका भेदों को अपने ग्रन्थों में स्थान देना पड़े।

काव्य सर्जना के प्रारम्भिक दिनों से ही सम्भवतः दिनकर को नारी के विविध सौंदर्य ने आकर्षित किया है, उसके उल्लास ने आह्लादित और पीड़ा तथा रुदन ने आप्लावित किया है। सन् १९३१, ३४, ३५, ३६ आदि वर्षों में लिखे गए स्फुट गीतों में नारी के विविध रूपों को कवि देख सका है। कृषक पत्नी और राजकुमारी दोनों ही उनके काव्य में अवतरित हुईं; विधवा के एकान्त साधनारत जीवन के प्रति उन्होंने श्रद्धांजली अर्पित की, माता और प्रेयसी दोनों के महत्त्व का कवि ने गुणगान किया। भावी प्रबन्ध काव्यों में कवि नारी के जीवन की जिस विशद व्यथा और उल्लास को अभिव्यक्त कर सका है उस सबके बीज स्फुट गीतों में ही विद्यमान हैं। प्रस्तुत निबन्ध में दिनकर के स्फुट काव्य की नारी का परिचय प्राप्त करके उनकी प्रबन्ध कृतियों का नारी सम्बन्धी अंकन अभीष्ट है।

दिनकर के स्फुट काव्य में नारी—सन् १९३६ में 'नारी' नामक कविता में नारी के सौंदर्य को दिनकर जी ने यूँ अभिव्यक्त किया—

कुशल विधि-मानस का नवनीत
एक लघु दिव सी हो अवतीर्ण,
कल्पना-सी, माया-सी, दिव्य
विभा-सी भू पर हुई विकीर्ण।

कल्पना और दिव्य विभा के अतीन्द्रिय उपमानों से आवृत होती हुई भी उनकी नारी 'माया सी' न रह सकी—

दृष्टि तुमने फेरी जिस ओर
गई खिल कमल पंक्ति अम्लान;
हिंस्र मानव के कर से त्रस्त
शिथिल गिर गये धनुष और बाण।
हो गया मदिर दृगों को देख
सिंह विजयी बर्बर लाचार,

पुरुष की निसर्ग प्राप्त हिंसा वृत्ति पर नारी कोमल प्रबल अंकुश है; वह हिंस्रता का लोप कर उज्ज्वल कोमल कमल पंक्तियों की सृष्टि करती है, बर्बर से बर्बर पुरुष भी नारी के मदिर नेत्रों के आजीवन दास हो जाते हैं, यह जीवन का सत्य है। प्रसाद की प्रलय की छाया में बर्बर अलाउद्दीन ने कमला से कहा था—

शासन करोगी इन मेरी क्रूरताओं पर
निज कोमलता से—मानस की माधुरी से।

—लहर

राजा और ऋषि दोनों नारी के उस मदिर प्रभाव से अभिभूत हुए थे—

एक इंगित पर दौड़े शूर
कनक मृग पर होकर हतज्ञान,
हुई ऋषियों के तप का मोल
तुम्हारी एक मधुर मुस्कान!

प्रेयसी रूप में पुरुष ने—

तुम्हारे अधरों का रस प्राण।
वासना तट पर पिया अधीर;

और माता रूप में अपत्य ने—

अरी ओ मां हमने है पिया
तुम्हारे स्तन का उज्ज्वल क्षीर।

× × ×

पिया शैशव ने रस-पीयूष,
पिया यौवन ने मधु मकरन्द

तृषा प्राणों की है पर देवि !
एक पल को न हो सकी मन्द ।

माता और प्रेयसी दोनों रूपों में नारी के आत्मिक, मानसिक और शारीरिक रूप सौंदर्य रस का पान करके भी पुरुष उसके लिए प्यासा ही है। दिनकर के लिए उनके ही शब्दों में नारी—

भावना अन्तर की वह गूढ़,
रही जो युग-युग अकथ अगेय ।

भारत का हृदय उसके ग्रामों में है जहाँ उसकी ८० प्रतिशत जनता निपट अपढ़ता और निर्धनता में विवश जीवनयापन कर रही है। सांस्कृतिक पुनर्जागरण के युग के कवि की वाणी स्वभावतः उन दीन मलीन मानव कहलाने वाले अस्तित्वों की ओर आकर्षित हुई है, मैथिलीशरण गुप्त ने कृषक् वेदना में लिखा—

वर्षा का सब सलिल खुले सिर पर है पड़ता
है बैलों के साथ बैल भी बनना पड़ता
जलता तो भी उदर अहो जीवन की जड़ता ।

कृषक की वेदना को आत्मसात करके भी नारी महत्त्व को प्रतिष्ठित करने वाले कवि की वाणी इस विषय में मूक रह गई; कृषक परिवार और विशिष्टतः कृषक पत्नी की कोई झाँकी मैथिलीशरण गुप्त ने प्रस्तुत नहीं की। दिनकर कृषक-पत्नी के जीवन की मार्मिक झाँकी प्रस्तुत करने में सफल हुए। वह इस विषय में अग्रगामी हैं।

ज़मीदारी व्यवस्था में दलित पीड़ित कृषक जाति खेतों में सोना उगाकर भी दाने-दाने को मुहताज रहती थी। अषाढ़ की रिमझिम कृषक-पत्नी के जीवन में नया उल्लास भर देती है। खेत भरे पूरे हैं, आज वह किसी राजा की रानी से कम नहीं है, यद्यपि वह जानती है कि उसका आह्लाद, अनाज के खलिहान में पहुँचने के साथ ही समाप्त हो जाएगा ! समाज के लुटेरे महाजन और ज़मीदार कुछ भी न छोड़ेंगे—फिर वही अभाव-मय जीवन; तब भी वह कवि की 'कविता की पुकार' के रूप में कह उठती है—

कवि ! आषाढ़ की इस रिमझिम में धन खेतों में जाने दो,
कृषक सुन्दरी के स्वर में अटपटे गीत कुछ गाने दो ।
दुखियों के केवल उत्सव में इस दम पर्व मनाने दो,
रोऊँगी खलिहानों में खेतों में तो हर्षाने दो ।

'रोऊँगी खलिहानों में' अभिव्यक्ति कितनी मार्मिक और सत्य है।

अपनी अपढ़ता के कारण विवश एक कृषक वियोगिनी वधू प्रियतम को पाती लिखने में असमर्थ है। दूर देश गए बालम से सम्पर्क बनाये रखने का एक यही तो उपाय है। निदान विवश किसी पढ़े-लिखे व्यक्ति द्वारा पत्र लिखवाना ही एकमात्र चारा रह जाता है। ग्राम वधू की सरलता में उसी के अनुकूल भाषा का प्रयोग करके दिनकर ने अपनी अपढ़ वियोगिनी से कहलाया है :—

"भैया लिख दे एक कलम खत मों बालम के जोग,
चारों कोने खेम-कुशल माँझे ठाँ मोर वियोग ।"

दिनकर की 'कविता की पुकार' ने कृषक परिवार की दाम्पत्य झाँकी भी देखी है और गार्हस्थ्य परिस्थिति भी।

दाम्पत्य झाँकी—

शस्य-श्यामला निरख करेगा कृषक अधिक जब अभिलाषा,
तब मैं उसके हृदय स्रोत में उमड़ूँगी बनकर आशा।
अर्धनग्न दम्पति के गृह में मैं झोंका बन आऊँगी।
लज्जित हों न अतिथि सम्मुख वे, दीपक तुरत बुझाऊँगी।

गृहस्थ दिनचर्या—

ऋण शोधन के लिए दूध-घी बेच धन जोड़ेंगे,
बूँद-बूँद बेचेंगे अपने लिए नहीं कुछ छोड़ेंगे।
शिशु मचलेंगे दूध देख, जननी उनको बहलायेगी,
मैं फाड़ूँगी हृदय, लाज से आँख नहीं रो पायेगी।

× × ×

बैलों के ये बन्धु वर्ष भर, क्या जाने कैसे जीते हैं?
बँधी जीभ, आँखें विषण्ण, ग़म खा शायद आँसू पीते हैं।
पर शिशु का क्या हाल, सीख पाया न अभी जो आँसू पीना?
चूस-चूस सूखा तन माँ का, सो जाता रो विलप नगीना।
विवश देखती माँ अंचल से, नन्हीं जान तड़प उड़ जाती।
अपना रक्त पिला देती यदि फटती आज वज्र-सी छाती।

ऋण के बोझ से दबी हुई कृषक-वधू दुग्धाभाव के कारण अपनी सन्तति से भी हाथ धो बैठती है, उसकी वज्र की छाती तब भी नहीं फट पाती; अपनी विवशता में उसे जीना पड़ता है। दिनकर के कवि की सम्वेदना दलित वर्ग के साथ जैसे उसके जीवन को जीकर आत्मसात कर सकी है। नारी के जीवन की मार्मिक वेदना की यह तस्वीर हिन्दी-काव्य में अभूतपूर्व है।

नारी केवल निर्धनता में ही विवशता का जीवन नहीं जीती रही है, धनाविक्य में भी उसका वही हाल रहा है। धन-वैभव से आवेष्टित धनी-मानी, प्रतिष्ठित सामन्ती वर्ग उसको वासना का खिलौना मात्र समझता रहा है। 'राजा-रानी' नामक कविता में दिनकर ने राजा को ऋतुओं के राजा वसन्त और रानी को ऋतुओं की रानी वर्षा के समकक्ष ठहरा कर उनकी नाम-गुण सटीकता को प्रमाणित किया है।

राजा बसन्त, वर्षा ऋतुओं की रानी,
लेकिन दोनों की कितनी भिन्न कहानी।
राजा के मुख में हँसी कंठ में माला,
रानी का अन्तर विकल दृगों में पानी।
डोलती सुरभि राजा-घर कोने-कोने,
परियाँ सेवा में खड़ीं सजाकर दोने।

खोले अलकें रानी व्याकुल-सी आयी,
उमड़ी जाने क्या व्यथा लगी वह रोने।
रानी रोओ, पोंछो अश्रु अंचल से,
राजा अबोध खेलें कचनार कमल से।
राजा के वन में कैसे कुसुम खिलेंगे,
सींचो न धरा यदि तुम आँसू के जल से ?
लेखनी लिखे, मन में जो निहित व्यथा है,
रानी की सब दिन गीली रही कथा है।

'परियाँ सेवा में खड़ीं सजाकर दोने' अथवा 'राजा अबोध खेलें कचनार कमल से' आदि अभिव्यक्तियों में जो चोट दिनकर इस वर्ग पर कर सके हैं वह काव्य में अपना सानी नहीं रखती। हीरे-मोतियों के आवरण में आवृत विवश नारी विश्व की स्थूल व्यावहारिक दृष्टि से चाहे स्वयं के वास्तविक रूप को छिपा ले; कवि की सर्वग्राही पैनी दृष्टि से नहीं छिप सकती। 'राजा-रानी' कविता दिनकर ने सन् १९३५ में लिखी थी। रानी के विवश जीवन की जिस कसक ने दिनकर को तब अभिभूत किया था उसकी अभिव्यंजना 'उर्वशी' काव्य में पूर्ण हो सकी। 'औशीनरी' के चरित्र और वर्षा ऋतु रानी के जीवन में अद्भुत साम्य दिखाई पड़ता है।

औशीनरी की भाँति सीता-राम के चरण-पूजन में ही लगी रही और--

विधु संग-संग चाँदनी खिली बन-बन में,
सीते तुम तो खो रहीं चरण पूजन में।
तो भी यह अग्नि-विधान ! राम निष्ठुर हैं,
रानी जनमी थी तुम किस अशुभ लगन में।
नृप हुए राम तुमने विपदाएँ झेलीं,
थी कीर्ति उन्हें प्रिय, तुम बन गईं अकेली।
वैदेही तुम्हें माना कलंकिनी प्रिय ने,
रानी करुणा की तुम भी विषम पहेली।

'थी कीर्ति उन्हें प्रिय तुम बन गईं अकेली' में अग्नि-परीक्षा में भी उत्तीर्ण सीता की विवशता कवि ने मुखरित की है। त्रेता युग और फिर द्वापर युग की सामन्ती नारी भी पुरुष के सुख-दुख की सहचरी कहलाकर भी; केवल उसके हाथ की कठपुतली थी; उससे और अधिक कुछ नहीं। कवि दिनकर ने पौराणिक नारी की भर्त्सना करते हुए सीता से कहा है—

रो-रो राजा की कीर्ति लता पनपाओ,
रानी आयसु है, लिए गर्भ बन जाओ !
सूखो सरयू ! साकेत ! भस्म हो रानी।
माँ के उर में छिप रहो न मुँह दिखलाओ।

शकुन्तला के प्रति कवि के उद्‌गार अत्यन्त मार्मिक बन पड़े हैं—

प्याली थी विष भरी, प्रेम में भूली,
पी गईं जिसे तुम भोली लता भवन में...

राजा हँसते हैं हँसें तुम्हें रोना है,
मालिन्य मुकुट का भी तुमको धोना है;
रानी ! विधि का अभिशाप यहाँ ऊसर में
आँसू से मोती-बीज तुम्हें बोना है ।

राजपूताने के सामन्ती इतिहास में नारी ने अपना मूल्य पहचाना और जौहर की रस्म अदा करके हताश-निराश सैनिकों में प्राण संचार किया—

छिटकी तुम विद्युत शिखा, हुआ उजियाला,
तम-विकल सैनिकों में संजीवन डाला;
हल्दीघाटी हुँकार उठी जब रानी !
तुम धधक उठीं बनकर जौहर की ज्वाला ।

जौहर की रस्में स्वाभिमान की रक्षा के लिए विवशता में की गई थीं । भारत की स्वाभिमानी नारी के पास स्वरक्षा का और कोई उपचार उस युग में नहीं था । अपना पहचानने न पहचानने का अवसर और अधिकार उन रानियों को प्राप्त नहीं था, अन्यथा एक पुरुष के अन्तःपुर में सैकड़ों की संख्या में कैसे वे चली जातीं?यह संयोग की बात है कि रानियों के उत्सर्ग से, जौहर से सैनिकों के रक्त में उष्णता आई; कवि दिनकर ने सामन्ती युग की असमर्थ नारी के चरित्र-बल के महत्त्व को उदार दृष्टि से देखा, यह उनके लिए बधाई का विषय है ।

वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाली नारियों के उपर्युक्त रूपों के अतिरिक्त दिनकर ने समाज में अत्यन्त तिरस्कृत एक और वर्ग की नारी का अंकन किया है और वह है नर्तकी । नर्तकी के जुगुप्सापूर्ण जीवन की झाँकी कवि ने इस प्रकार प्रस्तुत की है—

बरसते हैं तुम्हारे अंग पर भी बाण आँखों के
असूया में तुझे, विद्वेष के तीखे ज़हर वाले ?
उन्हीं के सामने हो नाचती जिनकी निगाहों में,
नहीं तुम और कुछ, केवल सुयश की भिक्षुणी भर हो ?

× × ×

अतल गहराइयों को छोड़ क्यों बाहर निकलती हो,
जहाँ ईर्ष्या, असूया, द्वेष, सब भाले लिए फिरते,
जहाँ पर फूल की सारी परख रंगीनियों तक है !
न कोई मूल तक जाता, न कोई गन्ध लेता है ।

नर्तकी जिस वातावरण में रहती है वहाँ कला के पारखी नहीं, 'सतह के फेन के ग्राहक' आते हैं । उन 'सतह के फेन के गाहकों' के कामना के सागर में केवल वारुणी का नशा रहता है । वे उच्च नशे से रंगीन नर्तकी का झिलमिलाता रूप ही केवल देख पाते हैं; रस का उमड़ता हुआ सागर ही उन्हें दृष्टिगत होता है, कल्पनाओं के मन्थन से उबलती हुई ज़हर की आग नहीं । ज़हर की वह आग जो नर्तकी के हृदय में सुलगती रहती है ।

सतह के फेन के गाहक, कलाएँ मौज हैं इनकी ।
कभी जब काम से थककर महल से वे निकलते हैं,

हमारी ओर भी कुछ घूमते फिरते चले आते,
नशीली कामनाओं के तिमिर में खोजते शीतल,
फुहारें चाँदनी की और झीना जाल शबनम का।
इन्हें है याद इतना ही कि जब सागर उबलता है,
अतल को छोड़कर आती भुवन में वारुणी केवल।
नहीं यह जानते हैं कल्पनाएँ जब मथी जातीं,
निकलती है ज़हर की आग भी, पीयूष का जल भी।

नर्तकी सामाजिक व्यवस्था की वह अभिशप्त नारी है जिसके जीवन में कोमल अतीन्द्रिय पवित्र प्रेम की एक किरण भी कभी नहीं फूटती न कभी अपने प्रेम का प्रतिरूप अपत्य मिलता, माँ बनना, और यदि बन भी जाये तो अपत्य का पालन नर्तकी के भाग्य में नहीं होता—

न मिलता रूप वह निर्देहता की ज्योति हो जिसमें,
न मिलता स्वप्न वह जो देह धरकर पास आ जाये।

आत्मवंचना की जलन में जलकर और कला की साधना में रत रहकर भी नर्तकी विश्व में मान कभी नहीं पा सकती। ग्लानिपूर्ण जीवन का ज़हर वह निरन्तर पीती है, रसपूर्ण जीवन के कुछ क्षण भी वह समाज के एक विशिष्ट वर्ग को देती है। उसके जीवन की सार्थकता क्या है ? कवि उससे सीधा-सादा किन्तु अत्यन्त मार्मिक प्रश्न करता है—

जलो जितना, नहीं, पर, योगियों का मान पाओगी।
तपो लेकिन, नहीं कोई कहेगा तापसी तुमको।
ज़हर पीकर अमृत से विश्व का तन सींचती जाओ,
नहीं संसार, पर, इसको तुम्हारा दान मानेगा।
सभी को तृप्ति दो, पर कौन इतनी बात सोचेगा,
कि तुम सबको खिला करके बिना आहार सोती हो ?

उपर्युक्त विवेचित नारियों के अतिरिक्त अपने स्फुट काव्य में दिनकर ने विधवा, गीतवासिनी और विपक्षिणी का अंकन भी किया है।

'विधवा' नामक कविता में तरुणी विधवा के घर वातावरण और शारीरिक-मानसिक भावस्थिति का बड़ा सजीव चित्रण हुआ है। 'नवयौवन की चिता बनाकर' भग्न मनोरथ की समाधि पर वह तपस्विनी कैसे बैठी रहती है ? देखिये—

उजड़े घर, निर्जन खंडहर में,
कंचन थाल लिये निज कर में।
रूप आरती सजा खड़ी किस सुन्दर के स्वागत चिन्तन में ?
जीवन के शुचि-शून्य सदन में।
सूखी सी सरिता के तट पर,
देवि ! खड़ी सूने पनघट पर,
अपने प्रिय दर्शन अतीत की कविता बाँच रही हो मन में ?
जीवन के शुचि-शून्य सदन में।

नव यौवन की चिता बनाकर।
आशा कलियों को स्वाहा कर,
भग्न मनोरथ की समाधि पर तपस्विनी बैठी निर्जन में।
जीवन के शुचि शून्य सदन में।

'गीत वासिनी' में सौंदर्य-सज्जा के विभिन्न उपकरण लेकर कवि ने अपनी कल्पना की नायिका का शृङ्गार किया है। इस शृङ्गार की विशिष्टता यह है कि वह स्थूल सौंदर्य की सर्जना न करके अतीन्द्रिय भास्वर रूप का निर्माण करता है।

स्वर्णदीप्त ललाट पर दे एक टीका लाल,
बालरवि से आँक दूँगा चन्द्रमा का भाल।
आँख में काली घटा, उर में प्रणय की प्यास,
साँस में दूँगा मलय का पूर्ण भर उच्छ्वास।

'विपक्षिणी' मैथ्यू आयर की एक कविता का भावानुवाद है। उसमें कवि ने तर्कशीला नारी के सन्मुख पुरुष की पराजय घोषित की है। नारी तर्कमयी हो अथवा मौन, पुरुष उससे बौद्धिक समकक्षता नहीं चाहता, भावना का आधार लेकर हार मान लेता है यही इस कविता का प्रतिपाद्य है।

दिनकर के प्रबन्ध-काव्यों—उर्वशी और रश्मिरथी में नारी के विविध रूप प्राप्त हैं जिनको हम मुख्य इन चार परिसीमाओं में बाँध सकते हैं—प्रेयसी, पत्नी, प्रिया और माता। एक पाँचवाँ रूप सखी का भी है। 'उर्वशी' में उर्वशी के चरित्र में कवि ने प्रेयसी और प्रिया (उर्वशी के प्रिया-रूप के सन्मुख प्रश्नचिह्न लगा है सिवाय इसके कि वह आयु की माता है) और माता, औशीनरी के चरित्र में पत्नी, सुकन्या के चरित्र में प्रिया और माता का अंकन किया है, बाकी स्त्री-चरित्र या तो औशीनरी की सखियाँ हैं या उर्वशी की। 'रश्मिरथी' का मुख्य स्त्री-चरित्र कर्ण की माता कुन्ती है।

'उर्वशी' में दिनकर ने उर्वशी, औशीनरी और सुकन्या तीन चरित्रों को बराबर-बराबर रखकर नारी को प्रत्येक पहलू से देखने का प्रयत्न किया है। प्रेयसी, पत्नी, प्रिया और माता-रूपों के संदर्भ में इन चरित्रों का अंकन अनुपयुक्त न होगा।

प्रेयसी—उर्वशी पुरूरवा की प्रेयसी है। विवाहित होकर भी राजा पुरूरवा अपनी रानी को भूलकर उसके प्रति लुभाये हैं। प्रेयसी में जिस यौवन मदालस भाव को पुरुष देखना चाहता है उसकी अभिव्यंजना दिनकर ने इस प्रकार की है—

किसी सान्द्र वन के समान नयनों की ज्योति हरी थी,
बड़ी-बड़ी पलकों के नीचे निद्रा भरी भरी थी।
अंग-अंग में लहर लास्य की राग जगाने वाली,
नर के सुप्त, शान्त शोणित में आग लगाने वाली।

प्रेयसी के इस रूप को पुरुष अंक में भर लेता है, उसको प्राप्त करने के लिए किसी भी महान से महान कष्ट को झेलने से भी नहीं कतराता। उर्वशी को प्राप्त करके पुरूरवा हर्ष-विह्वल पुकार उठे थे—

और प्रेम पीड़ित नृप बोले, 'क्या उपचार करूँ मैं ?'
सुख की इस मादक तरंग को कहाँ समेट धरूँ मैं ?

× × ×

प्राणों की मणि ! अयि मनोज्ञ मोहिनी ! दुरन्त विरह में
नहीं झेलता रहा वेदनाएँ क्या-क्या दुस्सह मैं ?

प्रेयसी, नारी का वह रूप है जिसमें पुरुष उसके प्रेम में उन्मत्त होकर इतर समस्त विश्व को भूल जाता है। प्रेयसी स्वकीया भी हो सकती है और परकीया भी। उर्वशी परकीया से प्रारम्भ होकर स्वकीया प्रेयसी बनी थी। गन्धमादन पर्वत पर अपना राजकाज सब-कुछ भूलकर पुरूरवा उसके प्रेम में डूबे रहे थे। प्रिया बनना उर्वशी के सौभाग्य में न था क्योंकि राजा की रानी की भाँति वह राजा के नित्यप्रति की दिनचर्या में समभागी न हो सकती थी। वह अभिशप्त नारी माता बनकर पति और पुत्र दोनों का मुख एक साथ न देख सकती थी। कुलवधुओं की दृष्टि में वह गणिका से अधिक कुछ न थी। औशीनरी के शब्दों में—

ये प्रवंचिकाएँ, जाने क्यों तरस नहीं खाती हैं,
निज विनोद के हित कुल वामाओं को तड़पाती हैं !
जाल फेंकती फिरती अपने रूप और यौवन का,
हँसी-हँसी में करती हैं आखेट नरों के मन का।

किन्तु फिर भी प्रेयसी, नारी का वह रूप है जिसमें पुरुष उसके बुद्धिबल का सम्मान समादर करता है; वह नर की प्रेम-पात्री होकर उसके साथ जीवन के गम्भीर तत्त्वों पर, स्वर्ग और धरती के विषय में परस्पर विचार-विनिमय के योग्य समझी जाती है। पुरूरवा ने उर्वशी को इसी प्रकार का गौरव प्रदान किया था।

पुरूरवा और उर्वशी के रूप में कवि ने उन दो पात्रों को मिला दिया है जिनमें एक पुरूरवा पृथ्वी का जीव होकर भी स्वर्ग की असीमता में विहरना चाहता है और दूसरा स्वर्ग का वासी होकर भी उससे अतृप्त है क्योंकि सीमा के बन्धन का आकर्षण अतुल्य है असीमता उसकी क्या बराबरी कर सकेगी ?

पुरूरवा ने कहा—

रक्त की उत्तप्त लहरों की परिधि के पार कोई सत्य हो तो,
चाहता हूँ भेद उसका जान लूँ
पन्थ हो सौंदर्य की आराधना का व्योम में यदि
शून्य की उस रेख को पहचान लूँ।
पर, जहाँ तक भी उड़ूँ इस प्रश्न का उत्तर नहीं है।

उर्वशी ने उत्तर दिया—

इन कपोलों की ललाई देखते हो ?
और अधरों की हँसी यह कुन्द-सी, जूही की कली-सी ?
गौर चम्पक यष्टि सी यह देह श्लथ पुष्पाभरण से,
स्वर्ण की प्रतिमा के स्वप्न-साँचे में ढली सी ?

यह तुम्हारी कल्पना है प्यार कर लो।
रूपसी नारी प्रकृति का चित्र है सबसे मनोहर।
ओ गगनचारी यहाँ मधुमास छाया है।
भूमि पर उतरो,
कमल कपूर कुँकुम से, कुटज से
इस अतुल सौंदर्य का शृङ्गार कर लो।

प्रेयसी के प्रति उद्दाम वासना पुरूरवा के इन वाक्यों में अभिव्यंजित हुई है—

फिर क्षुधित कोई अतिथि आवाज़ देता,
फिर अधर पुट खोजने लगते अधर को,
कामना छूकर त्वचा को फिर जगाती है,
रेंगने लगते सहस्रों साँप सोने के रुधिर में,
चेतना रस की लहर में डूब जाती है।

× × ×

कौन है यह देश जिसकी स्वामिनी मुझको निरन्तर,
वारुणी की धार से नहला रही है ?
कौन है यह जग समेटे अंक में ज्वालामुखी को,
चाँदनी चुमकार कर बहला रही है ?

प्रेयसी की बाँहों में सिमटे हुए पुरुष की अवशता को दिनकर ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

पर न जाने बात क्या है !
इन्द्र का आयुध पुरुष जो झेल सकता है,
सिंह से बाँहें मिलाकर खेल करता है,
फूल के आगे वही असहाय हो जाता,
शक्ति के रहते हुए निरुपाय हो जाता,
बिद्ध हो जाता सहज बंकिम नयन के बाण से
जीत लेती रूप-सी नारी उसे मुसकान से।
मैं तुम्हारे बाण का बींधा हुआ खग
वक्ष पर धर सीस मरना चाहता हूँ।

प्रेयसी जीवन संग्राम से जूझते हुए पुरुष के तप्त वपु के लिए ही केवल विश्राम-भूमि नहीं है; उसके अंक में आत्मा की तृप्ति भी प्राप्त है जो विश्व में अन्यत्र दुर्लभ है। पुरूरवा के शब्दों में—

बाहुओं के इस वलय में गात्र ही बन्दी नहीं है,
वक्ष के इस तल्प पर सोती न केवल देह,
मेरे व्यग्र, व्याकुल प्राण भी विश्राम पाते हैं।

प्रेयसी के नयनों की गहराई में पुरुष तन की सीमा का अतिक्रमण करके उस लोक के दर्शन करता है जहाँ सीमा स्वयं को असीम के प्रति समर्पित करती है, कवि दिनकर के

अनुसार प्रेयसी वही सौन्दर्य-सेतु है जो देह और आत्मा की खाई को दूर करके उनको परस्पर मिलाता है—

तन का अतिक्रमण, यानी इन दो सुरम्य नयनों के
वातायन से झाँक देखना उस अदृश्य जगती को
जहाँ मृत्ति की सीमा सूनेपन में बिला रही है।
अनुलंघ्य वह नहीं प्रभा के पुल से संयोजित है।
मध्यान्तर में देह और आत्मा के जो खाई है,
अतिक्रमण कर इसलिए पार कर इस सुवर्ण सेतुक को
उद्भासित हो सकें भूतरोत्तर जग की आभा से।

× × ×

यह अतिक्रान्ति वियोग नहीं, आलिंगित नर-नारी का,
देह धर्म से परे अन्तरात्मा तक उठ जाना है।

× × ×

ले जाना है यह समूल नगपति के तुंग शिखर पर,
वहाँ जहाँ कैलाश-प्रान्त में शिव प्रत्येक पुरुष है,
और शक्तिदायिनी शिवा प्रत्येक प्रणयिनी नारी।

पत्नी—भारतीय समाज में पत्नी की परिकल्पना यद्यपि प्रेयसी और प्रिया की भावना से समन्वित है तदपि संस्कार इस समाज की 'पत्नी' कहलाने वाली नारी को गृह-स्वामिनी से अधिक गौरव प्रदान नहीं करते। सामाजिक-धार्मिक अनुष्ठानों में पति की समभागी सहभोक्ता होती हुई भी यह नारी प्रायः उसके प्रेम से आजीवन वंचित-सी रहती है; पुरुष उसे अधिकार से प्राप्त सम्पत्ति से अधिक महत्त्व नहीं देता। कालिदास के 'शाकुंतलम्' की वेत्रवती, हँसपदिका आदि और उर्वशी काव्य की औशीनरी ऐसी ही अभागिनी नारियाँ हैं।

पति के अन्य-स्त्री-अनुरक्त होने पर ये नारियाँ विद्रोह नहीं कर सकतीं। एक दुर्बल आह-मात्र भरकर रह जाती हैं—

औशीनरी—

आजीवन वे साथ रहेंगे ? तो अब क्या करना है ?
जीते जी यह मरण झेलने से अच्छा मरना है।

कुलवामाओं के कुलधर्म में सिमटी-सिकुड़ी यह पति को अपनी ओर अनुरक्त करने वाली स्त्री से क्षुब्ध तो होती हैं किन्तु स्वयं को लाचार पाती हुई कह उठती हैं—

ये प्रवंचिकाएँ, जाने क्यों तरस नहीं खाती हैं,
निज विनोद के हित कुलवामाओं को तड़पाती हैं।

भारतीय पत्नी संस्कार से ही स्वयं अपने को पति की सम्पत्ति समझती है। इसी से सहज समर्पण तो कर देती है किन्तु जिस लीला-विलास का पुरुष प्यासा होता है उसे केवल गणिका का निरावृत प्रेमोद्घाटन समझकर अपनी कुलशील महिमा को बचाती हुई उसकी छाया भी नहीं छूने देती; इसी से केवल पत्नी कहलाने वाली नारी से पुरुष दूर

होता जाता है। नारी में प्रेम की उद्दाम तरंग देखने के लिए वह अन्य स्त्रियों की, अप्सराओं की मरु-मरीचिका में भटका करता है। औशीनरी ने जीवन में सब-कुछ खोकर इस तथ्य को समझा था। उसने पुरूरवा के वनगमन के पश्चात् सुकन्या के सम्मुख इस तथ्य की स्वीकृति भी की थी—

गँवा दिया सर्वस्व हाय मैंने छिपकर छाया में,
अस्वीकृत कर खुली धूप में आँख खोल चलने में।
देवि ! प्रेम के जिस तट पर अप्सरा स्नान करती है
गई नहीं क्यों मैं तरंग आकुल उस रसित पुलिन पर ?
पछताती हूँ हाय, रक्त आवरण फाड़ व्रीड़ा का
व्यंजित होने दिया नहीं क्यों मैंने उस प्रमदा को
जो केवल अप्सरा नहीं, मुझ में भी छिपी हुई थी ?

× × ×

जीत गईं वे जो लहरों पर मचल-मचल चलती थीं,
उड़ सकती थीं खुली धूप में, मेघों-भरे गगन में,
हारी मैं इसलिये कि मेरे व्रीड़ा विकल दृगों में
खुली धूप की प्रभा, किरण कोलाहल की गड़ती थी।

भारतीय नारी अपने इस विवश रूप में भी गौरवमयी रह सकी है क्योंकि सामाजिक उत्तरदायित्वों के जिन गुरु भारों से पुरुष घबरा गया है, सामाजिक संघर्ष में न जूझकर उसने वन की शरण ली है वहाँ परिताप की अग्नि में दग्ध होकर भी पत्नी कहलाने वाली नारी कर्त्तव्य से च्युत नहीं हुई है। औशीनरी उसी पत्नी का प्रतिनिधित्व करती है जो पति की दुर्बलताओं को दुलराती हुई, उसके हाथों अनेक कष्ट सहती हुई भी उसकी वंश-रक्षा के उत्तरदायित्व को निभाती है। अप्सरा के पुत्र को गले से लगाती हुई औशीनरी कह उठती है—

हाय पुत्र ! मैं भी जीवन भर बहुत-बहुत प्यासी थी;
शीतल जल का पात्र अधर से पहले पहल लगा है।

सुकन्या ने औशीनरी के महत्त्व को इन शब्दों में व्यक्त किया है—

नारी क्रिया नहीं, वह केवल क्षमा, शान्ति, करुणा है।
इसीलिये इतिहास पहुँचता जभी निकट नारी के,
हो रहता वह अचल या कि फिर कविता बन जाता है।

पुरूरवा के बिना बताए वन-गमन के विषय में औशीनरी का आक्रोश गुप्तजी की यशोधरा के वाक्यों की दुर्बल प्रतिध्वनि मात्र लगता है। यशोधरा के समर्थ मान का वहाँ नितान्त अभाव है।

प्रिया—प्रिया नारी का वह रूप है जिसमें पत्नी प्रेयसी बन जाती है; वह पुरुष के सुख-दुःख की समभागी बनकर उसके लिए अपूर्व शान्तिमय लोक की सर्जना करती है, सुकन्या ने च्यवन के लिए वैसा ही किया था। सुकन्या को देखकर च्यवन के शुष्कस्थाणुप्राय हृदय में हरियाली छा गई थी; अपने मन के भावों को सीधे-सादे से शब्दों में अभि-

व्यक्त करके जब उन्होंने सुकन्या से स्वयं उसको माँगा था तो गद्गद् हुई राजकुमारी ने धन-वैभव को पाँवों तले रौंदकर ऋषि-पत्नी बनना स्वीकार कर लिया था। नारी का ऐसा प्रणयी-रूप ही सम्भवतः दिनकर का आदर्श है। च्यवन ने सुकन्या को देखकर कहा था—

कहाँ मिला यह रूप, देखते ही जिसको पावक की
दाहकता मिट गई, स्थाणु में पत्ते निकल रहे हैं ?

× × ×

मणि-माणिक्य नहीं, तप केवल एक रत्न तापस का;
शुचिस्मिते ! मैं वही रत्न तुमको अर्पित करता हूँ।
हम तुम मिलकर साथ रहेंगे जहाँ पर्णशाला में,
शुभे स्वर्ग वरदान माँगने वहाँ स्वयं आयेगा।

सुकन्या वह प्रिया थी जिसे पति के पवित्र प्रेम की दृढ़ आधार-भूमि प्राप्त थी। जयशंकर प्रसाद की श्रद्धा के आदर्श की भाँति जो 'विश्वास रजत नग पगतल में पीयूष स्रोत-सी बहती थी।' उस दृढ़ विश्वास से प्रेम का अमरत्व भोगती हुई 'प्रिया' 'नारी' अप्सरियों को भी चुनौती देती हुई कह सकती है—

अप्सरियाँ उद्विग्न भोगतीं रस जिस चिर-यौवन का,
उससे कहीं महत सुख है जो हमें प्राप्त होता है
निश्छल शान्त विनम्र, प्रेम भर उर के उत्सर्जन से

तथा

अप्सरियाँ जो करें किन्तु हम मर्त्य योषिताओं के
जीवन का आनन्द कोष केवल मधुपूर्ण हृदय है।
हृदय नहीं त्यागता हमें यौवन के तज देने पर,
न तो जीर्णता के आने पर हृदय जीर्ण होता है।

माता—नारी के विविध रूपों में मातृत्व वह स्थिति है जहाँ उसका वास्तविक रूप निखरकर आता है। माता के रूप में नारी स्वयं सृष्टि की अधिष्ठात्री सत्ता ही है। अत्यन्त असंग भाव से अरूप को रूप तो वह देती ही है निस्वार्थतः उसका पोषण भी करती है। दिनकर ने शब्दों में मातृत्व की इस महान् स्थिति को निम्न शब्दों में व्यक्त किया है—

नारी ही वह महासेतु जिस पर अदृश्य से चलकर
नये मनुज नव प्राण दृश्य जग में आते रहते हैं।
नारी ही वह कोष्ठ, देव-दानव-मनुज से छिपकर
महाशून्य चुपचाप, जहाँ आकार ग्रहण करता है।
सच पूछो तो प्रजा सृष्टि में क्या है भाग पुरुष का ?
यह तो नारी ही है जो सब यज्ञ पूर्ण करती है।
सत्व भार सहती असंग सन्तति असंग जनती है;
और वही शिशु को ले जाती मन के उच्च निलय में
जहाँ निरापद सुखद कक्ष है शैशव के झूले का।

यद्यपि यह ठीक है कि मातृत्व की प्राप्ति करने पर स्त्री में वह युवावस्था का स्वाभाविक लावण्य विनष्ट होने लगता है जो पुरुष के आकर्षण का मुख्य केन्द्र है; शरीर के रेखा-वृत्त आदि वैसे साँचे में ढले से नहीं रहते किन्तु मातृत्व की गरिमा के गुरुभार के सम्मुख सौन्दर्य के वे मानदण्ड कितने हलके हैं ? मेनका के शब्दों में कवि दिनकर कह उठते हैं—

गलती है हिमशिला सत्य है, गठन देह की खोकर,
पर हो जाती वह असीम कितनी पयस्विनी होकर ?

हिमशिला जब गलकर जीवन-वाहिनी स्रोतस्विनी बन जाती है और क्षेत्रों को हरा-भरा करती हुई प्रवाहित होती है तभी उसका सौन्दर्य मुखर होता है। जड़ हिम के रूप में देह की गठन रखकर भी उसका क्या मूल्य ?

'उर्वशी' में दिनकर ने आयु को गर्भ में वहन करती हुई उर्वशी के रूप में गर्भिणी नारी का बड़ा सजीव सुन्दर वर्णन किया है। मातृत्व के संभार से युक्त नारी के व्यक्तित्व में अभूतपूर्व सन्तोष और तृप्ति का सौन्दर्य व्याप्त हो जाता है। दिनकरजी ने गर्भिणी की उपमा उस मेघाली से की है जिसने समुद्रजल को छककर पिया हो—

और नारियों में भी श्लथ, गर्भिणी सत्त्वशीला को,
देख मुझे सम्मानपूर्ण करुणा सी हो आती है।
कितनी विवश किन्तु, कितनी लोकोत्तर वह लगती है।
देह कान्ति पीतिमायुक्त, गति नहीं पदों के वश में,
चल लेती है किसी भाँति पीवर उस मेघाली-सी,
जो समुद्र का जल पीकर मन्थर डगमगा रही हो।

गर्भिणी की मुख मुद्रा पर भविष्य के उस शिशु कहलाने वाले जीव के भाव ही आप्लावित रहते हैं क्योंकि सत्त्ववती नारी अपत्य के ध्यान में अधिकांश निमग्न रहती है—

जो चाहता भविष्य, वक्त पर वही भाव आते हैं।
मानो जो ले जन्म कभी तुतली वाणी में बोलेगा,
लगा भेजने वह अजात तुतले संकेत अभी से।

सद्यःप्रसूता उस नौका के समान है जो दृश्य से अदृश्य जग में जाकर दृश्य के लिए सार्थ ले आई हो और उस गुरुभार से उऋण होकर अब अशेष तन्द्रा में निमग्न-सी हो गई हो। च्यवन के शब्दों में—

तट पर लगी अचल नौका सी जो अदृश्य में जाकर,
दृश्य जगत के लिए सार्थ जीवन का ले आई हो,
और रिक्त होकर प्रभार से अब अशेष तन्द्रा में,
याद कर रही हो धुँधली बातें अदृश्य के तट की।

मातृत्व का गौरव केवल उन नारियों को ही प्राप्त नहीं है जिन्होंने सत्त्व ग्रहण करके उसको जन्म दिया हो; बल्कि माता वह भी है जो शिशु को हृदय से लगाकर पालती है। उर्वशी ने सुकन्या से कहा था—

केवल भ्रूण वहन, केवल प्रजनन मातृत्व नहीं है
माता वही, पालती है जो शिशु को हृदय लगाकर।

'उर्वशी' काव्य में उर्वशी-जैसी अप्सरा में भी माता के अपत्य के प्रति सहज अनुराग को कवि ने बड़ी समवेदना और सहानुभूति से अभिव्यंजित किया है। दैविक शाप के कारण उर्वशी यद्यपि पति और पुत्र दोनों का सुख एक साथ न देख सकने के लिए अभिशप्त थी किन्तु च्यवन के आश्रम में पुत्र को छोड़कर जाने के लिए बाध्य होने पर भी वह समय-समय पर आयु को कैसे हृदय से जुड़ाती थी—

'अरी जुड़ाना क्या इसको ? ला दे इस हृदय कुसुम को,
लगा वक्ष से स्वयं प्राण तक शीतल हो जाती हूँ।

अपने गर्भ के दिनों की स्मृति-रूप में उर्वशी प्रत्येक माता की अपत्य के प्रति सहज कामना को अत्यन्त मार्मिक शब्दों में व्यक्त करती है—

यही चाहती थी, समेट कर पी लूँ सूर्य-किरण को,
विधु की कोमल रश्मि, तारकों की पवित्र आभा को,
जिससे यह अपरूप, अमर ज्योतियाँ गर्भ में जाकर,
समा जायँ इसके शोणित में, हृदय और प्राणों में।
यही सोचती थी त्रिलोक में जो भी शुभ सुन्दर है,
बरस जाय सब एक साथ मेरे अंचल में आकर,
मैं समेट सबको रच दूँ मुस्कान एक पतली सी,
और किसी भी भाँति उसे जड़ दूँ इसके अधरों पर।

पुरूरवा के राज्य में लौटने के पश्चात उर्वशी राजरानी बनकर रह रही थी। राजा ने च्यवन के आश्रम का स्वप्न जब देखा तो उर्वशी को ज्ञात हो गया कि पति और पुत्र दोनों से बिछुड़ने का समय अब आ गया है। राजा के स्वप्न की एक-एक कड़ी के पश्चात्, 'हाय ! अपाले पानी दे' की घोषणा उर्वशी के नारीत्व, मातृत्व पर देवशाप के कुठाराघात की व्यंजना करती है।

मातृत्व की प्यास प्रत्येक नारी के हृदय में निहित रहती है। औशीनरी अपत्य-सुख से आजीवन वंचित रही। परम्परागत संस्कारों में पोषित औशीनरी पति के पुत्र को ही पुत्र मानकर पुकार उठती है—

हाय ! पुत्र मैं भी जीवन-भर बहुत-बहुत प्यासी थी,
शीतल जल का पात्र अधर से पहले पहल लगा है।

'उर्वशी' काव्य के अतिरिक्त मातृत्व की एक बिल्कुल भिन्न परिस्थिति दिनकर ने 'रश्मिरथी' में देखी है। कर्ण की माता कुन्ती कुरुकुल की राजमहिषी थी। कुमार जीवन में सूर्य के साहचर्य से कर्ण-जैसा यशस्वी बालक उसे मिला था। कुन्ती भारतीय समाज की भीरु कुमारी माता से अधिक कुछ नहीं थी जो माता बनने पर समाज के ठेकेदारों से डरकर अपत्य को फेंक देती हैं और फिर ग्लानि की आग में मन-ही-मन जलकर भी ऊँचे महलों के प्रतिष्ठित जीवन की प्रवंचना में मन बहलाती है। विवाहिता होकर यह अपने प्रथम शिशु को भूल जाती है।

कुन्ती कर्ण के पास इसलिए नहीं गई थी कि कर्ण के प्रति उसका उमड़ता स्नेह का स्रोत था; बल्कि इसलिए गई थी कि पाण्डवों की प्राणरक्षा करने का महत् प्रश्न उसके

सम्मुख था। कुन्ती का अभागा त्यक्त पुत्र कर्ण इस विडम्बना को भली-भाँति जानता था। इसीलिए कुन्ती के ममत्व-प्रदर्शन पर (चाहे स्वाभाविक ममत्व भी पुत्र को देखने पर उमड़ आया हो परन्तु वह ममता पहले कहाँ थी ?) कर्ण क्षुब्ध हो गया। कर्ण के रूप में कवि दिनकर इस बात को मानने को तत्पर नहीं है कि कुमार-जीवन में माता बन जाने पर नारी अपने हृदय के टुकड़े को फेंक दे, केवल समाज से डरकर, प्रतिष्ठित जीवन यापन की साध में।

'रश्मिरथी' में कर्ण कुन्ती की इस दलील से सहमत नहीं है कि—

पर मैं कुमारिका थी जब तू आया था,
अनमोल लाल मैंने असमय पाया था।
अतएव हाय, अपने दुधमुँहे तनय से,
भागना पड़ा मुझको समाज के भय से।
बेटा धरती पर बड़ी दीन है नारी,
अबला होती सचमुच योषिता कुमारी।
है कठिन बन्द करना समाज के मुख को,
सिर उठा न पा सकती पतिता निज सुख को।

प्रतिष्ठा के पद में भूली हुई अपनी माता के प्रति कर्ण के ये शब्द बड़े मार्मिक और हृदय-भेदी हैं—

ठकुरानी क्या लेकर तुम मुझे करोगी ?
मल को पवित्र गोदी में कहाँ धरोगी ?

× × ×

उलटे मुझको असहाय छोड़कर जल में,
तुम लौट गई इज्जत के बड़े महल में।

सद्यःप्रसूत दुधमुँहे बच्चे को त्यागकर चले जाने वाली माँ, माँ कहलाने की अधिकारिणी नहीं है क्योंकि नारी-हृदय के सहज ममत्व को उसने सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए तिलाञ्जलि दे दी। कर्ण कुन्ती से कहता है—

अपना खोया संसार न तुम पाओगी,
राधा माँ का अधिकार न तुम पाओगी।
छीनने स्वत्व उसका तो तुम आई हो,
पर कभी बात भी यह मन में लाई हो ?
उसको सेवा तुमको सुकीर्ति प्यारी है,
तुम ठकुरानी हो वह केवल नारी है।
तुमने तो तन से मुझे काढ़ कर फेंका,
उसने अनाथ को हृदय लगाकर सेंका।

कुमारी कन्या यदि सुयोग अथवा दुर्योग से माता बन जाय तो कवि दिनकर की उसके प्रति चुनौती और संदेश यह है—

विधि का पहला वरदान मिला जब तुमको,

गोदी में नन्हा दान मिला जब तुमको,
क्यों नहीं वीर माता बन आगे आई,
सबके समक्ष निर्भय होकर चिल्लाई,
सुन लो समाज के प्रमुख धर्म-ध्वज-धारी,
सुतवती हो गई मैं अनब्याही नारी।
अब चाहो तो रहने दो मुझे भवन में,
या जातिच्युत कर मुझे भेज दो बन में।
पर मैं न प्राण की इस मणि को छोड़ूँगी,
मातृत्व धर्म से मुख न कभी मोड़ूँगी।
यह बड़े दिव्य उन्मुक्त प्रेम का फल है,
जैसा भी हो, बेटा माँ का संबल है।

× × ×

शायद समाज टूटता वज्र बन तुम पर,
शायद घिरते दुख के कराल घन तुम पर।

× × ×

पर, सह विपत्ति की मार अड़ी रहती तुम,
जग के समक्ष निर्भीक खड़ी रहती तुम।

× × ×

भोगती राजसुख रहकर नहीं महल में,
पालती खड़ी हो मुझे कहीं तरु तल में।
लूटती जगत में देवि ! कीर्ति तुम भारी,
सत्य ही कहाती सती सुचरिता नारी।

मातृत्व के इस गौरव की महिमा को हिन्दी के जागरूक लेखक ने आज के युग में पूर्णतः पहिचान लिया है। हिन्दी का कोई भी प्रगति-प्रेमी लेखक समाज से प्रताड़ित नारी को भीरु नहीं देखना चाहता। कुमारी माता के प्रति दिनकर की उपर्युक्त चुनौती महादेवी के इन वाक्यों से कितना साम्य रखती है देखिये—

"यदि ये स्त्रियाँ अपने शिशु को गोद में लेकर साहस से कह सकें कि, 'बर्बरो तुमने हमारा नारीत्व-पत्नीत्व सब ले लिया, पर हम अपना मातृत्व किसी प्रकार न देंगी तो इनकी समस्या तुरन्त सुलझ जावे। जो समाज इन्हें वीरता, साहस और त्याग-भरे मातृत्व के साथ स्वीकार नहीं कर सकता, क्या वह इनकी कायरता और दैन्य-भरी मूर्ति को ऊँचे सिंहासन पर रखकर पूजेगा ?"—अतीत के चलचित्र ६।

कुन्ती को असहाय कुमारिका माता बनकर कर्ण से प्रार्थना करनी पड़ी तभी वह उसके प्रति कुछ द्रवित हो सका। अर्जुन से इतर चार पाण्डवों के लिए उसने अभय-दान भी कुन्ती को प्रदान किया।

इस प्रकार दिनकर के काव्य में नारी के विविध रूपों का परिचय प्राप्त करके यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इस महान कवि ने युग की चेतना के अन्य पक्षों

के साथ नारी के प्रति दृष्टिकोण को पर्याप्त सच्चाई और सहानुभूति से प्रतिष्ठित किया है। नारी-जीवन के मुख्य पहलुओं प्रेयसी, प्रिया, पत्नी और माता की स्वस्थ और तथ्यपूर्ण व्याख्या और प्रतिष्ठा तो की ही है साथ ही उनकी कमजोरियों की यदि उन्हें कहीं पाया है तो कटु-शब्दों में आलोचना भी की है। ऊँच अथवा नीच कहलाने वाले सभी वर्गों की नारियों की विवशताओं और सबलताओं को कवि ने अपनी आत्मा में आत्मसात किया है।

कवि के अनुसार नारी सृष्टि की सबसे बड़ी शक्ति है। उसके वक्ष पर सिर रखकर जीवन-संघर्ष में जूझता पुरुष मर्त्य-भाव को भूलकर कुछ क्षणों के लिए ही चाहे हो अमर हो जाता है—

और वक्ष के कुसुम कुंज, सुरभित-विश्राम भवन ये,
जहाँ मृत्यु के पथिक ठहर कर श्रान्ति दूर करते हैं।

नारी-जीवन की सार्थकता को कवि ने पुरुष और नारी की प्रणय-निगूढ़ एकत्वानुभूति की स्थिति में माना है। चित्रलेखा के शब्दों में—

बलिहारी उस पूर्ण प्रेम की जिसकी क्षिप्र लहर में,
केवल मन ही नहीं, अंग संज्ञा भी खो जाती है।
धन्य त्रिया वह जो बलिष्ठ नर की पिपासु बाँहों में,
आँख मूँद रसमग्न प्रणय-पीड़न असह्य सहती है,
जैसे बहता कुसुम तरंगित सागर की लहरों पर।

'नारी-जीवन' के विविध पक्षों का समग्र विवेचन करके दिनकर ने आधुनिक युग के काव्य के एक वृहद् उत्तरदायित्व की पुष्टि की है।

वैजनाथ सिंहल

नया भाव-बोध और धर्मवीर भारती

आज हिन्दी-जगत् में 'आधुनिकता और नये भाव-बोध' विषय पर आक्षेपकों और समर्थकों के ऐसे दो वर्ग बने हुए हैं जिनमें अधिकांशत: कवि और आलोचक ठोस सैद्धान्तिक सत्य को स्वीकारते हुए भी जान-बूझकर आँख मींच जाते हैं और पूर्वाग्रहों (Platitudes) के रंग में रँगकर गतानुगतिकता को श्रेयस्कर समझते हैं। इनमें—पहला और ऐसा वर्ग उन कवियों और आलोचकों का है जो छायावादी प्रभाव से पूर्णरूपेण मुक्त नहीं हो सका है और कदाचित् विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित सस्ती कविताओं के अध्ययन-मात्र से नयी कविता का विरोधी हो बैठा है; क्योंकि नये अधिकारी-कवियों के काव्यों पर उसने दृष्टि-निक्षेप प्रथमत: तो किया ही नहीं, दूसरे एक चिढ़ जो बन गई है। इस प्रकार उक्त विद्वान नयी-कविता का मूल्यांकन छायावादी मान-दण्डों के आधार पर करते हैं। दूसरे वर्ग में कुछ ऐसे विद्वान हैं जो कि स्वयं नये कवि और आलोचक, दोनों हैं। नयी-कविता के

उपयुक्त समर्थन से ऊपर उठ. ये लोग अतिवादिता का ऐसा गहरा मुल्लमा चढ़ाते हैं जो वास्तविकता में अस्वीकार्य हो उठता है। ऐसी स्थिति में सामान्य पाठक अथवा साहित्य-प्रेमी की स्थिति अनिवार्यतः शोचनीय हो उठी है। नयी-कविता के अतिरिक्त समस्त हिन्दी-काव्य-जगत् में पारंगत होने पर भी इन नये कवियों और आलोचकों को उसकी योग्यता पर सन्देह है। यदि वह समसामयिकता से कदम सटाकर चले तो उसे यह अति-वादिता का मुल्लमा कुछ अंशों में स्वीकारना ही होगा।

उक्त भ्रान्तियों के सम्यक् निवारण हेतु नए भाव-बोध का विश्लेषण छायावाद के परिप्रेक्ष्य में रखकर ही करना होगा। नया भाव-बोध क्या है? छायावाद से इसमें क्या भिन्नता है? इसकी केन्द्रीयता छायावादी भित्ति से किस रूप में विलगता पाती है? आदि —सभी पर तर्क आश्रित निर्णय अपेक्षित है।

यदि रीतिकाल को भक्तिकाल की प्रतिक्रिया मान लिया जाए, और छायावाद को रीतिकालीन नायिका के गालों पर से पान-पीक के धब्बे पोंछकर स्वच्छ और सुसज्जित पोशाक पहनाने वाला मान लिया जाए, तो निश्चित रूप से नयी-कविता को छायावाद के इसी रूप की प्रतिक्रिया स्वीकार करना होगा, क्योंकि इसी में सौन्दर्य के अन्दर छिपी नर और नारी दोनों की हार्दिक रुग्णता मुखरित हो सकी है। छायावादी कविता यथार्थता से वहुत दूर कोरी भावुकता के स्वप्नजाल में उलझकर आत्म-सन्तोष पाती रही। वहाँ पर स्वर्ण-धूमिका में प्रच्छन्न स्वर्ण प्राची की अनवरत प्रतीक्षा होती रही। सभी कटु-सत्यताओं के प्रति छायावादी कवि आँख मींचकर गरलपान करता हुआ खोखली राष्ट्रीयता का दम्भ भरता रहा, जो न्यूराटिक (Neurotic) ओज की पुंसत्वहीन साहसिकता पर आधारित थी, वह इसे अपने हृदय का हार इसलिए बनाए रहा क्योंकि यह सभी प्रकार की यथार्थता की घुटन से दूर उस एकाकी को काल्पनिक स्वप्नलोक के उस स्वर्गिक उद्यान में विचरण कराती थी। यहाँ इस सबकी पहुँच नहीं थी। मन में विक्षुब्ध, प्राण में थका, तन में जर्जरित, घ्राण में मूर्च्छित होकर भी वह इसी स्वप्नजाल को ग्राह्य मानता रहा क्योंकि उसकी धारणा बन चुकी थी कि दिल-बहलाव के लिए इससे अधिक उपयुक्त साधन और कोई नहीं।

नयी कविता इसके ठीक विपरीत युग-सत्य, यथार्थता, आधुनिकता को लेकर चली है। वह शिव-अशिव, प्रकृति-विकृति, हार-जीत, क्षणिकता, ऐन्द्रिकता से विकसित होती हुई भाव-जगत् के नूतन सन्दर्भों को विकसित करती रही है। जिन कमियों को छायावाद ने रहस्याच्छादित कर दिया था, उन्हीं की पोल खोलकर नयी कविता विवेक और सत्यता की आँच में तपकर निखरी है। नया-कवि केवल स्वर्ण ही नहीं देखता, मिट्टी भी देखता है, वह केवल चन्द्रमा की शीतलता में ही नहीं नहाता, प्रत्युत सूर्य की गर्मी में भी तपता है, नक्षत्रलोक में ही विचरण नहीं करता पृथ्वी की धूल में भी लोटता है, सभी अंगों में निरी कमलों की सुन्दरता नहीं निरखता वरन् जर्जर हाड़ों का भी साक्षात्कार करताहै। शलभ को जलते देख किसी के विरह में उच्छ्वास और आहें ही नहीं छोड़ता बल्कि लाखों, करोड़ों दीन-दुखियों, निस्सहायों और पीड़ितों की आहों और रुदन की ध्वनि को भी सुनता है। इस प्रकार उसका काव्य युगमय है और युग स्वयं में नयी कविता। जो नयी

कविता का अध्ययन करना चाहे, मेरी सम्मति है कि वह पहले युग का अध्ययन करे। कोरी कल्पना और भावुकता को छोड़कर वास्तविक युग-सत्य की आँच में तपे। सस्ते मनोरंजन की अपेक्षा आत्म-उपलब्धि और सापेक्ष सत्य का बौद्धिक स्तर पर विश्लेषण करे।

नयी-कविता में आधुनिकता का परिप्रेक्षण केवल कालगत (Chronological) आधुनिकता नहीं, बरन् भावगत नवीनता भी है। लक्ष्मीकान्त वर्मा के शब्दों में—"नवीनता को बहुधा लोग अनोखा (Strange) का नाम देकर हास्यास्पद बनाने की चेष्टा करते हैं, क्योंकि वे भाव की नवीनता, स्तर की नवीनता, दृष्टि की नवीनता को महत्वहीन समझकर साधक और सिद्धि को सत्य मानते हैं, एकालाप और विलाप की निष्क्रियता को सक्रिय मानते हैं, महफिल और मजलिस में मनोरंजन उनका ध्येय होता है, तुक और लय में बेतुकी कहने की धृष्टता उनमें होती है। आत्म-उपलब्धि और सापेक्ष-तत्व को वे अमर्यादित सत्य कहकर ठुकरा देना चाहते हैं। वे सारी हिन्दी-कविता को सिनेमा गीत के स्तर पर देखना चाहते हैं।[1] अस्तु ये साहित्य-प्रेमी व्यंग्यार्थ में सच्चे सहृदय (प्रमाता) नये कवि की रचना को देखकर बौखला क्यों न जाएँ। वे उस गरीब पर दुस्साहस का आरोप कर यह भूलना चाहते हैं कि नवीनता के स्तर के साथ-साथ वह एक नूतन दृष्टि का भी बोध कराता है। नया भाव-बोध नये स्तर और नयी-दृष्टि के साथ-साथ नये मूल्यों को साथ लेकर विकसित हुआ है। यह नया-मूल्य आधुनिकता में रंगकर आत्मवेदना की गहराई से उठता हुआ काव्य-परिवेश के अन्वेषण की ओर अग्रसर होता है।

बहुत से साहित्य-मर्मज्ञ जो नये भाव-बोध का विरोध केवल विरोध करने के लिए ही करते हैं उनसे मेरा विनम्र निवेदन है कि वे छायावाद के उस युग पर क्षणिक दृष्टि-निक्षेप करें, जहाँ पर यथार्थ की संवेदनशीलता से द्रवीभूत होकर छायावादी कवि गुलाब की पंखुड़ियों का मोह छोड़ उस दिशा में सोचने पर बाध्य हो गया, जिस भूमि पर आज की नयी कविता प्रतिष्ठित है। निराला उनमें सर्वप्रथम हैं। संस्कारबद्ध रूढ़ि में उलझे शब्दार्थ को छोड़कर समकालीन यथार्थता को प्रदर्शित कर सकने की क्षमता से युक्त शब्दों द्वारा उनका विषय 'जूही की कली' पर से कुकुरमुत्ता पर आ ठहरा। इसका प्रमुख कारण थीं तत्कालीन परिस्थितियाँ और इससे प्रमुख थी कवि की अनुभूति की प्रगाढ़ता जो गत और आगत बन्धनों को तोड़कर सच्चा-जीवन जीने के लिए चीत्कार कर उठी। आरोपित मूल्यों का अवमूल्यन कर उसमें जागृति की प्रौढ़ता ने पर्यावसान पाया। यह युग था संक्रमणकाल का। इसका यथार्थ, विघटित मानव-आस्था के स्तर का यथार्थ, युद्ध जनित यथार्थ के समक्ष अपनी प्रेषणीयता नष्ट कर चुका था। सौन्दर्य के प्रतिमान, मनुष्य का अस्तित्व सब कुछ बदल रहा था। युद्ध के यथार्थ, संक्रमण की मार्मिक चोटों से आहत छायावादी कोमल-मानव सत्यता की पथरीली धरती पर आ गिरा। इस स्थिति का वहन छायावादी कवि न कर सका, उसकी भाषा न कर सकी, उसकी अनुभूति न कर सकी, उसकी क्षमता न कर सकी। प्रश्न होगा केवल निराला ही इस ओर उन्मुख क्यों हुए ? उत्तर सहज है। निराला का व्यक्तिगत जीवन उपर्युक्त परिस्थितियों का अनुभूत था। वह इस ठोस धरातल

१. 'नयी कविता के प्रतिमान'—लक्ष्मीकान्त वर्मा, पृ० ५८।

पर ठहर सकता था। निराला जैसे छायावाली व्यक्तित्व द्वारा उद्भूत यह क्रान्ति राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आधुनिकता के आयामों को छू सकी। यह ऐसी मनःस्थिति है जो आक्रान्त मर्यादा की विकलता में गर्भ से प्रसूत हुई। यह प्रयोग स्वयं में विशिष्टतम महत्व का है।[1]

प्रयोग एक जान-बूझकर की गई धारणा का निश्चित फल होता है अथवा स्वयमेव प्रस्फुटित परिस्थितियों का परिणाम। काव्यगत प्रयोगों की प्रवृत्ति एवं प्रयोजनीयता पर विमर्श करते हुए पाश्चात्य-साहित्य में प्रयोगवादी आन्दोलन के प्रवर्त्तक टी० एस० इलियट[2] के अनुसार—प्रयोग शब्द को उन कवियों की कृतियों के सन्दर्भ में प्रयुक्त किया जा सकता है जो विकसित होते हुए परिपक्वता प्राप्त करते हैं। मनुष्य ज्यों-ज्यों प्रौढ़ होता जाता है वह नयी विषय-वस्तु की ओर मुड़ता है या पुरानी विषय-वस्तु को ही नयी के माध्यम से उपस्थित करता है, क्योंकि हमारे आदिम 'स्त्र' और युगीन 'स्व' एक ही युग में रहने लगते हैं अथवा उसी विश्व में भिन्न व्यक्ति होते हैं। "कुकुरमुत्ता के प्रयोग में ऐसी ही परिपक्वता है, उसमें ऐसी ही विषय-वस्तु की पकड़ में कवि का प्रयास रहा है। इस पकड़ को कई अन्य छायावादी-कवियों ने भी पकड़ने का साहस किया, परन्तु उनकी रचनाओं में व्यक्त आँसू और पीड़ा उस स्तर पर हमारे हृदय को स्पर्श न कर सकी जिस स्तर पर सहपीड़ा और संवेदना की अनुभूति जागृत होती है। इसलिए छायावाद का भाव-बोध, उसका शब्द-विन्यास, उसकी प्रेषणीयता आगे चलकर अर्थहीन-सी हो गई।" छायावाद का पतनोन्मुख काल केवल एक स्नॉबरी (Snobbery) का काल रह गया था।"[3]

इससे पूर्व कि नयी-कविता में आधुनिकता के निर्वहन का मूल्यांकन किया जाये, यह जान लेना परमावश्यक है कि 'आधुनिकता' शब्द का मूल्यांकन किस प्रकार हुआ है? आधुनिकता के विषयगत और वस्तुगत अर्थ के प्रति आधुनिक कवियों और आलोचकों में मतैक्य नहीं। एक मत आधुनिकता को मात्र समसामयिकता की संज्ञा प्रदान कर शेष सभी बन्धनों से मुक्त हुआ चाहता है, जबकि दूसरा मत इसे अधिक आन्तरिक और मूल्यगत

१. प्रयोग अपने आप में इष्ट नहीं साधन है और दोहरा साधन, क्योंकि एक तो वह उस युग-सत्य को जानने का माध्यम है जिसे कवि प्रेषित करता है, दूसरे वह उस प्रेषण की क्रिया को और उसके साधनों को भी जानने का साधन है। . दूसरा सप्तक, भूमिका, पृ० ७

२. The word experimentation may be applied and honourably applied to the work of many poets, who develop and change in maturity. As a man grows older, he may turn to new subject-matter or he may treat the same material in a different way. As we are, we both live in a different world and become different men in the some world—T. S. Eliot.

Selected prose. P. 81 Penguin Edition 1963

३. (क) नयी कविता के प्रतिमान पृ० ६२

(ख) A Society with plenty of snobberies is like a dog with plenty of fleas, it is not likely to become Comatie. Every snobbery demands of its devotees unceasing efforts, a succession of sacrifices. —Aldous Huxley

भाव मानता है। उसके अनुसार—आधुनिकता युग-विशेष का गुण है, समसामयिकता स्थिति-विशेष का आयाम है। आधुनिकता एक ऐतिहासिक विश्लेषण है जो देशकाल के बोध के साथ-साथ सक्रियता की भी पुष्टि करती है। आधुनिकता काल-बोध, युग-बोध की उद्योतक है। विचार में आधुनिक होते हुए भी हम समसामयिक नहीं हो सकते क्योंकि सम-सामयिकता का परिवेश इतना विस्तृत नहीं होता।[1] वस्तुतः साहित्य में आधुनिकता तो हर काल में हर साहित्य के लिए उसका रचनाकाल रहा करता है, परन्तु आधुनिकता में मेरे विचार से वे परम्परागत तत्व अनिवार्य रूप से समाहित रहा करते हैं जो विगत प्रस्तुत (वर्तमान) और आगत समसामयिकता जन्य होते हैं। उन सभी की समन्वय-कारिणी-आधुनिकता वास्तविक आधुनिकता हो सकती है। अतः समसामयिकता और आधुनिकता क्षणिक वर्तमान में एक होते हैं और स्थिति-विशेष में भिन्न भी हुआ करते हैं। दोनों अन्योन्याश्रित हैं। इस प्रकार हर लेखक और कवि का हर नयी रचना को स्वतन्त्र मानकर चलना, (जिसकी प्रेरणा और नियम अपने ही बाह्यरूप नियमों से परिचालित हों) दूसरे शब्दों में व्यापकता के परिप्रेक्ष्य में उसकी परख को व्यर्थ समझना एक नितान्त भ्रान्त और अतिवादी धारणा है। नया कवि अनुभव करने लगा है कि नया भाव-बोध आमूल-चूल रूप में नया है जो परम्परा-विच्छिन्न और स्वतन्त्र है। ऐसी धारणा साहित्य में विकृति और अनर्गल रचनाओं को जन्म देगी जिससे नव्यता जैसे निराधार मापदण्ड रूढ़ हो जाएँगे। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों—"आधुनिकता (नवीनता) काव्य के प्रतीयमान रूप को स्पर्श करती है, माँजती है, खरोंचती है उसके अन्तर्निहित स्थिर और विकासमान धर्म को नहीं।"[2]

"आज हमारा हृदय ही हमारे लिए संसार है। हम अपनी प्रत्येक साँस का इतिहास लिखकर रखना चाहते हैं, अपनी प्रत्येक कम्पन को अंकित कर लेने को उत्सुक हैं और प्रत्येक स्वप्न का मूल्य पा लेने को उत्सुक हैं—"[3] छायावाद के इस स्वप्न जड़ित सुनहले अभियान के उपरान्त हम युग-चेतना की भाव-भूमि पर उतर कर उस विस्तृत आयाम का भ्रमण करेंगे जो नया-भाव-बोध बनकर धर्मवीर भारती की काव्य-भूमि में प्रसरित होकर, उगा है और विकसित हुआ है।

धर्मवीर भारती का नयी-कविता क्षेत्र में अप्रतिम स्थान है। साहित्य की अन्य विधाओं के कुशल परिष्कार-कर्त्ता होने के साथ-साथ एक जागरूक काव्य-रचना को अत्यन्त दायित्वपूर्ण और महत्व-सम्पन्न कर्म मानते हुए उन्होंने इस बात का सदा ध्यान रखा है कि कहीं अकाव्यात्मकता उन्हें छू न जाए। वे सरलता की ओर अकाव्यात्मक पलायन की भर्त्सना करते हैं। ऐसे पलायन का कारण एक तो वे रचना-प्रक्रिया की अनिवार्य प्रकृतिगत माँगों की उपेक्षा कर किसी संकीर्ण परिधि में ही सौंप देने को मानते हैं और दूसरे समूची जीवन-प्रक्रिया और यथार्थ की कठोर भाव-भूमि से असम्पृक्तता को। ऐसे रचनाकार रचना-प्रक्रिया को जीवन-प्रक्रिया से भिन्न ही नहीं अपितु विरोधी भी

१. नयी कविता के प्रतिमान, पृ० २६४-२६५।
२. आधुनिक साहित्यबोध (एक परिसंवाद) पृ० ५ (प्रकाशक शिल्पायतन कालेज कलकत्ता।)
३. यामा 'भूमिका'।

मान लेते हैं—ऐसा उनका विचार है। ऐसी सजगता को नयी कविता की जड़ कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी वरन् कुछ नये कवियों के लिए यह प्रेरणा पुंज होगी। भारती के इसी मन्तव्य से उनकी रचना-प्रक्रिया की प्रौढ़ता, उनकी सजगता और दायित्व के निर्वाह का अन्दाज़ा हो सकता है। इस प्रकार काव्य में परम्परा एवं प्रयोग की नयी संतुलित भूमि की खोज में वे नयी कविता के दोषों के प्रति कभी उदासीन नहीं रहे।

भारती का कवि मानव-मूल्यों के प्रति दायित्व चेतना को ही कविता की विशिष्टतम उपलब्धि स्वीकारता है। उनका विश्वास है कि सच्चा कवि वही हो सकता है जो किसी प्रकार का दम्भ न कर, मिथ्याडम्बरों से दूर, कुण्ठाओं का निवारणकर-एकाकी रहकर भी सर्व से लेकर 'प्रत्येक' से नाता जोड़ता है। अन्धेरी गुफाओं और सुरंगों में से गुजरता, वह एकाकी अन्धेरे में ही उसी अन्धेरे से सम्बन्धित रचना किया करता है। वह ऐसी भावस्थिति को मानता है—"जो अपने को रचनाकार मानते हुए भी रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में अपने को परदेशिनी नहीं मानती। ऐसे लोग असाधारणता का बाना नहीं ओढ़ते, सहज रूप में जीवन को सम्पूर्णता में जीने के हामी हैं, व्यक्तित्व को हारते नहीं, जगत को अस्वीकारते नहीं।"[1]

भारती का समस्त काव्य नये भाव-बोध पर आश्रित आधुनिकता का पोषक है। वह आधुनिकता केवल कालगत (Chronological) भाव में नहीं वरन् चिन्तन-विधि में है, दृष्टिकोण और विवेक में है, जीवन की स्पष्ट व्याख्या तथा ऐतिहासिक दायित्व में है, बल्कि इससे आगे वह आधुनिक इसलिए है कि आज के जीवन-सत्य को आज के ही सन्दर्भ में देखने का प्रयोग करता है। उसकी दृष्टि पिटी-पिटाई लकीर से दूर—अन्वेषणगत है, परीक्षण जन्य है। उसमें तर्कगत अवलोकन है, उसके आधार पर परीक्षण करके किसी समुचित निष्कर्ष कर पहुँचने की अदम्य लालसा है। अपने ही निष्कर्षों को वह अन्तिम सत्य नहीं स्वीकारती, प्रत्युत सत्य की अनवरत खोज में वह आगे भी चला करती है—अजस और शाश्वत। वह पूर्वाग्रहों (Platitudes) और वर्जनाओं (taboos) को न मानकर स्पष्टवादिता में विश्वास रखती है। मर्यादित सत्य उसकी दृष्टि में कोई पाप नहीं है—"अनुभूति की ईमानदारी मूल्यों की मर्यादा को निखारती है।"[2] ऐसा उसका विश्वास है।

अनुभूति की इसी प्रगाढ़ता में सराबोर कवि वर्तमान की विभीषिका को मिटाकर संघर्ष और नवीन-चेतना द्वारा नव-निर्माण का मंगल संदेश देता है। वह कल्पना के स्वर्ग में न रहकर अपनी सृष्टि के जीवन में ही स्वर्ग-निर्माण की कामना करता है। इस हेतु कविता की अतुल शक्ति पर उसका अडिग विश्वास है। इसी माध्यम से वह मानव-मन को बदलकर उसमें एकता स्थापित करना चाहता है :—"

फिर उभर कर कहेगी कविता
क्या हुआ दुनिया अगर मरघट बनी है

१. सातगीत वर्ष—भूमिका पृ०—
२. नयी कविता के प्रतिमान पृ० ६६

अभी मेरी आखिरी आवाज़ बाकी है
लो तुम्हें मैं फिर नया विश्वास देती हूँ
नया इतिहास देती हूँ
कौन कहता है कि कविता मर गई है।[1]

''अन्धा-युग' ऐसी ही कृति है जिसमें अन्धों के माध्यम से एक चिरन्तन आलोक विकीर्ण हो रहा है। उसकी समस्त भाव-भूमि, विषय-वस्तु का संयोजन-विवेक, मर्यादा, सापेक्ष और अर्द्धसत्य की अन्वेषण प्रवृत्ति पर आधारित होकर चला है—'' जिस युग में अश्वत्थामा और युयुत्सु दोनों की विक्षिप्त हों, उसकी कथा में विवेक ही प्रकाश दे सकता है।''[2] अत: उसका स्वर अशक्तता, निराशा से ऊपर खिन्नता से मुक्त होकर, विषैली सँकरी गलियों में अमृतमय प्रकाश की वृष्टि से अनुभूति को समस्त सहृदयता में बाँध देता है—

ऐसे भयानक महायुद्ध को
अर्द्ध सत्य, रक्तपात हिंसा से जीतकर
अपने को बिल्कुल हारा हुआ अनुभव करना
यह भी यातना है।[3]

जो आलोचक 'अन्धा युग' में मुखरित इस स्वर को यूरोप के सामाजिक, राजनीतिक, रॉक-एण्ड-रोल, चा-चा-चा, ट्विस्ट आदि के सन्दर्भ में देखना चाहें उनसे मेरा आग्रह है कि वे लोग यह भयंकर भूल न करके वास्तविक केन्द्रीयता को समझने, परखने और निरखने की चेष्टा करें। भारती के कवि का विश्वास है कि भावनाएँ लोकहित के संयोग से ही फलीभूत होंगी। इसी कारण वह 'युग-संघर्ष-समष्टि के प्रति जागरूक है। वह व्यक्तिगत अतृप्त तिक्तता की वर्जना कर समष्टि के व्यापक हित में ही अपना मंगल मानता है। उनकी कविता उस आँगन में जहाँ पर सतह बेल-बूटों से सजी हो और भीतर तप्त बालू भरा हो नृत्य न करके बालू की उस मरुस्थली चट्टान पर भी चढ़ती प्रतीत होती है जहाँ से वह स्वस्थ, सहज, समाजोन्मुखता को देख, सोच और समझ सकें। सुदृढ़ मानवता का खोज और उसमें भी एक समग्र-जीवन-दृष्टि का विकास उसकी लोक सम्पृक्ति की दो सम्बद्ध दिशाएँ हैं। वह विवेक की बल्गाओं से मर्यादित गतिशील सामूहिकता की कामना करता है :—

''वैयक्तिक सीमाएँ तोड़
इतिहास के संग गति मोड़
जिस दिन हम युग-पथ पर
जन-जन के साथ
बढ़ते होंगे फिर दृढ़ पग
उन्नत माथ

---

१. भारती—ठण्डा लोहा, 'कविता की मौत'।
२. नयी कविता के प्रतिमान पृ० ७५
३. अन्धायुग।

हम सबके ओठों पर सामूहिक गीत
गतियों की वल्गा
जन-नायक के हाथ।"[१]

परन्तु उसका यह समष्टि-रूप में दृष्टिकोण हारी हुई मनोवृत्ति का प्रतीक नहीं है। वह व्यक्तिगत सत्ता को मूल सार्थकता से निरस्त्र नहीं करता। उसकी आत्म-चेतना समष्टि प्रवाह से रुद्ध नहीं हो जाती बल्कि उसके अंग रूप में निज का महत्व स्वीकारती है। वह व्यक्ति सामर्थ्य को बल प्रदान कर उसके आत्म-विश्वास को वाणी देती है :—

"मैं रथ का टूटा पहिया हूँ
लेकिन मुझे फेंको मत
क्या जाने कब इस
दुरूह चक्रव्यूह में, अक्षौहिणी सेनाओं को
अकेले चुनौती देता हुआ···[२]

यहीं से—'न हो यदि वासना तो जिन्दगी की माप कैसे हो'[३]—की स्वस्थ व्याख्या करते हुए वे सहज जीवन का उद्घोष 'कनुप्रिया' में करते हैं—'लेकिन वह क्या करे जिसने अपने सहज मन से जीवन जिया है, तन्मयता के क्षणों में डूबकर सार्थकता पाई है, और जो अब उद्घोषित् महानताओं से अभिभूत और आतंकित नहीं होता बल्कि आग्रह करता है कि वह उसी सहज की कसौटी पर समस्त को कसेगा।'

ऐसा ही आग्रह है कनुप्रिया का।"[४]
कनु मेरा लक्ष्य है, मेरा आराध्य, मेरा गन्तव्य।[५]
इस यात्रा का आदि न तो तुम्हें स्मरण है न मुझे
और अन्त तो इस यात्रा का है ही नहीं मेरे सहयात्री।[६]

इस पथ का यात्री समस्त, विगत आगत आपदाओं से अवगत ही नहीं अपितु वज्र की चट्टानों को घायल फूल की भाँति बिखरते देख सकने की सामर्थ्य से भी युक्त है। जिस प्रकार 'अन्धायुग' महाभारत की ही अन्तिम रात्रि की ही कथा-व्यथा नहीं वह तो आज का इतिहास है, उसी प्रकार कनुप्रिया भी कनु से अन्तःप्रेरणा की ही दुहाई देती है। आधुनिक बोध, और जीवन से परिचित राधा एक आधुनिका की भाँति ही अपनी मनःस्थिति का विश्लेषण करती है। उसके लिए वायदे, आश्वासन, कर्म, स्वधर्म सब अर्थहीन हैं। यह राधा की स्वानुभूति का यथार्थ प्रकाशन है न कि उसने पागलपन का। कनुप्रिया वैयक्तिक सुख-अभिलाषा के अतिरिक्त कनु के विचारों की पुष्टि करने का प्रयास करती है :—

और जब तुमने कहा था—माथे पर पल्ला डाल लो"
तो क्या तुम चिता रहे थे

१. सात गीत वर्ष—'जिज्ञासा'—पृ० ३८
२. वही पृ० ६१-६३
३. दूसरा सप्तक—धर्मवीर भारती पृ० १८६
४. कनुप्रिया, पृ० ७
५. कनुप्रिया—पृ० ३६
६. वही पृ० ३६

कि अपने इस निजत्व को अपने आन्तरिक अर्थ को
मैं सदा मर्यादित रखूं
रसमय और पवित्र रखूँ
नव वधू की भाँति"[१]

भारती का समस्त काव्य वैज्ञानिकता और विवेक आश्रित है जो भले ही भावनावादी कवियों को न रुचे। उसमें चिन्तन की गहराई स्पष्ट हुई है, नई समस्याएँ प्रकाश में आई हैं और उनके संशोधन का अवसर मिला है। यथार्थ की तिक्तता और कटुता को उसने सहर्ष अंगीकार किया है। उसमें पलायन और घृणा की प्रकृति कहीं भी लक्षित नहीं होती, उसकी समस्त नैतिकता की पाचन-शक्ति, कार्य-कारण, कल्पना और बौद्धिकता के परिवेश में कलागत अभ्यास लेकर चली है।[२] नयी-कविता की समस्त नवीनताओं, विशेषताओं और संभावनाओं की उपलब्धि के साथ-साथ वहाँ पर नयी-कविता के प्रभान्विति, असंगति या वैचारिक विरोधाभास आदि दोषों का भी यथासम्भव परिष्कार हुआ है। उनके काव्य में कविता की समग्रता (Wholeness) संगति (Harmony) और दीप्ति (Radiance) आदि सरणियों का भी समुचित निर्वाह हुआ है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि धर्मवीर भारती के काव्य में नयी-कविता के आधुनिकतम स्वरूप तक की व्यंजना अत्यन्त सुदृढ़ हुई है। अस्तु वे नये कवियों में मूर्धन्य कवि हैं। नयी कविता में उनका योगदान अप्रतिम और अमूल्य है। छायावादोत्तर व्यक्तिवादी काव्य-धारा में रत अल्हड़ प्रेमी-हृदय इन सीमाओं से उठता हुआ युग और वाह्य जीवन से प्रेरित हो, नये मानव-मूल्यों और नयी जीवन-स्थिति की स्थापना पौराणिक पात्रों, प्रतीकों के माध्यम से कर सकने में सफल हुआ है।

---

१. वही—पृ०

२. A man would not be moral without the capacities for reason and imagination for intellectual and artistic experience. He cannot philosophise unless he had a strain of poetry and a strong and delicate conscience. —Croce.

डॉ० दागमार अन्सारी

सन् १९४७ के बाद के उपन्यास के साहित्य में नारी समस्याएँ

[इस लेख की लेखिका डॉ० दागमार अन्सारी आजकल हम्बोल्ट विश्वविद्यालय बर्लिन में हिन्दी साहित्य में शोध-कार्य कर रही हैं। आपने हिन्दी और उर्दू भाषा तथा साहित्य और यत्किंचित् भारतीय इतिहास का अध्ययन प्राग के चार्ल्स विश्वविद्यालय में किया, विशेषकर डॉ० पोरीज़्का के नेतृत्व में। संस्कृत का भी अभ्यास किया है, परन्तु मुख्य विषय हिन्दी रहा। आधुनिक भाषा और साहित्य तथा भारत की वर्तमान समस्याओं में आपकी रुचि है। विवाह के बाद अपने पति डॉक्टर अन्सारी के साथ जर्मन जनवादी प्रजातंत्र में आईं और हम्बोल्ट विश्वविद्यालय में प्रोफेसर रूबेन की अध्यक्षता में अपना अध्ययन समाप्त किया। सरकारी परीक्षा के लिए प्रेमचन्द की कहानियों पर थीसिस लिखी। इसके बाद विश्वविद्यालय में अध्यापन प्रारम्भ किया। आपको भारत यात्रा का अवसर भी मिला। भारत से लौटने के बाद पी-एच०डी० की थीसिस का प्रश्न उठा। भारत-यात्रा के दौरान यहाँ मध्यवर्ग की साधारण स्त्री तथा पढ़ी-लिखी बुद्धिजीवी स्त्री की जीवन-परिस्थितियाँ काफी समीप से देखने का अवसर मिला और इसी का परिणाम निकला "हिन्दी के उपन्यास-साहित्य में नारी-समस्याएँ" नामक शोध-प्रबन्ध, जो प्रो० रूबेन की अध्यक्षता में लिखा गया। हिन्दी की नई कहानी पर काम करने की आपकी योजना बन रही है।]

स्वतंत्र भारत के संविधान पर एक दृष्टि डालने से पता चलता है कि कानून के लिहाज़ से भारतीय स्त्री की स्थिति पहले से कितनी सँभल गई है। परन्तु कानून और नित्य व्यवहार में अभी कितना बड़ा भेद है और नित्य व्यवहार में ही कितने अन्तर्विरोध हैं ! जो भेद एक कर्मशील राजनीतिक अधिकारिणी और एकदम कुचली हुई बुर्का ओढ़े या घूँघट निकाले अपने पतिदेव के कुछ कदम पीछे चलती हुई वधू के बीच है, वह भारत के सबसे तीव्र और सबसे पीड़ाजनक भेदों में है। इसके सम्पर्क में एक बार आकर कोई बुद्धिजीवी व्यक्ति इससे उदासीन नहीं रह सकता। साहित्य में भी प्रदर्शित स्त्री-समस्याओं की न केवल संख्या बढ़ गई, बल्कि उनमें परिवर्तन भी हुआ।

पहले यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि इस लेख की लेखिका को वर्तमान हिन्दी साहित्य के पूरे भंडार से परिचित होने का अवसर नहीं मिला। भारत से दूर रहकर यह कार्य और भी कठिन हो जाता है। जिन कृतियों की यहाँ चर्चा की जायेगी, वे केवल उदाहरण का काम दे सकती हैं। फिर भी, अधिक-से-अधिक विभिन्न विचारधाराओं और दृष्टिकोणों के साहित्य का अध्ययन करने का प्रयत्न किया गया है।

कह सकते हैं कि कुछ पुरानी समस्यायें—जैसे, बाल-विवाह और विधवा-विवाह-नई सामाजिक परिस्थितियों में पीछे हट गई हैं। पुराने काल की कुछ समस्याएँ अब भी जीवित हैं, जिनमें से जाति-प्रथा की समस्या का विशेष महत्व रहा है। वह उदाहरणतः अमृत-

राय के उपन्यास 'बीज' में, नागार्जुन के 'दुखमोचन' में और अमृतलाल नागर के 'बूंद और समुद्र' में सामने आती है।

प्रेम-विवाह की समस्या आज भी अधिकांश उपन्यासों में आती है। सामाजिक वास्तविकता में भी लगभग हर प्रेम-विवाह के सामने—विशेषकर यदि वह अन्तर्जातीय विवाह हो—बड़ी वस्तुगत तथा व्यक्तिगत रुकावटें उठती हैं और यह स्थिति फिर साहित्यिक चित्रण की रोचक सामग्री बनती है।

आजकल की नई परिस्थितियों में नई समस्याएं पैदा हो रही हैं, जिनका पहले कोई बड़ा महत्त्व नहीं था। उनमें स्त्री के काम करने, उसके राजनीतिक कार्य, वास्तविक अर्थों में उसके समान अधिकारों और अविवाहित स्त्री की स्थिति की समस्याएँ हैं।

इसके अतिरिक्त, भारतीय स्त्री के जीवन में कुछ ऐसी नई समस्याएँ पैदा हुई हैं जिनके विषय में बहुत कम या नहीं के बराबर लिखा जाता है; उदाहरणतः प्रगतिशील स्त्री-संगठनों का कठिन कार्य, काम करने वाली माँओं की कठिनाइयाँ, सामान्य स्त्रियों की शिक्षा, विवाह-विच्छेद आदि। काम करने वाली माँओं की कठिनाइयों का उल्लेख अमृतराय के उपन्यास 'बीज' और यशपाल के उपन्यास 'झूठा-सच' में है। विवाह-विच्छेद का भी सन्तोषपूर्ण हल यशपाल की कृति में मिलता है। निस्सन्तान स्त्री की कठिन स्थिति का उल्लेख बहुत कम मिलता है। बहुत विस्तार प्रसंग इस प्रश्न पर मिल सकता है कि हृदय की अच्छी, पर अनजान अशिक्षित माँ अपनी सन्तान के लिए किस स्थिति में कुछ कर पाती है और किस स्थिति में नहीं। उदाहरण के लिए, उपेन्द्रनाथ अश्क के उपन्यास 'गिरती दीवारें' और यशपाल के उपन्यास 'झूठा-सच' में यह समस्या विवाह की समस्या से सम्बन्धित है। यह प्रश्न भी न केवल विचार करने योग्य है, बल्कि साहित्य में भी इसका कलात्मक रूप से अधिक-से-अधिक विश्लेषण किया जाना चाहिए कि आजकल के भारतीय मध्य-वर्ग के अधिकतर लोग, स्त्री-स्वतंत्रता को किस दृष्टि से देखते हैं और उनकी कल्पनाओं और स्त्री-स्वतंत्रता के वास्तविक अर्थ में क्या अन्तर है।

यशपाल 'झूठा सच' में इन प्रश्नों की चर्चा जरा विस्तार से करते हैं और नई पीढ़ी के लिए उनका महत्त्व दिखाते हैं। अकेली स्त्रियों की समस्याओं की चर्चा अमृतराय अपने उपन्यास 'बीज' में, यशपाल 'झूठा-सच' में, भगवतीचरण वर्मा 'भूले बिसरे चित्र' में, नागार्जुन 'वरुण के बेटे' में, और अज्ञेय 'नदी के द्वीप' में करते हैं। साधारणतः वे ऐसी स्त्रियाँ हैं जिनको किसी-न-किसी कारण से वैवाहिक जीवन से निराशा हुई है और जो पति से अलग हो गई हैं। जो स्त्रियाँ किसी कारणवश विवाह नहीं कर सकतीं या करना नहीं चाहतीं, उनकी चर्चा बहुत कम और प्रासंगिक होती है; यद्यपि यह समस्या बढ़ती हुई स्त्री-शिक्षा के साथ-साथ बढ़ रही है।

हिन्दी उपन्यास साहित्य में मुस्लिम महिलाएँ बहुत कम चित्रित होती हैं, यद्यपि ऐसा लगता है कि इस प्रकार की विषय-वस्तुओं के सहारे हिन्दी और उर्दू साहित्य एक-दूसरे के बहुत निकट लाये जा सकते हैं। इसके अपवाद उदाहरणतः 'झूठा सच' और मोहन राकेश के 'अँधेरे बन्द कमरे' में छोटे-से नारी-पात्र हैं। हिन्दू-मुसलमान विवाह की चर्चा हिन्दी उपन्यासों में बहुत कम होती है। ऐसा लगता है कि साहित्यकार इस सम्बन्ध में

स्वयं अस्थिर चित्त हैं और वे अंशतः आशंका करते हैं कि कहीं उनका दृष्टिकोण उनके पाठकगण को बुरा न लगे। 'झूठा-सच' में ऐसे एक प्रासंगिक हिन्दू-मुसलमान विवाह के प्रति यशपाल की सहानुभूति है, परन्तु नायिका तारा का मिश्रित विवाह नहीं हो पाता। गुरुदत्त 'स्वराज्य-दान' में हिन्दू-मुसलमान विवाह की आलोचना करते हैं।

वास्तविकता के प्रति विभिन्न लेखकों के विभिन्न दृष्टिकोण हैं। स्त्री का वस्तु से व्यक्ति बनना, विभिन्न लेखकों में विभिन्न प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न करता है। लेखकों की आयु इसमें निर्णायक महत्त्व नहीं रखती, निर्णायक महत्त्व उनकी विचारधारा रखती है जो आदमी के सामाजिक अस्तित्व, जीवन की परिस्थितियों और सारी जीवन-प्रणाली के आधार पर बनती है और सदा विशेष स्थिति तथा उद्देश्य प्रकट करती है।

लेखकों का एक भाग ऐसी स्त्री पसन्द करता है जो केवल गृहलक्ष्मी हो। वे पुरानी सामाजिक परिस्थितियाँ बनाये रखना या पुनर्जीवित करना चाहते हैं। स्त्रियों के समान अधिकारों के लिए प्रयत्न इन रूढ़िवादी मान्यताओं को संकट में डालते हैं। गुरुदत्त के उपन्यास इसी बात के उदाहरण हैं।

अज्ञेय के उपन्यास 'नदी के द्वीप' (१९५१) में स्त्री बहुत दुर्बल प्राणी है जो पुरुष के बिना जीवित नहीं रह सकती। स्त्री की अधिकारहीनता की ओर वे संकेत तो करते हैं लेकिन इस स्थिति के कारणों का भंडाफोड़ करने का प्रयत्न नहीं करते। स्त्री-समस्याएँ यहाँ केवल प्रेम-समस्याओं के रूप में दिखाई देती हैं।

जैनेंद्र कुमार की 'सुखदा' (१९५२) की स्वतंत्रता का फल बहुत बुरा हुआ। 'विवर्त' (१९५२) में मोहिनी सुखदा के रास्ते पर नहीं चली, बल्कि उसकी सहायता से कुछ विचित्र प्रकार के आतंकवादी अहिंसा के पथ पर आई। लेकिन मोहिनी में मुझे ऐसी अकर्मण्य स्त्री का चित्र दिखाई देता है जो सामान्यतया दुर्लभ है। स्त्री को घर रहने का उपदेश प्रत्येक अवसर पर दिया जाता है। 'व्यतीत' (१९५२) में तो सारी समस्या यौन-सम्बन्धों की समस्या है। उसमें स्त्री राजनीति आदि में भाग लेने का नाम तक नहीं लेती।

अफ़सोस की बात है कि मोहन राकेश भी 'अँधेरे बन्द कमरे' (१९६१) में, जो अनेक दृष्टियों से उच्च कोटि का उपन्यास कहा जा सकता है, स्त्री को गृहलक्ष्मी बनने का उपदेश देते हैं। नीलिमा तो अपनी प्रयत्नशीलता के कारण कभी प्रसन्न हो ही नहीं सकती। इसके विपरीत, शुक्ला अपने पति की तीसरी पत्नी बनकर भी प्रसन्न है। परन्तु इस धारणा और इन दोनों चरित्रों के कलात्मक वर्णन में विरोध है। नीलिमा उपन्यास का सबसे यथार्थ चरित्र है जिसकी तुलना में शुक्ला बिल्कुल कागज़ी ढाँचा मालूम होती है। शुक्ला में नेकी के अतिरिक्त न कोई गुण है, न अवगुण; माना कि वर्तमान परिस्थितियों में स्थापित अच्छे चरित्रों का जीवित ढंग से वर्णन करना कठिन है। नीलिमा के चरित्र का कथानक में विकास तो नहीं हुआ, लेकिन फिर भी वह बिल्कुल जानी-पहचानी-सी लगती है। उसके शब्द "मैं नाचने के बिना नहीं रह सकती······मैं जानती हूँ कि मेरे अन्दर वह चीज़ है जो मुझे इस क्षेत्र में आगे ला सकती है। (पृ० ३०६)—उसके दिल की गहराई से उमड़कर आये हैं और उसका जीवन के प्रति दृष्टिकोण प्रकट करते हैं। और नेक शुक्ला नीलिमा की समस्यापूर्ण स्थिति पर क्रोध में केवल इतना ही कह सकती है—"तो अपनी इन जरूरतों

के लिए अरुण की और भापाजी की जिन्दगी तबाह कर डालिए, और साथ ही अपनी भी !'' (पृ० ३१६)

रामकुमार के उपन्यास 'वापसी' (१९६२) का लहजा बहुत निराशावादी है। स्त्री किसी की सहायता के बिना कुछ नहीं कर सकती और यह संसार ऐसा ही है कि सहायता देने वाला कोई नहीं मिलता। उपन्यास में जो कुछ चित्रित है, वह तो अवश्य वास्तविकता का एक भाग है, पर पूरी वास्तविकता नहीं। 'प्रायश्चित्' के लेखक यज्ञदत्त शर्मा स्त्रियों की समस्याओं में केवल पति की सेवा की गणना करते हैं।

सामाजिक आलोचना का प्रयत्न इलाचन्द्र जोशी के 'जहाज का पंछी' में मिलता है, परन्तु यह पता नहीं चलता कि लेखक स्त्री के लिए आख़िर चाहते क्या हैं ! इसकी आशा तो नहीं की जा सकती है कि बेला के रूप में विकास के नये तत्वों से युक्त एक ''विद्रोह-मूलक बीज'' (पृ० २२८, दूसरा संस्करण, १९५६) का अपने आप विकास होगा। बेला कैसे मान ले कि ''वह बटोरी हुई ताकत एक दिन तुम्हें अपने-आप सही रास्ते पर रख देगी।'' (पृ० २४७)

स्त्री की कठिन स्थिति की आलोचना अधिकतर उपन्यासकार करते हैं, लेकिन अधिकतर वे कोई नया सुझाव नहीं प्रस्तुत करते जो व्यवहार में लाया जा सके। लेकिन पूँजीवादी व्यवस्था की उनकी आलोचना तथा मानवतावादी उमंग अन्ततः प्रगति को अग्रसर करती है।

भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'भूले बिसरे चित्र' (१९५९) में दहेज-प्रथा की बड़ी आलोचना की गई है। उपन्यास का महत्त्व उससे और भी बढ़ जाता है कि वह दहेज-निषेध बिल पेश करने के एक साल बाद प्रकाशित हुआ। नवल के अंध आज्ञा-पालन ने विद्या को बहुत दुःख दिया। इसमें नई परिस्थिति के अनुकूल अपने को ढालने के अयोग्य अति भौतिकवादी रूढ़िवादी व्यवहार की बड़ी आलोचना है। नवल का व्यवहार रामायण की याद दिलाता है और यह तुलना स्पष्ट करती है कि राम सदृश व्यवहार, विशेषकर नये जमाने में, कितना अनुचित कहा जायेगा। यह कहना कठिन है कि क्या यही उपन्यासकार का अभिप्राय था। वैसे विद्या का चरित्र बहुत उत्तम है। विलासिनी उषा उसके बिल्कुल विपरीत है फिर भी, उषा का भी अपना एक विशिष्ट व्यक्तित्व है जो उपन्यास के पुरानी पीढ़ी के स्त्री-चरित्रों के विषय में निश्चय से नहीं कहा जा सकता, और यही भगवतीचरण वर्मा द्वारा चित्रित पुरानी और नई पीढ़ी के स्त्री-चरित्रों में अन्तर है।

उपेन्द्रनाथ अश्क 'गिरती दीवारें' (१९४७) में चेतन पर ध्यान इस प्रकार केन्द्रित करते हैं कि स्त्री-पात्रों के मानसिक जीवन का कुछ अधिक पता नहीं चलता, लेकिन हर प्रकार से वह माता-पिता द्वारा की गई शादियों के विरुद्ध आवाज़ उठाते हैं। ''तुम्हें लड़की दिखा देंगे बेटा, मैं स्वयं आजाद-ख़याल आदमी हूँ। जिसके साथ जीवन-भर का नाता हो, उसे देखा न जाय, इसे मैं अन्याय समझता हूँ।'' (पृ० ५२, तीसरा संस्करण, १९५७)। इन शब्दों में लेखक का कितना उदास व्यंग छिपा हुआ है ! देखने से क्या होता है ! चेतन की माँ की जीवन-कथा भी एक उदास उदाहरण है, जिससे लेखक का अफ़सोस प्रकट होता है कि भारत में आज भी इस प्रकार की स्त्रियों की कमी नहीं है जो बचपन में तेज़ लड़कियाँ

थीं, लेकिन जिनके मानसिक विकास में बाधा डाल दी गई।

'गर्म राख' (१९५२) के विषय में अफसोस प्रकट कर सकते हैं कि कथानक के केन्द्र में सत्या के स्थान पर द्रौपदी नहीं है। सत्या अपनी सारी कर्मशीलता, प्रेम और यौन-प्रश्नों पर समर्पित करती है जब कि द्रौपदी नई दुनिया की स्त्री की प्रतिमा समझी जा सकती है।

अमृतलाल नागर 'बूँद और समुद्र' (१९५६) में स्त्री के लिए समान अधिकार चाहते हैं। उदाहरण के लिए, कन्या कहती है : 'जहाँ स्त्री-पुरुष बराबर-बराबर काम करते हों, वहाँ उनमें मैत्री भाव होना स्वाभाविक ही है। वहाँ दबने और दबाने का प्रश्न नहीं, इसलिए व्यवहार में सरलता, खुलाव है।' (पृ० ३३७) परन्तु चौक के मध्यकालीन वातावरण के स्त्री-चरित्र कन्या से कहीं जीवित ढंग से वर्णित हैं। आजकल के जमाने में पर्दा कितना कालदोष है और यह कालदोष स्त्री को कितने संकट में डालता है, यह 'बड़ी' के चरित्र द्वारा दिखाया गया है। 'छोटी' का चरित्र भी खूब ही सफल हुआ है। 'छोटी' का मानसिक क्षितिज, उदाहरणतः इस संक्षिप्त से कथन में प्रकट होता है : 'वह एक जगह मन में अपने को तारा और अपनी जिठानी—दोनों से भी अधिक भाग्यशाली मानती है। उसने 'लव-मैरेज' नहीं की (लव मैरेज अपना सारा जादू लेकर भी उसकी निगाह में ओछी चीज है), फिर भी प्रेम-विवाह का पूरा सुख शंकरलाल की सोहबत में पा लिया।' (पृ० ६३) 'छोटी' के सम्बन्ध में 'आधुनिक', 'आधुनिकता' शब्द बार-बार कहने में कितना सफल हल्का-सा व्यंग्य है! वही हल्का-सा व्यंग्य तारा पर भी लागू होता है। फिर भी उपन्यासकार की सहानुभूति तारा और उसके अन्तर्जातीय विवाह के साथ है।

रांगेय राघव के उपन्यास 'काका' (१९६३) में मुझे यह बात सबसे महत्वपूर्ण और दिलचस्प प्रतीत हुई कि स्त्री के प्रभाव में आकर अब तक आलसी, अकर्मण्य ब्राह्मण ने काम करना शुरू किया। परन्तु कान्ता इसी ब्राह्मण से प्रेम क्यों करने लगी, यह बात स्पष्ट समझ में नहीं आती। यह तथाकथित प्रेम वही पुराना प्रभाव उत्पन्न करता है कि स्त्री पुरुष के बिना कभी नहीं रह सकती और वह उस पहले पुरुष से ही प्रेम करने लगती है जो उससे अच्छा व्यवहार करता है।

फणीश्वरनाथ 'रेणु' के उपन्यास 'मैला आंचल' (१९५४) के विषय में कमलेश्वर जी ने लिखा है कि इसमें 'हर पात्र पूर्ण रूप से उभरा है' (फणीश्वरनाथ रेणु, नई कहानियां, मेरा हमदम, मेरा दोस्त, पृ० १८)। फिर भी लगता है कि कमला का चरित्र ममता के चरित्र से कहीं अधिक जीवित ढंग से वर्णित है। ममता केवल नेक है। ऐसा मालूम होता है कि रेणु जी उपन्यास में एक काम करने वाली बुद्धिजीवी स्त्री का भी चरित्र चित्रित करना चाहते थे, पर गांव की लड़की का चरित्र उनके लिए अधिक सुगम हुआ। वैसे 'मैला आंचल' कुछ इने-गिने ऐसे उपन्यासों में से एक है जिनमें अवैध सन्तान पैदा होती है, जिसके माँ-बाप सन्तान होने के बाद विवाह करते हैं। इसमें लेखक ने जरूर साहस से काम लिया है।

नागार्जुन के उपन्यासों में से 'रतिनाथ की चाची' (१९४८) काफी निराशावादी है। इसकी तुलना में 'दुखमोचन' और 'वरुण के बेटे' के स्त्री-चरित्र, गौरी जैसे असहाय

नहीं हैं। 'दुखमोचन' में माया का अन्तर्जातीय विधवा-विवाह उल्लेखनीय है। 'वरुण के बेटे' (१९५७) में माधुरी का चरित्र तो नई दुनिया की स्त्री का चरित्र कहा जा सकता है, जिसका अभी विकास हो रहा है। परन्तु 'नई पौध' (१९५७) इस दिशा में अगला कदम नहीं है। इसमें न कोई प्रेम-विवाह हो पाता है, न कोई स्त्री अपनी मर्जी और अपनी शक्ति से स्वयं कुछ कर पाती है। उपन्यासकार का सामाजिक महत्त्व इसमें नज़र आता है कि इसमें असमान विवाहों का भंडाफोड़ और कम उम्र लड़कियों की शादी करने पर प्रतिबन्ध लगाने का प्रस्ताव है।

पुराने संस्कारों और रूढ़ियों से पूरी तरह से छुटकारा पाना वास्तव में आसान नहीं है। फिर भी हिन्दी के उपन्यास-साहित्य में कई ऐसी कृतियाँ मौजूद हैं जिनमें सच्चे अर्थ में स्त्री के समान अधिकारों के लिए तकाज़ा किया हुआ मिलता है।

राजेन्द्र यादव के 'उखड़े हुए लोग' (१९५६) में यह बात है। आश्चर्य की बात है कि चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने अपनी आलोचना में ('आजकल', जून, १९५७) इसका उल्लेख तक नहीं किया कि 'उखड़े हुए लोग' का एक पहलू स्त्री की स्थिति की आलोचना भी है। जिस परिच्छेद में जया कपिल की दकियानूसी पत्नी से मिलती है, वह उपन्यास के विशेष सफल परिच्छेदों में से एक है। इसमें पर्दे के पीछे के उस सड़े वातावरण से उपन्यासकार की घृणा व्यक्त होती है जो स्त्री का दृष्टिकोण इतना संकुचित और संकीर्ण कर देता है। उपन्यास के आरम्भ में नवदम्पति जया और शरद को और पाठक को भी संशय है कि उन लोगों ने अपनी इच्छा से विवाह करके ठीक किया या नहीं। उपन्यास के अन्त में दूसरे लोगों की जीवन-प्रणाली से तुलना करके पाठक भी इस निष्कर्ष पर पहुँचेगा कि······उन लोगों ने कुछ ऐसा किया है जो भावना को. बंधी लीकों और सड़ी रूढ़ियों से आगे ले जायेगा—कम-से-कम एक नयी राह है, और यदि कुछ के लिए द्वेष की वस्तु हो सकती है तो कुछ के लिए स्पृहा और आकांक्षा की भी।' (पृ० २५४)। 'कुलटा' (१९५८) और 'शह और मात' (१९५९) में भी स्त्री के प्रति यही दृष्टिकोण मिलता है। 'कुलटा' में मिसेज़ तेजपाल के व्यक्तित्व का अन्तर्द्वन्द्व व्यक्त करने वाले प्रतीक कुतिया और बच्ची बहुत सफल लगते हैं।

अमृतराय का दृष्टिकोण राजेन्द्र यादव से मिलता है। 'बीज' (१९५३) के पात्रों के व्यक्तित्त्व भाग्य का कारण ऐतिहासिक आवश्यकता है जो किसी-न-किसी दिन समाज का पथ-निर्देशक बन जायेगी। उषा "न होती तो कोई दूसरी नई रोशनी की लड़की इस घर में आती और उसके संग भी वही सब होता जो उषा के संग हुआ। यहाँ व्यक्तियों की तो बात ही नहीं है, यह तो दो युगों—दो दुनिया—की टकराहट है।" (पृ० १६३) विशेष ध्यान उषा के विकास पर दिया गया है जो धीरे-धीरे अपने पति की बराबर जीवन-संगिनी बनती जाती है। अभागी राजेश्वर का दुखान्त एक तो स्त्री की समाज में अधीन स्थिति का और दूसरे समाज के प्रति राजेश्वरी के अकेले पृथक् विद्रोह का फल है।

यशपाल के उपन्यास 'झूठा-सच' (१९५८-६०) को यदि भारतीय स्त्री के जीवन का कलात्मक विश्वकोश कहा जाये तो इसमें अतिशयोक्ति नहीं होगी। 'मनुष्य के रूप' (१९४९) में भी मनोरमा के विकास द्वारा दिखाया गया है कि स्त्री सच्चा सम्मान तथा

आत्म-सम्मान कैसे प्राप्त कर सकती है। 'झूठा-सच' में तो वे संस्कार और अंधविश्वास और भी आलोचनात्मक रूप से दिखाये गए हैं जिनमें अधिकांश भारतीय स्त्रियां जकड़ी हुई हैं। कभी-कभी (उदाहरणतः, तारा के विवाह के अवसर पर) ऐसा लगता है कि उपन्यासकार का, गैर-हिन्दू पाठक को भी उन सारी रूढ़ियों की जानकारी कराने का विशेष विचार था। आगे मुसलमान रूढ़ियों की भी आलोचना की गई है। लेकिन यशपाल के ध्यान का केन्द्र नई रोशनी की पढ़ी-लिखी काम करने वाली स्त्रियों के चरित्रों पर है जिनका अभी विकास हो रहा है। पारिवारिक और सामाजिक बाधाओं के विरोध की सब अवस्थाओं का यह मनोवैज्ञानिक विश्लेषण एक क्रान्तिकारी लेखक का काम है, विशेषकर तारा के मनोभाव का चित्रण बहुत सूक्ष्म है। कनक की समस्या द्वारा यह दिखाया गया है कि पुरुष का, केवल हुक्म चलाने की इच्छा के कारण प्रेम-विवाह भी कैसे टूट सकता है। कनक और तारा, दोनों के चरित्र कुछ आलोचकों की इस धारणा को गलत साबित करते हैं कि 'यशपाल की सभी कृतियों में नारी अत्यन्त दुर्बल, कामुक और वासना की मूर्ति के रूप में चित्रित की गई है।''

यशपाल, अमृतराय, राजेन्द्र यादव आदि के स्त्री-चरित्रों का केवल नारीत्व ही नहीं, बल्कि अपना मानवी व्यक्तित्व और सामाजिक अस्तित्व है और इसे दोष मानना आज के ज़माने में रूढ़िवादिता नहीं तो क्या है ? आशा है कि इन स्त्री-चरित्रों का उदाहरण और भी भारतीय स्त्रियों का साहस बँधायेगा। यह साहित्यकार नारी-समस्याओं को सारे सामाजिक विकास-क्रम से पृथक न करके भूतकाल को केवल वे परम्पराएँ रखने के पक्ष में हैं जो समाज को आगे ले जा सकती हैं। बीसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध रामायण-काल नहीं है और आज का आदर्श स्त्री-चरित्र सीता का चरित्र नहीं हो सकता। सच तो यह है कि प्रत्येक मनुष्य की अपनी भावना और चिन्तन की सभ्यता है जो समाज के इतिहास से और मनुष्य की अपनी आप-बीती से बनी हुई है। भावना और चिन्तन की सभ्यता को ऊँचे स्तर पर चढ़ाना भी साहित्य का एक कर्तव्य है।

यह कहा जा सकता है कि हिन्दी का उपन्यास-साहित्य अपनी समग्रता में भारतीय स्त्रियों की अन्तर्विरोध पूर्ण असमान स्थिति का सच्चा चित्र देता है जिनको समान अधिकार भिन्न-भिन्न मात्रा में प्राप्त हैं। एक ओर से विशुद्ध भारतीय स्त्री-समस्याओं की उपन्यासों में चर्चा होती है, जैसे विधवा-विवाह या अन्तर्जातीय विवाह हैं; दूसरी ओर ऐसी समस्याएँ भी मिलती हैं जो भारत या पूर्व तक सीमित नहीं हैं उनमें प्रेम-विवाह जैसी समस्याएँ भी हैं जो यूरोप के साहित्यों में पुनरुत्थानकाल से अब तक बड़ी और महत्त्वपूर्ण मात्रा में मिलती हैं, और ऐसी समस्याएँ भी हैं जिनकी उत्पत्ति और साहित्य में उल्लेख से यह सिद्ध होता है कि बीसवीं शताब्दी भारत के द्वार पर नहीं रुकी है। भारत में भी स्त्री अब वस्तु न रहकर व्यक्ति बन रही है और उत्पादन तथा संस्कृति में अपनी भूमिका अदा करना शुरू कर रही है। वह स्वतंत्र चिन्तन तथा निश्चय और स्वतंत्र जीवन का अधिकार माँगने लगी है। हिन्दी साहित्य की कुछ कृतियों में अब स्त्री का यह रूप भी चित्रित होने लगा है।

लक्ष्मीकान्त शर्मा

महादेवी का संस्मरणात्मक गद्य : उपलब्धियाँ और मूल्यांकन

पृष्ठभूमि :—महादेवी वर्मा को छायावाद एवं रहस्यवाद की एक महान कवयित्री के रूप में तो हम सभी जानते हैं, पर उनका गद्यकार भी कम सशक्त नहीं है। इसका प्रमाण है कविता-पुस्तकों के लिए लिखी गई उनकी भूमिकाएं। इन भूमिकाओं को पढ़कर पाठक के मन में एक सहज ही प्रतिक्रिया होती थी, और वह यह कि कविता में महादेवी जितनी अस्पष्ट हैं, उतनी ही गद्य में सुस्पष्ट हैं। क्या इस सुस्पष्टता को काव्य-सृजन के संदर्भ वाली अस्पष्टता की क्षति-पूर्ति समझा जाय ? महादेवी का गद्यकार हमें तीन रूपों में मिलता है : (१) आलोचनात्मक निबंधों के रूप में (२) नारी-जीवन संबंधी आक्रोशपूर्ण निबंधों और (३) संस्मरण-कथाओं में।

महादेवी जी के आलोचनात्मक निबंध अपनी गहन सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के कारण दुरूह एवं क्लिष्ट हो गए हैं। उनके नारी-जीवन संबंधी निबंध, 'शृंखला की कड़ियाँ,' शीर्षक पुस्तक में संग्रहीत हैं। इन निबंधों को पढ़कर पहली प्रतिक्रिया तो यह होती है कि नारी-जीवन का इतना शक्तिशाली एवं तर्क-संयुक्त वकील और कोई नहीं हो सकता। दरअसल, ये निबंध 'चाँद' की संपादिका के रूप में संपादकीय टिप्पणी के अन्तर्गत लिखे गये थे। इनमें ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं समाजशास्त्रीय विवेचन तो है ही, किन्तु कहीं-कहीं वे नारी की विवशता एवं असमर्थता का ऐसा चित्र अंकित कर जाती हैं कि उन्हें पढ़कर मन में यह बात आती थी कि यदि लेखिका संस्मरण या रेखाचित्र लिखे, तो वह बहुत अधिक सफल हो सकती है। पाठक की इसी भावना की परिणति हमें महादेवी जी की तीन संस्मरणात्मक पुस्तकों में अत्यन्त ही सफल एवं मार्मिक रूप में उपलब्ध होती है। ये पुस्तकें हैं : (१) अतीत के चलचित्र (२) स्मृति की रेखाएँ और (३) पथ के साथी।

'अतीत के चलचित्र' का प्रकाशन-काल सन् १९४१ है। यद्यपि इसमें संकलित संस्मरण सन् १९३० से लगाकर सन् १९३९ तक फैले हुए हैं। रचना-काल के इस विराट् प्रसार को देखते हुए एक बात स्पष्ट है कि लेखिका ने इन कृतियों को बड़े धैर्य, संयम एवं सुविधा के साथ लिखा है। इन्हीं गुणों के मूल में उनकी सफलता का रहस्य अन्तर्निहित है। 'अतीत के चल-चित्र' की प्रस्तावना में इन स्मृति-चित्रों को 'संस्मरण-कथाएँ' कहा गया है। ऐसे व्यक्ति, जो लेखिका के जीवन में आये और उसकी चेतना के अभिन्न अंश बन गये, उन्हीं के करुणापूर्ण इतिवृत्त को लेखिका ने इन संस्मरणों में संजोया है।

क्रम-विकास—संस्मरण की विधा सन् १९४१ में हिन्दी-साहित्य के लिए नई ही थी। राजनीति एवं साहित्य के महान खिलाड़ियों को लेकर तो संस्मरण लिखे गये हैं, पर रामा, लछमा एवं अलोपी जैसे व्यक्तियों पर संस्मरण लिखे जाना एक नई बात थी। ऐसा लगता है कि प्रगतिवाद की तुमुल-ध्वनि के कारण लेखिका के लिए छायावादी गीत लिखना तो संभव न हुआ, इसीलिए उनका प्रतिभाशाली कृतिकार गद्य की ओर उन्मुख हो गया

और उसमें उन्होंने उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की। उनके संस्मरणों की मानवता, करुणा, संवेदना एवं कहीं-कहीं तीव्र व्यंग्य-विनोद अपने आपमें इतने कारगर सिद्ध हुए कि उन्होंने संस्मरण की विधा के लिए साहित्य में एक सुरक्षित स्थान बना लिया। इस कार्य का आरम्भ निराला जी इससे पूर्व ही कर चुके थे। उनका 'कुल्लीभाट' एवं 'बिल्लेसुर बकरिहा' इस बात के जीवित-जाग्रत प्रमाण हैं। इन दोनों संस्मरण-पुस्तकों में एक प्रकार की औपन्यासिकता है। जीवन-चरित्र की रेखाएँ भी इन कृतियों में स्पष्ट रूप से उद्भासित हुई हैं। इन्हीं की समकालीन महादेवी ने औपन्यासिक आधार के स्थान पर अपने संस्मरणों को कहानी की पृष्ठभूमि प्रदान की और अपनी कला को करुणा में भिगोकर ऐसे रमणीय चित्र अंकित किए कि प्रगतिवादी आलोचकों ने भी लेखिका का अभिनन्दन किया। अमृतराय ने बंबई से निकलने वाले 'नया-साहित्य' में लेखिका की इस नई साहित्य-सृष्टि की विस्तृत विवेचना की।

संस्मरण का स्वरूप—वस्तुतः 'अतीत के चलचित्र' में जो साहित्यिक विधा हमारे सामने आई है, उसमें संस्मरण, कहानी एवं रेखाचित्र का गंगा-जमुनी सम्मिलन है। संस्मरण के अन्तर्गत लेखक जीवन की उन घटनाओं या व्यक्तियों को याद करता है, जिन्हें वह भुला नहीं सका था, जो उसकी मानसिक चेतना के अभिन्न अंश बन गये हैं। स्वाभाविक ही है कि ऐसी रचना लेखक की मानसिक प्रतिक्रियाओं का एक सही आकलन प्रस्तुत करेगी। इस प्रकार यह विधा जीवनी और आत्मकथा के बीच की एक कड़ी है। आधुनिक युग में जिन परिस्थितियों ने गीत, कहानी एवं एकांकी को जन्म दिया है, उन्हीं परिस्थितियों ने जीवनी और आत्मकथा के बीच में से संस्मरण एवं रेखाचित्र को उत्पन्न किया है। मैंने इन संस्मरणों को कहानी इसी दृष्टि से कहा कि इनमें कथा जैसी रोचकता एवं मर्मस्पर्शिता सहज-सुलभ है। महादेवी एक कुशल चित्रकार भी हैं. इसलिए स्वाभाविक ही था कि उनकी रचना में सूक्ष्म निरीक्षण एवं सौंदर्य-ग्रहण की एक अन्तरंग विशेषता हो। इसी प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप हम उनके संस्मरणों में किसी व्यक्ति-विशेष के बड़े सरस शब्द-चित्र भी पाते हैं। इन कृतियों में लेखिका का स्वयं का जीवन भी बीच-बीच में से झाँकता है, जैसे शरद् ऋतु में बदली के हट जाने पर आकस्मिक रूप से सूर्य-किरणों के माध्यम से प्रकाश एवं उष्णता सुलभ होती है, उसी प्रकार इन रचनाओं में जहाँ-जहाँ लेखिका का जीवन झाँकता है, वहाँ-वहाँ पाठक एक गहरी रसानुभूति में गोते लगाने लगता है। मैं अपने इस कथन के प्रमाण-स्वरूप 'रामा' शीर्षक संस्मरण का अंतिम अंश देना चाहूँगा। 'आज मैं इतनी बड़ी हो गई हूँ कि राजा भैया कहलाने का हठ स्वप्न-सा लगता है, बचपन की कथा-कहानियाँ कल्पना-जैसी जान पड़ती हैं और खिलौनों के संसार का सौंदर्य, भ्रांति हो गया है, पर रामा आज भी सत्य है, सुन्दर है और स्मरणीय है। मेरे अतीत में खड़े रामा की विशाल छाया वर्तमान के साथ बढ़ती ही जाती है—निर्वाक्, निस्तन्द्र पर स्नेह-तरल !'

रेखाचित्र के लक्षण—उपर्युक्त उद्धरण में मैं अंतिम वाक्य को रेखांकित करना चाहूँगा, क्योंकि यह वाक्य इतना मार्मिक है और इसकी अनुभूति इतनी तरल है कि हम लेखिका की चित्रण-शक्ति के कायल हो जाते हैं, जैसे उसने एक वाक्य के ही चषक में अपने

और रामा के सम्पूर्ण मानवीय जीवन को परिप्लावित कर दिया हो। सचमुच, कुछ व्यक्ति मन पर ऐसा गहन प्रभाव डालते हैं कि हमारी चेतना उससे नित्य-नवीन उल्लास की अनुभूति प्राप्त करती है। **रेखाचित्र में चित्रकार का सूक्ष्म-निरीक्षण, रंगों, आकारों एवं प्रवृत्तियों का सहज समन्वय और उनका कम-से-कम शब्दों में चित्रण रहता है। व्यंग्य और विनोद रेखाचित्रकार के अलादीन के चिराग हैं, जिनके आलोक में एक नई दुनिया ही चमक उठती है।** चूँकि लेखिका स्वयं एक कुशल चित्रकार हैं, इसलिए रेखा-चित्रण या शब्द-चित्रण तो उनके बायें हाथ का खेल है। एक उदाहरण लीजिये, इसमें लेखक ने रामा की बहू का बड़ा ही व्यंग्य-विनोद पूर्ण चित्र अंकित किया है। 'उसके साँवले मुख पर कठोरता का अभेद्य अवगुंठन पड़ा ही रहता है और उसकी काली पुतलियों पर से क्रोध की छाया उतरती ही न थी, इसी से हमारे ही समान अबोध रामा पहले हत-बुद्धि हो गया, फिर खिन्न रहने लगा और अंत में विद्रोह कर उठा। कदाचित् उसकी समझ ही में नहीं आता था कि वह अपना सारा समय और स्नेह उस स्त्री के चरणों पर कैसे रख दे, और रख दे तो स्वयं जिये कैसे। फिर एक दिन रामा की बहू रूठकर मायके चल दी।'

प्रस्तुत उद्धरण में हम बालक-बालिकाओं एवं रामा के मधुर संबंधों के बीच दाल-भात में मूसरचंद की तरह रामा की बहू को पाते हैं और जब वह रूठ कर मायके चली जाती है, तो न केवल लेखिका और उसके भाई-बहिन ही प्रसन्न होते हैं, बल्कि रामा और इस संस्मरण के पाठक भी मुक्ति की साँस लेते हैं।

अनेक विधाओं का सम्मिलित रूप—गद्य को कवियों की कसौटी कहा गया है। और कोई कवि इस कसौटी पर खरा उतरे चाहे न उतरे, पर महादेवी वर्मा को तो इस दिशा में अद्भुत सफलता मिली है। **संस्मरण, रेखाचित्र और कहानी के सम्मिलित व्यक्तित्व को लिये हुए यह मधुर गद्य-सृष्टि हिन्दी साहित्य की एक विलक्षण घटना है।** काव्य की स्वाभाविक कोमलता, कहानी की मनोरंजकता, रेखाचित्र का सूक्ष्म विवरण और संस्मरण का हार्दिक संवेदन—सभी-कुछ इन कृतियों में अत्यन्त कलात्मक रूप में पिरोये हुए हैं। ये संस्मरण सहानुभूति से आर्द्र, सामाजिक असंगति के प्रति आक्रोशमय और पददलितों के प्रति अतलस्पर्शी ममत्व से छलछलाते हुए हैं। इन तथ्यों की पुष्टि के लिए कुछ उदाहरण देने आवश्यक हैं।

"हम सब खिलौने रखकर शून्य दृष्टि से बाहर देखते रह जाते थे। नन्हे बाबू सात समुद्र पार पहुँचना चाहता था, पर उड़ने वाला घोड़ा न मिलने से यात्रा स्थगित हो जाती थी। मुन्नी अपनी रेल पर संसार-भ्रमण करने को विकल थी, पर हरी झंडी दिखाने वाले के बिना उसका चलना, ठहरना संभव नहीं हो सकता था। मुझे गुड़िया का विवाह करना था, पर पुरोहित और प्रबन्धक के बिना शुभ लग्न टलती चली जाती थी।"

प्रस्तुत उद्धरण में हम काव्य की स्वाभाविक कोमलता के दर्शन कर सकते हैं, क्योंकि लेखिका ने शैशवावस्था के संबंध में कल्पना की तूलिका से अत्यन्त मनोरम चित्र अंकित किया है। इसमें कहानी की मनोरंजकता भी है। ऐसा लगता है कि हम शुष्क संस्मरण न पढ़कर रोचक कहानी पढ़ रहे हैं। **इसका आधार है लेखिका की तरल भावनायें और**

उनका गंभीर मानवीय दृष्टिकोण। निम्नलिखित उदाहरण से रेखाचित्र की सूक्ष्म-निरीक्षण की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है।'

'फिर एक दिन जब अपनी कोठरी से लाठी, जूता इत्यादि निकाल कर और गुलाबी साफा बाँधकर रामा आँगन में आ खड़ा हुआ, तब हम सब बहुत सभीत हो गये, क्योंकि ऐसी सजधज में तो हमने उसे कभी देखा ही नहीं था। लाठी पर संदेह भरी दृष्टि डालकर मैंने पूछ ही तो लिया, 'क्या तुम उन बाल-बच्चों को पीटने जा रहे हो रामा ?' रामा ने लाठी घुमाकर हँसते-हँसते उत्तर दिया। 'हाँ राजा भैया, ऐसी देहों ना समिटन को'···पर रामा चला गया और न जाने कितने दिनों तक हमें कल्लू की माँ के कठोर हाथों से बचने के लिए नित्य-नवीन उपाय सोचने पड़े।'

उपर्युक्त उद्धरण से लेखिका का सूक्ष्म निरीक्षण एक ऐसा शब्द-चित्र अंकित करता है कि पाठक के मानस-पट पर गुलाबी साफा बाँधे रामा का चित्र स्पष्ट रूप में अंकित हो जाता है।

संस्मरणों का वैशिष्ट्य—रेखाचित्र में व्यक्ति के वैचित्र्य का जो मार्मिक अंकन होता है, वह भी यहाँ सहज-सुलभ है। रामा की मिठास से भरी हुई वोली, वात्सल्य-रस से पूर्णतः परिप्लावित है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत उद्धरण में हम संस्मरण का हार्दिक संवेदन भी पर्याप्त मात्रा में प्राप्त करते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि लेखिका की स्मृति एक स्नेहपूर्ण अनाथालय है, जिसमें सभी के लिए स्थान है। इस स्नेहपूर्ण परिधि में कहीं कोई परिचारिका आती है, तो कहीं कोई युवती-विधवा अपनी करुणा से हमारे मन को पूर्णतः भिगो देती है। वैधव्य के मार्मिक चित्र की दृष्टि से निम्नलिखित पंक्तियाँ सहज ही द्रष्टव्य हैं।

"उस उन्नीस वर्ष की युवती की दयनीयता आज समझ पाती हूँ, जिसके जीवन के सुनहरे स्वप्न गुड़ियों के घरौंदों के समान दुर्दिन की वर्षा में केवल वह ही नहीं गये, वरन् उसे इतना एकाकी छोड़ गये कि उन स्वप्नों की कथा कहना भी सम्भव न हो सका। ऐसी दशा में उसने आठ वर्ष की बालिका को अपने संगी-हीन हृदय की सारी ममता सौंप दी, परन्तु वह बालिका तो उसके संसार में प्रवेश करने में असमर्थ थी, इसी से उसने उसी के गुड़ियों वाले संसार को अपना लिया।" (अतीत के चलचित्र-महादेवी वर्मा : पृष्ठ ३९)

इन पंक्तियों में करुणा का अथाह सागर लहर रहा है। लेखिका ने अत्यन्त विस्तार से उस बाल-विधवा के दैन्य और अभाव का चित्र अंकित किया है। इस प्रकार के संस्मरणों में लेखिका का ध्यान वातावरण-सृजन की ओर ही विशेष रूप से रहा है।' निम्नलिखित उद्धरण में बाल-विधवा की दिनचर्या और जिस प्रकार के वातारण में वह काम करती है, उसका मार्मिक चित्र बड़ी ही कुशलता से चित्रित किया गया है :

"जिस प्रकार उसका खंडहर जैसे घर और लम्बे-चौड़े आँगन को बैठ-बैठ कर बुहारना, आँगन के कुएँ से अपने और ससुर के स्नान के लिए ठहर-ठहर कर पानी खींचना और धोबी के अभाव में, मैले कपड़ों को काठ की मोगरी से पीटते हुए रुक-रुक कर साफ करना, मेरी हँसी का साधन बनता था, उसी प्रकार केवल जलती लकड़ियों से प्रकाशित, दिन में भी अँधेरी रसोई की कोठरी घुटते हुए धुएँ में से रह-रह कर आता हुआ खाँसी

का स्वर, कुछ गीली और कुछ सूखी राख से चाँदी-सोने के समान चमका कर तथा कपड़े से पोंछकर रखते समय शिथिल उँगलियों से छूटते हुए बर्तनों की झनझनाहट मेरे मन में एक नया विषाद भर देती थी।'' (महादेवी—अतीत के चलचित्र : पृष्ठ ३८)

इन संस्मरणों का प्रारम्भ और अन्त प्रायः बड़ा मार्मिक रहा है। बिन्दा पर अध्यापिका महादेवी ने जो संस्मरण लिखा है, उसका आरम्भ किसी विद्यालय में नव-प्रविष्ठ छात्रा की दृष्टि से कितना सचित्र है।

''सभीत-सी आँखों वाली उस दुर्बल छोटी अपने आप ही में सिमटी-सी बालिका पर दृष्टि डालकर मैंने सामने बैठे सज्जन को, उनका भरा हुआ प्रवेश-पत्र लौटाते हुए कहा—'नहीं, यह तो गत आषाढ़ में चौदह की हो चुकी।' सुनकर मैंने कुछ विस्मित भाव से अपनी उसी भावी विद्यार्थिनी को अच्छी तरह देखा, जो नौ वर्षीय बालिका की सरल चंचलता से शून्य थी और चौदह वर्षीय किशोरी के सलज्ज उत्साह से अपरिचित। (महादेवी—अतीत के चलचित्र : पृ० ४९)

इसी प्रकार का प्रारम्भ प्रत्येक संस्मरण में हमें देखने को मिलता है। लेखिका की तूलिका इतनी सधी हुई है कि वह कहीं नहीं चूकती। इसी संस्मरण का अन्त भी देखिये—

''कई दिन बिन्दा के घर झाँक-झाँककर जब मैंने माँ से उसके ससुराल से लौटने के सम्बन्ध में प्रश्न किया, तब पता चला कि वह तो अपनी आकाशवासिनी अम्माँ के पास चली गई है। उस दिन से मैं प्रायः चमकीले तारे के आस-पास फैले छोटे तारों में बिन्दा को ढूँढ़ती रहती, पर इतनी दूर से उसे पहचानना क्या सम्भव था ? तब से कितना समय बीत चुका है, पर बिन्दा और उसकी नई अम्माँ की कहानी शेष नहीं हुई। कभी हो सकेगी या नहीं, इसे कौन बता सकता है ?'' (महादेवी—अतीत के चलचित्र : पृ० ६०)

संस्मरण के इस अन्त में, प्रत्येक शब्द से, कितना ममत्व छलक रहा है और नियति की क्रूरता का चित्र कितना भास्वर हो उठा है, यह सहज ही उल्लेखनीय है। अन्त में प्रश्न पूछकर लेखिका अपने पाठक एवं पाठिकाओं को भी अपनी समवेदना का सम-भागी बना लेती है और तब संस्मरण की परिसमाप्ति अत्यन्त ही करुण हो उठती है।

सबिया पर महादेवी जी ने जो संस्मरण लिखा है, उसका पतिव्रत-धर्म, सौत की उपस्थिति में भी अडिग है। वर्तमान-युग में नर-नारी के बीच जो भयंकर प्रतियोगिता चल रही है, उसके सन्दर्भ में सबिया का पातिव्रत्य कितना महिमापूर्ण है, यह निम्न उद्धरण से स्पष्टतः प्रकट हो जाता है—

''वह उन महिलाओं में नहीं है, जो पति के हल्केपन को, उसके बंगले, कार, वैभव आदि के पासंग में रख-रखकर, भारी कर सकती है। उसकी गणना न उनमें हो सकती है, जिनके यातना-मन्दिर के द्वार पर स्वयं धर्म कठोर और सजग पहरेदार हैं, और न उनमें, जिनके उद्भ्रान्त मस्तकों पर समाज की नंगी तलवार लटकती रहती है। वह तो सब प्रकार से निकृष्टतम प्राणी कही जायगी। फिर इस पारस की उपस्थिति, जिसके स्पर्श से कैसे भी लोहे का आवरण सोना हो सकता है, किस प्रकार समझाई

जाये !'' (अतीत के चलचित्र—महादेवी वर्मा, पृ० ७५)

लेखिका की करुणा केवल नारी-जाति के लिए ही सुरक्षित नहीं है। आवश्यकता पड़ने पर घीसा जैसा विद्यार्थी भी उनकी करुणा का बहुत बड़ा अंश पा जाता है। यह विद्यार्थी आधुनिक एकलव्य से कम नहीं है। उसकी ज्ञान-पिपासा का चित्र देखिए—

"पर उसकी सचेत आँखों में न जाने कौन-सी जिज्ञासा भरी थी ! वे निरन्तर घड़ी की तरह खुलीं मेरे मुख पर टिकी ही रहती थीं। मानो मेरी सारी विद्याबुद्धि को सोख लेना ही उनका ध्येय था !'' (अतीत के चलचित्र—महादेवी वर्मा, पृष्ठ ११७)

घीसा के साथ-ही-साथ लेखिका ने उसकी माँ के व्यक्तित्व को भी बड़ी मार्मिकता से संवारा है। उसकी माँ के सम्बन्ध में जो प्रवाद प्रचलित था, उसका निराकरण घीसा की माँ का निम्न आत्माभिमानपूर्ण वाक्य भली-भाँति करता है—

"हम सिन्ध के महरारू होइके का सियारन के जाब ?''

घीसा जैसे शिष्य से लेखिका को गुरु-दक्षिणा के रूप में भक्ति से लबालब मिला एक तरबूज ! इस गुरु-दक्षिणा पर महादेवी की यह टिप्पणी बड़ी मार्मिक बन पड़ी है —

"उस तट पर किसी गुरु को किसी शिष्य से कभी ऐसी दक्षिणा मिली होगी, ऐसा मुझे विश्वास नहीं, परन्तु उस दक्षिणा के सामने संसार के अब तक के सारे आदान-प्रदान फीके जान पड़े।''

महादेवी जी की मानवीयता का एक बड़ा ही हार्दिक चित्र हमें अलोपी के रूप में मिलता है। अलोपी का भक्ति-भाव हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों की वैमनस्यपूर्ण आग में सलिल जैसी शीतलता का काम देता है। वर्तमान युग के इस सनातन वैमनस्य के सन्दर्भ में अन्धे अलोपी के स्नेह को लेखिका ने बड़े ही मार्मिक शब्दों में अंकित किया है—

"एक बार जब अपनी लम्बी अकर्मण्यता पर लज्जित हमारे हिन्दू-मुस्लिम भाई वीरता की प्रतियोगिता में सक्रिय भाग ले रहे थे, तब अलोपी पहले से दुगुनी बड़ी डलिया में न जाने क्या-क्या भरे और एक बड़ी गठरी रग्घू की पीठ पर भी लादे सुनसान रास्ते से आ पहुँचा। उसके दुस्साहस ने मुझे विस्मित न करके क्रोधित कर दिया। 'तुम हृदय के भी अन्धे हो, ऐसी अँधेरी गलियों में प्राण देकर कुछ स्वर्ग नहीं पहुँच जाओगे।' आदि-आदि स्वागत वचनों के उत्तर में अलोपी बैंगन-लौकी टटोलने लगा। मेरे आँगन में तरकारियों का टीला निर्माण कर वह वैसे ही मूक भाव से छात्रावास की ओर चल दिया। वहाँ से लौटकर जब वह सूखी आँखें पोंछता और ठिठकता-सा सामने आ खड़ा हुआ, तब मेरा क्रोध बरस कर मिट चुका था और मन में ममता की सजलता व्याप्त थी।''

प्रस्तुत उद्धरण में मानवीय सम्बन्धों का बड़ा ही विचित्र माधुर्य एक सर्वथा विचित्र व्यंजना के साथ छलक रहा है। अलोपी की ममता और लेखिका की सजलता अब विगत युग की वस्तु भले ही रह गई हों, पर अब भी स्वार्थों की परिधि में घिरा हुआ मानव-जीवन इस प्रकार के व्यवहार से एक ताज़गी अनुभव करता है। अतीत के चल-चित्र में अन्तिम संस्मरण है लछमा पर, जो उनकी परिचायिका, सखी और संरक्षिका है—ये सब व्यक्तित्व लछमा के व्यवहार के अभिन्न अंग बन गये हैं। लछमा एक पहाड़ी युवती है, जिसका व्यक्तित्व पहाड़ की वेगवती नदी के समान उच्छृंखल एवं विद्रोही है।

इसका व्यक्तित्व इस्पाती अवयवों से विनिर्मित हुआ है, उसकी एक ही झलक काफी होगी—

"यह पर्वत की कन्या जितनी निडर है, उतनी ही निश्चल। जिस प्रकार अपनी दराँती के साथ वह अँधेरी-से-अँधेरी रात में भी मार्ग ढूँढ़ लेती है, उसी प्रकार अपने निश्चय के साथ वह घोर-से-घोर विरोध में भी अटल रह सकती है।" (अतीत के चल-चित्र—पृष्ठ २०६)

ऐसी विद्रोहिणी लछमा लेखिका के सम्मुख मोम-सी मुलायम और आषाढ़ के मेघों के समान समर्पणशील है। इसे लेखिका के व्यक्तित्व की विजय कहें या लछमा के विद्रोही व्यक्तित्व की ममता ?

सामान्य विशेषताएं—"अतीत के चलचित्र" में जो संस्मरण संकलित किये गए हैं, उनकी सामान्य विशेषताओं की दृष्टि से निम्नलिखित तथ्य दृष्टव्य हैं—

(१) कवित्व की माधुर्यपूर्ण भावना से उनका गद्य झिलमिल है और इसका आधार है—करुण-रस। रहस्यवादी एवं छायावादी कवयित्री, गद्य में मानवतावादी हो गई हैं और उनका मानवतावाद अत्यन्त ही उच्चकोटि का है। उसमें रामा, अलोपी, लछमा, घीसा, बिट्टू आदि पात्र उनके ममतालय के अभिन्न अंग हैं। **ऐसा प्रतीत होता है कि वे अपने वैयक्तिक परिवार के अभाव को सामूहिक परिवार के रूप में पूर्ण कर रही हैं।**

(२) उनकी करुणा उस समय आक्रोश का रूप ले लेती है, जब उनके किसी आत्मीय पात्र पर कोई अत्याचार होता है, पर तब उनका आक्रोश व्यंग का रूप धारण कर लेता है और उसकी साहित्यिक छटा निराली होती है।

(३) इन संस्मरणों में व्यक्तियों के रेखाचित्र ऐसे विविध-रूप में बिखरे पड़े हैं कि हम लेखिका की सूक्ष्म-निरीक्षण-शक्ति एवं सम्वेदनापूर्ण चित्रण के कायल हो जाते हैं।

(४) इन संस्मरणों में कथा की रोचकता भी है और लेखिका ने इन्हें जो संस्मरण-कथा कहा है, वह समीचीन है। किसी संस्मरण को आरम्भ करने पर पाठक का कौतूहल बढ़ता जाता है और वह जब तक उसे समाप्त नहीं कर लेता, तब तक उसे चैन नहीं। उसकी रुचि निरन्तर रूप से बनी रहती है, जैसे वह करुणा के सरोवर में कल्पना की नौका पर आसीन होकर विचरण कर रहा हो।

(५) जहाँ इन संस्मरणों के ऐसे उज्ज्वल पक्ष हैं, वहाँ उनका एक कृष्ण पक्ष भी है और वह है—लेखिका का क्लिष्ट साहित्यिक गद्य। जो मार्जित-रुचि के हैं, उन्हें तो इसमें आनन्दानुभूति ही होती है, पर साधारण पाठक के हाथ के तोते उड़ जाते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि लेखिका का साहित्य अभिव्यक्ति की दृष्टि से जन-साहित्य नहीं कहा जा सकता, यद्यपि उसका आधार जन-जीवन की क्रूर वास्तविकतायें हैं। इन संस्मरणों में लेखिका का समाज-दर्शन एवं व्यक्ति-दर्शन दोनों ही इतनी गहरी डुबकी लगाते हैं कि वे अनायास ही अमूल्य मणि-रत्नों को प्राप्त कर लेते हैं।

"अतीत के चलचित्र" की लोकप्रियता ने महादेवी जी को अपनी 'स्मृति की रेखायें' अंकित करने के लिये प्रेरणा दी। इन दोनों संस्मरण-पुस्तकों के शीर्षकों में शाब्दिक दृष्टि

से भले ही अन्तर हो, पर भावना की दृष्टि से इन दोनों पुस्तकों की अन्तर्धारा एक जैसी ही है। रामा, अलोपी और घीसा पर लिखने वाली लेखिका ही भक्तिन, बिंदिया, गुंगिया, ठकुरी बाबा आदि पर लिख सकती है। विविधता हमें मिली—'चीनी' व 'दो भाई' के चित्रण में। इन दो संस्मरणों में लेखिका की सहानुभूति का एक छोर जहाँ दो पर्वत-पुत्रों को स्पर्श करता है, वहीं वह अपनी भावना की बाँहों में एक विदेशी का भी आलिंगन करता है, जिसके होठों से सदा-सर्वदा 'सिस्तर' शब्द की झड़ी लगी रहती थी और जो केवल रेशमी वस्त्रों का विक्रेता ही नहीं है, अपितु लेखिका का भाई बनने का भी दावा करता है। अपनी पूर्व-पुस्तक की तरह इन संस्मरणों का आधार भी करुणा एवं मानवता है।

'स्मृति की रेखाओं' में पहली रेखा है 'भक्तिन' पर, उसका व्यक्तित्व बड़ी आड़ी-तिरछी रेखाओं में अंकित हुआ है, पर फिर भी उसकी व्यंजना लेखिका के कौशल की द्योतक है। प्रारम्भ में भक्तिन की पारिवारिक एवं मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि दी गई है, तब लेखिका ने अपने सम्बन्धों की कहानी बड़ी लाघवता के साथ अंकित की है। किस प्रकार उन्होंने अपने भोजन की परिभाषा बदली, किस प्रकार वह इधर-उधर भूल से पड़े हुए रुपयों को ठिकाने लगाती है और किस प्रकार वह लेखिका के साहित्य-कला-सृजन एवं परीक्षण-कार्य में योग देती है, यह सब कहानी बड़े मनोरंजक रूप में अंकित की गई है। मुहावरों के प्रयोग ने महादेवी जी के संस्मरण-लेखन के स्तर को एक नई दिशा दिखायी है और हमें प्रेमचन्द जी का मुहावरेदार गद्य याद आने लगा। सोचता हूँ कि प्रेमचन्द जी मुहावरेदानी के सम्राट् थे, तो क्या देवी जी को मुहावरेदानी की साम्राज्ञी कहूँ? मुहावरों के सार्थक प्रयोग की कुछ बानगी देखिये :

(१) दुख से शिथिल और अपमान से जलती हुई वह उस घर में **पानी भी बिना पिये उल्टे पैरों** ससुराल लौट पड़ी। सास को **खरी-खोटी सुनाकर** उसने विमाता पर आया हुआ क्रोध शान्त किया और पति के ऊपर गहने फेंक-फेंककर उसने पिता के चिर-बिछोह की मर्म-व्यथा व्यक्त की। (स्मृति की रेखाएँ : पृष्ठ ७)

(२) जब उसने गेहुएँ रंग और बटिया जैसे मुखवाली **पहली कन्या के दो संस्करण** और कर डाले, तब सास और जिठानियों ने ओठ बिचकाकर उपेक्षा प्रकट की। (वही)

(३) इस दंड-विधान के भीतर कोई ऐसी धारा नहीं थी, जिसके अनुसार **खोटे सिक्कों की टकसाल-जैसी पत्नी** से पति को विरक्त किया जा सकता।

(४) उसके ससुर, पितिया ससुर, अजिया सास आदि ने उसकी पाककुशलता के के लिए न जाने कितने **मौखिक प्रमाण-पत्र** दे डाले हैं। (वही, पृष्ठ ११)

(५) भक्तिन की कंजूसी के प्रमाण पुंजीभूत होते-होते पर्वताकार बन चुके थे, परन्तु **इस उदारता के डाइनामाइट** ने क्षण भर में उन्हें उड़ा दिया। (वही, पृष्ठ १६, १७)

उद्धरण-संख्या एक में रेखांकित अंश परम्परागत मुहावरों की बानगी प्रस्तुत करते हैं, तो उद्धरण-संख्या दो, तीन चार और पाँच के रेखांकित अंशों में नये मुहावरों की सृष्टि

की गई है। इनका व्यंग्य-विनोद लेखिका के व्यक्तित्व की चाशनी में घुलकर एक सशक्त गद्य का रूप धारण कर सका है। 'कन्या के दो संस्करण', 'खोटे सिक्कों की टकसाल', 'मौखिक प्रमाण-पत्र' 'उदारता के डाइनामाइट'—ये लेखिका की अनुभूति की टकसाल में ढले हुए नये मुहावरे हैं। इन मुहावरों ने एक ओर तो लेखिका की अभिव्यंजना को वक्रता प्रदान की है, तो दूसरी ओर उनकी आलोचनात्मक-शैली सहृदय पाठकों को पुष्कल पौष्टिक पदार्थ भी परोसती रही है।

'भक्तिन' का व्यक्तित्व-चित्रण कमाल का है। इसकी पृष्ठभूमि के रूप में जिठानियों और देवरानियों का जो विभेद-चित्रण है, वह लेखिका की संस्मरण-कला की ऋजुता का अद्भुत उदाहरण है। निम्नलिखित अनुच्छेद को पढ़ते हुए हमें भ्रम होता है कि हम महादेवी को पढ़ रहे हैं या प्रेमचन्द को। अपने कथन की पुष्टि में, मैं उस अनुच्छेद को अविकल रूप में उद्धृत करता हूँ: "जिठानियाँ बैठकर लोक-चर्चा करतीं और उनके कलूटे लड़के धूल उड़ाते, वह मट्ठा फेरती, कूटती, पीसती, राँधती और उसकी नन्हीं लड़कियाँ गोबर उठाती, कंडे पाथतीं। जिठानियाँ अपने भात पर सफेद राब रखकर गाढ़ा दूध डालतीं और अपने लड़कों को औटाते हुए दूध पर से मलाई उतारकर खिलातीं। वह काले गुड़ की डली के साथ कठौती में मट्ठा पीती और उसकी लड़कियाँ चने-बाजरे की घुघरी चबातीं।" (वही, पृष्ठ ७)

उपर्युक्त उद्धरण लेखिका के समाज-दर्शन का एक कलात्मक आकलन है और मानवीय मनोवृत्ति को बड़े ही सबल व्यंग्यपूर्ण शब्दों में प्रकट करता है। इसमें कुछ देशज एवं देहाती शब्दों का भी बड़ा मार्मिक प्रयोग हुआ है, कलूटे, राँधती, कंडे थापती, राब, घुघरी चबातीं और कठौती में हमें न केवल स्थानीय रंग ही मिलता है, बल्कि ग्रामीण वृत्ति का एक सहज चित्र भी सुलभ होता है।

लेखिका ने एक स्थान पर भक्तिन और उसके पति के सम्बन्धों की घनिष्ठता और उसके परिणाम की निम्नलिखित शब्दों में अत्यन्त ही सटीक व्याख्या की है: "इसके अतिरिक्त परिश्रमी, तेजस्विनी और पति के प्रति रोम-रोम से सच्ची पत्नी को वह चाहता भी बहुत रहा होगा, क्योंकि उसके प्रेम के बल पर ही पत्नी ने अलगौझा करके सबको अँगूठा दिखा दिया।" (वही, पृष्ठ ८)

यहाँ 'अलगौझा' शब्द और 'अँगूठा दिखा देना' मुहावरा कितना सप्राण है और उसकी तीक्ष्ण व्यंग्यमयी भंगिमा अपनी बाँकी चितवन से पाठक के मन को हर लेती है। भक्तिन की युवती-पुत्री का विवरण भी व्यंग्य-विनोद से परिप्लावित है: "तीतरबाज युवक कहता था, वह निमन्त्रण पाकर भीतर गया और युवक उसके मुख पर अपनी पाँचों उँगलियों के उभार में इस निमन्त्रण के अक्षर पढ़ने का अनुरोध करती थी। अन्त में दूध-का-दूध, पानी-का-पानी करने के लिये पंचायत बैठी और सबने सिर हिला-हिलाकर इस समस्या का मूल कारण कलियुग को स्वीकार किया।" (वही, पृष्ठ ९-१०)

भक्तिन की पुत्री का व्यक्तित्व भी अपनी माँ से किसी कद्र कम न था, किन्तु उस आक्रोशमयी युवती के जीवन की अन्तिम परिणति बड़ी करुणापूर्ण है, क्योंकि उस तीतर-बाज को युवती पुत्री के गले मढ़ दिया गया था, जिस पर 'अपमानित बालिका ने ओठ

काटकर लहू निकाल लिया और माँ ने आग्नेय नेत्रों से गलेपड़ू दामाद को देखा।' (वही, पृष्ठ १०) इस वाक्य में ओठ काटकर लहू निकाल लेने का मूक विद्रोह और भक्तिन के आग्नेय नेत्र गलेपड़ू दामाद को भस्मासुर की तरह जला न सके, यही क्या कम है ! इस दामाद ने किस प्रकार भक्तिन की समृद्धि में आग लगा दी, और किस प्रकार जमींदार ने उसे कड़ी धूप में खड़ा कर अपमानित किया, इसी यातना के परिणामस्वरूप ही, वह कमाई के विचार से शहर आ जाती है। ऐसी स्थिति में उसका जो शब्द-चित्र लेखिका ने अंकित किया है, वह अनेक दृष्टियों से एक सफल रेखाचित्र का उदाहरण प्रस्तुत करता है : "घुटी हुई चाँद को मोटी मैली धोती से ढाँके और मानों सब प्रकार की आहट सुनने के लिये एक कान कपड़े से बाहर निकाले हुए भक्तिन जब मेरे यहाँ सेवक-धर्म में दीक्षित हुई, तब उसके जीवन के चौथे और सम्भवतः अन्तिम परिच्छेद का जो अर्थ हुआ, उसकी इति अभी दूर है। भक्तिन की वेश-भूषा में गृहस्थ और वैरागी का सम्मिश्रण देखकर मैंने शंका से प्रश्न किया—'क्या तुम खाना बनाना जानती हो ?' 'उत्तर में उसने ऊपर के ओठ को सिकोड़ और नीचे के अधर को कुछ और बढ़ाकर आश्वासन की मुद्रा के साथ कहा—'कउन बड़ी बात आय ! रोटी बनाय जानित है, दाल रांध लेइत है, साग-भाजी छडंक सकित है, अउर बाकी का रहा !' (वही, पृष्ठ १०)

प्रस्तुत पंक्तियों में भक्तिन के व्यक्तित्व की रेखाओं और उसकी उपाधियों का विज्ञापन बड़ा मार्मिक बन पड़ा है। उसका व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों ही पूर्णतः प्रकट हुए हैं। उसके प्रगाढ़ स्नेह और मैत्री की भावना इतनी प्रबल है कि लेखिका चाहने पर भी उसे अपनी सेवा से मुक्त नहीं कर सकती। उसकी रूढ़प्रियता, छुआछूत और उसकी प्रबल स्वामि-भक्ति उसके व्यक्तित्व को एक निराली धजा में प्रकट करते हैं। उसकी स्वामि-भक्ति के सम्बन्ध में लेखिका की टिप्पणी इस प्रकार है : 'किसी भी परिस्थिति में, किसी भी समय, कहीं भी जाने के लिये प्रस्तुत होते ही मैं भक्तिन को छाया के समान साथ पाती हूँ।'' (वही, पृष्ठ १६) पर यही भक्तिन युद्ध के प्रति बड़ी डरपोक है, इसीलिए वह लेखिका के साथ गाँव जाने का प्रस्ताव करती है। इस अवस्था में उसका स्नेह, अपनी स्वामिनी की आवश्यकता के प्रति सजगता और आत्मीयता का बड़ा ही मार्मिक चित्र निम्नलिखित अनुच्छेद में प्राप्त होता है। प्रत्येक शब्द से उसका स्नेह छलका पड़ रहा है : "जब गत वर्ष युद्ध के भूत ने वीरता के स्थान में पलायन-वृत्ति जगा दी थी, तब भक्तिन पहली ही बार सेवक की विनीत मुद्रा के साथ मुझसे गाँव चलने का अनुरोध करने आई। वह लकड़ी रखने के मचान पर अपनी नई धोती बिछाकर मेरे सोने का प्रबन्ध करेगी। मेरे रंग, स्याही आदि को नई हँडियों में संजोकर रख देगी और कागज-पत्रों को छीकों में यथाविधि एकत्र कर देगी।'' (वही, पृष्ठ १६)

'सम्भवतः ऐसी भक्ति-भावना राम के प्रति हनुमान की भी न रही होगी, क्योंकि कौड़ी-कौड़ी करके इकट्ठा किया हुआ जो पाँच बीसी और पाँच रुपया उसके पास गड़ा रखा है, उसको वह लेखिका पर न्यौछावर करने के लिये प्रस्तुत है। इतना सब होने पर भी लेखिका उसे सेवक-स्वामी सम्बन्धों के बीच नहीं लेना चाहतीं। उनकी दृष्टि में 'भक्तिन को नौकर कहना उतनी ही असंगत है, जितना अपने घर में बारी-बारी से आने-जाने वाले

अँधेरे-उजाले और आँगन में फूलने वाले गुलाब और आम को सेवक मानना। वे जिस प्रकार एक अस्तित्व रखते हैं, जिसे सार्थकता देने के लिये ही हमें सुख-दुख देते हैं, उसी प्रकार का भक्तिन का स्वतन्त्र व्यक्तित्व अपने विकास के परिचय के लिये ही मेरे जीवन को घेरे हुए है।' इस उद्धरण से हम महादेवी जी और भक्तिन के सम्बन्धों को स्पष्टतः समझ सकते हैं। उसकी स्वामि-भक्ति का एक दिव्य उदाहरण तब मिलता है, जब किसी 'साहित्यिक-बन्धु के आने पर भक्तिन के सम्मान की मात्रा, मेरे प्रति उनके सम्मान की मात्रा पर निर्भर है और सद्भाव उनके प्रति मेरे सद्भाव से निश्चित होता है। इस सम्बन्ध में भक्तिन की सहज बुद्धि विस्मित कर देने वाली है।' जिन दिनों भारत में स्वाधीनता-प्राप्ति के लिये राजनीतिक आन्दोलन चल रहा था, उन दिनों किसी भी साहित्यिक का कृष्ण-मन्दिर में जाना उतना ही सम्भावित था, जितना कि बसन्त में गुलाब की कलियों का चटकना और उनके सौरभ का उन्मुक्त विस्तार! इस संदर्भ में लेखिका की जेल जाने की बात सुनकर भक्तिन पर बड़ी प्रबल प्रतिक्रिया होती है, क्योंकि उसके 'संस्कार' ऐसे हैं कि वह कारागार से वैसे ही डरती है, जैसे यमलोक से—उसकी यह कमजोरी इतनी प्रसिद्धि पा चुकी है कि लोग मेरे जाने की सम्भावना बता-बताकर उसे चिढ़ाते रहते हैं। 'किन्तु लेखिका के साथ वह कारागार की यमपुरी में भी जाने को तैयार है और इसके लिये उसकी जिज्ञासा बड़ी सजगतामयी है। वह किसी भी रूप में अपनी स्वामिनी से अलग नहीं होना चाहती। यदि स्वामिनी को जेल में ठूँस दिया गया और भक्तिन को उनके साथ न रहने दिया गया, तो वह बड़े लाट तक लड़ने का इरादा रखती है। प्रस्तुत संस्मरण का अन्त बड़ा मार्मिक है और लेखिका का जो भक्तिन के प्रति ममत्व है, उसका दर्शनीकरण (फिलॉस्फाईजंग) संस्मरण के अन्त में बड़े स्पष्टरूप में देखा जा सकता है : "मैं प्रायः सोचती हूँ कि जब ऐसा बुलावा आ पहुंचेगा, जिसमें न धोती साफ करने का अवकाश रहेगा, न सामान बाँधने का, न भक्तिन को रुकने का अधिकार होगा, न मुझे रोकने का, तब चिरविदा के अन्तिम क्षणों यह देहातिन वृद्धा क्या करेगी और मैं क्या कहूँगी?" (वही, पृष्ठ १९)

प्रस्तुत संस्मरण का इतने विस्तार में विश्लेषण इसीलिये किया है कि हम महादेवी जी की कला को समग्र रूप में समझ सकें। यही विशेषताएँ कुछ रूपान्तर के साथ अन्य संस्मरणों में भी प्रकट हुई हैं। 'शाश्वत चीनी' दुःख और यातनाओं से भरे हुए एक ऐसे व्यक्ति की कहानी है, जो चीन, बर्मा और भारत में अपनी जीविका के लिये खाक छानता फिरा और जिसने अपनी खोई हुई बहिन को लेखिका में पाया। माँ, बाप और फिर बाद में दुःखिता एवं छीजती हुई बहिन किस प्रकार उसे यातनाओं की भट्टी में जलते हुए छोड़ गये और किस प्रकार उसने गिरहकटों के चंगुल से अपने-आपको बचाकर 'सिल्क विक्रेता फेरी वाला चीनी' का रूप लिया, इसी की करुणा के आँसुओं में डूबी हुई यह कहानी है। एक उदाहरण लीजिये : "पर, एक रात उसने बिछौने पर लेटकर बहिन की प्रतीक्षा करते-करते आधी आँख खोली और विमाता को कुशल बाजीगर की तरह, मैली-कुचैली बहिन का कायापलट करते देखा। उसके सूखे ओठों पर विमाता की मोटी उँगली ने दौड़-दौड़कर लाली फेरी, उसके फीके गालों पर चौड़ी हथेली ने घूम-घूमकर सफेद गुलाबी रंग भरा, उसके रूखे बालों को कठोर हाथों ने घेर-घेरकर सँवारा और तब नये रंगीन वस्त्रों

में सजी हुई मूर्ति को एक प्रकार से ठेलती हुई विमाता रात के अन्धकार में बाहर अन्तर्हित हो गई।'' (वही, पृष्ठ १५) इन पंक्तियों में संकेतात्मकता अपनी नयी करुणा, व्यंग्यपूर्ण अर्थवत्ता को कैसे मूक, पर सटीक शब्दों में व्यक्त करती है। आज के नये संदर्भ में हम चीन की भुखमरी और राजनीतिक विकृतियों को 'शाश्वत चीनी' के माध्यम से भलीभाँति समझ सकते हैं। सारा वर्णन कितना सजीव और चित्रात्मक है।

'स्मृति की रेखाओं' की तीसरी रेखा दो भाइयों—दो पर्वत-पुत्रों से हमें परिचित करवाती है। इनकी स्वाभाविक मानवीयता इतनी सजल और संवेदनशील है कि हृदय में करुणा और वात्सल्य के सोते फूट पड़ते हैं। वस्तुतः महादेवी जी की स्मृति करुणा का अक्षय आगार है, जिसमें पलकर रामा, घीसा, अलोपी, लछमा, चीनी दो भाई जैसे दर्जनों पात्र और पात्रियाँ एक विलक्षण साहित्यिक व्यक्तित्व प्राप्त कर सके हैं। घनिया का संकोच में लिपटा चेहरा और जंगिया का कर्तव्य-सजग मुखड़ा क्या कभी भुलाये जा सकते हैं : 'सवेरे झरने से हाथ-मुँह धोकर लौटने पर मैंने चट्टी के नीचे वाले खण्ड में जंगबहादुर को दो नये कुलियों के साथ प्रतीक्षा करते पाया और ऊपर धनसिंह को कपड़े की पट्टी से सिर कसकर बोझा सँभालते देखा। 'क्या तुम अच्छे हो गये ?' सुनकर उसने थकावट से उत्पन्न पसीने की बूंदें पोंछते हुए बताया कि वह चल सकेगा। उसके न जाने से भाई का भी नुकसान होगा।'' (वही, पृष्ठ ४१, ४२)

इस संस्मरण के अन्त में उन पर्वत-पुत्रों की लेखिका को विदाई 'शकुन्तला की विदा' से कम महत्वपूर्ण नहीं है। ऐसे क्षणों में मानवीय स्नेह अनन्त अश्रु-कणों में किस प्रकार छलक-छलक पड़ता है, इसका एक मार्मिक चित्र देखिये : ''जंगवीर ने आँसू रोकने का प्रयास करते-करते कहा—'माँ जी जीता रहना फिर आना, जंगिया के नाम चिट्ठी भेजना।' 'घनिया सदा के समान पृथ्वी पर दृष्टि गड़ाये, बीच-बीच में टपकते आँसुओं की भाषा में विदा दे रहा था। आज वे दोनों पर्वत-पुत्र कहाँ होंगे सो तो मैं बता नहीं सकती, पर उनको माँजी होकर मुझे जो सम्मान मिला, वह भी बताना सहज नहीं।' (वही, पृष्ठ ४६) भावनाओं की शब्दावलि कितनी संक्षिप्त, तार-शैली के समान अर्थपूर्ण और हृदयवेधी होती है, इसकी स्पष्ट झाँकी हमें उपर्युक्त उद्धरण में मिलेगी।

चौथी रेखा का सम्बन्ध अटल की 'मुन्नू की माई' से है। यहाँ भी कर्कशा और मधुर आतिथ्यशील का विभेद-चित्रण इस मानवीय विचित्रालय का एक हृदय-स्पर्शी उदाहरण है। लोग कहते हैं कि सुन्दरता आँख को पकड़ लेती है, पर यहाँ तो दरिद्रता, कुरूपता इतनी आकर्षक बन गई हैं कि हम शब्द-शिल्पी लेखिका की नवीन उपलब्धि के सम्मुख श्रद्धानत हो जाते हैं : ''बेवाइयों से भरे छोटे पैरों में काँसे के कड़े घिसते-घिसते चपटे और तंग हो गये हैं, अतः बचपन से अब तक बदले न जाने की घोषणा करते हैं। कड़ी उँगलियों वाले हाथों की चपटी कलाई को घेरने वाली मैलभरी घिसी चूड़ियाँ ऐसी जान पड़ती हैं, मानों हाथ के साथ ही उत्पन्न हुई हैं।'' (वही, पृष्ठ ४९) इसे स्वभावोक्ति अलंकार का नया संस्करण कहें या जन-साहित्य का एक दिव्य चित्र, कुछ समझ में नहीं आता। लेखिका की कला मैक्सिम गोर्की के चित्रण से होड़ करती है। तथाकथित 'प्रगतिशीलों' ने ऐसे कितने चित्र अंकित किये हैं, यह उनके लिए एक ज्वलन्त चुनौती है।

पंचम रेखा 'ठकुरी बाबा' के व्यक्तित्व को सँवारती है। वे वास्तव में लोककवि अथवा जन्मजात निसर्ग-कवि कहे जा सकते हैं, क्योंकि उनका सम्पूर्ण जीवन-वृत्त किसी काव्य से कम वैविध्यपूर्ण नहीं है। उनकी चेष्टाओं एवं प्रवृत्तियों में कविता-कामिनी छूम-छनन···नन नृत्य करती है और तब लेखिका उन्हें अत्यन्त ही गौरवमयी श्रद्धांजलि अर्पित करती है : "अर्थव के जो गायक अपने-आपको धरती का पुत्र कहते थे, ठकुरी बाबा उन्हीं के सजातीय कहे जा सकते हैं। इनके लिए जीवन धरती का वरदान, काव्य उसके सौंदर्य की अनुभूति, प्रेम उसके आकर्षण की गति और शक्ति उसकी प्रेरणा का नाम है। ऐसे व्यक्ति मुक्ति की ऊँची-से-ऊँची कल्पना को दूब में खिले नीचे-से-नीचे फूल पर न्यौछावर कर दें, तो आश्चर्य नहीं।" (वही, पृष्ठ ६६) प्रकृति-चित्रण के अत्यन्त सुललित वैशिष्ट्यपूर्ण, रुद्र एवं सौम्य रूप हमें इस संस्मरण में मिले, जिन्हें निबन्ध की कलेवर-वृद्धि के कारण हम नहीं दे पायेंगे। थूहर, भटकटैया से लगाकर मक्का के भुट्टों तक का यहाँ सजीव वर्णन है और इसके साथ-ही-साथ ठकुरी बाबा के विचित्र परिवार की झलक कितनी मनोरम है : "बेला ने बचपन के साथी को छोड़ना नहीं चाहा और इस प्रकार ठकुरी बाबा वचन-भंग के पातक से बच गये।" (वही, पृष्ठ ८५)

छठी रेखा 'बिबिया' की पृष्ठभूमि में पहले बाँकी अदावाले दमड़ीलाल का चित्र उपस्थित करती है, जो कि भक्तिन के हाथ की बनी चाय को सागर-मन्थन में निकले अमृत से कम नहीं समझता और 'नाश्ते' के लिए भी आग्रह करता है। इसे अपनी माँ के साथ देखकर लेखिका को 'बिबिया' धोबिन की याद आ गई, जिसकी कहानी निम्न जातियों में नारी के यातनामय जीवन का एक रोमांचकारी वृत्त है। सुन्दरी, परिश्रमी, और बुद्धिमती, पर अभिमानिनी बिबिया को जीवन में कैसे-कैसे पापड़ बेलने पड़े, यह संस्मरण उसी की करुणाभरी कहानी है। कभी न बुझने वाला बिबिया का व्यक्तित्व किस प्रकार समाज की रूढ़ियों और भ्रान्त धारणाओं के कारण तार-तार हो गया, यह सब पढ़कर पाठक के आँसू जम जाते हैं और उसका विद्रोह-भाव वाचाल हो उठता है। उसके परिश्रमी जीवन की एक झलक : "सबेरा होने पर कर्तव्य की पुरानी पुस्तक का नया पृष्ठ खुला ही रहता था।" (पृष्ठ १११) झनकू के मुक्त जीवन और वैवाहिक सम्बन्धों पर निम्न वाक्य में कितना तीव्र व्यंग्य है : "इस प्रकार अपने मन को मुक्त रखकर भी झनकू बिबिया को दाम्पत्य-बन्धन में बाँध लाया।" (पृष्ठ १११) पुरुष द्वारा नारी पर किये गए अत्याचार का एक चित्र : "बिबिया के शरीर पर घूँसों के भारीपन के स्मारक गुम्मड़ उभर आए थे, लकड़ी के आघातों की संख्या बताने वाली नीली रेखाएँ खिच गई थीं और लातों की सीमा नापने वाली पीड़ा जोड़ों में फैल रही थी।"(पृष्ठ ११६) यह संस्मरण धोबी-मनोविज्ञान और उनकी दुष्ट प्रवृत्तियों पर एक संस्मरणात्मक प्रबन्ध कहा जा सकता है।

सप्तम् रेखा में 'गुंगिया' की मूक व्यथा की भूमिका के रूप में पत्र-लेखन और अपढ़ लोगों की मानसिक प्रतिक्रियाओं का विशद चित्र है। 'गुंगिया' का स्नेह-तरल वात्सल्य और हुलासी की अवज्ञा मानवीय चरित्र के अद्भुत अध्याय हैं। हुलासी को खोकर गुंगिया उसके खिलौने में ही रम गई और उसकी अन्तिम श्वास उन्हीं के बीच टटी :

"वह हुलासी के खिलौनों की खुली पिटारी और कपड़ों से भरे बक्स के बीच में मरी पाई गई। रुपये उसके तकिये के नीचे ज्यों-के-त्यों धरे मिले।" (पृष्ठ १४६) हम लेखिका के इस मन्तव्य से अक्षरशः सहमत हैं : "जीवन में मैंने जितने विचित्र व्यक्ति और जैसे रहस्यमय इतिवृत्त देखे-सुने हैं, उनके सामने कल्पना के सभी निर्माण फीके पड़ सकते हैं, पर गुंगिया मेरे हृदय में जो करुणा विस्मय जगा सकी थी, वह फिर नहीं जागा।"

इन दोनों पुस्तकों के विश्लेषण के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि महादेवी जी की स्मृति एक ऐसा अनाथालय है, जिसमें मानवता के इन उपेक्षित अंशों के प्रति अथाह करुणा है, इसी कारण इन्हें अनाथालय न कहकर ममतालय कहना अधिक उपयुक्त होगा। उनकी दृष्टि में चित्रकार की सर्वग्राहिता, कवि की मार्मिकता और नारीत्व की संवेदनशीलता है। निजी जीवन के इतने रोचक और प्रभावपूर्ण संस्मरण और किसी ने नहीं लिखे।

महादेवी जी की तीसरी संस्मरण-पुस्तक 'पथ के साथी' अपनी दो अग्रजाओं ('अतीत के चलचित्र' 'और स्मृति की रेखायें') से भिन्न है, यद्यपि इन संस्मरणों का भी मूल उत्स लेखिका का भावना-तरल हृदय ही है। **ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे कविता की भावुकता गद्य में पारा बनकर पिघल गई है और इसे उनके कवि का ही रूपांतर कहा जा सकता है।** एक बात में भिन्नता अवश्य है और वह है उनके व्यंग्य-विनोद का बौद्धिक धरातल। ऐसे मार्मिक एवं कलात्मक व्यंग्य, हिन्दी-साहित्य की एक अनहोनी घटना है। स्व० गुलाबराय के हास्य-विनोद से इनका पृथक् स्वाद है—जहाँ गुलाबराय स्वयं अपनी सीमाओं और त्रुटियों का कार्टून बनाते हैं, वहीं महादेवी कोई तेज फुलझड़ी छोड़कर पाठक के मन को बिद्ध कर देती हैं। तुलना के लिए एक उदाहरण पर्याप्त होगा। गुलाबराय के 'नर से नारायण' का व्यंग्य-चित्रण देखिये : क्रॉस-वैन्टीलेशन की शान ही बवाले-जान बन गई। सौंदर्य-प्रिय होते हुए भी तहखानों के झरनों के पुष्टमांसल सौंदर्य का आस्वादन न कर सका। यदि घर फूँक तमाशा भी देखना चाहता, तो नामुमकिन हो गया था। एक साथ बिजली ठप हो गई। घर फूँक तमाशा देखने वालों को कम प्रकाश की तो ज़रूरत नहीं होती।"

उपर्युक्त पंक्तियों की तुलना में **गुप्त जी की काव्य-साधना** का प्रारम्भिक रूप महादेवी जी ने इस प्रकार व्यक्त किया है : "पत्थर के चबूतरे पर कविता लिखने के लिए रक्खी हुई दो-तीन स्लेटें और एक छोटा डैस्क देखकर गाँव की प्राथमिक पाठशाला की भ्रांति हो जाना स्वाभाविक है। उनकी काव्य-साधना के लिए वह कच्चा घर उपयुक्त ही है, पर स्लेट, पेंसिल देखकर भ्रम होता है कि वे असमय स्कूल छोड़ने का स्मरण कर रहे हैं। जिसका सफेद फर्श सबकी धूल ग्रहण कर साम्य की उपासना करता है, वह बैठकखाना और जिसकी गोबर से लिपी धरती सब के चिन्ह मिटाकर एकता की बात कहती है, वह आँगन-कचहरी भी है और जन्तुशाला भी। वहाँ शिखाधारी पंडित जी भी विराजमान होंगे और दाढ़ी वाले मियाँ जी भी। (पथ के साथी : पृष्ठ ३३७) इन दोनों उद्धरणों के अन्तर पर ग़ौर दीजिए। एक ओर तो गुलाबराय जी ने अपनी मूर्खता का इज़हार करके हास्य उत्पन्न करने की चेष्टा की है, वहाँ महादेवी जी ने गुप्त जी के व्यक्तित्व की विचित्र

बानगी अपनी समग्रता में अंकित की है। गुलाबराय जी में कुछ अतिरंजना रहती है, जब कि महादेवी जी यथातथ्य चित्रण में विश्वास करती हैं। उनका व्यंग्य गुलाबराय की तुलना में अधिक नुकीला रहता है। साहित्यिक-हास्य के ऐसे उदाहरण हिन्दी साहित्य में विरल हैं। 'पथ के साथी' के प्रारम्भ में लेखिका ने **गुरुदेव रवीन्द्र** को श्रद्धांजलि अर्पित की है, चूँकि लेखिका का गुरुदेव से वैयक्तिक घनिष्ट सम्पर्क न था, इसलिए उसमें अमूर्त्त भावनाओं की प्रधानता है। कहीं-कहीं रवीन्द्र का व्यक्तित्व उद्भाषित अवश्य हुआ है, पर वह भी श्रुत-ज्ञान पर आधारित हैं। अतः उसमें वह मार्मिकता सम्भव नहीं है, जो कि घनिष्ट सम्पर्कों के परिणामस्वरूप हुआ करती है। अनेक स्थानों पर लेखिका ने आधुनिक कवि-कुल गुरु का अत्यन्त ही वायवी विवरण प्रस्तुत किया है। कहीं-कहीं तो यह विवरण इतना क्लिष्ट एवं तर्क-संकुल हो जाता है कि पाठक का मन ऊबने-सा लगता है। फिर भी गुरुदेव के प्रति जो उन्होंने 'प्रणाम' निवेदित किया है, उसमें लेखिका के व्यक्तित्व के संस्पर्श के कारण एक प्रकार की आर्द्रता आ गई है : "तो क्या वह उसी वीणा का भस्मशेष है, जिसके तारों पर दीपक राग लहरता था ?" (वही पृष्ठ १३) यह ठीक है कि 'प्रणाम' में लेखिका के भाव निष्ठा के साथ उमड़े-घुमड़े हैं, पर फिर भी उसके सूक्ष्म विवरणों में पाठक का उत्साह दम तोड़ने लगता है। गुरुदेव के विराट जीवन की अनेक झाँकियाँ प्रस्तुत करने के बाद लेखिका इस संस्मरण का अन्त बड़े ही मार्मिक रूप में उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत करती है : "दीपक चाहे छोटा हो चाहे बड़ा, सूर्य जब अपना आलोकवाही कर्त्तव्य उसे सौंपकर चुपचाप डूब जाता है, तब जल उठना ही उसके अस्तित्व की शपथ है—जल उठना ही उसका जाने वाले को प्रणाम है।" (वही पृष्ठ १३)

उपर्युक्त उद्धरण की पहली पंक्ति में साहित्यकार-अग्रज ने अनजान में ही हमारे छोर में अपने उत्तराधिकार की जो गाँठ बाँधी है, वह कितनी मार्मिक एवं स्वाभाविक है। सूर्य के द्वारा दीपक को अपना उत्तराधिकारी बनाना, यद्यपि एक परम्परागत सत्य है, पर इस बात की ओर कितनों का ध्यान जाता है। प्रकारांतर से लेखिका के द्वारा आलोक-पुंज रवीन्द्र और दीपक के समान टिमटिमाने वाले समसामयिक साहित्यकारों की घनिष्टता एवं उत्तराधिकार-दान की अत्यन्त ही मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति हुई है।

'पथ के साथी' की प्रथम रेखा में गुप्त जी का तपोधनी एवं कर्मठ व्यक्तित्व उजागर हो उठा है। लेखिका का उनके साथ जो सम्बन्ध है, वह साहित्यिक परिवार के नेता दद्दा के प्रति एक गौरवपूर्ण श्रद्धांजलि है। दद्दा के साथ-साथ लेखिका का व्यक्तित्व भी प्रकीर्ण रूप से अंकित हुआ है, जिससे उनके मधुर सम्बन्धों की एक दिव्य झलक सहज ही उपलब्ध हो जाती है। गुप्त जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का बड़ा ही सुघर परिचय इस संस्मरण-रेखाचित्र में अत्यन्त ही कलापूर्ण शब्दावलि में मुखर हो उठा है : "अपने रूप और वेष दोनों में वे इतने अधिक राष्ट्रीय हैं कि भीड़ में मिल जाने पर शीघ्र ही खोज नहीं निकाले जा सकते !—उनके चौड़े ललाट पर क्रोध और दुश्चिन्ताओं की क्रूर लिखावट नहीं है। सीधी भृकुटियों में असहिष्णुता का कुञ्चन नहीं है, ऊँची नाक पर दम्भ का उतार-नहीं है और ओठों में निष्ठुरता की वक्रता नहीं है। जो विशेषताएँ उन्हें सबसे भिन्न कर देती हैं, वे हैं उनकी बँधी दृष्टि और मुक्त हँसी।" (वही पृष्ठ २०-२१) यहाँ पर गुप्त जी

के व्यक्तित्व का न केवल नकारात्मक विधान ही है, बल्कि उनके व्यक्तित्व की सर्वप्रधान मुखर विशेषता को लेखिका ने रेखांकित कर दिया है। इस परिचय में हमारे राष्ट्र-कवि का कितना सहज एवं प्रभावकारी रूप शब्द-चित्र में उभर आया है।

राष्ट्र-कवि के व्यक्तित्व का अन्तरंग विवरण देते हुए लेखिका ने निम्न निष्कर्ष निकाले हैं : "कभी-कभी तो उनका देखना और हँसना इस तरह साथ चलता है कि दृष्टि हँसती-सी लगती है और हंसी से दृष्टि का आलोक बरसता जान पड़ता है। वे स्वभाव से प्रसन्न और विनोदी हैं, पर इस प्रसन्नता और विनोद की चंचल सतह के नीचे गहरी सहानुभूति और तटस्थविवेक का स्थायी संगम है, जिस पर सबकी दृष्टि नहीं जाती। केवल विनोदी व्यक्ति की दृष्टि इतनी पैनी नहीं होती कि जीवन के बाह्य आवरणों को भेद कर तथ्य तक पहुँच सके और कवि के लिए यह पैनापन अनिवार्य है।" (वही, पृष्ठ २१) "बिजलीके पाजिटिव और नेगेटिव तारों के समान दो कोमल कठोर तार उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व में साथ-साथ फैले हुए हैं। उनके जीवन और साहित्य में उन तारों के ही संयोग का उजाला है।"(वही पृष्ठ २३) "साधारणत: परीक्षा के हथौड़े के नीचे प्रतिमा नहीं गढ़ी जाती, उल्टे उसके चूर-चूर हो जाने की सम्भावना रहती है। गुप्त जी उस हथौड़े के नीचे से निकल न भागे होते, तो हिन्दी को तिलक-कण्ठीधारी राष्ट्र-कवि न प्राप्त होता। (वही पृष्ठ २४)।

अब उनके **कृतित्व की रेखाएँ** पढ़िये : "साहित्य में उन्हें ऐसी कथाएँ चाहिएँ, जो लोक-हृदय में प्रतिष्ठा पा चुकी हों, पर उस परिधि के भीतर हर चरित्र का कुछ नया निर्माण उनका अपना है। वे रामायण को नहीं भूलते, पर रामायणकार जिन्हें भूल गया, उन चरित्रों को अपने ढँग से स्मरण करते हैं। वे महाभारत के स्थान में कोई अन्य कथा नहीं खोजेंगे, पर महाभारत के भीतर खोये किसी साधारण पात्र को खोज लेंगे। ये कथाएँ अनेक युगों की लम्बी यात्राओं का आँधी-पानी, धूप-छाया सहते-सहते धूमिल हो गई हैं, पर जिन्हें ये वहन करके लाई हैं, वे पात्र गुप्त जी के आँसुओं में घुल-धुलकर नये रंगों में उद्भाषित आज के प्राणी बन चुके हैं। उनके साहित्य में जो नया है, उसका मेरुदण्ड पुराना है और जो पुराना है, उस पर रँग नया है। (पृष्ठ २६)—पुरातन संस्कारों का घेरा उन्हें वंश-परम्परा से मिला है, पर उसमें नये आलोक को लाने वाले झरोंखों का निर्माण उनका अपना है।" (पृष्ठ २६) गुप्त जी के कृतित्व के नवनीत को लेखिका ने इतने सहज भाव से वाणी दी है कि ऐसा करना उनके निकटस्थ अन्तरंग सहयात्री या सहयात्रिणी द्वारा ही सम्भव था। समकालीन साहित्यिक बन्धुओं का ऐसा दिव्य आकलन हिन्दी साहित्य में और किसी ने नहीं किया और मुझे विश्वास है कि विश्व-साहित्य में भी ऐसे उदाहरण कम ही होंगे। लेखिका ने अपनी आत्मानुभूतियों को ही पिघला-पिघला कर संयम एवं विवेक की तूलिका द्वारा कुछ ऐसे मार्मिक चित्रों का निर्माण किया है कि हिन्दी साहित्य उन पर गर्व कर सकता है। इन संस्मरणों में राशि-राशि सूक्तियाँ एवं सुविचारित तथ्य बिखरे पड़े हैं। समीक्षक दुविधा में पड़ जाता है कि किसे उद्धृत करे और किसे छोड़ दे।

महादेवी जी ने गुप्त जी और निराला जी की स्नेह-मैत्री का विवरण इस प्रकार

दिया है : "थोड़ी देर बात करने वाले भी जिनका रुख देखते रहते हैं, उन्हीं निराला से गुप्त जी आधी रात तक सुख-दुख की कथा कहते-सुनते रहे और उन्हें समझाते-बुझाते रहे।" (पृष्ठ ३५) तात्पर्य यह कि गुप्त जी के जीवन का कोई भी पक्ष लेखिका के द्वारा अछूता नहीं रहा है। उनके अर्थ-कवच का सूक्ष्म विवरण देते हुए देवी जी कहती हैं : "अपने पितृव्य अग्रज की व्यवस्था के कारण ही गुप्त जी अर्थ-संकट के उस बवंडर में स्थिर रह सके हैं, जिसने इस युग के अधिकांश साहित्यकारों को कभी खाई में गिराकर और कभी पर्वतों पर पटककर चूर कर दिया है।" (पृष्ठ ३०) इसी प्रसंग में महादेवी जी ने 'रंग में भंग' कृति के सन्दर्भ में लेखक और प्रकाशक के संबंध पर भी आँखें खोल देने वाला विवरण प्रस्तुत किया है। विस्तार-भय से अब मैं **सुभद्रा जी के सखी-सुलभ संस्मरण** पर आता हूँ। हिन्दी साहित्य की इन दोनों कवयित्रियों के बीच कितना स्नेह-सौहार्द्र था, किस प्रकार वे बचपन और किशोरावस्था के आँगन में अठखेलियाँ करती थीं और किस प्रकार प्रौढ़ावस्था तक यह स्नेह-सम्बन्ध अभिन्न-अन्तरंग बना रहा, इसका अत्यन्त ही सूक्ष्म विवरण हमें प्रस्तुत संस्मरण में मिलता है। बचपन के सम्बन्धों में कैसे-कैसे मनोरम प्रसंग रहते हैं, इसकी एक दिव्य झलक लीजिए : "नित्य व्यवहार में आने वाली गणित की कापी को छिपाना सम्भव नहीं था, अतः उसके साथ अंकों के बीच में अनधिकार सिकुड़कर बैठी हुई तुकबन्दियाँ अनायास पकड़ में आ गईं। इतना दण्ड ही पर्याप्त था। पर इससे संतुष्ट न होकर अपराध की अन्वेषिका ने (सुभद्रा) एक हाथ में वह चित्र-विचित्र कॉपी थामी और दूसरे में अभियुक्ता की उँगलियाँ कसकर पकड़ीं और वह हर कमरे में जा-जाकर इस अपराध की सार्वजनिक घोषणा करने लगी।" (पृष्ठ ३८)ये झगड़ने वाली बालिकायें और कोई नहीं स्वयं लेखिका और सुभद्रा जी हैं। महान् लेखिका, कवयित्री, प्रिंसिपल और संपादिका का यह रूप कितना प्रेरणाकारी एवं सजीव है। देवी जी ने सुभद्रा जी के मोहक व्यक्तित्व, बाल-सुलभ चेष्टाओं और बाद में उनके दाम्पत्य जीवन की भी बड़ी अन्तरंग झलक दी है : "पत्नी की, अनुगामिनी, अर्धांगिनी आदि विशेषताओं को अस्वीकार कर उन्होंने भाई लक्ष्मणसिंह जी को पत्नी के रूप में ऐसा अभिन्न मित्र दिया, जिसकी बुद्धि और शक्ति पर निर्भर रहकर, जिसका अनुगमन किया जा सके।" (पृष्ठ ४५) सुभद्रा जी के पारिवारिक और कारागार-जीवन की अत्यन्त मोहमयी झाँकियाँ लेखिका ने प्रस्तुत की हैं।

'पथ के साथी' में तृतीय स्थान पर **निराला जी** विद्यमान हैं। उनका और लेखिका का मधुर सम्बन्ध तो हिन्दी साहित्य की एक जानी-मानी बात है। आरम्भ में ही लेखिका ने घोषणा की है : "एक युग बीत जाने पर भी मेरी स्मृति से एक घटाभरी अश्रु-मुखी सावनी पूर्णिमा की रेखाएँ नहीं मिट सकी हैं। उन रेखाओं के उजले रंग न जाने किस व्यथा से गीले हैं कि अब तक सूख भी नहीं पाये, उड़ना तो दूर की बात है। (पृष्ठ ५१) रक्षा-बन्धन में बँधा इन साहित्यिक भाई-बहिन का सम्बन्ध हिन्दी साहित्य की एक रोचक एवं अत्यन्त मानवीय घटना है। "मेरा प्रयास किसी जीवन्त बवन्डर को कच्चे सूत में बाँधने जैसा था या किसी उच्छल महानद को मोम के तटों में सीमित करने के समान, यह सोचने-विचारने का तब अवकाश नहीं था। पर आनेवाले वर्ष निरालाजी के

संघर्ष के ही नहीं, मेरी परीक्षा के भी रहे हैं।"(पृष्ठ ५१) हिन्दी साहित्य का समसामयिक इतिहास साक्षी है कि किस प्रकार लेखिका ने निराला के संकट के क्षणों में एक बहिन का स्वाभाविक स्नेह प्रदान किया और किस प्रकार वे यहाँ भी "विद्रोही भाई" प्रमाणित हुए।

निराला के अन्तरंग जीवन की एक झलक :"आले पर कपड़े की आधी जली बत्ती से भरा, पर तेल से खाली मिट्टी का दिया मानो अपने नाम की सार्थकता के लिए जल उठने का प्रयास कर रहा था। यदि उसके प्रयास को स्वर मिल सकता, तो वह निश्चय ही हमें, मिट्टी के तेल की दूकान पर लगी भीड़ में सबसे पीछे खड़े, पर सबसे बालिश्त भर ऊँचे गृहस्वामी की दीर्घ, पर निष्फल प्रतीक्षा की कहानी सुना सकता। रसोईघर में दो-तीन अधजली लकड़ियाँ, औंधी पड़ी बटलोई और खूँटी से लटकती हुई आटे की छोटी-सी गठरी आदि मानो उपवास-चिकित्सा के लाभों की व्याख्या कर रहे थे।" (पृष्ठ ५४) अन्तिम निष्कर्ष देखिये : "साहित्य के नवीन युगपथ पर निराला जी की अंक संसृति गहरी और स्पष्ट उज्ज्वल और लक्ष्य-निष्ठ रहेगी। इस मार्ग के हर फूल पर उनके चरण का चिह्न और हर शूल पर उनके रक्त का रंग है।" (पृष्ठ ६५) ऐसे शत-शत उदाहरण इन संस्मरणों में बिखरे पड़े हैं और अपनी निरुपम आभा से साहित्य के सहृदय पाठक के मन को मोह लेते हैं।

'पथ के साथी' की चौथी रेखा **प्रसाद**, पाँचवीं **पन्त** और छठी **सियारामशरण गुप्त** पर है। इन सभी संस्मरणों में हम लेखिका की अनुभूति और अभिव्यक्ति को अपने उच्च धरातल पर पाते हैं। अपने मन की मधुरिमा से और तत्वदर्शिनी बुद्धि से लेखिका ने ऐसे शब्द-चित्रों का निर्माण किया है कि इनकी आभा कभी धूमिल नहीं पड़ सकती, अपितु इसके उज्ज्वलतर से उज्ज्वलतम ही होने की संभावना है। दोनों साहित्यकारों के प्रथम और अन्तिम मिलन की एक झलक : "मेरी हँसी देखकर या मुझे मेरे भारी-भरकम नाम के विपरीत देखकर प्रसाद जी ने निश्छल हँसी के साथ कहा—आप तो महादेवी जी नहीं जान पड़तीं। मैंने वैसे ही प्रश्न में उत्तर दिया—आप ही कहाँ कवि प्रसाद लगते हैं, जो चित्र में बौद्ध-भिक्षु जैसे हैं।" (पृष्ठ ७०)

पन्त जी के निकट सम्पर्क में आने का लेखिका को पुनः-पुनः अवसर मिला है। इसीलिए उसके विवरण में एक आत्म-विश्वास एवं दृढ़ता मुखरित होती है : "सुमित्रा-नन्दन जी का स्वभाव आज भी कोमल है और शरीर आज भी सुकुमार है, अनुभवों ने इस कोमलता और सुकुमारता पर एक आर्द्रता का पानी ही फेरा है—जिस प्रकार आकाश की ऊँचाई से गिरनेवाला जल किशलयों और फूलों पर स्वच्छता के अतिरिक्त और कोई चिह्न नहीं छोड़ता, उसी प्रकार संघर्षों ने उनके जीवन पर अपनी रूक्षता और कठोरता का इतिहास नहीं लिखा है।" (पृष्ठ ८५) इसी प्रकार व्यंग्य-विनोद की एक साहित्यिक झलक : "परिग्रह की दृष्टि से वे चिरकुमार सभा के आजीवन अध्यक्ष हो सकते हैं। आरम्भ में उनकी गृहस्थी के लिए परिस्थितियाँ बाधक रहीं और जब परिस्थितियों ने अनुकूलता दिखाई, तब उनकी मानसिक सन्ततियों की अनन्तता ने उनका मार्ग रोक दिया।" (पृष्ठ ८७-८८) साहित्यिक व्यंग्य का ऐसा निरुपम उदाहरण हिन्दी साहित्य में विरल है।

करुणा के कवि सियारामशरण का सम्पूर्ण जीवन रोगों के प्रति अनन्त संघर्ष का एक यातनामय इतिहास है : "फर्श पर एक ओर पुस्तकों की पंक्तिबद्ध सेना और दूसरी ओर चीन की दीवार की तरह शीशियों और डिब्बों के प्राचीर के बीच में कभी बैठे, कभी लेटे हुए भाई सियारामशरण जी का चित्र देना सहज नहीं है। उस चार फुट चौड़े और ६ फुट लम्बे आयतन में, जीवन और व्याधि के कितने ही संघर्ष होते हैं, कितने ही हर्ष-विषाद के क्षण आते-जाते हैं, कितने ही एकान्त और कोलाहल बनते-मिटते हैं और कितने ही तर्क और विश्वास के संगम होते रहते हैं।" (पृ० ९४) उनके कृतित्व का सार-गर्भित परिचय एक पंक्ति में देखिये : "उनका साहित्य पंक का कमल न होकर उनके दुग्धोज्ज्वल चरित्र का स्वच्छ परिचय है।" और यही बात हम महादेवी जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के सम्बन्ध में कह सकते हैं। 'पथ के साथी' के मार्मिक तूलिका-चित्र भी इन शब्द-चित्रों से कम महत्व के नहीं हैं। ऐसी कला-स्नात एवं विमल संस्मरण-सृष्टि, हिन्दी साहित्य के एक गौरवपूर्ण अध्याय की आधारशिला रखेगी, इसमें मुझे किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं है।

रसिक बिहारी

रवीन्द्रनाथ की कहानियों में नारी : एक विवेचन

प्रत्येक साहित्यकार का अपना एक जीवन-दर्शन होता है। जगत और जीवन के सम्बन्ध में उसकी अनुभूति और धारणा धीरे-धीरे उसके मन में इस दर्शन को गढ़ती है। फिर साहित्यकार का अपना एक दृष्टिकोण बनता है। अपनी सृष्टि में वह इसी जीवन-दर्शन के आधार पर सब-कुछ का मूल्यांकन करता है। रवीन्द्रनाथ में यह बात हम विशेष रूप से पाते हैं। और रवीन्द्रनाथ के जीवन-दर्शन की जितनी सुन्दर अभिव्यंजना उनकी कहानियों के नारी-चरित्रों में हुई है इतनी उनकी किसी अन्य साहित्यिक विधा में नहीं हुई है। इस दृष्टि से उनकी तुलना कुछ हद तक डी० एच० लॉरेन्स से की जा सकती है। लॉरेन्स के जीवन-दर्शन की अभिव्यंजना भी उनके नारी-चरित्रों में ही विशेषरूप से हुई है।

रवीन्द्रनाथ ने अपने परिणत जीवन-दर्शन के प्रकाश में नारी के द्विविध रूप का प्रत्यक्षीकरण किया है। इनमें एक वर्ग प्रधानतः माँ का है, और दूसरा प्रिया का :

'एक जनो उर्वशी, सुन्दरी,
विश्वेर कामना राज्ये रानी,
स्वर्गेर अप्सरी,
अन्यजना लक्ष्मी से कल्याणी,
विश्वेर जननी तारे जानि,
स्वर्गेर ईश्वरी।'

—'दूई नारी' (बलाका)

सामान्यतः सम्पूर्ण रवीन्द्र-साहित्य इन दो प्रकार की नारी-सत्ताओं की कल्पना से ओत-प्रोत है। रवीन्द्रनाथ की कहानियों में नारी मुख्यतया इन्हीं दो रूपों में अपनी सारी भलाई और बुराई को लेकर हमारे सामने उपस्थित होती हैं। वे कभी हँसती-रोती हैं, कभी प्यार-डाह करती हैं, या नीचता-स्वार्थपरता और महानता-उदारता के भावों का प्रदर्शन करती हैं। उन्हें हम दो परस्पर विरोधी लहरों पर उतरते-डूबते देखते हैं। उनके हृदय-समुद्र में चलते हुए तूफान को भी हम देखते हैं।

यद्यपि रवीन्द्रनाथ की कहानियों में विशेष रूप से नारी की यही द्वैतसत्ता प्रकट हुई है, तो भी उनकी कहानियों का अगर विश्लेषणात्मक दृष्टि से अध्ययन किया जाय तो नारी के चार रूप हमारे सामने आते हैं। वे हैं :

(क) संसार, समाज और व्यक्तिविशेष की वेदी पर आत्म-विसर्जिता नारी का रूप—नारी विरोधी शक्ति के सामने नत-मस्तक होकर अधीनता, हार और अवमानना

स्वीकार कर लेती है। यदि उसने प्रतिवाद किया है तो वह मुखर नहीं नीरव होता है। उसकी मृत्यु ही जैसे यह प्रतिवाद होता है।

(ख) मर्यादा में सुप्रतिष्ठित और उग्र व्यक्ति-स्वातंत्र्य से प्रकाशित नारी का रूप—नारी कुसंस्कार और पराधीनता के खिलाफ बगावत करती है। उन्नीसवीं शताब्दी में स्त्री-स्वतन्त्रता की जो लहर संसार के उन्नत देशों में प्रवाहित हुई थी नारी का यह रूप उससे प्रभावित प्रतीत होता है।

(ग) नारी का माधुर्यमय कल्याणी रूप, और

(घ) नारी का स्वार्थ-संकुल और कामना-कुटिल दानवी रूप।

पहले प्रकार के नारी-चरित्र की मिसाल हैं 'देना-पावना', 'कंकाल', महामाया', 'हैमन्ती', 'शास्ति' और 'प्रगति-संहार' आदि कहानियों की नायिकायें। इन कहानियों की नायिकाओं का जीवन 'ट्रेजेडी' से भरपूर है। किसी भी स्त्री का कोई कसूर नहीं है। लेकिन फिर भी वे अपने जीवन की सार्थकता का रसास्वादन करने से पहले ही समाज के निष्ठुर आघात और अत्याचार द्वारा असमय ही कुचल दी जाती हैं। वे सब चुपचाप तरह-तरह के अवांछित अत्याचार सहती हैं। अन्त में मृत्यु को भी। थोड़ा भी प्रतिवाद नहीं करतीं। यह नीरवता ही जैसे उनका प्रतिवाद है। तभी हम 'देना-पावना' में निरुपमा की बेबस खामोशी के साथ ससुराल के लोगों के बेहिसाब ताने और दुर्व्यवहार को सहते हुए पाते हैं। हालाँकि उसका कोई कसूर नहीं है। शादी के समय निरुपमा के पिता कन्या-धन की पूरी रकम अदा नहीं कर पाये थे। अन्त में जब वे सब तरह से तबाह होकर अपने मकान को बेचकर बाकी रुपया अदा करने आये तब निरुपमा ने वह रुपया नहीं देने दिया। ससुराल वालों ने जब यह बात सुनी तो उस पर जुल्म की मिकदार और बढ़ गई। अनेक आघात और अपमान का बोझा ढोते हुए चुपचाप आत्मनिग्रह के पथ का अनुसरण करके वह मृत्यु की शीतल और शान्तिमयी गोद का आश्रय ढूंढ़ने लगी। निरुपमा मर गई।

दूसरी कहानी 'कंकाल' की नायिका रूपवती और 'सेलफ-काम्प्लेसेन्ट' आत्म-प्रेम-मुग्धा है। बहुत कम उमर में विधवा हो गई है। यौवन में उसने अपने बड़े भाई के मित्र शशिशेखर से प्यार किया। शशिशेखर भी उसे चाहता है। लेकिन उनके मिलन में सामाजिक विधि-निषेध ने एक दुर्लंघ्य बाधा की सृष्टि की। वह विधवा थी। इस विधि-निषेध के दायरे से निकलकर वह एक बार भी शशिशेखर को अपने मन की बात नहीं कह सकी। सामाजिक संस्कार के सामने उसने अपना सिर झुका दिया। अन्त में उसने कायरों की तरह चोरी से शशिशेखर को ज़हर दिया, और खुद भी जहर खाकर मर गई।

इस कोटि की तीसरी कहानी में महामाया अपने प्रेमास्पद राजीव से यह वायदा करके कि वह उसके पास आएगी, अपने स्वाभाविक स्वरूप में उसके पास नहीं आती। एक अवगुंठन के अन्तराल में अपने प्रकृत रूप को छिपाकर एक रहस्यात्मक ढंग से राजीव के पास आती है। इस महामाया को राजीव नहीं जानता। उसके इस रूप की वह कल्पना भी नहीं कर सकता। महामाया की यह दुर्दशा हुई है सामाजिक अंधविश्वास को बिना प्रतिवाद किये मान लेने के कारण। राजीव के पास आने से पहले ही सामाजिक कुप्रथा

के खड्ग घात से उसकी आत्मा की मृत्यु हो जाती है। केवल एक चलता-फिरता शव ही राजीव के पास आता है।

"हेमन्ती" की नायिका हेम की स्थिति भी बहुत कुछ 'देना-पावना' की निरुपमा की तरह है। वह सब समझती है, सब जानती है। सत्य के सहारे ही जीना वह चाहती है। पर समाज उसे वह मौका नहीं देता। ससुराल के जुल्म के खिलाफ सिर उठाकर अपने व्यक्तित्व को प्रतिष्ठित करने का चारित्रिक बल उसमें नहीं है। यह भीरुता ही अन्त में उसका काल बनती है। मृत्यु में ही उसके जीवन का स्वाभाविक पर्यवसान होता है।

पाँचवीं कहानी की नायिका चन्दरा पूरी तरह निरपराध होने पर भी समाज के अन्धे न्याय से खूनी साबित होती है। वह एक बार भी इसके विरोध में सवाक् प्रतिवाद बिना किए फाँसी की रस्सी अपने गले में पहन लेती है। उसका प्रतिवाद नीरव घृणा के माध्यम से हुआ है। चन्दरा की यह घृणा है अपने पति के प्रति, समाज के प्रति। लेकिन यह घृणा बाहर नहीं प्रकट होती। अन्त में पूरा समाज ही ज़हर की तरह कड़वा हो जाता है उसके लिए। फिर भी समाज को त्याग कर जीने की कल्पना नहीं कर सकती वह। यही चन्द्रा के चरित्र की दुर्बलता है। इसीलिए वह स्वेच्छा से मृत्यु का वरण करती है और बिना किसी हिचक के अपने ऊपर आरोपित झूठे इल्ज़ाम को मान लेती है।

इस पर्याय की आखिरी कहानी, 'प्रगति-संहार' (जो रवीन्द्रनाथ की अन्तिम कहानी है) की नायिका सुरीति अपने प्रेमी नीहार पर सब-कुछ निछावर कर देती है। पर नीहार की सर्वग्रासी लोलुपता में उसके आत्म-विलयन का कोई भी तर्कसंगत कारण हम नहीं ढूँढ़ पाते।

दूसरी तरह के नारी रूप का स्पष्ट चित्रण हुआ है, 'दीदी' 'मानभंजन', 'स्त्रीर-पत्र', 'पयला नम्बर', 'बदनाम' आदि कहानियों में। इन कहानियों के नारी-चरित्र पहली कोटि के नारी-चरित्रों के मुकाबले में बहुत ज्यादा स्वतंत्र और प्रबल हैं। सत्य की प्रतिष्ठा के लिए, व्यक्ति-स्वातंत्र्य के लिए, प्राप्य वस्तु की उपलब्धि के लिए ये स्त्रियाँ अन्याय, झूठ और अन्ध-विश्वास के विरोध में सवाक् प्रतिवाद करती हैं। अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिए ये संसार, समाज, अपने-पराये—किसी की परवाह नहीं करतीं। सब-कुछ तहस-नहस कर देने को हमेशा तैयार रहती हैं। ये नारी-पात्र अपने व्यक्तित्व को सर्वोच्च आसन पर स्थापित करना चाहती हैं। उसकी अप्रतिष्ठा उन्हें किसी भी हालत में मान्य नहीं है। इस व्यक्तित्व-स्थापना की आकांक्षा के सामने सब-कुछ तुच्छ है—मृत्यु भी।

'दीदी' कहानी की नायिका शशिकला के चरित्र में हमें भाई के प्यार के सन्दर्भ में उसके सुस्थिर व्यक्तित्व और सत्यनिष्ठा का परिचय मिलता है। इसलिए वह भारतीय नारी की तथाकथित पति-भक्ति का परिहार करके मजिस्ट्रेट के पास पति के विरुद्ध अभियोग लेकर उपस्थित होती है और भाई की रक्षा की आतुर कंठ से प्रार्थना करती है। पति के क्रोध और प्रतिहिंसा से तनिक भी नहीं डरती। अन्त में उसकी मृत्यु हो जाने पर भी उसका नारीत्व और व्यक्तित्व अक्षुण्ण बना रहता है।

दूसरी कहानी में गिरिबाला पति द्वारा तिरस्कृत और अपमानित होकर सचेतन हो उठती है। अपना मूल्य समझकर अपने व्यक्ति की प्रतिष्ठा में सचेष्ट हो जाती है।

गिरिबाला की सार्थकता के मूल में है उसका दृढ़ चरित्र—तेजस्वी व्यक्तित्व। पति उसका निरादर करता है, उसे नहीं चाहता, इसलिए वह अभिमानवश चन्दरा—'शास्ति' की नायिका की तरह मरना नहीं चाहती। बल्कि ज़िद करके, आत्मविश्वास का सहारा लेकर सीधे खड़े होने की कोशिश करती है; और आखिर में कामयाब भी होती है।

'स्त्रीर पत्र' में मृणाल अपने एकरस गार्हस्थ्य जीवन के पिंजरे से आजिज़ आकर अपने वधुत्व को ही केवल अस्वीकार नहीं करती, मुक्ति की घोषणा करती है। नारी के लौह-कठोर व्यक्तित्व का स्फुरण हुआ है इस चरित्र में। मृणाल किसी भी तरह चुपचाप ज़ुल्म सहने के लिए राजी नहीं। स्त्री-जाति पर समाज द्वारा आरोपित पाषाण-भार को अपने तीव्र व्यक्तित्व के प्रबल आघात से फेंककर चकनाचूर कर देना चाहती है। मुक्ति के आलोक-स्वप्न ने मृणाल के मन-प्राण को चंचल बना दिया है।

'पयला नम्बर' की अनिला अपने नारीत्व की मर्यादा को बनाये रखने के लिए समाज और पति—दोनों को त्याग देती है। अनिला के गृह-त्याग का कारण उसकी प्रबल मुक्ति-कामना है। वह मुक्ति चाहती है संकीर्णता से, हीनता से।

'बदनाम' शीर्षक कहानी में सौदामिनी ने नारी के सम्बन्ध में प्रचलित सतीत्व की धारणा के मूल में कुठाराघात किया है। एक तरफ तो वह पति की सेवा करती है जी जान से, दूसरी तरफ उसे धोखा भी देती है। वह व्यक्तिगत भावनाओं से अधिक महत्त्व मुल्क की आज़ादी को देती है। हुब्बेवतनी का जज़्बा ही उसके व्यक्तित्व में एक निखार ला देता है। इस श्रेणी के स्त्री-पात्रों की सबसे बड़ी विशेषता है उनकी चरित्रगत बलिष्ठता। ये ही गौरव के साथ कह सकती हैं—

आमी नारी, आमी महीयसी,
आमार सुरे सुर बँधे ज्योत्सना-वीणाय निद्राविहीन शशि।
आमी नइले मिथ्या हतो सन्ध्या तारा उठा,
मिथ्या हतो कानने फूल फोटा।'

—'मुक्ति'—'पलातका'।

नारी के माधुर्यमण्डित कोमल और कल्याणी-रूप के प्रसंग में 'मेघ ओ रौद्र' की गिरिबाला, 'समाप्ति' की मृण्मयी, 'ताराप्रसन्नेर कीर्ति' की दाक्षायणी और 'रविवार' की विभा की याद आती है। ये सब की सब नम्र, मधुरभाषिणी, धीर, शान्त और संयत हैं। गिरिबाला अपने हृदय की समस्त माधुरी का अर्घ्य सजाकर जेल से लौटे शशिभूषण का स्वागत करती है। मृण्मयी भी अपने नवोन्मेषित मधुर प्रेम से अपूर्व को निवेदन करती है। तीसरी कहानी में यद्यपि दाक्षायणी मर जाती है, तो भी पति के प्रति उसके अकृत्रिम अनुराग का सलज्ज-मधुर-कल्याणमय चित्र हमेशा के लिए हमारे मन में घर कर जाता है। और 'रविवार' की नायिका विभा की शान्त, संयत, प्रेममयी मूर्ति ही अमीक को आत्म-प्रतिष्ठित होने की प्रेरणा देती है।

चौथी श्रेणी के नारी रूप के दृष्टान्त स्वरूप मणिमाला ('मणिहारा'), किरणलेखा (हालदार गोष्ठी), कलिका (संस्कार) अमिया (नामंजूर कहानी) आदि नाम उल्लेखनीय हैं। नारी-चरित्र के तमसावृत अंश का दिग्दर्शन कराया गया है इनके माध्यम से। इनमें

से हर एक अपने हीन-कुटिल स्वार्थ की पूर्ति में ही रमी हुई है। यह स्वार्थसिद्धि ही उनके जीवन की एक मात्र काम्य वस्तु है। मणिमाला पति के प्रेम को नहीं समझती, सिर्फ गहना समझती है। गहनों का स्पर्श उसे अच्छा लगता है। अपनी पेटी में बड़े करीने से सजाकर के रखती है उन्हें। उसके लिए प्रेम अर्थहीन है, आभूषण ही सब कुछ है।

किरणलेखा में किसी महत्व की बात को समझने की लियाकत नहीं है। अपने संकीर्ण मन के कारण कुलीनता का झूठा चेहरा पहने बैठा रहना पसन्द करती है। दूसरों की तकलीफ में हमदर्दी जाहिर करना वह नहीं जानती। इसीलिए अपने पति के नेक काम में किसी तरह की दिलचस्पी तो उसे है ही नहीं, उलटे उसमें अड़ंगा लगाया करती है। बड़ी 'टिपिकल' औरत है। कलिका बड़ी-बड़ी बातें करने वाली है। देश सेवा, समाजसुधार और अछूतोद्धार सम्बन्धी सभा सोसाइटियों में जाती है। पर उसका मन उदात्त भावों से बिल्कुल अछूता है। अन्त्यजों से वह घृणा करती है। असल में उसका संकुचित मन ही आफत की जड़ है जो किसी भी प्रगतिशील विचार को ग्रहण नहीं कर सकता। और अमिया भी बहुत कुछ ऐसी ही है। अपने स्वार्थ के लिए देश-प्रेम की बात करती है। पर उसके मुँह की बात मन की बात नहीं होती।

उल्लिखित चरित्र-विश्लेषण में रवीन्द्रनाथ की कहानियों में चित्रित चार प्रकार के नारी-चरित्रों का परिचय मिलता है। लेकिन इसके अलावा रवीन्द्रनाथ की कहानियों में हमें कुछ विचित्र प्रकार के नारी-चरित्रों की भी मिसाल मिलती है। जैसे 'लेबोरेटरी' नामक कहानी की सोहिनी। डॉक्टर श्रीकुमार बन्दोपाध्याय ने अपने ग्रन्थ 'बंग साहित्ये उपन्यासेर धारा' में सोहिनी के विषय में लिखा है—'सोहिनी भविष्य की नारी का एक अस्पष्ट रेखा-चित्र है, जिसमें उसका चेहरा साफ-साफ नहीं उभर पाया है।'

लेकिन सोहिनी किसी 'टाइप' का प्रतिनिधित्व नहीं करती। यह पूर्णतया एक विच्छिन्न और स्वतन्त्र चरित्र है। वह एक वृन्तहीन पुष्प की तरह है जो अपने आप विकसित हो उठा है। न वह जाया है न जननी। प्रचलित अर्थ में उसे एक सती-साध्वी नारी भी नहीं कहा जा सकता। सोहिनी एक बेजोड़ मिसाल है। रवीन्द्रनाथ के किसी अन्य नारी-चरित्र से उसकी तुलना नहीं की जा सकती। उसके व्यक्तित्व में जो चमक है वह उसे दूसरे चरित्रों से बिल्कुल अलग कर देती है। सोहिनी बंगरमणी नहीं है। उसका अपना कोई भी समाज नहीं है। वह 'आइडियेलिस्टिक रियेलिस्ट' है। रवीन्द्रनाथ की कथा-कृतियों में सोहिनी का चरित्र विच्छिन्नता 'एक्सक्लूसिवनैस' का एक उपयुक्त उदाहरण है।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि रवीन्द्रनाथ ने नारी-चरित्र का बड़ा सूक्ष्म निरीक्षण तथा विचार किया है। दुनिया में न कुछ बिलकुल अच्छा होता है न बिल्कुल बुरा। अच्छे-बुरे के मेल से ही दुनिया बनी है। रवीन्द्रनाथ ने नारी-चरित्र की सृष्टि किसी एक पूर्व-निश्चित धारणा के सहारे नहीं की है। अनुभूति-लब्ध जीवन-दर्शन के प्रकाश में नारी के जिन विभिन्न रूपों का प्रत्यक्षीकरण सम्भव था, उनको ही अपनाया है उन्होंने। और फिर वे प्रकट हुई हैं रवीन्द्रनाथ की कथा-कृतियों और नाटकों में। उनकी कहानियों में नारी की सृष्टि उनकी वास्तव अनुभूति के आधार पर हुई है इसका सबसे बड़ा प्रमाण उनकी अपनी उक्ति है: 'मैं कहूँगा, मेरी कहानियों में वास्तव का अभाव कभी नहीं

हुआ। (मैंने) जो कुछ लिखा है खुद देखा है, अन्तर में अनुभव किया है, वह मेरी प्रत्यक्ष अनुभूति है।'[1] गल्पकार रवीन्द्रनाथ द्वारा सृजित सब प्रकार के नारी-चरित्रों में पारिवारिक सम्पर्क-निरपेक्ष नारी के रूपांकण और उसके वैयक्तिक चित्त के उद्बोधन में उनका कृतित्व सर्वाधिक है। यद्यपि रवीन्द्रनाथ की कहानियों में हमें आदर्श नारी की कोई स्पष्ट कल्पना नहीं मिलती फिर भी उसका इंगित जरूर मिलता है। विभा (रविवार) में और नवयौवना मृण्मयी (समाप्ति) में। उनकी दृष्टि में आदर्श नारी सम्भवतः वही है जिसमें प्रकाश-अन्धकार एक साथ सम्मिश्रित हुआ है—जिसमें तेजस्विता के साथ माधुर्य का भी सायुज्य है।[2]

ना० रामसुब्रमण्यन्

राष्ट्र-कवि सुब्रमण्य भारति

भारतीय राष्ट्र-कवियों में, मद्रास के श्री सुब्रमण्य भारति का ऊँचा स्थान है। यद्यपि, आज के राजनीतिज्ञ, एवं जनसाधारण भारतीय एकता के बारे में, धूम-धाम से रंगमंचों में आवेगपूर्ण शब्दों से चिल्लाते रहते हैं, आज से तैंतालिस वर्ष पहले, दक्षिण में एक साधारण धोती पहने हुए एक कवि के, ओज पूर्ण, स्नेहमय, भावपूर्ण शब्दों की धारावली की ओर यदि मुड़कर देखें, तो पता चलेगा कि अंग्रेज़ शासन के बीच में एक सिंह गरज रहा था। भक्ति से लेकर राष्ट्रीयता विषयों तक वह घनघोर बादल अंग्रेज़ी साम्राज को चेतावनी देते हुए, कविता की वर्षा कर रहा था। ये कविताएँ न तो अटपटी भाषा में थीं, न पुराने साहित्य से नकल की गई थीं। ये कविताएँ आत्मा को भाव-विभोर करते हुए सारे मनुष्यों के शरीर में कम्पन पैदा करती थीं। आनन्द, धैर्य, वीरता, एवं माधुर्य की भावनाओं को जगाने में ऐसी शक्ति शायद ही अन्यत्र थी। यह कविता प्रवाह केवल बीस-पच्चीस साल के एक युवक के वागिन्द्रियों से उत्पन्न होता था। वह था श्री सुब्रमण्य भारति।

सन् अठारह सौ बयासी में मद्रास के एट्टयपुरम् नामक स्थान में इनका जन्म हुआ। पिता श्री चिन्नस्वामी अय्यर थे। माता थी, श्रीमति लक्ष्मी अम्माल्। भारति

१. रवीन्द्र रचनावली, खण्ड १४ (ग्रन्थ परिचय, पश्चिम बंग सरकार द्वारा प्रकाशित संस्करण)
२. संदर्भ-ग्रन्थों की सूची (मूल बंगला में)
   १. रवीन्द्रनाथ : गल्प गुच्छ (४ खण्ड)
   २. प्रमथनाथ बिशी : रवीन्द्रनाथेर छोट गल्प
   ३. श्रीकुमार बन्दोपाध्याय : बंग साहित्ये उपन्यासेर धारा
   ४. पुलिनविहारी सेन (सम्पादित) : रवीन्द्रायन (२ खण्ड)
   ५. रवीन्द्रनाथ : संचयिता

तिरुनेलवेली के हिन्दू कालेज में पाँचवीं कक्षा तक पढ़ा था। ग्यारहवें साल में एट्टयपुरम् के समस्थान विद्वानों ने इनको 'भारति' की उपाधि दे दी।

सन् १८९७ में कुमारि चेल्लाम्माल से इनकी शादी हुई। १८९८ में पिताजी स्वर्गवास हुए। उसी साल इन्होंने काशी पहुँचकर, चार साल तक संस्कृत, हिन्दी आदि भाषाओं को सीख लिया। उसके बाद मदुराई की 'विवेक भानु' नामक पत्रिका में इन की पहली कविता छपी थी। मदुराई में सेदुपति हाईस्कूल में कुछ समय तामिल पढ़ाते थे।

सन् १९०८ में जब वे 'इण्डिया' दैनिक में काम करते थे, तब राज्य की ओर से उन्हें कैद करने की आज्ञा हुई। वे मद्रास छोड़कर, पुतुच्चेरी (आज का पाण्डिचेरी) पहुँच गये जो फ्रैंच शासन के अधीन था। उसके बाद कई जगह घूमते रहे। आखिर मद्रास में १९२१ में इन का देहावसान हो गया।

तामिल साहित्य में भारति ने एक नया युग प्रारम्भ कर दिया। समाज की विभिन्न स्थितियों को गौर से देखकर जनसाधारण के लिए ही इन्होंने कविताएँ लिखीं। ये कविताएँ इतनी सरल एवं प्रवाहमयी थीं कि हर एक बच्चा आसानी से दुहरा सकता था। इनकी कविताओं को निम्नलिखित वर्गों में बाँट सकते हैं :—

१. राष्ट्र सम्बन्धी—५३ कविताओं में इनकी राष्ट्रीय भावनाओं को देख सकते हैं। भारत के जन समाज की दयनीय स्थिति, भारत माँ को स्वतन्त्र रखने के लिए क्या-क्या करना चाहिए, राष्ट्रीय झंडा, भारत समाज, स्वतन्त्रता की महिमा, इत्यादि। शिवाजी, गोखले, तिलक, लाजपत राय, दादाभाई नौरोजी, चितम्बरनाथ, गुरु गोविन्द, आदि कई राष्ट्रीय पुरुषों के बारे में सरल सुबोध एवं ओजपूर्ण, लेकिन जनरंजक गीत गाए। "भारत का समाज एक है, तीस करोड़ आतमाओं का संघ है, वह महान है, इनमें किसी एक को रोटी न मिली तो, सारे जगत को जला देंगे।" इन शब्दों में कितनी महान योजनाओं की भावनाएँ तरंगित होती हैं। "एक ही समाज" की कल्पना, उन्होंने पहले ही कर डाली। आज उसकी प्रतिध्वनि ही सुनाई देती है। इन सारी कविताओं में वह शक्ति है, जो फ्रांस में, रूसो, वालटेर के शब्दों में थी। इतना ही नहीं भविष्यवाणी के रूप में भी एक कविता रची है। वह है 'आडुओं मे पल्लु पाडुओ मे' इसमें कहते हैं," आनन्द स्वतन्त्रता मिल गई, इसलिए, नाचेंगे, गाएँगे। खेतीबाड़ी और उद्योगों की वन्दना करेंगे। इस भूमि में हम किसी के दास नहीं हैं, आदि। सन् १९४७ में हमें जो स्वतन्त्रता मिली, इस की कल्पना, सन् १९२१ में ही हो गई थी। इसके साथ ही, "नया रूस" नामक कविता में 'ज़ार' कैसे मारा गया, 'वहाँ' विद्रोह कैसे हुआ आदि का वर्णन है। अतः ज़ार के अत्याचारों का सांगोपांग वर्णन है। इसके द्वारा अंग्रेज़ों को चेतावनी देते हैं। इस प्रकार सारी कविताएँ वास्तविकता का एक जीता जागता चित्र हैं। अतः निश्चय ही राष्ट्रीय भावनाओं को जगाने की इनमें अवर्णनीय शक्ति थी। "स्वर्ण-राशि-भारत, हमारा राज है," इत्यादि इसका उदाहरण हैं।

२. भक्ति सम्बन्धी कविताएँ—एक नये युग के कवि होने पर भी सुब्रमण्यम भारति भारतीय परम्परा की भक्ति को खुले दिल से प्रोत्साहन देना चाहते हैं। अतः विनायक, कार्तिकेय, शिव शक्ति, महाशक्ति, महाकाली, श्री कृष्ण, आदि कई देवताओं

की महिमा का यशोगान करते हैं। कृष्ण के साथ उनका अपार प्रेम था। नन्दलाल का जन्म, उनकी मुरली, उनके पैर का सौन्दर्य आदि के बारे में भक्तिपूर्ण वर्णन किया है। राधा का प्यार, प्रेमी-प्रेमिका की रीतियों पर प्रकाश डालता है। ईसा, अल्ला, सूरज, चाँद और न जाने कितने ही देवताओं का उन्होंने आत्मीयता के साथ समान रूप से वर्णन किया है।

उनका विशाल हृदय सबकी ओर आकृष्ट हुआ है। भक्ति सम्बन्धी गीतों में, प्रार्थना, प्रेम आदि के साथ-साथ, राष्ट्र-भावना का भी संयोग हुआ है।

३. वेदान्त सम्बन्धी कविताएँ—आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध में भारति की भावनाएँ पक्की थीं। वे यमराज को भी धमकी देते हैं। सिर पर आसमान टूटकर गिरने पर भी डर नहीं है। माया को फटकारते हैं, बुद्धि को ईश्वर मानते हैं। मन को वश में रखना, दूसरों को प्यार करना, विरोधियों को भी करुणा से देखना आदि भावनाओं को कई अमूल्य कविताओं में भर लिया है। उनका विचार है, कि भगवान मनुष्य में बुद्धि बन कर रहते हैं। अतः बुद्धि की अवहेलना, परमात्मा की अवहेलना है।

४. स्त्री सम्बन्धी कविताएँ—वे भारतीय नारियों को रसोई घर में मरते हुए नहीं देख सकते थे। भारतीय महिलाएँ ताली बजाते हुए गाती हैं कि पुस्तकों को स्त्रियों द्वारा छूना, पाप समझने वाले, मर गए। घर में स्त्रियों को बन्द रखने वाले विचित्र मनुष्य आज सिर नीचा करते हुए जा रहे हैं। हम तालियाँ बजाकर गाएँगी। इन्होंने नारियों का पुनरुद्धार, उनकी शिक्षा, उनकी उन्नति के बारे में कई कविताएँ रची हैं।

बच्चों को भी इन्होंने नहीं छोड़ा। "हे बच्चो, दौड़कर खेलो। शान्ति से मत बैठो। सबसे मिलकर खेलो। किसी भी बच्चे को दुःख मत दो। मुर्गी, कौआ, गाय, कुत्ता, घोड़ा, बकरी आदि सब तुम्हारे ही मित्र हैं। उनसे प्यार करो। सुबह पढ़ो, फिर गीत गाओ। शाम को खेलो। यही तुम्हारी आदत होनी चाहिए। झूठ मत बोलो। ईश्वर हमारे साथी हैं। अतः कोई दुःख नहीं होगा।" ये उपदेश हैं, लेकिन साथ ही नन्हें-नन्हें मुन्नों को वशीभूत करने वाले गीत हैं। गेय पद हैं, फिर भी एक झनझनाहट है। पूरी-पूरी मिठाइयाँ हैं।

५. प्रकृति सम्बन्धी कविताएँ—प्रकृति और भारति में एक अपूर्व सम्बन्ध था। सुबह, शाम, चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र, वर्षा, अग्नि, धूमकेतु, अन्धेरा और रोशनी, शब्द कविता-नायिका, कविता-प्रेमिका, मधु आदि कई प्राकृतिक विषयों पर इन्होंने, कविता रची हैं। इनमें सरलता, एवं माधुर्य है। भाव पूर्ण हैं, और मनोरंजक भी हैं।

६. आत्म-कहानी—अपने बचपन, अंग्रेज़ी शिक्षा, शादी, पिता की गरीबी, पैसे की महिमा, आदि पर भी इनकी वाणी का स्पर्श है। साथ ही, मरण पर विजय, कोप की कहानी, शान्ति की महिमा, प्रेमिका की श्रेष्ठता, स्वतन्त्रता से प्रेम, सर्व धर्मों की समानता आदि पर भी रसीली कविताएँ रची हैं।

७. कृष्ण सम्बन्धी गीत—कृष्ण मेरा मित्र है, मेरी माँ है, मेरा पिता है, मेरा सेवक है, मेरा राजा है, मेरा शिष्य है, मेरा सतगुरु है, मेरा बच्चा है, मेरा प्रेमी है, कृष्ण की खोज, दूत भेजना, विमुक्त होने पर दुख प्रकट करना, कृष्ण मेरा कुलदेवता है, आदि

उद्भावों से कृष्ण के साथ अपना अटूट सम्बन्ध स्थापित करते हैं वे। यह ऐसा है, मानो सूरदास ही ने दक्षिण में जन्म लेकर और एक बार नन्दलाल को गीतों से सजाया है। देखिए : "कृष्ण खेलों का बच्चा है, गली की लड़कियों के लिए हमेशा का दर्द है, खाने के लिए फल लाएगा, हमारे खाते समय झपट कर छीन लेगा। मेरे नन्दलाल, हे दुलारे, मेरे नाथ, आदि कहने पर उस को झूठा करके, आधा काटकर, दे देगा, वेणी को पीछे से खींचेगा। पकड़ने के पहले ही गायब हो जाएगा। नई साड़ी पर धूल फेंक देगा। मुरली बजाएगा। अमृत की वर्षा करेगा।" भक्ति, प्रेम-युक्त गालियाँ, वेदान्त, जीवात्मा परमात्मा सम्बन्धी विचार आदि सब इनमें देखने को मिलते हैं।

८. पांचाली शपथ—"भारत" की कहानी एक अमूल्य अक्षय भंडार है। भारति ने भी इसका उपयोग किया है। पांचाली शपथ इसका उदाहरण है। यह ब्रह्म स्तुति से आरम्भ होता है। पांडवों का वैभव देखकर ईर्ष्या के वशीभूत दुर्योधन की जलन, शकुनी से सलाह लेना, जुआ खेलना आदि का वर्णन है। अन्त में, पांचाली की शपथ का वर्णन है। चार सर्गों में सरल शैली में प्रवाहमयी भाषा में इसकी रचना हुई है।

९. कोयल के गीत—एक कोयल, उसकी प्रेम कहानी, प्रेम ही प्रेम, कोयल और बन्दर, अँधेरा और प्रकाश, कोयल और बैल, चौथा दिवस, कोयल का पूर्व-जन्म आदि शीर्षकों में कोयल की कहानी की रचना हुई है।

इन कविताओं में प्रेम, प्रेम से वंचित होना, प्रेमी को ढूँढ़ कर दुनिया की सैर करना आदि विचारों के साथ-साथ, वेदान्त विचारों का परिपाक हुआ है। जैसा ही भारति ने स्वयं ही कहा है, कि हे, पंडितगण, शाम के नशे में मन में हुई कल्पना ही है, फिर भी यदि वेदान्त की दृष्टि से कुछ अर्थ निकाल सकते हैं, तो मुझे भी ज़रा बता दीजिए।

कविताओं के अलावा, लेख आदि भी लिखे हैं।

राष्ट्र-कवि और युग-प्रवर्तक—ऊपर जो लिखा जा चुका है, उनसे स्पष्ट है, कि आज के छायावाद, रहस्यवाद, आदि कई नवीन दृष्टिकोणों का परिपाक इनमें हुआ है। युग-प्रवर्तक के रूप में इन्होंने, हर गीत में युग का संदेश दिया है। इनसे सामाजिक उन्नति, जाति-पांति निषेध, उद्योगों की आवश्यकता स्त्रियों की स्थिति में सुधार, स्त्री शिक्षा की आवश्यकता, आदि कई सन्देश हमें मिलते हैं। गांधीवाद की छाप स्पष्ट ही है। अतः सुब्रमण्य भारति को राष्ट्र-कवि कहने में भारत गौरव प्राप्त करता है।

सहायक ग्रन्थ सूची : १. भारतियार गीत—भारतीय प्रेस, मद्रास, १९६३।
२. तमिल इलक्किय वरलारु—लेखक, जे. पार्थ सारथी, मद्रास।

आचार्य रामनरेश मिश्र

मगही का नया साहित्य

मगही का नया साहित्य से मेरा अभिप्राय १५ अगस्त '४७ के बाद के मगही साहित्य से है।' ४७ ई० के पूर्व भी प्रकाशित एवं अप्रकाशित साहित्य मगही में पुष्कल मात्रा में विद्यमान है जिसकी अंशतः चर्चा हिन्दी साहित्य का बृहद इतिहास १६वें भाग एवं मगही संस्कार गीत प्रभृति पुस्तकों में हो चुकी है। फिर भी इतना सत्य है कि मगही-साहित्य भारतीय-स्वातन्त्र्य-सूर्य के दिव्य आलोक के साथ ही पुष्पित, पल्लवित एवं फलित तीव्र गति से हुआ है। तबसे अद्यावधि मगही का मनोहर मयंग अपनी पूर्व छटा के साथ शुभ्र-ज्योत्सना विकीर्ण करता हुआ बिहारकी अन्य क्षेत्रीय भाषाओं के साथ समानान्तर गति से पदक्षेप में समर्थ हो रहा है। मगही के इसी नये साहित्य का परिचयात्मक मूल्यांकन प्रस्तुत निबन्ध का विषय है।

सर्व प्रथम मगही के पद्य-साहित्य को लें। इसे लोक-साहित्य और उच्चतर साहित्य में विभक्त किया जा सकता है। लोक-साहित्य गीतों में उपलब्ध है। लोक-साहित्य-सर्जकों में सर्वप्रथम श्रीधरप्रसाद मिश्र जी का नाम आता है। मिश्र जी संस्कृत-साहित्य के गम्भीर अध्येता एवं लोक जीवन के सच्चे पारखी हैं। अतः इनकी रचनाओं में दोनों का मणि-काञ्चनयोग है। इनकी बीसों पुस्तकें प्रकाशित हैं और विद्यापति के गीतों की भाँति जन-जन का कंठहार बनी हुई हैं। गिरिजा-गिरीश-चरित चरित-काव्यों में विशिष्ट स्थान रखता है। गांधी-बिरह-लहरी में महात्मा गांधी के प्रति श्रद्धाभक्ति एवं राष्ट्रीयता से सराबोर भावुकता के दर्शन होते हैं। उमाशंकर विवाह संकीर्तन गीति-काव्य का अनुपम उदाहरण है। कवि ने संस्कृत-साहित्य का परिश्रमपूर्वक मंथन कर लोक-जीवन की कसौटी पर अपनी अनुभूति को शाणित कर काव्यों में उपस्थित किया है। 'तपहई कठिन तोरा तन सुकुमार गउरा कई से पयबड पार' आदि गीतों में कालिदास के कुमार-संभव के 'तपः क्व वत्से क्व च तावकं वयुः' की विस्तृत समाख्या है तो शिवपार्वती-संवाद में सामान्य पति-पत्नी के विवाद की मनोहर झलक भी। पार्वती ने शिव को कंगाल कह दिया तो शिव ने भी पार्वती को आड़े हाथों लिया। कहने लगे—

देख अयली गउरा तोहर नइहर के चाल, काहे कहह कंगाल।
कोदो के भात मिलल, फुरथी के दाल,
बथुआ के साग देखि, ठोकलूँ कपाल।
साग में न नून भेंटल, जियरा बेहाल,
तीन चार कवर खाके, थारी देली टाल॥

चन्द्रशेखर पाठक का 'पार्वती-विवाह' १९५९ ई० में प्रकाशित हुआ। इसके गीत गीतिमयता के विचार से विभिन्न रागों एवं तालों में गेय हैं। पाठक जी लोकप्रियता के विचार से श्रीधर जी से बहुत ही पीछे हैं। पाठक जी की पार्वती केशों में क्रीम और सेन्ट लगाने वाली अप-टू-डेट किस्म की किशोरी है। तपस्या को जाती है तो अगरबत्ती, कपूर,

पीतल की थाली आदि लेकर ही। शिव जी यहाँ गेरुआ वस्त्रधारी ढोंगी साधू के रूप में ही पार्वती के परीक्षार्थ आते हैं, ब्रह्मचारी वेश में नहीं। बारात का वर्णन सुन्दर बन पड़ा है। अन्यत्र काल दोष एवं रसाभास के ही दर्शन होते हैं।

रामप्रसाद सिंह पुण्डरीक की कविताएँ संवत् २००७ में पुण्डरीक-रत्नमालिका के तृतीय खण्डों में प्रकाशित हुई। इस खण्ड में मगही कविताएँ केवल १३ हैं। 'भारत-वसिया' में भारतवासियों को गांधीमार्गानुगमन के लिए प्रेरित किया गया है एवं ग्रामराज्य की स्थापना का सन्देश दिया गया है। 'स्त्री-कर्तव्य' और 'भारत-रमणी' कविताओं में नारी-जाति को सीता और अनसूया आदि के पवित्र पथ का अनुगमन कर देशोन्नति में हस्तान्तरण के लिए आह्वान है। गार्गी की ज्ञान-साधना का स्मरण कराकर कवि ने नारी की वर्तमान अशिक्षा पर अश्रुपात किया है। 'बारहमासा' में पं० नेहरू के त्याग, सेवा आदि की चर्चा है। 'छात्र-कर्त्तव्य' में छात्रों को अपने सद्गुण एवं अध्यवसाय पूर्ण जीवन द्वारा देशोद्धार के लिए आह्वान है। ये गीत विचार की दृष्टि से नवीन हैं पर श्रीधर जी का भावगांभीर्य यहाँ नहीं।

मगही के सिद्धहस्त कवि यागेशदत्त पाठक जी की ६ कविताएँ लोकगीत की श्रेणी में आती हैं। इनके गीतों में मगध-संस्कृति-दर्शन, मगह-माहात्म्य, मगह के प्राचीन इतिहास के मनोहर चित्र हैं। मगहो की समुन्नति के लिए मगहवासियों को अग्रसर करने के लिए ललकार भी है। गांधी, बुद्ध आदि का मार्गानुसरण कर मानवता के त्राण हित पुकार भी है। 'भैया सुनलऽहमर एक गाना' में मगही की प्राचीन महिमा का संकेत है और मैथिली और भोजपुरी बन्धुओं की मगही के प्रति उपेक्षा को मिटाने का आग्रह भी है। 'भईया कविता कउन सुनाऊँ मगही बोली में' में मगही के साहित्यिक जागरण का सुन्दर चित्र है। 'मगहिया शब्द रहत का सिरिफ पान के ढोली में' जैसी पंक्तियों में हास्य और व्यंग्य भी है। 'भईया अपन गाँव के सब कोई सुलभ बनावई जा' में ग्रामराज्य की स्थापना का स्वर मुखरित है।

पं० अंशुमान शर्मा जी के १०-१२ गीत लोक गीतों की कोटि में हैं। भिखारी ठाकुर के बटोहिया के ढंग पर इन्होंने सजनियाँ लिखा है जो बटोहिया का सुन्दर जवाब तो है ही, पुरुष द्वारा पुरुषहृदय के प्रेम-विह्वल विविध चित्रों का सरस एवं मनोहर अंकन भी है। एक बानगी लें—

तू ही हमर कविता हें, तू ही हें फेहनिया से,
मन प्राण तू ही हें हमार गे सजनियाँ।
पतियाँ के छतिया में छने छने साटी साटी,
बिलखी तोहार सुधि साले गे सजनियाँ।।

मगही के नवोदित कवि रामनरेश प्र० वर्मा के पचीसों गीत लोकगीत की श्रेणी में हैं। इनकी कविता में देश की वर्त्तमान समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। कविता के मुख्य विषय हैं शृंगार और राष्ट्रीयता। सर्वत्र सहज भावुकता के दर्शन होते हैं। राष्ट्रीय गीत चीनी आक्रमण, जापानी खेती, भ्रष्टाचार-उन्मूलनादि से सम्बन्धित हैं। शृंगारिक कविताओं में वसन्त, वर्षा एवं शरद्-ऋतु के सुन्दर सरस चित्र हैं। गीत अक्सर होली

चैता और कजरी लय में हैं। 'नेफा ललकारत हुई गोरी' में एक भारतीय का वीरत्व जाग पड़ा है और निम्नांकित पंक्तियों में धान रोपने वाली स्त्रियों का स्वाभाविक एवं सुन्दर चित्र है।

कादो तैयार गोरी घर से निकल चले, खेतवा रोपेला गुजरिया।
बरसे गगन होके मन में मगन, गोरी देवे किसनमा के गरिया ॥

रामविलास 'रजकण' की 'वासन्ती' भी इसी १९६५ के वासन्तिक वातावरण में लोगों में नव वसन्त का नवोपहार लेकर उपस्थित हुई है। इसमें कुल ३५ गीत हैं। गीतों में श्रृंगारिक वातावरण के बीच भी राष्ट्रीयता के स्वर मुखरित हुए हैं। जनमानस को उद्वेलित करने वाली राष्ट्रीय भावना कहीं तरंगित हुई है तो कहीं विद्यापति एवं जयदेव के गीतों के चित्रण एवं माधुर्य के भी दर्शन होते हैं। भाव गांभीर्य की दृष्टि से 'रजकण' जी स्वर्ण कण तथा मगही के प्रतिनिधि कवि सिद्ध हुए हैं।

'सुश्री अरुणमोहिनी मिश्र 'गिरिजा' के चैता गीत तथा हलधर कवि के मान्दर-गीत में भी वर्तमान महँगी, हरिजनों की दुरन्त समस्याओं एवं दुरवस्थाओं के कारुणिक चित्र विद्यमान हैं। कपिलदेव प्र० सिंह 'मुनि' की कविताओं में राष्ट्रीयता का नवल स्वर मुखरित हुआ है।

कुछ गीत ऐसे हैं जो अत्यन्त लोकप्रिय हैं पर कवि अज्ञात हैं। ये गीत खाद्य समस्या, अनावृष्टि तथा किसानों की वर्तमान दशा के चित्र उपस्थित करते हैं। बेटी का विवाह करने वाले किसान की असमर्थता की बानगी लें—

धनमा रोपि रोपि आशा हम कर हलिओ,
करेलागि कन्या के दान हो साजन, पानी बिना मरगेलई धान ॥

कहीं-कहीं छायावादी चित्र भी—

बदरिया गावऽहई कजरिया झूम गगन के आँगना।
रात के समईया में, गगन के तलैया में,
खिलल फूल तरेगना के रंग बिरंगना ॥

उच्चतर साहित्य से मेरा अभिप्राय उच्चकोटि के भावों से परिप्लावित रहस्य-वादी, प्रगतिवादी, राष्ट्रीयतावादी प्रगीत रचनाओं से है। मगही में प्रबन्ध काव्य का प्रायः अभाव है। १९६३ ई० में प्रकाशित पं० यागेशदत्त पाठक के खण्डकाव्य 'जरासंध' ने इस कलंक का परिमार्जन अवश्य किया है। पुराणों एवं महाभारत का गम्भीर मंथन कर कवि ने अपने काव्य में जरासंध को परम धार्मिक, अतिथि-सेवी, कर्त्तव्यपरायण वीर राजा के रूप में चित्रित किया है। जरासंध को विश्वविजेता एवं आदर्श महामानव सिद्ध किया है। मगध का सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक महत्व 'पहिलका कि आरी' में द्रष्टव्य है तो अन्य किआरियों में मगध के राजनैतिक एवं धार्मिक गौरव का नये ढंग से निदर्शन है। सूक्तियों का यत्रतत्र सुन्दर संयोग है।

मगही की मुक्तक काव्य-परम्परा में श्रीकान्त शास्त्री, रुद्र, सदय, सरस, पं० अंशुमान शर्मा, आचार्य हरगोविन्द शास्त्री, पं० यागेशदत्त पाठक, प्रो० रामप्रसाद सिंह, रामनरेश पाठक, रामनरेश प्र० वर्मा, सूर्य नारायण शर्मा, प्रो० रामनन्दन, हरिश्चन्द्र

प्रियदर्शी, जयराम जी तथा रामवृक्ष वरिष्ठ के नाम आते हैं। श्रीकान्त शास्त्री जी की कविताओं में मानवीय तथा भौतिक प्रकृति के सुन्दर चित्र हैं। इनकी कविता के विषय विभिन्न हैं। इनमें विविध रसों का परिपाक है पर शृंगार की प्रधानता है। 'एगोमस्त मगहिया' के छद्मनाम से इनके द्वारा किए गए अनुवाद भी अत्यन्त सरस तथा मूलभाव की रक्षा करने में पूर्ण समर्थ सिद्ध हुए हैं। शास्त्री जी मगही के भारतेन्दु हैं। मगही की उन्नति एवं प्रसार में शास्त्री जी, प्रो० रामनन्दन एवं शिवनन्दन प्रसाद जी का अद्भुत अपूर्व योग रहा है। रुद्र जी के गीतों एवं अन्य कविताओं में देश की पीड़ित आत्मा की करुण पुकार है। सदय जी कवि हैं, गीतकार नहीं। इनकी कविता में सर्वत्र नवीन कल्पना के साथ देश की वर्तमान स्थिति की झलक प्राप्य है। 'आवऽकुछ तस्वीर देखईओ' कविताएँ देश के वर्तमान युवकों पर गहरा व्यंग्य है—

जे अप्पन बाजू के बल से, अचरज करदे छन में छल से।
दुनिया भर के नाच नचा दे, घिरल घटा में जोत जगा दे।
अईसन धरती के पुत्तर के, कईसन हौ तकदीर देखईओ॥

सरस जी की कविता में रस का उद्दाम प्रवाह है। ग्राम्य प्रकृति एवं जनजीवन के विविध-चित्रों से इनकी कविता-कामिनी समलंकृत हुई है। हास्य एवं व्यंग्य से पूर्ण होने के कारण इनकी कविता जन-जन के कंठ का शृंगार बन चुकी है।

पं० अंशुमान शर्मा जी की कविताएँ विभिन्न विषयों की वीथि में चली हैं। 'हे शास्ता ! हे विश्वमान परल' 'हिन्द हम्मर हे' प्रभृति रचनाओं में राष्ट्रीयता पूर्ण भावुकता उमड़ पड़ी है। 'चमकत हे चाँद गगन देखऽ', 'तार लवली वीण के हम', 'मेघ गगन में जब घिर जाहे' आदि में रहस्यवादी भावुकता के दर्शन होते हैं। 'हिमहास घनो पीड़ा ई' में छायावाद का स्वर मुखरित है। 'जग में ई कईसन विषमताप', 'ले ली हम जग के नया पीर' आदि में कवि विश्व की पीड़ा से पीड़ित हो कराह उठा है। शर्मा जी मगही प्रगीत-परम्परा के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। 'हम्मरकाका', रवर छन्द का अन्यतम उदाहरण है जिसमें बूढ़े विवाहेच्छू विधुर पर करारा व्यंग्य है।

पं० यागेशदत्त पाठक के प्रगीतों में मगह, मगहिया से अतिशय प्रेम की सुन्दर अभिव्यंजना है। 'हम ही मगही मगहीन सदा' में विश्व को मगध की देन का अच्छा खुलासा है। 'मगहनिवासी' कविता में देश की अन्यक्षेत्रीय भाषाओं पर व्यंग्य तथा मगही की विशेषताओं का सुन्दर निदर्शन है। प्रो० रामप्रसाद सिंह की 'भोर' कविता में प्रातः का सरस चित्र है तो 'विरहिणी' में मानवीकरण की सुन्दर योजना। भाषा की स्वाभाविक सरसता, शुद्धता एवं भाव की सुबोधता में इनकी कविताएँ बेजोड़ हैं। रामनरेश प्र० वर्मा जी प्रकृति के सिद्धहस्त कवि हैं। 'आसीन के चन्द्रवा' में शरदऋतु एवं एक कृषक की भावुकता का मणिकाञ्चन योग है। रामनरेश पाठक, सू० ना० शर्मा आदि गीत के कवि हैं जिनमें कवित्व का प्रौढ़ रूप विद्यमान है। प्रियदर्शी की कविता में वियोग शृंगार के सुन्दर चित्र अंकित हैं। लोकप्रियता के विचार से जयराम जी का नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित करने योग्य है। किसी भी गोष्ठी का अनुरञ्जन एवं नियंत्रण कर सकने में इनकी सरस रचनाएँ पूर्ण समर्थ हैं। इनकी कविता के विषय कृषि, योजना, देहाती जीवन तथा

वर्तमान सभ्यता है। शृंगार तथा हास्य का इनकी रचनाओं में विशेष परिपाक है। अपनी भी १०-१२ कविताएँ तथा ट्युशन पुराणम्, इलेक्शन पुराणम्, कार्डदूतम् नाम्नी लघु पुस्तिकाएँ हैं। नाम से ही विषयवस्तु स्पष्ट है। आलोचना तो सुधी पाठक ही करेंगे।

१९६२ में बि० रा० परिषद् ने 'मगही-संस्कार-गीत' प्रकाशित किया है जिसमें हिन्दू एवं मुसलमान दोनों के जन्म से मृत्युपर्यन्त विविध संस्कारों के गीत संकलित हैं जो चिरकाल से लोकवाणी के शृंगार रहे हैं।

मगही में व्यंग्यगीत भी पुष्कल मात्रा में विद्यमान हैं। बकलोलदास 'गड़बड़िया', गदहरेंक जी, सोंसदास आदि की रचनाएँ बहुत उत्तम हुई हैं। अपने राम ने भी सोंटादास तथा व्यंग्यविनोदी मिश्र 'मगहिया' के छद्मनाम से कई पैरोडियाँ लिखी हैं।

मगही का पद्य-साहित्य जितना सम्पन्न है उतना गद्य-साहित्य नहीं। इधर ५-७ वर्षों से मगही लेखकों का ध्यान इस ओर गया है और व्यंग्य-स्केच, नाटक, एकांकी, टेलीफोनिक वार्ता, निबन्ध, शोधप्रबन्ध तथा उपन्यास धड़ाधड़ लिखे जा रहे हैं। गद्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा उपन्यास के क्षेत्र में रचनाएँ एकदम नगण्य हैं। उपन्यास की मात्र ३ कृतियाँ प्रकाशित हैं। सू० ना० शर्मा का 'हलवाहा' किसानों की वर्त्तमान दशा का यथार्थ कारुणिक चित्र उपस्थित करता है। चक्रधर शर्मा का 'शाकल्य' और 'हायरे ऊ दिन' आ० द्विवेदी एवं डा० रा० राघव के औपन्यासिक कृतियों का स्मरण दिलाता है। 'शाकल्य' में महर्षि शाकल्य की जीवनी, उनका युग एवं उनकी देन की सुन्दर शोधपूर्ण चर्चा है। उनके दीप की संस्कृति का पर्याप्त मूल्यांकन है। 'हायरे ऊ दिन' में भारत की प्राचीन वैदिक संस्कृति के गौरवमय चित्र एवं वैदिक-संस्कृति के क्रमिक पतन की कहानी है। शर्मा जी सांस्कृतिक उपन्यास के सिद्धहस्त कलाकार हैं।

नाटककारों में प्रो० रामनन्दन, डा० श्रीकान्त शास्त्री, प्रो० वीरेन्द्र प्र० सिंह, श्री उदय, प्रो० शत्रुघ्न प्र० शर्मा, मुन्नी प्रसाद, श्री शम्भुनाथ जायसवाल प्रभृति के नाम उल्लेखनीय हैं। शास्त्री जी के नाटकों में 'नया गाँव' सर्वाधिक लोकप्रिय हुआ है। प्रो० रामनन्दन जी का 'कौमुदी महोत्सव' संस्कृत का अनुवाद है। 'खईनी' भी सफल अभिनेय रचना है। लेखक मगध की संस्कृति एवं समाजसुधार का बड़ा प्रेमी है। प्रो० वीरेन्द्र प्र० सिंह जी का 'थारी परसाल हुई' वर्तमान दहेज-प्रथा पर सुन्दर व्यंग्य है और जायसवाल के 'चलनी दुसलक बढ़नी के' ध्वनि रुपक में 'परोपदेशे पाण्डित्यं' का सुन्दर चित्र है। श्री उदय की 'सेनुरादान', प्रो० शर्मा की 'गुरुदक्षिणा' श्री मुन्नी प्रसाद जी की 'कुबेर के भण्डार', और 'ओकील के परवाना तक' श्रेष्ठ अभिनेय रचनाएँ हैं। 'मगरू महतो' नाम से अपने भी कई प्रहसन हैं।

नवोदित कलाकारों में रामवृक्ष वरिष्ठ, सुग्रीव प्रसाद, गजानन मिश्र, निजामुद्दीन अंसारी, जितेन्द्र यादव, एवं वसन्तराम के नाम उल्लेख्य हैं। जिनकी क्रमशः 'नेफा के मोरचा', 'नकलोल-बकलोल-युद्ध', 'मुखदीपमिलन', 'बड़े मियाँ', 'कंचनवन के शेर' तथा 'चन्दामामा' सफल अभिनेय रचनाएँ हैं। वरिष्ठ के 'नेफा के मोरचा' को छोड़कर शेष एकांकी बालोपयोगी हैं। 'नेफा के मोरचा' में चीनी आक्रमण की भारतीय बालकों एवं युवकों पर प्रतिक्रिया एवं राष्ट्रीयता-संचार का सुन्दर चित्र है।

कहानीकारों में राधाकृष्ण, तारकेश्वर भारती, जयेन्द्र, रामनरेश पाठक, पुष्पा आर्याणी, रवीन्द्र कुमार, सुरेश प्र० सिंह, शिवेश्वर प्र० आष्ठ एवं राम वृक्ष वरिष्ठ के नाम उल्लेख्य हैं। पाठक जी की 'ठार कनकन' तथा राधाकृष्ण की 'ए नेऊर तू गंगा जा' मगही की श्रेष्ठ कहानियाँ हैं। राधाकृष्ण की 'ए नेऊर तू गंगा जा' तथा वरिष्ठ की 'भुकुर-भुकुर कई से' कहानियाँ लोकवृत्त पर आधृत हैं। अपनी भी 'भद्दा या भला', 'आत्मदीपोनव', 'उपसर्प मातरं भूमिम्', 'स्वाध्यायात् मा प्रमद' चार कहानियाँ शिक्षा-विषयक हैं।

वैयक्तिक निबन्धकारों में डा० शिवनन्दन प्रसाद एवं प्रो० रामनन्दन के नाम उल्लेखनीय हैं। व्यं० वि० मिश्र 'मगहिया' ने भी 'होली हो गेलई।' 'हम्मर परीक्षा हो गेलई।' आदि ४-५ व्यक्तित्व व्यंजक लेख लिखे हैं।

मगही में 'शोधकार्य' अत्यन्त प्रगतिशील है। श्री मुगेश्वर पाण्डेय का 'मगही भाषा और साहित्य,' श्री राजेन्द्र सिंह यौधेय का 'मगही वेआकरण' सुश्री सम्पत्ति आर्याणी का 'मगही व्याकरण कोश' एवं 'मगही भाषा और साहित्य, एक अध्ययन', सुश्री कल्याणेश्वरी वर्मा का 'मगही लोक गीतों का अध्ययन' श्री कान्त शास्त्री का 'पटना और गया की मगही' का स्वरूप: एक अध्ययन' इस दिशा में प्रशंसनीय हैं। 'मगही का ध्वनि-विज्ञान' पर श्री सरयु प्रसाद, 'मगही कहावतों का अध्ययन' पर तथा 'मगही लोक कथाओं का अध्ययन' पर श्री कैलाश प्रसाद जी शोधकार्य कर रहे हैं। प्रो० अवधबिहारी पाठक जी ने 'मगही के विविध रूपों का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन' एवं प्रो० कृष्णनारायण जी ने 'परिनिष्ठित मगही का भाषा-वैज्ञानिक सर्वेक्षण' विषय शोध-कार्य के लिए चुने हैं। स्वतन्त्र रूप से 'मगही सूक्तियाँ : एक अनुशीलन' पर चक्रधर शर्मा जी शोध-प्रबंध लिख रहे हैं।

स्वतन्त्रता के बाद मगही में 'मगही', 'विद्वान', 'महान मगध' तथा 'मगही-सनेस' पत्रिकाएँ निकली हैं और मन्थर गति से गतिशील रही हैं। 'मगही' और 'महान मगध' बन्द हो चुकी हैं। शेष दो चल रही हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मगही के नये साहित्य की गंगा अब प्रगति की विविध धाराओं और उपधाराओं में बहकर उन्नति के महासमुद्र की ओर उद्दामवेग से प्रवहमान है।

सुधा माहेश्वरी

ब्रॅख्त : आधुनिक यूरोपीय साहित्य का एक महान् व्यक्तित्व

बर्तोल्त ब्रॅख्त का जन्म १८९८ में ओगसबर्ग (Aughshburg) नामक नगर में हुआ था। वह अन्तर्जातिय विवाह की सन्तान था। उसके पिता रोमन कैथोलिक और माता प्रोटेस्टेन्ट थी। इसीलिए अपने बाद के जीवन में उसका ईसाईयत से विश्वास उठ गया। उसके पिता एक कागज मिल के प्रबन्धक थे और माँ एक राज्याधिकारी की पुत्री थी। उसने सन् १९०४ से १९०८ तक एक पब्लिक स्कूल में प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त की। उसके बाद १९१७ में उसने म्यूनिख़ विश्वविद्यालय में औषधिविज्ञान और प्राकृतविज्ञान का अध्ययन किया। ब्रॅख्त ने कुछ समय तक सेना में भी सेवा की। सैनिक अस्पताल के भयानक वातावरण का प्रभाव उसकी रचनाओं पर भी पड़ा है। सैनिक सेवा से मुक्त होने पर वह जर्मनी लौटा। १९२८ में उसका 'थ्रीपेनी ऑपरा' नामक नाटक अभिनीत किया गया। अब तक उसके आधे दर्जन से ज़्यादा नाटक निकल चुके थे, जिनमें तीव्र घृणा भाव था। थोड़े ही समय में वह बहुत प्रसिद्ध हो गया। उसके नाटक के कुछ नारे जैसे 'खाओ पहले, आचरण बाद में' लोगों की जबान पर रहने लगे। यही इसकी सबसे अधिक प्रसिद्ध रचना थी। 'थ्रीपेनी ऑपरा' ने ब्रॅख्त को कुछ समय के लिए जर्मनी के नाटककारों की प्रथम पंक्ति में ला खड़ा किया। सन् १९२७ में 'डोमेस्टिक ब्रेवीरी' (domastics brevirry) के प्रकाशन के साथ ब्रॅख्त एक कवि के रूप में भी विख्यात हो गया।

ब्रॅख्त का विचार था कि हिंसा की आवश्यकता होने पर हिंसा का प्रयोग भी करना चाहिए, इसीलिए शान्त भाव छोड़कर वह उन लोगों के साथ मिल गया जिनका सिद्धान्त था, शक्ति का सामना शक्ति से करो। इसी कारण जर्मनी के कार्यकर्त्ताओं के सम्मुख उसने रूसी क्रान्ति को एक आदर्श के रूप में रखा। नाजियों के हाथ में शक्ति आ जाने पर उसके 'द महागोनी' (The Mahagony) नामक नाटक पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। इसके बाद वह स्थाई रूप से डेन्मार्क में बस गया। १९३३ से १९३९ तक वह डेन्मार्क में रहा। और इसी बीच वह पेरिस और न्यूयार्क भी गया। इसके बाद वह मास्को से निकलने वाली रिफ्यूजी पत्रिका Daswart का सहायक सम्पादक बन गया।

युद्ध प्रारम्भ होते ही ब्रॅख्त ने डेन्मार्क को छोड़ दिया और वह स्कॉटहोम में चला गया। इसके बाद १९४० में वह फिनलैण्ड गया, और वहाँ से उसने अमेरिका के लिए वीसा माँगा और वह उसे मिल भी गया। इसका प्रयोग उसने १९ जुलाई १९४१ को केलीफोर्नियाँ से अमेरिका जाते समय किया। १९४७ में उस पर अमेरिका विरोधी कार्य-

वाहियों के लिए मुकदमा चलाया गया। १९४८ में वह पूर्व जर्मनी की साम्यवादी सरकार के आमन्त्रण पर स्वदेश लौट आया। १९५१ में उसे पूर्व जर्मनी सरकार का राष्ट्रीय पुरस्कार और १९५४ में स्तालिन शान्ति पुरस्कार दिया गया। १४ अगस्त १९५६ को बर्लिन में उसका देहान्त हो गया।

विश्व के नाटककारों में ब्रॅख्त का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसका प्रथम नाटक 'द मेजरस् टेकन' था। इसकी विषयवस्तु साम्यवादी है। सन् १९३७ से १९४१ तक उसने जो नाटक लिखे और जिनसे उसकी प्रसिद्धि विदेशों में हुई वे 'मदर करेज', 'द लाइफ ऑफ गेलीलिओ', 'द गुड वुमन ऑफ सेटज्अन्', 'हरपनटिला एण्ड हिज़ मनटनाटि' हैं।

नाटककार के रूप में ब्रॅख्त की सबसे महत्त्वपूर्ण देन 'महाकाव्यात्मक रंगमंच' (Epic theater) है। ब्रॅख्त ने इस शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ में किया है। उसके अनुसार 'एपिक थियेटर' किसी ऐसे अभिनेता को रंगमंग पर प्रस्तुत करता है जो उसके किसी पात्र की भूमिका निभाते हुए भी अपने व्यक्तित्व को बनाए रखता है। ब्रॅख्त के गैलीलियो नाटक को जब खेला गया, तब एक अभिनेता को एक वैज्ञानिक की भूमिका में दिखाया गया, लेकिन उस अभिनय में अभिनेता ने अपने व्यक्तित्व को पूर्णतः विलीन नहीं कर दिया, उसका अपना व्यक्तित्व भी बना रहा। 'एपिक' की मूल विशेषता को ब्रॅख्त ने जर्मन शब्द Zeigen के द्वारा व्यक्त किया।

'एपिक थियेटर' में नाटक लेखन की पद्धति ही मुख्य तत्त्व है। यही ब्रॅख्त की रचनाओं में एक बेगानापन (एलियनेशन) ला देती है। इसमें गीत, संगीत, नृत्य और दृश्य-चित्र का एक ऐसे विशिष्ट रूप में प्रयोग किया जाता है, जो चलने वाली कथा को सहयोग देने की जगह उसके विपरीत जाता है। ब्रॅख्त के नाटक के ये ही तत्त्व, साधारण स्वाभाविक, प्राकृत, और विश्वसनीय घटनाओं को असाधारण, आश्चर्यजनक, अद्भुत् और अजीब बना देते हैं। शैली की यह विशेषता उसके पूरे नाटक पर प्रभाव डालती है। यह निश्चित रूप से घटित होने वाली घटनाओं को चुनौती देती चलती है। इससे नाटक अलग-अलग टुकड़ों में विभाजित हो जाता है और उसकी बनावट में जोड़ स्पष्ट दिखाई देने लगते हैं। Ewin Piscatar नामक नाटक निर्माता ने एक बार ब्रॅख्त के एक नाटक के अभिनय को रोककर बीच में लेनिन की आवाज़ का एक रिकार्ड सुनाया था। यह भी एलियनेशन का प्रभाव डालने के लिए ही किया गया था। ब्रॅख्त अपने इस बेगानेपन के कारण चिर-स्मरणीय रहेगा।

ब्रॅख्त ने थियेटर की एपिक विशेषता को अतीत की धारणाओं से ही ग्रहण किया। कलात्मक भ्रम, जिसका प्रयोग साधारणतः सभी परम्परागत कलाएँ करतीं हैं ब्रॅख्त की दृष्टि में ठीक नहीं है। उल्टे वह तो कलात्मक भ्रम को तोड़कर अपनी कला को व्यक्त करता था। Martin Esslin के अनुसार ब्रॅख्त दर्शकों को यह अनुभूति देना चाहता है कि वे जो कुछ देख रहे हैं, वह वास्तविक घटना घटित नहीं हो रही, बल्कि वे किसी थियेटर में बैठे हैं और किसी ऐसी घटना का वर्णन सुन रहे हैं जो एक विशेष समय में विशेष स्थान पर अतीत में हो चुकी है।

उसके एपिक थियेटर में कलात्मक भ्रम का कोई स्थान नहीं है। उसमें दर्शक

सजग रहते हैं। कलात्मक भ्रम बुद्धिजीवी की विश्लेषणात्मक योग्यता को नष्ट करके उसे वायवी आलोचक बना देता है। लेकिन एपिक थियेटर (जिसकी टेकनीक पर मार्क्स-वाद का प्रभाव है) मनुष्य को गम्भीर शान्तचित्त और विश्लेषणवादी बनाता है।

इस थियेटर का अनोखापन यह है कि घटित होने वाली घटनाओं के पारस्परिक सम्बन्धों को एक नए रूप में प्रकाशित किया जाता है। ये घटनाएँ यह बताती हैं कि संसार परिवर्तनशील है। यह प्रणाली राजनैतिक घटनाओं के प्रति भी दर्शक को सजग रखती है।

ब्रॅख्त निम्नस्तर की भावात्मकता को महत्त्व नहीं देता। जैसे-जैसे ब्रॅख्त कम्यू-निस्ट आन्दोलन के निकट आया उसके नाटक शिक्षण मंच (Educational theater) और 'एपिक ड्रामा' की ओर झुकते गए।

'एपिक थियेटर' की प्रथम विशेषता यह है कि उसे 'एपिक' होना चाहिए। 'एपिक थियेटर' घटनाओं का वर्णन कर देता है और दर्शक पर इस बात के लिए ज़ोर डालता है कि वह उन्हें समझे। जबकि परम्परागत रंगमंच में यह बात नहीं होती। पर-म्परागत रंगमंच दर्शक को कलात्मक भ्रम से आवृत कर भावना में बहाता है जबकि एपिक थियेटर में दर्शक पूरी तरह सजग बना रहता है। ब्रॅख्त के अनुसार थियेटर को दर्शक की बुद्धि का स्पर्श करना चाहिए। ब्रॅख्त यह अधिक पसन्द करता है कि विचारों और मूल्यों में द्वन्द्व दिखाया जाए, उनमें संघर्ष हो, तथा साथ ही संसार के पाखण्ड और विद्रूपताओं का स्पष्ट रूप से उद्घाटन हो। वह इस बात को बिल्कुल पसन्द नहीं करता कि देर तक भाव-नाओं में बहने के बाद कहीं दर्शक को पता चले कि क्या ख़राब है और क्या अच्छा।

परम्परागत रंगमंच में स्टेज पर तर्क वितर्क को अच्छा नहीं समझा जाता था। इस बात का ध्यान नहीं रखा जाता था कि नायक का तर्क सही है या ग़लत, केवल उसका व्यक्तित्व आकर्षक और भाव में बहाने वाला होना चाहिए। परम्परागत थियेटर में तीव्र इच्छाओं का संघर्ष पात्रों के आधार पर चलता है न कि मूल्यों के संघर्ष के आधार पर।

अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए ब्रॅख्त ने एक सीमा-रेखा खींची, और एक चार्ट प्रकाशित कर बताया कि प्रत्येक थियेटर में कौन-सा स्थान सबसे अधिक आकर्षक है। परम्परागत नाटक वर्गों की प्रवृत्तियों को चित्रित करते हैं, लेकिन ब्रॅख्त चाहता है कि वर्ग-प्रवृत्तियों के संघर्ष को सामाजिक चेतना के रूप में परिवर्तित हो जाना चाहिए। जिससे पूरे संसार के लोग उसे जान सकें।

ब्रॅख्त ने स्वयं ही परम्परागत और एपिक रंगमंच का अन्तर इस रूपरेखात्मक सूत्र द्वारा स्पष्ट किया है।

परम्परागत रंगमंच	**महाकाव्यात्मक रंगमंच**
क्रिया व्यापार	विवरण
दर्शक को रंगमंचीय कार्यों के साथ तादात्म्य देकर उसकी अपनी कर्मेच्छा को समाप्त कर देता है	दर्शक को केवल दर्शक रहने देता है और इस तरह उसमें कर्मेच्छा जागृत करता है।

दर्शकों के रागात्मक पक्ष को छूता है	दर्शकों के विचारों और दृष्टिकोणों को प्रभावित करता है
सुझाव	तर्क
दर्शक में रागात्मक समानुभूति जगाता है ।	दर्शक को सिखाया और पढ़ाया जाता है ।
मनुष्य को एक ज्ञेय वस्तु की तरह चित्रित किया जाता है	मनुष्य को अनुसन्धान का विषय बनाया जाता है ।
क्रिया व्यापार के परिणाम में दर्शकों को रुचि रहती है	क्रिया व्यापार में रुचि रहती है ।
प्रत्येक दृश्य दूसरे दृश्य से सुसम्बद्ध रहता है	प्रत्येक दृश्य स्वतन्त्र है
अनुभूति	बुद्धि

ब्रॅख्त का वास्तविक और प्रथम एपिक ड्रामा 'माँ' है । यह नाटक प्रचार के लिए लिखा गया । क्रान्तिकारी संघर्ष में अपनाये गए तरीकों की यह एक प्रचारात्मक पुस्तक है । इसमें बताया गया है कि व्यक्ति को संघर्ष में कैसे काम में लाया जाता है, अनभिज्ञ लोगों के सामने से और पीछे से होने वाले आक्रमणों से कैसे वाकिफ किया जा सकता है, दुश्मनों को कैसे धोखा दिया जा सकता है, किस तरह विदेशी संस्कृति का प्रयोग किया जा सकता है, और कैसे अनुशासन को लागू किया जा सकता है ।

ब्रॅख्त के अनुसार कला अध्यापन विद्या की ही एक शाखा है, जिसका उद्देश्य पढ़ाना है । पूँजीवाद शिक्षा को कुरूप और वीभत्स बना देता है । इससे लोग शिक्षा देने के ढंग से अपने को अपमानित अनुभव करते हैं । ब्रॅख्त एक बौद्धिक रंगमंच के पक्ष में है । उसका खयाल है कि विरोधी दृष्टिकोणों का संघर्ष भी दर्शकों का उतना ही ध्यान आकर्षित कर सकता है, जितना कि विरोधी संवेगों का संघर्ष । उसके मतानुसार दर्शक को विरेचित करके छोड़ना कला का वास्तविक उद्देश्य नहीं है । वास्तविक उद्देश्य तो उसे बदलकर रखना है । या कम से कम उसमें परिवर्तन के बीज बो देना है, जो बाद में जाकर उसके जीवन में फलें । उदाहरण स्वरूप सेन्ट जोन में मरती हुई नायिका कहती है :

अपने जीवन का लक्ष्य
यह मत बनाओ
कि मरते समय तुम
बेहतर बनकर मरो
बल्कि यह बनाओ
कि मरने की घड़ी में
तुम एक बेहतर दुनिया छोड़ सको ।

Domastic Brevirry के प्रकाशन के साथ ही ब्रॅख्त कवि के रूप में भी विख्यात हो गया । एक कवि के रूप में भी ब्रॅख्त का दायरा काफी विस्तृत है और उसमें पर्याप्त विभिन्नताएँ हैं । उसने [illegible] से लोकगीत (Ballad) गीत (Lyric) सहगान (chorus)

और व्यंग कविताएँ लिखीं, जिनका विषय अधिकतर क्रान्तिकारी ही रहा है। ब्रेख्त के बैलेड, लीरिक और व्यंगों के इस संग्रह को एक रोमन कैथोलिक आलोचक ने 'डेविल्स प्रेयर बुक' कहा था।

ब्रेख्त की कविताओं में भी नाटकों की तरह ही व्यक्तिवादिता का कोई स्थान नहीं है। अल्पायु में ही उसने यह निश्चय कर लिया था कि वह अपनी तुलना में समय और समाज के दुर्भाग्य को अधिक महत्त्व देगा, चाहे उसकी व्यक्तिगत समस्याएँ सुलझ सकें या नहीं। जिस प्रकार ब्रेख्त रंगमंच से अपने पात्रों को दूर रखता है उसी प्रकार वह अपनी कविता में व्यक्तिगत मनःस्थितियों को दूर रखता है। उसके बैलेड में घटना मुख्य होती है उसके नायक प्राकृतिक और मानव-निर्मित आपत्तियों को सहन करके महानता प्राप्त करते हैं। ये बैलेड मनुष्य के गुणों का, उनकी निर्भीकता का, उनके गर्व का, और उनकी अदम्य उत्सुकता का, ध्वन्सकारी और भयानक परिस्थितियों के बीच प्रदर्शन करते हैं। ब्रेख्त ने बैलेड को गली कूचों का गीत बना दिया। वह उसमें प्रथम विश्वयुद्ध के अनुभवों को, उसकी निस्सहायता और विवशता को सुन्दरतम रूप में अभिव्यक्ति दे सका है।

ब्रेख्त का परम्परा के प्रति दृष्टिकोण उसकी शास्त्रीय कविताओं और पैरोडियों में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए उसके कुछ समूहगान St. Joan of the 'Stockyards अथवा 'Liturgy of breath' और गेटे की पेरोडी 'Over all the preak's lies peace' आदि रचनाएँ ली जा सकती हैं। गेटे की कविता का प्रयोग यहाँ इसलिए किया गया कि शान्ति का एक अन्य अर्थ सब वीभत्सताओं को शान्त भाव से देखना भी है। जबकि एक बूढ़ी औरत भूखी मर रही हो, जंगल में सब पक्षी शान्त हैं। यहाँ शान्ति एक ऐसे मनुष्य के खून का प्रतीक है जो कभी शान्त और मौन नहीं रहा था। इन पैरोडीज़ में उसका परम्परा के प्रति आकर्षक स्पष्ट हो जाता है।

उसकी मूल कटुता संसार की उस विजय और पराजय के प्रति थी, जिसके इतिहास से पराजय के कारण को मानव स्मृति से निकाल दिया जाता है और विजेताओं का इतिहास लिखा जाता है। गरीबी, दमन और शोषण के कारण उसे इतना क्रोध नहीं आता जितना इस बात से कि गरीब, शोषित और दलित अपनी आवाज को ऊँचा उठाने में समर्थ नहीं हैं और इसके कारण उपेक्षित होकर दुःख सहन करते हैं।

ब्रेख्त बैलेड को सबसे अधिक पसन्द करता था, इसका कारण यह था कि परम्परा से ही बैलेड अलिखित रहकर भी उपेक्षित और भूले हुए इतिहास को याद करता है। यही एक काव्य-रूप है जिसमें कई पुराने महाकवियों ने अपनी कृतियों का निर्माण किया है और अमरता प्राप्त की है।

भाषा और शैली की दृष्टि से भी ब्रेख्त की कविता कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। वह गीति की अपेक्षा नाटकीयता और वर्णनात्मकता का आश्रय लेती है उसका नाटककार भी एक कवि के रूप में ही सामने आता है, उसके काव्य में भी नाटकीयता ही प्रधान है। Volker Klotz के शब्दों में ब्रेख्त की कविता की मुख्य विशेषता उसका 'ऑब्जेक्टिव फॉर्म' है।

ब्रेख्त के समय तक वस्तुस्थिति यह थी कि साहित्यिक जर्मन ही नहीं बल्कि रंग-

मंचीय जर्मन भी निश्चित रूप से एक कृत्रिम और मृत भाषा थी। स्टैन्डर्ड जर्मन, स्टैन्डर्ड अँग्रेज़ी और फ्रेंच की तरह यह बोली नहीं जाती थी, वह तो केवल कागज पर या रंगमंच पर ही प्रयोग में लाई जाती थी। लेकिन Peter Demetze द्वारा सम्पादित 'Brecht : A Collection of Critical Essays नामक पुस्तक में ब्रॅख्त की भाषा के बारे में लिखा है कि उसने अपनी कविताओं और नाटकों में जिस भाषा का प्रयोग किया, वह साहित्यिक या कृत्रिम न होकर उसकी अपनी स्वाभाविक भाषा थी। उसने अपने काव्य में एक ऐसी भाषा को महत्त्व दिया जो किसी भी निश्चित प्रान्त की भाषा नहीं है, पर जो एक वास्तविक भाषा लगती है। यद्यपि वास्तव में आज भी उसकी यह भाषा किसी के द्वारा नहीं बोली जाती, केवल ब्रॅख्त ही इसका प्रयोग करता है। वह एक कृत्रिम सम्वाद (Synthesis) है, ऐसी मौलिक और कृत्रिम रचना है जो विभिन्न परम्पराओं से बद्ध है। यही कारण है कि यह एक वास्तविक भाषा लगने लगती है।

ब्रॅख्त की भाषा का एक दृढ़ आधार आधुनिक जर्मन भाषा के मुख्य स्रोत भी है। एक बार एक पत्रकार ने ब्रॅख्त से प्रश्न पूछा कि उसके जीवन पर सबसे अधिक साहित्यिक प्रभाव किसका पड़ा तो उसने उत्तर दिया था : शायद आप हँसेंगे पर यह सच है कि मेरे साहित्य पर सर्वाधिक प्रभाव बाइबिल का पड़ा है। उसने अपनी रचनाओं में भी बाइबिल की वाक्य रचनाओं का मुख्य रूप से प्रयोग किया है। जैसे विरोधी अर्द्धवाक्यों का सामीप्य, समानान्तरता, पुनरुक्ति आदि।

गलियों में गाये जाने वाले बैलेड ने भी ब्रॅख्त के जीवन को बहुत प्रभावित किया। खास तौर से The Morality नामक बैलेड ने जो उसके नगर के मेले में बैलेड गायकों द्वारा गाया जाता था।

Peter Demetze के अनुसार ब्रॅख्त पद्य लिखने में सरलता का अनुभव करता था। उसने कोमल और लययुक्त गीतों से दूर जाने का प्रयत्न किया। 'मुझे एक उच्च-स्तरीय भाषा की आवश्यकता थी लेकिन परम्परागत 'आरंभिक पेन्टामीटर' की कोमलता के कारण मैंने उसके प्रति विकर्षण अनुभव किया।' "On Unrhymed Verse with Irregular Rhythms" नामक निबन्ध में वह एक ऐसी शैली का वर्णन करता है जो लयहीन होने पर भी काव्यात्मक बना रहे, और समाज की विषमताओं और विद्रूपताओं को वाणी दे सके।

ब्रॅख्त ने सांकेतिक भाषा का प्रयोग भी किया है। कहीं कहीं उसने बाइबिल से उद्धृत सूक्तियों का प्रयोग भी किया है। वह एक ऐसी भाषा का प्रयोग करता है जो उसमें वर्णित क्रिया को मूर्तित कर सके। राजनीतिक प्रयाण-गीतों और नाटकों में आये हुए उसके गीतों के अतिरिक्त ब्रॅख्त का अधिकांश काव्य मुक्त छन्द में लिखा गया है।

ब्रॅख्त की कविता उसके अपने जीवन और उसके समय के जीवन की विषमताओं, विद्रूपताओं और संघर्षों का दर्पण है। ब्रॅख्त की विशेषता यह है कि एक ओर तो वह इलियट, पाउण्ड, रिल्के आदि की परम्परा का आधुनिक भाव-बोध का साहित्यकार है पर दूसरी ओर वह मायकोवस्की, अरागाँ, नाज़िम हिकमत और पाब्लो नेरूदा की क्रान्तिकारी परम्परा का कवि भी है। वह उन तथाकथित आधुनिकतावादियों की तरह निराशा के

साथ अपने युग की विद्रूपताओं को अभिव्यक्त करके ही चुप नहीं रह जाता। उसका साहित्य इन विद्रूपताओं के विरुद्ध जूझ रही जीवन शक्तियों का भी प्रतिविम्ब है। अपने युग के त्रास को उसने इन शब्दों में व्यक्त किया है।

सचमुच मैं अँधेरे युग में रहता हूँ
झूठ से रहित शब्द जहाँ अनर्गल कल्पना हैं
शान्त मस्तिष्क उसी का हो सकता है, जिसका दिल पत्थर हो
जिसके चेहरे पर मुस्कान है : वह अभी ख़ौफ़नाक खबरों से परिचित नहीं हुआ
आह, कैसा अजीब युग है !
जब पेड़ पौधों तक की बात करना लगभग अपराध है
क्योंकि सर्वव्यापी है अन्याय के प्रति एक चुप्पी।

अपने युग की अराजकता और उसके ख़िलाफ चलने वाले संघर्ष को इस तरह याद किया।

मैं शहरों में आया अराजकता के दिनों में
जब भूख का साम्राज्य था
मैंने लोगों को देखा विप्लव के जमाने में
और उनके साथ विद्रोह किया···
मैंने क़त्लेआम के बीच अपनी रोटियाँ तोड़ीं
हत्याओं की छाया मेरी गोद में लेटीं···
मेरे युग में हर सड़क रेतीले दलदल में से गुजरती है
और हर शब्द बधिक के दरवाज़े पर ले जाता है

लेकिन ब्रॅख्त ने जितनी अपने युग की विद्रूपताओं और उनके विरुद्ध संघर्ष को वाणी दी है उतनी ही उस के दर्द को भी। काल के लम्बे सन्दर्भ में यह दर्द मानवीय हो उठता है :

तुम जो इस जल-प्रलय में बच रहोगे
जिसमें हम डूब रहे हैं
जब हमारी कमज़ोरियों पर सोचो
ता इस अन्धकार भरे युग पर भी सोचना
जिसने इन कमज़ोरियों को जन्म दिया
क्योंकि जितने हम जूते बदलते हैं
उससे ज्यादा देश इस वर्ग-युद्ध में बदलते गए हैं
जिसमें केवल अन्याय था और प्रतिरोध नहीं।
ध्यान रखना
कि कूड़े करकट के प्रति घृणा भी
भृकुटि को कठोर बना देती है
अन्याय के प्रति क्रोध भी वाणी को कर्कश बना देता है
आह ! हम जो करुणा और कोमलता की नींव रखना चाहते थे
खुद करुण और कोमल नहीं हो सके !

छोटेलाल दीक्षित

तुलसीदास के सौंदर्य-बोध में प्रगतिवादी तत्व

प्रगतिवाद यहाँ उस संकीर्ण अर्थ में नहीं लिया गया है जिस अर्थ में यह तथाकथित आधुनिक युग के प्रगतिवादी साहित्य में प्रयुक्त हुआ है। राजनैतिक मत के संकीर्ण प्रतिमानों को व्यक्त करने वाले अर्थ में प्रगतिवाद को लेकर, उसके आधार पर प्राचीन साहित्य का विश्लेषण करना भ्रामक और उस साहित्य के साथ अन्याय करना होगा। संकीर्ण राजनैतिक प्रतिमानों से युक्त प्रगतिवाद के भीतर जीवन की समग्रता और वैविध्य को नहीं स्वीकारा जा सकता। प्रगति शब्द का अर्थ आगे बढ़ाने वाला या उच्चता प्रदान करने वाला है। प्रगतिशील साहित्य भी वही है जो जनहित का साधक और समाज को आगे बढ़ाने वाला है। प्रगतिशील साहित्य मनुष्य के विकास में सहायक होता है। वह मानवीय संवेदना और सच्चे कर्म की चेतना जगाता है और व्यक्ति को उसकी व्यक्तिगत क्षुद्रताओं से ऊपर उठाकर नैतिक आदर्शों की प्रेरणा देता है तथा उसकी आध्यात्मिक और सांस्कृतिक उन्नति में सहायक होता है। ऐसे साहित्य में व्यक्ति के सुख, दुःख और भावनाओं का जिनका मूल सामाजिक व्यवस्था में है, चित्रण होता है। प्रगतिशील साहित्य में उन सभी विचारधाराओं का विरोध किया जाता है जो सामाजिकता का विरोध करके व्यक्ति को एकांगी बनाने का प्रयत्न करती हैं। ऐसे साहित्य में श्रद्धा और आस्था की अभिव्यक्ति होती है जो वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के अविनाशी और व्यापक तत्व हैं और मानव प्रगति की सूक्ष्मता-मूलक दिशाओं का निदर्शन करती हैं। प्रगतिशील साहित्य व्यक्ति के भीतर विवेकवादी सामाजिक नैतिकता जगाता है जो मानव विकास को आगे ले जाकर जीवन के सार्थक तत्वों की प्रेरणा देता है। तुलसी के काव्य में प्रगतिशील साहित्य की उपर्युक्त सभी विशेषताएँ विद्यमान हैं। उनके काव्य को सच्चे अर्थों में प्रगतिशील कहा जा सकता है।

प्रगतिशील साहित्य को व्यापक अर्थ में न लेकर संकीर्ण राजनैतिक प्रतिमानों के अर्थ में लेने वाले और तुलसी के काव्य को युग के परिप्रेक्ष्य में न देखने वाले व्यक्ति तुलसी पर प्रतिक्रियावादी होने का आरोप लगाते हैं। उन्हें सामंती-संस्कृति के पोषक, ब्राह्मणवादी समाज को पीछे खींचने वाली, मनुष्य और मनुष्य में घृणा फैलाने वाली विचारधारा का समर्थक मानते हैं। डॉ० ताराचन्द ने अपने इतिहास ग्रन्थ में इसी भ्रामक दृष्टिकोण को सामने रखकर रामानन्द के शिष्यों को कन्ज़र्वेटिव और रेडिकल दो वर्गों में विभाजित किया है। उन्होंने कन्ज़र्वेटिव (प्रतिक्रियावादी) के अन्तर्गत तुलसीदास और उनकी परम्परा के भक्तों को और रेडिकल (प्रगतिशील) के भीतर कबीर और उनकी परम्परा के भक्तों को लिया है। प्रश्न यह कि जो कवि स्वयं कहे :

कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना; सिर धुनि गिरा लागि पछ्ताना

अथवा

मेरे जाति पाँति, न चहौं काहू की जाति पाँति,
मेरो कोऊ काम को, न हौं काहू के काम को ॥

उसे सामंती संस्कृति का समर्थक अथवा ब्राह्मणवादी परम्परा का पोषक कैसे माना जाय। तुलसीदास सच्चे अर्थों के जनवादी कवि हैं। उनका सौंदर्य-बोध जागरूक प्रगतिशील चेतना का व्यापार है।

सौन्दर्यानुभूति हमारी सहज अन्तर्दृष्टि और सौन्दर्य-बोध हमारी प्रबुद्ध मनःस्थिति का व्यापार है। सौन्दर्य वह है जो बिना किसी प्रयोजन के आनन्दित करता है। सौन्दर्य वस्तु में भी होता है और दृष्टि में भी। वह आत्म-निष्ठ भी है और वस्तु-निष्ठ भी। सौन्दर्य को पूर्णतः व्यक्ति-निष्ठ मानने वाले चिन्तकों के अनुसार सौन्दर्य व्यक्ति की भावनाओं में होता है वस्तु में नहीं। वस्तु तो केवल हमारे भीतर विद्यमान सौन्दर्यानुभूति को जाग्रत करती है। यह कथन आंशिक सत्य है। क्योंकि यदि वस्तु में सौन्दर्यानुभूति जाग्रत करने की क्षमता न होगी तो सौन्दर्यानुभूति जाग्रत कैसे होगी। वस्तु की यही क्षमता उसका सौन्दर्य है। आचार्य शुक्ल जी के शब्दों में जैसे वीर कर्म से अलग वीरता कोई शब्द नहीं है, वैसे ही सुन्दर वस्तु से अलग सौन्दर्य का अस्तित्व नहीं है।

सौन्दर्य-बोध के प्रसंग में जब हम प्रगतिशील तत्वों की चर्चा करते हैं तब हमारा अभिप्राय सौन्दर्य के साथ शिव की अभिन्नता की ओर संकेत करना होता है। सौन्दर्य की स्थिति मात्र रूप में ही नहीं होती। सौन्दर्य भौतिक होने के साथ-साथ नैतिक और मानसिक भी होता है। भौतिक सौन्दर्य नैतिक सौन्दर्य पर आधारित होता है और मानसिक सौन्दर्य नैतिक सौन्दर्य को रूप देता है। कलाकार के सौन्दर्य-बोध का विश्लेषण करते समय उसके द्वारा व्यक्त रूप सौन्दर्य को ही नहीं लिया जा सकता। रूप-सौन्दर्य से अधिक महत्व उसके भाव, विचार, कर्म और अभिव्यक्ति-सौन्दर्य का है। सौन्दर्यानुभूति की दृष्टि से रूप की पूर्णता कला की विशिष्टता नहीं है। कला का लक्ष्य भावना और रूप की अभिन्नता या भावना की पूर्ण अभिव्यंजना के रूप में सुन्दर के लिए प्रयास या उसकी उपलब्धि है। निकोलाई ग्राविलोविच—चर्नोशेव्स्की के शब्दों में कलाकार के मस्तिष्क में एक मात्र रूप-सौन्दर्य की रचना करने की आकांक्षा से कलातमक-सृष्टि के विचार का उदय नहीं होता। कलाकार यदि वह वास्तव में कलाकार है तो अपनी कृतियों के द्वारा मुख्य रूप से अपने विचारों, मतों और भावनाओं को हम तक पहुँचाना चाहता है। मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार सौन्दर्य की भावना मनुष्य के अन्दर ऐतिहासिक परिस्थितियों के प्रभाव से उसकी उत्पादन-क्रिया के विकास के दौरान और उसमें से उत्पन्न कला और संस्कृति के बीच पैदा होती है। विषयी-गत के विपरीत मार्क्सवादी इस बात को स्वीकार करते हैं कि प्रकृति-सौन्दर्य की भावना शुद्ध रूप में चेतना की विषयी-गत अवस्था ही नहीं है बल्कि प्रकृति की वस्तुओं में और मनुष्य के सामाजिक जीवन में प्राप्त निश्चित विषय-गत वस्तुओं के कारण होती है। भारतीय सौन्दर्य-भावना को धर्म और दर्शन से अलग करके नहीं देखा जा सकता। हमारे यहाँ सौन्दर्य में आदर्श की प्रधानता रही है। सौन्दर्या-

भिव्यंजन में व्यक्तिगत से अधिक सामाजिक-पक्ष के महत्व को स्वीकारा गया है और सौन्दर्य की अभिव्यक्ति पवित्र, धार्मिक कार्य माना गया है। उसमें उचित अनुचित, अच्छे बुरे, हितकर अहितकर की तीव्र चेतना अवश्य विद्यमान रही है। कलाकार रचना करते समय आत्माभिव्यक्ति नहीं करता, वरन् अपने अनुभव को समाज के अनुभव में लीन कर देने का एक उपक्रम मात्र करता है अतः उसके द्वारा व्यंजित भाव सामान्य भूमि के होते हैं। काडवेल के शब्दों में कलाकार अपनी रचना में सौन्दर्य और सत्य की अभिव्यक्ति करता है। उस सौन्दर्य और सत्य के सच्चे स्वरूप का निर्णय सामाजिक चेतना से सम्पन्न मनुष्य ही करता है। कर्मशील मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों में निहित रागात्मक सत्ता ही सौन्दर्य-भावना का उद्रेक करती है। अतएव सौंदर्य का स्वरूप लोक-स्वीकृत होना चाहिए। सौन्दर्य इन्द्रिय-बोध तक ही सीमित नहीं है। उसकी सत्ता मनुष्य के भाव-जगत और उसके विचारों में है। व्यक्ति के भाव-जगत का आधार व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों प्रकार की अनुभूतियाँ होती हैं। दोनों कोटि की अनुभूतियों का आधार मनुष्य का सामाजिक जीवन है। अतएव सौन्दर्य की चेतना सामाजिक चेतना से भिन्न नहीं हो सकती।

तुलसीदास के सौन्दर्य-बोध में प्रगतिवादी तत्वों का विश्लेषण करते हुए, हमें तुलसी के काव्य में व्यक्त भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक सौन्दर्य के उन सभी पक्षों की ओर संकेत करना होगा जिनकी अभिव्यक्ति लोक-मंगल की कामना और समाज के भीतर न्याय-वृत्ति जाग्रत कर व्यक्ति के सांस्कृतिक और धार्मिक अभ्युत्थान के लक्ष्य को सामने रखकर की गई है। जिनके द्वारा व्यक्ति का सौन्दर्य-बोध तेज और पैना होता है, जिससे जो असुन्दर है, अभद्र है, मनुष्यता से रहित है, वह उसके लिए असह्य हो जाता है। तुलसी के काव्य में व्यक्त रूप, भाव विचार, कर्म तथा अभिव्यक्ति के सौन्दर्य में सर्वत्र प्रगतिशील तत्व विद्यमान है। उनकी दृष्टि आराध्य-देव के रूप, नाम, लीला और धाम के दिव्य सौन्दर्य के चित्रण में निरन्तर लोक-मंगल की ओर रही है। वे जैसे कर्म से हीन ज्ञान के समर्थक नहीं हैं वैसे ही शिव या लोक-मंगल की भावना से रहित सौन्दर्य, जो निष्क्रिय ज्ञान की वस्तु है, को भी नहीं स्वीकारते।

सौन्दर्य-विधान की प्रक्रिया के चार स्तर होते हैं। सर्व प्रथम रचनाकार के मन में सुन्दर वस्तु के माध्यम से सौन्दर्यात्मक ईक्षावृत्ति (एस्थटिक इन्टूइशन) के होने या सौन्दर्य के संस्कारों के जाग्रत होने की प्रक्रिया है। द्वितीय स्तर में सौन्दर्यात्मक ईक्षावृत्ति की भीतरी व्याख्या या सौन्दर्य के प्रति रचनाकार का दृष्टिकोण बनना आता है। इसी को सौन्दर्य की सच्ची सर्जना कह सकते हैं। तृतीय स्तर में भाषा, रंग, रेखा आदि वाह्य चिह्नों के द्वारा उसे अभिव्यक्त किया जाता है। चतुर्थ स्तर का सम्बन्ध रचनाकार से न होकर पाठक, दर्शक, श्रोता या अभिभावक से होता है जिसके भीतर पुनः उसी सौन्दर्य की रचना होती है। रचना में व्यक्त सौन्दर्य का महत्व रचना-प्रक्रिया के इसी चतुर्थ स्तर से आँका जा सकता है। जिस कवि के काव्य में व्यक्त सौन्दर्य पाठक, श्रोता या अभिभावक के भीतर निष्क्रिय-सौन्दर्य की रचना न कर शिवत्व से युक्त सौन्दर्य की रचना करता है, उसी का सौन्दर्य-बोध प्रगतिशील माना जाएगा। तुलसीदास के काव्य में वर्णित

राम का दिव्य रूप-सौन्दर्य दर्शक को आनन्दित करने के साथ ही उसे लोक के अमंगल कार्य से विरत होने की प्रेरणा देता है। मिल्टन ने 'ईव' की सुन्दरता का वर्णन करते हुए लिखा है कि शैतान उसे देखकर स्तब्ध-सा रह गया और एक क्षण के लिए दूसरे का अमंगल करने की वृत्ति भूल गया। कालिदास ने भी उमा के सौन्दर्य के वर्णन के प्रसंग में पाप-वृत्ति न जाग्रत होने की बात कही है। 'रामचरित मानस, में भी खर-दूषन और अन्य राक्षस राम के दिव्य सौन्दर्य को देख कुछ देर के लिए अधार्मिक युद्ध में प्रवृत्त होना भूल जाते हैं।

प्रभु बिलोकि सर सकहिं न डारी। थकित भई रजनीचर धारी॥
सचिव बोलि बोले खर दूषन। यह कोउ नृप बालक नर-भूषन॥
नाग असुर सुर नर मुनि जेते। देखे जिते हते हम तेते॥
हम भरि जन्म सुनहु सब भाई। देखी नहिं असि सुन्दरताई॥
जद्यपि भगिनी कीन्ह कुरूपा। बध लायक नहिं पुरुष अनूपा॥

तुलसीदास ने अपने आराध्य राम के सौन्दर्य में गत्यात्मक और परिवर्तनशील तत्वों की योजना की है। उनका काव्य आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलने वाले काव्य का नायक लोक-धर्म का संस्थापक होता है। ऐसे काव्य में सौन्दर्य का उद्घाटन असौन्दर्य का आवरण हटाकर किया जाता है। आचार्य शुक्ल जी के अनुसार भीषणता और सरसता, कोमलता और कठोरता, कटुता और मधुरता, प्रचण्डता और मृदुता का सामंजस्य ही लोक-धर्म का सौन्दर्य है। लोकनायक होने के कारण ही राम के सौन्दर्य में दीप्ति, माधुर्य और कोमलता के साथ ही दृढ़ता से पराक्रम, साहस और सहिष्णुता जैसे गुणों की योजना भी की गई है। बिना इन तत्वों के राम के सौन्दर्य की कल्पना ही संभव नहीं है।

राम काम सत कोटि सुभग तन। दुर्गा कोटि अमित अरि मर्दन॥
मरुत कोटि सत बिपुल बल, रवि सत कोटि प्रकास।
ससि सत कोटि सो सीतल, समन सकल भव त्रास॥

× × ×

कुलिसहु चाहि कठोर अति, कोमल कुसुमहु चाहि।

× × ×

विष्णु कोटि सम पालन करता। रुद्र कोटि सत सम संहरता॥

हमारे यहाँ धीरोदात्त नायक के सौन्दर्य वर्णन में ऐसे ही विरोधी गुणों की चर्चा की गई है। क्योंकि धीरोदात्त नायक लोक-व्यवस्था का संस्थापक होता है। तुलसी ने राम के रूप-वर्णन में निष्क्रिय स्थिर सौन्दर्य की योजना नहीं की है जैसा कि सूरदास या रसिक सम्प्रदायों के भक्त कवियों के द्वारा वर्णित आराध्य के सौन्दर्य में किया गया है, जहाँ दीप्ति, कान्ति, माधुर्य और कोमलता की ही प्रधानता है।

सुन्दर चित्र या सुन्दर विचार का एक लक्ष्य होता है, लोक-मंगल की ओर सब का ध्यान दिलाना। परात्पर ब्रह्म राम का दिव्य मानवीय रूप अद्वितीय आनन्द प्रदान करता हुए, व्यक्ति को लोक-मंगल की ओर तो प्रेरित करती ही है, उनका नाम भी अमं-

गल से पृथक कर आध्यात्मिक विकास की प्रेरणा देता है। अतएव रूप-सौन्दर्य से अधिक महत्व राम के सौन्दर्य का है।

आखर मधुर मनोहर दोऊ। बरन बिलोचन जन जिय जोऊ॥
सुमिरत सुलभ सुखद सब काहू। लोक लाहु परलोक निबाहू॥

तुलसी के सौन्दर्य-बोध का मूल आधार उनकी लोक-जीवन के प्रति निष्ठा और जीवन के प्रति प्रेम है। उन्होंने जिस सौन्दर्य की अभिव्यक्ति की है, वह जीवन का है, जीवन से कटा हुआ या कल्पित नहीं है। तुलसी ने अपने इष्टदेव राम की लीला के सौन्दर्य के माध्यम से जिस जीवन-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति की है, वह समाज को आगे बढ़ाता है। व्यक्ति की सांस्कृतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक चेतना को विकसित करता है। उनके इष्टदेव की लीला का सौन्दर्य प्रगतिशील है। क्योंकि उसमें गति है। उसका लक्ष्य असत् का विनाश कर सत् की प्रतिष्ठा करना है। उनकी लीला का सौन्दर्य हमारे भीतर सत्य और शिव के प्रति श्रद्धा और आस्था जाग्रत करता है जो वैयक्तिक और सामाजिक चेतना को समृद्ध करते हैं। तुलसीदास ने राम की लीला के साथ जिस कर्म-सौन्दर्य का चित्रण किया है वह भोग पक्ष का न होकर प्रयत्न पक्ष का है। उसका विकास विषमता और अव्यवस्था के बीच होता है जो अधर्म और अमंगल विनाश कर धर्म और लोक-व्यवस्था की स्थापना करता है।

तुलसीदास के काव्य में व्यक्त मनोभावों का सौन्दर्य हमारे भाव जगत का विकास करता है। हमारे भीतर जीवन के उन रूपों के प्रति निष्ठा जाग्रत करता है जो हमारे वैयक्तिक और सामाजिक जीवन की प्रगति में सहायक हैं। राम का शील, भरत का अनन्य त्याग और प्रेम, लक्ष्मण की सेवापरायणता हमारे भीतरी भाव-जगत को विकसित करती है। राम हनुमान के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुए कहते हैं, मैं आपके ऋण से उऋण नहीं हो सकता, आप महाजन हैं ऋण-पत्र लिखवा लीजिए। स्वामी का सेवक के प्रति यह कथन कृतज्ञता की उदात्त मनोवृत्ति का प्रतीक है और भारतीय संस्कृति की महान परम्पराओं के अनुकूल है।

देवो को न कछू रिनियाँ त। धनिक तु पत्र लिखाऊ।

राम को लौटाने भरत राम से मिलने गए। राम ने भरत पर ही सब कुछ छोड़ दिया। भरत का निर्णय ही अन्तिम होगा। पर, जो स्वामी को संकोच में डाल अपने हित का सम्पादन करता है वह बुद्धिहीन है, इस नैतिक आदर्श ने भरत को राम की इच्छा के विरुद्ध जाने ही नहीं दिया।

जो सेवक साहिबहि सँकोची। निज हित चहै तासु मति पोची।

संकीर्ण राजनैतिक मत में आबद्ध व्यक्तियों को तुलसी की रचना के ऐसे प्रसंग सामन्ती-प्रथा के पोषक प्रतीत होंगे। परन्तु सच्चे अर्थों में ऐसा उदात्त नैतिक सौन्दर्य और भव्य-मनोवृत्तियाँ शाश्वत रूप से मनुष्य की सामाजिक व्यवस्था की पोषक रही हैं और रहेंगी। वह व्यवस्था चाहे पूँजीवाद पर आधारित हो या साम्यवाद पर अथवा प्रजातांत्रिक समाजवाद पर। तुलसी की कृतियों में कर्म, मनोवृत्ति और विचार-सौन्दर्य के ऐसे अनेक स्थल

ढूंढे जा सकते हैं जो सामाजिक चेतना को सांस्कृतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक विकास की प्रेरणा देने वाले हैं।

तुलसी का सौन्दर्य-बोध लोक-मंगल विधायिनी जाग्रत मनःस्थिति का व्यापार है। वे निरन्तर औचित्य में सौन्दर्य को देखते हैं। कर्म, भाव, व्यवहार, विचार, वाणी और अभिव्यक्ति में जहाँ कहीं भी औचित्य है, मर्यादा है, वहीं उन्हें सौन्दर्य के दर्शन होते हैं। औचित्य का सौन्दर्य लोक-स्वीकृत होता है। सामाजिक चेतना-सम्पन्न मनुष्य ही औचित्य के सौन्दर्य के स्वरूप का निर्णायक होता है। औचित्य-सम्पन्न सौन्दर्य-भावना हमारे भीतर विवेकवादी सामाजिक नैतिकता जगाती है। वाणी का औचित्य मृदुता और सार्थकता में है। वाणी की मृदुता का सौन्दर्य और भी द्विगुणित होता है यदि विरोधी के समक्ष भी उसमें अन्तर न आए। राम विरोधी परशुराम के समक्ष भी विनीत मधुर वचन ही बोलते हैं।

अति बिनीत मृदु सीतल बानी, बोले रामु जोरि जुग पानी।
सुनहु नाथ तुम सहज सुजाना, बालक बचन करिअ नहि काना।

तुलसी के काव्य में, संवाद योजना में सर्वत्र मर्यादा, नैतिकता और औचित्य विद्यमान है। उन्होंने सम्वाद का सौन्दर्य वाक्-पटुता में नहीं देखा है जैसा कि केशव के काव्य में मिलता है। उनकी सम्वाद-योजना में मानव-हृदय की सम्पूर्ण उदात्त वृत्तियों का प्रतिबिम्ब अथवा भारतीय शिष्टता और सभ्यता के अमूल्य रत्नों को एक साथ देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए चित्रकूट में भरत, राम, जनक और वशिष्ट के बीच के सम्वाद को लीजिए। राम अपने निवेदन को लेकर वशिष्ट के पास जाते हैं। वशिष्ट राम का निवेदन जनक के समक्ष रखते हैं। जनक के मन में विचार आता है—

आए इहाँ कीन्ह भल नाहीं।

जनक भरत के पास गए। भरत ने सब भार जनक के कन्धे पर छोड़ दिया। अन्त में पुनः राम से निवेदन किया गया। राम ने प्रत्युत्तर दिया—

विद्यमान आपुनि मिथिलेसू। मोर कहब सब भाँति भदेसू॥

पुनः सभी भरत की ओर देखने लगते हैं। भरत शिष्टाचार के अनुकूल सभा को सम्बोधित करते हैं—

करि प्रनाम सब कहँ कर जोरे। राम राउ गुरु साधु निहोरे॥
छमब आजु अति अनुचित मोरा। कहहुँ बदनु मृदु बचन कठोरा॥

यह समस्त सम्वाद भारतीय-मर्यादा के अनुकूल है।

तुलसी ने कथा-योजना या प्रबन्ध-विधान में उन्हीं प्रसंगों का विस्तार किया है जहाँ विषम संघर्षों के मध्य से मंगल की किरण फूटती है अथवा जिनके द्वारा मनुष्य का भाव-जगत व्यापक एवं उदात्त बनता है। सूरदास और केशव के प्रबन्ध-काव्यों में कथानक के प्रसंग विस्तार का जो लक्ष्य रहा है। उसके साथ तुलसी के प्रबन्ध-काव्य के प्रसंग-विस्तार के लक्ष्य को रखकर तुलना करने पर स्पष्ट ज्ञात होता है कि जहाँ सूरदास का लक्ष्य दीप्ति, माधुर्य, कोमलता, प्रफुल्लता और केशव का चमत्कार की अभिव्यक्ति देना रहा है वहाँ तुलसी का लक्ष्य निरन्तर व्यक्ति के भाव-जगत् को समृद्ध कर,

उसके सौन्दर्य-बोध को तेज और पैना बनाना रहा है। जिससे उसमें सुन्दर, असुन्दर, भद्र, अभद्र के विश्लेषण का सच्चा विवेक जाग्रत होता है। तुलसी ने निरन्तर समग्रता में सौन्दर्य को देखा है और अपनी रचनाओं में मनुष्य की इसी समग्रता को अभिव्यक्ति दी है। निश्चय ही तुलसी की इसी सौन्दर्य-दृष्टि ने अपने युग की जनता को, जो अन्याय, शोषण, अव्यवस्था, अमानवीयता से त्रस्त थी, अभूतपूर्व शक्ति दी जिससे वह अपनी सांस्कृतिक चेतना की रक्षा कर सकी।

तुलसी के इष्टदेव के धाम के सौन्दर्य-वर्णन में भी प्रगतिशील तत्व विद्यमान है। कृष्ण-भक्त या रसिक सम्प्रदाय के भक्त कवियों ने आराध्य के धाम का जैसा वर्णन किया है तुलसी का उससे भिन्न है। कृष्ण-भक्तों ने आराध्य-धाम के वर्णन में दीप्ति, माधुर्य, कोमलता, वर्ण-वैचित्र्य, शीतल छाया, कलकंठ स्वर, सुगन्धित पवन, चपल भ्रूविलास, हास-परिहास, संगीत-सज्जा के साथ निरन्तर आनन्द की वर्षा होने का चित्रण किया है। तुलसी के इष्टदेव का धाम अयोध्या है। जहाँ राम-राज्य है। राम-राज्य का सौन्दर्य उनके इष्टदेव के धाम का सौन्दर्य है, जहाँ आनन्द की प्रतिष्ठा बाह्य-उपादानों से नहीं, समाज की आन्तरिक व्यवस्था और लोक-मंगल के माध्यम से कराई गई है। धाम का सौन्दर्य कल्पना से नहीं, जीवन के बीच से लिया गया है जिसमें मनुष्यता के समस्त श्रेष्ठ आदर्श एक साथ संयुक्त दिखाए गए हैं।

बयरु न करु काहू सन कोई। राम प्रताप विषमता खोई॥
× × ×
सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहि स्व धर्म निरत श्रुति नीती॥
× × ×
नहि दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुधन लच्छन हीना॥
× × ×
सब गुनाय पण्डित सब ज्ञानी। सब कृतग्य नहिं कपट सयानी॥

इष्टदेव के धाम का प्राकृतिक-सौन्दर्य आनन्द प्रदान करने के साथ ही निरन्तर लोक-हित में लगा दिखाई देता है—

फूलहि फरहिं सदा तरु कानन। रहहिं एक संग गज पंचानन॥
लता विटप भाँगे मधु चवहीं। मन भावतो धेनु पय स्रवहीं॥
× × ×
सरिता सकल बहहि बर वारी। सीतल अमल स्वाद सुख कारी।
सागर निज मरजादा रहहीं। डारहिं रत्न तटहिं नर लहहीं॥
× × ×
विधु महि पूर मयूरवह्नि, रवि तप जेतनेहि काज।
मागे वारिद देहिं जल, रामचन्द्र के राज॥

तुलसी की रचना में अभिव्यक्ति-सौन्दर्य में भी प्रगतिशीलता है। अभिव्यक्ति-सौन्दर्य में प्रगतिशीलता का समर्थन उनके ही द्वारा व्यक्त लोक मंगल में भनिति के सौन्दर्य को देखने का आदर्श प्रस्तुत करता है।

कीरति भनिति भूति भलि सोई । सुर सरि सम सब कहँ हित होई ।।

उन्होंने रचना की सरलता में सौन्दर्य देखा है, काठिन्य में नहीं। क्योंकि सरलता के अभि-भावक सम्पूर्ण जन होते हैं विशेष वर्ग नहीं।

सरल कबित कीरति बिमल, सोइ आदरहिं सुजान ।
सहज बयर बिसराइ रिपु, जो सुनि करहिं बखान ।।

तुलसी की भाषा का सौन्दर्य उसकी सरलता और सीधेपन (डाइरेक्टनेस) में है, दुरूहता या आलंकारिकता में नहीं। उन्होंने अपनी भाषा में जिन मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग किया है वे निम्नवर्गीय ग्रामीण जनता के बीच से ली गई हैं—

आजु कि कालि परों कि नरों,
जड़ जाहिंगे चाटि दिवारि को दीयो ।

× × ×

फल फूलैं फैलैं खल, सीदैं साधु पल पल,
खाती दीपमालिका ठठाइयत सूप है ।

× × ×

तुलसी बनी है राम रावरे बनाए ना तो
धोबी कैसो कूकरु न घर को न घाट को ।

तुलसीदास ने सौन्दर्य-विधान के लिए जिन उपमानों और बिम्बों का प्रयोग किया है वे नागरिक या ग्रामीण जीवन के परिवेश से लिए गए हैं, शुद्ध काल्पनिक नहीं हैं। उनको छन्द, लय और संगीत में भी वही सौन्दर्य दिखाई पड़ा है जहाँ वह सामान्य जन के अनुकूल पड़ा है। उन्होंने विशिष्टता में नहीं, सामान्यता में सौन्दर्य देखा है। उनके काव्य में प्रयुक्त विविध छन्द और संगीत की राग-रागिनी इसका प्रतीक है।

तुलसी की भक्ति-भावना मानव मात्र की साम्य-भावना की प्रतिपादक है। उन्होंने भक्ति-भावना को उस उच्च भूमि पर ले जाकर प्रतिष्ठित किया है जहाँ उसने अक्षय सौन्दर्य और मंगल की मूर्ति ग्रहण कर ली है। वस्तुतः तुलसी सच्चे अर्थों में जन-वादी कवि हैं। उनका सौन्दर्य-बोध एकान्तिक मनःस्थिति का व्यापार न होकर, सत्, असत्, मंगल, अमंगल का सच्चा ज्ञान रखने वाली, उदात्त सामाजिक न्याय-वृत्ति से युक्त, विवेकवादी सामाजिक नैतिकता से परिपूर्ण जागरूक चेतना का व्यापार है।

डॉ० सुबोध चन्द्र

राहुल की उपन्यास कला—एक मूल्यांकन

राहुल जी के उपन्यास उनके युग की देन हैं; उस युग की, जो मार्क्स के दर्शन से प्रेरित, अनुप्राणित एवं प्रभावित रहा है। राहुल जी की प्रतिभा भी उनके युग की ही उपज थी; वह प्रतिभा, जो अपने युग के आर्थिक-सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन से सम्बद्ध रही थी और जो अपने युग की महान क्रान्तियों—सत्याग्रह-आन्दोलन, किसान-आन्दोलन, स्वतन्त्रता-संग्राम, वर्ग-संघर्ष और भौतिक एवं सांस्कृतिक उत्तराधिकार के उन्नयन आदि से परिचालित थी। अपनी प्रतिभा के संस्पर्श से उन्होंने युगीन मनोधाराओं को आत्मसात् कर उन्हें एक साधारणीकृत अभिव्यक्ति दी। यह अभिव्यक्ति साहित्य के विविध रूपों—उपन्यास, कहानी, निबन्ध, आलोचना, नाटक इत्यादि के माध्यम से हुई है। राहुल जी की मौलिकता इस बात में है कि उन्होंने अपनी अभिव्यक्ति को इतिहास की सुदृढ़ भित्ति प्रदान की। उनके प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यास ('सिंह सेनापति', 'जय यौधेय' और 'मधुर स्वप्न'), प्रमुख ऐतिहासिक कहानियाँ ('वोल्गा से गंगा') और दोनों सामाजिक उपन्यास ('बाईसवीं सदी' और 'जीने के लिए') इस तथ्य के परिचायक हैं। इतिहास के कालखण्डों से अपनी मनोधारा की अभिव्यक्ति के अनुरूप ऐतिहासिक प्रसंग खोज कर उनका समुचित कलात्मक अथवा रचनात्मक उपयोग कर पाना भी कोई साधारण बात नहीं, इसके लिए रचनात्मक प्रतिभा के अतिरिक्त काल-भेदिनी सुविस्तीर्ण ऐतिहासिक दृष्टि की आवश्यकता है; राहुल जी के पास वही पारदर्शिनी दृष्टि थी, जिसके सामने अतीत के ऐतिहासिक काल-खण्ड अपने समस्त गुण-दोषों सहित भली-भाँति प्रत्यक्ष हो गए थे। और उन्होंने अपने प्रतिपाद्य की सामग्री लेकर अपनी विचारधारा को अभिव्यक्ति दी।

राहुल जी की कला सोद्देश्य कला है। वे 'कला के लिए कला' (आर्ट फार आर्ट्स सेक) वाले शुद्ध कलावादी सिद्धात के समर्थक नहीं हैं, वरन् कला के उपयोगितावादी सिद्धान्त को ही वे महत्व देते हैं। उनकी कला, इसीलिए, अपनी विशिष्ट सीमाओं में 'शिवं' तत्व पर अधिक बल देती है, 'सत्यं' और 'सुन्दरम्' उसके बाद की वस्तुएँ हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि राहुलजी 'सत्यं' और सुन्दरम्' के साथ 'शिवं' का सम्यक् समन्वय नहीं कर सके हैं, और उनकी कृतियों में कलात्मकता को क्षति पहुँची है; फिर भी रचनाकाल की दृष्टि से उनके ऐतिहासिक उपन्यास कई दृष्टियों से मौलिकता लेकर हिन्दी साहित्य-जगत के सामने आए थे। यह मौलिकता प्रतिपाद्य एव प्रतिपादन शैली दोनों में ही निहित थी। राहुल जी के लिए यह कम गौरव की बात नहीं कि उपन्यास-क्षेत्र के न होते हुए भी उन्होंने उपन्यास के क्षेत्र में नए क्षितिजों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया, जिनसे प्रेरित हो रांगेय राघव जैसे उपन्यासकार आगे आए और आचार्य चतुरसेन शास्त्री तक जिनसे प्रभावित हुए। शैली में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने राहुल जी का रास्ता अपनाया। ऐसी स्थिति तब है, जब कि राहुल जी अपने उपन्यासों को ऐतिहासिक

उपन्यास न कहकर 'औपन्यासिक इतिहास' कहा करते थे।[1]

राहुल का यह कथन है कि उनके उपन्यास 'औपन्यासिक इतिहास' थे, उनकी उपन्यास कला के वैशिष्ट्य की ओर सम्यक् संकेत करता है। वास्तव में उनके उपन्यासों में इतिहास अधिक है (राजनीतिक नहीं सांस्कृतिक) और कला कम। इसीलिए यदि राहुल जी के उपन्यासों में कला की न्यूनता हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

राहुल जी का कथा-शिल्प अविकसित एवं अप्रौढ़ है; इनमें कथा कहने का वह अन्दाज नहीं है, जो पाठक को अभिभूत कर, उसे चमत्कृत कर अपने साथ बहाए लिए चलता है, वह उपन्यास को अधूरा छोड़ना चाहे, तो नहीं छूटता, उत्सुकता और कौतूहल उसे बाध्य करते हैं, कि वह आगे बढ़े, आगे पढ़े, सम्भवतः अब रहस्योद्घाटन हो, शायद अब सच्चाई सामने आए, और इस तरह वह भ्रमित-सा कथा-प्रवाह के साथ अन्त तक बहा चला जाता है, खाना-पानी-नींद सब कुछ हराम हो जाता है। राहुल जी के कथा-शिल्प पर उनकी सोद्देश्यता बहुधा हावी हो जाती है; वे कथा कहना छोड़कर बीच-बीच में स्वयं या पात्रों के कथोपकथन के माध्यम से अपनी विचारधारा एवं दृष्टिकोण को पाठकों के ऊपर बरबस आरोपित करने लगते है, जिससे कथा की गति अल्पकाल के लिए रुद्ध हो जाती है और उसके साथ ही पाठक को भी कथा के साथ चलते हुए अपने मन को भी रोकना पड़ता है और अपनी प्रज्ञा को सचेष्ट कर उस विचार-सरणि को आत्मसात् करने का बलपूर्वक प्रयास करना पड़ता है। इस प्रकार राहुल जी के उपन्यासों की कथाओं में गति का अभाव है और रहस्य एवं कौतूहल की कमी। लेखक ने अपने सभी उपन्यासों में प्रत्येक परिच्छेद का शीर्षक विषयानुसार दे दिया है। इससे भी हानि पहुँची है, पाठक की उत्सुकता को वह पहले ही खतम कर देता है।

अपने उपन्यासों में उसने संघर्ष के तत्व को अवश्य रक्खा है, पर उसमें भी सर्वत्र अपेक्षित क्रमबद्धता या एक क्रमिक विकास नहीं दृष्टिगोचर होता। कथाओं में कौतूहल की सृष्टि करने वाले मनोवैज्ञानिक क्षणों की न्यूनता है। जो कुछ उसे कहना है, वह अत्यन्त स्पष्ट ढँग से कह देता है, गोपनीय ढंग से धीरे-धीरे रहस्य का पर्दा नहीं हटाता है, दृश्य पर धीरे-धीरे प्रकाश नहीं डालता, बल्कि एकदम सर्च-लाइट के प्रकाश में सत्य को हमारे सामने उजागर कर देता है। लेखक के सुस्पष्ट-सीधे व्यक्तित्व की छाप है, उसके सीधे-सादे कथा-शिल्प पर।

इस प्रकार राहुल जी के उपन्यासों की कथाएँ सीधी-सादी हैं, उनमें कथात्मक मोड़ों, घटना-प्रवाहों, उतार-चढ़ावों का प्रायः अभाव है; मनोवैज्ञानिक क्षणों और भावपूर्ण या संवेदनात्मक प्रसंगों की भी कमी है; फिर भी उनमें एक सुस्पष्ट एवं सशक्त जीवन-दर्शन है और मानव जीवन का सजीव चित्रण भी। ये तत्व ऐसे हैं, जो हमें कुछ प्रेरणाएँ दे सकते हैं। एक स्थल पर भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने लिखा है—"राहुल जी के दिल में भारत की नंगी-भूखी जनता के लिए जो असीम वेदना है, उसी ने राहुल जी की लेखनी की नोंक को कुछ इतना तीखा बना दिया है कि वह कुछ लोगों को इस बुरी तरह चुभती

१. राहुल जी की पत्नी डा० श्रीमती कमला सांकृत्यायन के कथनानुसार।

है कि वह सोते रह ही नहीं सकते।"[1]

साहित्य की अन्य विधाओं के समान राहुल जी ने अपने उपन्यासों में भी उसी नंगी-भूखी मानवता को जीवन देने का प्रयास किया है। उसे अपने स्वार्थों की रक्षा करने की चुनौती दी है। 'जीने के लिए' में जनता ने उसकी वह चुनौती स्वीकार की है और 'बाईसवीं सदी' में उन्होंने इसके परिणाम के विस्तृत लाभ को चित्रित किया है। ऐतिहासिक उपन्यासों मूलतः 'सिंह सेनापति', 'जय यौधेय' और 'मधुर स्वप्न' के माध्यम से भी उन्होंने 'प्रजातांत्रिक मानवतावाद' की प्रतिष्ठा करने का प्रयास किया है। ऐसी मानवता, जिसकी आवश्यकता प्रजातन्त्र को है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को विकास की पूरी संभावनाएं रहती हैं। प्राचीन भारतीय गणतन्त्रों को हमारे सामने प्रकाशित कर लेखक हमें दिशादृष्टि देता है कि रक्त-शुद्धता सम्बन्धी जिस अनुदारता के कारण वे कूपमंडूक होकर नष्ट हुए, हम अब उसी की पुनरावृत्ति न करें। हम संघबद्ध होकर कार्य करें अवश्य पर हमारा दृष्टिकोण उदार हो और हम किसी भी धर्म, सम्प्रदाय, जाति को आत्मसात् कर सकें। 'विस्मृत यात्री' में उन्होंने भारतीय युवकों को कुशल पर्यटक बनने की प्रेरणा दी है, जिससे हम ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में विश्व की अन्य उन्नतिशील जातियों से पिछड़े न रहें।

अपनी कथाओं में मानवीय तत्व की प्रतिष्ठा के लिए प्रयुक्त अन्य साधनों में उन्होंने सम्भवतः फ्रायड के यौनवाद से प्रभावित हो 'सेक्स' का उपयोग एक सीमा तक आधिक्य से किया है। 'सिंह सेनापति' में यह अपने अतिरेक पर है, 'जय यौधेय', 'मधुर स्वप्न', 'विस्मृत यात्री' और 'जीने के लिए' में वह प्रायः संयमित रहा है और 'बाईसवीं सदी' तथा 'दिवोदास' में इसका प्रायः अभाव है। इस सम्बन्ध में डा० देवराज उपाध्याय का मत द्रष्टव्य है—"राहुल जी ने ऐतिहासिक उपन्यासों में 'जय यौधेय', 'सिंह सेनापति' तथा मधुर स्वप्न' में जिस मुक्त और स्वच्छन्द विलास का महोत्सव मनाया है, वह इतिहास की रक्षा मात्र ही नहीं है, उसमें इस युग का भी प्रभाव है। इसको द्विवेदी युग की उपदेशात्मक लज्जाशीलता के वाह्य और झूठे आडम्बर के विरुद्ध प्रतिक्रिया मात्र कह कर ही संतोष नहीं किया जा सकता। यह निश्चित रूप से फ्रायड के लिबिडो वाले सिद्धांत का परिणाम है, जो यह प्रतिपादित करता है कि मनुष्य के अवचेतन की सारी प्रवृत्तियाँ काममूलक होती हैं, हमारे सारे आन्तरिक संघर्ष के मूल में काम भावना है।"[2]

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी ये उपन्यास बहुत सफल नहीं कहे जाएँगे, फिर भी उसने हमारे सामने कुछ सशक्त चरित्रों को उभारा है, जिनमें देवराज (जीने के लिए), जय (जय यौधेय), तथा मज्दक (मधुर स्वप्न) मुख्य हैं। हेनरी जेम्स ने लिखा है कि चरित्र-निर्माण का वृहद् स्रोत लेखक स्वयं है, किसी न किसी रूप में काल्पनिक चरित्र में उसके व्यक्तित्व का विकास आवश्यक है।[3] राहुल जी के चरित्र-निर्माण का उद्गम भी

१. जो लिखना पड़ा; पृ० १०५।
२. आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान (१९५६), पृ० ३४५.
३. The great source of character creation is of course the novelist's own self. Some form of self-projection must always take place, of reincarnation, in the fictional character.

उनका निजी व्यक्तित्व है। देवराज के व्यक्तित्व में तो वे पूर्णतः उतरे हैं; जीवन-परिस्थितियों, विचारों एवं प्रकृति में ही नहीं, वरन् कार्यों में भी। क्योंकि देवराज भी बीसवीं सदी का है, उन्हीं भावों-विचारों से अनुप्राणित-परिचालित, जिनसे लेखक ने स्वयं जीवन-दिशा ग्रहण की। गेटे का एक उपन्यास है 'विल्हेम मीस्टर्स अप्रेन्टिसशिप' (जर्मन शीर्षक—Wilhelm Meisters Lehrjahre), जिसका नायक है विल्हेम मीस्टर। उसके सम्बन्ध में एक आलोचक ने लिखा है कि उसमें गेटे के अनेक व्यक्तिगत गुण हैं, और उसके विकास में उसके स्रष्टा के जीवन के अनेक प्रसंग आए हैं।[१] यही बात देवराज के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है, बल्कि इससे आगे भी अनेक बातों में देवराज और राहुल के काल्पनिक एवं वास्तविक जीवन में सादृश्य है। इसी प्रकार 'जय यौधेय' में जय लेखक के विचारों एवं भावनाओं का प्रतिनिधित्व करता है, और 'विस्मृत यात्री' में बुद्धिल तथा 'सिंह सेनापति' में सिंह उनके विचारों का प्रतिनिधित्व करते हैं। यही कारण है कि लेखक सशक्त नारी पात्रों की सृष्टि नहीं कर सका है, क्योंकि उसके सामने उसकी इच्छा के अनुकूल कोई आदर्श नहीं था। केवल 'जीने के लिए' की जेनी में ही एक सशक्त चरित्र प्रस्तुत हुआ है। वह भी इसीलिए कि वह लेखक के विचारों एवं दृष्टिकोण का वहन करती है। बाकी सब नारी पात्र—रोहिणी, भामा, सुनन्दा, नन्दा, वसुनन्दा, वासन्ती, भद्रा, सम्बिक्, वर्दक आदि प्रायः एक से लगते हैं। वे केवल प्रेमिकाएँ, पत्नियाँ या भाभियाँ हैं; माएँ कोई नहीं। इस प्रकार नारीत्व का जो चित्रण राहुल जी ने किया है, उसमें केवल प्रेयसीत्व ही प्रमुख है, मातृत्व गौण। उनकी नायिकाएँ युद्ध का संचालन भले ही कर लें, माँ के कर्त्तव्य एवं दायित्व का निर्वाह करने में वे अक्षम हैं और इसलिए उनका चित्रण अधूरा है। इस सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र की उक्ति उल्लेख्य है—"नारी पात्रों में 'सिंह सेनापति' की रोहिणी और क्षेमा, 'जय यौधेय' की वासन्ती व सुनन्दा एक ही साँचे में ढली हुई हैं। भामा और नन्दा में तीखापन और ज्यादा है। उनका चित्रण देखकर अमरीकन सैनिकों द्वारा किये हुए रूसी स्त्रियों के वर्णन का स्मरण हो आता है।"[२] नारी जीवन की गुत्थियों एवं पहेलियों का भी उनमें अभाव है। गृहस्थ-जीवन की समस्याओं का तो उनके सामने कोई प्रश्न ही नहीं उठता; उनके सामने मूल समस्या रहती है मनोरंजन की। नारियों के इस प्रकार चित्रण असंयत, अपूर्ण एवं अस्वाभाविक हैं। नारी पात्रों में केवल 'जेनी' और 'राधा' का ही चित्रण सफल है। ये दोनों ही 'जीने के लिए' की पात्रियाँ हैं। प्रश्न उठता है, 'जीने के लिए' के बाद के सभी उपन्यासों में लेखक का नारी-चित्रण के प्रति ऐसा एकांगी भाव क्यों है ? उनके सामने केवल वाह्य संसार ही क्यों है ? घर में उनका कोई महत्व नहीं रहता ? सम्भवतः राहुल जी उन्हें घर की लक्ष्मी न बनाकर रूस की स्वतन्त्र नारी के रूप में चित्रित करना चाहते हैं; पर स्वतन्त्र नारी के तो समाज के प्रति और भी

---

१. George Lukacs; "As such a figure Wilhelm Meister bears many personal traits of Goethe himself and his development contains innumerable episodes from the life of his creator." (The Historical Novel, 1962, P. 303

२. विचार और विवेचन, पृ० १२८।

कर्त्तव्य बढ़ जाते हैं, अपने प्रति भी बढ़ जाते हैं, फिर ऐसी उच्छृंखलता किस प्रकार शोभनीय हो सकती है ?

पुरुष पात्रों के चरित्र-चित्रण में सबसे सफल चित्रण देवराज का हुआ है। उनके चित्रण में लेखक ने उनके नामों का भी उपयोग किया है, जैसे देवराज नाम से उसके सशक्त व्यक्तित्व का पता चलता है। सिंह और जय नामों से भी पात्रों की वीरता, साहस, निडरता आदि गुणों का प्रकाशन होता है, बुद्धिल से उसके बुद्धिवादी होने का पता चलता है, शान्तिल से शान्त प्रकृति का ज्ञान होता है। इस प्रकार अनेक पात्रों के नामकरण के द्वारा उनके चरित्र-चित्रण का प्रयास किया गया है। पर यह बात केवल कल्पित पात्रों के सम्बन्ध में ही कही जा सकती है। स्त्री पात्रों का सामान्यत: स्वाभाविक नामकरण हुआ है, केवल एक-आध को छोड़कर, जैसे वर्दक (गुलाब) से उसकी सुन्दरता, कमनीयता आदि का बोध होता है। पर जहाँ नामकरण पात्र के स्थान, वर्ग, शिक्षा आदि के अनुसार हुआ है, वहाँ वह अधिक स्वाभाविक रहा है, जैसे लौटूसिंह, मंगरू, मैकूसिंह, लक्ष्मी, मुंगिया आदि निम्न अशिक्षित या अल्पशिक्षित वर्ग के बड़े सहज नाम हैं। इसी प्रकार बौद्ध भिक्षुओं के लिए बुद्धिल, संघिल आदि नाम अत्यन्त स्वाभाविक हैं।

कहीं-कहीं अध्यायों के शीर्षकों द्वारा भी नायक के चरित्र पर प्रकाश पड़ा है, जैसे, शिकार और उपकार, प्रेम और आदर्श, स्वयंसेवक को सजा, सत्याग्रही (जीने के लिए), बुद्ध का अनुयायी (सिंह सेनापति), प्रेम या त्याग (जय यौधेय), संकल्प (मधुर स्वप्न), महाचीन की ओर, व्यस्त जीवन (विस्मृत यात्री), अतिथि ग्रह (दिवोदास) आदि।

पर चरित्र-चित्रण अधिकतर घटनाओं, पात्रों की क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं या उनके कथोपकथन के द्वारा किया गया है; विश्लेषणात्मक पद्धति का आत्मकथात्मक शैली वाले उपन्यासों में तो उपयोग भी नहीं हो सकता था, पर 'जीने के लिए', 'मधुर स्वप्न' और 'दिवोदास' में भी कहीं-कहीं ही चरित्रों पर लेखक की टीका-टिप्पणी मिलती है। इसके अतिरिक्त यत्र-तत्र पात्रों के अनुभाव-चित्रण के द्वारा भी उनके चरित्रों पर प्रकाश डाला गया है। एक-आध स्थल पर पत्रों के माध्यम से भी चरित्र-चित्रण किया गया है, जैसे 'जीने के लिए' में जेनी का अपूर्ण पत्र एनी ब्लंट पूरा करती है, और जेनी और एनी दोनों के अंशों से जेनी के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है। अज्ञेय के पात्रों की 'उद्धरण शैली'[1] का राहुलजी में अभाव है, पर 'दिवोदास' में पुरूरवा-उर्वशी के गीत की टीका-टिप्पणी से पौरवी के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है।

जहाँ तक चरित्रों में अन्तर्द्वन्द्व का प्रश्न है, लेखक ने इसका उपयोग यदा-कदा ही किया है। अन्तर्द्वन्द्व की स्थितियों के अधिक समावेश न होने का कारण यह है कि राहुलजी के पात्र भी उन्हीं के अनुरूप सशक्त एवं सक्रिय चरित्र वाले तथा जीवन और जगत् के सम्बन्ध में सुस्पष्ट भाव या विचार रखने वाले हैं, इसलिए उनके मन में द्वन्द्व की स्थिति नहीं आती; जो कुछ वे करना चाहते हैं, वही वे करते हैं, और जो वे करते हैं, वही उन्हें

---

१. अज्ञेय के औपन्यासिक पात्र स्थान-स्थान पर विभिन्न कवियों-लेखकों के उद्धरण देते हैं, जिनसे उनके चरित्र पर भी प्रकाश पड़ता है। चरित्र-चित्रण की इस शैली को डा० रणवीर रांग्रा ने 'उद्धरण शैली' नाम दिया है।

उनके जीवन-दर्शन के अनुसार करना भी चाहिए।" अन्तर्द्वन्द्व उन्हीं पात्रों के भीतर छिड़ा करता है, जिनके निकट जीवन और जगत् के मूल्य सुस्पष्ट नहीं होते, जो यह निश्चय नहीं कर पाते कि किसको किस पर प्राथमिकता दी जानी चाहिए।···जिन पात्रों की आत्मा में बल होता है और जिनकी इच्छा-शक्ति प्रबल होती है तथा जिनके निकट सामाजिक मूल्य सुस्पष्ट होते हैं, उनमें अन्तर्द्वन्द्व नहीं उठ पाता। वे भीषण से भीषण परिस्थितियों में भी विचलित नहीं होते और धैर्य से अपने पथ पर बढ़ जाते हैं।"[1]

इस प्रकार चरित्र-चित्रण में राहुलजी का ध्यान अधिकतर चरित्र के वाह्य रूप पर ही केन्द्रित रहा है। यदि डा० रांग्रा की उपमा ग्रहण करें, तो हिमनग (आइसबर्ग) के जल के ऊपर के भाग के समान वे चरित्रों के वाह्य, दृष्ट रूप को पकड़ने तक ही सीमित रहे हैं, हिमनग के जल के नीचे छिपे अधिकांश अदृष्ट अंश के समान चरित्र के अदृश्य, अप्रकाशित अन्तर्मन के चेतन एवं अवचेतन पक्षों को पकड़ने की उन्होंने कोशिश नहीं की है। अन्तर्मन के चेतन भाग को कभी-कभी छूने की चेष्टा उन्होंने अवश्य की है, पर अत्यधिक कम। यों ऐतिहासिक चरित्रों का निर्माण करने में लेखक के सामने सबसे बड़ी कठिनाई यह रहती है, कि उसके सामने कोई आदर्श नहीं होता। सुदूर अतीत के ऐतिहासिक चरित्र कभी हमारी आँखों के सामने न तो आते ही हैं और न विकसित होते हैं जब भी वे जन-साधारण के बीच से (अथवा अभिजात्य से) समय की आवश्यकतानुसार इतिहास में भी प्रकट होते हैं, तो अपने विकसित रूप में। इसलिए उनके चरित्र का विकास किस प्रकार हुआ, यह जानना कठिन है।[2] लेखक उनके पूर्व जीवन या चरित्र विकास के सम्बन्ध में केवल अनुमान लगा सकता है। अतः सिंह सेनापति, जय यौधेय, चन्द्रगुप्त, मज्दक, कवाद्, नरेन्द्रयश, दिवोदास, राम्वर आदि के चरित्र चित्रित करते समय भी लेखक के सामने इसी प्रकार की इतिहास सम्मतता सम्बन्धी कठिनाइयाँ रही होंगी। उनकी (पात्रों की) ऐतिहा-

१. रणवीर रांग्रा, हिन्दी उपन्यास में चरित्र-चित्रण का विकास, पृ० ७५।

२. George Luckacs—"With the classics and their conception the historical figures practically never develop before our eyes. The genesis and development of the 'world historical individual' take place among the people. The great figures appear, as Balzac showed in the case of Scott, only at such points where the objective necessity of the popular movements imperatively requires their appearance. And then they appear as complete characters, as concentrations, as supreme forms of expression of this development. They are great because they possess this concentrating power, because they are able to answer the problems most deeply affecting the life oft he people at this moment. Like the Homeric heroes physically, they are intellectually taller than the people by a head. But their historical greatness lies in the fact that they are taller only by a head and that they give the socially-historically possible and necessary concrete answer to the concrete questions of the people." (The Historical Novel, p. 312.)

सिक महत्ता तो इस बात से सिद्ध होती ही है, कि अपने समय की समस्याओं का उन्होंने अपने ढंग से हल करने का प्रयास किया। अस्तु, हम देखते हैं कि ऐतिहासिक उपन्यासों की अपेक्षा राहुलजी के सामाजिक उपन्यास 'जीने के लिए' में उनकी चरित्र-चित्रण की कला अधिक विकसित हुई, परिमाण एवं सूक्ष्मता दोनों ही दृष्टियों से। ऐतिहासिक उपन्यासों में सबसे सुन्दर चरित्र-चित्रण 'मधुर स्वप्न' में हुआ है और उसके बाद 'जय यौधेय' में।

जहाँ तक ऐतिहासिक उपन्यासों में वातावरण के सृजन का प्रश्न है, लेखक ने उसके लिए पर्याप्त उद्योग किया है और इसमें उसे सफलता भी मिली है। वातावरण-निर्माण के साधनों में उसने कल्पित कथा, ऐतिहासिक शब्दावली, ऐतिहासिक वस्तु-वर्णन आदि साधनों का साहाय्य लिया है।

जहाँ तक राहुलजी के उपन्यासों में प्रगतिशील तत्वों का प्रश्न है, उनके उपन्यासों में प्रगतिशील एवं प्रगति विरोधी—दोनों कोटियों के तत्व विद्यमान हैं। प्रगतिशीलता एवं प्रगतिशील साहित्यकारों के सम्बन्ध में एक स्थल पर उन्होंने लिखा है—"प्रगतिशीलता जीवन के हर एक अंग—ज्ञान और कर्म दोनों—से सम्बन्ध रखती है और जरूरी है कि उनके प्रति प्रगतिशील साहित्यिक अपने दृष्टिकोण को साफ-साफ समझें।...प्रगतिशीलता कभी अपने को अपनी पूर्वगामी संस्कृति-धारा की विरासत से महरूम नहीं कर सकती...प्रगतिशील लेखकों के बारे में कभी-कभी आक्षेप सुना जाता है कि वह नग्नता, अश्लीलता और यौन दुराचार को अपनी लेखनी का विषय बनाते हैं। दरअसल यदि कोई प्रगतिशील लेखक ऐसा करता है, तो वह भारी गैर-जिम्मेवारी दिखलाता है और प्रगतिशील कहे जाने का कभी अधिकारी नहीं हो सकता।"[1] परन्तु, स्वयं राहुलजी अपने उपन्यासों में इन दोषों से बच नहीं सके हैं। उन्होंने अनेक स्थलों पर पूर्वगामी भारतीय संस्कृति के उत्तराधिकार को झुठलाते हुए वाल्मीकि, वेदव्यास और कालिदास को चाटुकार घोषित कर (जय यौधेय) भारतीय जनता की श्रद्धा-भावना को ठेस पहुँचाई है। इसके अतिरिक्त अनेक स्थलों पर उन्होंने नग्न, अश्लील एवं अशोभन चित्रण कर (सिंह सेनापति, मधुर स्वप्न, जय यौधेय), पाठकों की वासना को उभाड़कर, उनकी वृत्तियों को अधोमुखी करने की चेष्टा कर एक बड़े अनुत्तरदायित्व का कार्य किया है। वे भूल जाते हैं कि प्रगतिशील साहित्य में नारी का चित्रण उसके सम्मान एवं उसकी स्वाधीनता का पक्षपाती है, न कि उसकी नग्नता का।

इन कमियों के बावजूद राहुलजी के उपन्यासों में प्रगतिशीलता के जिन तत्वों की संगति पाई जाती है, उन्हें हम इस प्रकार रख सकते हैं :—

१. जन-शक्ति के स्रोत का आह्वान और उपयोग—'जीने के लिए', 'बाईसवीं सदी', 'सिंह सेनापति' 'जय यौधेय' और 'मधुर स्वप्न' में।

२. प्राचीन भारतीय परम्परा से दिशा-निर्देश—'सिंह सेनापति' और 'जय यौधेय' से गणतांत्रिक प्रणाली के गुण-दोषों का दिग्दर्शन।

३. प्राचीन भारत के पर्यटकों का दृष्टांत देकर हमें संसार देखने की प्रेरणा देना—'विस्मृत यात्री' से।

१. आज की समस्याएँ (लेख—प्रगतिशीलता का प्रश्न), पृ० ४४-४८।

४. सामन्तवाद के दोष दिखाकर जनतन्त्रवाद में हमारी आस्था बढ़ाना—'सिंह सेनापति', 'जय यौधेय' और 'मधुर स्वप्न' में।

५. अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करना—'जीने के लिए' और 'मधुर स्वप्न' में।

६. अपने आदर्शों के लिए बलिदान हो जाना—देवराज, जेनी, जय यौधेय और मज्दक।

७. नारी को दायित्वपूर्ण जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा देना—जेनी और रोहिणी।

इस प्रकार इन उपन्यासों से हमें सामंती शोषण-चक्र हटाकर जन-जागरण, जन-स्वातंत्र्य, नारी स्वातंत्र्य एवं आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक रूढ़ियों से मुक्त होने और 'प्रजातांत्रिक मानवतावाद' की प्रतिष्ठा करने की प्रेरणा मिलती है और अतीत की सुन्दर-श्रेय परम्पराओं से सम्बन्ध स्थापन करने की भी।

अन्त में, यदि हम राहुलजी की उपन्यास-कला के विकासात्मक अध्ययन का प्रयास करें, तो हमें निराश होना पड़ता है, क्योंकि उनकी उपन्यास-कला का विकास वक्र-गति से हुआ है, अर्थात् उनकी प्रथम औपन्यासिक कृति 'बाईसवीं सदी' कथा-शिल्प और चरित्र-चित्रण—दोनों दृष्टियों से एक असफल रचना है, 'जीने के लिए' हर दृष्टि से एक सफल सामाजिक उपन्यास है, तीसरी कृति 'सिंह सेनापति' कथा-शिल्प और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से सामान्य है, उसके बाद 'जय यौधेय' में इन दोनों ही दृष्टियों से एवं कलात्मक नियंत्रण की दृष्टि से पर्याप्त विकास हुआ है, 'मधुर स्वप्न' में कथा-शिल्प और चरित्र-चित्रण की कला पुनः विकसित हुई है, पर भाषा सम्बन्धी कृत्रिमता आ गई है, 'विस्मृत यात्री' फिर उपन्यास के रूप में खपती नहीं, 'दिवोदास' पुनः सामान्यतः एक सफल लघु उपन्यास है। ऐतिहासिक वातावरण-चित्रण की दृष्टि से 'सिंह सेनापति' एवं 'मधुर स्वप्न' के प्रयास प्रशंसनीय हैं। ऐतिहासिक आधार की प्रामाणिकता की दृष्टि से 'दिवोदास' और 'मधुर स्वप्न' सर्वाधिक प्रौढ़ कृतियाँ हैं। समष्टिगत रूप से 'जय यौधेय' राहुलजी का सर्व-श्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यास है और 'सिंह सेनापति', 'दिवोदास' और 'मधुर स्वप्न' सामान्यतः सफल ऐतिहासिक उपन्यास हैं। 'सिंह सेनापति' के साथ ही हिन्दी के ऐति-हासिक उपन्यासों की एक नई परम्परा का और 'जीने के लिए' के साथ सामाजिक उपन्यासों की समाजवादी धारा का प्रवर्तन हुआ, यह कहने में तो कोई अत्युक्ति ही नहीं। निस्संदेह सभी उपन्यास सामाजिक सोद्देश्यता से अनुप्राणित हैं।

चन्द्रकांत बांदिवडेकर

चित्रलेखा : एक पुनर्मूल्यांकन

चित्रलेखा एक बहुचर्चित उपन्यास है और हिन्दी उपन्यास की विकास रेखा में इस महत्व-पूर्ण बिन्दु की उपेक्षा प्रायः नहीं की जा सकती। हिन्दी आलोचना की एक कमी यह है कि आलोचना जितनी कलाकृति की समस्या एवं सामाजिक, आर्थिक परिवेश को लेकर की जाती है, उतनी कलात्मक मूल्यों को लेकर नहीं की जाती। फलतः किसी उपन्यास को उसके कलाबाह्य मूल्यों के कारण अत्यधिक महत्व दिया जाता है अथवा किसी सुन्दर उपन्यास की उपेक्षा भी हो जाती है। प्रस्तुत प्रसंग में इतना ही मन्तव्य है कि 'चित्रलेखा' का मूल्यांकन उसकी समस्यामूलकता को लेकर किया गया है, परिणामतः उसकी कला-त्मकता की उपेक्षा भी हुई है। समस्या के विवेचन में भी अनेक मत प्रस्तुत किए गए हैं। किसी ने, पाप-पुण्य की समस्या वस्तु के अन्तरंग से प्राणवत् जुड़ गई है और आरोपित नहीं की गई है, इसलिए लेखक की सराहना की है।[1] तो किसी ने समस्या की एकांगिता के लिए लेखक को दोष भी दिया है।[2] कोई आलोचक प्रवर इसलिए भी खीझे हुए हैं कि वर्माजी ने भारतीय साधना एवं संस्कृति का मज़ाक उड़ाने का प्रयत्न किया है। इन सब चर्चाओं के बीच चित्रलेखा के कलात्मक मूल्यों की प्रायः उपेक्षा ही हुई है।

चित्रलेखा का आलोचक इस बात को स्वीकार करता है कि यह कुल मिलाकर एक सफल कलाकृति है परन्तु उसके विचारों से असहमति प्रकट करने को विवश-सा हो जाता है। वैसे श्रेष्ठ रचना की आवश्यक शर्त इसमें अवश्य पूर्ण होती है—शर्त यह है कि पाठक उसके विचारों से भले ही असहमत हो, उसके प्रभाव से अपने को अस्पृष्ट नहीं रख सकता। प्रश्न यह है कि क्या 'चित्रलेखा' में यह असंगति इतनी प्रकट है या इसका कोई दूसरा समाधान उपलब्ध हो सकता है? जहाँ तक 'उपक्रमणिका' और 'उपसंहार' की बात है, चित्रलेखा पाप-पुण्य की समस्या से सम्बन्धित उपन्यास है, यह लेखक ने स्वयं ज़ोर देकर कहा है और बीच-बीच में उपन्यास के अन्तर्गत उसके लिए छुटपुट वाक्यों में प्रमाण भी मिलते हैं। परन्तु कभी यह भी होता है कि लेखक का अपना मन्तव्य कुछ और होता है और उपन्यास की वस्तु कुछ और बात का संकेत करती है। सम्भवतः ऐसे प्रसंग में यह किसी उपन्यासकार ने कहा है कि पात्र उपन्यासकार की उंगली पकड़कर उसको अपने साथ घसीट ले जाते हैं। 'चित्रलेखा' में कुछ ऐसा ही हुआ है। चित्रलेखा की 'उपक्रमणिका' और 'उपसंहार' को छोड़कर इस उपन्यास को पढ़ा जाय तो सम्भवतः पाठक पर पड़ने वाला प्रभाव और उसकी समस्या-विषयक धारणा के बीच की असंगति बहुत दूर हो सकती है।

पर्सी ल्यूबक का उपन्यास के रूप में संबंध में एक मन्तव्य बहुत रोचक है : "A subject, one and whole and irreducible—a novel cannot begin to take

१. देखिए : डा० सुरेश सिन्हा—'हिन्दी उपन्यास : उद्भव और विकास' पृ० ३६८।
२. देखिए : शिवनारायण श्रीवास्तव—'हिन्दी उपन्यास', पृ० २२९—३०।

shape till it has this for its support. It seems obvious; yet there is nothing more familiar to a novel-reader of to-day than the difficulty of discovering what the novel in his hand is about, what was novelist's intention, in a phrase. If it cannot be put into a phrase, it is no subject for a novel; and the size or the complexity of a subject is in no way limited by the assertion. It may be the simplest anecdote or the most elaborate concatenation of events, it may be a solitary figure or the widest network of relationships; it is anyhow expressible in ten words that reveal its unity. The form of the book depends upon it, and until it is known there is nothing to be said of the form."

'चित्रलेखा' उपन्यास का रूप 'पाप और पुण्य की समस्या' को मूलाधार मानकर मूर्त किया जा सकता है ? सम्भवतः नहीं। तो फिर चित्रलेखा का सुन्दर रूप किस बिन्दु से व्याख्यायित किया जा सकता है ? 'चित्रलेखा' कुमारगिरि या बीजगुप्त की कथा नहीं है, वह मुख्यतः 'चित्रलेखा' की कथा है और जीवन के भौतिक धरातल पर वासना के माध्यम से प्रेम की उदात्त भावभूमि पर आरोहण करने का चित्रलेखा का प्रयत्न इस उपन्यास का मुख्य विषय है। इसी को पर्सी ल्यूबक के शब्दों में 'मास्टर मोटिव' कहा जा सकता है। चित्रलेखा की कथा, उसके चरित्र तथा रसात्मक प्रसंगों की पृथक विवेचना सुविधाजनक हो सकती है परन्तु उपन्यास के रूप की अथवा शिल्प की प्रतीति उससे नहीं आ सकती। अतः आवश्यकता इस बात की है कि उपन्यास के विविध अंगों की स्वतन्त्र चर्चा न करते हुए उपन्यास के मुख्य विषय को दृष्टिगत रखते हुए विश्लेषण किया जाय।

उपन्यास के पहले परिच्छेद में जीवन का सुख 'मस्ती' में और यौवन का सार 'उल्लास विलास' में देखने वाली चित्रलेखा को 'वर्तमान' में जीने का प्रयत्न करने वाली 'मादकता' के साकार प्रतिरूप में हम देखते हैं। उसका अतीत ही ऐसा है कि जिसको याद करते रहने से टीस और निराशा के सिवाय कुछ हाथ आने वाला नहीं था। विधवा का संयम उसने किया था, कृष्णादित्य के द्वारा उस तपस्या का भंग भी हुआ था और उसकी मृत्यु के बाद फिर उसने संयम का जीवन व्यतीत करने का प्रयत्न किया, परन्तु बीजगुप्त के रूप में नियति ने उसे यह करने नहीं दिया। जिस संयम के रास्ते में दो बार उसको डिग जाना पड़ा, उस पर फिर से चलने का प्रयास बुद्धिमती और स्वाभिमानी चित्रलेखा के लिए अपमानजनक और अतार्किक था। कोई आश्चर्य नहीं, अप्रतिरुद्ध जीवन शक्ति से भरी-पूरी चित्रलेखा भूत और भविष्य का विचार न करते हुए वासना-प्यास-तृप्ति के मार्ग पर बेतहाशा दौड़े और वर्तमान के क्षण में जितना सुख सिमटकर आ जाये, उतना कसकर पकड़ने का प्रयत्न करे। पाप का पता लगाने के लिए ऐसे स्थान पर कोई आ जाय तो वासना को पाप का पर्याय समझने वाले भारतीय मन को उसमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

वासना और यौवन की मस्ती की इस पार्श्वभूमि पर दूसरे परिच्छेद में वासना को दमित ही नहीं, उसको उत्पन्न न होने देने का प्रयास करता हुआ, शान्ति और संयम की साधना करने वाला शून्यसाधक कुमारगिरि हमारे सामने उपस्थित होता है। लेखक

बड़ी चतुराई से संकेत करता है कि संयम, दमन और समाधि के बावजूद इस व्यक्ति का 'अहम्' अभी जीवित ही नहीं, मजबूती से खड़ा है। इसीलिए उसके मत में निश्चितता भी है और असहिष्णुता भी। चित्रलेखा और बीजगुप्त के ठीक विपरीत वह अत्यन्त निस्संदिग्ध शब्दों में कहता है—"वासना पाप है, जीवन को कलुषित बनाने का एकमात्र साधन है।" इसीलिए विशालदेव का यहाँ सहज स्वागत नहीं है जो श्वेतांक को बीजगुप्त के यहाँ मिला।

ब्रह्मचारी, अनुभवहीन, तरुण श्वेतांक चित्रलेखा के मस्ती से भरे कथनों का शिकार हो जाता है। उसके द्वारा अपमानित किया जाता है और अनजान में एक अबोध बालक को चित्रलेखा अपने यौवन की मादकता का शिकार भी बनाती है। जीवन का सच्चा स्वरूप दिखाने के बहाने चित्रलेखा उसे अपने हाथों शराब भी पिलाती है जिसको इन्कार करना श्वेतांक के लिए असम्भव है, क्योंकि चित्रलेखा के मादक व्यक्तित्व का नशा उस पर पहले से ही चढ़ा हुआ है। यहीं पर बीजगुप्त के प्रति पाठक के मन में सहानुभूति का भाव पैदा होता है। चित्रलेखा के प्रति अपने अनधिकार प्यार की स्वीकृति ही श्वेतांक नहीं देता, बल्कि यह भी बता देता है कि अगर चित्रलेखा समर्पण करती तो सम्भवतः वह अपने विश्वासघात की सूचना भी बीजगुप्त को न देता। बीजगुप्त अपने सहज औदार्य के कारण श्वेतांक को क्षमा ही नहीं करता, बल्कि जीवन की जटिलता और उनका जानकार बीजगुप्त उसको आत्म-परीक्षा के लिए सदैव उद्यत रहने का उपदेश भी देता है।

कुमारगिरि और बीजगुप्त—जीवन के प्रति परस्पर विभिन्न दृष्टिकोण रखने वाली इन दो समानान्तर रेखाओं का अकस्मात् मिलन भी संयोगवशात् हो जाता है जो चौथे परिच्छेद का प्रारम्भ है। नर्तकी चित्रलेखा का मोहक स्वर-संगीत और सौन्दर्य, कवित्व और वासना की मस्ती के अहंकार से परिपूर्ण व्यक्तित्व में अद्भुत विचार-शक्ति और प्रतिभा भी थी। वासना और विरक्ति का यह सामना न केवल तर्क या विचार-विमर्श की दृष्टि से महत्वपूर्ण है, बल्कि मनोविज्ञान का भी एक अध्याय है। प्रायः विचार या दर्शन-चर्चा से परिपूर्ण वार्तालाप कथा की कला को नुकसान पहुँचाते हैं परन्तु यहाँ ये तर्क-प्रतितर्क कुमारगिरि और चित्रलेखा के व्यक्तित्वों को उभार देने और विशिष्टता देने में सहायक हो जाते हैं, फिर लेखक की चिन्तनशील मुद्रा के अनुसार इन चिन्तनशील पात्रों का संयोजन कथा की अनिवार्यता भी है। बौद्धिक घात-प्रतिघात, व्यंग्य, वाग्बाण एवं उपहास से जीवन्त इन सम्वादों द्वारा दोनों के दृष्टिकोण ही नहीं प्रकट होते, बल्कि दोनों के विरोध की तीव्रता के नीचे आकर्षण का अजस्र प्रवाह भी बहने लगता है। "योगी ने नर्तकी में ज्ञान देखा और नर्तकी ने योगी में सौन्दर्य। एक विचित्र बात थी। दोनों एक-दूसरे से सन्तुष्ट न थे; पर प्रभावित अवश्य थे। दोनों ने एक-दूसरे में आकर्षण देखा, योगी ने ज्ञान का और नर्तकी ने सौन्दर्य का···" चित्रलेखा की तीव्र वासना अब एक नये आलम्बन को चाह रही है और सम्भवतः उसकी अप्राप्यता की सम्भावना ने उसके अभिमान को तीव्र ठोकर देकर उसे योगी की ओर अधिक उन्मुख किया है। प्रौढ़ वयस्क के इस आकर्षण ने चित्रलेखा को अधिक चतुर भी बनाया है—वह एक ओर बीजगुप्त के

गले लगकर अपने प्रणय की दुहाई भी दे सकती है और उसी समय मन-ही-मन यह भी कहती है—'पर कुमारगिरि सुन्दर अवश्य है'। उपन्यास की कथा का यह बीज है या संघर्ष का मूलारम्भ है।

कुमारगिरि के दर्शन की कसौटी तर्क नहीं है, प्रत्यक्ष अनुभव है और जड़वादी चाणक्य के साथ तार्किक वाग्युद्ध में पराजित कुमारगिरि को ईश्वर के दर्शन कराने के सिवाय विजय का कोई दूसरा रास्ता नहीं रहा। अपमानित चित्रलेखा को योगी पर विजय प्राप्त करने का खासा अवसर भी मिला और उसने योगी के माया-जाल का भण्डाफोड़ कर विजय का मुकुट स्वयं प्राप्त किया। योगी के अपमान पर नमक छिड़कने के बहाने द्रव्य के रूप में मुकुट योगी के सिर पर रखकर नर्तकी ने नृत्य आरम्भ किया, परन्तु सहृदय से छिपा नहीं रहता कि यह भी उस वासना से तड़पती हुई नारी की विलास-लीला का ही एक बड़ा ही विचित्र एवं गहन-गूढ़ मनोवैज्ञानिक अस्त्र था। नृत्य की परिसमाप्ति के तुरन्त उपरान्त चित्रलेखा अपमानित और क्रुद्ध योगी के पीछे दौड़कर यह स्वीकार करती है—"मैं तुमसे पराजित हुई।" यह पराजय की झूठी स्वीकृति भी योगी के निकट पहुँचने का एक नारी जनोचित साधन-मात्र था। क्योंकि चित्रलेखा का अपने हाथों मुकुट पहनाना कुमारगिरि को नहीं खलता। रात के उस उद्दीप्त वातावरण में चित्रलेखा की वासना ने एक विचित्र रूप धारण किया—उसने कहा, "मैं आई हूँ, अपने ऊपर विजय पाने वाले से दीक्षित होने के लिए।" इसका परिणाम यह हुआ—"आज तक कुमारगिरि ने सौन्दर्य की ओर ध्यान न दिया, प्रेम और वासना का क्षेत्र उसके लिए नया था। उस सौन्दर्य से योगी के हृदय में एक हल्का-सा कम्पन हुआ। प्रथम बार योगी ने इस कम्पन से युक्त सांसारिक सुख का अनुभव किया।" कुमारगिरि अपनी दुर्बलता को पहली बार अनुभव करता है परन्तु उसका 'अहम्' इतना प्रबल है कि वह इसकी स्वीकृति देने के लिए तैयार नहीं है। पर विचार करने के लिए समय देकर लौटने वाली नर्तकी को कुमारगिरि देखता है—"वह उस अतृप्त शराबी की भाँति चित्रलेखा को देख रहा था, जिसको संज्ञाहीन हो जाने का भय हो और जिसके सामने सुगन्धित मदिरा बह-बहकर धूलमें मिली जार ही हो।" फिर उसने चित्रलेखा का शृंगार देखा और शृंगार-भार से पुलकित सौन्दर्य देखा; उसने मदिरा देखी और मादकता देखी। उसने इच्छा का अनुभव किया, और इच्छा की मनोहरता का भी अनुभव किया। एकाएक उसके हृदय में यह प्रश्न उठा—"स्त्री क्या है, और सौन्दर्य क्या है? भगवान् ने इन चीजों की रचना क्यों की है? प्रश्न अनुचित था, वर्षों की चिर-संचित विचारधारा ने कहा—क्या मैं अपने मार्ग से विचलित हो रहा हूँ? आखिर योगी को हारकर अपनी दुर्बलता की स्वीकृति ही देनी पड़ी। योगी के दीक्षा देने से इन्कार करने पर चित्रलेखा की निराशा में उसकी वासना ने एक ही रूप लिया—निराशा, वेदना, याचना, विवशता, विनम्रता तथा शालीनता अनेक भावों के अद्भुत रसायन से अपने भाषण को भरापूरा बनाकर अन्तिम शस्त्र—शारीरिक स्पर्श से वह योगी को अपनी ओर खींचना चाहती है—कुमारगिरि चौंक उठा। वह इस प्रकार से चित्रलेखा के पास से हट गया, जिस प्रकार वह मनुष्य चौंक कर हटा हो, जो सर्पिणी के पास तक उसे बिना देखे हुए पहुँच जाता है और

उसी समय जब सर्पिणी उसे डसना चाहती है, कोई दूर खड़ा हुआ व्यक्ति उसे सचेत कर देता है !"—'हाय रे भाग्य' कहती हुई चित्रलेखा ने कुमारगिरि को पूर्णतः विचलित कर दिया था और अब उसके स्वर में वह दीनता और याचना नहीं, बल्कि 'मृदुल गम्भीर स्वर में आज्ञा देने वाली स्वामिनी का गुरुत्व था"—वह गुरुदेव से कहती है—"तुमको मुझे दीक्षा देनी ही होगी !"—उसके चले जाने पर संयम और मानसिक शान्ति का साधक कुमारगिरि विशालदेव का हाथ जोर से पकड़कर कहता है—'तुम मूर्ख हो।' चित्रलेखा की कुमारगिरि को पाने की लालसा या वासना की ये विभिन्न अभिव्यक्तियाँ फ्रायड की 'नियति' की शक्ति का बोध करा देने में समर्थ हैं।

कुमारगिरि और चित्रलेखा के परस्पर तीव्र वासनात्मक आकर्षण के विभिन्न रूपों को कंपित करने के उपरान्त लेखक पाठक को बीजगुप्त के पास ले जाता है जिसने पहचाना है कि चित्रलेखा और कुमारगिरि दोनों ही अहंभाव से भरे हुए ममत्व के दासों का यह मिलन दोनों के नाश का बीज है। वह एक अजीब-सा अकेलापन महसूस करता है और अपनी व्यथा का भार श्वेतांक के सामने हल्का करना चाहता है। परन्तु उसका सहज आभिजात्य उसे अधिक मुखर होने से रोकता है। चित्रलेखा के पास आए हुए श्वेतांक को वह भोजन खिलाती है, मदिरा पिलाती है और अपने स्नेह का आभास देकर उससे प्रतिज्ञा भी करवाती है कि वह कुमारगिरि से सम्बन्धित उसका राज छिपाकर रखे। वह उससे कहती है—'मेरा और कुमारगिरि का युग-युगान्तर का सम्बन्ध है।' कुछ ही दिन पहले उसने बीजगुप्त के सम्बन्ध में भी इसी दृढ़ता से बात कही थी। अपनी शक्ति से भलीभाँति परिचित वह नारी आत्म-विश्वासपूर्वक श्वेतांक का हाथ पकड़कर उसे आज्ञा देती है कि वह इस रहस्य को अभी गुप्त रखे। उन्माद, मस्ती, वासना को जीवन का सार-सर्वस्व समझानेवाली यह प्रमदा बीजगुप्त को तब तक छोड़ना नहीं चाहती, जब तक कुमारगिरि की ओर से आश्वस्त नहीं हो जाती—यह व्यावहारिक चतुराई है। इस दुःख को बीजगुप्त झेलता है—मदिरा के पात्र के आधार पर और उससे भी अधिक अपने जीवन विषयक दृष्टिकोण के बल पर—परिस्थितियों का चक्र और पूर्वजन्म के कर्मों के फल का विधान। वासना के रास्ते पर सरपट दौड़नेवाले कुमारगिरि और चित्रलेखा के बीच बीजगुप्त का यह गंभीर व्यक्तित्व अधिक निखर उठता है।

चित्रलेखा की दोलायमान अवस्था में उसकी बीजगुप्त के प्रति उदासीनता या किंचित तनाव स्वाभाविक था और फलतः दोनों के व्यवहारों में कुछ औपचारिकता, कुछ रूखापन और कुछ अविश्वास पैदा हो गया है (आठवाँ परिच्छेद)। एक-दूसरे के अधिकार की, स्वामित्व की बड़े व्यंग्यात्मक रूप में पूछताछ हो रही है। कहीं अपने सन्देह को सैद्धान्तिक रूप देकर व्यक्त किया जा रहा है तो कहीं सिद्धान्तों की आड़ में अपने मन की गुत्थियों एवं वास्तविकता को छिपाकर रखने का प्रयास है। बीजगुप्त अपने प्रेम की व्याकुलता को सैद्धान्तिक आवाज में बाँधकर व्यक्त करने को विवश है। यहाँ पर बीजगुप्त एक नये रूप में हमारे सामने आता है वह एक बहुत बड़ा सत्य जान गया है और वह यह कि चित्रलेखा केवल उसकी वासना तृप्ति का सुन्दर, मादक साधन-मात्र नहीं है, वह उसको प्यार करता है। अब वासना और प्रेम में वह स्पष्ट अन्तर कर सकता है--प्रेम

का सम्बन्ध आत्मा से है, प्रकृति से नहीं। जिस वस्तु का सम्बन्ध प्रकृति से है, वह वासना है, क्योंकि वासना का सम्बन्ध बाह्य से है। वासना का लक्ष्य वह शरीर है जिस पर प्रकृति ने कृपा करके उसको सुन्दर बनाया है। प्रेम आत्मा से होता है, शरीर से नहीं। परिवर्तन प्रकृति का नियम है, आत्मा का नहीं। आत्मा का सम्बन्ध अमर है।'' बीजगुप्त की इन मान्यताओं से मतभेद निस्सन्देह हो सकता है, परन्तु यह इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता कि वासना, उन्माद, मादकता इत्यादि के परे ऊपर उठकर कुछ स्थायी, कुछ उदात्त, कुछ आत्मिक (चाहे वह शरीर का ही सूक्ष्मतम रूप हो) सम्बन्धों की अनुभूति वह अपने हृदय में कर रहा है। वासना के धरातल से प्रेम के धरातल पर उसका यह आरोहण सम्भवतः चित्रलेखा के योगी की ओर आकर्षण के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली पीड़ा का परिणाम है। परन्तु चित्रलेखा अभी भी बीजगुप्त के गले में हाथ डालकर उन्माद की पूर्ति करना चाहती है।

बीजगुप्त को अपने प्रेम की कड़ी परीक्षा देनी है और चित्रलेखा को भी बीजगुप्त को त्याग के आवाज में छोड़कर कुमारगिरि के निकट आना है—यशोधरा का उपन्यास में प्रवेश इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति करता है। बीजगुप्त अपनी परीक्षा में सफलतापूर्वक उत्तीर्ण होता है, क्योंकि समाज के सामने अपने और चित्रलेखा के सम्बन्ध को विवाह से कम महत्व नहीं देता। उससे उत्पन्न सन्तान औरस नहीं होगी और उसकी सम्पति की अधिकारी नहीं होगी, इस तथ्य को जान लेने पर भी वह अपने निश्चय से विचलित नहीं होता। यशोधरा के विवाह के प्रश्न को लेकर लेखक ने बीजगुप्त, चित्रलेखा और कुमार-गिरि के आन्तरिक गहन-गूढ़ भावों को बड़ी कुशलता से व्यक्त किया है। कुमारगिरि चित्रलेखा को याद दिलाकर कि वह विराग के जीवन को अपनाने का निश्चय कर चुकी थी, उसे बीजगुप्त से अपनी ओर खींचने का प्रयत्न कर रहा है और कुमारगिरि की ओर आकृष्ट चित्रलेखा बीजगुप्त को यशोधरा से विवाह करने का आग्रह करती है—बीजगुप्त के चले जाने पर वह मृत्युंजय को विश्वास भी दिलाती है। यह प्रेम नहीं है, वह त्याग भी नहीं है, पर केवल कुमारगिरि की ओर ठेलनेवाली वासना ने एक नया रूप लिया है। कुमारगिरि इस मर्म को भलीभाँति जानता है.......''बहुत सम्भव है चित्रलेखा स्वयं ही बीजगुप्त को छोड़ देने पर प्रस्तुत हो...''

लेखक ने चित्रलेखा के प्रेम (?) के विविध स्थित्यंतरों को दिखाया है (ग्यारहवाँ परिच्छेद) जिसमें विधवा जीवन का ताप और संयम, प्राकृतिक प्रेम, पिपासा, उग्र इच्छा, आत्म-विस्मरण, मादकता, अधिकाधिक तीव्र सम्वेदनाओं के लिएउ त्तेजक मदिरा, एक प्रेमी के होते हुए दूसरे के प्रति तीव्र आकर्षण इत्यादि अवस्थाएँ क्रमशः आ गयीं। इसका एक ही अर्थ है—वासना कभी तृप्त नहीं होती, वह अधिकाधिक आहुति चाहती है। चित्रलेखा की सारी जीवन यात्रा वासना की तृप्ति को मिटाने की सामग्री जुटाने का प्रयत्न है। वह केसरिया वस्त्र पहनकर कुमारगिरि की कुटी में चली जाती है और उससे स्पष्ट शब्दों में कहती भी है—''योगी ! अपनी विजय और पराजय की अवहेलना करके एक बार तुम मुझसे सच बोले थे, मैं भी तुमसे सच ही कहूँगी—मैं तुमसे प्रेम करने आई हूँ।'' फिर यह प्रेम (?) सेवा, भक्ति इत्यादि का भी स्वांग भरने लगता है कि योगी भी

शुद्ध प्रेम (?)—वासनारहित प्रेम की सम्भावना मानकर और ईश्वर की इच्छा समझकर चित्रलेखा को दीक्षा देना स्वीकार करता है। "भगवान् की इच्छा है कि मैं संसार-स्थित वासनाओं से युद्ध करूँ—तो फिर ऐसा ही हो।" स्पष्ट है कि यह योगी की वासना ही है जो भगवान की इच्छा के रूप में अपना समर्थन करती है। योगी की इस कमजोरी पर विशालदेव की मुस्कराहट योगी के अभिमान को उभाड़कर उसे क्रुद्ध करती है और वह निश्चय कर लेता है कि चित्रलेखा उसी की कुटी में रहेगी।

मुख्य कथा से यशोधरा की उपकथा इस तरह जुड़ी हुई है कि इसे उपकथा भी कहना ठीक नहीं जान पड़ता। यशोधरा को लेकर श्वेतांक के जीवन में भी एक नया अध्याय प्रारम्भ होता है। बीजगुप्त भी चित्रलेखा की उदासीनता के कारण यशोधरा की ओर किंचित उन्मुख है। वह देखता है कि उसका सेवक श्वेतांक भी यशोधरा को देखकर मादक क्षणों का अनुभव कर रहा है। परन्तु उदारचेता बीजगुप्त इस बात को सहज हास्य के बल पर सह लेता है—"यही जीवन है।" बीजगुप्त मन-ही-मन चित्रलेखा और यशोधरा की तुलना भी करने लगा परन्तु चित्रलेखा से प्रेम करता था; चित्रलेखा को छोड़ देना उसके लिए असम्भव था। चित्रलेखा का छोटा-सा पत्र जो 'मनोविज्ञान का एक सम्पूर्ण ग्रन्थ था' पाकर बीजगुप्त की प्रतिक्रिया देखिए......"पढ़ते-पढ़ते उसके हाथ काँपने लगे। उसका मुख पीला पड़ गया। उसका हृदय धड़कने लगा। उसने पत्र श्वेतांक को दिया और अपना मुख ढाँपकर वह अपने शयनगृह में चला गया।" उस गहरी आत्मिक पीड़ा से वह अनुभव करता है कि—"वह केवल एक स्त्री से प्रेम करता था—वह चित्रलेखा थी।" वह चित्रलेखा को योगी की कुटी से ले आने का अन्तिम प्रयत्न करता है। उसमें किसी प्रकार की भावुकता नहीं, यद्यपि प्रेम का अनुरोध अवश्य है। वह चित्रलेखा के बीजगुप्त को सुखी करने के सतही उद्देश्य का पर्दा भी खोल देता है और एक गंभीर व्यक्ति की भाँति चित्रलेखा को सूचना देकर लौट आता है—"जो कुछ कहना था, कह चुका, मानना और न मानना तुम पर निर्भर है। जैसा तुम चाहती हो, वैसा ही सही; पर थोड़े दिनों के बाद ही तुमको स्पष्ट हो जाएगा कि तुम ग़लती कर रही हो।"—जाते समय चित्रलेखा राजमार्ग पर बीजगुप्त का चुम्बन लेती है। कुमारगिरि के प्रति आकर्षित यह नारी बीजगुप्त के प्रति क्षमा-निवेदन भी करती है—"बीजगुप्त ! संभवतः मैं अनुचित कर रही हूँ—उसके लिए क्षमा करना।" फिर उसी सांस में कुमारगिरि से यह भी कहती है कि मैं आपको धोखा नहीं दे रही हूँ—इतना विश्वास रखिए गुरुदेव ! बहुत सम्भव है कि मैं बीजगुप्त को धोखा दे रही हूँ या अपने ही को।" फिर साधना या तपस्या के नाम पर एक बड़ा झूठ पनपने लगता है।

चित्रलेखा का अभाव भूलने के लिए बीजगुप्त काशी यात्रा पर जा रहा है परन्तु उसकी अनिच्छा के बावजूद उसे यशोधरा को साथ ले जाना पड़ता है। लेखक सम्भवतः यशोधरा के साथ बीजगुप्त को रखकर उसे अपने प्रेम की परीक्षा करने के लिए बाध्य-सा बना देता है। यशोधरा को भी जीवन में न आने देना एक प्रकार से पलायन है जोकि बीजगुप्त के विचारों से (जैसा कि लेखक ने उसको रखा है) प्रतिकूल है। दोनों एक-दूसरे से प्रभावित भी होते हैं और फलस्वरूप उधर श्वेतांक का मन अपने स्वामी के प्रति ईर्ष्या,

क्रोध, मत्सर, खीझ इत्यादि भावों से भरकर बीच-बीच में विस्फोटित भी होता है।

इधर कुमारगिरि के साथ चित्रलेखा को रखकर चित्रलेखा के असली व्यक्तित्व की परीक्षा भी लेखक कर रहा है। वह वासना से प्रताड़ित होकर कुमारगिरि के समीप अवश्य आयी है परन्तु उसकी वासना के मूल में कुछ अन्य भाव भी रहते हैं। चित्रलेखा के व्यक्तित्व में दूसरे को आकर्षित कर दबा देने की प्रवृत्ति बहुत अधिक थी (सोलहवाँ परिच्छेद) जिसका उपयोग वह अनजाने करती रहती थी। कुमारगिरि अब न समाधि में मन लगा सकते हैं, न समाधि लगाना ही चाहते हैं। वे जीवन के बीच भँवर में पड़कर जान गये हैं कि "विराग मनुष्य के लिए असम्भव है, क्योंकि विराग नकारात्मक है।" कुमारगिरि को अपने प्रति आकर्षित ही नहीं, उत्तेजित और आक्रामक रूप में देखकर चित्रलेखा के मन में परिवर्तन आने लगा। उसने अपनी प्रवृत्तियों का अधिक बारीकी से निरीक्षण किया। कुमारगिरि से वह प्रेम करने आई थी परन्तु उनसे वह प्रेम नहीं कर सकती थी, न उनसे कुछ सीख सकती थी। कुमारगिरि के साथ रहकर वह उसको साधना से च्युत कर रही थी। जिस कुमारगिरि को जीतने की, उसके विरक्ति-मार्ग का मजाक उड़ाने की और कुमारगिरि द्वारा किये गये अपमान का बदला लेने की तीव्र इच्छा उसके अन्तःकरण में सम्भवतः प्रारम्भ से गहरे घुस गयी थी, वह साध पूरी हो गयी—अब अपने अहं को तुष्ट करने के लिए उसे कुमारगिरि की आवश्यकता नहीं थी, अतः उसके प्रति वासना भी क्षीण होने लगी। उसके मन में बीजगुप्त के पास जाने की इच्छा उत्पन्न हो गयी। लेखक को चाहिए था कि इस समय चित्रलेखा के मन में बीजगुप्त के प्रति छिपे हुए प्रेम को अधिक तीव्रता से सम्वेदित कराये। यह भी आवश्यक था कि कुमारगिरि के प्रति उसकी वासना के क्रमशः लुप्त होने का अधिक विश्लेषण सम्वेदनाओं के धरातल पर वह करता। यहाँ लेखक ने कभी संकेत से या वर्णन से काम लिया है। फलतः एक ऐसा प्रभाव पाठक पर पड़ने लगता है कि जैसे लेखक कहानी के सूत्रों को शीघ्रातिशीघ्र समेटने का प्रयास कर रहा है। चित्रलेखा कुमारगिरि से स्पष्ट शब्दों में कहती है : "मैं जानती हूँ कि तुम मुझसे प्रेम करते हो; पर मैं तो तुमसे प्रेम नहीं करती ! एक क्षण के लिए मेरी इच्छा तुम पर आधिपत्य जमाने की हुई थी, और मैंने उसका प्रयत्न किया।··· यहाँ मैं स्वामिनी हूँ, तुम दास हो। मैंने तुम पर आधिपत्य जमा लिया है, तुमने आत्म-समर्पण कर दिया है।"···कुमारगिरि को अपनी कमजोरी, दुर्बलता एवं पराजय का भान होता है और उसका अहं फूटकर चित्रलेखा पर विजय प्राप्त करना चाहता है और इस आत्मिक विजय में चित्रलेखा का योग चाहता है। एक अद्भुत रसायन योगी के मन में पैदा होता है : वह चित्रलेखा पर किसी प्रकार जबर्दस्त प्रहार करना चाहता है और आत्मा और साधना के आवरण में उसके लिए शक्ति संचित कर रहा है। विरक्ति मार्ग की यह परिणति कहाँ तक होगी, इसके लिए पाठक के मन में अतीव जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है।

उधर बीजगुप्त, यशोधरा और श्वेतांक का भी एक प्रेम-त्रिकोण उत्पन्न हो रहा है। श्वेतांक के मन में बीजगुप्त के प्रति क्रोध और ईर्ष्या तीव्र रूप ले रही है और वह असहनशील एवं उद्दण्ड बनता जा रहा है। बीजगुप्त भी यशोधरा के प्रभाव में आ रहा है।

जीवन की माँग उससे विवाह करने के लिए प्रेरणा दे रही है परन्तु चित्रलेखा के प्रति प्रेम उसको यह करने नहीं देता। पशोपेश में पड़ा हुआ बीजगुप्त काशी से पाटिलीपुत्र लौट आता है।

इधर कुमारगिरि के मन में बीजगुप्त के प्रति प्रबल ईर्ष्या उत्पन्न होती है क्योंकि वह जानता है कि चित्रलेखा उसी के कारण कुमारगिरि से कुछ खिंची हुई है। तपस्या और विरक्ति मार्ग का साधक यह योगी चित्रलेखा से झूठ कहता है कि बीजगुप्त और यशोधरा का ब्याह हो चुका है। कुमारगिरि के निम्नांकित वाक्य चित्रलेखा की प्रवृत्ति पर प्रकाश डालते हैं जो इस लेख की भूमिका के रूप में स्वीकृत हैं :"···तुमने वासना के आवेश में आकर पवित्र प्रेम को ठुकरा दिया था—तुमने मुझमें कुछ देखा और तुम मेरी ओर आर्काषित हो गयीं। उस समय तुममें पशुता की प्रवृत्ति प्रबल हो उठी थी—तुमने मनुष्यता को तिलांजलि दे दी थी ! तुम बिना बीजगुप्त की इच्छा के बीजगुप्त का जीवन भार बना कर मेरे पास चली आयी···।" इन वाक्यों की सत्यता से चित्रलेखा इन्कार नहीं कर सकी जो उसके आवेश से प्रकट है : "चित्रलेखा चिल्ला उठी—बस करो ! बस करो !" चित्रलेखा कुमारगिरि के वाक्यों में अपनी मनोदशा का पर्दाफाश देखकर सचमुच बौखला उठी। वह जान गयी कि बीजगुप्त को वह भी कितना प्यार करती थी, परन्तु उसकी वासना ने उसके बीजगुप्त को छीन लिया। बीजगुप्त के खोने का दुःख वह सहन नहीं कर सकी और इस दुःख और निराशा के तीव्र दंशन में उसने कुमारगिरि को शरीर समर्पण कर दिया। सब कुछ लुट जाने के बाद वह अपने पतन को सच्चे अर्थों में अनुभव कर सकी। विशालदेव से यह ज्ञात होने पर कि कुमारगिरि ने उसे बड़ा धोखा दिया था, वह चोट खाई हुई नागिन की तरह कुमारगिरि को डसना चाहती है। इस समय की चित्रलेखा का मन्तव्य सम्भवतः विरक्ति मार्ग और प्रेम के सम्बन्धों पर सबसे यथार्थ टिप्पणी है : "वासना के कीड़े ! तुम प्रेम क्या जानो ? तुम अपने लिए जीवित हो, ममत्व ही तुम्हारा केन्द्र है—तुम प्रेम करना क्या जानो ? प्रेम बलिदान है, आत्मत्याग है, ममत्व का विस्मरण है। तुम्हारी तपस्या और तुम्हारा ज्ञान—तुम्हारी आराधना—यह सब भ्रम है, सत्य से कोसों दूर है। तुम अपनी तुष्टि के लिए गृहस्थ आश्रम की बाधाओं से, कायरतापूर्वक संन्यासी का ढोंग लेकर विश्व को धोखा देते हुए मुख मोड़ सकते हो—तुम अपनी वासना को तुष्ट करने के लिए मुझे धोखा दे सकते हो—और फिर भी तुम प्रेम की दुहाई देते हो ?"

कुमारगिरि और चित्रलेखा को पतन की चरमसीमा तक ले जाकर और जीवन के सत्य से परिचित कराकर लेखक बीजगुप्त की ओर आ जाता है। चित्रलेखा कुमारगिरि की वासना तृप्ति की पार्श्वभूमि पर बीजगुप्त का यशोधरा की ओर आकर्षण और उस पर नियंत्रण का प्रयास अधिक स्वस्थ एवं संयत जान पड़ता है। बीजगुप्त यशोधरा से विवाह करने का अपना प्रस्ताव लेकर मृत्युंजय के यहाँ चला तो जाता है परन्तु चित्रलेखा के प्रति सच्चा प्रेम अनुभव करने वाले उसके अन्तर्मन ने उसके द्वारा यह प्रस्ताव नहीं रखने दिया। प्रत्युत्तर अपनी सम्पत्ति एवं सम्मानित पद श्वेतांक को देकर वह यशोधरा से उसके पाणिग्रहण का प्रस्ताव रखकर चला आता है। मृत्युंजय के शब्दों में

पाठक भी बीजगुप्त के बारे में यही कहता है—"आप मनुष्य नहीं, देवता हैं।" देवता बनने की कामना करने वाला कुमारगिरि विरक्ति मार्ग से चलकर मनुष्य भी नहीं रह पाता, पशु बन जाता है और भोग के मार्ग से चलने वाला बीजगुप्त मनुष्य से ऊपर उठकर देवता बन जाता है।

वियोग के बाद चित्रलेखा भी अनुभव करती है कि बीजगुप्त के प्रति उसके मन में कितना गहरा प्रेम था। बीजगुप्त के सर्वसम्पत्ति का त्याग कर भिखारी की भाँति पैदल चल पड़ने के समय चित्रलेखा भी उसके साथ चल पड़ती है। बीजगुप्त उसके प्रेम में उसके कुमारगिरि के प्रति आत्मसमर्पण की बात भूल जाता है—सहज क्षमा कर देता है। कहता है : "प्रेम के प्रांगण में कोई अपराध ही नहीं होता ! फिर क्षमा कैसी ! प्रेम स्वयं एक त्याग है, विस्मृति है, तन्मयता है।"···अन्त में "प्रेम और केवल प्रेम हमारा आधार हो ! मेरे देवता ! मैं अपनी सम्पत्ति आज ही दान किए देती हूँ—रात में हम दोनों ही अथाह संसार में प्रेम की नौका पर बैठकर चलें।"—अन्त में बीजगुप्त ने चित्रलेखा का चुम्बन ले लिया—"हम दोनों कितने सुखी हैं।"

पहले परिच्छेद में चित्रलेखा और बीजगुप्त का चुम्बन, परिरम्भण, आलिंगन, मदिरा, प्यास, यौवन की मस्ती, मादकता और वर्तमानकाल की सर्वसत्यता के साथ उपन्यास के अन्त में यह पवित्र चुम्बन कितना अनोखा, कितना आत्मिक और कितना तन्मयतापूर्ण है ! वासना और प्रेम के बीच हचखोले खाती हुई चित्रलेखा अन्त में सच्चे प्रेम के स्वरूप को जान पाई—'चित्रलेखा' इस प्रेम-यात्रा की सुगठित और प्रभावपूर्ण कहानी है।

'चित्रलेखा' को पाप-पुण्य का विश्लेषण एवं समाधान करने वाली कथा मानकर आलोचना करने पर किसी का मन सिहर उठा है क्योंकि इसमें पाप और पुण्य की कल्पनाओं को झुठला दिया गया है या मनुष्य को परिस्थितियों का दास बनाकर या नियति का शिकार बनाकर उसके कर्म के प्रति प्रत्येक स्थिति में सहानुभूति से देखा गया है। आलोचक प्रवर नन्ददुलारे वाजपेयी ने भी इसी प्रकार का अपना मत प्रकट किया है—"चित्रलेखा मनोवैज्ञानिक आधार पर एक नैतिक प्रश्न उठाती है।—चित्रलेखा दो पुरुष पात्रों के बीच घूमती हुई केवल कौतूहल की सृष्टि कर पाती है। वे नैतिकता को नया मनोवैज्ञनिक आधार देना चाहते हैं, अथवा यों कहें कि नये मनोविज्ञान पर नई नैतिकता का निर्माण करना चाहते हैं। पर इतने बड़े प्रश्नों को इतनी हल्की कलम से सम्भाल पाना सम्भव नहीं। कदाचित् इसलिए चित्रलेखा एक प्रश्न बनकर रह गई है।"

साहित्य का और सामाजिक नीति का सीधा सम्बन्ध मानकर चलने से इस प्रकार की मान्यताओं का स्थापित किया जाना स्वाभाविक है। इससे भी अधिक उपन्यास को सतही दृष्टि में पढ़कर अथवा लेखक के कथा-बाह्य मन्तव्य को कुछ अधिक महत्त्व देते हुए चलने पर इस उपन्यास का मूल्यांकन कुछ दूषित-सा हो गया है।

चित्रलेखा की कथा पर लेखक की कलात्मकता या कुशलता का उद्घाटन करते हुए जो आलोक डाला गया है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्माजी मनुष्य की अस्वस्थ प्रवृत्तियों पर प्रहार कर रहे हैं। बीजगुप्त को इस उपन्यास में प्रारंभ से जो एक सहानुभूति

की दृष्टि से देखा गया है, इससे यह स्पष्ट हो जाता है। चित्रलेखा और बीजगुप्त का क्रमशः मस्ती और मादकता के जीवन से त्याग और प्रेम की ओर प्रस्थान अन्धकार से प्रकाश की ओर संचरण है। कुमारगिरि के विरक्ति मार्ग की असफलता का संकेत कर लेखक यही कहना चाहता है कि जीवन की स्वस्थ-प्रवृत्तियों की उपलब्धि इस पलायन के मार्ग से सम्भव नहीं। जीवन के भौतिक धरातल पर जीवन का उन्नयन करना हो तो गृहस्थाश्रम का संयत भोग आवश्यक शर्त है। यशोधरा और श्वेतांक का गृहस्थाश्रम में प्रवेश और बीजगुप्त का उसके लिए आशीर्वाद इस बात का द्योतन करता है। कुमारगिरि का विरक्ति मार्ग प्रकारान्तर से पलायन का मार्ग है जिसका केन्द्र ममत्व की भावना है। इस मार्ग के केन्द्र में 'अहम्' की पुष्टि है। प्रेम-मार्ग में अहं का विलयन हो जाता है। कबीर का दोहा कुमारगिरि के चरित्र का आधार है--

माया तजी ता का भया, जब मान तजा नहिं जाई।
मान सबै मुनिवर ठगे, मान सबन को खाई॥

चित्रलेखा उपन्यास की कथा की घटनाएँ और पात्रों की स्वभाव-विशेषताएँ इतनी घुल-मिल गई हैं कि ऐसी घटना या प्रसंग अलग नहीं किया जा सकता, जो कथा के विकास एवं मोड़ की दृष्टि से अनावश्यक हो। ऐसा एक प्रसंग नहीं है जो पात्रों के स्वभाव वैशिष्ट्य से मेल न खाता हो। प्रसंग और पात्र-वैशिष्ट्य की यह एकात्मकता उपन्यास के रूप को सौष्ठव और सौन्दर्य प्रदान करने में समर्थ हुई है। वस्तुतः चित्रलेखा और कुमारगिरि के आकर्षण में और उसके क्रमशः घनीभूत होने वाले रूप के चित्रण में लेखक ने संयम से काम लिया है, यह संयम नैतिक दृष्टि से लक्षणीय नहीं है—कभी-कभी भोग के प्रत्यक्ष चित्रण में भी कलाकार का संयम दृष्टिगोचर होता है। वह संयम कला की आवश्यकता है। कथा की विस्तृत चर्चा के प्रकाश में यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है कि मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों की चर्चा या विश्लेषण करने के लिए उपन्यास के पात्र या प्रसंग समर्पित नहीं हैं, प्रत्युत् जीवन में मनोविज्ञान की गुत्थियों का जितना अस्तित्व लक्षित होता है और जितना उनका महत्त्व है, उतना ही संकेत इसमें मिलता है। मनोवैज्ञानिक गुत्थियों एवं कुंठाओं को जीवंत पात्रों और सरस प्रसंगों के माध्यम से पाठक के समक्ष रखते हुए लेखक ने पाठक को जीवन-रस से परिचित कराया है। आज के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की दुर्बलता की पृष्ठभूमि पर 'चित्रलेखा' का मनोवैज्ञानिक स्पर्श-पुनर्मूल्यांकन करते समय अधिक आकृष्ट करता है।

उपन्यास की एक विशेषता उसकी नाट्चात्मकता भी है। नाट्चात्मकता का प्राण विरोध या संघर्ष है। भोगी चित्रगुप्त और योगी कुमारगिरि के बीच झूलती हुई 'चित्रलेखा' नाट्चात्मकता का केन्द्र है। क्षत्रिय श्वेतांक और ब्राह्मण विशालदेव का विरोधी परिस्थितियों में पड़कर विषम दृष्टियों को उपलब्ध करना भी इस नाट्चात्मकता अंग है। मूलतः विरक्ति और आसक्ति के बीच झोंके खाता हुआ यह पेंडुलम प्रेम के मध्यबिंदु पर स्थिर हो जाता है। बीच की विरोधात्मक स्थितियों में कितने ही नाटकीय प्रसंगों की निर्मिति लेखक कर सका है। मस्ती और मादकता में डूबे हुए चित्रलेखा और बीजगुप्त के पास मध्यरात्रि में रत्नाम्बर प्रभु और ब्रह्मचारी श्वेतांक का पाप का पता लगाने के लिए

आना, कुमारगिरि की कुटिया में चित्रलेखा का प्रकाश को अन्धकार का प्रणाम करना, मौर्य की भरी सभा में योगी और नर्तकी का बौद्धिक वाग्युद्ध, अहं से तने हुए कुमारगिरि के सामने स्वाभिमानी चित्रलेखा की अनुनयपूर्ण दीक्षा-याचना, नर्तकी और योगी का साधना के क्षेत्र में एकान्तवास, विशालदेव का नाट्यपूर्ण प्रवेश, मृत्युंजय के घर में कुलीन घराने की स्त्रियों के बीच चित्रलेखा का आगमन, मादकता और क्रान्ति की प्रतिरूप चित्रलेखा और शान्ति और संयम की प्रतिरूप यशोधरा, बीजगुप्त का क्रमशः देवत्व की ओर उर्ध्वगमन और कुमारगिरि का अधोगमन—ऐसे कितने ही नाट्यपूर्ण प्रसंगों की ओर संकेत किया जा सकता है। कभी नाट्यपूर्ण पात्रों और प्रसंगों की रचना का मोह लेखक को इतना आविष्ट करता है कि कृति में यांत्रिकता और अविश्वसनीयता उत्पन्न होती है—परन्तु 'चित्रलेखा' के उपन्यासकार ने प्रायः सफलता से इस परीक्षा में अपनी कलात्मकता का परिचय दिया है। एकाध स्थान पर अवश्य यह मोह दुर्निवार हो गया है। मृत्युंजय के द्वारा चित्रलेखा को निमंत्रण (बीजगुप्त द्वारा समर्थन किए जाने पर भी) अस्वाभाविक लगता है और नाट्यपूर्णता के मोह में पकड़कर इस अवसर पर लेखक कुमारगिरि को भी ले आया है !! संयम, विरक्ति और एकान्त कुटिया में रहने वाले इस योगी का गृहस्थ के घर में आकर विवाह जैसी बातों में रस लेना कथा की नाट्यात्मकता को भले ही बढ़ाए परन्तु सुधी पाठक की दृष्टि में आरोपित-सा लगता है।

उपन्यास में एक-दो ऐसी घटनाएँ भी हैं जिनको टाला जाता तो उपन्यास की कला में कुछ अधिक निर्दोषता आ जाती। कुमारगिरि और चाणक्य के बीच जो ईश्वर के अस्तित्व-अनस्तित्व को लेकर बौद्धिकवाद चल रहा है, उसकी आवश्यकता से इन्कार नहीं किया जा सकता। उपन्यास के पात्रों के जीवनविषयक दृष्टिकोण एवं उनकी दार्शनिक मुद्रा के अनुकूल भी वह है। चर्चा एक ऐसे बिन्दु पर आ जाती है जबकि ईश्वर के अस्तित्व के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण की माँग की जाती है। यह पूर्णतः तर्कयुक्त है। यहाँ आकर कुमारगिरि का यौगिक शक्ति के बल पर धोखा देना और चित्रलेखा का उसको पराजित करना उतना कलातमक नहीं प्रतीत होता। एक तरह से कुमारगिरि को कुछ नीचे गिराया गया है—लगता है वह कोई जादूगर हो। कुमारगिरि को ही परास्त करवाना था तो लेखक चाणक्य के अन्तिम तर्कों को उसके मुख से प्रकाशित कर सकता था या किसी अन्य मार्ग से यह कार्य सम्पन्न हो सकता था। फिर उपन्यास के अन्त में कुमारगिरि की ओर से चित्रलेखा का विकर्षण दिखाते समय भी कुछ जल्दबाजी हुई है। बीजगुप्त के प्रति उसके अन्तर्मन की गहरी प्रेम-भावना को अधिक तीव्रता से सम्वेदित कराया जाता और कुमारगिरि की वासना का अधिक उग्र चित्रण किया जाता तो सम्भवतः उपन्यास में अधिक कलात्मकता आ जाती। विशालदेव जो कि कुमारगिरि के निकट महत्त्वपूर्ण समय पर आ पहुँचता है—(उसका आगमन अत्यन्त नाटकीय है—आवश्यकता से अधिक) वह एक ऐसा लगाम है जो वासना के मार्ग पर फिसलने वाले घोड़े को खींचता रहता है। वह परिस्थितियों से पूर्णतया परिचित है—उसका समय-समय पर मुस्कराना लम्बे विवादों या तर्कजाल से भी अधिक प्रभावपूर्ण और व्यंग्यपूर्ण लगता है। वह चित्रलेखा से प्रार्थना भी करता है कि उसके कारण कुटी का संयत और शान्तिपूर्ण जीवन नष्ट हो रहा

है, इसलिए वह कुटी छोड़कर चली जाए। विशालदेव का श्वेतांक की तुलना में कम मुखर व्यक्तित्व अधिक मर्मज्ञ का रूप लेकर उपस्थित होता है। इस सबकी पृष्ठभूमि पर उसका अपने गुरु के प्रति अन्तिम आदर कुछ विचित्र अवश्य लगता है—सौभाग्य इतना है कि यह 'उपसंहार' में होने के कारण विशेष खटकता नहीं है। बल्कि उपन्यास को 'उपसंहार' की पूंछ अनावश्यक है, इसी तथ्य पर प्रकाश डालता है।

'चित्रलेखा' विद्रोही विचारों के लिए, अपनी व्यक्तिवादी दृष्टि के लिए और मनोविज्ञान के लिए महत्त्वपूर्ण कृति समझी गई है। वस्तुतः 'चित्रलेखा' में किसी विशिष्ट आग्रह को लेकर लेखक नहीं आता। जीवन के भौतिक धरातल के बीच उसने विरक्ति और आसक्ति या वासना की परीक्षा कर दोनों को आत्यन्तिक ठहरा कर स्वस्थ जीवन के लिए दोनों के बीच की स्थिति—गार्हस्थ्य प्रेम और उसके माध्यम से आत्मसंहार को उपादेय समझा। ये विचार चित्रलेखा के प्रकाशन-काल तक (१९३४) विचारकों के मन में प्रायः स्थापित थे। लेखक की विशेषता यह है कि इन मान्यताओं को उसने सुन्दर कलात्मक रूप प्रदान कर हिन्दी पाठकों के समक्ष रखा। प्रेमचन्द की समाजोन्मुख कृतियों में नैतिक मान्यताओं को प्रश्नांकित दृष्टि से नहीं देखा गया था। परन्तु 'परख' और 'सुनीता' के माध्यम से जैनेन्द्र ने कुछ प्रस्थापित मान्यताओं की परीक्षा करने का साहस जरूर किया था। 'चित्रलेखा' में अपेक्षाकृत अधिक साहस एवं स्पष्टता से हमारी पूर्व स्वीकृत धारणाओं पर प्रश्न-चिह्न लगाया गया है। वैवाहिक जीवन की पवित्रता के लिए सामाजिक विधि-विधान की आवश्यकता बीजगुप्त ने नहीं समझी। विवाह और प्रेम के बीच व्यवधान उत्पन्न होने पर प्रेमचन्द विवाह के सामाजिक विधान को महत्त्व देने के पक्ष में थे जबकि 'चित्रलेखा' में बीजगुप्त विवाह और प्रेम के बीच सरल सम्बन्ध आवश्यक मानता है। विवाह और प्रेम में यौन-पवित्रता को प्रेमचन्द आवश्यक समझते थे, अपवादात्मक स्थितियों में भी प्रेमचन्द इस सम्बन्ध में अधिक सहिष्णु या उदार नहीं हो सकते थे। जैनेन्द्र में इस सम्बन्ध में बड़ी झिझक, अस्पष्टता और बचाव की प्रवृत्ति थी। 'चित्रलेखा' में बीजगुप्त ने चित्रलेखा के पूर्व-जीवन को महत्त्व देता है, न कुमारगिरि के प्रति उसके शारीरिक समर्पण को। यौन सम्बन्धों की आकस्मिकता और परिस्थितिवशता ज्ञात होने के कारण वर्माजी इस सम्बन्ध में अधिक उदार हैं—स्पष्ट शब्दों में वे सच्चे प्रेम और यौन विषयक पवित्रता का अभेद्य सम्बन्ध नहीं स्थापित करते। यह निस्सन्देह प्रगतिशील दृष्टिकोण था। विरक्ति के मार्ग की अधिक विस्तार से परीक्षा कर वैयक्तिक अथवा सामाजिक दोनों दृष्टियों से उसकी हानिकारकता सिद्ध की गई है। वासना को पाप अथवा घृणित वस्तु न समझकर उसका स्वस्थ जीवन के विकास की दृष्टि से आवश्यक उपयोग भी स्वीकार किया गया है—मनुष्य-जीवन की संस्कृति वह न हो, खाद अवश्य है। इस दिशा में समाज को सोचने के लिए विवश किया गया है। यह कृति अनातोले फ्रांस की 'थाया' से कितनी प्रभावित है, यह प्रश्न उतना महत्वपूर्ण नहीं है। परन्तु पाश्चात्य विचारों का प्रभाव लेखक ने आत्मसात् अवश्य किया है। यह दो प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है: श्वेतांक और यशोधरा का सहभोजन, हाथ पकड़कर बोलना, नाव पर घूमने जाना, काशी यात्रा से लौटने के पूर्व बाजार जाकर चीज़ों [illegible] में यशोधरा के साथ

बीजगुप्त का भ्रमण, पर्यटन, जलपान की प्रतीक्षा, यशोधरा से बीजगुप्त की बौद्धिक चर्चा इत्यादि बातों को पढ़ते समय यह अवश्य लगता है कि यह चन्द्रगुप्त मौर्य का समय नहीं होगा। कहीं लेखक अति सामयिक वस्तु को पौराणिक रूप तो नहीं दे रहा है ? परन्तु यह उपन्यास न पूर्णतः ऐतिहासिक है, न सामयिक। उपन्यास की वस्तु कुछ अधिक चिरन्तन है, अतः यह काल-विपर्यय या समाज-विपर्यय विशेष नहीं खटकता। दूसरे, भारतीय संस्कृति और पाश्चात्य संस्कृति के अन्तर्बाह्य विरोध की परिकल्पना कर एक को आध्यात्मिक और दूसरी को भौतिक बताने वाले विद्वानों के सामने दोनों के स्वस्थ समन्वय की सम्भावना बताकर उपन्यास को दो संस्कृतियों के मिलन-बिन्दु पर खड़ा किया है। 'चित्रलेखा' के लेखक की प्रशंसा इसलिए भी की जानी चाहिए कि उसने किसी पूर्व-स्वीकृत धारणा को लेकर पात्रों और प्रसंगों की दृष्टान्त के आधार पर रचना नहीं की, बल्कि प्रचलित मान्यताओं की जीवन की गर्मी और ऊष्मा के बीच अनाग्रहपूर्वक जाँचकर कुछ प्रश्न-चिह्न लगा दिए हैं। लेखक कोई समाधान नहीं दे जाता, इसीलिए सम्भवतः इस कृति का सौन्दर्य-मूल्य अधिक बढ़ गया है। प्रेमचन्द के युग में इसको लिखकर भी लेखक ने वस्तु की गठन, कसाव, संक्षेप, पात्रों और प्रसंगों की एकात्मता, कलात्मक संयम इत्यादि को एक जागरूक कलाकार के रूप में महत्त्व दिया है। प्रायः लेखक समस्या को लेकर सामने आता है तब उपन्यास या तो दृष्टान्त रूप बन जाता है अथवा पात्र प्रतीक बनकर जीवन्तता खो देता है। वर्माजी समस्या लेकर आए जरूर हैं परन्तु उनके कलाकार ने उन्हें पात्रों को प्रतीक-मात्र बना देने से और उपन्यास को दृष्टान्त बना देने से बचाया। पाप-पुण्य के विरोध को लेकर निर्मित किये गए पात्रों में प्रतीकात्मकता के साथ एकांतिक विरोध के आने की भी सम्भावना थी। परन्तु ऐसा यहाँ नहीं हो पाया है : बीजगुप्त के विरोध में कुमारगिरि के प्रति अन्याय नहीं किया गया है, न बीजगुप्त को अतिरिक्त सहानुभूति दी गई है। उपन्यास में यांत्रिकता आने का भी खतरा प्रायः विरोधी पात्रों की योजना से रहता है, सौभाग्य की बात है कि यह यांत्रिकता इसमें नहीं आ पाई, क्योंकि लेखक समस्या को लेकर अन्त तक नहीं बैठा है—वह उपन्यासकार या कलाकार पर दार्शनिक को हावी नहीं होने देता।

प्रतिभा अग्रवाल

बंगला का रंगमंच : एक आरोप एवं निराकरण

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद जीवन के अन्यान्य क्षेत्रों की तरह भारतीय नाट्य जगत में भी एक नव-जीवन एवं स्फूर्ति का दर्शन होता है। आत्माभिव्यक्ति के इस माध्यम ने विशेष लोकप्रियता प्राप्त की। नाट्य-लेखन एवं प्रस्तुतीकरण के स्तर पर ही नहीं, नाट्यालोचना के क्षेत्र में भी पर्याप्त हलचल दृष्टिगत होती है। दृश्य-काव्य के अन्तर्गत आनेवाली इस विधा की आलोचना आमतौर पर साहित्य की अन्य विधाओं के समान ही पाठ्य मान कर ही की जाती रही है। पिछले दिनों इसकी महत्वपूर्ण विशेषता "अभिनेता" को नाटक का अनिवार्य अंग मानते हुए नए मानदण्ड स्थिर किए गए तथा किसी नाटक की आलोचना उसके साहित्यिक लेखन तक ही सीमित न रहकर उसके प्रस्तुतीकरण की नाना सम्भावनाओं तक विस्तृत हुई। साथ ही रंग आलोचक भी सामने आया जो किसी भी प्रस्तुत कृति के प्रस्तुतीकरण तथा अभिनेयता की दृष्टि से सूक्ष्म विवेचना एवं आलोचना करने लगा। इस महत्वपूर्ण कार्य ने नाना क्षेत्रों में होने वाली नाट्य-गतिविधियों से दूसरों को परिचित कराया तथा उसके गुण-दोषों एवं उपलब्धियों की ओर इंगित किया। आज यह आलोचना केवल-मात्र किसी शहर, प्रान्त या भाषा-क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रहती वरन् सम्पूर्ण भारतीय रंगमंच या कम-से-कम उत्तर-भारतीय रंगमंच की पृष्ठभूमि में की जाती है। बंगाल नाट्य-गतिविधियों में दीर्घकाल से संलग्न रहा है। अतः इन चर्चाओं में बंगला रंगमंच का उल्लेख बराबर ही होता रहता है। किन्तु अनेक बार ऐसा लगता है कि बंगाल के रंगमंच के साथ पूरा न्याय नहीं हो पाता। एक बहुत बड़ा आरोप जो बंगला रंगमंच पर लगाया जाता है वह है उसकी भावुकतापूर्ण अतिनाटकीयता एवं चमत्कार-प्रियता। किसी भी रंगमंच, रंगकर्मी या नाट्य-प्रेमी की दृष्टि में यह आरोप पर्याप्त गुरु हैं और स्वाभाविक है कि असंतोष उत्पन्न करें। बंगला रंगमंच की ये दुर्बलताएँ उस तक ही सीमित नहीं मानी जातीं वरन् उनका प्रक्षेपण बंगाल में प्रस्तुत अन्य भाषा-भाषी प्रस्तुतियों तक भी होता है, ऐसा भी माना जाता है। नवीन प्रयोगों के क्षेत्र में बंगला मंच अधिक पुराणपंथी और आत्म-सीमित है, ऐसी ध्वनि भी इन चर्चाओं और लेखों से आती है। मुझे ऐसा लगता है कि केवल इतना कहकर बंगला मंच की आलोचना करना उचित नहीं। अतिनाटकीयता एवं आलोक-प्रभाव द्वारा चमत्कार सृष्टि ही बंगला रंगमंच का सब कुछ नहीं। कुछेक प्रदर्शनों में अवश्य ही इन प्रवृत्तियों को महत्व मिला है किन्तु उनसे कहीं बड़ी संख्या उन प्रदर्शनों की है जिनमें न तो भावुकतापूर्ण अति-नाटकीयता है न किसी भी प्रकार का चमत्कार। दीर्घकाल से मैं कलकत्ता में रह रही हूँ (और कलकत्ता

तथा बंगाल के रंगमंच में अन्तर करने का कोई विशेष कारण नहीं क्योंकि लोक-नाट्य-परम्परा को छोड़कर नाट्य-जगत में जो कुछ होता है वह अधिकतर कलकत्ता तक ही सीमित है) और नाट्य-जगत से मेरा घनिष्ट सम्बन्ध है। यहाँ के अधिकांश प्रदर्शनों को देखने का अवसर मिलता रहता है अतः इस सम्बन्ध में अपने अनुभवों के आधार पर कुछ कहना संगत ही नहीं आवश्यक भी प्रतीत होता है। नाट्य-लेखन एवं प्रस्तुतीकरण के अन्य पक्षों को छोड़कर प्रस्तुत चर्चा में मैं अपने को केवल उन प्रदर्शनों तक सीमित रखूँगी जो या तो अति-नाटकीयता एवं चमत्कारप्रियता की दृष्टि से बहु-चर्चित रहे हैं अथवा इसके प्रतिकूल मनोवृत्ति को लेकर चले हैं तथा बंगला रंगमंच की महत्वपूर्ण उपलब्धि रहे हैं। यों इसी प्रसंग में कलकत्ते में अबंगलाभाषी प्रदर्शनों की चर्चा भी उचित होगी क्योंकि विभिन्न भारतीय भाषाओं में तथा अंग्रेजी में यहाँ बराबर नाटक खेले जाते रहते हैं। उनमें से कई एक प्रदर्शन रंगमंच के इतिहास की महत्वपूर्ण घटना रहे हैं, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। बंगला नाटकों की तरह यह चर्चा भी उन आरोपों की सीमाओं का परिचय देने तक ही सीमित रहेगी।

बंगला के रंगमंच पर नियमित रूप से नाटक प्रस्तुत करने वाले दलों को दो भागों में बाँटा जा सकता है। एक तो वे जो व्यावसायिक हैं एवं नियमित रूप से प्रति सप्ताह तीन या चार या उससे भी अधिक प्रदर्शन करते हैं। दूसरे वे अर्द्धव्यावसायिक या शौकिया दल हैं जो नियमित रूप से या समय-असमय बराबर नाटक प्रस्तुत करते हैं। रंगमंच के विकास और योगदान में इन दोनों ही प्रकार के नाट्य-दलों का महत्वपूर्ण स्थान है। प्रथम प्रकार के प्रदर्शन लोकप्रियता को दृष्टि में रखकर चलाने के लिए काफी दूर तक बाध्य होते हैं और अधिक से अधिक दिन तक बड़ी संख्या में दर्शकों को अपनी ओर आकृष्ट करने के इच्छुक होते हैं। स्वाभाविक है कि इनके लिए नित नए प्रयोग करना या ऊँचे स्तर की चीज को उठाना, नई विचारधारा और प्रस्तुतीकरण के सर्वथा नए मानदण्डों को लेकर चलना सम्भव नहीं हो पाता। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि इनके सभी प्रदर्शन सस्ते और असंगतियों से भरे हों। कलकत्ते में विश्वरूपा, मिनर्वा, रंगमहल, स्टार, मूनलाइट, मुखांश, थियेटर सेन्टर के तत्वावधान में नियमित रूप से नाटक खेले जाते रहे हैं। इनमें से मूनलाइट को छोड़कर सभी बंगला में व्यावसायिक स्तर पर नाटक प्रस्तुत करते हैं। गिरीशचन्द्र घोष तथा अमृतलाल वसु का सम्बन्ध इन्हीं रंगमंचों से रहा। अभी पिछले दिनों तक शिशिर भादुड़ी एवं अहीन्द्र चौधरी जैसे कलाकार भी इन्हीं रंगमंचों पर काम करते रहे हैं एवं अपनी कला के श्रेष्ठ प्रदर्शन द्वारा दर्शकों को मुग्ध करते रहे हैं। इनमें से विश्वरूपा, स्टार, रंगमहल व मिनर्वा थियेटर पर्याप्त पुराने हैं एवं बरसों से नियमित रूप से नाटक प्रस्तुत कर रहे हैं। बंगला के श्रेष्ठ नाटकों का प्रस्तुतीकरण इन रंगमंचों पर हुआ है। कुछेक दिनों के लिए कलकत्ते में बाहर से आनेवाले नाट्यप्रेमी आमतौर पर इन थियेटरों में खेले जाने वाले नाटकों को ही देख पाते हैं। इनमें प्रस्तुत होने वाले नाटकों में से कुछ में दृश्य-विधान या आलोक-प्रभाव के विशेष चमत्कार द्वारा जनता को चमत्कृत करने का प्रयत्न अवश्य किया गया है किन्तु ऐसे नाटकों की संख्या अपेक्षाकृत कम ही है। इस दृष्टि से श्री उत्पल दत्त के निर्देशन में "लिटल थियेटर ग्रुप" द्वारा मिनर्वा थियेटर में

प्रस्तुत होने वाले नाटक विशेष उल्लेखनीय हैं। "अंगार" में कोयले की खान के ऊपरी भाग एवं उसके भीतरी भाग, जिसमें पानी भर आने के दृश्य को दिखलाया गया है, की बहुत चर्चा हुई है और इसमें श्री तापस सेन के आलोक-प्रभाव ने अवश्य ही दर्शकों को चमत्कृत किया है। इसी ग्रुप के दूसरे नाटक "फ़रारी फ़ौज" में जहाज का डूबना और कल्लोल में जहाज के डेक के ऊपर नाटक के अधिकांश का प्रस्तुत किया जाना, दृश्य-विधान एवं आलोक-प्रभाव का चमत्कार प्रस्तुत करते हैं। इस दृष्टि से "विश्वरूपा" में प्रस्तुत "सेतु" नाटक ने सर्वाधिक ख्याति प्राप्त की। मंच के ऊपर बिछी हुई रेल की लाइन, उस पर दूर से रेल का आना और रेल की पटरी पर खड़ी आत्महत्या के लिए प्रस्तुत महिला को बचाने के प्रयत्न में ड्राइवर का लाइन बदलकर गाड़ी को दूसरी लाइन पर ले जाने का सारा दृश्य केवल मात्र आलोक के प्रभाव के परिणामस्वरूप इतना यथार्थ एवं सजीव हो उठा था कि देखकर आश्चर्य हुआ था। पिछले १५-२० वर्षों में कलकत्ते के व्यावसायिक रंगमंच पर प्रस्तुत नाटकों में चमत्कार के प्रदर्शन की प्रवृत्ति का परिचय इन चार-पाँच नाटकों को छोड़कर अन्यत्र नहीं-सा है। केवल इन कतिपय नाटकों के आधार पर यह मानना कि बंगला का रंगमंच चमत्कार-प्रिय है और प्रदर्शन की विशेष प्रवृत्ति को लेकर चलता है, बंगला रंगमंच के साथ अन्याय होगा। इन्हीं रंगमंचों पर सैकड़ों ऐसे नाटक प्रस्तुत किये गए हैं जिनमें चमत्कार या प्रदर्शन का कोई आग्रह नहीं रहा है। बंगला के श्रेष्ठतम नाट्यकारों की कृतियाँ, उपन्यासों के नाट्य-रूपान्तर एवं विदेशी नाटकों के अनुवाद या भारतीय रूपान्तर विभिन्न शैलियों में बराबर प्रस्तुत किये गए हैं जिनमें से किसी को भी चमत्कार और प्रदर्शन को प्रमुखता देने वाला नहीं कहा जा सकता। लिटल थियेटर ग्रुप के ही दूसरे नाटकों का उल्लेख अप्रासंगिक न होगा। मैक्सिम गोर्की के "लोअर डेप्थ" का रूपान्तर "नीचेर महल" और "तिताश नदीर नाम" (लेखक का नाम स्मरण नहीं) अत्यन्त सशक्त नाटक थे जिन्हें सीधे-सादे यथार्थ वातावरण में अत्यन्त सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया गया। ये नाटक विश्व की किसी भी भाषा में प्रस्तुत होने वाले श्रेष्ठ नाटकों की तुलना में रखे जा सकते हैं। बंगला के रंगमंच के सम्बन्ध में आमतौर पर लोगों का—विशेषकर बंगाल के बाहर वाले आलोचकों का—जो यह मत देखने में आता है कि बंगला रंगमंच प्रदर्शन और चमत्कार की विशेष प्रवृत्ति को लेकर चल रहा है, उसका एक और, सम्भवतः एकमात्र कारण यह प्रतीत होता है कि बाहर से आने वाले व्यक्ति जब दो-चार दिनों के लिए कलकत्ता पधारते हैं तो वे एकाध नाटक देख पाते हैं जो उन दिनों किसी थियेटर में चल रहे होते हैं। चूंकि सेतु और अंगार की बहुत चर्चा हुई थी अतः आने वाला हर व्यक्ति इन्हें अवश्य देखता था। समय और अवकाश सीमित होने के कारण बाहर से आने वाले के लिए प्रवासकाल में चलने वाले कई एक नाटकों को देखना सम्भव नहीं हो पाता अतः उसकी धारणा का आधार वही दो-एक नाटक हो पाते हैं जो वह उस समय में देख पाता है अतः उसके मत की कितनी सीमाएँ हैं, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। यों बंगला के रंगमंच की चर्चा करते हुए केवल इन व्यावसायिक रंगमंचों की उपलब्धि के आधार पर उसके स्वरूप के सम्बन्ध में कोई निश्चित धारणा नहीं बनाई जा सकती, क्योंकि इस दिशा में व्यावसायिक दलों से

इतर काम करने वाले दलों का भी अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान रहा है जिसका उल्लेख आगे किया जाएगा। पिछले कई वर्षों से "मुखांश" और अब "थियेटर सेंटर" के तत्वावधान में नाटककार-निर्देशक-अभिनेता श्री तरुणराय बराबर नाट्य-साधना में रत रहे हैं एवं अपने अनेक नाटकों को सफलतापूर्वक मंचस्थ करते रहे हैं।

व्यावसायिक स्तर पर मूनलाइट थियेटर कलकत्ते का एकमात्र थियेटर है जहाँ सप्ताह में छः दिन हिन्दी नाटक प्रस्तुत किए जाते हैं। पारसी शैली में प्रस्तुत होने वाले मूनलाइट थियेटर के नाटक अवश्य आज के पढ़े-लिखे एवं नवीनता प्रेमी दर्शकों के लिए विशेष महत्त्व नहीं रखते किन्तु सामान्य जनता के बीच इनकी लोकप्रियता का प्रमाण इन नाटकों का नियमित रूप से खेला जाना एवं इसके अभिनेताओं को अच्छा पारिश्रमिक मिलना है। अवश्य ही ऐसे थियेटरों से नवीन प्रयोग या उच्च स्तर के नाटकों के प्रदर्शन की आशा करना व्यर्थ है। यों एक बात मैं कह दूं कि सन् १९६४ में अनामिका द्वारा आयोजित नाट्य-महोत्सव में मूनलाइट थियेटर द्वारा प्रस्तुत "सीता-बनवास" नाटक ने जहाँ धर्मनिष्ठ महिलाओं को हर तीसरे मिनिट भगवान् राम और सीता को नमस्कार करने के लिए प्रेरित किया वहीं पढ़े-लिखे अनेक नवीनता प्रेमी व्यक्तियों को भी अपने बचपन की मधुर स्मृतियों में डुबा दिया जब वे अपने शहर या गाँव में सारी रात बैठकर, भूख-प्यास भूलकर ऐसे प्रदर्शन देखा करते थे।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, बंगला रंगमंच के विकास में व्यावसायिक दलों के अतिरिक्त अर्द्धव्यावसायिक या शौकिया नाटचदलों का बड़ा महत्वपूर्ण हाथ है जो नियमित रूप से भी समय-असमय अनेक नवीन प्रयोग करते रहते हैं एवं श्रेष्ठ नाटक प्रस्तुत करते रहते हैं। इनमें अग्रणी हैं श्री शंभुमित्र का "बहुरूपी" नाटच-दल। इस दल को अर्द्धव्यावसायिक कहना ही उचित है क्योंकि अन्य व्यावसायिक दलों की भाँति "बहुरूपी" सप्ताह में तीन दिन अपने नाटकों का प्रदर्शन नहीं करता किन्तु इसके अधिकांश कलाकारों, विशेषकर मित्रा दम्पति की जीविका का आधार नाटच प्रदर्शन ही है। शंभुमित्र नियमित रूप से किसी भी थियेटर में अपने नाटक नहीं प्रस्तुत करते किन्तु कलकत्ते एवं उसके आसपास तथा अन्य शहरों में बराबर अपना नाटच-दल लेकर जाते हैं और सालभर में अपने विभिन्न नाटकों के ४०-५० प्रदर्शन प्रस्तुत करते हैं। बहुरूपी के नाटकों में रवीन्द्रनाथ ठाकुर के "रक्तकरबी", "विसर्जन", "राजा" और "चार अध्याय" (इस नाम के उपन्यास का नाटच रूपान्तर), इब्सन के "एन एनेमी ऑफ दी पीपुल" तथा "डॉल्स हाउस" के भारतीय रूपान्तर क्रमशः "दशचक्र" एवं "पुतुल खैला" तथा सोफोक्लीज़ का "राजा इडिपस" विशेष उल्लेखनीय हैं। इन नाटकों में विषय-वस्तु के अनुरूप मंचसज्जा या आलोक का विधान अवश्य ही किया गया है किन्तु चमत्कार या प्रदर्शन के लिए कहीं भी कोई गुंजाइश नहीं रही है। ये सभी नाटक अपनी विषय-वस्तु, प्रस्तुतीकरण-कौशल एवं अभिनय की दृष्टि से श्रेष्ठ रहे हैं। अभी पिछले वर्ष अपनी अमरीका एवं योरोप की यात्रा के दौरान मुझे अनेक नाटकों के देखने का सुअवसर प्राप्त हुआ और मैं यह निस्संकोच कह सकती हूँ कि बहुरूपी के प्रदर्शन और शंभु बाबू की व्यक्तिगत उपलब्धि एवं कला विश्व के श्रेष्ठतम प्रदर्शनों तथा अभिनेताओं की तुलना में उन्नीस

नहीं पड़ेगी। तकनीकी सुविधाओं की बात हम जाने दें क्योंकि उस क्षेत्र में विदेशी रंगमंच अधिक समृद्ध है और उस दृष्टि से बहुरूपी ही नहीं भारतवर्ष के किसी भी नाटच-दल की बड़ी सीमाएँ हैं किन्तु यह भी सत्य है कि किसी भी अच्छे नाट्य-प्रदर्शन के लिए तकनीकी-कौशल अनिवार्य नहीं हैं और आज विदेशों में भी तकनीकी-कौशल के आधार पर सफलता प्राप्त करना हेठी समझा जाता है। मैंने जिन नाटकों को देखा उनमें से अधिकांश दृश्य-विधान एवं तड़क-भड़क को कम-से-कम महत्त्व देकर चले थे। अधिकतर नाटक ऐसे थे जिनमें अत्यन्त सामान्य परिवर्तनों द्वारा प्रतीकात्मक प्रभाव उत्पन्न किया गया था।

इसी प्रकार के दलों में "शौभनिक" का उल्लेख भी उचित है। अपने स्वरूप में अधिक शौकिया होते हुए भी शौभनिक अपने नाटकों का प्रदर्शन अधिक व्यावसायिक रूप में करता है। पिछले आठ-दस वर्षों में इस नाट्य-दल ने बंगला रंगमंच को कई श्रेष्ठ नाटक दिए हैं एवं नवीन प्रयोग किए हैं। नीले आकाश के नीचे खुले रंगमंच पर नाटक प्रस्तुत करने का प्रयोग शौभनिक ने किया। मैक्सिम गोर्की के "माँ" उपन्यास का नाट्य-रूपान्तर एवं इब्सन के "घोस्ट" का अनुवाद (इसी के साथ एक और बंगला नाटक भी प्रस्तुत किया था, जो मैं नहीं देख पाई थी) खुले में प्रस्तुत किया। इसमें तीनों ओर दर्शक बैठे थे एवं बीच के खुले मंच पर अभिनेता अभिनय कर रहे थे। "घोस्ट" का तो घटना-स्थल एक ही है, किन्तु "माँ" में विभिन्न स्थलों का आभास अत्यन्त सामान्य परिवर्तनों के द्वारा दिया गया था। "माँ" के घर की खिड़की का चौखटा और बैठने की मेज़-कुर्सियों को हटाकर दो स्टूल एवं दरवाज़े के पास एक गट्ठा रखकर मिल के फाटक का आभास दे दिया गया था। सादगी एवं बिना तड़क-भड़क के प्रस्तुत ये दोनों ही नाटक सफल रहे। कालांतर में शौभनिक को खुले रंगमंच पर नाटक प्रस्तुत करने के प्रयोग को स्थगित करना पड़ा क्योंकि कलकत्ते में मौसम की अनिश्चितता नियमित रूप से ऐसे प्रयोगों को दीर्घकाल तक नहीं चलने दे सकती। अतः इन्होंने एक प्रकार का समझौता कर लिया है और अब एक मैदान में स्थायी रूप से बनाए अस्थायी रंगमंच एवं त्रिपाल तने प्रेक्षागृह में दर्शकों को बैठाकर नाटक दिखाते हैं। इन्होंने पिछले कई वर्षों में अच्छे प्रयोग किए हैं और इनका पिछला नाटक "एवम् इन्द्रजीत" विशेष सराहनीय प्रयोग है। श्री बादल सरकार द्वारा लिखित यह नाटक अनाटकीय नाटक का बड़ा सुन्दर रूप प्रस्तुत करता है। नाट्य-लेखन तथा प्रस्तुतीकरण दोनों में ही नवीन प्रयोग किये गए हैं। प्रस्तुतकर्त्ताओं को प्रारंभ में इस बात की बड़ी शंका थी कि यह नाटक आम जनता ग्रहण कर पायेगी या नहीं किन्तु आश्चर्य हुआ दर्शकों द्वारा इसके स्वीकार को देखकर। अभी तक वे साठ से अधिक बार इस नाटक को खेल चुके हैं और बिना किसी प्रचार के भी जिस प्रकार दर्शक उमड़े पड़ रहे हैं उससे ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें अभी बहुत रातों तक यह नाटक खेलना पड़ेगा। जीवन की बे-सिलसिलेवार अनेक घटनाओं एवं अनुभूतियों के खंडों में भी मिलने वाले सिलसिले एवं अखंडता को नाट्यकार ने जिस कुशलता के साथ एकसूत्र में पिरोया है, यथार्थता एवं सार्थकता प्रदान की है, उसे इसके प्रस्तुतकर्त्ता एवं मुख्य भूमिका में अभिनय करने वाले श्री गोविन्द गंगोपाध्याय एवं उनके साथी अभिनेताओं ने उतनी ही कुशलता के साथ मूर्तिमान किया है, सप्राण बनाया है। अभिनेताओं ने न केवल अभि-

नीत पात्रों के तीस वर्ष के जीवनकाल को सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया है वरन् एक साथ विभिन्न भूमिकाओं का भी निर्वाह किया है। कालेज के एक अठारह-उन्नीस वर्षीय युवक-छात्र के रूप में प्रस्थान करने के एकाध-मिनिट के अन्दर ही आगे की ओर लटकाकर बाल काढ़े, कन्धे पर चादर रखे, आँखों पर चश्मा चढ़ाए, प्राध्यापक के रूप में प्रवेश करके अभिनेताओं ने न केवल आश्चर्य-चकित किया वरन् अभिनय की सजीवता तथा व्यक्तित्व के सर्वथा रूपान्तर को मूर्त्त भी किया। अंग-संचालन एवं विभिन्न भाव-भंगिमाओं द्वारा कथोपकथन के अभाव में भी अनेक स्थलों पर उन्होंने इतना सजीव अभिनय किया—पैंटोमाइम का इतना मार्मिक एवं विश्वसनीय रूप दिखलाया—कि अभिनेता के अभिनय-कौशल एवं निर्देशक की कल्पना की प्रशंसा किए बिना नहीं रहा गया। रंगमंच, दृश्य-विधान तथा आलोक प्रभाव इत्यादि की अत्यन्त सामान्य व्यवस्था होते हुए भी यह प्रदर्शन नाना दृष्टियों से श्रेष्ठ एवं सफल प्रदर्शन का गौरव पाने का अधिकारी है। "मुक्तांगन" (शौभनिक द्वारा अपने इस प्रेक्षागृह को दिया गया नाम) में ही तीन-चार वर्षों पूर्व एक नाटक देखा था "वैपिकी बिदाय"। सन् ३० के आस-पास का लिखा यह सुखांत नाटक—चाहें तो प्रहसन कह सकते हैं—अपनी सहजता एवं जीवन की मार्मिकता के स्वाभाविक चित्रण के कारण ही मर्म को स्पर्श कर पाया था। उस युग में लिखे गए सुखांत नाटकों की समस्त दुर्बलताओं या सबलताओं और अति-नाटकीयता के बावजूद कोई भी नाट्य-प्रेमी इसको सफल नाटक मानेगा। इसकी सफलता का बड़ा श्रेय श्री सवितावृत दत्त को है जिन्होंने एक ऐसे पात्र की भूमिका का निर्वाह किया था जो बात-बात में गाना गाता चलता है। ठुमरी, टप्पा, दादरा, आधुनिक बंगला गान, भजन, इन सबकी एक-एक दो-दो कड़ी सवितावृत बाबू सारे नाटक में गाते गए हैं और बिना किसी वाद्ययंत्र की सहायता के सरस एवं सुमधुर कंठ से वे सारे वातावरण को रस-स्निग्ध करते रहे हैं। ऐसा अनुभव तथा रस प्राप्ति कभी-ही-कभी हो पाती है।

बंगला के रंगमंच की चर्चा के साथ ही इस प्रसंग में उन नाट्य-दलों का उल्लेख भी आवश्यक है जो इतर भाषाओं में बराबर नाटक खेलते रहते हैं तथा इस प्रकार अ-बंगाली भाषाभाषी व्यक्तियों के नाट्यानुराग का परिचय देते हैं। कलकत्ते में हिन्दी, गुजराती, मराठी, तमिल, तेलुगु एवं अंग्रेजी में नाटक प्रस्तुत करने वाले विभिन्न शौकिया दल हैं जो नियमित रूप से प्रति सप्ताह तीन-चार प्रदर्शन तो नहीं करते किन्तु हर साल कम-से-कम दो-एक नाटक खेलते रहते हैं। इनकी अपनी दृष्टि एवं अपनी विशेषताएँ रही हैं। इस प्रसंग में हिन्दी एवं अंग्रेजी में नाटक प्रस्तुत करने वाले नाट्य-दलों की चर्चा महत्वपूर्ण है क्योंकि इन भाषाओं में नाटक करने वाले कई नाट्य-दल हैं जिन्होंने रंगमंच की गतिविधियों में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। हिन्दी नाट्य-दलों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण "अनामिका" है। अपने दस वर्षों के जीवनकाल में अनामिका ने २५-३० नाटक एवं एकांकी प्रस्तुत किए हैं। सन् १९५९ में संगीत नाटक अकादमी द्वारा आयोजित अखिल भारतीय नाट्य-प्रस्तुतीकरण प्रतियोगिता में अनामिका द्वारा प्रस्तुत "नये हाथ" को प्रथम पुरस्कार मिला था। अनामिका द्वारा प्रस्तुत नाटकों में "नये हाथ", "जनता का शत्रु", "आषाढ़ का एक दिन", "घर-बाहर", "छपते-छपते" और "सुहाग के नूपुर"

किसी-न-किसी दृष्टि से महत्वपूर्ण प्रयोग रहे हैं। इनमें से 'जनता का शत्रु', 'आषाढ़ का एक दिन', 'सुहाग के नूपुर' एवं 'घर-बाहर' श्रेष्ठ नाट्य-कृति या रूपान्तर ही नहीं रहे हैं वरन् साहसपूर्ण प्रयोग भी। प्रयोगों की दृष्टि से एरीना थियेटर में प्रस्तुत मिहेल सिब्रे-शियन के "स्टाप प्रेस" का भारतीय रूपान्तर "छपते-छपते" कलकत्ता, बंगाल या हिन्दी रंगमंच ही नहीं वरन् भारतीय रंगमंच का एक महत्वपूर्ण प्रयोग रहा है। इसकी सफलता भारतीय रंगमंच की महत्वपूर्ण उपलब्धि रही है और इसका श्रेय इसके निर्देशक श्री श्यामानन्द जालान को है। चारों ओर बैठे हुए दर्शकों ने अपने बीच अभिनय करते कला-कारों को पाकर अद्भुत सामीप्य का अनुभव किया था। दिसम्बर १९६४ में आयोजित नाट्य-महोत्सव के अवसर पर सम्पूर्ण भारतवर्ष से आए नाट्यविदों एवं कलाकारों द्वारा प्राप्त प्रशंसा ने "छपते-छपते" एवं एरीना थियेटर की सफलता पर एक और मुहर लगाई। अनामिका के इन सभी प्रदर्शनों में विषय एवं वातावरण के अनुकूल प्रभाव-सृष्टि ही परिचालक का मुख्य उद्देश्य था। दर्शकों ने यदि अनामिका के नाटकों को पसन्द किया तो उनके अन्तर्निहित ठोस गुणों के कारण, चमत्कार या प्रदर्शन के कारण नहीं। अना-मिका द्वारा प्रस्तावित रिपर्टरी थियेटर की योजना हिन्दी रंगमंच के विकास की एक महत्वपूर्ण घटना होगी जबकि अच्छे स्तर के सुरुचि सम्पन्न नाटक नियमित रूप से प्रस्तुत किए जा सकेंगे। अभिनय-पाठ को भी अनामिका ने पर्याप्त लोक-प्रिय बनाया है और पिछले वर्षों में कई नाटकों का अभिनय-पाठ किया है।

गत चार वर्षों से संगीत-कला मंदिर साल में कम-से-कम एक नाटक प्रस्तुत कर रहा है। शीघ्र ही सम्पूर्ण होने वाला इसका निजी प्रेक्षागृह संगीत-कला मंदिर की नाट्य-गतिविधि को और विकसित करेगा, ऐसा विश्वास है। इन दो संस्थाओं के अतिरिक्त अनेक ऐसे दल हैं जो शौकिया स्तर पर बराबर नाटक खेलते रहते हैं। सम्भव है नवीन प्रयोगों की दृष्टि से इन विभिन्न नाट्य-दलों की उपलब्धियाँ विशेष महत्वपूर्ण न हों किन्तु नाटक के प्रति जनरुचि बनाने का बहुत बड़ा काम इन्होंने किया है, इसमें सन्देह नहीं।

कलकत्ते में कई ऐसे नाट्य-दल भी हैं जो अंग्रेजी में नाटक प्रस्तुत करते हैं। इनमें "ड्रैमेटिक क्लब ऑफ कैलकटा", "प्लेयर्स", "ऐमेचर्स" विशेष उल्लेखनीय हैं। विदेशी एवं भारतीय कलाकार सम्मिलित रूप से इन नाटकों में भाग लेते हैं और साल में दो-तीन नाटक बराबर प्रस्तुत करते हैं। अवश्य ही इनका स्तर काफी अच्छा होता है और रंगमंच की गतिविधियों में इनका भी योगदान है। ड्रैमेटिक क्लब का पिछले दिनों खेला गया नाटक "स्ट्रीटकार नेमृड डिज़ायर" बहुत ही सफल प्रदर्शन रहा। कई एक वर्षों पूर्व "प्लेयर्स" द्वारा प्रस्तुत पिरांडेलो का नाटक "सिक्स कैरेक्टर्स इन सर्च ऑफ एन ऑथर" अंग्रेजी रंगमंच की महत्वपूर्ण उपलब्धि थी।

इस प्रकार कलकत्ता में होने वाली विभिन्न नाट्य-गतिविधियों पर यदि हम विचार करें तो स्पष्ट हो जाता है कि नाना क्षेत्रों में अपने-अपने ढंग से यहाँ बराबर प्रयोग एवं प्रयत्न होते रहते हैं। इन प्रयोगों एवं प्रयत्नों के मूल में नाट्य के क्षेत्र में कुछ महत्वपूर्ण करने एवं उपलब्ध करने की प्रवृत्ति बराबर काम करती रही है।

डॉ० रणवीर रांग्रा

विकासशील मानव-चेतना का महाकाव्य : लोकायतन

आज मानव अपनी प्रगति पर फूला नहीं समाता। जल-थल पर तो उसका आधिपत्य था ही, आकाश को भी उसने मथ डाला है। अणु से लेकर अनन्त तक सब-कुछ अब उसकी पहुँच के भीतर लग रहा है। भूलोक को जीतकर अब वह चन्द्रलोक की ओर बढ़ रहा है। पर इन सब उपलब्धियों के बावजूद जितना दुखी और विषन्न वह आज है, उतना शायद पहले कभी नहीं था। कारण, बहिर्जगत में पूरी तरह खोकर वह अपने अन्तर्जगत को भूल गया है। उसके बाहर और भीतर के संसार का सन्तुलन बिगड़ चुका है; उसकी बहिर्चेतना और अन्तश्चेतना का सामंजस्य नष्ट हो गया है। जब तक इन दोनों में फिर से सामंजस्य स्थापित नहीं होता, मानव की भटकन अनन्त रहेगी।

'पल्लव' से लेकर 'लोकायतन' तक महाकवि सुमित्रानन्दन पन्त की काव्य-साधना इसी सामंजस्य की शोध में लीन रही है। बीच में, 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में वे मार्क्सवाद की ओर झुककर कुछ देर के लिए अवश्य बहिर्मुख हो गए थे, पर शीघ्र ही वे 'स्वर्ण-धूलि' और 'स्वर्णकिरण' में अपनी मूल जिज्ञासा पर लौट आए और उन्हें निश्चय हो गया कि "आज हमें मानव-मन को करना आत्मा के अभिमुख", क्योंकि—"बहिर्चेतना जागृत जग में, अन्तर्मानव निद्रित; बाह्य परिस्थितियाँ जीवित, अन्तर्जीवन मूर्छित, मृत।" पर एकान्त अन्तर्मुखी साधना की विकृतियों से भी पन्तजी अनभिज्ञ नहीं थे। इसलिए, दोनों के सन्तुलन पर बल देते हुए वे मानव-जीवन के सत्य की ओर बढ़े—

"वही सत्य मानव-जीवन का कर सकता परिचालन,
भूतवाद हो जिसका रज तन, प्राणिवाद जिसका मन,
औ' अध्यात्मवाद हो जिसका हृदय गम्भीर चिरन्तन।"

यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि पन्तजी की यह आध्यात्मिकता साम्प्रदायिक अर्थ में धार्मिक नहीं, पर सूक्ष्मचेतना के 'धरातल पर मनोवैज्ञानिक अवश्य है। यह वह आध्यात्मिकता है जो भौतिकता का तिरस्कार नहीं करती, उसका परिष्कार करती है; जो जीवन से वियुक्त नहीं, संयुक्त है; जिसमें जीवन, ईश्वर का पर्याय है। 'लोकायतन' में यह आध्यात्मिकता चरम विकास को प्राप्त हुई है—"तुम जीवन-ईश्वर को पूजो," क्योंकि—

"अब भू-मंगल ही जीवन व्रत, जीवन रचना ही तप साधन।
अर्पित मन का श्रम पूर्ण योग, भव शोभा मुख में प्रभु दर्शन॥"

'लोकायतन' व्यष्टि-साधना का काव्य नहीं, समष्टि-चेतना का, सामूहिक कर्म का काव्य है : "रचना मंगल श्रम से ही जन के, सम्भव जीवन-ईश्वर का अर्चन।" पर इस कृति में-

भारतीय अध्यात्मवाद इतना निखरकर आया है कि उसे पहचानने में कठिनाई हो सकती है। कुछ तो इसलिए, और कुछ इसके अनुभूति पक्ष के अत्यन्त सूक्ष्म और जटिल होने के कारण हिन्दी-जगत् में इसकी प्रतिक्रिया विविध रूपों में व्यक्त हुई। इसलिए, बड़ी इच्छा थी कि पन्त जी से मिलकर उनके इस महाकाव्य पर चर्चा की जाए। एक दिन सुअवसर भी मिल गया।

मैंने चर्चा पन्त जी के प्रबन्ध-काव्य की ओर झुकने को लेकर ही शुरू की और पूछा : " 'लोकायतन' से पहले आपके काव्य-विकास से लगभग निश्चय हो गया था कि आपके कवि की प्रकृति प्रबन्ध की अपेक्षा मुक्तक के अधिक अनुकूल है और वह महाकाव्य की अपेक्षा महान् काव्य की रचना में अधिक प्रवृत्त है। पर 'लोकायतन' के प्रकाशन से लगा कि महाकाव्य रचने की दिशा में आप बहुत पहले से और गम्भीरतापूर्वक सोच रहे थे। 'स्वर्णधूलि' और 'स्वर्णकिरण' की अनेक कविताओं में इनकी झलक मिलती है :

खुला अब ज्योति-द्वार,
उठा नभ प्रीति-द्वार,
सृजन शोभा अपार।
कौन करताऽभिसार,
धरा पर ज्योति भरण
हँसी लो स्वर्ण-किरण।

"कृपया बताएँ, ऐसी कौन-सी बाहरी एवं भीतरी प्रेरणाएँ थीं जिन्होंने आपको महाकाव्य की दिशा में प्रवृत्त किया ?"

प्रश्न को पूरी गम्भीरता से लेते हुए पन्त जी बोले : "आपके प्रश्न को मैं यदि एक-दूसरी प्रकार रखूँ तो शायद अपनी बात और अच्छी तरह व्यक्त कर सकूँगा। जीवन के प्रति मेरा जो दृष्टिकोण रहा है उससे मुझे लगता है कि कवि या सर्जक जो कुछ भी लिखता है उसमें युग की परिस्थितियों तथा युग की चेतना का बहुत बड़ा हाथ रहता है। इस दृष्टि से देखें तो आज के युग में ऐसी बहुत-सी शक्तियाँ तथा मनोभावनाएँ कार्य कर रही हैं जो कि कहानियों अथवा मुक्तक कविताओं के रूप में अभिव्यक्ति पा रही हैं। लेकिन इन भावनाओं तथा शक्तियों का अतिक्रम कर इस युग में एक ऐसी व्यापक शक्ति अथवा चेतना कार्य कर रही है जो इस युग की बहुमुखी प्रवृत्तियों में एक सर्वांगीण संयोजन भरने के लिए प्रयत्नशील हैं। यह तो आप स्वयं भी देखते होंगे कि इस युग में जहाँ एक ओर ह्रास और विघटन की शक्तियाँ कार्य कर रही हैं वहाँ विश्वजीवन के पुनर्निर्माण की एक गम्भीर आवश्यकता भी विश्व-मन में उदित हो रही है।

" 'पल्लव' के बाद, एक प्रकार से, मेरा काव्य विश्व-जीवन की गतिविधियों से युक्त रहा है और मैंने समय-समय पर उन प्रवृत्तियों को अपने काव्य-संकलनों में संजोने का प्रयत्न किया है। इसीलिए उनमें एक विविधता वर्तमान रही है। किन्तु भीतर-ही-भीतर अपने मन में मैं भी विश्व-जीवन की इन गतिविधियों को एक व्यापक पट पर संजोने के लिए प्रयत्नशील रहा हूँ, जिससे इन विभिन्न लगने वाली गतिविधियों को एक समग्र दृष्टि से देखा जा सके। तो एक प्रकार से युग-जीवन ने ही मुझे बाध्य किया है कि मैं

आज के विश्व-मानस को एक प्रवन्ध-काव्य में बाँध सकूँ, जैसा कि मैंने 'लोकायतन' में भी कहा है—

छन्द ग्रथित कर खण्ड धरा-मानस को
जीवन रचना करो, तन्त्र में नूतन ।

'लोकायतन' अपने पूर्ववर्ती महाकाव्यों की परम्परा के लिए—और उस परम्परा के पाठकों के लिए भी—बहुत बड़ी चुनौती है। इस बात को उठाते हुए मैंने कहा : " 'लोकायतन' न किसी महान् व्यक्ति के जीवन-चरित् को लेकर चलता है न अतीत के किसी स्वर्णयुग का गौरव-गान करता है और न ही पतितों-शोषितों के उद्धार का बीड़ा उठाता है। इसकी कथावस्तु नगण्य-सी है और पात्रों का चरित्र-चित्रण भी इसका ध्येय नहीं। विचार के धरातल पर भी इस कृति में क्रान्ति के दर्शन होते हैं। भारतीय अध्यात्म-वाद के विरुद्ध यह कृति बड़े ज़ोर की आवाज़ उठाती है : योगियों की काम्य अवस्था समरसता या समत्वयोग को आत्मबोध की निष्क्रिय स्थिति मानकर उसे व्यर्थ सिद्ध करती है। जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों से मुक्त होकर स्वतन्त्र मनन-चिन्तन की जो प्रवृत्ति 'लोकायतन' में मिलती है वह निश्चय ही स्वस्थ, अतः अभिनन्दनीय है। पर, जहाँ तक मेरी जानकारी है, मृत्यु से साक्षात्कार हुए बिना प्राचीन संस्कारों से मुक्ति पाना असम्भव है। लगता है, आपको भी मृत्यु से जूझना पड़ा है या अनेक बार मरण की यन्त्रणाएँ भोगनी पड़ी हैं जो आपको यह दृष्टि मिल सकी। कृपया बताएँ, मेरा ऐसा सोचना कहाँ तक ठीक है ?"

मेरी बात को बड़े धैर्य से सुनने के बाद पन्त जी बोले : " 'लोकायतन' में किसी महान् व्यक्ति, चरित्र या व्यक्तित्व की स्थापना इसलिए नहीं मिलती है कि यह एक सर्वांगीण चेतना का काव्य है। महान् से महान् व्यक्ति इस चेतना-सिन्धु के एक विशिष्ट ज्वार या तरंग के रूप में कहे जा सकते हैं। प्राचीन काव्य चरित्र-प्रधान या नायक-प्रधान इसलिए हैं कि वे परम्परा पर आधारित मूल्यों के उपासक हैं और 'लोकायतन' एक समग्र उन्मुक्त विकासशील मानव-चेतना का काव्य है. जैसा कि मैंने इसकी भूमिका में भी कहा है : 'इसमें जो भी व्यक्ति या चरित्र आए हैं वे केवल मानव-चेतना को आगे बढ़ाने वाले पालकी-वाहक हैं।'

" 'लोकायतन' में विचारों के धरातल से भी अधिक चेतनामूलक क्रान्ति मिलेगी। यह भारतीय अध्यात्म के विरुद्ध न होकर मध्ययुगीन अध्यात्म के विरुद्ध है जिसमें ईश्वर को जगत् से विच्छिन्न कर दिया गया है और ईश्वर का स्पर्श जगत् और जीवन के भीतर से न पाकर, उसके लिए एकांगी और ऊर्ध्वमुखी, निवृत्तिमूलक पारलौकिक पथ पर जोर दिया गया है। योगियों अथवा द्रष्टाओं ने जिस समरस स्थिति के दर्शन केवल आत्म के स्तर पर प्राप्त करके सन्तोष ग्रहण कर लिया है, मैंने उसे जगत् और जीवन की ओर प्रेरित करने पर बल दिया है। और इस प्रकार उस निष्क्रिय आत्मबोध की स्थिति को सक्रियता प्रदान करने का प्रयत्न किया है।

" 'लोकायतन' को मैं दूसरी दृष्टि से सिद्ध-काव्य मानता हूँ, क्योंकि उसके भीतर जो कुछ भी है, वह काल्पनिक नहीं, मेरा अनुभूत सत्य है, और वह किसी भी मनुष्य का

अनुभूत सत्य होने की क्षमता रखता है। मुझे इस बात का भी अनुभव हुआ है कि जिन पाठकों ने सहज दृष्टि से आस्थापूर्वक इसका बार-बार अध्ययन किया है, उन्हें भी उसी प्रकार सोचने की दृष्टि मिल सकी है, जैसा कि मुझे अनेक पाठकों के पत्रों से ज्ञात हुआ है। यह एक धार्मिक काव्य न होकर सांस्कृतिक काव्य है। इसलिए, इसके लिए धार्मिक आस्था नहीं, प्रत्युत् मानवमूल्य पर आधारित आस्था अपेक्षित है।

"मेरे भीतर 'लोकायतन' की चेतना का संघर्ष सन् १९२६ से ही प्रारम्भ हो गया था और उसके बाद मैंने जो कुछ भी लिखा है वह किसी-न-किसी रूप में उसी संघर्ष का द्योतक है। चेतनामूलक विभिन्न क्षेत्रों की अपनी जिन अनुभूतियों को मैं 'पल्लव' के बाद की रचनाओं में वाणी देता आया हूँ, उनका समग्र संयोजित रूप ही 'लोकायतन' में मिलता है। जैसा कि मैंने 'आधुनिक कवि' की भूमिका में भी लिखा है, जगत् तथा जीवन के प्रति मेरी विगत संस्कारगत दृष्टि की मृत्यु हो चुकी थी। नई दृष्टि को प्राप्त करने के लिए मुझे अविराम घोर संघर्ष करना पड़ा जिसका विनम्र दिग्दर्शन मैंने 'साठ वर्ष : एक रेखांकन' में भी किया है। अपनी साधना के विषय में विस्तार से कहना अशोभन लगता है। इसीलिए जब भी उसकी आवश्यकता पड़ती है, मैं उस विषय में संकेत मात्र करके छोड़ देता हूँ।"

'लोकायतन' में पन्तजी ने जिस आध्यात्मिकता का प्रतिपादन किया है, उसका जिक्र करते हुए मैंने कहा : " 'लोकायतन' में भारतीय अध्यात्मवाद का बड़ी निर्ममता से खण्डन हुआ है, पर इस कृति में अन्ततः प्रतिष्ठित भी आध्यात्मिकता ही हुई है, यद्यपि यह आध्यात्मिकता ऐसी है जो दमन नहीं, उन्नयन को प्रश्रय देती है; प्रेम की प्रेरणाओं को काटती नहीं, पालती है। कृपया बताएँ, इस आध्यात्मिक चेतना की उपलब्धि में आपको किस व्यक्ति या दर्शन से सर्वाधिक प्रेरणा मिली ?"

अध्यात्मवाद की अपनी संकल्पना को स्पष्ट करते हुए पन्त जी बोले : " 'लोकायतन' में मैंने मध्ययुगीन जीवन परम्पराओं तथा आध्यात्मिक दृष्टिकोणों का खण्डन किया है और भारतीय अध्यात्म से जो कुछ मुझे अपनी व्यक्तिगत अनुभूति की कसौटी में प्राप्त हो सका है, उसी की स्थापना मैंने इस लोकजीवन-सम्बन्धी काव्य में करने की कोशिश की है। मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि वही सच्ची भारतीय आध्यात्मिक दृष्टि है जो लोक-जीवन के कल्याण में, मानव-प्रवृत्तियों के परिष्कार में और सर्वमंगलमय सन्देश में विश्वास रखती है। वह दृष्टि भौतिकता को आध्यात्मिकता की पदपीठ मानती आई है, जैसा कि हमें "पदभ्यां पृथ्वी" जैसे आर्षवचन में मिलता है।

"यह आध्यात्मिक क्रान्त-दृष्टि मुझे अपने युग की समस्याओं से ही मिली है। शैव तथा वैष्णव साहित्य के अध्ययन से, उपनिषदों तथा पुराणों के मनन से, स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी रामतीर्थ, स्वामी विवेकानन्द तथा श्री अरविन्द आदि द्रष्टाओं तथा चेतना के साधकों के व्यक्तित्वों से मुझे अपने अंतःसंघर्ष को समझने तथा सुलझाने में सर्वाधिक प्रेरणा तथा सहायता मिली है। जैसा कि मैं पहले भी कह चुका हूँ, ये सब मनीषी तथा पश्चिम के आधुनिक वैज्ञानिक तथा राजनीतिक चिन्तक भी केवल इस युग के विश्व-मन की देन हैं जिनका ठीक युगीन आवश्यकता की पूर्ति के लिए जन्म हुआ।"

'लोकायतन' पढ़ते समय मुझे लगा था कि माधव और वंशी मानव की दो परस्पर-विरोधी दीखने वाली प्रवृत्तियों के परिचायक हैं—माधव निराला जी के निकट हैं तो वंशी स्वयं पन्त जी के। अपनी इस धारणा को व्यक्त करते हुए मैंने कहा : " 'लोकायतन' व्यष्टि का नहीं समष्टि का काव्य है, जिसमें वैयक्तिक मुक्ति को निरर्थक और सर्वमुक्ति को ही व्यक्ति-मुक्ति माना गया है। इसमें व्यष्टि का प्रतीक माधव बना है और समष्टि का वंशी। माधव में निराला जी की झाँकी मिल जाती है और वंशी में आपकी। मुझे लगता है, ये दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं; विलोम दीखते हुए भी एक-दूसरे के पूरक हैं। माधव वंशी को बाँधता ही नहीं, खोलता भी है। स्वयं वंशी पर भी यह तथ्य प्रकट हो जाता है कि—'वंशी के ही थे विलोम माधव, जान सका, जिनसे वह अपने को'। इसी प्रकार, मैं समझता हूँ, व्यक्ति-मुक्ति सर्वमुक्ति का विलोम दीखे भले ही, पर है नहीं। 'स्व' की सीमा लाँघ बिना कोई 'पर' की—और उससे भी आगे 'सर्व' की—सोच ही कैसे सकता है और 'सर्वमुक्ति' का कामी आत्मकेन्द्रित कैसे हो सकता है? इस गुत्थी को सुलझाने की कृपा करें।"

मेरे इस प्रश्न से चर्चा व्यक्तिगत स्तर पर आ सकती थी और मुझे डर था कि कहीं बात बिगड़ न जाए। पन्त जी शान्त और संयत स्वर में बोले : "इसमें सन्देह नहीं कि 'लोकायतन' समष्टि का काव्य है, लेकिन यह समष्टि व्यष्टि-विरोधी समष्टि नहीं, जैसा कि आज के ह्रास-युग का व्यक्ति सोचता है। निर्माण के युग में सदैव व्यष्टि और समष्टि एक-दूसरे के पूरक रहते हैं और ह्रास के युग में वे एक-दूसरे के विरोधी बन जाते हैं। यह इसलिए कि समष्टितः तो मानव-चेतना या विश्व-जीवन आगे बढ़ने की चेष्टा करता है और अप्रबुद्ध व्यक्ति पिछड़े या विगत सांस्कारिक जीवन का प्रतिनिधि होने के कारण समष्टि के पथ में विरोध उपस्थित करता है।

"मैं इस बात से पूरी तरह सहमत नहीं हूँ कि माधव में निराला जी की झाँकी मिलती है और वंशी में मेरी। इसमें माधव या माधोगुरु विगत सांस्कृतिक मूल्य अथवा विगत मानव अर्हता के प्रतीक हैं और वंशी विकासशील चेतना तथा भावी मानवमूल्यों का प्रतीक है। और लोगों ने भी मुझसे कहा है कि माधो में निराला जी की और वंशी में मेरी झाँकी मिल जाती है। लेकिन कोई ध्यानपूर्वक पढ़े तो शान्ति आश्रम के संचालक माधव निराला जी से बिल्कुल ही भिन्न व्यक्ति हैं और बहुत सम्भव है कि निराला जी के व्यक्तित्व का कुछ अंश वंशी में और मेरे व्यक्तित्व का कुछ अंश माधव में मिल जाए। इस समष्टिगत विकास के संचरण तथा युग-परिवर्तन में इस प्रकार की बाहरी-भीतरी बाधाएँ उपस्थित होना स्वाभाविक है क्योंकि किसी भी मूल्य या वस्तु का एक क्षण में रूपान्तरण नहीं हो सकता, इसलिए भी यह आवश्यक हो जाता है कि वंशी, एकदम विगत की पृष्ठ-भूमि से विच्छिन्न न हो सके और माधव आने वाली विकास-पीठिका की ओर चरण बढ़ाने में हिचके। किन्तु यह भी स्पष्ट है कि माधव वृत्ति अतीतोन्मुखी है और वंशी की भविष्योन्मुखी। इस युग के संघर्ष को स्पष्ट करने के लिए इन दोनों प्रकार की वृत्तियों का संघर्ष दिखाना 'लोकायतन' जैसे विश्व-भूमिका पर चलने वाले काव्य के लिए अनिवार्य था। माधो और वंशी एक-दूसरे के विलोम या पूरक इस अर्थ में हैं कि वे विश्व-विकास की

एक आवश्यक द्वन्द्व-परम्परा की पूर्ति करते हैं।''

अनुभूति-प्रधान काव्य होने के कारण 'लोकायतन' अपने पाठकों से विशेष आयास और पूर्ण मनोयोग की अपेक्षा करता है जो हर किसी से नहीं हो पाता। इसलिए अनेक स्थलों पर वह दुरूह लगने लगता है। पाठक की इस कठिनाई की चर्चा करते हुए मैंने कहा: ''प्रथम सर्ग'' 'पूर्वस्थिति' में आपने भारतीय लोकमानस के उपचेतन में व्याप्त जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों का बड़े सुन्दर और मनोवैज्ञानिक ढंग से दिग्दर्शन कराया है तथा 'उत्क्रान्ति' में अन्तःशुद्धि द्वारा नए संस्कार डालने के उद्देश्य से मानवचेतना को अनेक ज्योति-चक्रों से गुज़ारते हुए कई स्वर्णिम सोपानों पर चढ़ाया है। ये दोनों सर्ग बड़े भव्य बने हैं, पर गूढ़ इतने हैं कि इनमें आए प्रतीक साधारण पाठक की पकड़ से बाहर होने के कारण वह मन की ध्यानभूमियों, चेतना के विविध स्तरों की बारीकियों को समझ नहीं पाता और उसे अनेक स्थलों पर पुनरावृत्ति दीखने लगती है। आप 'लोकायतन की प्रतीक-योजना पर थोड़ा प्रकाश डाल दें तो बड़ी कृपा होगी।''

पन्त जी बोले—''इस युग में फ्रायड आदि के मनोविज्ञान के कारण मनश्चैतन्य के निचले उपचेतन, अचेतन स्तरों पर ही अधिक बल दिया जाता है, यहाँ तक कि कला, दर्शन और काव्य भी इन दृष्टिकोणों से अतिरंजित पाये जाते हैं। मैंने 'लोकायतन' में चेतनामूलक भारतीय दृष्टिकोण ही रखा है जो मुझे अधिक पूर्ण लगता है। हमारे यहाँ सप्त-सिन्धु आदि प्रतीकों द्वारा चेतना के सात स्तरों या लोकों की बात कही गई है और सात स्तर भू, भुवः, स्वः, महः, जन, तपः, सत्य हैं—जिनको आप आधुनिक मानव के लिए अन्न, प्राण, मन, महतत्व, सत्, चित्, और आनन्द (सच्चिदानन्द भी कह सकते हैं। फ्रायड आदि मनोवैज्ञानिकों ने केवल प्राणचेतना के ही विभिन्न स्तरों को महत्व दिया है। इसीलिए, जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण एकांगी ही रहा है। और मानव जीवन में सामंजस्य स्थापित करने के लिए उन्होंने जितने भी समाधान दिए हैं, वे भी सब एकांगी रहे हैं। जो मूलगत भारतीय दृष्टिकोण है, मैंने उसके अनुरूप ही मानव-चेतना को विश्व-जीवन में संजोने की चेष्टा की है, क्योंकि प्राणों का या मन का स्तर व्यक्ति में सीमित न होकर एक विश्वव्यापी स्तर है। इसलिए व्यक्तिगत चेतना का संस्कार एक सामाजिक या विश्व धरातल से शक्ति संचय करने का प्रयत्न करता है और इसलिए उसके सामाजिक रूप को अधिक महत्व दिया गया है। इन चेतना-भूमियों को ध्यान में रखने से 'लोकायतन' में आई हुई प्रतीक-योजना को समझने में सहायता मिलेगी।''

'लोकायतन' के बौद्धिक-पक्ष पर चर्चा छेड़ते हुए मैंने पूछा—'' 'लोकायतन' की स्थापना है—'रागचेतना का विकास ही, निखिल प्रगति का सार, न संशय।' पर 'लोकायतन' स्वयं, काव्य के रूप में, रागात्मक कम और बौद्धिक अधिक हो गया है। क्या इसे आज के बुद्धिवादी युग का प्रभाव माना जाए ?''

प्रश्न एक प्रकार के आक्षेप के रूप में आया था, पर उसे शान्ति से झेलते हुए पन्त जी बोले—''आने वाले जीवन को समझने के लिए हमारी वर्तमान राग-भावना पर्याप्त नहीं है क्योंकि इस राग-भावना के मूल हमारे अतीत के जीवन में हैं। 'आने वाले युग को समझने के लिए जिस राग-भावना की आवश्यकता होगी, वह निश्चय ही बुद्धि

की आँच में जाकर सोने-सी निखरी भावना होगी। आज भी हमें intellectualised emotion या emotionalised intellect जैसी बुद्धि और भावना के लिए परिकल्पनाएँ देखने को मिलती हैं। 'लोकायतन' की चेतना को जो भावना व्यक्त कर सकती थी, उसमें निश्चय ही बुद्धि का एक अंश निहित है, इसलिए, 'लोकायतन' बाह्य दृष्टि से बौद्धिक काव्य दीखने पर भी अन्ततः उपयुक्त अर्थ में भावना-प्रधान या रस-प्रधान काव्य है। मेरे कई पाठकों के मन में भी ऐसी ही प्रतिक्रिया हुई है। यह काव्य भावना मूलक इसलिए भी है कि यह मूलतः व्यापक से व्यापक अर्थ में मानव-प्रेम का काव्य है।''

फिर, चर्चा को समेटते हुए पन्त जी ने कहा—''अन्त में मैं आपसे यह भी कहना चाहूँगा कि 'लोकायतन' में मैंने किसी महत् स्वप्न की कल्पना नहीं की है। उसमें मैंने मानव-जीवन के महत् सत्य अथवा अन्तःसत्य को ही प्रबुद्ध पाठकों के सम्मुख रखने का प्रयत्न किया है। वह ऊर्ध्व तथा समदिक् जीवन के असफल समन्वय का काव्य नहीं, मानव-चेतना के बहिरन्तर रूपान्तरण का काव्य है। ऊर्ध्व और समदिक् के समन्वय सम्बन्धी उसके कुछ समीक्षकों की कल्पना वैसी ही अर्थहीन तथा हास्यास्पद है जैसी कि हाईस्कूल तथा एम.ए. के पाठ्यक्रम के समन्वय की कल्पना हो सकती है। क्योंकि समदिक् संचरण मानव-जीवन-सत्य का एक निचला सोपान भर है, जिसे विकासक्रम में अपनी ऊर्ध्वा-स्थितियों की ओर प्रगति करना है। ऐसे भ्रामक समन्वय की कल्पना के कारण ही मन अपने को भूल-भुलैया में भटका हुआ पाता है और अन्तर्मूल्य सम्बन्धी ऐसे ही धुन्ध के कारण दृष्टि कला-शिल्प के भीतर भी प्रवेश नहीं कर सकती।

''दूसरी बात यह कि 'लोकायतन' के राग-चेतना उन्नयन से सम्बद्ध होने के कारण जैसा कि प्राचीन राम कृष्ण पर आधारित संस्कृतियाँ भी अपने स्तर पर रही हैं—उसमें रागभावना की साम्प्रत निम्न स्थितियों का चित्रण आवश्यक हो जाता है। वर्तमान जीवन-विकास की स्थिति में रामभावना के रथ को बादलों के ऊपर-ही-ऊपर ले जाना इस फ्रायड-युग में स्वाभाविक न होता। उसके चकों को युग-जीवन के कर्दम में धँसा हुआ दिखाना भी आवश्यक था। रूप सौन्दर्य के माध्यम से चेतना सौन्दर्य की अभिव्यक्ति अनिवार्य होने के कारण—राधाकृष्ण के प्रतीक जिसके उदाहरण हैं--देह-शृंगार को मानव-मूल्य देना आवश्यक हो जाता है, उसका निपटारा केवल परदे की ओट में करना पर्याप्त नहीं। फिर भी इस प्रायः ७०० पृष्ठों के काव्य में स्थूल देह-शृंगार सम्बन्धी पद केवल एक-दो पृष्ठ तक सीमित हैं। यदि वे भी किसी को खटकें और काव्य में सर्वाधिक चर्चा-योग्य जान पड़ें तो इसका अवश्य ही कोई व्यक्तिगत मनो-वैज्ञानिक कारण हो सकता है। रीति-कालीन काव्य में यदि चैतन्य को देह यष्टि में सीमित कर दिया गया था तो 'लोकायतन' में देह की सीमा को चैतन्य के धरातल पर उठा दिया गया है, जो वर्तमान सामूहिक जीवन की एक अनिवार्य स्थिति तथा आवश्यकता है। यह मध्य-युगीन संस्कारों तथा खोखले नैतिक दिखावों में पोषित व्यक्ति को भले ही असम्भव प्रतीत हो, पर वह आज के जीवन-विकास की स्थिति में भी—जबकि स्त्री-पुरुष संयुक्त रूप से सामूहिक कार्य-कलापों की ओर अग्रसर हो रहे हैं—अधिकाधिक सम्भव होता जा रहा है। स्त्री-पुरुषों के बीच की राग-शृंखला को संकीर्ण देह-मूल्य में ही सीमित न रख

कर उसे व्यापक सामाजिक, रागमूल्य में उठना ही होगा। इसमें असम्भव क्या है, यह समझ में नहीं आता। वही तो उसकी स्वस्थ परिणति है। वैष्णवों ने प्रेम का विश्लेषण जिन स्नेह, प्रणय, मान, राग, अनुराग, भाव, महाभाव के स्तरों पर किया है उसमें राग को सात्विक वृत्ति माना गया है, जिसका सामाजिक वितरण 'लोकायतन' में मिलता है। मैंने निष्क्रिय भाव को लोक-जीवन के महत अन्तर्दर्शन (vision) में, और महाभाव को महत विश्व-सृजन कर्म में क्रियाशील तथा परिणत किया है, जो उसकी स्वाभाविक विकासगति होनी चाहिए।

"'लोकायतन' मध्य-युगीन, निर्गुण परक, निवृत्तिमूलक, ऊर्ध्वसाधना-पथ का काव्य न होकर आधुनिक युग के लिए उपयुक्त विश्वजीवन-मंगल की ओर उन्मुख काव्य है, जिसमें ब्रह्म तथा ईश्वर को जीवन से विच्छिन्न न मानकर वागर्थाविव सम्पृक्त माना गया है, जिसकी सूचना आरम्भ के मंगलाचरण से ही मिलने लगती है, और यही वास्तव में भारतीय आध्यात्मिक एवं औपनिषदिक दृष्टिकोण भी रहा है—"ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्"। आज के इस बहिर्भ्रान्ति वैज्ञानिक युग के लिए एवं मध्ययुगीन अध्यात्मवाद के अन्तर्भ्रान्ति जागरण के युग के लिए मैं 'लोकायतन' की दृष्टि की अनिवार्य आवश्यकता तथा उपयोगिता मानता हूँ।"

मधुरेश

यशपाल : दो नवीन कथा-कृतियाँ

जब पहले- पहल मुझे पता चला कि यशपाल 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' को आधुनिक दृष्टिकोण से उपन्यास के रूप में लिख रहे हैं तो मुझे थोड़ा आश्चर्य हुआ था और साथ ही कुछ शंकायें भी मन में उठी थीं। 'दिव्या' और 'अमिता' पढ़ने के बाद यह तो स्पष्ट हो जाता है कि अतीत उनके लिये श्रद्धा और विश्वास की अपेक्षा चिंतन और विश्लेषण की चीज ही अधिक है। यशपाल के साथ ही कोई विशेष बात हो ऐसा नहीं है। इतिहास के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण और दायित्व की माँग ही इसके मूल में है। आवश्यकता पड़ने पर साहित्यकार बहुधा ही अतीत की ओर मुड़ता है। हिन्दी में भी लगभग हर विधा में साहित्यकारों ने ऐसे प्रयोग किये हैं परन्तु राष्ट्रीय आन्दोलन के चरम विकास की स्थिति में जहाँ साहित्यकार अपने अतीत को अतिशय महान और गौरवपूर्ण मानकर अधिकांश में भावुकता-जन्य श्रद्धा-भाव लेकर उधर देखता था, और प्रेरणा एवं स्फूर्ति के अवरुद्ध द्वारों को खोलने के लिए नयी संजीवनी प्राप्त करता था वहीं प्रगतिशील साहित्यकार या तो अपनी मान्यता के इतिहास-सम्मत समर्थन के लिए उधर मुड़ा या फिर वर्णाश्रम व्यवस्था और श्रेणी-विभाजन की स्थिति में दासी और स्त्रियों की करुण दशा एवं निर्दय शोषण के विरुद्ध चिंतन का एक नया परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करने का आग्रह लेकर आयो।

राहुल सांकृत्यायन यदि पहली कोटि में आते हैं तो रांगेय राघव और यशपाल दूसरी में। 'दिव्या' में जहाँ एक ओर वर्णाश्रम-व्यवस्था वाले समाज का यथार्थ रूप उद्घाटित हो सका था वहीं दूसरी ओर पुरुष-शासित समाज में स्त्री की वास्तविक स्थिति भी उभर कर आई थी। 'अमिता' का आग्रह किंचित् भिन्न था लेकिन वर्णाश्रम-व्यवस्था के अभिशापों के स्पष्ट संकेतों का अभाव उसमें भी नहीं है। परन्तु शकुन्तला की कथा के पुनर्लेखन में ऐसा क्या उद्देश्य हो सकता था समझ में नहीं आया। और फिर 'दिव्या' तथा 'अमिता' में उनकी परिवेशगत ऐतिहासिकता के बावजूद ऐसा कोई भय नहीं था कि सम्पूर्ण कथा को किसी एक जगह से ले लिया गया हो। वहाँ लेखक की कल्पना और मौलिकता के लिए पूरी स्वतन्त्रता थी और उसने उसका उपयोग किया था। लेकिन क्या शकुन्तला की कथा को लेकर भी ऐसा सम्भव था ? या लेखक का उद्देश्य महज रूप-विधान में थोड़ा हेर-फेर करके मूल नाटक को ही कहानी की शक्ल दे देने का था ?

पुस्तक की भूमिका में लेखक ने कुछ ऐसे संकेत दिये हैं जिनसे उसके प्रयोजन को समझने में सहायता मिल सकती है। उसने स्पष्ट स्वीकार किया है कि शकुन्तला की इस कथा की पुनर्रचना के मूल में, "कालिदास से कलात्मक स्पर्धा नहीं अपितु आधुनिक समाज पर कालिदास की महान कृति 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' के गहरे प्रभाव की स्वीकृति है।" (पृ० सं० १३०) आगे चलकर लेखक ने कालिदास-कालीन और अपने युग के भावक वर्ग के अन्तर की ओर संकेत किया है। कालिदास के समय की सामाजिक-साहित्यिक रूढ़ियों पर भी उसकी दृष्टि गई है। आज का साहित्यकार ऐसे किन्हीं बन्धनों को स्वीकार नहीं करता जो कालिदास के लिए किसी हद तक अनिवार्य थे। चाहकर भी कालिदास दुष्यन्त के प्रति अहृदय और कटु नहीं हो सकते थे, क्योंकि इसमें साहित्यिक रूढ़ियों और मान्यताओं से भी अधिक किसी राज दरबार से सम्बद्ध आश्रित कवि की स्वाभाविक सीमाओं का प्रश्न भी था। ऐसी किसी सीमा को स्वीकार न करके चलने के लिये आज का लेखक स्वतन्त्र है बल्कि उसके अस्वीकार की स्थिति में से ही उसके अपने समाज और काल के प्रति उसके दायित्व की चेतना उभर कर आने का अवसर पाती है। यशपाल की भूमिका के ही कुछ वाक्य और हैं : "आज का पाठक दुष्यन्त के समान व्यवहार करने वाले नायक को धीरोदात्त नहीं मानना चाहेगा। कालिदास की पतिव्रता शकुन्तला के प्रति चरम सहानुभूति उत्पन्न करके भी यह नहीं कहना चाहते थे कि उसके प्रति अन्याय हुआ। आज के लेखक का दृष्टिकोण इसके विपरीत है। इस दृष्टि से 'अप्सरा का श्राप' के कथानक में दुष्यन्त के प्रति अन्याय नहीं केवल शकुन्तला के प्रति न्याय का प्रयत्न है। यह प्रयत्न दुष्यन्त को लांछित करने का नहीं अपनी परिणीता पत्नी की उपेक्षा करने वाले समर्थ सम्पन्न व्यक्ति के विचारों, भावनाओं तथा व्यवहार की ही कल्पना है।" (पृ० सं० १३१) अंतर और विरोध की इस स्वीकृति की स्थिति में ही लेखकीय प्रयास की सार्थकता और प्रयोजन अन्तर्निहित हैं। 'अप्सरा का श्राप' की कथा मूलरूप में कालिदास के नाटक की ही कथा है। लेकिन कदाचित इस स्वाभाविक सम्भावना के कारण कि लोग मौलिकता की ओर उँगली उठा सकते हैं अपने बचाव के लिए उसने यह बताना भी आवश्यक समझा है कि कहानी की वह तथाकथित मौलिकता तो कालिदास के यहाँ भी संदिग्ध है, क्योंकि

उनकी कथा का मूल भारत की कथा में है। अपनी युगीन आवश्यकताओं के अनुरूप कालिदास ने महाभारत की उस कथा में कुछ आवश्यक परिवर्तन किये हैं। 'अप्सरा का श्राप' में लेखक के आगे अपने युग की दशायें, समस्यायें और दृष्टिकोण रहे हैं। अपनी कहानी में यशपाल ने किसी अलौकिक तत्व आकाशवाणी या शाप आदि का सहरा नहीं लिया है। (यद्यपि सानुमती और मेनका की योजना को लेकर भी यही बात नहीं कही जा सकती क्योंकि कथा के जिस पौराणिक रूप को स्वीकार किया गया है वहाँ इसके अलावा और कोई रास्ता लेखक के आगे था ही नहीं। सम्भवत: इसीलिये पुस्तक का अन्त उसकी सारी चेतना के बावजूद अलौकिक होने से नहीं बचाया जा सका है) बल्कि सारी कथा को लौकिक धरातल पर कार्य-कारण परम्परा में ही विश्वसनीय बनाने का प्रयास किया है। कण्व की अनुपस्थिति में हुए शकुन्तला और दुष्यन्त के गांधर्व विवाह के पश्चात् जब महाऋषि कण्व आश्रम में आते हैं तो सम्पूर्ण स्थिति की सूचना के लिये कालिदास ने आकाशवाणी के रूप में एक अलौकिक साधन का सहारा लिया है। यशपाल जानते हैं कि आज के पाठक के लिए ऐसी किसी अलौकिक एवं चमत्कारिक शक्ति में विश्वास नहीं रह गया है। अत: उन्होंने यह प्रदर्शित किया है कि अपने अनुभव के द्वारा ही महाऋषि कण्व ने सम्पूर्ण स्थिति का अनुमान लगा लिया। वह स्पष्ट देखते हैं कि शकुन्तला की आँखों में कौमार्य की लालसा और अतृप्ति नहीं, वैवाहिक जीवन के प्रारंभ की सूचना और तृप्ति उपस्थित है। इसी प्रकार दुर्वासा के क्रोधी स्वभाव को स्वीकारते हुए भी वे उनके शाप के अलौकिक तत्व को अस्वीकार कर देते हैं। लेकिन यह सारे परिवर्तन कथा की रोचकता या मौलिकता की दृष्टि से इतने नहीं हैं जितने लेखक के दृष्टिकोण और प्रयोजन की दृष्टि से। ऐसे परिवर्तनों में सबसे पहले हमारी दृष्टि दुष्यन्त के चरित्र की ओर जाती है। उसके चरित्र के संकेत लेखक ने भूमिका में दिये हैं और उस धरातल पर ही उसने अपनी रचना के प्रयोजन को ग्रहण करने की माँग की है। 'अप्सरा का श्राप' का दुष्यन्त धीरोदात्त आदर्श नायक नहीं है। प्रारम्भ में ही वह एक कामुक और विलासी राजा के रूप में सामने आता है। उसके व्यवहार में हर कहीं लम्पटता, क्षुद्रता और स्वार्थ की गंध है। सामान्य व्यक्ति की सहज शालीनता से भी उसे कुछ विशेष सरोकार नहीं है। निम्नलिखित कुछ उद्धरण उसके चरित्र को समझने में सहायक हो सकते हैं :

१. गौतमी के समीप खड़ी शकुन्तला के नेत्र झुके हुए थे परन्तु वह अपने शरीर पर अतिथि (दुष्यन्त) की दृष्टि का स्पर्श अनुभव कर रही थी। (पृ० सं० ३८)।

२. वृद्धा से वार्तालाप करते-करते उसकी (दुष्यन्त की) दृष्टि बार-बार कूप से जल के कलश ले जाकर वाटिका का सिंचन करती हुई शकुन्तला की ओर थी। (पृ० सं० ३०)।

३. बिना किसी विशेष परिचय और सम्बन्ध के ही एक स्थल पर वह शकुन्तला से कहता है, "यह भाग्यशाली शावक भद्रे के अंक में स्थान पाकर दूसरों के मन में ईर्ष्या जगाता है।" (पृ० सं० ४२)

४. कहावत है कि पुरुष का वास्तविक परिचय उसकी पत्नी को ही होता है। और उसकी पत्नी उसे क्या समझती है इसके संकेत भी अनेक स्थलों पर मिलते हैं।

रानी लक्ष्णा कहती है, "स्वामी, तुम तो मधुप हो, सद्य-नव-पराग तथा नव मधुप के अभिलाषी। तुम्हें भुक्त पुरुषों से क्या अनुराग! तुम तो नित्य नवीन के कामी हो। तुम्हें तो वैचित्र्य से आकर्षण है। तुम्हारे विस्तृत राज्य में राजपुरुषों की भाँति तुम्हारी कृपा-पात्र उपपत्नियाँ भी फैली हुई हैं। सच बताओ प्रवास में नवीनताओं के रमण-विनोद से मन अघा गया कि नहीं। कितनी पार्वत्य तथा वन-हंसनियों का आखेट करके आये हो?" (पृ० सं० ८५)

इन बहुत से उद्धरणों के अतिरिक्त लेखक की कितनी ही टिप्पणियाँ हैं और उन सबको मिलाकर दुष्यन्त का जो रूप उभरता है उससे न सिर्फ यह कि वह कालिदास के दुष्यन्त से नितान्त भिन्न धरातल पर खड़ा है, वरन् पुरुष-शासित समाज और राजसत्ता की सारी बुराइयों को भी उसमें स्पष्ट देखा जा सकता है। यही दुष्यन्त जब ऋषि कश्यप से शकुन्तला को पाने के लिये पत्नी पर पति के नीति-विहित अधिकार का दावा करता है तो पुरुष शासित-समाज में पुरुष के मिथ्या दम्भ का रूप-उद्घाटन ही नहीं होता कश्यप ऋषि के माध्यम से नारी-पुरुष के स्वस्थ जीवन-सम्बन्धों का वास्तविक और यथार्थ रूप भी सामने आता है, जिससे लेखक के दृष्टिकोण को भी किसी हद तक समझा जा सकता है, "···पति-पत्नी का सम्बन्ध तथा तत्सम्बन्धी अधिकार स्वत्व से नहीं पारस्परिक प्रेम से तथा अनुराग-जन्य अनुमति से होते हैं। नर-नारी के प्रेम में प्राकृतिक न्याय यही है। पति अनुराग से रक्षा तथा आश्रय देकर अधिकार प्राप्त करता है, स्वत्व से नहीं। निर्दयता, निरादर तथा अहंकार प्रेम के नहीं विरोध के भाव हैं। ऐसे भाव और व्यवहार प्रेम-भावना तथा पति-पत्नी सम्बन्ध को समाप्त कर देते है। पुरुष पत्नी के प्रति निर्दयता से स्वत्व का व्यवहार करने पर प्रेमी और पति नहीं रहता, शत्रु और अपराधी बन जाता है।" (पृ० सं० १२६)

दुष्यन्त के चरित्र को कालिदास से भिन्न जिस धातु से यशपाल ने गढ़ा है शकुन्तला के चरित्र के लिये वैसे किसी परिवर्तन की कोई आवश्यकता उन्हें नहीं जान पड़ी। यहाँ 'अप्सरा का श्राप' के लेखक की स्थिति 'यशोधरा जीत गई' के लेखक से थोड़ा अलग थी। रांगेय राघव की यशोधरा अपनी युग-सीमाओं से नियन्त्रित होकर भी नारी की स्वतन्त्रता और समानाधिकार की बात कह सकती थी, उसने कही है। परन्तु अपनी मान्यताओं और विचारों के स्पष्टीकरण के लिये यशपाल ने शकुन्तला को माध्यम नहीं बनाया है। यह कार्य उन्होंने विशेष रूप से सानुमती और मेनका की अवतारणा करके सम्पन्न किया है। यही नहीं इस दृष्टि से उनकी शकुन्तला कालिदास की शकुन्तला से इस धरातल पर थोड़ी भिन्न है। कालिदास की शकुन्तला में अहं की चेतना और आत्म-सम्मान का तीव्र भाव है। यशपाल ने उसे पतिव्रता के एक मॉडेल के रूप में प्रस्तुत करके उसके अपने व्यक्तित्व को बहुत-कुछ पंगु कर दिया है और इसका स्पष्ट कारण उनके माध्यम के चुनाव में खोजा जा सकता है। जब कण्व ऋषि के आश्रम के तापस-तपसियों के साथ शकुन्तला दुष्यन्त के यहाँ पहुँचती है तो वह उसे पहचानने का कोई भाव नहीं दिखलाता है। कालिदास ने इसके लिये उत्तरदायी कारणों में दुर्वासा के शाप और उसी के परिणामस्वरूप अंगूठी के खो जाने के प्रसंग की अवतारणा की है। परन्तु यशपाल के यहाँ

वे कारण पूर्णतया राजनैतिक हैं। एक तापस कन्या को पत्नी के रूप में स्वीकार करके, उसके पुत्र को उत्तराधिकारी बनाकर, वह अपनी तीन अन्य रानियों के पितृकुलों—मद्र, गौड़ और विदर्भ-से अपने राजनैतिक सम्बन्धों को कैसे बिगाड़ ले ? अतः माध्यम की सहायता से वह स्थिति का सामना करता है। शकुन्तला और उसके साथ आये अन्य व्यक्तियों को वह भला-बुरा कहता है। शकुन्तला को वह 'कपटी' और 'कुलटा' कहकर लांछित करता है। परन्तु इस असाधारण अपमान को सहकर भी शकुन्तला पतिव्रता का धर्म पूरा करती है "महाराज मुझ अभागी को आश्रय नहीं देना चाहते तो भी व्यंग से अपनी सती पत्नी पर असत्य और छल का आरोप कर अपना तथा उसका अपमान न करें। महाराज सती का अस्तित्व पति से पृथक नहीं होता, पति में ही समाहित रहता है। सती के अपमान से पति भी अपमानित होता है। मेरे सत्य के साक्षी अगोचर देवता हैं। मेरे गर्भ में स्थित स्वामी का अंश मेरे सत्य का साक्षी है। स्वामी द्वारा अंगीकार न की जाने पर भी मेरा पतिव्रत और सतीत्व अक्षुण्ण रहेगा।" (पृ० सं० १०३-१०४)

यहाँ स्थिति में अन्तर्निहित व्यंग अवश्य है जो लेखक के मन्तव्य को सार्थकता देता है। लेकिन कालिदास की शकुन्तला इतनी निर्जीव नहीं है कि अपमान से आहत न हो। लांछित होने पर जो रास्ता वह अपनाती है वह अपेक्षाकृत गौरवपूर्ण ही नहीं, मनोविज्ञान सम्मत भी है। जब पिछली बातें याद दिलाने पर भी दुष्यन्त को कुछ याद नहीं आता तो वह कहती है, "अनार्य ! तुम सबके हृदय को अपने ही हृदय के समान खोटा समझते हो। तुम्हें छोड़कर और कौन ऐसा नीच होगा जो घास-फूँस से ढँके हुए कुँए के समान धर्म का ढोंग रचकर ऐसा खोटा काम कर सके।"[1] यही शकुन्तला यहीं तक सीमित न रहकर यह भी कहती है कि ऊँचे कुल के धोखे में आकर वह ऐसे नीच व्यक्ति के हाथों जा पड़ी जिसके मुँह में मधु और हृदय में विष भरा हुआ है।

बहुत से स्पष्ट और पूर्वचर्चित कारणों से कालिदास की पूर्ण सहानुभूति दुष्यन्त के साथ है। न केवल यह कि उसके बचाव का कोई भी सम्भव साधन वह हाथ से जाने देना नहीं चाहते हैं, वरन् विशेष रूप से उन्होंने उनकी अवतारणा की है। लेकिन फिर भी कालिदास का कलात्मक संस्कार उन्हें यह चेतना देता है कि आवश्यक नहीं कि एक को धक्का देकर ही दूसरे को दौड़ में जिताया जाए। दुष्यन्त के प्रति सदय होकर भी वह शकुन्तला के प्रति निर्दय नहीं हैं। यशपाल दुष्यन्त के प्रति निर्दय तो हैं ही परन्तु शकुन्तला के प्रति उनकी सम्पूर्ण सदाशयता के बावजूद वह न तो सजीव व्यक्तित्व ही पा सकी है और न ऐसा ही कुछ जो आधुनिक नारी के व्यक्तित्व निर्माण में कोई महत्वपूर्ण सहयोग दे सके। उनकी सम्पूर्ण उपलब्धि बहुत सीमित क्षेत्र की उपलब्धि बनकर रह गई है। पति के प्रति शकुन्तला की इस अनर्थकारी निष्ठा को वह न तो उचित ही समझते हैं न सामयिक ही। शकुन्तला के अपने चरित्र से ऐसा कोई संकेत ध्वनित हो सकता जैसा 'यशोधरा जीत गई' में यशोधरा के चरित्र से हुआ है तो उनकी उपलब्धि का धरातल अधिक सकारात्मक हो सका होता। लेकिन वैसा कुछ न करके कृति की उपलब्धि और सम्पूर्ण प्रयोजन को

१. शकुन्तला—(सरोषम्) अनार्य: आत्मनो हृदयानुमानेन किल सर्वं प्रेक्षसे। को नाम अन्योधर्मः यः कञ्चुकव्यपदेशिनस्तृणच्छन्न कूपोपमस्य तवानुकारी भविष्यति ?

स्पष्ट करने का भार उन्होंने मेनका को सौंप दिया है। शकुन्तला की पति-भक्ति को वह हेय और घृणित समझती है। वैसा न करने के लिए वह केवल शकुन्तला को समझाती ही नहीं है, प्रताड़ित भी करती है। वह शकुन्तला के निजी व्यक्तित्व की गरिमा चाहती है। लेकिन 'अप्सरा का श्राप' के अन्त में शकुन्तला फिर एक अतिरंजित स्थापना करती है। निश्चय ही कालिदास की शकुन्तला से यहाँ उसका कोई साम्य नहीं है "...माता, पतिव्रता नारी, व्यक्ति तथा मानव नहीं पतिव्रता मात्र होती है। (पृ० सं० १२८) और तब ऐसा ही होने का शाप देकर मेनका चली जाती है।

मेनका और सानुमती की योजना लेखक ने एक विशेष प्रयोजन से की है। कथा के बीच-बीच में उनकी टिप्पणियाँ गहरा अर्थ रखती हैं। कभी तो वे कथा के विकास में सहायक होती है और बहुधा ही वे लेखक के दृष्टिकोण और मान्यताओं को रेखांकित करती हैं। कृति की दुर्बलता का एक बड़ा कारण यह भी है कि मेनका और सानुमती का नियोजन एक अपार्थिक धरातल पर हुआ है। वे हमेशा ही साधन बनकर आई है—लेखक की मान्यताओं के प्रक्षेपण के लिए महज़ एक पीठिका भर।

यह आत्म-स्वीकृति भी सम्भवत: अप्रासंगिक न समझी जाए कि प्रयोजन की दृष्टि से ही पुस्तक का यह शीर्षक मुझे अधिक सार्थक जान पड़ा था।

'खच्चर और आदमी' में यशपाल की नौ कहानियाँ संग्रहीत हैं। हिन्दी कहानी के क्षेत्र में समय-समय पर जो चर्चाएँ होती रही हैं, वाद-विवाद का जैसा वातावरण रहा है, व्यक्तिगत रूप से किसी चर्चा में न फंसने पर भी उस सबकी पूरी चेतना और जानकारी यशपाल को रही है यद्यपि यह भी उतना ही ठीक है कि उस सबसे आक्रान्त वह नहीं दीखते। पुस्तक की भूमिका में इस जागरूकता का स्वागत तो वह करते हैं, लेकिन अपनी इन कहानियों का समर्पण वह 'सप्रयोजन कहानियों से रस पाने वाले पाठकों के लिए' ही करते हैं। अपनी कहानियों के लिए जैसा ढांचा और शिल्प यशपाल ने शुरू से ही निर्मित कर लिया है बिना किसी रद्दो-बदल के वह उसी से चिपके रहे हैं। कहानी में नयेपन के आग्रह का जहाँ तक सवाल है यशपाल की मान्यता रही है कि यदि वह मात्र बाहरी है तो उसका प्रभाव अधिक स्थायी और दूरगामी नहीं होगा। पिछले पच्चीस वर्षों से आज तक कहानी में कथ्यगत नवीनता पर ही उनका विशेष बल रहा है। यही कारण है कि उनकी कहानियों का एक अलग रूपबन गया है और यदि कोई यशपाल की भाषा-शैली और विकारों से थोड़ा भी परिचय रखता है तो उसे उनकी कहानियों को पहचानने में दिक़्कत नहीं होगी।

संग्रह की सारी कहानियों में यशपाल की सामाजिक जागरूकता और रूढ़ एवं विकृत के प्रति गहरा आक्रोश तथा विरोध-भाव देखा जा सकता है। संग्रह की कई कहानियाँ ऐसी हैं जिन्हें पढ़कर अपने समाज का वास्तविक परिचय पाने में सहायता मिल सकती है। जीवन में जो अस्वाभाविक और अस्वस्थ है. जो परिवर्तन की प्रक्रिया की प्रतीक्षा में है, लेखक मात्र निष्क्रिय रहकर उसका वर्णन नहीं करता है। वह पूरी गहराई और आवेश से उसका विरोध करता है जो वाकई बुरा और गलत है। अक्सर ऐसा मालूम पड़ सकता है कि कथ्य की दृष्टि से किसी कहानी में कोई विशेष बात नहीं है।

जैसे संग्रह की पहली कहानी विष्णवी में ऊपरी तौर पर पुनर्विवाह का समर्थन मालूम पड़ सकता है। लेकिन बात सिर्फ़ इतनी ही नहीं है। यशपाल के यहाँ कथ्य की मौलिकता बहुधा ही अभिव्यक्ति के ढंग और उसे प्रस्तुत करने के कोण विशेष में निहित रहती है। 'वैष्णवी' में उनकी दृष्टि द्रौपदी के शारीरिक विकास एवं उसकी निजी आवश्यकताओं पर अधिक रहती है। उसका कथ्य बहुत-कुछ 'उत्तमी की माँ' के कथ्य जैसा है। उस कहानी में मात्र पुनर्विवाह का समर्थन नहीं है। बल्कि इस तथ्य की स्पष्ट ध्वनि भी उसमें है कि शारीरिक आवश्यकताओं और विकास की गति को जान-बूझकर झुठलाने के प्रयास कितने खतरनाक नतीजे छोड़ सकते हैं। ऐसी स्थिति में प्रकारान्तर से उन सामाजिक रूढ़ियों और मान्यताओं के प्रति भी आक्रोश पैदा होता है जो द्रौपदी को बिना किसी अपराध के वैसा करने के लिए विवश करते हैं।

संग्रह की नौ कहानियों में तीन कहानियाँ—'मक्खी या मकड़ी', 'जीव-दया' तथा 'खच्चर और आदमी'—ऐसी हैं जो एकदम बात-चीत की साधारण शैली में लिखी गई हैं। अपने दृष्टिकोण और मान्यताओं के समर्थन में लेखक ऐसी घटनाओं और अनुभवों को प्रस्तुत करता है जो उसके पक्ष की वकालत में उसकी सहायता कर सकते हैं। नवीन आवश्यकताओं के अनुरूप यदि हम अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन नहीं करते तो वे अर्थहीन रूढ़ियाँ हमारी प्रगति में बाधा रहेंगी और हो सकता है कि एक दिन हमारा अस्तित्व ही संकट में पड़ जाए। 'खच्चर और आदमी' में एक खच्चर और कर्म-काण्ड-निष्ठ वैष्णव ब्राह्मण को लेकर दो घटनाओं के रूप में यशपाल इसी सत्य का उद्घाटन बड़े कौशल से करते हैं। खच्चर जैसा जानवर भी अपनी नई आवश्यकताओं को समझ सकता है परन्तु वैष्णव ब्राह्मण समझकर भी परिवर्तन को स्वीकार नहीं कर पाते। इसका जो मूल्य उन्हें चुकाना पड़ता है वह साधारण नहीं है। स्थितियों के चुनाव में किन्हीं विशेष स्थितियों के प्रति लेखक के अतिरिक्त मोह को लेकर भले ही शिकायत की जा सके, नियोजन में एक ऐसी सांयासता भी हो सकती है जो चरित्रों की गति को कुण्ठित करती मालूम पड़ती है परन्तु अतिरंजित वहाँ कुछ नहीं है और यही कारण है कि प्रभाव की दृष्टि से ऐसी कहानियाँ बहुत सफल रहती है। 'मक्खी या मकड़ी' समाज में व्याप्त नैतिक स्खलन और भ्रष्टाचार को उभारती है और इस सत्य की ओर संकेत करती है कि इस विशाल आयोजन में तटस्थ रह पाना असम्भव-प्राय है। 'जीव-दया' का कथ्य 'खच्चर और आदमी' के कथ्य जैसा ही है। इसमें भी संस्कारवश मुर्गी के अण्डे से परहेज करने के कारण मास्टर साहब को अपने एकमात्र पुत्र को खो देना होता है। इन कहानियों में लेखक का आग्रह हमेशा ही कहानी में अन्तर्निहित प्रयोजन को विश्वसनीय ढंग से सम्प्रेषित कर सकने का है। ऊपरी तौर पर उनमें सपाटता और स्थूलता हो सकती है, ऐसा भी लग सकता है कि संकेतों से पैदा किए जाने वाले प्रभावों की ओर से लेखक उदासीन है परन्तु उसके उपलब्ध निष्कर्षों से असहमत होना हमेशा ही मुश्किल मालूम होता है। शेष कहानियों में 'सत्य का द्वन्द्व' और 'कलाकार की आत्म-हत्या' संग्रह की अच्छी और महत्वपूर्ण कहानियाँ हैं। जब अपनी कहानियों की रचना प्रक्रिया के सिलसिले में यशपाल कहानी के आधारभूत विचार के महत्व पर बल देते हैं तो इसका यह अर्थ नहीं कि वह चरित्र को पूर्णतया

दरगुज़र करते हैं। उक्त दोनों ही कहानियों में क्रमशः सन्तजी और भवेश के चरित्र बहुत महत्वपूर्ण हैं और संग्रह की दूसरी कहानियों के चरित्रों की अपेक्षा अधिक स्पष्टता से उभरे हैं। 'सत्य का द्वन्द्व' जब लिखी जा रही थी, संयोग से मैं यशपाल जी के साथ ही था। व्यक्ति का नाम बताना यदि आवश्यक न समझा जाए तो मैं कहना चाहूँगा कि वह एक वास्तविक व्यक्ति को आधार बनाकर लिखी गई कहानी है—एक ऐसे व्यक्ति को लेकर लिखी गई कहानी जो कांग्रेस-पार्टी, राजनीति और राष्ट्रीय आन्दोलन से बहुत दूर तक सम्बद्ध था। लेकिन फिर भी कहानी का आधार-भूत कथ्य चरित्र के नीचे दब नहीं गया है। ऐसा नहीं होता कि कहानी-कहानी न होकर रेखाचित्र हो गई हो। कहानी के अन्तिम प्रभाव के विश्लेषण के लिए यदि कथ्य और चरित्र को अलग-अलग करके देखा जाए तो महत्त्व की दृष्टि से उसके कथ्य की ओर संकेत करना ही अनिवार्य होगा। यही बात 'कलाकार की आत्महत्या' को लेकर भी सच है जब कि उसके पीछे किसी वास्तविक चरित्र के आधार का कोई ज्ञान मुझे नहीं है। इन दोनों ही कहानियों में यशपाल का व्यंग कौशल खूब उभरकर सामने आता है। 'सत्य का द्वन्द्व' में एक अहिंसावादी कांग्रेसी नेता को लेकर व्यंग है और 'कलाकार की आत्महत्या' में एक ऐसे साहित्यकार को लेकर जो अपनी तथाकथित कला और कृतित्व के बल पर दूसरों का शोषण करता है। भवेश के प्रति कर्त्तार की जो प्रतिक्रिया है वह ऐसे साहित्यकार के प्रति किसी भी सामान्य व्यक्ति की प्रतिक्रिया हो सकती है। उसके मोह-भंग की स्थिति में एक बड़ी स्वाभाविक और पैनी कचोट है। 'चोरी और चोरी' यूँ एक साधारण कहानी है लेकिन जीवन की जिन विडम्बनापूर्ण स्थितियों को लेकर उसे गढ़ा गया है उनसे अन्तर्ध्वनित व्यंग उसे मात्र साधारण होने से बचा लेता है। 'अश्लील!' कहानी से अधिक 'दिव्या' के एक अंश-विशेष का ही किंचित परिवर्तन रूप है। इस संग्रह में उसको शामिल करने की कोई सार्थकता और स्पष्ट कारण नहीं मालूम पड़ता, भले ही कभी उसका सामयिक महत्त्व रहा हो।

कुल मिलाकर इन कहानियों में यशपाल ने अपनी निजी परम्परा की रक्षा का ही प्रयास किया है। उनकी इस बात से भी शायद सभी सहमत हों कि भले ही इन कहानियों को 'नई कहानी' के समकक्ष न रखा जा सके, लेकिन 'भाव तथा कथ्य की दृष्टि से इन्हें रूढ़िग्रस्त कोटि में नहीं गिना जायेगा'।···

---

१. अप्सरा का श्राप : उपन्यास : पृ० सं० १३२ (डिमाई आकार) मूल्य ४.००
२. खच्चर और आदमी : कहानी संग्रह : पृ० सं० १०६ (डिमाई आकार) मूल्य ३.००

भगवतीशरण सिंह

चौरंगी—एक आधुनिक उपन्यास

पिछले महायुद्ध के बाद लोगों में परस्पर सहानुभूति और सेवा तथा मानवता की प्रगति के लिए सच्ची और दृढ़-निष्ठा का उदय तो हुआ पर मानव समता की स्थापना और आर्थिक विषमता और निराशाओं के निराकरण के उपाय फिर भी दूर रहे। स्वस्थ और सुखी जीवन की खोज तो प्रारम्भ हुई पर संस्कृति और सभ्यता के मूलाधार खो गए। जन साधारण का युग आया और साम्राज्यशाही भी नष्ट हुई। जन साधारण की सामाजिक स्थिति अच्छी हुई और उसमें आत्मसम्मान की भावना का भी उदय हुआ पर उसका बौद्धिक स्तर इसी के साथ-साथ न उठ सका। मानवता के कुछ बड़े पुराने और अनिवार्य तत्वों की पुनर्स्थापना की बात भी कही गई। संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना भी हुई, शान्ति को स्थाई रखने की बात भी कही गई। शिक्षा, आर्थिक सुरक्षा और मनोरंजन के साधनों को सर्वसुलभ करने का आश्वासन भी मिला। किन्तु यह सब थोड़े ही दिनों में लोगों की भूख बढ़ा कर कम पड़ने लगा। इसलिए कि इसकी व्यवस्था सबके लिए उस नियोजित संस्कृति द्वारा नौकरशाही के माध्यम से राष्ट्र की प्रभूत सम्पत्ति लगा कर भी नहीं की जा सकती थी। फिर भी जो कुछ हुआ उससे कुछ लोगों का जीवन स्तर भले ही ऊपर उठा हो पर साहित्य का स्तर फिर भी अछूता रहा। वह जिस वातावरण में सांस ले रहा था वह घुटन पैदा करने वाला था। उसमें उसको सुख नहीं था। इतना ही नहीं एक तनाव का वातावरण भी पैदा हुआ उनमें जो कि सबको समान सुविधा देना चाहते थे और उनमें जो एक नई स्वतंत्रता और नए जीवन प्रवाह की कल्पना करना चाहते थे और अव्यक्त को व्यक्त करना चाहते थे। बावजूद इसके कि लेखकों में एक प्रकार की वैयक्तिक सनक समा रही थी फिर भी वे सार्वभौम उद्देश्य को पहचान रहे थे। उनकी यह एकता मनुष्य के सामाजिक और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में प्रकट होने लगी थी। पर खेद है कि यह स्थिति भी बहुत आगे तक न गई और वह स्वयं अपने ही विश्लेषण और अपने को ही व्यक्त करने में जुट गए।

यह सब हो ही रहा था कि अंतरिक्ष युग की चादर खुली और वह सामने आया। साहित्य की विश्वजनीन प्रवृत्तियों ने एक नई करवट ली। कवि और लेखकों ने विज्ञान की उस नवीन उड़ान में दिलचस्पी लेना प्रारम्भ कर दिया जिसके लिए वह बड़ी आतुरता से अपने पर तौल रहा था। जिन लोगों ने ऐसा किया उन्होंने न केवल वाह्य पर्यावरण के प्रति अपनी कल्पना को प्रखर किया वरन् यह भी अनुभव किया कि उनका अभ्यन्तर भी नया अर्थवहन करने लगा है। ऐसा करने के लिए उन्होंने विज्ञान की पोथियों में परीक्षा देना प्रारम्भ नहीं किया। यह जरूरी भी नहीं था। पर यह जरूर हुआ कि उनके अब तक के अनुभवों को—या यों कहें कि आत्मानुभव को—एक ज़बरदस्त धक्का लगा। व्यक्तित्व के नए रंग दिखने लगे, व्यक्ति का समाज की आर्थिक व्यवस्था में क्या स्थान रह गया है इसका नया अनुभव होने लगा। नई संवेदनाएं, नए लगाव, नई संभावनाएं सब उनको

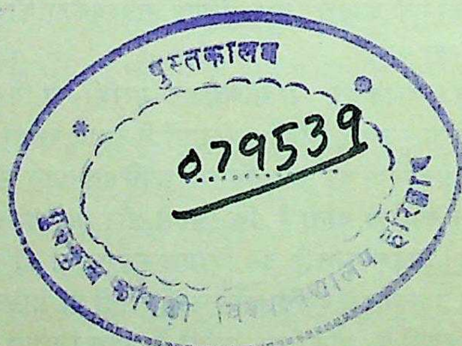
जोरों से प्रभावित करने लगीं। शक्ति के नए द्वार खुले। आध्यात्मिक और शारीरिक सुखों की परिकल्पना बहुत विस्तृत हुई और इन सब परिवर्तनों ने कवि-कल्पना को झकझोर दिया। नया साहित्य, नए परिधान और नए पर्यावरण को लेकर उतरने लगा। साहित्य का सारा समारम्भ ही बदल गया।

पर आश्चर्य इस बात का होता है कि यह सब कुछ प्रत्यक्ष और तेज़ी से हिन्दी लेखकों के दाएं-बाएं अगल-बगल हो रहा था फिर भी वह अधिकांश में इन प्रवृत्तियों से अछूता बने रहने में ही लगा रहा। एक ही समय में जब अन्यत्र यह सब कुछ हो रहा था हिन्दी का लेखक और पाठक अब भी उपदेशात्मक कथाओं, पुराने किस्म के हास-परिहासों और विगत पीढ़ियों के चरित्रों के चित्रण में रुचि ले रहा था। यद्यपि इसी समय लेखकों की एक नवीनतम पीढ़ी भी तैयार हो रही थी जो अपनी अद्भुत् रचना शैली के प्रयोगों में जुटी थी। माना कि उन्हें सफलता नहीं मिल पा रही थी, पर उनकी बेचैनी का पता अवश्य लग रहा था। लेकिन पुराने लोगों में अच्छे से अच्छे उपन्यासकार या तो अपने निजी अनुभवों को व्यक्त करने में लगे थे या कुछ सीमित प्रवृत्तियों का उद्घाटन अथवा पुरानी परम्पराओं का मज़ाक उड़ा रहे थे। बावजूद उन तमाम विघटनात्मक शक्तियों के जो समाज की नींव हिला रही थीं, पुरानी मान्यताओं को थोथा कर रही थीं, नया समाज और नई मान्यताएं बहुतों की पकड़ में नहीं आ रही थी। स्वानुभूति और आत्माभिव्यक्ति के महत्व को कम नहीं किया जा सकता पर आतमाभिव्यक्ति भी अधिक प्रकाशमयी हो जाती है अगर वह सम्पूर्ण मानवता का अंग बनकर आए, कृत और सत्य का उद्घाटन करे, और उसमें मनुष्य की शाश्वत और चिरंतन महिमा का उपाख्यान हो। लेकिन इन सबके स्थान पर हिंदी के बहुत से उपन्यासकार खोई हुई सभ्यता, बुझी हुई संस्कृति और हिली हुई रूढ़ियों के सहारे यांत्रिक और अमानवीय प्रवृत्तियों का उद्घाटन कर रहे थे। उनका ध्यान मानव के पारस्परिक सम्बन्धों की नई स्थापनाओं के प्रति, और प्रत्येक व्यक्ति में जो एक अव्यक्त आध्यात्मिक आवश्यकता की नई प्रतीति हो रही थी उसके प्रति कम जा रहा था।

• इस पृष्ठभूमि को देखने पर श्री मणिशंकर मुखर्जी का यह उपन्यास हिंदी में पिछले बीस वर्षों में लिखे गए उन इने-गिने उपन्यासों में स्थान रखता है जो साहित्य और समाज की बदलती हुई प्रवृत्तियों का सही चित्रण उपस्थित करने में समर्थ हुए हैं। इस उपन्यास के पढ़ते ही यह स्पष्ट हो जाता है कि स्थायी और महत्वशाली साहित्य के लिए सामग्री की कमी नहीं है। आवश्यकता है इन विशाल कल्पनाओं को कला में प्रतीकात्मक ढंग से उतारने की। इस उपन्यास में व्यक्ति और समष्टि दोनों की अभिव्यक्ति जिस संतुलित ढंग से हुई है, विभिन्न स्वरों के तार जिस पूर्णता के साथ मिलाए गए हैं, और व्यक्ति और समाज का जैसा सुन्दर समन्वय हुआ है वह सब इसे आधुनिकतम उपन्यासों की कोटि में ला रखता है। इस उपन्यास की 'विचित्र अनुभूतियां,' 'आश्चर्यमय संसार', 'महानगरी का भयावनापन' और 'रात्रि का सुनसान' अंतरिक्ष युग की उन विशिष्टताओं से परिचय कराते हैं जो उसके प्रमुख अवयव हैं। सत्य सुन्दर और सुजाता मानव के शाश्वत महिमामय रूप के अतिरिक्त और क्या प्रकट करते हैं ? इस उपन्यास के जितने पात्र हैं

उनमें से कई पात्रों के जीवन में उस अव्यक्त अध्यात्म की आवश्यकता की नई प्रतीति का अनुभव हो रहा है जिसका ऊपर जिक्र कर चुका हूँ। उपदेशात्मक परिपाटी से बिल्कुल अलग हट कर जिस समाज का चित्रण हुआ है वह बलपूर्वक नई स्थापनाओं और मान्यताओं की आवश्यकता और योजना की ओर प्रेरित कर रहा है। समाज में साथ काम करने वालों का पारस्परिक स्नेह और सहानुभूति ही मनुष्य को वास्तविक मनुष्य समाज के रूप में ग्रथित होने का मार्ग बता सकते हैं। आज वह समाज की आर्थिक समृद्धि से कहीं अधिक आवश्यक हो गए हैं। सत्य सुन्दर भी यही कहते हैं "आज अगर कोई मुझसे पूछे कि शाहजहाँ में सबसे अधिक ऐश्वर्य मुझे क्या मिला था, तो मैं किसी संकोच दुविधा के बिना उत्तर दूँगा—साथ काम करने वालों का स्नेह। एक साथ काम करने वालों में एक दूसरे के प्रति अनजाने में ही किस तरह स्नेह पैदा हो जाता है, कहना कठिन है। मगर अचानक एक दिन पता चलता है कि हम सभी एक ही धागे से बँधे हैं, और यह धागा तोड़ नहीं सकते।" यह सब में पिरोया एक धागा क्या है? अनेकता में एकता की यह प्रतीति बिना किसी प्रवचन के कैसे होती है? इसकी अनुभूति और अभिव्यक्ति सम्पूर्ण मानवता का अविच्छिन्न अंग बन कर ही हो सकती है, शंकर इसमें अत्यधिक सफल हुए हैं। समाज और जीवन यंत्रवत् चूल में चूल मिलाकर नहीं चलाया जा सकता। उसे इससे कुछ अधिक की आवश्यकता होती है। मार्कोपोलो यही बताते हैं।

चौरंगी—विश्व-जनीन साहित्यिक प्रवृत्तियों का नवीनतम रूप लेकर बंगला और हिन्दी साहित्य में एक उत्तम कलाकृति के रूप में तब तक माना जाएगा जब तक कि दूसरे उपन्यास इसे पीछे छोड़ने की सामर्थ्य लेकर नहीं आते। पर बात अधूरी रह जाएगी अगर इसके अनुवादक श्री राजकमल चौधरी का उपकार न माना जाय। अनुवाद का काम कितना कठिन होता है यह अनुवादक ही जानते हैं। अगर मैं यह कहूं कि यह मूल के अत्यधिक निकट है तो मैं अपनी पूरी बात कह चुका ऐसा श्री चौधरी और शंकर दोनों ही अनुभव करेंगे।





आलोचना के स्वामित्व तथा अन्य व्योरे के विषय में विज्ञप्ति

फ़ार्म ४

(नियम ८ देखिए)

१. प्रकाशन का स्थान	दिल्ली
२. प्रकाशन की अवधि	त्रैमासिक
३. मुद्रक का नाम	श्रीमती शीला संधू
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	नवीन प्रेस, ६ फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली-६
४. प्रकाशक का नाम	श्रीमती शीला संधू
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड ८, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली-६
५. सम्पादक का नाम	श्री शिवदानसिंह चौहान
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड ८, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली-६
६. उन व्यक्तियों के नाम और पते, जिनका पत्र पर स्वामित्व है तथा उन भागीदारों अथवा शेयर होल्डरों के नाम और पते, जो पूंजी के एक प्रतिशत से अधिक शेयर रखते हों।	राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड ८, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली-६

मैं, शीला संधू, इसके द्वारा घोषित करती हूँ कि ऊपर जो ब्यौरे दिये गए हैं, वे मेरी अधिक-से-अधिक जानकारी में और मेरे विश्वास में सही हैं।

(ह०) शीला संधू
प्रकाशक

आलोचना

सम्पादक : डॉ० नामवर सिंह

नये वर्ष से त्रैमासिक आलोचना अब डॉ० नामवर सिंह के सम्पादकत्व में नये रूप से निकलने जा रही है। साहित्य और साहित्य के सामाजिक सन्दर्भों में इस बीच जो परिवर्तन हुए हैं, उनको देखते हुए 'आलोचना' की रूप-रेखा में आवश्यक परिवर्तन वांछनीय है। इस दृष्टि से हम आलोचना को एकेडेमिक क्षेत्र से अधिक व्यापक क्षेत्र के उपयुक्त एक जीवन्त त्रैमासिक का रूप देना चाहते हैं जिसमें जीवन, संस्कृति और साहित्य के नये-से-नये स्पन्दन का प्रतिफलन होगा। नयी आलोचना के मुख्य आकर्षण :

● प्रत्येक अंक का केन्द्रबिन्दु एक परिसंवाद होगा, जिसमें किसी ज्वलन्त समस्या पर कम-से-कम पाँच विचारोत्तेजक निबन्ध होंगे।

●● समसामयिक साहित्य के समुचित मूल्यांकन के लिए व्यवस्थित रूप में पुस्तक-समीक्षा दी जायेगी। यह कार्य एक सुगठित समीक्षक-मण्डल द्वारा सम्पन्न होगा।

●●● हिन्दी-जगत् को भारतीय साहित्य एवं विश्व-साहित्य की नवीनतम गतिविधियों के सतत सम्पर्क में रखने के निमित्त विभिन्न भाषाओं से 'संवाद-पत्र' प्रकाशित करने की व्यवस्था की गई है।

●●●● नये वर्ष १९६७ से प्रत्येक तिमाही—जनवरी-मार्च, अप्रैल-जून, जुलाई-सितंबर तथा अक्टूबर-दिसंबर में २० × ३०/८ आकार में आलोचना का नया अंक नियमित रूप से समयानुसार आकर्षक आवरण तथा सुन्दर मुद्रण के साथ ग्राहकों को मिलेगा।

वार्षिक शुल्क : १२.०० रजिस्ट्री डाक से : १४.०० प्रति अंक : ३.००



राजकमल प्रकाशन

दिल्ली-६ पटना-६

श्रीमती शीला संधू, मैनेजिंग डाइरेक्टर, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लि०, ८ फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली के लिए नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित

